हिन्दी काव्य का स्वरूप विकास :

डा० शम्भुनाथ सिंह

प्राक्कथन

साहित्य मे सबसे ऊँचा स्थान काव्य का है और काव्य के भीतर महाकाव्य को शीर्षस्थ पद दिया गया है। यही कारण है कि प्रत्येक महत्वाकाक्षी कवि महाकाव्य लिखने की अभिलाषा करता है। महाकाव्य की इस महत्ता को देखते हुए यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि महाकाव्य की रचना करना कितना कठिन और काव्य-शक्ति-सापेक्ष कार्य है। फिर भी उसकी चिन्ता न करके 'यश प्रार्थी' कवियो ने महाकाव्य नाम से न जाने कितने काव्य-ग्रन्थो की रचना की है। इनमे से बहुतो को लोग जानते तक नही, अनेक पुस्तकालयो या ग्रन्थागारो की शोभा मात्र है और न जाने कितने काल-कवलित हो चुके है। इससे यह तो स्पष्ट है कि 'महाकाव्य' नाम से लिखे गये अथवा बाह्य दृष्टि से महाकाव्य प्रतीत होनेवाले सभी काव्य महाकाव्य नही होते। ऐसी स्थिति मे इस महत्त्वपूर्ण काव्यरूप का स्वरूप-निर्धारण करना अत्यन्त कठिन कार्य है। किसी भी साहित्य के इतिहास मे महाकाव्य के विकास-क्रम की दिशा निर्धारित करना और उसके प्रमुख महाकाव्यो का मूल्याकन करना तो और भी कठिन कार्य है।

अत इस दिशा मे कार्य आरम्भ करते समय मेरे सम्मुख तीन समस्याएँ उपस्थित हुई, प्रथम तो यह कि केवल भारतीय महाकाव्यो और भारतीय आलकारिको द्वारा निर्दिष्ट लक्षणो को दृष्टि मे रख कर महाकाव्य की परिभाषा निश्चित की जाय या पाश्चात्य साहित्य के महाकाव्यो और पाश्चात्य साहित्य-शास्त्रियो द्वारा निर्दिष्ट लक्षणो को भी ध्यान मे रखा जाय। दूसरा प्रश्न यह था कि हिन्दी मे महाकाव्य के स्वरूप-विकास का अध्ययन करते समय केवल हिन्दी के महाकाव्यो पर ही विचार किया जाय या उसके पूर्ववर्ती सस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रश के महाकाव्यो की परम्परा के विकास का भी अध्ययन करके यह देखा जाय कि उसके साथ हिन्दी-महाकाव्य-परम्परा का क्या सम्बन्ध है? तीसरा प्रश्न यह उपस्थित हुआ कि महाकाव्य के स्वरूप पर विचार करते समय उसकी विषय-वस्तु पर विचार किया जाय या नही?

इन्ही तीन प्रश्नो की खोज के समाधान के रूप मे प्रस्तुत विषय का विवेचन किया गया है। महाकाव्य के सम्बन्ध मे विचार करने से पूर्व यह आवश्यक

प्रतीत हुआ कि उसके उद्भव और विकास के मूल स्रोतो का पता लगाया जाय। अतएव पहले मैंने महाकाव्य के पूर्ववर्ती काव्यरूपो तथा उस की सामग्री के सम्बन्ध मे विचार करते हुए यह देखने का प्रयत्न किया है कि सामूहिक गीत-नृत्य से लेकर अलकृत महाकाव्य तक की लम्बी यात्रा के बीच काव्य को विकास के किस रास्ते से हो कर गुजरना पड़ा है। हिन्दी मे अब तक महाकाव्य के सम्बन्ध मे प्राय. सस्कृत के अलकार-ग्रन्थो मे निर्दिष्ट महाकाव्य के लक्षणो को ही आधार मान कर विचार किया गया है, पर इस ग्रन्थ मे महाकाव्य सम्बन्धी भारतीय और पाश्चात्य मतो के तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात् कुछ ऐसे शाश्वत लक्षणो का निर्धारण किया गया है, जो ससार के सभी शैलियो के महाकाव्यो पर समान रूप से लागू हो सके। मेरे विचार से वही काव्य वास्तविक अर्थ मे महाकाव्य-पद का अधिकारी हो सकता है, जिसमे ये लक्षण प्राप्त हो और प्रत्येक युग के महाकाव्यो की परीक्षा इन्ही लक्षणो के आधार पर की जा सकती है। चूँकि प्रत्येक युग की परिस्थितियो और प्रवृत्तियो के अनुरूप महाकाव्य के स्वरूप मे भी परिवर्तन होता रहा है, अत. किसी एक युग या एक देश के महाकाव्यो को दृष्टि मे रख कर निर्धारित किये गये लक्षणो की कसोटी पर सभी युगो के महाकाव्यो की ज़ाँच नही हो सकती। इसीलिए इस ग्रन्थ मे महाकाव्य की अन्तरात्मा से सम्बन्धित शाश्वत लक्षणो की खोज करने का प्रयास किया गया है।

तीसरे अध्याय मे रामायण-महाभारत से ले कर अपभ्रश-काल तक के महाकाव्यो की परम्परा का पर्यवेक्षण किया गया है.। हिन्दी के महाकाव्य भारतीय महाकाव्य-परम्परा के अविच्छिन्न अग है। अत विषय-वस्तु और रूप-शिल्प दोनो ही दृष्टियो से हिन्दी महाकाव्यो का सम्यक् मल्याकन करने के लिए सस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रश के विभिन्न शैलियो के महाकाव्यो और उन की शैलीगत विशेषताओ पर विचार करना आवश्यक है। सच पूछा जाय, तो हिन्दी के प्रारम्भिक महाकाव्य सीधे अपभ्रश की महाकाव्य-परम्परा मे आते है। प्राकृत और अपभ्रश मे सस्कृत की शास्त्रीय शैली की महाकाव्य-परम्परा को उतना नही अपनाया गया, जितना पौराणिक और रोमाचक शैली की महाकाव्य-परम्परा को। अपभ्रश के महाकाव्यो की परम्परा मे होने के कारण हिन्दी के प्रारम्भिक महाकाव्यो मे पौराणिक और रोमाचक शैली की ही प्रमुखता है। इसीलिए हिन्दी महाकाव्य के स्वरूप-विकास के क्रम को ठीक-ठीक समझने तथा उसके पूर्वापर सम्बन्ध का निर्धारण करने के लिए प्राकृत-अपभ्रश के महाकाव्यो पर विशेषरूप से विचार करना पड़ा है।

महाकाव्य जीवन का सर्वांगीण चित्र उपस्थित करनेवाला काव्य-रूप है, अत उसके सम्बन्ध मे एकागी दृष्टि से विचार करने से भ्रमपूर्ण निष्कर्ष पर पहुँचने की आशका है। इसीलिए इस ग्रन्थ मे मैने महाकाव्य को साहित्यिक दृष्टि से देखने के साथ ही साथ उसे समाजशास्त्र, राजनीति, इतिहास, धर्म, दर्शन आदि के व्यापक परिपार्श्व मे रख कर देखने का प्रयास किया है। इस प्रयत्न मे मुझे कहाँ तक सफलता मिली है, इसके बारे मे कुछ कहने का अधिकारी मै नही हूँ। फिर भी मुझे विश्वास है कि इस प्रयास से हिन्दी मे महाकाव्य से सम्बन्धित समीक्षात्मक साहित्य के अभाव की कुछ पूर्ति हो सकेगी।

यह ग्रन्थ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की 'पी-एच डी' उपाधि के लिए शोध-प्रबन्ध के रूप मे लिखा गया था और विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत भी किया गया। अपने शोध-कार्य के सिलसिले मे मुझे अपने प्रबन्ध-निर्देशक डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी से तो पर्याप्त सहायता मिली ही, डा० रामअवध द्विवेदी, प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, डा० जगन्नाथ शर्मा, डा० माताप्रसाद गुप्त और श्री उदयशकर शास्त्री से भी समय-समय पर उपयोगी सुझाव और परामर्श प्राप्त होते रहे। इसके लिए मै इन सभी समादरणीय विद्वानो का आभार स्वीकार करता हूँ। गम्भीर विचारक और विद्याव्यसनी श्री व्रजविलास श्रीवास्तव ने इस ग्रन्थ के प्रारम्भ से ले कर इसके प्रकाशन के समय तक विविध प्रकार से मेरी सक्रिय सहायता की है, पर उन्हे धन्यवाद देना अपने ही को धन्यवाद देना होगा। हाँ, अपने उन मित्र का भी मै चिरकृतज्ञ हूँ, जिन्होने अपभ्रश साहित्य पर अत्यन्त परिश्रम से सकलित मेरी सामग्री को पढने के बहाने ले जा कर उसका उपयोग अपनी एक पुस्तक के द्वितीय सस्करण मे कर डाला, पर कृतज्ञता-ज्ञापन तो दूर, कही मेरा नामोल्लेख करना भी उचित नही समझा।

—लेखक

विषयानुक्रमणिका

पहला अध्याय

महाकाव्य का उद्भव और रूप-गठन

हिन्दी महाकाव्य आदिकाल से लेकर अब तक अक्षुण्ण रूप से प्रवाहित होनेवाली भारतीय साहित्य-धारा के बीच दिक्काल के बन्धनों की उपेक्षा करके सतत प्रवहमान महान भारतीय महाकाव्यों की परम्परा का ही एक अविच्छिन्न अंग है। अतः हिन्दी के महाकाव्यों के उद्भव और विकास की कहानी भी भारतीय साहित्य के उद्भव और विकास की कहानी से अलग नहीं है। भारत ही नहीं, विश्व भर के प्रारम्भिक या विकसनशील महाकाव्यों के मूल स्रोतों की खोज मानव-जाति के आदिम साहित्य और इतिहास के भीतर से की जाती है। कारण यह है कि किसी भी जाति के साहित्य के प्रारम्भिक महाकाव्यों को उसके प्राचीनतम काव्यरूपों में से प्रधान काव्यरूप माना जाता है। इन महाकाव्यों के विकास या निर्माण के पूर्व उस जाति का कोई साहित्य था या नहीं, यदि इस तथ्य का सम्यक् विवेचन किया जाय तो महाकाव्य के पूर्व के काव्यरूपों और उनके महाकाव्य रूप में विकास का इतिहास सरलता-पूर्वक समझा जा सकता है। ऐसे महाकाव्यों और उनके पूर्ववर्ती साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि उन महाकाव्यों की रचना नहीं हुई बल्कि उनका विकास हुआ। उस विकास में किसी एक ही प्रतिभा का हाथ नहीं था, बल्कि अनेक शक्तिशाली कवियों अथवा समूची जाति और उसकी विभिन्न युगों की विकसनशील सांस्कृतिक चेतना का भी बहुत अधिक हाथ रहा। इसी कारण प्रारम्भिक महाकाव्यों को प्राकृतिक या विकसनशील महा-काव्य (ऑथेण्टिक एपिक या एपिक आफ ग्रोथ) कहा जाता है। रामायण, महाभारत, इलियड, आडेसी आदि इसी प्रकार के महाकाव्य हैं। इन महा-काव्यों में जिस युग की सभ्यता और संस्कृति की अभिव्यक्ति हुई है, वे आज के वैज्ञानिक सभ्य युग की अपेक्षा कम विकसित थीं। फिर भी उनमें व्यक्त सभ्यता का प्रतिमान काफी ऊँचा है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इन महाकाव्यों के युग—जिसे वीर-युग (हीरोइक एज) कहा जाता है—तक पहुँचने के पहले मानव समाज को सभ्यता के विकास की ओर भी कई अवस्थाओं से होकर गुजरना, अनेक अन्य युगों को पार करना पड़ा होगा।

इन महाकाव्यों में उक्त पूर्ववर्ती युगों की सभ्यता और उनके प्राचीनतम काव्य के अवशेष भरे पड़े हैं। अतः समाज के विकास की किस अवस्था में महाकाव्य का उद्भव और विकास हुआ, यह जानने के लिए समाज के विकास के स्वरूप और उसके विभिन्न युगों को संक्षेप में समझ लेना आवश्यक है।

समाजशास्त्र समाज के विकास के इतिहास को इतिहासशास्त्र की तरह काल की दृष्टि से नहीं, बल्कि आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से विभिन्न युगों में विभाजित करता है। एक ही काल में एक जाति प्रारम्भिक अवस्था में और दूसरी अत्यन्त विकसित अवस्था में रह सकती है। आर्थिक दृष्टि से समाज के विकास की तीन अवस्थायें मानी गयी हैं :—

१—शिकार और खाद्य-संचय-युग

२—कृषि-युग

३—औद्योगिक युग

सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से इन्हीं युगों के ये नाम दिये गये हैं—

१—कबीला-युग या जन-समाज-युग

२—सामन्त-युग

३—राष्ट्र-युग

पहले युग में कबीले ही समाज थे। उनमें प्रारम्भिक समाजवाद की सामाजिक व्यवस्था थी, सामूहिकता की प्रवृत्ति प्रमुख थी और प्रत्येक कार्य सामूहिक रूप में होता था। व्यक्तिगत सम्पत्ति और व्यष्टि-भावना का विकास नहीं हुआ था। यही प्रारम्भिक मानव-समाज था और सामूहिक नृत्य-गीत, प्रारम्भिक पौराणिक और निजन्धरी आख्यान आदि उसकी धार्मिक और सामाजिक अभिव्यक्तियों के माध्यम थे। इस युग की भी दो अवस्थायें मानी जाती हैं—वन्यावस्था (सेवेजरी) और बर्बरावस्था (बारबेरिज्म)। कबीलों में रहकर सामूहिक सामाजिक जीवन बिताना उसने दूसरी अवस्था में ही सीखा। ये दोनों ही अवस्थायें प्रागैतिहासिक काल की है। यह काल मानव के इतिहास में न जाने कितने हजार वर्षों का रहा होगा। विभिन्न कारणों से प्रेरित होकर इस समाज को कृषि-व्यवस्था अपनानी पड़ी और उसके साथ ही उसके सामाजिक सम्बन्धों, संस्कृति और काव्य के स्वरूप मे भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। इस काल में पशुचारण, खेती तथा एक सीमा तक व्यापार द्वारा समाज के लोगों का जीवन-निर्वाह होता था। इस युग को सामन्त-युग भी कहा जाता है और इसके विकास की तीन अवस्थायें मानी जाती हैं :—

१—प्रारम्भिक सामन्त-युग।
२—मध्य सामन्त-युग।
३—उत्तर सामन्त-युग।

कृषि-युग या सामन्त-युग भी कम लम्बा नहीं रहा। हमारे देश में वैदिक-काल से लेकर १९वीं शताब्दी तक, आदि, मध्य और उत्तर सामन्ती समाज की अवस्थायें विभिन्न कालों में रहीं। महाकाव्य की सामग्री इस युग के प्रथम काल में निर्मित हुई और दूसरे काल में वह विकसित होकर महाकाव्यों के रूप में परिणत होने लगी। इस दूसरे काल का अन्त होते होते अलंकृत महाकाव्यों की रचना होने लगी जो तीसरे काल के महाकाव्यो में अपने उत्कृष्ट रूप में परिणत हुई। सामन्त-युग में ही अनेक आन्तरिक और बाह्य प्रभावों के कारण प्राकृत, अपभ्रंश और वर्तमान आर्यभाषाओं का विकास हुआ और उनमें भी विविध विकसनशील और अलंकृत महाकाव्यो की रचना हुई। कृषि-युग के बाद राष्ट्र-युग में औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप सामन्ती बन्धन टूटने लगते है और पूँजीवादी स्वतन्त्रता की भावना का विकास होता है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर बहुत अधिक जोर दिये जाने के कारण इस युग में वैयक्तिक भावना की ही प्रधानता रहती है। व्यष्टि-भावना तथा अन्तर्मुखी प्रवृत्तियों के परिणामस्वरूप इस युग में प्रगीतात्मक (लिरिकल) तथा आधुनिक स्वच्छन्दतावादी महाकाव्यों की ही रचना विशेष रूप से होती है।

जैसा ऊपर कहा गया है, विकसनशील महाकाव्य पूरे समाज के सामान्य मस्तिष्क की देन होता है। उसमें उस समाज के विश्वासों, कर्मों, रीतिरिवाजों, अनुभवों और परम्पराओं का लेखा-जोखा रहता है। इस प्रकार वह मानव-जाति का अत्यन्त प्राचीन काव्यरूप है, पर साथ ही अपने पूर्व के अन्य काव्य-रूपों की स्थिति की सूचना भी देता है। होमर, व्यास और वाल्मीकि अपने युग की कथा कहते हुए भी प्राचीन परम्पराभुक्त कथाओं को दुहराते और उनकी प्राचीनता को स्वय स्वीकार करते हैं। अतः मेकनील डिक्सन का यह कथन सही है कि प्रारम्भिक महाकाव्य का जो सुष्ठु और विकसित रूप आज प्राप्त है उसके निर्माण में न जाने कितने काव्यों और आख्यानों का उपयोग किया गया होगा[1]। उन प्राचीन गीतो और कथाओं का रूप भी इन

1. "The epic—a highly developed form of art—could not have come to birth, save for the cruder poems it took up and transformed, and these were, in turn, more finely wrought

महाकाव्यों में पहुँचकर कट-छँट और सज-सँवर कर नया सा हो गया है। इसीलिए निश्चित रूप से बता सकना कठिन है कि प्रारम्भिक सामूहिक गीतों से लेकर अलङ्कृत महाकाव्य तक की लम्बी यात्रा के बीच महाकाव्य को विकास के किस रास्ते से होकर गुजरना पड़ा होगा, फिर भी उसका कुछ अनुमान किया जा सकता है। यह विकास संभवतः इस क्रम से हुआ है :—

१—सामूहिक गीत-नृत्य (कोरल म्यूज़िक एंड डान्स)
२—आख्यानक नृत्य-गीत (बैलेड डान्स)
३—आख्यान और गाथा (लेज़ एण्ड बैलेड्स)
४—गाथा-चक्र (साइकिल आफ बैलेड्स)
५—प्रारम्भिक महाकाव्य
६—अलंकृत महाकाव्य

विकास के इस क्रम को ठीक इसी प्रकार से भले ही न स्वीकार किया जाय किन्तु इस बात को तो सभी स्वीकार करेंगे कि सामूहिक गीत-नृत्य से ही काव्य, संगीत, नृत्य, रूपक, सबका विकास हुआ है और अलंकृत महाकाव्य, कथा-आख्यायिका, गीतिकाव्य आदि इस विकास-क्रम की सबसे अन्तिम कड़ियाँ हैं। उनके बाद के साहित्य-रूपों के विकास का इतिहास रहस्यमय और उलझनपूर्ण नहीं है। नृतत्वशास्त्रियों और समाजशास्त्रियों का अनुमान है कि सबसे पहले मानव की धार्मिक क्रियायें सामूहिक गीत-नृत्य के रूप में अभिव्यक्त होती थीं। बाद में पूजा, पर्व और उत्सवों का प्राधान्य हो जाने पर भी उनसे नृत्य गीत का सम्बन्ध बना रहा। जन-समाज-युग के कबीले अपने आदि पुरुष के सम्बन्ध में अपने मनोभावों की अभिव्यक्ति सामूहिक रूप से करते थे। ऐसे अवसरों पर सभी व्यक्ति एकत्र होकर सामूहिक रूप में नृत्य-गान करते थे[1]। जो लोग

---

than the earliest narratives and lyrics of men in the infancy of society."

N. Macneile Dixon English Epic and Heroic Poetry, P 27. London—1912

1. "To this god the assembled multitudes sang a hymn, at first merely a chorus, exclamation and incoherent chant full of repetitions. As they sang, they kept time with the foot in a solemn dance which was inseperable from the chant itself and governed the words."

F. B. Gummere A Hand Book of Poetry. p. 9.

धार्मिक क्रियाओं के साथ काव्य-कला की उत्पत्ति नहीं मानते और मनोरंजन की प्रवृत्ति को ही प्रधान समझते हैं, उनका भी कहना है कि काव्य, नृत्य, संगीत आदि की उत्पत्ति प्रारम्भिक मानव समाज में सामूहिक उत्सवों से ही हुई है।

आख्यानक नृत्य-गीत :—

प्रारम्भिक मानव-समाज में देवताओं और पितरों की पूजा के लिए आयोजित नृत्य-गीत में अर्थयुक्त भाषा का व्यवहार होने और उन व्यक्तियों से सम्बन्धित आख्यानों के जुट जाने पर सामूहिक नृत्य-गीत ने आख्यानक नृत्य-गीत का रूप धारण कर लिया। आख्यानक नृत्य-गीत के सम्बन्ध में दो स्रोतों से पता चलता है—

१—प्राचीनतम उपलब्ध साहित्य से।

२—सभ्य जातियों के अशिक्षित ग्रामीण समाज के और आदिम जातियों के नृत्य-गीत से।

स्पष्ट ही इसमें रूपक और प्रबन्धकाव्य दोनों का बीज दिखलाई पड़ता है। भारत में इसका प्रारम्भिक स्वरूप क्या था, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, किन्तु अनेक विद्वानों का मत है कि ऋग्वेद के संवाद सूक्तों में इनका रूप दिखलाई पड़ता है। आख्यानक नृत्य-गीत का स्पष्ट-प्रमाण पतञ्जलि के महाभाष्य (३-१-२६) में मिलता है जिसमें कहा गया है कि शौभिक लोग कंसवध और वालिवध के आख्यानों का प्रदर्शन करते थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि परवर्ती काल में पौराणिक और निजन्धरी आख्यानों का स्वरूप धार्मिक हो जाने से धार्मिक उत्सवों के अवसरों पर मन्दिरों में गीति-नाट्य का अथवा आख्यानक नृत्य-गीत का आयोजन होता था जिसका अवशिष्ट रूप आज भी देवदासियों के नृत्य तथा कथाकली, कथक आदि भाव नृत्यों में दिखाई पड़ता है अथवा लोकोत्सवों और लोक-नृत्यों आदि में अब भी जिसका मूल रूप अवशिष्ट है। बंगाल में लोग देवताओं के मुखौटे पहनकर नृत्य करते है। काली, चामुण्डा, वासुकी, राम, लक्ष्मण, हनुमान, शिव-पार्वती, नरसिंह, हिरण्यकशिपु, कार्तिक आदि की कथाओं का वहाँ नृत्य द्वारा प्रदर्शन किया जाता है और दुर्गापूजा, धर्मपूजा, (गाजन), शिवपूजा (गंभीरा) आदि के समय आवश्यक धार्मिक क्रिया के रूप में उनका आयोजन होता है[1]।

---

1. "Music song and dance form an integral part of these festivities and these are performed by the populace putting on masks of gods, godesses and many lower animals......Besides

इस तरह नृत्य-गीत अथवा भाव-नृत्य द्वारा किसी कथा का अभिनय करने की प्रथा इस देश में और अन्य देशों में भी बहुत पुरानी है। फेरो द्वीप में सतरहवीं शताब्दी तक नृत्य के साथ आख्यानक काव्य और वीरगीति का गान होता था। आइसलैण्ड में नृत्य के साथ न जाने कब से आख्यानक काव्य का गान होता आ रहा है। इङ्गलैण्ड में भी राबिनहुड जैसी वीरगाथाओं का नृत्य में उपयोग होता था। यूरोप में बैलेट नामक नृत्य गीत वैलेड (गाथा) से ही निकला है[1]। भारत, विशेषकर उत्तर भारत, में रामलीला और रासलीला का स्वरूप आख्यानक नृत्य-गीत का ही है। उनके सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि वे साहित्यिक नाटक के विकृत रूप हैं क्योंकि ऊपर महाभाष्यकार का कथन इस प्रथा की प्राचीनता के प्रमाण में दिया जा चुका है। सम्भवतः रामायण और महाभारत की कथाओं का अभिनय करने की प्रथा यहाँ पहले से ही थी जिसका अवशिष्ट रूप रामलीला, रास-लीला आदि हैं। इस सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण उल्लेखनीय बात यह है कि भारतीय साहित्याचार्यों ने उपरूपक के १८ भेदों में एक रासक भी माना है। रास-नृत्य का सम्बन्ध श्रीकृष्ण के जीवन से है और यह सम्भवतः लास का ही दूसरा रूप प्रतीत होता है। भरतमुनि ने नृत्य के भीतर लास्य, ताण्डव आदि भेद गिनाये हैं। अस्तु, लास या रास मृदु भावनाओं की अभिव्यक्ति करने वाला नृत्य था जो प्रारम्भ में आख्यानक नृत्य-गीत ही रहा होगा।

आख्यान और गाथा :—

प्रारम्भिक काल के आख्यानक नृत्य-गीतों से नृत्य, संगीत, काव्य आदि का अलग अलग विकास उस समय हुआ जब समाज में व्यक्ति का महत्व बढ़ गया। समवेतनृत्य-गीत में पहले सभी साथ ही साथ गाते नाचते थे। बाद में पहले एक व्यक्ति अगुआ बनकर गाता या नाचता था और अन्य लोग उसी की क्रियाओं को दुहराते थे। इस तरह विशिष्ट प्रतिभा और स्मरण-शक्ति वाले व्यक्ति सामूहिक नृत्य-गीत में पहले आगे आये। आख्यानक नृत्य-गीत का विकास होने पर वे नृत्य, संगीत और आख्यान में अलग अलग विशेषज्ञता प्राप्त करने लगे।

---

this mask dances of he-sparrow and she-sparrow (performed by washermen) buda-budi, Ravan, Hanuman, Kali etc. are also performed "

Benoy Kumar Sarakar The Folk Element in Hindu Culture. p. 91–92 London 1917,

1. F. B Gummere Old English Ballads, Introduction, P. 78, London 4891.

इस तरह वैयक्तिक भावनाओं के विकास के साथ संगीत, नृत्य और काव्य (आख्यान और गाथा) का अलग कलाओं के रूप में विकास हुआ। इन्हीं विशेषज्ञ अगुओं से ही चारणों और गाथा-गायकों का विकास हुआ। प्राचीन आख्यानों और गायकों के सम्बन्ध में हमारी जानकारी दो स्रोतों पर आधारित है—

१ प्राचीन लिखित साहित्य।

२— आधुनिक अविकसित जातियों तथा जन जातियों का मौखिक साहित्य। प्रारम्भिक आख्यान निःसन्देह प्रागैतिहासिक काल के हैं। वे समाज की सामूहिक सम्पत्ति थे, किसी विशेष कवि की कृति नहीं। वेदों में यद्यपि आख्यान-गीतों (संवाद सूक्तों) के ऋषियों का नाम दिया हुआ है पर विद्वानों का मत है कि जिस गोत्र के लोग उन सूक्तों को गाते थे, उन्होंने अपने पूर्वज ऋषियों के नाम उनके कर्त्ता के रूप में जोड दिये हैं। ऋग्वेद में कम से कम १५ सूक्त ऐसे हैं जिसमें संवाद रूप में आख्यान कहे गये हैं। उनमें से यम-यमी (१०, ११) पुरूरवोर्वशी (१०, ९५), अगस्त्य-लोपामुद्रा (१, १७९), इन्द्र-अदिति-वामदेव (४, १८), इन्द्र-इन्द्राणी-वृषाकपि (१०, ८६), सरमा-पणीस (१०, ५१ ३), इन्द्र-मरुत् (१, १६५, १७०) आदि आख्यान प्रमुख हैं। डा० एस० के० दे का मत है कि ऋग्वेद के ये संवाद-सूक्त वस्तुतः पौराणिक और निजन्धरी आख्यान हैं[1]। शौनक ने 'बृहद्देवता' में इनमें से कुछ को संवाद और कुछ को इतिहास कहा है। यास्क ने भी निरुक्त में पुरूरवोर्वशी को संवाद और सरमा-पणीस की कथा को आख्यान कहा है[2]।

ऋग्वेद के इन संवाद-सूक्तों के सम्बन्ध में पश्चिम के प्राच्यविद्याविद् महारथियों में काफी विवाद हो चुका है। ओल्डेनबर्ग जैसे कुछ विद्वानों का यह अनुमान है कि ये आख्यान प्रारम्भ में गद्य-पद्य मिश्रित रहे होंगे क्योंकि योरोपीय परिवार के समस्त प्राचीन साहित्य में यह गद्य पद्यात्मक रूप दिखलाई पड़ता है[3]। कीथ ने इस मत का खण्डन करते हुए लिखा है कि वेदों में कहीं भी इस तरह के गद्य-पद्य मिश्रित आख्यान नहीं आये हैं, अतः यह केवल अनुमान है[4]।

---

1 S N Das Gupta and S K De A History of Sanskrit Literature p 43—43 Calcutta 1 47

२. देवशुनीन्द्रेण प्रहिता पणिभिरसुरैः समुदा इत्याख्यानम्। निरुक्त ११-२५।

3 Z D M G Vol XXXVII p 54

4. A. B Keith The Origin of Tragedy and the Akhyan. J. R. A S p 437. 1912.

किन्तु लोक प्रचलित कथाओं तथा प्राचीन आख्यानों और कथाओं के अध्ययन से पता चलता है कि आख्यानों का प्राचीन रूप गद्य-पद्य मिश्रित ही रहा होगा। भोजपुरी प्रदेश में सारङ्गा-सदाबृज तथा अन्य कई ऐसे लोक-प्रचलित आख्यान हैं जो गद्य-पद्य मिश्रित हैं। प्राचीन साहित्य में सर्वप्रथम ब्राह्मण-ग्रन्थों में गद्य पद्यमय आख्यानों के उदाहरण मिलते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में शुन शेप तथा शतपथ ब्राह्मण में पुरूरवोर्वशी के आख्यान गद्य-पद्य मिश्रित हैं।

गाथा नाराशंसी :—

ऐसे आख्यानों को प्रारम्भ में गाथा या गाथा नाराशंसी कहा जाता था और बाद में इन्हीं को इतिहास, पुराण, आख्यान नाम दिया गया। अथर्ववेद (१५-६-१०,११,१२) में गाथा और गाथानाराशंसी का नाम इतिहास-पुराण के साथ लिया गया है। शतपथ ब्राह्मण में अश्वमेध यज्ञ का जो वर्णन है उससे ज्ञात होता है कि यज्ञ के अवसर पर पारिप्लव आख्यान होता था, अर्थात् घोड़े के भ्रमणार्थ चले जाने पर वर्ष भर तक दस-दस दिन के अन्तर से कला, ज्ञान आदि के प्रदर्शन का आयोजन होता था। उसमें गाथा और इतिहास कहने की कला भी प्रदर्शित होती थी। दिन में ब्राह्मण और रात्रि में राजन्य वीणा पर उनका गान करते थे[1]। ब्राह्मणों की गाथा में किसी राजा के दान या यज्ञ की प्रशंसा की जाती थी और राजन्य उसकी वीरता और युद्धों का गान करता था। फिर जब यजमान और अध्वर्यु साथ बैठते थे तो अध्वर्यु होता से कहता था कि तुम इस राजा को औरों की तुलना में प्रशंसा द्वारा ऊँचा उठाओ। इसके बाद पारिप्लव-गान प्रारम्भ होता था। तदनन्तर वीणा बजाने वाले वीणा पर राजा की प्रशंसा के गीत गाते थे। सन्ध्या समय फिर राजन्य वीणा पर स्वरचित तीन छन्दों का गान करता था। इससे यह पता चलता है कि गाथा या गाथा नाराशंसी प्रशस्तिमूलक आख्यान ही था जिसमें इतिहास-पुराण भी मिला होता था। वेदों की दान-स्तुति को भी नाराशंसी गाथा कहा जाता था और अश्वमेध यज्ञों, उत्सवों और संस्कारों के समय उनका गान करने की प्रथा थी। आश्वलायन गृह्य-सूत्र में कहा गया है कि वेद-मन्त्रों का गान करने वालों को इतिहास, पुराण और गाथा नाराशंसी का भी गान करना चाहिए। काठक संहिता ने इन गाथाओं को मिथ्या बताया है क्योंकि इनमें राजाओं की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा रहती थी। ऐतरेय ब्राह्मण (३-२५-१) में आख्यानविद् शब्द का प्रयोग हुआ है। शतपथ ब्राह्मण (३-६-२, ७) में सुपर्णाख्यान कहने वाले को आख्यानविद्

---

१. शतपथ ब्राह्मण (१३-४-३-२, १५)।

कहा गया है। यास्क ने निरुक्त (४–२१ और ७–७) में ऋग्वेद के व्याख्याताओं को आख्यानविद् कहा है।

इससे इतना तो स्पष्ट है कि वैदिक काल में गाथा, आख्यान, इतिहास, पुराण और गाथा नाराशंसी आदि का रूप मिला जुला था और सम्भवतः सभी समनार्थी शब्द थे। हापकिन्स ने सप्रमाण यह सिद्ध किया है कि महाभारत में आख्यान, उपाख्यान, कथा, पुराण और इतिहास इन सब शब्दों का प्रयोग प्रायः समान अर्थों में हुआ है और सभी में किसी प्राचीन कहानी, घटना या निजन्धरी आख्यान का वर्णन है। इस तरह की कथायें अत्यन्त प्राचीनकाल से पौराणिक और निजन्धरी विश्वासों के साथ मिली जुली थीं[1]। फिर भी महाभारत में इन शब्दों के अर्थ में कहीं-कहीं अन्तर दिखाई पड़ता है। उसमें इतिहास शब्द अनुश्रुति (लेजेंड) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसी अर्थ में कहीं-कहीं गीता और गाथा शब्दों का प्रयोग हुआ है तथा कार्य-कलाप या नैतिक उपदेश को भी कहीं-कहीं गाथा कहा गया है (३–२१–३४)। ऋग्वेद में गाथा और गातु शब्दों का प्रयोग गीत या पद्य के अर्थ में और एक जगह नाराशंसी गाथा के अर्थ में हुआ है। उसमें गीत गानेवालों को गाथिन् और गाथापति तथा गीत शुरू करने वालों को गाथानि कहा गया है[2]। शतपथ ब्राह्मण और तैत्तिरीय ब्राह्मण तो गाथा का अर्थ स्पष्ट ही दान-स्तुति या नाराशंसी गाथा मानते हैं।

ऋग्वेद के इन सवाद-सूक्तों के आधार पर ही ओल्डेनवर्ग ने यह अनुमान किया है कि भारतवर्ष में महाकाव्य का प्राचीनतम रूप गद्य-पद्य मिश्रित था जिसमें पात्रों के सम्वाद तो पद्य में होते थे किन्तु उन संवादों से सम्बन्धित घटनाओं का वर्णन गद्य में किया जाता था। प्रारम्भ में केवल पद्यों को याद रखा जाता था, घटनाओं से सम्बन्धित वर्णनों को लोग अपने ढंग से कहते थे[3]। किन्तु मैक्समूलर, सिल्वाँ लेवी, हर्टेल आदि का अनुमान है कि ये संवाद-सूक्त एक प्रकार के नाटक थे[4]। विण्टरनित्स ने इस सम्बन्ध में मध्यममार्ग का

1. Hopkins The great Epic of India P 50, Yale University., 1920
2. Macdonell and Keith Vedic Index Vol. I, Edition 1912. P. 224.
3. Z. D. M. G. Vol. XXXVII (1883) P. 54 ff and Vol. 39 (1885) 52 ff.
4. Winternitz A History of Indian Literature Vol. I., P. 102. Calcutta 1927.

अवलम्बन करते हुए कहा है कि ऋग्वेद के संवाद-सूक्तों की तरह की कवितायें भारतीय साहित्य-महाभारत, पुराण तथा बौद्ध साहित्य आदि—में बहुत अधिक मिलती हैं, अतः ये संवाद सूक्त वस्तुतः प्राचीन गाथायें हैं। इन गाथाओं में नाटक और कथाकाव्य दोनों के तत्व वर्तमान हैं। उन्हीं के आख्यानक तत्व से महाकाव्य, और संवाद तत्व से नाटक का विकास हुआ है[1]।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन भारतीय साहित्य में आख्यानों और गाथाओं की अधिकता है और उनकी परम्परा भी बहुत प्राचीन है। इन आख्यानों का वस्तु-तत्व पौराणिक, निजन्धरी, समसामयिक तथा कल्पित, इन चार प्रकार के पात्रों, घटनाओं और परिस्थितियों को लेकर गठित हुआ है। उनका निर्माण समूचे समाज द्वारा युग युग में होता था। इस तरह उनके भीतर लोक-तत्व की प्रधानता होती थी। वे प्रारम्भ में मौखिक रूप से गाये या सुनाये जाते थे, बाद में लिखने की प्रथा शुरू होने पर और समाज के वर्ग विभक्त हो जाने पर उन्हें लिख डाला गया अथवा, उनका रूप बदलकर, उन्हें धार्मिक और शिष्ट साहित्य में सम्मिलित कर लिला गया। इस प्रकार प्रारम्भिक गाथाओं और आख्यानों की दो धारायें हो गयीं, १—शिष्ट साहित्य के गाथा-आख्यान तथा; २—लोकगाथा और लोककथा। पहले प्रकार की गाथाओ और आख्यानो का स्वरूप बहुत पहले ही निश्चित हो गया था किन्तु लोक-प्रचलित गाथाओं और आख्यानो में आदिकाल से निरन्तर परिवर्तन होता आ रहा है। उनमें प्राचीन भाषा और मूल कथा तो नहीं सुरक्षित रह सकी है किन्तु प्रारम्भिक आख्यानों और गाथाओं के अनेक तत्व आज भी सुरक्षित हैं। अतः प्राचीन साहित्य के अध्ययन की दृष्टि से लोक कथाओं और लोक-गाथाओं का भी कम महत्व नहीं है क्योंकि महाकाव्य के रूप-निर्माण में इनके भी अनेक तत्वों का उपयोग हुआ है।

गाथाचक्र (बैलेड साइकिल) :—

इन गाथाओ में कुछ इतनी लोकप्रिय होती हैं कि वे बड़ी आसानी से विभिन्न स्थानों और जातियों में दूर-दूर तक फैल जाती हैं। फिर स्थान और कालभेद से उनमें भिन्न भिन्न निजन्धरी पुरुषों की कथायें जुड़ने लगती हे। इस तरह एक ही गाथा मिश्रण के कारण विभिन्न स्थानों में विभिन्न गाथाओं के रूप में दिखलाई पड़ती है। बाद में वे सभी गाथायें फिर एक में मिलने लगती हैं क्योंकि उन सबमें प्रमुख पात्र समान होते हैं। जब विभिन्न स्थानों के गायक अथवा चारण एक ही पात्र से सम्बन्धित अनेक गाथाओं को याद करके गाने

1. Ibid. P. 102—103

लगते हैं तो धीरे-धीरे वह गाथा महागाथा अथवा गाथाचक्र के रूप में बदल जाती है। यही बात आख्यानों के बारे में भी लागू होती है। उनमें भी एक ही कथा महाकथा या कथाचक्र के रूप में बदल जाती है। गाथाओं और कथाओं में अनेक तत्व समान होते है और बहुधा दोनों में एक ही प्रकार के कथानक सम्बन्धी अभिप्राय दिखलाई पड़ते है। इसलिए विभिन्न देशों और जातियों के गाथा-चक्रों में बहुत सी समान बातें दिखलाई पड़ती है। किसी गाथा का गाथाचक्र के रूप में तभीतक विकास होता है जब तक कि उसका लिखित रूप नहीं रहता और वह मौखिक परम्परा मे विकसित होती रहती है। मोल्टन ने इस सम्बन्ध में 'विश्वसाहित्य' नामक पुस्तक में लिखा है कि कण्ठस्थ काव्य एक तरह से संतरणशील साहित्य है, क्योंकि लिखित काव्य तो स्थिर हो जाता है, पर अलिखित और मौखिक काव्य मानो हवा में तैरता रहता है और प्रत्येक नया गाने वाला किसी गाथा का नया संस्करण करता है[1]। इस संतरण-शील काव्य के गायक शुरू में तो गैर-पेशेवर होते थे पर बाद में पेशेवर लोग चारण के रूप में उसके विशेषज्ञ बनने लगे। ये चारण वीर युग में पूरे समाज, विशेषरूप से सामन्तवर्ग, द्वारा बहुत सम्मानित होते थे क्योंकि परम्परागत अनु-श्रुतियो और गाथाओं—इतिहास, पुराण आदि—की रक्षा करने के साथ ही वे समाज का मनोरञ्जन और हित-साधन भी करते थे। इस प्रकार मौखिक काव्य यद्यपि सामूहिक सम्पत्ति था किन्तु चारणों ने उसका उपयोग और विकास विभिन्न युगों में विभिन्न रूपों में किया। विकास की इसी प्रक्रिया द्वारा एक ही गाथा ने पहले अनेक गाथाओ का रूप धारण किया और अन्त में उन सबके सम्मिश्रण से गाथा-चक्र (बैलेड साइकिल) का निर्माण हुआ।

गाथा चक्रों के बनने का दूसरा कारण विभिन्न व्यक्तियों, घटनाओं आदि से सम्बन्धित अलग-अलग कथाओं का परस्पर गुम्फन और सम्मिश्रण भी था। वीरो और सांस्कृतिक पुरुषों के चरित से सम्बन्धित गाथाओं में ऐसा अधिक होता था। इनके मौखिक और गेय होने के कारण गायक अपनी सुविधा के अनुसार किसी गाथा में अन्य गाथाओं की कुछ बातें भी मिला देते थे और जो अधिक लोकप्रिय और शक्तिपूर्ण गाथा होती थी उसमें अन्य अनेक गाथायें अन्तर्भुक्त हो जाती थीं। इस तरह किसी गाथा की मूल कथा के भीतर अनेक

---

1 "Oral poetry is a floating literature because apart from writing that gives fixity, each delivering of a poem becomes a fresh edition".
Molton, world Literature, P. 102.

उपकथायें जुड़ जाती थीं। इस गुम्फन-क्रिया में लोक का हाथ तो रहता ही था पर चारणों और गायकों का अधिक हाथ रहता था क्योंकि वे इस प्रक्रिया द्वारा किसी गाथा को नये रूप-रङ्ग में सुनाकर अपने श्रोताओं तथा आश्रय-दाताओं को प्रसन्न और विस्मय-विमुग्ध कर सकते थे। दो-एक गाथाचक्रों के उदाहरण ही पर्याप्त होंगे। वेदों में इन्द्र सम्बन्धी जितनी गाथायें या आख्यान हैं, वे गाथाचक्र के पूर्वरूप हैं। वैदिक साहित्य में सुपर्णाध्याय या सुपर्णाख्यान को विंटरनित्स ने गाथाचक्र ही माना है[1]। इसमें कद्रू और विनता की निजन्धरी कथा है जिसका उल्लेख प्रारम्भिक वैदिक-साहित्य से लेकर महाभारत आदि अनेक ग्रन्थों तक में हुआ है। भारतीय इतिहास और पुराण का विकास भी भारतीय गाथाचक्रों के रूप में ही हुआ है। वैदिक काल मे ही इतिहास और पुराण का महत्व स्वीकृत हो गया था। इसलिए परवर्ती साहित्य में इतिहास-पुराण को पञ्चम वेद भी कहा गया है[२]। इतिहास-पुराण का तात्पर्य प्रारम्भ में आख्यान और गाथा ही होता था, यह कहा जा चुका है। कुछ विद्वानों का कहना है कि वैदिक काल में ही वैदिक संहिताओं के समान इतिहासों और पुराणों की संहितायें भी थीं जिनमें पौराणिक, ऐतिहासिक और निजन्धरी वृत्तों का संग्रह था[3]। पार्जिटर का मत है कि इतिहास-पुराण का विकास वैदिक काल से ही राजन्य वर्ग के आश्रय में रहने वाले सूत-मागधों की परम्परा में हुआ है[४]। गाथाओं और आख्यानों का विकास भी इन्हीं सूत-मागधों के द्वारा हुआ है; अतः यह स्पष्ट है कि इतिहास पुराण के रूप में जो भारतीय साहित्य आज हमें उपलब्ध है वह नाना गाथाचक्रों का संग्रह मात्र है। स्वय महा-भारत अनेक गाथाओं और गाथाचक्रो का विशाल भण्डार है। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि गाथाचक्र काव्य नहीं, काव्य की पूर्वावस्था है। वस्तुतः

---

1 Winternitz A History of Indian Literature, Vol.I P 312

२. छान्दोग्य उपनिषद् (३-३, ४)।

3 Winternitz A History of Indian Literature, footnote No 4. p. 313.

4 "This marked difference can only be explained on the ground that royal linage were not the concern of Rishis, but of court bards and of court priests. This Kshatriya literature grew up in virtul independence of Brahmanical literature .." Pargiter . Ancient Indian Geneologies And Chronologies, p. 4.

यह लोकगाथा और विकसनशील महाकाव्य के बीच की एक आवश्यक कड़ी है[१]।

प्रारम्भिक महाकाव्यः—

जब गाथायें गाथाचक्र का रूप धारण कर लेती हैं तो उनका प्रारम्भिक या मूल रूप क्या था, यह जानने का कोई उपाय नहीं रह जाता। चिरकाल तक विकसित और परिष्कृत होते हुये ये ही गाथाचक्र प्रारम्भिक महाकाव्य का रूप धारण कर लेते हैं। प्रत्येक जाति और देश में समय-समय पर नये वीर और नयी घटनायें होती रहती थीं। अतः या तो पुराने वीरों की कथा नये वीरों की कथा को आत्मसात कर लेती थी अथवा नये वीरों के सम्बन्ध में ही पुराने वीरों की बहुत सी बातें प्रचलित हो जाती थीं। दोनों ही दशाओं में कथा का रूप बदल कर नया हो जाता था। इस तरह किसी वीर पुरुष या महत्वपूर्ण घटना की अपने समय में भले ही उतनी ख्याति न रही हो पर कालान्तर में वही वीर अन्य अनेक वीरों के यश और कीर्ति को अपना बना लेता है। कभी कभी तो ऐसे व्यक्तियों और वीरों की गाथायें ऐतिहासिक सत्य के रूप में प्रचलित हो जाती हैं जो इतिहास में कभी हुए ही नहीं। इस प्रकार की विकसनशील वीर-गाथा जब किसी उपयुक्त चारण या गायक के हाथ में पड़ जाती है तो वह इसमें अन्य गाथाओं, कथाओं, घटनाओं और वर्णनों को ऐसी बारीकी से पिरो देता है कि पता ही नहीं चलता कि ये बाद की जोड़ी हुई हैं। यह संयोजन या संग्रह का कार्य जिसके द्वारा होता है वही उस गाथाचक्र या गाथा-संहिता का कर्ता मान लिया जाता है। उस गाथाचक्र का कालान्तर में इतना प्रचार और प्रसार होता है और उसमें धीरे-धीरे इतना अधिक जोड़ा-घटाया जाता है कि उस गाथाचक्र के मूल रूप को ढूँढ़ निकालना असभव हो जाता है। इस तरह प्रारम्भिक गाथाओं से गाथाचक्रों और गाथाचक्रों से प्रारम्भिक या विकसन-शील महाकाव्यों का विकास होता है। इससे यह स्पष्ट है कि विकसनशील महाकाव्यों का कोई एक कवि नहीं होता और न वे एक युग की निर्मिति होते हैं। उनकी रचना अनेक युगों में अनेक कवियों द्वारा होती है। इलियड, ओडेसी, महाभारत आदि इसी प्रकार गाथाचक्रों से विकसित महाकाव्य हैं।

अलंकृत महाकाव्य :—

प्रारम्भिक महाकाव्यों का विकास वीर-युग में होता है जिसे हमने ऊपर

1. Such an heroic cycle, it will be understood, is not a poem, but a state of poetry .. ..The cycle has now the chance of growing into an organic epic.
Molton World Literature. p. 103.

प्रारम्भिक सामंत-युग कहा है। इस युग में राजतन्त्र का विकास होने से समाज का सर्वप्रमुख व्यक्ति राजा बन जाता है और उसी के आश्रय में धर्म, साहित्य, संस्कृति आदि का संरक्षण होता है। समाज में वर्गभेद उत्पन्न होते ही अनेक सांस्कृतिक केन्द्र स्थापित हुए। राजाओं की राजधानियाँ साहित्यिक, कलात्मक और धार्मिक कार्यों का प्रमुख केन्द्र होने लगीं। शिक्षा और संस्कृति के केन्द्रों में तथा शिष्ट समाज में पुरानी लोककथाओं और लोकगाथाओं को ग्राम्य समझकर उनका उतना सम्मान नहीं होता था। अतः उन सामन्ती सांस्कृतिक केन्द्रों में ग्राम्य कथाओं और गाथाओं की सामग्री लेकर दरबारी तथा नागर चारणों और कवियों ने साहित्यिक कथाओं और काव्यों का विकास किया। इस तरह प्रारम्भिक शिष्ट कथा-साहित्य और गाथाचक्र, लोककथाओं और लोकगाथाओं को आत्मसात करके विकसित हुए। उधर लोककथायें और लोकगाथायें ग्रामीण और अशिक्षित जनता में ही सिमट कर रह गयी। इस प्रकार शिष्ट समाज और ग्रामीण समाज का भेद उत्पन्न होने के साथ ही साथ साहित्य के भी—शिष्ट साहित्य और लोक साहित्य—ये दो रूप हो गये। सांस्कृतिक केन्द्रों और राज-दरबारों में शिक्षा और संस्कृति के विकास के साथ-साथ लिखने की प्रथा भी विकसित हुई और काव्य-रचना भी एक विशिष्ट कला के रूप में स्वीकृत हुई। उन केन्द्रों में प्राचीन गाथाओं, कथाओं और गाथाचक्रों को लिपिबद्ध किया गया और इनके गायक चारण आदि सामन्तों के दरबारों में आश्रय पाने लगे। उस वातावरण मे वैयक्तिक और सचेत काव्य-रचना का होना आवश्यक था। अतः धीरे-धीरे वे चारण और गायक ही कवि रूप में सामने आये। उनके काव्यों के साथ उनका नाम भी जुड़ने लगा और वे काव्य लिखित रूप में सुरक्षित रखे जाने लगे। इस स्थिति में पहुँचकर लोककाव्य और शिष्ट-काव्य, अलग हो गये। अब शिष्ट काव्य, अलंकृत, जटिल और दीक्षागम्य होने लगा। इसी वातावरण में और इन्हीं कवियों द्वारा अलंकृत महाकाव्यों की रचना होने लगी। इन अलंकृत महाकाव्यों को अनुकृत (इमीटेटिव) अथवा कलात्मक महाकाव्य (एपिक आफ आर्ट) भी कहा जाता है क्योंकि उनमें प्रायः विकसनशील महाकाव्यों अथवा पूर्ववर्ती गाथाचक्रो और इतिहास-पुराणों से ही कथावस्तु ग्रहण की गयी और उनकी शैली भी विकसनशील महाकाव्यों की शैली से बहुत प्रभावित थी।

ऊपर आख्यान और गाथा से लेकर अलंकृत महाकाव्य तक के काव्यविकास का जो विवेचन किया गया है उसे निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट रूप में समझा जा सकता है :—

अलिखित (मौखिक) काव्य

विकास की अवस्थाएँ	विशेषताएँ
१–प्रारम्भिक लोकगाथायें २–मिश्र कथानकों का विकास ३–गाथाचक्र ४–प्रारम्भिक (विकसनशील) महाकाव्य	१—संतरणशील काव्य-सामग्री २—आशु काव्य-प्रतिभा द्वारा परिवर्तन-परिवर्द्धन की प्रवृत्ति ३—सामूहिक कृतित्व या अपौरुषेयत्व ४— अनलंकृति और सहजता ५—लोक-व्याप्ति और परम्पराभुक्तता (ट्रेडिशनलिज्म) ६—गतिशील घटनाक्रम और स्वाभाविक भावो और चरित्रों का चित्रण ७—कल्पना के स्वाभाविक उपयोग द्वारा वास्तविक जीवन का चित्रण

लिखित काव्य

विकास की अवस्थाएँ	विशेषताएँ
१—विकसनशील महाकाव्य	१—रूप की स्थिरता २—संतरणशील काव्य-सामग्री का संयत और सोद्देश्य उपयोग ३—वैयक्तिकता की प्रवृत्ति और व्यक्तिगत कृतित्व
२—अलंकृत महाकाव्य तथा अन्य काव्य-रूप	४ कृत्रिम, नागर और दरबारी वातावरण तथा परम्परा का प्रभाव ५—शैलीगत मौलिकता और नवीनता की प्रवृत्ति ६—घटना-क्रम में गति की शिथिलता, सूक्ष्म और विवृत वर्णन का आधिक्य ७—आदर्श चरित्रो की अवतारणा ८—अलंकृति और पांडित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति ९—कल्पना की अतिशयता द्वारा सचेष्ट रूप से अतिरंजना की प्रवृत्ति

ऊपर विकसनशील महाकाव्य को मौखिक और लिखित दोनों श्रेणियों में रखा गया है। इसका कारण यह है कि जब तक कोई महाकाव्य विकास या निर्माण की अवस्था में रहता है तब तक वह लोक-कण्ठ या चारण-गायक के कण्ठ में ही निवास करता है। जब वह परिपक्व महाकाव्य के रूप में ढल जाता है और शिष्टवर्ग की दृष्टि उसपर पड़ती है अथवा शिष्टवर्ग का ही कोई व्यक्ति उसे महाकाव्य का रूप प्रदान करता है, तब उसे लिख लिया जाता है। इस प्रकार वह लिखित और अलिखित दोनों ही अवस्थाओं का काव्य है। अलिखित अवस्था में उसमें निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं, पर लिखित अवस्था में उसका रूप स्थिर हो जाता है। बहुत से गाथाचक्र परिपक्वावस्था (महाकाव्य रूप) में पहुँचने के पूर्व ही उत्साही लोगों द्वारा लिख लिये जाते हैं। परिणामस्वरूप उनका विकास वहीं रुक जाता है। कुछ काव्य ऐसे भी होते हैं जो चारणों द्वारा रचे जाते हैं पर मौखिक प्रचार के कारण वे लोक-गाथा और फिर गाथा चक्र के रूप में बदल जाते है। कुछ इतने लोकप्रिय होते हैं कि अन्य कवि उनमें अपनी रचनायें, अपने भाव और विचार, लेखक के रूप में मिलाने लगते हैं और धीरे-धीरे उसके आकार-प्रकार को ही बदल देते हैं। फिर यह कहना कठिन हो जाता है कि उसमें कौन सा अंश मूल कवि का है और कौन सा प्रक्षेपकों का।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रारम्भिक मानव समाज मे, जब कि वह बर्बरावस्था में रहता है, महाकाव्य की रचना या उसका विकास नहीं होता। कारण यह है कि समाज जब तक वर्गहीन रहेगा, उसमें महाकाव्य का उदय नहीं हो सकता क्योंकि महाकाव्य को नायक के लिए विशिष्ट व्यक्तित्व वाले वीरों तथा व्यक्तियों की आवश्यकता होती है जो वर्गहीन बर्बर समाज में नहीं होते। जन-समाज-युग में सामूहिकता की प्रवृत्ति प्रधान होने के कारण व्यष्टि-भावना का अभाव था। प्रत्येक व्यक्ति समाज का ही एक अंग था। उसे अपनी अलग व्यक्तिगत सत्ता का ज्ञान नहीं था। वह अपने में ही समाज का एक लघु रूप था। ऐसी स्थिति में सुदृढ व्यक्तित्व का अभाव होना स्वाभाविक था। किन्तु धीरे-धीरे अन्य कबीलों अथवा जातियों के साथ होनेवाले संघर्ष और सम्पर्क के कारण समाज के भीतर व्यक्ति-चेतना उद्‌बुद्ध हुई और वैयक्तिकता की भावना का प्रारम्भ हुआ। इस परिवर्तन का एक प्रधान कारण आर्थिक आधार में क्रान्तिकारी परिवर्तनों का होना भी था। कृषि-युग में पहुँच कर कबीलों को अपनी पुरानी परम्पराओं, रूढियों तथा उत्पादन के साधनों में परिवर्तन करना अनिवार्य हो गया। यह कृषि-युग की प्रारम्भिक अवस्था थी और साहित्य में इसी युग को प्रारम्भिक वीर युग कहा जाता है जिसमें श्रम-विभाजन के साथ

वैयक्तिक वीरता, उदारता, सौन्दर्य-प्रेम आदि की प्रतिष्ठा हुई। इस युग की परिवर्तित सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों के कारण ही महाकाव्यो का उद्भव और विकास हुआ। अतः इसके पहले कि महाकाव्य की सामग्री पर विचार करें, महाकाव्य-युग या वीरयुग के सम्बन्ध में विचार कर लेना आवश्यक है।

वीरयुग का उदय :—

वीरयुग बर्बर समाज-व्यवस्था और पूर्ण सभ्य समाज-व्यवस्था के बीच की मंजिल है। इस युग में व्यक्ति अदम्य वैयक्तिक सत्ता और शक्ति लेकर समाज के पुराने बंधनों को तोड़कर सामने आया। समाज की रक्षा की भावना और जीवन रक्षा की आवश्यकता ने इस युग में व्यक्ति को विवश किया कि वह अपनी शक्ति और साहस का परिचय औरों से भिन्न रूप में दे और उसके बदले ख्याति और सम्मान प्राप्त करे। इस प्रकार इस युग मे योद्धाओं और वीरों की अलग श्रेणी बन गई और राजतन्त्र तथा सामन्ततन्त्र की स्थापना हुई जिसमें 'वीर भोग्या वसुन्धरा' का सिद्धान्त स्वभावतः लागू हो गया। युद्धो में शौर्य प्रदर्शित करने और विजय दिलाने वाला व्यक्ति कबीले का नेता या सरदार बनने लगा और मंत्र-तंत्र, जादू-टोना और पौराणिक कथाओं और विश्वासों के विशेषज्ञ पुरोहित और विद्वान् बनकर सम्मानित हुए।

यह युग प्रत्येक जाति के इतिहास में कभी न कभी अवश्य आया था अथवा आता रहता है। यह समाज के जीवन की युवावस्था के समान होता है जिसमें बौद्धिक और वैज्ञानिक विकास तथा सामाजिक सघटन का उत्कर्ष उतना नही दिखलाई पड़ता जितना भावनाओं की तीव्रता के साथ मानवीय प्रयत्नों का सशक्त स्वरूप दिखलाई पड़ता है। ऐसे समाज में सबल निर्बल के ऊपर और युवक वृद्ध के ऊपर विजय प्राप्त करता है और व्यक्ति अपने बाहुबल या शस्त्र-चालन की दक्षता से ही समाज या जाति का नेतृत्व प्राप्त करता है। उसमें अवस्था की प्रौढ़ता और अनुभव-वृद्धता को जगह, शारीरिक शक्ति को ही अधिक महत्व दिया जाता है। सभी आधुनिक सभ्य जातियों के इतिहास में ऐसे युग आये थे जिसका प्रमाण उनका प्राचीन साहित्य और इतिहास है। प्राचीन यूनानी और भारतीय साहित्य से तो इस कथन की सत्यता और भी स्पष्ट हो जाती है। उस काल (वीरयुग) में युद्धों में व्यक्तिगत वीरता का ही अधिक महत्व था, सामूहिक वीरता या सैन्य शक्ति का नहीं, क्योंकि युवकों की प्रबल शारीरिक शक्ति और महान् साहस से ही युद्ध जीते जाते थे। स्वभावतः ऐसे युग में प्राचीन बर्बर युगीन सामूहिक विश्वासों और मान्यताओं की जगह

नये विश्वासों, नये देवताओं और वीरों तथा नये सामाजिक और राजनीतिक संघटन की प्रतिष्ठा होगी। ऋग्वेद में बर्बरयुग और वीरयुग दोनों ही के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है। ब्राह्मण-साहित्य और पुराण इतिहासों में वैयक्तिक वीरता के महत्व को पूर्णरूप से स्वीकार किया गया है। उदाहरण के लिए महाभारत को ले सकते हैं। इस महाकाव्य (अथवा इतिहास) की कथा मुख्यतया अर्जुन भीम, कर्ण, द्रोण, भीष्म, दुर्योधन आदि की व्यक्तिगत वीरता की कथा है। साथ ही उसमें पुराने वीर, नये वीरों के सामने झुकते और पराजित होते हुये दिखाई पड़ते हैं[1]। इसी प्रकार अन्य देशों के प्राचीनतम महाकाव्यों में भी राष्ट्रीय या जातीय शक्ति अथवा सामूहिक वीरता का उतना महत्व नहीं दिखाई पड़ता जितना व्यक्तिगत वीरता का।

प्रारम्भिक वीरयुग और सामन्ती वीरयुग :—

बर्बर-युग की भाँति वीरयुग भी विभिन्न जातियों के इतिहास में विभिन्न कालों, में आया। उसी तरह वीर-काव्य का उद्भव भी देशकाल के अनुरूप विभिन्न स्थानों में विभिन्न रूपों में हुआ। किन्तु परिस्थितियों और विकास के कारणों में समानता होने के कारण उक्त युगों के अभिव्यक्ति के माध्यम – वीर काव्य — के विभिन्न रूपों में समानता दिखाई पड़ती है। इस युग में पहुँचने पर समाज के पुराने बन्धन टूटने लगते या लचीले हो जाते है। किन्तु बाद में जब सामंत तन्त्र स्वयं समाज के लिए बन्धन बन जाता है तो उसके लचीले सामाजिक और सांस्कृतिक नियम भी बन्धन-ग्रस्त होकर रूढ़ हो जाते हैं। पर उस समय भी समाज से वीरता का अन्त नहीं होता, हाँ उसका वह स्वरूप नहीं रह जाता

1 "In a discussion of this society, one has to notice that in most of the poems it is an age of youth, not in the sense of youthfulness of social organisation, of primitive forms of human endeavour, but in the domination of the old by the young, the weak by the strong, strength of muscles and skill in arms imply leadership in society and youthful prococity is very much in evidence in the immaturity of the leaders, so far as age goes In the period we are discussing, however, the issue of warfare depends on the personal bravery of vigorous youngmen, ambitious of fame, confident of prowess, proud and boastful, but fatalist about the overruling powers of Destiny" N K Sidhant the Heroic Age of India, P. 114—115. London 1929

है। उसके बाद समाज फिर उन परिस्थितियों में लौटकर नहीं जाता, यद्यपि युद्ध कभी कम और कभी अधिक होते ही रहते हैं। अतः किसी जाति का वीरयुग वही होगा जिसमें यद्यपि व्यक्तिगत वीरता को महत्व दिया जाता है पर वीर व्यक्ति समाज की भावनाओं और शक्ति का प्रतिनिधित्व भी करता है। वस्तुतः उसकी वीरता उसी की नहीं, समूची जाति या समाज की होती है। उस काल में वीरता समाज की एक प्रधान प्रवृत्ति होती है[1]। वीर व्यक्ति उसी प्रवृत्ति का प्रतीक होता है और इसीलिये वह समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। ऐसे ही वीर व्यक्ति महाकाव्यों, गाथाओं और गाथाचक्रों के नायक बनते हैं। वीरयुग में समाज यद्यपि वर्गों में बँट जाता है पर सरदार या राजा और सामान्य जन या प्रजा के बीच का सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ रहता है। धीरे-धीरे सामन्तवाद के विकास के साथ राजा और प्रजा के बीच की दूरी बढ़ती जाती है। प्रारम्भिक वीरयुग में सरदार या राजा जातीय गुणों और आकांक्षाओं का प्रतीक होता है। वह समाज का नायक और संचालक होता है और उसके सम्मान में रचित काव्य या आख्यान समाज की सम्पत्ति बन जाते हैं जिनसे निजन्धरी कथाओं और प्रारम्भिक महाकाव्यों का विकास होता है। इसके विपरीत बाद के युगों में राजाओं के पारस्परिक युद्ध समाज के लिये नहीं, अपने लिये होते हैं। सामंत या सम्राट, समाज या जाति की आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व नहीं करते यद्यपि उनमें भी वीरता की कमी नहीं होती। अतः इस युग को प्रारम्भिक वीरयुग (हीरोइक एज) नहीं बल्कि सामंती वीरयुग (एज आफ शिवेलरी) कहा जाता है[2]। इस युग के सम्बन्ध में 'हिन्दी महाकाव्य के उद्भव और विकास' वाले अध्याय में विशेष रूप से विचार किया जायगा क्योंकि हिन्दी के कई प्रारम्भिक

---

1 "Epic poetry heroic literature generally, implies not merely certain favourite themes-combats, battles, killing of monsters escapes and defences—but a diffused sympathy for the heroic mood among the people for whom the epic is made... The 'multitude in an heroic age interprets life heroically, and it is common vague sentiment of heroism, not any bare unaccomodated thing in itself with which be the epic poets make their beginning."
W. P Ker The Dark Ages P. 84, Second impresssion London 1904

2 W Macneil Dixon English Epic and Heroic Poetry. P. 38 London 1915.

महाकाव्य (आथेन्टिक एपिक) वीर गाथायें (हीरोइक बैलेड्स), और रोमांचक गाथायें (रोमांसेस) इसी काल में लिखी गई थीं।

विभिन्न देशों में वीरयुग :—

वीरयुग विभिन्नि जातियों और विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न कालों में रहा है। उदाहरणार्थ यूनानी वीरयुग और ट्यूटन वीरयुग के बीच हजारों वर्ष का अन्तर था। यूनानी वीरयुग पूर्णतया प्रागैतिहासिक है। प्राचीन यूनानी साहित्य और अनुश्रुतियों के आधार पर प्रसिद्ध विद्वान् शाडविक ने यूनानी वीरयुग का काल ई० पू० १००० से पहले का माना है[1]। किन्तु ट्यूटन वीरयुग ऐतिहासिक काल का है। शाडविक ने इसे ईसा की तीसरी और छठी शताब्दी के बीच माना है। उनके अनुसार यूरोप की अन्य जातियों--ब्रिटिश, नार्वेजियन, आइरिश, आइसलैंडिक आदि--का वीरयुग भी ट्यूटन वीरयुग का समकालीन ही था। यूरोप के प्राचीन प्रारम्भिक महाकाव्य—इलियड, आडेसी, वियोउल्फ आदि—इन्हीं वीर-युगों में विकसित हुये। भारतीय वीरयुग का काल निर्णय प्राचीन भारतीय साहित्य—वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ, पुराण और महाभारत-रामायण-के आधार पर किया जाता है। भारतीय वीरयुग ऋग्वेद के काल में ही प्रारम्भ हो गया था। वेदों और ब्राह्मण-आरण्यक ग्रन्थों में आये वीर-आख्यान यह सिद्ध करते हैं कि वे वीरयुग की देन हैं। इन्द्र, अश्विन आदि ऋग्वेद के प्रधान वीर हैं। बार्नेट का मत है कि इन्द्र और अश्विन ऐतिहासिक व्यक्ति है जिन्हें उनकी वीरता के कारण पौराणिक और निजन्धरी रूप प्रदान किया गया[2]। केगी का

---

1. "The Greek Heroic Age is wholly prehistoric The persons and events recorded in the poems are known to us only from native tradition ..The trustworthiness of geneologies is, ofcourse, a different question But their evidence, such as it is, points to 1000 B C or perhaps even rather a later date for the end of the Greek Heroic Age"
Chadwick · The Growth of Literature Vol I P 17 Cambridge 1932.

2. ' Indra and Ashvina at the beginning came to be worshipped because they were heroes, men who were supposed to have wrought marvellously noble and valiant deeds in dim far off days, saviours of the afflicted, champions of the right, and who for this reason were worshipped after death, perhaps even before death, as divine beings and gradually became

भी कहना है कि इंद्र वैदिककालीन आर्यों के ऐसे देवता हैं जो आदर्श व्यक्ति, वीर, नेता, संरक्षक और सम्राट् है। वस्तुतः इन्द्र ही वैदिक काल के महाकाव्य-नायक है[1]। महाभारत और रामायण भारतीय वीरयुग के प्रतिनिधि महाकाव्य हैं जो निश्चय ही वैदिककाल तथा सन् ई० के बीच के हैं। इस काल को विदेशी विद्वानों ने बहुत पीछे रखने का प्रयत्न किया है और कई भारतीय विद्वानों ने उसे सुदूर अतीत में बहुत पहले रखने की कोशिश की है। वस्तुतः यूनानी वीरयुग की भाँति भारतीय वीरयुग भी प्रागैतिहासिक ही है। फिर भी भारत में प्रारम्भिक वीरयुग का काल अनुमानतः ई० पू० २००० से ई० पू० ५०० के बीच स्थिर किया जा सकता है क्योंकि अधिकांश विद्वानों के मत से महाभारत-युद्ध १००० ई० पू० के आस-पास हुआ था और उसके बहुत पहले से ही प्रारम्भिक वीरयुग प्रारम्भ हो गया था, जिसकी समाप्ति गौतम बुद्ध के समय तक, सामन्ततंत्र का रूप स्थिर हो जाने के बाद हुई।

वीरयुग का काव्य : –

इस युग का जो साहित्य आज प्राप्त है उसमें कहीं-कहीं स्फुट या प्रासंगिक रूप से और कहीं-कही प्रधान रूप से वीर-काव्य का स्वरूप दिखलाई पड़ता है। इस युग के भारतीय साहित्य का क्रमिक विकास इस रूप में हुआ है—

१—वेद

२— ब्राह्मण-आरण्यक

३—सूत्र ग्रन्थ

४—वेदांग

५ — महाकाव्य (महाभारत-रामायण)

६—पुराण।

इस विशाल साहित्य-भाण्डार में सात श्रेणियी का काव्य मिलता है :–

(क) कथात्मक काव्य या वीर–आख्यान गीत

(ख) सम्वाद–गीत

(ग) उपदेशात्मक या नीति संबन्धो गद्य या पद्य

(घ) आवाहन या प्रशस्ति काव्य जैसे यज्ञ या देवताओं की प्रार्थना, राजाओ की स्तुति, शोक-काव्य आदि

---

associated in their legends and the form of their worship with all kinds of other gods

* Lionet D Barnett Hindu Gods and Heroes. P. 25, London 1886.

Kaegi . The Rigveda. P. 43, London 1886.

(ङ) वर्णनात्मक काव्य

(च) गीति-काव्य

(छ) मंत्र-तंत्र और धर्म का काव्य ।

इनमें अधिकांश श्रेणियों का काव्य वेदो में दिखाई पडता है । प्राचीन साहित्य जो प्रधानतया वीरयुग का ही साहित्य है, धर्म से अत्यधिक आक्रान्त है, फिर भी उसमें (क) श्रेणी (कथात्मक) के काव्य की कमी नहीं है । रामायण और महाभारत तो पूर्ण रूप से वीरकाव्य है ही । उनके अतिरिक्त वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों के आख्यानों में भी वीर-काव्य या वीर गाथा का प्रारम्भिक रूप दिखलाई पड़ता है । पुराणों में भी उनकी कमी नहीं है । इसी तरह (ग) और (घ) श्रेणी का काव्य भी जो (क) श्रेणी के वीर-काव्य से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है, वेदों से लेकर पुराणों तक मे दिखलाई पड़ता है । (घ) श्रेणी का वर्णनात्मक काव्य वीर-काव्यों के बीच में या वेदों में स्वतन्त्र रूप में प्रकृति या सामाजिक दशा के चित्रण में दिखलाई पडता है । अतः वीर काव्य, विशेषकर महाकाव्य, की दृष्टि से यह भी कम महत्व का नहीं है । वीर-काव्य तथा उससे सम्बन्धित श्रेणियो के काव्य के बारे में बाद में यथास्थान विचार किया जायगा क्योंकि भारतीय महाकाव्य के विकास और रूप निर्माण में उनका प्रभाव अत्यन्त महत्वपूर्ण है । पहले वीर-काव्य की विशेषताओं के सम्बन्ध में विचार कर लेना आवश्यक है । प्रोफेसर शाडविक ने अपने 'साहित्य का विकास' नामक पुस्तक में यूरोपीय वीरयुग के काव्य की विवेचना करते हुए यूनानी वीर-काव्य (इलियड ओडेसी आदि), ट्यूटन वीरकाव्य (बियोउल्फ आदि) और नार्स वीर काव्य की तुलना की है और सब में समान रूप से पाई जानेवाली कुछ विशेषताओं का पता लगाया है ।[1] वे विशेषतायें नीचे दी जा रही हैं । ये भारतीय वीर-काव्य में भी किसी न किसी रूप में अवश्य दिखलाई पड़ती हैं ।

वीर-काव्य की विशेषतायें :—

१—वीर-काव्य प्रधानतया कथात्मक (नैरेटिव) होता है, उसका प्रधान लक्ष्य सर्वत्र कोई कहानी या गाथा कहना रहता है ।

२—इन कथाओं में साहसपूर्ण कार्यों (एडवेंचर) की प्रधानता रहती है ।

३—उनकी उत्पत्ति मनोरंजन के लिये हुई, उपदेश या धार्मिक कार्यों के लिये नहीं ।

४—उनमें से प्रायः सभी ऐसी हैं जिनके लेखक या कवि का निश्चित पता

१—ग्रोथ आफ लिटरेचर, भाग १—अध्याय ३ ।

नहीं है अर्थात् वे या तो अज्ञात कवियों या पूरे समाज की रचना (कम्यूनल पोइट्री) हैं।

५—उन सबका सम्बन्ध एक विशेष युग से है जिसे वीरयुग कहा जाता है।

६—प्रत्येक काव्य में आद्यन्त एक ही छन्द का प्रयोग हुआ है।

७—उनमें छन्दों का अनवरुद्ध या अटूट प्रवाह मिलता है।

८—उनमें सवाद-शैली का प्रयोग दिखलाई पडता है।

९—उनमें प्रत्येक घटना, परिस्थिति या वस्तु का, चाहे वह अतिशय परिचित ही क्यों न हो, विवृत विवरण और चित्रण की प्रवृत्ति होती है।

१०—विभिन्न काव्यों में और एक ही काव्य के विभिन्न स्थलों पर एक ही प्रकार के विशेषणों, शब्दावली, मुहावरों, अलंकारों और उक्तियो की अधिकता दिखलाई पडती है।

११—उनमें कथा की प्रधान घटना के घटित होने का काल बहुत कम होता है अर्थात् उनमें विवरणों के आधिक्य के कारण ही कार्यकलाप को कम महत्व मिला है।

१२—उनमे से अधिकांश में घटनाये और पात्र कवि के समय के ही हैं अथवा उससे किसी न किसी प्रकार सम्बन्धित है। और कुछ नहीं तो वे रचना-काल से बहुत दूर अतीत के नही हैं।

ऊपर की विशेषताये यूरोपीय वीर-काव्य की हैं और वहाँ भी वे प्रत्येक दशा में नियम के रूप में नही मानी जा सकतीं, इसे शाडविक ने स्वयं स्वीकार किया है। इन विशेषताओ के अतिरिक्त कुछ सामान्य बातों की ओर भी शाडविक ने संकेत किया है—जैसे व्यक्तियों या वीरों पर कवि का अधिक ध्यान होना, उनमें ऐतिहासिक और अनैतिहासिक तत्वों का साथ-साथ होना तथा उनका सामंती वातावरण आदि[४]। ध्यान देने की बात है कि उपर्युक्त विशेषतायें

---

1. "The above list of characteristics common the two groups of poems, is by no means exhaustive Thus in both, we frequently meet with episodes in the form of stories relating to the past, usually but not always contained in speeches .. In addition to these there are certain other common characteristics—the concentration of interest upon individuals the aristocratic milieu, the presence of both historical and unhistorical elements—which we shall have to consider in the following chapters."

Chadwick The Growth of literature Vol. 1. P. 24.

केवल कथात्मक वीर-काव्य की हैं, गीतात्मक (लीरिकल) वीर-काव्य की नहीं और न प्रशस्ति-काव्य की ।

उपर्युक्त विशेषताओं को भारतीय-वीर-काव्य में खोजने पर पता चलता है कि उनमें से अधिकांश यहाँ भी दिखलाई पड़ती हैं । शाडविक के ही मत के अनुसार उपर्युक्त विशेषताओं में से प्रथम चार भारतीय वीर-काव्य, विशेषकर महाभारत की मूल कथा और उपाख्यानों में पाई जाती हैं, अर्थात् उनमें कथात्मकता है, साहस और वीरतापूर्ण कार्यों का वर्णन है । उनकी रचना भी प्रारम्भ में मनोरंजन के लिये हुई थी यद्यपि बाद में धार्मिक लोगों या ब्राह्मणों ने उन्हें उपदेशात्मक या नैतिक बना दिया । उनका सम्बन्ध वीरयुग से है और ई० पू० चौथी-पाँचवी शताब्दी तक उनमें से बहुत-सी सुदूर अतीत की नहीं समझी जाती थीं[1] । उनके कर्ताओं के सम्बन्ध में भी लगभग वही बात लागू होती है । इस सम्बन्ध में तीसरे अध्याय में विशेषरूप से विचार किया जायगा । छठीं और सातवीं विशेषतायें छन्द सम्बन्धी हैं जो भारतीय वीर-काव्य पर आंशिक रूप में ही लागू होती हैं । महाभारत, रामायण तथा पुराणों में अनुष्टुप छन्द या श्लोक की प्रधानता तो अवश्य है पर उनमें अन्य छन्दों—त्रिष्टुभ, जगती, अति-जगती, मालिनी, भुजंगप्रयात, द्रुतविलंबित आदि का प्रयोग भी हुआ है । उनमें धारा-प्रवाह वाक्य-विन्यास नहीं है बल्कि अधिकतर एक छन्द के भीतर ही वाक्य समाप्त हो जाते हैं । ये पद के समान हैं, कहीं कहीं कई पदों में एक ही वाक्य-प्रवाह दिखाई पड़ता है । हापकिन्स के मत के अनुसार महाभारत में ९५ प्रतिशत छन्द एक प्रकार (अनुष्टुप—त्रिष्टुभ) के हैं[1] । जहाँ तक आठवीं विशेषता का सम्बन्ध है भारतीय वीर-काव्यों में संवाद—शैली की प्रचुरता है । संवादों में कहीं तो बोलने वाले का नाम छन्द के भीतर ही आ गया है और कहीं छन्द के बाहर गद्यरूप में आया है जैसे 'सूत उवाच' आदि । इलियड और बियोउल्फ के समान महाभारत में भी संवादों की बहुलता है । नवीं विशेषता—विवृति और पूर्ण चित्रण की प्रवृत्ति—भी उनमें बहुत अधिक दिखलाई पड़ती है । महाभारत, रामायण और पुराणों का आकार इसी प्रवृत्ति के कारण इतना बड़ा हो गया है । एक प्रकार के विशेषणों और शब्दावली का प्रयोग तो इतना अधिक दिखलाई पड़ता है कि वह कहीं पुनरावृत्ति-दोष मालूम पड़ता है और कहीं दूसरों का अनुकरण । हापकिन्स ने महाभारत और रामायण

1 See The Growth of literature Vol II p 477

2. Washburn Hopkins . "The Great Epic of India", p. 192 Yale University 1920.

के इस प्रकार के प्रयोगो का तुलनात्मक अध्ययन करके उनकी एक लम्बी सूची दे दी है[1]। ग्यारहवी विशेषता भारतीय वीर-काव्यों में उतनी नहीं दिखलाई पड़ती क्योंकि धार्मिक प्रभाव, प्रक्षेप और मौखिक परम्परा के कारण उनका विस्तार इतना अधिक हो गया है कि प्रधान कथा-वस्तु और घटना काफी बिखर गई है। फिर भी महाभारत का युद्ध केवल १८ दिन और राम-रावण का युद्ध सिर्फ १० दिन ही चला था। पर सभी कथाओ-उपकथाओं में यह बात नहीं दिखलाई पड़ती। बारहवीं विशेषता भी सीमित रूप से ही लागू होती है। महाभारत और रामायण के कर्ता स्वयं यह दावा करते है कि वे अपने पात्रों और घटनाओं के समकालीन हैं। दोनों के कर्ता व्यास और वाल्मीकि अपने महाकाव्यों के पात्र भी हैं। यही बात होमर के लिये भी लागू होती है। पर अन्य काव्यों या उपाख्यानों में घटनायें सुदूर अतीत की प्रतीत होती हैं।

वीर-काव्येतर आख्यान :—

पर जैसा पहले कहा जा चुका है, वीरयुग में केवल वीर-काव्य की ही रचना नहीं हुई। वीर आख्यान-गीतों के अतिरिक्त उसमे ऐसे आख्यान गीत भी है जिनमें किसी नैतिक या धर्म सबंधी उद्देश्य का प्रतिपादन किया गया है या जो केवल भाग्य-चक्र या मानव-स्वभाव का ही चित्रण करते हैं अथवा जिनका उद्देश्य केवल किसी राजकुल का वशानुक्रम उपस्थित करना है। किन्तु इन सब में भी वीरता और साहस की प्रवृत्ति किसी न किसी रूप में दिखलाई पड़ती है। रामायण वीर-काव्य होते हुए भी आदर्श गृहस्थ जीवन और दाम्पत्य-प्रेम का चरमोत्कर्ष प्रस्तुत करता है। महाभारत का नलोपाख्यान वीर-काव्य नहीं कहा जा सकता। द्यूतक्रीडा की बुराइयाँ दिखाना उसका उद्देश्य है। सावित्री-सत्यवान की कथा में आदर्श नारी के अदम्य साहस का चित्रण है। इसी प्रकार शकुन्तलोपाख्यान भी वीर-काव्य नहीं है। कुछ विद्वानों का मत है कि ये आख्यान ब्राह्मणों की देन है। इसमें कोई सन्देह नही कि वीर युग के काव्य के वर्तमान रूप पर परवर्ती ब्राह्मण-विचारधारा का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। सम्भवतः उनके स्वरूप को काफी परिवर्तित भी किया गया है। पर साथ ही यह बात भी ध्यान देने की है कि भारतीय इतिहास में ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ग की शक्ति प्रारम्भ से ही सन्तुलित रही है। अत· वीरयुग में ब्राह्मण विचारधारा से प्रेरित आख्यानों का होना असम्भव या अस्वाभाविक नहीं है। इसके अतिरिक्त वीर-युग का समाज सदैव वीरता की कहानी ही नहीं सुनता रहा होगा, जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी उसकी रुचि अवश्य रही होगी। अतः अन्य प्रकार के

1. Ibid. pp. 402 to 445.

आख्यानों का होना आश्चर्य की बात नहीं है। इस तरह हम देखते हैं कि भारतीय वीरयुग में (ग) और (छ) श्रेणियों (धर्म, देवता या नैतिक आदर्श से सम्बन्धित) के आख्यानगीत भी पर्याप्त संख्या में हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों के अधिकांश आख्यान इसी प्रकार के हैं और उनमें पद्य बीच में कहीं-कहीं ही आया है, अधिकतर वे गद्य में हैं। अत. उन्हें गद्याख्यान (सागा) के रूप में माना जा सकता है। इस सम्बन्ध में शाडविक का मत यह है कि भारत में आख्यानगीतों के पहले गद्याख्यान ही लिखे गये। यह अनुमान सत्य नहीं है क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थों के गद्याख्यान वीर काव्येतर विषयों के हैं और बहुत सम्भव है कि भारत में प्रारम्भ से ही वीर-काव्येतर विषयों को लेकर ब्राह्मणों द्वारा गद्याख्यान लिखे जाते रहे हों और वीर-काव्य के विषय पद्यबद्ध रूप में अब्राह्मण कवियों द्वारा लिखे गये हों[1]।

महाकाव्य की सामग्री :—

वीर-युग और उसके काव्य पर विचार करने के उपरान्त यह स्पष्ट हो जाता है कि महाकाव्य का विकास इसी काल में हुआ। प्रारम्भिक महाकाव्यों का रूप-निर्माण कुछ दिनों या कुछ वर्षों में नहीं हुआ बल्कि युग-युग तक उसके अवयव–विषयवस्तु और रूपविधान–का सघटन धीरे धीरे होता रहा और अन्त में उसका एक विशेष स्वरूप दिखाई पडने लगा। यहाँ उसकी विषय-वस्तु सम्बन्धी सामग्री पर विचार किया जायगा। वह सामग्री सारे संसार के विकसनशील महाकाव्यों में निम्नलिखित स्रोतों से आई हुई दिखलाई पड़ती हैं—

१—पौराणिक विश्वास (मिथ)
२—निजन्धरी आख्यान (लिजेण्ड)
३—ऐतिह्य और वंशानुक्रम
४—समसामयिक घटनायें (ईवेण्ट्स)
५—प्राचीन ज्ञान भाण्डार
६—लोक-गाथा और लोक-कथा।

ये सभी स्रोत प्रारम्भ में परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध थे। यही कारण है कि बहुत से प्रारम्भिक महाकाव्यों में ये सभी बातें आ गई हैं और ऐसे महाकाव्य काव्य-ग्रन्थ ही नहीं, इतिहास, पुराण और धर्म ग्रन्थ भी माने जाते हैं। जिस महाकाव्य में शुद्ध काव्य का ही रूप दिखलाई पड़े, वह प्रारम्भिक महाकाव्य नहीं, अलङ्कृत महाकाव्य होगा। ऐसे महाकाव्यों का विकास नहीं

---

1. Chadwick . The Growth of Literature Vol. II p. 479—79.

होता, निर्माण या रचना होती है और वे किसी एक व्यक्ति की रचना होते हैं।

१—पौराणिक विश्वास और आख्यान :—

सभी जातियों के पौराणिक विश्वास प्राचीन परम्परा से प्राप्त हैं अर्थात् उनकी उत्पत्ति उस काल में हुई थी जिसे सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से पौराणिक युग कहा जा सकता है। पौराणिक विश्वासों की दूसरी विशेषता यह है कि उन सबमें प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कोई कथा अवश्य होती है। साधारण कथा और पौराणिक कथा में अन्तर यह होता है कि साधारण कथा को समाज के लोग कल्पना समझ सकते हैं, पर पौराणिक कथायें सत्य समझी जाती हैं। उनका उद्देश्य विभिन्न प्रकार की वस्तुओं, विश्वासों या रीतिरिवाजों की उत्पत्ति और उपयोगिता समझाना होता है। इस प्रकार पौराणिक विश्वासों और आख्यानों का धर्म के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है क्योंकि वे प्रकृति की शक्तियों, देवताओं और अन्य शक्तियों की स्थिति का रहस्य समझाते और इस प्रकार उससे मनुष्य का सम्बन्ध स्थापित करते है। उसी तरह धार्मिक कर्मकाण्डों और मन्त्र-तन्त्र के साथ भी पुराण का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है क्योंकि उन कर्मकाण्डों द्वारा ही उक्त शक्तियों के प्रति मनुष्य अपनी श्रद्धा-भक्ति, आवेदन-निवेदन या घृणा-विरोध का प्रकाशन करता है। 'धार्मिक और पौराणिक विश्वकोष' (इनसाइक्लोपीडिया आफ़ रेलिजन ऐंड माइथोलाजी,) के अनुसार करीब-करीब सभी पौराणिक विश्वास और आख्यान निम्नलिखित उपविभागों के भीतर आ सकते हैं—

१—ऋतु परिवर्तन और प्रकृति की वस्तुओं के भीतर होने वाले सामयिक परिवर्तनों से सम्बन्धित।

२—अन्य प्राकृतिक शक्तियों और वस्तुओं से सम्बन्धित।

३—विराट, आश्चर्यजनक और असाधारण प्राकृतिक वस्तुओ या घटनाओ से सम्बन्धित।

४—सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय से सम्बन्धित।

५—ईश्वर की उत्पत्ति, स्थिति और कार्यों (अवतारादि) से सम्बन्धित।

६—मनुष्य और पशुओं की उत्पत्ति से सम्बन्धित।

७—आत्मा के आवागमन, स्वर्ग-नरक, भूत-प्रेत, रूप-परिवर्तन आदि से सम्बन्धित।

८—वीरो, वंशों, जातियों और राष्ट्रों से सम्बन्धित।

९—सामाजिक संस्थाओं (तत्वों) और आविष्कारों से सम्बन्धित।

१०—राक्षसों और दानवों से सम्बन्धित।

११—ऐतिहासिक घटनाओं से सम्बन्धित ।

इस सूची से स्पष्ट है कि पौराणिक विश्वासो के भीतर निजन्धरी कथाओं, वंशानुक्रम और इतिहास को भी समेट लिया गया है। वस्तुतः 'पुराण' शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ में होता है और बहुत से लोग तो उसे निजन्धरी कथाओ और इतिहास का समानार्थी भी मानते हैं। ब्रिटिश विश्वकोष (इन्साइक्लोपीडीया ब्रिटानिका) ने भी इसे इसी रूप में माना है[1]। भारतीय दृष्टि से भी पुराण की यही परिभाषा है जो ऊपर दी जा चुकी है अर्थात् भारतीय पुराणों में इन पाँच विषयों की चर्चा है, सृष्टि, प्रलय, वंश-परम्परा, मन्वन्तर और विशेष वंशों में होने वाले महापुरुषों का चरित :—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पंच लक्षणम् ॥

निजन्धरी आख्यान :—

किन्तु वस्तुतः पौराणिक और निजन्धरी आख्यानों में तात्विक भेद है। निजन्धरी कथायें महापुरुषो, सन्तो, देवताओं या राक्षसों के जीवन और कार्यों से सम्बन्धित होती है पर उनमें इतिहास का तत्त्व किसी न किसी मात्रा और रूप मे अवश्य वर्तमान रहता है। पौराणिक आख्यान यदि प्रकृति सम्बन्धी जिज्ञासा-मूलक अनुभूतियों के काल्पनिक, धार्मिक और कथात्मक प्रतीक या समाधान हैं तो निजन्धरी कथायें जीवन की ठोस अनुभूतियो का प्रतीक हैं किन्तु यह अन्तर इतना अस्पष्ट है कि सहज ही दोनों को एक ही मान लिया गया है। वस्तुतः संसार की सभी जातियों के प्राचीनतम साहित्य और इतिहास में पौराणिक और निजन्धरी कथाओं के बीच कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं दिखलाई पड़ती। प्रायः निजन्धरी कथाओं के पात्र पौराणिक देवता बन गये है और पौराणिक देवता निजन्धरी कथाओ के नायक मान लिये गये हैं। पौराणिक कथाओं की तरह ही निजन्धरी आख्यानों का भी विकास हुआ है। वे किसी एक व्यक्ति या एक युग की देन नही है और इस विकास के पीछे भी वही कारण रहे है जो

1 "Mythology—the science which examines myths or legends of cosmogony and of Gods and heroes It is also used as a term for these legends themselves Thus mythology of Greece means the whole body of Greek divine and heroic and cosmogonic legends "
Encyclopaedia Britannica Vol 19, 11th edition P. 128, See mythology.

पौराणिक कथाओं के विकास के मूल में थे। भारतीय पौराणिक कथाओं और निजन्धरी आख्यानों का प्रारम्भिक रूप वेदों में ही दिखलाई पडने लगता है। सूर्य सोम, अग्नि, द्यौस, मरुत वायु आदि प्राकृतिक पदार्थों और तत्वों का प्रतिनिधित्व करने वाले देवताओं, इन्द्र, वरुण, मित्र, अदिति, विष्णु, पूषन, अश्विन, रुद्र, पर्जन्य आदि प्राकृतिक शक्तियों का नियन्त्रण करने वाले अलौकिक शक्ति-सम्पन्न देवताओं, तथा विश्वकर्मन्, प्रजापति, श्रद्धा, भारती आदि कल्पनात्मक या भावात्मक देवताओ अथवा किन्नर, अप्सरस्, असुर आदि अन्य देवताओ (जो बाद की पौराणिक कथाओं में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो गये) की उत्पत्ति, कार्य, युद्ध और विजय पराजय की कथाओं से ऋग्वेद भरा हुआ है। इन्हीं कथाओं की सामग्री से वैदिक और उत्तर वैदिक काल के पुराण; इतिहास और महाकाव्य विकसित हुए। निजन्धरी कथाओं और पौराणिक आख्यानों का मिश्ररूप भी वेदों मे ही दिखलाई पडने लगता है। अनेक विद्वानों का मत है कि इन्द्र कोई राजा ही थे जो बाद में देवता के रूप में स्वीकृत हुए। पर देवता बन जाने के बाद भी इन्द्र का वीर रूप आद्यन्त दिखाई पडता है अर्थात् उनका व्यक्तित्व निजन्धरी है, पौराणिक नहीं। वे जातीय या सांस्कृतिक वीर और विशुद्ध योद्धा हैं। वे जल को मुक्त करने के लिये वृत्र का वध करने वाले, बृहस्पति की गायों के लिये पणीस और नमूचि से युद्ध करने वाले तथा अपने पूजक दिवोदास की सहायता करके सम्बर को मारने वाले वीर हैं, पर पुराने आकाश देवता द्यौस की तरह ब्राह्मण पुरोहितों के आवाहन पर सोमरस पीने वाले तथा इच्छित फल देने वाले भी हैं। इन्द्र सम्बन्धी आख्यान मंत्रों के अतिरिक्त वेदों में अश्वि द्वय की चमत्कारपूर्ण चिकित्सा की कथा च्यवन सम्बन्धी आख्यान में आई है। बाद के मंत्रों मे निजन्धरी कथायें सम्वाद रूप या नाटकीय शैली में आई हैं और उनकी कथावस्तु भी वीरता-व्यंजक नहीं बल्कि सामाजिक प्रतीत होती है। पुरूरवा-उर्वशी, अगस्त्य-लोपामुद्रा, यम-यमी, इन्द्र-इन्द्राणी-वृषाकपि आदि के सम्वाद इसी प्रकार के हैं जिनमें स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध को लेकर नैतिक या सौन्दर्यशास्त्रीय (कामशास्त्रीय) समस्यायें उठाई गई है। ऐसे ही आख्यान-गीत उस समय लोक गाथाओं के रूप में प्रचलित रहे होंगे जो बाद में ब्राह्मणों द्वारा स्वीकृत कर लिये गये और जिनका परिष्कृत और सूत्र या खण्ड रूप ऋग्वेद में दिखाई पड़ता है। इन्द्र-वृत्र-युद्ध की कथा ऐसी ही निजन्धरी कथा है जिसका आधार ऐतिहासिक प्रतीत होता है[1]।

---

1 "I even venture to think that there is a karnel of heroic legend in the story of the slaying of Vritra, that at bottom

वेदों में सूत्ररूप में आये आख्यानों का विस्तृत और विकसित रूप ब्राह्मण-ग्रन्थों, आरण्यकों और बृहद्देवता आदि में दिखलाई पड़ता है। इन ब्राह्मणों में एक ही देवता की उत्पत्ति के सम्बन्ध में तरह-तरह की व्याख्यायें मिलती है, जैसे प्रजापति को, जो ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त में महत्वपूर्ण देवता नहीं हैं, इस काल में सृष्टि का आदिकर्ता मान लिया गया और जिनके सम्बन्ध में ब्राह्मणों में अनेक प्रकार की कथायें मिलती है। पौराणिक आख्यानों की तरह ब्राह्मण ग्रन्थों में निजन्धरी आख्यानों का भी बहुत विकास हुआ है। ये आख्यान अधिकतर यह समझाने के लिये विकसित हुए कि किस वैदिक मंत्र की रचना क्यों, कब और किसके द्वारा हुई। अतः इन आख्यानों का बीज ऋग्वेद में और उनका पल्लवित-पुष्पित रूप महाकाव्यों और पुराणों में दिखाई पड़ता है। ब्राह्मणों के आख्यान रूप-विकास, काल और भाषा सभी दृष्टियों से वेद और महाकाव्य-पुराण के बीच की स्थिति वाले अथवा इन दोनों छोरों के बीच की कड़ी हैं। इस तरह ब्राह्मण-ग्रन्थों में ये सभी कथायें आ गई है:—मन्वन्तर की कथा (शतपथ ब्राह्मण), शुनःशेष की कथा (ऐतरेय ब्राह्मण), विष्णु के वामन रूप और भगवान् बनने की कथा (शतपथ, ऐतरेय और तैत्तिरीय आरण्यक, पचविंश ब्राह्मण), प्रजापति का कच्छपरूप (शतपथ ७-४-५), सूकरावतार (वाजसनेयी संहिता ३-७-५ और शतपथ १४-१-२ ११), रुद्र की कथा (शतपथ ६-१-३७ और सांख्यायनक ब्राह्मण) आदि।

इतिहास और वंशानुक्रम :—

महाकाव्यों और पुराणों में पहुँचते-पहुँचते इन कथाओं या आख्यानों का रूप बहुत कुछ स्थिर हो गया। अब ये परम्परागत अनुश्रुतियाँ इतिहास पुराण कहलाने लगी और उनका वैदिक मंत्रों और ब्राह्मण-ग्रन्थों के याज्ञिक विधिविधानों से अलग, स्वतंत्र स्वरूप मान्य हो गया। यही नहीं, इस काल में इतिहास पुराण को पचम वेद माना जाने लगा और वेदज्ञ ब्राह्मणों के लिए उनका जानना आवश्यक समझा जाने लगा। वायुपुराण, पद्मपुराण, शिवपुराण और महाभारत

---

it is a tale relating how Indra, with a band of brave fellows, stormed a mountain hold surrounded by water in which dwelt wicked chieftain who had carried away the cattle of his people"

Dr. Barnett Hindu Gods and Heroes p. 29.

में इस बात को स्पष्ट शब्दों में कहा गया है[1]। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, प्राचीनकाल में पौराणिक और निजन्धरी कथाओं को ऐतिहासिक तथ्य के रूप में स्वीकार किया जाता था। इस लिए भारत में भी ऊपरी विवेचित आख्यानों को इतिहास कहा जाता था। यहाँ इतिहास पुराण समानार्थी शब्द माने गये है और दोनों का साथ साथ प्रयोग हुआ है। शतपथ ब्राह्मण में कई जगह इतिहास और पुराण शब्द साथ-साथ आये है[2]। जर्मन विद्वान् सीग (sieg) ने अपनी पुस्तक वेदाध्ययन (वैदिक स्टडीज) में यह अनुमान किया है कि प्रारम्भ मे 'इतिहास-पुराण' नाम का कोई ऐसा ग्रन्थ रहा होगा जिसमें प्राचीन पौराणिक, निजन्धरी, ऐतिहासिक और आध्यात्मिक आख्यान संग्रहीत होंगे। किन्तु यह अनुमान ही अनुमान है। मेक्डानल्डकीथ ने (वैदिक इन्डेक्स खण्ड १ पृ० ७७) लिखा है कि यास्क ने निरुक्त में इस तरह की किसी पुस्तक का संकेत नहीं किया है, केवल इतिहास शब्द का ही प्रयोग किया है।

जो भी हो, भारत के प्राचीन काल का बहुत कुछ ज्ञान हमे उन्ही पौराणिक और निजन्धरी अनुश्रुतियों से होता है जिन्हें इतिहास-पुराण कहते हैं। यह सही है कि भारतवर्ष में या कहीं भी प्राचीनकाल में इतिहास का वह स्वरूप नहीं दिखलाई पड़ता जैसा आज के वैज्ञानिक युग में दिखलाई पड़ता है, फिर भी इतिहास कहे जाने वाले महाभारत, रामायण, पुराणादि में भारतीय सांस्कृतिक चेतना का इतिहास स्पष्ट देखा जा सकता है। वस्तुत: भारत में इतिहास शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ में किया गया है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष से समन्वित पूर्व वृत्त और कथा ही भारतीय दृष्टि से इतिहास है—

१—यो विद्याच्चतुरो वेदान्सांगोपनिषदो द्विजः।
न चेत्पुराणं संविद्यान्नैव स स्याद्विचक्षणः॥
इतिहास-पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत।
बिभेत्यल्प श्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥ वायुपुराण १ २०० और २०१।
देखिये पद्म (५-२-५० से ५२) शिव (५-१-३५) महाभारत (१-२-६४५ और १-१-२६०)।

२—शतपथ ब्राह्मण—काण्ड ११—अध्याय ५। ब्राह्मण ७—खण्ड १—५ श्लोक ६।

क्षीरौदनमांसौदनाभ्यां ह वा एष देवांस्तर्पयति। य एवं विद्वान्वाकोवाक्य मितिहास पुराणमित्या हरहः स्वाध्यायमधीते त एतन्तृप्तस्तर्पयन्ति सर्वं कामैः सर्वै भोगैः॥

धर्मार्थ काम मोक्षणामुपदेश समन्वितम्
पूर्ववृत्तकथायुक्तिमितिहास प्रवक्ष्यते ॥...

इसी दृष्टि से पुराण, जिनमें 'सप्तलोकात्मक विश्व का इतिहास (पुर = सप्त-लोकात्मक विश्व, अन = श्वासोच्छ्वास) वर्णित है, इतिहास भी हैं। रामायण-महाभारत महाकाव्य के साथ-साथ इतिहास ग्रन्थ माने जाते हैं। महाभारत और रामायण तो स्वयं अपने को इतिहास कहते भी है—

भारतस्येतिहासस्य पुण्यां ग्रन्थार्थसंयुताम् (महा० आदि० १-१७)
पूजयश्च पठश्चैनं इतिहासं पुरातनम् (रामा० युद्ध० १२८- ४४)

किन्तु इन्हे सांस्कृतिक इतिहास कहने का अर्थ यह नहीं है कि इनमें भाव सत्य ही है, घटना सत्य नही है। पुराणों में तो ऐतिहासिक वंशों की वंशा-वली और अनेक राजाओं का वर्णन भी है । यह दूसरी बात है कि उनमें कितना यथार्थ है और कितना अतिशयोक्तिपूर्ण। बिल्कुल तथ्यात्मक न होने पर भी उनका ऐतिहासिक मूल्य बहुत अधिक है।

वैसे इतिहास की एक अलग शैली ही होती है। वह आख्यानमूलक नहीं होता जब कि प्राचीन भारतीय इतिहास-पुराण आख्यानमूलक हैं । यूनान का प्राचीन इतिहास भी होमर हीसियड आदि के काव्यों के रूप मे आख्यान-मूलक ही है। वस्तुतः वीरयुग में इतिहास का यही रूप होता था। जैसा पहले कहा जा चुका है, इतिहास-पुराण का अर्थ प्रारम्भ मे आख्यान और गाथा ही था और आख्यानक-काव्य (आख्यानक गीत और महाकाव्य) की सामग्री इतिहास पुराण से ही ली जाती थी। राजाओं की प्रशस्ति और आख्यान की यह प्रथा भारत में बहुत बाद तक चलती रही। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी में ऐसे प्रशस्तिपरक ऐतिहासिक आख्यान काव्य बहुत अधिक लिखे गये हैं जिनमें इतिहास का विकृत रूप और वीर नायकों का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन तथा आख्यानों और कथानक-रूढ़ियों का मिश्रण दिखलाई पडता है।

समसामयिक घटनायें :—

अतीत के साथ ही साथ वर्तमान से भी कवियों ने अपने काव्य के लिये सामग्री ली है। प्रारम्भिक और सामन्ती दोनों वीरयुगों में वीर आख्यान अधिकतर समसामयिक वीरों और घटनाओं को लेकर लिखे गये हैं। प्रारम्भिक वीरयुग में मौखिक काव्य का ही प्रचलन था। अतः अपने युग की प्रधान वीरतापूर्ण घट-नाओं और वीरों की गाथा सामान्य जनता के किसी अज्ञात कवि द्वारा पहले शुरू की जाती थी और दूसरे उसमें परिष्कार, विस्तार और परिवर्तन करके उसे समाज की सम्पत्ति बना देते थे। सामन्ती वीरयुग में राजाओं के दरबारों में

चारण और कवि रहते थे जो अपने आश्रयदाताओं के पूर्वजों या स्वयं उन्हीं के चरित्र से सम्बन्धित प्रशस्तिमूलक और बहुधा अत्युक्तिपूर्ण काव्य की रचना करते थे। उनका यही कार्य था कि वे विशेष अवसरों पर अपने वीर नायकों या उनके पूर्वपुरुषों के वीरतापूर्ण कार्यों की गाथा गाकर उन्हें उत्साहित करें। इन दोनों ही प्रकार के वीरयुगों में युद्ध अधिक होते थे, अतः राजाओं की प्रशस्ति मे इन युद्धों का वर्णन स्वतः हो जाता था। युद्धों के अतिरिक्त दान, उदारता, त्याग, बुद्धिमत्ता आदि गुणों से समन्वित व्यक्तियों अथवा राजाओं का भी वर्णन किया जाता था। वैदिक काल की दान-स्तुतियों और नाराशंसी गाथाओं से लेकर राजपूत-मराठा काल के राजाओं के आश्रित चारण-भाटों के रासो, चरित, विजय आदि काव्यों तक में समसामयिक घटनाओ और व्यक्तियों का गुणगान करने की प्रवृत्ति बराबर दिखाई पड़ती है। दूसरे शब्दो में वीरयुग के दोनों ही कालों—प्रारम्भिक वीरयुग और सामंती वीरयुग—में समसामयिक घटनायें काव्य की सामग्री बनती आई हैं। ऋग्वेद के मंत्रों में अनेक समसामयिक घटनाओं की सूचना मिलती है यद्यपि उनमें आये पात्रों की वंशावली और उनके काल के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा गया है। यही बात ब्राह्मण-ग्रन्थों के सम्बन्ध में भी लागू होती है[1]। उन पात्रों और घटनाओं की, बाद के पुराण-महाकाव्य में आई उनकी चर्चा से तुलना करके इतिहासज्ञ लोग वैदिककाल के इतिहास पर प्रकाश डालते हैं। महाभारत के रचयिता माने जाने वाले महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास महाभारत की कथा के स्वयं एक पात्र हैं और इन्हें कौरव-पाण्डवों का समकालीन माना जाता है। महर्षि वाल्मीकि के सम्बन्ध में भी यही बात कही जाती है। इस सम्बन्ध में सत्य जो भी हो किन्तु इससे इतना अवश्य पता चलता है कि जिस समय वे युद्ध और वीर हुए थे, उसी समय उनके आख्यानों का प्रचलन भी हो गया था जो बाद में महाभारत–रामायण के रूप में विकसित हुए। पुराणों में भी बहुत सी सामयिक घटनाओं का अतीत या भविष्य की बात

---

1 "Even the contemporary notices, though having all the trustworthiness of first hand evidence, yet fix little or nothing definitely of themselves, because they have no certain chronological setting with reference to other events The same remarks hold good for the Brahmanic Literature later than Rigveda."

F. E. Pargitor Ancient Indian Historical Tradition, P 2, London 1922.

कहकर वर्णन किया गया है। बाद के ऐतिहासिक सामंती वीरयुग के दरबारी कवियों ने तो अयोग्य व्यक्तियों और राजाओं की भी अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसा की तथा संभावना और रूढ़ियों पर आधारित वीर-काव्यों की रचना की।

प्राचीन शास्त्रीय, उपदेशात्मक और वर्णनात्मक ज्ञान :—

वीर-युग के काव्य के सम्बन्ध में विचार करते समय वीर-काव्येतर आख्यान के अन्तर्गत ग, ङ, छ श्रेणियों के काव्य-सामग्री की चर्चा की गई है। इन तीनों श्रेणियों में उपदेशात्मक और नीतिशास्त्रीय, देश-काल-परिस्थिति या वंशावली का वर्णन करने वाली और मंत्र तंत्र सम्बन्धी कवितायें आती हैं। इन विषयों पर हर काल में मुक्तक काव्य तो लिखे ही गये हैं, प्रबन्ध काव्यों, विशेषरूप से महाकाव्यों में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से इनसे खूब सामग्री ली गई है। निश्चय ही यह सामग्री मनोरंजनार्थ नहीं, उपदेश और ज्ञान वृद्धि के निमित्त काव्य में प्रयुक्त होती है। मोटे तौर पर इन श्रेणियों के अन्तर्गत निम्नलिखित विषय आते हैं—

१—आचार-शास्त्र
२—धर्मशास्त्र और मंत्र-तंत्र
३—राजनीति-शास्त्र
४—दर्शन
५—ज्योतिष तथा पशुपक्षियों सम्बन्धी विद्या
६—भौगोलिक या यात्रा सम्बन्धी वर्णन
७—प्राकृतिक वस्तुओं की इतिवृत्ति या सूची
८—वीरों, वंशों, दरबारों, युद्धों, सेनाओं आदि का सविस्तार वर्णन
९—जातियों, मन्दिरों, तीर्थों, धर्मगुरुओं आदि का वर्णन
१०—अन्य ज्ञानवर्धक सामग्री।

इस सूची से ही स्पष्ट है कि इसमें अधिकांश विषय ऐसे हैं जिनके अलग-अलग शास्त्र हैं। प्राचीनकाल में जब इन शास्त्रों का विकास नहीं हुआ था और न वे ज्ञान या विद्या के अलग विषय ही माने गये थे, उनको काव्य के भीतर ही रखा गया था।

काव्य में ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी इन विषयों का ग्रहण कई कारणों से हुआ है। कहीं काव्य की कला और उसके कथा-प्रवाह में बाधा पहुँचाये बगैर, उसमें गाम्भीर्य और गुरुत्व लाने के लिये, तो कहीं पांडित्य-प्रदर्शन अथवा धर्मप्रचार के लिये इन विषयों को अपनाया गया है। राजदरबारों में सम्मान, धन और आश्रय पाने तथा काव्य प्रतिभा के अभाव को छिपाने में भी इन

विषयों से काफी सहायता ली गई है। इन सब के परिणामस्वरूप आदिकाल से अब तक जो भी आख्यानक काव्य हमें प्राप्त हैं, उनमें में अधिकांश में ज्ञान-विज्ञान के विषयों का समावेश और अनावश्यक विवरणों का आधिक्य मिलता है या स्पष्ट रूप से मत-मतान्तर या व्यक्ति-वंशादि का प्रचार और प्रशस्ति दिखलाई पड़ती है। पूर्वनिर्दिष्ट 'क' श्रेणी के वीराख्यानों में भी उनकी कमी नहीं है। होमर के इलियड-ओडेसी में भी वंशानुक्रम और सूची-विवरण दिखाई पड़ता है। महाभारत में तो वंशावली और सूची ही क्या, सभी कुछ है। महाभारत का तो दावा ही है कि 'यन्नभारते तन्नभारते'। रामायण में यद्यपि इस प्रकार का कोई दावा नहीं किया गया है पर इलियड की तरह उसमें भी वंशानुक्रम और विवरणों की कमी नहीं है। बाद के अलंकृत महाकाव्यों में भी पाण्डित्य-प्रदर्शन, धर्म-प्रचार और विवरणों की भरमार दिखाई पड़ती है।

लोकतत्त्व और कथानक-रूढ़ियाँ :—

महाकाव्य की सामग्री के सम्बन्ध में अब तक जो कुछ कहा गया है वह अधिकतर उसकी विषय-वस्तु से ही सम्बन्धित है। किन्तु उसके रूप-शिल्प के संघटन में जिस वस्तु का सबसे अधिक हाथ है, वह है लोक-कथा और लोक-गाथा (फोक टेल्स और फोक बैलेड्स)। महाकाव्य के उद्भव और विकास पर विचार करते समय लोक-गाथाओं पर विचार किया जा चुका है और कहा जा चुका है कि लोक-गाथाओं और लोक-कथाओं के अनेक तत्त्वों का महाकाव्यों, विशेष रूप से प्रारम्भिक या विकसनशील महाकाव्यों, में ग्रहण हुआ है। निजन्धरी और कल्पनाश्रित लोक-गाथाओं में लोकतत्त्वों की अधिकता पाई जाती है, वैसे पौराणिक अथवा ऐतिहासिक लोक-गाथाओं में भी इनकी कमी नही है। इन तत्त्वों को मोटे तौर पर निम्नलिखित रूपों में देखा जा सकता है :—

१—उनमें देश-काल-नाम रहित कथाओं की अधिकता है। यदि ये वस्तुएँ होती भी हैं तो कथा के साथ उनका सम्बन्ध इतना क्षीण या नहीं के बराबर रहता है कि आसानी से उनके स्थान पर कोई भी स्थान, काल या नाम रखा जा सकता है। ये बिलकुल काल्पनिक और सुविधा के लिये होते है।

२—उनमें पशुपक्षियों की कहानियों की भी अधिकता होती है। प्रायः ये पशु-पक्षी कथा के पात्र होते हैं और मानवोचित व्यवहार करते हुये दिखाई पड़ते हैं। वे मानव-वाणी में बात करते और कठिनाइयों में अपने प्रिय व्यक्तियों की सहायता करते हैं। कभी वे पशुपक्षी के रूप में शापभ्रष्ट मानव, देवता या

अप्सरा होते हैं और कभी पशुपक्षी के वेश में दानव, राक्षस, जादूगर आदि। अधिकतर उपदेशात्मक कथाओं में ही पशुपक्षी पात्र के रूप में आते हैं।

३—इनमें अलौकिक, अतिप्राकृत और अतिमानवीय (सुपरनेचुरल और सुपरह्यूमन) तत्त्वों की बहुलता होती है।

४—मनोरंजन के साथ-साथ इन कहानियों में प्रायः कोई उपदेश या ज्ञान भी अवश्य निहित रहता है। अधिकतर उनमें भाग्य और कर्म का संघर्ष दिखाया गया रहता है। अतः बहुत सी ऐसी कहानियाँ अन्योक्ति या रूपक-कथा (एलेगोरी) के रूप में होती हैं।

५—उनमें कथाओं का चक्र दिखलाई पड़ता है अर्थात् एक कथा के भीतर कुछ प्रधान पात्रों को लेकर या उन्हीं के माध्यम से बहुत सी कथायें कही गई रहती है, अथवा एक ही कथा के भीतर दूसरी और तीसरी कथा की अटूट लड़ी दिखलाई पडती है। कथासरित्सागर, सहस्ररजनी चरित्र (अरेबियन नाइट्स), हितोपदेश, अलिफलैला, दशकुमारचरित आदि साहित्यिक कथा-ग्रन्थों में ऐसे ही कथाचक्र हैं।

६—ये कथायें बहुत कुछ सार्वभौम होती हैं अर्थात् थोड़े-थोड़े रूप-परिवर्तन के साथ ये संसार की भिन्न-भिन्न, सुदूरवर्ती स्थानों में बसने वाली, जातियों में पाई जाती हैं। इसके दो कारण हैं—एक तो व्यापार-सम्बन्ध, जातीय-मिश्रण और सांस्कृतिक अन्तरावलंबन के कारण इनका दूर-दूर तक प्रचार हो जाता है, दूसरे मानव-मनोविज्ञान के अनुसार मानव के समान परिस्थितियों में समान रूप से सोचने-विचारने के फलस्वरूप ऐसा होता है।

७—परिणामस्वरूप एक देश की अथवा विभिन्न देशों की लोक-कथाओं और लोक-गाथाओं में कुछ विशेषतायें समान रूप से पाई जाती हैं और विभिन्न कथाओं और गाथाओं में उनकी बार-बार आवृत्ति दिखलाई पड़ती है। विद्वानो ने इन्हें अभिप्राय (मोटिफ) या कथानक-रूढि की संज्ञा दी है। प्राचीन साहित्य और नृतत्त्व-शास्त्र के पण्डितों में से कुछ–बेनिफी, ब्लूमफील्ड, पेंजर, टानी, नार्मन ब्राउन आदि– ने इस सम्बन्ध में वैज्ञानिक अध्ययन करके इस प्रकार की अनेक रूढ़ियों का संग्रह और विवेचन किया है[1]। उदाहरण के लिए कुछ प्रमुख रूढ़ियाँ ये हैं—

---

१. (1) S N. Das Gupta and S, K De A History of Sanskrit Literature Vol I, p. 28—29

(२) डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी–हिंदी साहित्य का आदिकाल पृ० ७४-७५।

१—विशाल सर्प, पशुपक्षी या दानव के साथ युद्ध ।

२—पक्षियों या अन्य किसी की बातचीत से किसी कठिन कार्य का रहस्य मिल जाना (मोटिव आफ ओवरहीयरिंग)

३—जादू की वस्तुयें—घोड़ा, खटोला, खड़ाऊँ, घर तथा अभिमंत्रित शस्त्रादि।

४—उजाड़ नगर जिसमें भवनादि हों पर कोई जीवधारी या मनुष्य न हो ।

५—परकाय प्रवेश ।

६—विपर्यस्ताभ्यस्त अश्व ।

७—समुद्र में जहाज का टूटना और काष्ठ-फलक के सहारे नायक-नायिका की रक्षा ।

८—हंस कपोत आदि से संदेश भेजना ।

९—शरीर के किसी विशेष अंग में या किसी वाह्य वस्तु में प्राण बसना और उस पर आघात होने से प्राणान्त ।

१०—किसी के स्पर्श या प्रश्नोत्तर से शाप-मुक्ति ।

११— रूप-परिवर्तन और लिंग-परिवर्तन ।

१२—स्वप्न अथवा चित्र में किसी नायिका को देखकर पूर्वानुराग और प्रिय की प्राप्ति का उद्योग अथवा शुक-परिचारक-बन्दीजन से रूप-गुण की प्रशंसा सुनकर आसक्ति ।

१३—किसी वस्तु या संकेत से अभिज्ञान (टोकेन आफ रिकगनीशन)

---

(3) M Bloomfield J, A O S XXXVI, 1917 pp 54—89
,, ,, XL 1920 pp 1—24
,, ,, XLIV 1921 pp 202—242
A J of Philosophy, XL pp 1—36
,, ,, XLI ,, 309—335
,, ,, XLIV ,, 97 133—193, 229
,, ,, XLVII ,, 205—233

(4) W Norman,, ,, XL ,, 423—430
Brown ,, ,, XLII ,, 122—151
,, ,, XLIII ,, 289—317

(5) E H Burlingame J R A S 1917—pp 429—467

(6) Penzer in Tawney's Translation of Kathasaritsagar

(7) Chadwick Growth of Literature Vol I pp 432—444
Vol. II. p. 562—573

१४—राजा का किसी दासी से प्रेम और बाद में उसके राजकुमारी होने का पता लगना।

१५—भरुण्ड, गरुड, यक्ष-गन्धर्वादि द्वारा प्रेमी-प्रेमिका का एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँच जाना।

१६ - आकाश में उड़ना और आकाशवाणी।

१७—हाथी के द्वारा छद्मराजा की पहचान।

१८—मृत व्यक्ति का जीवित हो जाना।

१९—सत्य-क्रिया।

२०—दोहद कामना और उसकी पूर्ति के लिये प्रिय का प्रयत्न।

२१—जल की तलाश में जाते समय यक्ष, गन्धर्व, असुर, राक्षस आदि से भेंट और प्रिय व्यक्तियों का वियोग।

२२—विजन-वन में सुन्दरियों और अप्सराओं से साक्षात्कार।

२३— राक्षसों, कापालिकों अथवा मतवाले हाथी से किसी सुन्दरी की रक्षा और उससे प्रेम आदि।

इन कथानक रूढ़ियों में से कुछ तो निजन्धरी विश्वासों पर आधारित होती हैं और कुछ कवि-कल्पना-जन्य होती है जो बार-बार प्रयुक्त होकर रूढि बन गयी हैं। उपर्युक्त लोक-तत्वो और लोक-विश्वास पर आधारित रूढियो के सम्बन्ध में इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि शिष्ट-साहित्य में जहाँ कहीं भी इनका ग्रहण हुआ है, लोककथाओं, लोक गाथाओं और पौराणिक-आख्यानों के प्रभाव से ही हुआ है क्योंकि इनका प्रारम्भ और विकास इन्हीं कथाओं और गाथाओं में ही मुख्यरूप से हुआ है। भारतीय साहित्य में तो इनकी भरमार है क्योंकि यहाँ लोक-कथाओं के आधार पर बहुत अधिक आख्यानक साहित्य निर्मित हुआ है। इन कथानक-रूढ़ियों का इतना अधिक प्रयोग हुआ है कि उनमें से अधिकांश में से चमत्कार और आश्चर्य उत्पन्न करने वाला तत्त्व समाप्त हो गया है[1]। भारतीय महाकाव्य, कथा, आख्यायिका, मुक्तक काव्य सब पर उपर्युक्त लोक-तत्वों का प्रभाव किसी न किसी रूप और मात्रा में अवश्य पड़ा है। हिन्दी महाकाव्यों के सम्बन्ध में विचार करते समय इन पर विशेष रूप से विचार किया जायगा।

---

1 Even various motifs which occur in legends, fables and plays are worn out by repetetion and loose thereby their element of surprise and charm '
S N. Dasgupta and S. K De . A History of Sanskrit Literature, P. 28—29.

इस प्रकार महाकाव्य के उद्भव और विकास की कहानी युगों की गाथा में बहने वाले वीराख्यानों, लोकगाथाओं और पौराणिक-ऐतिहासिक पुरुषों से संबंधित निजन्धरी कथाओं के विकास की कहानी है जिन्हें युग-युग के मानव समाज ने अपने-अपने देश में अपने-अपने ढंग से निर्मित किया। प्रारम्भिक विकसनशील महाकाव्यों की तुलना हम प्रवाल द्वीपों से कर सकते है। ये महाकाव्य न जाने कितने युगो में कितने कण्ठों से निस्सृत होकर और कितनी प्रतिभाओं की शक्ति से रूप-ग्रहण करके आज अपना वर्तमान स्थिर रूप प्राप्त कर सके है। लिख लिये जाने के बाद उनके स्वरूप में कुछ स्थिरता अवश्य आती है किन्तु कभी कभी लिख लिये जाने पर भी उनका विकास होता रहता है। सम्भवतः लिखने वालों की अपनी रुचि, अज्ञान, पूर्वग्रह तथा देश-भेद के कारण एक ही महाकाव्य की विभिन्न प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में इतना अन्तर आ गया। किन्तु छपाई का प्रारम्भ हो जाने के बाद अब लोक गाथाओं से महाकाव्य के विकास की सम्भावना बहुत कम रह गया है क्योंकि अपढ ग्रामीण जनता में प्रचलित लोक-गाथाएँ भी अब अधिकतर लिपिबद्ध करके प्रकाशित की जाने लगी है। प्रकाशित हो जाने पर उनका रूप स्थिर हो जाता है और विकास रुक जाता है। सारांश यह कि महाकाव्य का उद्भव प्रारम्भिक वीरयुग में होता है, विकासोन्मुख सामन्त-युग में उसका रूप निखरता है, ह्रासोन्मुख सामन्त युग में उसके रूप-शिल्प के अनेक भेद हो जाते हैं और पूँजीवाद के वैज्ञानिक युग में उनकी रचना बहुत कम हो जातो है और उनका स्थान उपन्यास लेने लगते हैं।

दूसरा अध्याय

महाकाव्य का स्वरूप

पिछले अध्याय में महाकाव्य के उद्भव और विकास के क्रम तथा परिस्थितियों के सम्बन्ध में विस्तार के साथ विचार करने का उद्देश्य यह था कि महाकाव्य के सूक्ष्म और स्थूल, अतरंग और बहिरग तत्वों का उद्‌घाटन किया जा सके। उक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं :—

१—महाकाव्य मनुष्य जाति के प्रारम्भिक काव्यरूपों में से एक प्रधान काव्य-रूप है।

२—नाटक की तरह उसका उद्भव भी प्रारम्भिक आख्यानक-नृत्य (बैलेड डान्स) से हुआ है, अतः महाकाव्य में नाटक के अनेक तत्त्व मिल सकते हैं।

३—उसका रूप विकास लोकगाथाओं और गाथा-चक्रों के रास्ते से हुआ है, अतः प्रारम्भिक महाकाव्य और लोकगाथा में अनेक तत्त्व समान या उभयनिष्ठ हैं।

४—महाकाव्य अपनी सामग्री इतिहास, पुराण, निजन्धरी आख्यान, परंपरागत लोकविश्वास, अनुश्रुति और लोक-कथा से ग्रहण करता है।

५—महाकाव्य का रूप विकास प्रारम्भिक वीरयुग में हुआ। परवर्ती युगों—सामंती वीरयुग और पूँजीवाद-युग—में उसके अन्तरंग और बहिरंग दोनों ही रूपों में युग की आवश्यकताओं के अनुरूप परिवर्तन होता रहा है।

६—प्रारम्भिक महाकाव्य मौखिक परम्परा में सुरक्षा होने से विकसनशील थे। उनका कर्ता कोई विशिष्ट कवि नहीं होता था। अतः वे लोक-जीवन से अधिक सम्पृक्त और सामाजिक या जातीय भावनाओं से युक्त थे। बाद के विशिष्ट कवियों द्वारा व्यक्तिगत रूप से लिखित महाकाव्य अधिक व्यक्ति-वादी भावनाओं से युक्त और अलंकृत शैली के होने लगे।

७—वीरयुग किसी समाज में एक बार नहीं, विभिन्न रूपों में कई बार आता रहता है और प्रत्येक बार वह महाकाव्य के रूप को नया मोड़ देता है। शान्तिपूर्ण युगों में लिखे गये महाकाव्य अधिकतर एक जाति के होते हैं और वीरयुगों के महाकाव्य दूसरी जाति के। किन्तु इन दोनों ही

जातियों के महाकाव्यों के कुछ ऐसे समान तत्त्व होते हैं जिनके कारण दोनों ही महाकाव्य की संज्ञा प्राप्त करते हैं।

८—महाकाव्य के विकास में महान् प्रतिभाशाली और विशिष्ट कवियों का जितना योग रहा है उससे कहीं अधिक लोक-कवियों और पेशेवर-गैरपेशेवर चारणों और उनकी वंश-परंपरा का रहा है। उसी तरह सामन्ती दरबार, धार्मिक सम्प्रदाय और संस्थाएँ और सामान्य जन समाज इन तीनों के बीच समान रूप से महाकाव्य की परम्परा का विकास होता रहा है।

९ – महाकाव्य, विशेषकर प्रारम्भिक महाकाव्य, विभिन्न काव्यरूपो जैसे नाटक, कथा-आख्यायिका, खण्डकाव्य, अलंकृत गाथा आदि का, यहाँ तक कि अनेक पुराणों और अलंकृत काव्यों का आकर-साहित्य भी रहता आया है अर्थात् अनेक काव्य-रूपों के तत्त्वों के मिश्रण से महाकाव्य का निर्माण हुआ और फिर महाकाव्य की सामग्री से अनेक काव्यरूपों का पोषण होता रहा और इस समय तक होता जा रहा है।

१०—यद्यपि महाकाव्य का प्रारम्भ और विकास प्रारम्भिक वीरयुग में हुआ पर इसका यह अर्थ नहीं कि हर काल का महाकाव्य वीरकाव्य ही होता है। उसके निर्माण के मूल में अनेक प्रकार के उद्देश्य रहते आये हैं। यदि अलग अलग महाकाव्यों का परीक्षण किया जाय तो उनके उद्देश्य, शैली और उन पर पड़े प्रभावो का पता आसानी से लग सकता है। इसी तरह उनके विषय भी भिन्न-भिन्न होते रहे है जैसे कभी युद्ध, कभी प्रेम, कभी धर्म, कभी राष्ट्र का कल्याण, कभी राजा या धर्म-प्रवर्तक की प्रशस्ति और कभी मनोरंजन और कल्पना-विलास मात्र।

परिभाषा की समस्या

महाकाव्य की परिभाषा निश्चित करना अत्यन्त कठिन कार्य है क्योंकि विभिन्न युगों में उसका स्वरूप बदलता रहा है। यही कारण है कि विभिन्न युगों के साहित्याचार्यों ने उसके भिन्न-भिन्न मानदण्ड स्थिर किये; फिर भी महाकाव्य की सम्यक् परिभाषा आज तक स्थिर नहीं हो सकी है। किन्तु ऊपर जो निष्कर्ष दिये गये हैं उनके आधार पर हम महाकाव्य की व्यापक परिभाषा निश्चित करके उसके सामान्य तत्त्वो और विशेषताओं का विश्लेषण और उसकी विभिन्न शैलियों का निर्धारण कर सकते हैं। पश्चिमी देशों तथा भारत के प्राचीन साहित्याचार्यों और पण्डितो ने महाकाव्य के लक्षण निर्धारित करते समय अपने सामने किन्हीं आदर्श महाकाव्यों या महाकवियों को रखा था। वे महाकाव्य जिस युग में निर्मित हुये थे उस युग के लिये तो अवश्य

वह परिभाष[1] उपयुक्त थी, पर बाद के युगों के महाकाव्यों पर वे पिछली परिभाषायें और मानदण्ड पूर्णतया नहीं लागू हो पाते हैं। यूरोपीय देशों में महाकाव्य ही नहीं बल्कि काव्य मात्र के सर्वप्रथम आलोचक अरस्तू ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में हुए। उन्होंने अपने पूर्व के काव्य-रूपों, विशेषकर होमर के दो महाकाव्यों, इलियड और ओडेसी को आदर्श रूप में सामने रख कर महाकाव्य के लक्षण निर्धारित किये। किन्तु ईसवी सन् के प्रारम्भ के कुछ वर्ष पूर्व इटली के प्रथम सम्राट् आगस्टस के संरक्षण में रहकर महाकवि वर्जिल ने 'इनीड' नामक जिस काव्य की रचना की वह एक बिल्कुल भिन्न युग और भिन्न कोटि का महाकाव्य था। अतः अरस्तू द्वारा निर्धारित लक्षण वर्जिल के महाकाव्य पर पूर्ण रूप से नहीं लागू किये जा सकते। वर्जिल के पूर्व और उसके बाद भी रोमांचक तत्त्वों से युक्त जो महाकाव्य लिखे गये उन पर न तो अरस्तू की परिभाषा ही लागू होती थी और न वर्जिल के महाकाव्य को आदर्श मानकर रचित बाद के शास्त्रीय शैली (क्लासिकल स्टाइल) वाले महाकाव्यों का मानदण्ड, जो हजारों वर्षों तक सारे यूरोप में मान्य रहा, उन पर लागू हो सकता था। उसी तरह कुछ लोक-महाकाव्य जो सामन्ती वीरयुग (१२ वीं शताब्दी तक) में विकसित हुए, अरस्तू के लक्षणों के अनुसार अथवा शास्त्रीय महाकाव्य के मानदण्ड से महाकाव्य नहीं माने जा सकते पर परम्परा से 'वियोवूल्फ' 'सांग आफ रोलां', 'निबुलंगेनलीड' आदि विकसनशील महाकाव्य माने जाते रहे हैं। ठीक यही दशा भारत में भी रही है। महाभारत और रामायण हमारे देश के आदि महाकाव्य है। इनमें से महाभारत को तो धर्मग्रन्थ, शास्त्र, पुराण, इतिहास, यहाँ तक कि पञ्चमवेद तक मान लिया गया और रामायण को इतिहास और आदि काव्य कहा गया। रामायण को आदि काव्य मानते हुए भी भारतीय साहित्यशास्त्रियों —दण्डी, हेमचन्द्र, विश्वनाथ आदि— ने महाकाव्य का लक्षण निर्धारित करते समय उसे आदर्श रूप में अपने सामने उतना नहीं रखा जितना अश्वघोष, कालिदास, भारवि, माघ आदि परवर्ती महाकवियों के अलंकृत महाकाव्यों को। अतः उनकी निर्धारित परिभाषा के अनुसार न तो रामायण महाकाव्य है न महाभारत और यदि उनकी परिभाषा को अक्षरशः स्वीकार किया जाय, जैसा कुछ पुरानी परिपाटी के पण्डित लोग करते हैं, तब तो अनेक नितान्त नगण्य काव्य ग्रन्थ भी महाकाव्य की सीमा में चले आयेंगे। हिन्दी में इन्हीं संस्कृत साहित्यशास्त्रों की परम्परा स्वीकृत हुई। अतः यहाँ भी उन लक्षण-ग्रन्थों के लक्षणों से युक्त सभी काव्य-ग्रन्थों को महाकाव्य सिद्ध करने की परिपाटी चल पड़ी है। यही

नहीं, बहुत से ऐसे काव्य जो सचमुच महाकाव्य पद के अधिकारी हैं, इसी कारण महाकाव्य नहीं माने गये कि उनमें उपर्युक्त आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट कुछ लक्षण नहीं मिलते।

अतएव पुरानी परिभाषाओं और लक्षण-ग्रन्थों से हमारा काम नहीं चल सकता। हमें वैज्ञानिक रीति से महाकाव्य के रूप-विकास का अध्ययन करके उसकी परिभाषा निर्धारित करनी होगी। इस दशा में आधुनिक युग के अनेक पाश्चात्य पण्डितों ने बहुत अधिक कार्य किया है जिनमें प्रो० डब्यू० पी० केर, एबरक्रॉम्बी, मैकलीन डिक्सन और सी० एम० बावरा के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। उन सभी पाश्चात्य विद्वानों ने, जिन्होंने भारतीय साहित्य का अध्ययन और शोधकार्य किया है, महाभारत और रामायण को महाकाव्य माना है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी महाभारत और रामायण को इतिहास के साथ-साथ महाकाव्य भी माना है[1]। यदि महाभारत और रामायण को महाकाव्य मान लिया जाता है तो यह निश्चित है कि संस्कृत के साहित्याचार्यों की महाकाव्य की परिभाषा के भीतर वे नहीं समा सकेंगे, अर्थात् महाकाव्य की नई परिभाषा बनानी होगी। उसी तरह हिन्दी का रामचरितमानस जो सारे समाज के हृदय में महाकाव्य-रूप में प्रतिष्ठित है और हिन्दी के आलोचक भी जिसे महाकाव्य मानते हैं, संस्कृत लक्षण-ग्रन्थों के अनुसार महाकाव्य की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। अन्य काव्यों, पद्मावत, पृथ्वीराज रासो, कामायनी आदि की तो बात ही अलग है। इसके साथ ही उन्हीं लक्षण-ग्रन्थों के आधार पर अनेक छोटे बड़े और महत्वहीन काव्य-ग्रन्थो को महाकाव्य कहा जा सकता है और कहा जाता रहा है। अतः कौन काव्य-ग्रन्थ महाकाव्य है और कौन नहीं, अब तक के मान्य महाकाव्य के लक्षणों के आधार पर इसका निर्णय करना अत्यन्त कठिन है। इसका सबसे सुगम उपाय तो यही है कि प्रत्येक देश या समाज में जिस काव्य को परम्परा से महाकाव्य माना जाता रहा है या वर्तमान काल के जो काव्य सामान्यतया महाकाव्य मान लिये जाते हैं उन्हें ही सामने रखकर महाकाव्य की परिभाषा निर्धारित की जाय। उदाहरण के लिये फारसी के मसनवी ढङ्ग के ऐतिहासिक काव्य शाहनामा को संसार के प्रसिद्ध महाकाव्यों में माना गया है। कालिदास का रघुवंश भी संस्कृत का सर्वश्रेष्ठ अलंकृत महाकाव्य माना जाता है पर अरस्तू और भामह की परिभाषा के अनुसार ये दोनों ग्रन्थ महाकाव्य नहीं हो सकते क्योंकि इनमें एक व्यक्ति की जीवन कथा नहीं बल्कि राजवंशों का काव्यात्मक इतिहास है। उनमें कथानक की अन्विति भी नहीं है। फिर भी ये

१—रवीन्द्रनाथ ठाकुर : प्राचीन साहित्य, सं० १६८० वि०, पृ० २-३।

दोनों महाकाव्य माने गये हैं। संस्कृत के साहित्यशास्त्रियों ने रघुवंश को दृष्टि में रखकर ही यह लक्षण बनाया कि महाकाव्य में एक वंश के अनेक व्यक्तियों की कथा भी हो सकती है। प्रश्न हो सकता है कि यदि एक वंश के अनेक व्यक्तियों की कथा से महाकाव्य बन सकता है तो एक देश के अनेक सांस्कृतिक नेताओं, या एक धर्म के विभिन्न अवतारों या तीर्थंकरों की कथा के आधार पर रचित काव्य को महाकाव्य क्यों नहीं माना जा सकता ? अतः कुछ विशेष महाकाव्यों के बाह्य लक्षणों को देखकर उन्हे महाकाव्य मात्र का लक्षण मान लेने से परिभाषा में अतिव्याप्ति या अव्याप्ति दोष आ जाता है। प्राचीन यूनानी और प्राचीन संस्कृत के लक्षण-ग्रन्थों के सम्बन्ध में यही बात लागू होती है।

किन्तु उपर्युक्त कथन का अभिप्राय यह नहीं है कि महाकाव्य का स्वरूप अन्य काव्य-रूपों से भिन्न नहीं है अथवा महाकाव्य एक काल्पनिक काव्य-रूप है। उसकी परिभाषा निश्चित करने में कठिनाई का कारण यही है कि युग-युग में इसका रूप अन्य काव्य-रूपों की अपेक्षा अधिक स्पष्टता के साथ बदलता रहा है क्योंकि इसका युग-जीवन के साथ अत्यन्त निकट का सम्बन्ध होता है; और आज तो परिस्थितियाँ पहले से इतनी बदल गयी हैं कि बहुत से विद्वानों ने घोषणा कर दी है कि इस युग में महाकाव्य की रचना हो ही नहीं सकती। डिक्सन ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि आज मानव-जीवन के क्षितिज का विस्तार इतना अधिक हो गया है कि कोई महाकवि चाहे जितना भी दूरद्रष्टा या विराट कल्पना वाला क्यों न हो, वह महाकाव्य के भीतर अपने युग-जीवन की सभी बातों और अनुभूतियों को उस प्रकार नहीं समाविष्ट कर सकता जैसे होमर, व्यास या वाल्मीकि ने किया है[1]। यह बात सही भी है। विश्व में सभी जगह आज महाकाव्यों की रचना बहुत कम हो रही है। उनकी जगह उपन्यास ने ले ली है। यूरोप में तो महाकाव्य के गुण-

---

1 "The ancient wide and undivided realm is split and rent into many kingdoms Perhaps it is no longer for the epic poet to secure scope and verge enough for his undertaking, or universal attention for his selected theme. The horizons of human life have widened, but so vastly widened that the epic poet can no longer include them, however far-seeing his vision, as did homer weave so many histories together as to contain the whole learning of his time."
W. Macneile Dixon: English Epic & Heroic Poetry, London, 1912 p. 16.

वाले श्रेष्ठ उपन्यासों को भी 'एपिक' कहा जाने लगा है। निष्कर्ष यह कि महाकाव्य के विकास के इतिहास को और सारे संसार के महाकाव्यों के स्वरूप को ध्यान में रखकर यदि कोई परिभाषा बनाई जाय जिसमें महाकाव्य के सभी सामान्य लक्षण आ जायँ, तो भी वह अन्तिम परिभाषा नहीं हो सकती। कल समाज की मान्यतायें बदल जायेंगी, उसकी कलात्मक रुचि में उलट-फेर हो जायगा, फिर आज की परिभाषा बेकार हो जायगी। सम्भवतः इसी परिवर्तनशीलता को देखकर क्रोचे ने अपने सौन्दर्यशास्त्र में कहा है कि काव्य-रूपों का वर्गीकरण करना ही बेकार है, कला के क्षेत्र में गीतिकाव्य, महाकाव्य, नाटक, उपन्यास आदि का भेद नहीं हो सकता। यदि किया जाता है तो यह कृत्रिम भेद है, क्योंकि एक तो आत्मगत और वस्तुगत भावों या विचारों की अलग अलग स्थिति नहीं है, दूसरे कलाकार और कवि सदा शास्त्रीय नियमों का उल्लंघन करते रहते हैं। प्रत्येक उत्कृष्ट कलात्मक निर्माण में कलाकार अपने पूर्व के स्थिर नियमों की अपेक्षा करके आलोचकों को इस बात के लिए विवश करता है कि वे शास्त्रीय नियमों में परिवर्तन करें। अतः परिभाषायें फिर-फिर बनती और फिर-फिर सुधरती रहती हैं[1]। क्रोचे के इस कथन में सत्य का बहुत अधिक अंश है, फिर भी काव्य-भेद किया जाता रहा है और परिभाषायें बनती रहती हैं, क्योंकि मनुष्य की बुद्धि का काम ही विश्लेषण करना है। भारतीय मनीषा तो सूक्ष्म भेद प्रभेद की प्रवृत्ति में अपनी उपमा आप ही है। अतः परिभाषा निश्चित किये बिना हम अपने विषय के साथ समुचित न्याय नही कर सकते। इतना अवश्य सत्य है कि काव्य-रूपो और मानदण्डों में निरन्तर परिवर्तन होते रहने के बावजूद उनकी एक परम्परा होती है जिसका इतिहास होता है। इतिहास की गति में भी नियम होता है जिसका पता लगा कर उसके आधार पर विश्लेषण-विभाजन और परिभाषा का निर्माण किया जा सकता है। यहाँ महाकाव्य के ऐतिहासिक विकास और परम्परागत नैरन्तर्य के आधार पर उसकी परिभाषा देने और उसके तत्वों का उद्‌घाटन करने का प्रयत्न किया जायगा।

महाकाव्य की परिभाषा के सम्बन्ध में विचार करने के पूर्व इस बात को फिर दुहरा देना आवश्यक है कि संसार के सभी देशो में महाकाव्य की परम्परा दो धाराओं में विभक्त होकर प्रवाहित होती आ रही है, मौखिक परम्परा वाली धारा और लिखित परम्परा वाली धारा। यद्यपि इन दोनों में बहुत अन्तर है पर वस्तुतः दोनों महाकाव्य की ही धारायें हैं क्योंकि दोनों के मूल तत्व

1. Benedetto croce Aesthetics, p 60-61
Translated by—Dongas Ainslie.

एक ही हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि "महाकाव्य शब्द का प्रयोग आज कल दो अर्थों में होने लगा है— अंग्रेजी के 'एपिक' शब्द के अर्थ में और प्राचीन आलंकारिक आचार्यों द्वारा प्रयुक्त सर्गबद्ध काव्य के अर्थ में। साधारणतः यूरोपियन पण्डितों ने भारतीय एपिक कह कर केवल दो ग्रन्थों की चर्चा की है, महाभारत की और रामायण की।[1]" यह कथन सत्य है। इसका कारण यह है कि पाश्चात्य देशों में अरस्तू ने होमर के आदर्श पर महाकाव्य को जो परिभाषा निश्चित की थी वह वर्जिल और मिल्टन जैसे कवियों के महाकाव्यों पर पूर्णतया लागू नहीं होती थी और इन महाकाव्यों के, जो शास्त्रीय (क्लासिकल) महाकाव्य कहलाते हैं, आधार पर, जो परिभाषा बनी वह लोक-महाकाव्यों (फोक एपिक) जैसे बियोवूल्फ, निबुलंगेनलीड आदि पर लागू नहीं होती थी। अतः वहाँ बाद में महाकाव्य के दो रूप मान लिए गये, प्राकृतिक या विकसनशील या लोक-महाकाव्य (आथेन्टिक एपिक, फोक एपिक या एपिक आफ ग्रोथ) और अनुकृत, साहित्यिक या अलंकृत महाकाव्य (लिटरेरी या इमीटेटीव एपिक या एपिक आफ आर्ट)। मौखिक और लिखित परम्परा के कारण ही महाकाव्य के ये दो रूप हो गये जो आधुनिक साहित्यशास्त्रियों द्वारा स्वीकृत कर लिये गये। इसी नियम को योरोपीय पंडितों ने भारतीय महाकाव्यों पर भी लागू किया और महाभारत-रामायण को प्राकृतिक या विकसनशील महाकाव्य माना और अश्वघोष-कालिदास तथा बाद के कवियों के महाकाव्यों को दरबारी महाकाव्य या अलकृत महाकाव्य कहा। मेकडानल प्रभृति विद्वान् महाभारत को लोक-महाकाव्य और रामायण को अलंकृत महाकाव्य मानते हैं और बाद के अलंकृत महाकाव्यों को रामायण के अनुकरण पर निर्मित बताते हैं[2]। इस तरह उन्होंने महाभारत-रामायण से लेकर बाद

---

१. 'संस्कृत के महाकाव्यों की परम्परा' आलोचना—अंक १—पृष्ठ ९, दिल्ली १९५१।

2 "As the popular epic poetry of the Mahabharat was the chief source of the Puranas, so the Ramayan the earliest artificial epic was succeeded though after a long interval of time, by a number of Kavyas ranging from the fifth to twelth century"

Arthur A Macdonell--A History of Sanskrit Literature—P. 325—2., London 1913.

तक के सभी अलंकृत या दरबारी काव्यों को महाकाव्य ही माना है जब कि भारतीय अलंकारिक अचार्य महाभारत को महाकाव्य मानते हुए हिचकिचाते हैं। अतः द्विवेदी जी के उपर्युक्त कथन में 'एपिक' शब्द सम्भवतः प्राकृतिक या विकसनशील महाकाव्य (एपिक आफ ग्रोथ) के लिए प्रयुक्त हुआ है। द्विवेदी जी भी महाकाव्य की दो धाराओं—विकसनशील और अलंकृत—को मानते हैं और इसीलिए उन्होंने पाश्चात्य विद्वानों की तरह ही अपने निबन्ध 'संस्कृत के महाकाव्यों की परम्परा' में महाभारत-रामायण को भी सम्मिलित किया है। महाकाव्य की परिभाषा को इतना व्यापक और उदार बनाकर न देखने के कारण ही हिन्दी के अनेक इतिहासकार और आलोचक रासो, पद्मावत, यहाँ तक कि रामचरित मानस तक के काव्य-रूप का वर्गीकरण करते समय उन्हें केवल प्रबन्ध काव्य कहकर टाल गये हैं, क्योंकि संस्कृत के आचार्यों की परिभाषा के अनुसार वे पूर्णत महाकाव्य नहीं कहे जा सकते। अतः पाश्चात्य विद्वानों तथा रवीन्द्रनाथ ठाकुर, डाक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि के इस मत को हम शुरू ही में स्वीकार करके चल रहे हैं कि महाकाव्य की दो धारायें अथवा उसके विकास की दो अवस्थाएँ हैं--प्राकृतिक अथवा मौखिक और लिखित।

इस सम्बन्ध में इतना और कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि विज्ञान और सौन्दर्य के क्षेत्र में देश-काल के विशेषण बहुत कुछ अनावश्यक और सत्य की उपलब्धि में बाधा उपस्थित करने वाले होते हैं। जिस तरह विभिन्न देशों में बसने वाली जातियों के अध्ययन का शास्त्र नृतत्व-शास्त्र है, और समाज के विकास के नियमों के अध्ययन का शास्त्र समाज-शास्त्र है उसी तरह विभिन्न देशों के साहित्य के अध्ययन के लिए भी एक ही साहित्यशास्त्र हो सकता है या होना चाहिए। इस क्षेत्र में पाश्चात्य साहित्यशास्त्र और प्राच्य साहित्यशास्त्र अथवा भारतीय और यूनानी साहित्यशास्त्र आदि शब्दों का इस युग में कोई महत्व नहीं रह गया है, क्योंकि एक तो विज्ञान ने देशों की दूरी मिटा दी है, दूसरे विकास की प्रक्रिया सभी देशों में बहुत कुछ एक सी रही है। अतः महाकाव्य के नियमों के सम्बन्ध में पाश्चात्य और भारतीय विशेषण विशेष महत्व के नहीं हैं। कम से कम उन्हें आवश्यक शर्त मान कर नहीं चला जा सकता क्योंकि दैशिक संकीर्णता की मनोवृत्ति सत्यान्वेषण में बाधक है। अन्य विषयों और शास्त्रों की तरह साहित्य और उसके शास्त्र का भी एक इतिहास होता है जिसके विकास की निश्चित गति होती है जो सभी देशों में करीब करीब एक जैसी होती है। सभी देशों के प्रारम्भिक वीरयुगीन महाकाव्यों में विषय-वस्तु और रूपशिल्प सम्बन्धी यह समानता स्पष्ट रूप से देखी

जा सकती है[1]। अतः तुलनात्मक पुराणशास्त्र, भाषाशास्त्र, धर्मशास्त्र आदि की तरह तुलनात्मक साहित्यशास्त्र की भी आवश्यकता स्वयंसिद्ध है। कम से कम महाकाव्य के सम्बन्ध में तो उसकी आवश्यकता और भी अधिक है क्योंकि वह मनुष्य के प्रारम्भिक मानसिक प्रयत्नों का जीवन्त प्रतीक है। इस क्षेत्र में हम पाश्चात्य और पौर्वात्य के भेद को कृत्रिम और अवैज्ञानिक मानते हैं और महाकाव्य की ऐसी परिभाषा की आवश्यकता समझते हैं जो सार्वभौम और वैज्ञानिक हो। भारतीय और पाश्चात्य मान्यताओं में कोई तात्विक अन्तर है भी नहीं; उनमें कितना साम्य या वैषम्य है यह जानने के लिए उनके उनके सम्बन्ध में कुछ विचार कर लेना आवश्यक है।

महाकाव्य सम्बन्धी भारतीय मान्यतायें :—

भामह—संस्कृत में काव्यशास्त्र के ऐसे उपलब्ध ग्रन्थो में, जिनमें महाकाव्य की परिभाषा दी गयी है, प्राचीनतम भामह का काव्यालंकार है। उसमें उन्होने महाकाव्य की जो परिभाषा दी है वह परवर्ती आचार्यों की परिभाषा के समान संकीर्ण और रूढ़िपरक नहीं है[2]। भामह ने बड़ी लोक-गाथाओं का, जिनमें ग्राम्य शब्दों का प्रयोग अधिक होता है और अलंकरण नही होता या जिनमें नायक महान् नहीं होते और जिनमें सर्गबद्धता नही होती, महाकाव्य नहीं माना। इसके विपरीत उनका कहना है कि महाकाव्य को सर्गबद्ध होना चाहिये, उसका आकार बड़ा होना चाहिये, शब्द चयन और अप्रस्तुत-विधान उत्कृष्ट होना चाहिये, उसकी कथा महान चरित्रों पर आश्रित होनी चाहिये, उसमें नाटक की सन्धियाँ और कार्यावस्थायें होनी चाहिये और व्याख्या की अधिकता नहीं होनी चाहिये अर्थात् कथा-प्रवाह में बाधा उपस्थित करने वाले अनावश्यक तत्व नहीं होने चाहिये। इस परिभाषा से स्पष्ट है कि भामह ने रामायण और सम्भवतः महाभारत को दृष्टि में रख कर या उन्हीं के आदर्श पर रचित उन महाकाव्यों को देखकर, जो आज प्राप्त नहीं है, यह परिभाषा बनाई

1. "Yet heroic poetry is one whether of the East or west, the North or South, its blood and temper are the same, ..." M Dixon · English Epic & Heroic Poetry, p 21.

२. सर्गबन्धो महाकाव्य महतां च महच्च यत्।
अग्राम्यशब्दमर्थं च सालंकारं सदाश्रयम्॥
मंत्रदूतप्रयाणाजिन नायकाभ्युदयश्चयत्।
पचभिःसन्धिभिर्युक्तं नाति व्याख्येयमृद्धिमत्॥
भामह— काव्यलंकार १–१९, २१।

है। उनके समय तक महाकाव्य का रूप अतिशय अलंकृत और रूढ़िबद्ध नहीं हुआ था। अतः उनकी परिभाषा अरस्तू की परिभाषा से मिलती जुलती है क्योंकि दोनों के सामने आदर्श रूप में विकसनशील महाकाव्य थे। ध्यान देने की बात है कि भामह ने परवर्ती आलंकारिकों की तरह महाकाव्य के शरीर के वाह्य लक्षणों का ब्योरा नहीं उपस्थित किया और न सर्गों की संख्या, वर्ण्यविषयों की सूची, नायक के विशिष्ट गुणों, छन्द, और ग्रन्थारम्भ आदि की आवश्यक शर्तें ही रखीं। उन्होंने उसके प्रधान तत्वों को पकड़ लिया है, जो ये हैं:—

१—सर्गबद्धता

२—महान् चरित्र और विजयी नायक

३—महत्ता

४—शिष्ट नागर प्रयोग और अलकृति

५—जीवन के विविध रूपों, अवस्थाओं और घटनाओं का चित्रण

६—नाटकीय गुण

७—अति व्याख्या रहित होना अर्थात् संघटित कथानक और प्रभाव की अन्विति।

८—ऋद्धिमत्ता

दण्डी—भामह के बाद दूसरे महान् आचार्य दण्डी ने 'काव्यादर्श' में महाकाव्य के जो लक्षण दिये हैं उनमें उन्होंने भामह की सभी बातों को समेट तो अवश्य लिया है किन्तु उन्हें ऐसे ढंग से अन्य स्थूल नियमों के बीच में डाल दिया है कि प्रधान तत्व महत्वहीन हो गये हैं और गौण तत्व ही प्रधान प्रतीत होते हैं[1]। महान् चरित्र की जगह उन्होंने चतुरोदात्त नायक शब्द रखकर महाकाव्य में उद्देश्य का महत्व कम कर दिया है और उसकी जगह चमत्कार अथवा केवल रसानुभूति को ही प्रधानता दे दी है। इस तरह दण्डी ने भामह

१—सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम्।
आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्॥ १४॥
इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम्।
चतुर्वर्गफलायत्तंचतुरोदात्तनायकम्॥ १५॥
नगरार्णवशैलर्तुचन्द्रार्कोदयवर्णनैः।
उद्यानसलिलक्रीड़ामधुपानरतोत्सवैः॥ १६॥
विप्रलम्भैर्विवाहैश्च कुमारोदयवर्णनैः।
मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैरपि॥ १७॥
अलङ्कृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम्।
सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्राव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः॥ १८॥

के 'अग्राम्यशब्दमर्थं च सालंकारं सदाश्रयम्' का यह अर्थ लगा लिया कि अलंकृत होना ही महाकाव्य का प्रधान लक्षण है। उन्होंने प्रारम्भ के आशीर्वचन, नमस्क्रिया और वस्तुनिर्देश और मध्य के उद्यान-सलिल-क्रीड़ा, मधुपानोत्सव आदि तथा विभिन्न सर्गों में भिन्न-भिन्न छन्दों के उपयोग की जो सामान्य बातें बताई हैं, वस्तुतः वे महाकाव्य के तात्विक और आवश्यक लक्षण नहीं हैं। संस्कृत के सभी महाकाव्यों में ये सभी बातें नहीं मिलतीं। दण्डी की परिभाषा ही आगे चलकर अधिक प्रचलित हुई और हेमचन्द्र और विश्वनाथ ने उसी के आधार पर कुछ और बातें जोड़ कर अपने लक्षण बनाये। दण्डी के काव्यादर्श ने परवर्ती कवियों को कितना अधिक प्रभावित किया, यह इसी से स्पष्ट है कि परवर्ती महाकाव्य दण्डी के लक्षणों को सामने रख कर रचे गये प्रतीत होते हैं। अलंकृति और चमत्कार उनका प्रधान लक्ष्य हो गया और महती घटना या महान् चरित्र द्वारा रसानुभूति उत्पन्न करके अपने महान् उद्देश्य को पूरा करना उनका लक्ष्य नहीं रह गया। 'चतुर्वर्गफलायत्तं' के नियम के अनुसार परवर्ती दरबारी कवि अर्थ और काम को ही लक्ष्य मानकर महाकाव्य रचने लग गये जिसके परिणामस्वरूप महाभारत रामायण को महाकाव्य रूप में सोचने की भी प्रवृत्ति नहीं रह गयी और कालिदास की सरलता, सहजता और महत्ता को भी भुला दिया गया। फलतः चौदहवीं शताब्दी के आलंकारिक आचार्य विश्वनाथ कविराज ने महाभारत को आर्ष महाकाव्य कह कर उसे कवि रचित महाकाव्यों से भिन्न कोटि का मान लिया और उसमें सर्ग की जगह आख्यान का प्रयोग होना बताया। केवल अलंकार-शास्त्रों में निर्दिष्ट महाकाव्यों के लक्षणों की खानापूरी धड़ल्ले के साथ होने लगी और स्वतन्त्र मार्ग अनुसरण करने, नये मानदण्ड स्थापित करने और आलंकारिकों को नये नियम बनाने के लिए विवश करने वाले महाकाव्यों का प्रणयन बन्द सा हो गया[1]।

सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरंजनम्।
काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायेत सदलंकृति ॥१९॥
दण्डी-काव्यादर्श—प्रथम परिच्छेद।

1—"It is generally believed that the poems which are composed in accordance with the rules laid down in the Alankar Shastra are slightly inferior to the early poems on which the rules of definitions were based There is, ofcourse, some truth in the assertion as the later poets were somewhat handicapped by the rules in making use of their

रुद्रट—किन्तु प्राकृत अपभ्रंश के महाकवि कुछ स्वतन्त्र और एक सीमा तक आलंकारिकों के मत के विरुद्ध मार्गों का अनुसरण करके चलते रहे। इसका कारण यह था कि उन पर जैन-बौद्ध पुराणों, लोकगाथाओं-लोककथाओं और हिन्दू पुराणों तथा रामायण-महाभारत का प्रभाव अधिक था। दण्डी के समय तक सम्भवतः प्राकृत अपभ्रंश के महाकाव्यों की रचना कम हुई थी अथवा वे प्रकाश में नहीं आये थे। चाहे जो भी कारण हो, दण्डी ने प्राकृत-अपभ्रंश के महाकाव्यों तथा रामायण-महाभारत को ध्यान में रख कर महाकाव्य के नियम नहीं बनाये। किन्तु दण्डी के बाद सातवीं शताब्दी के दूसरे महान् आचार्य रुद्रट ने महाकाव्य की जो परिभाषा अपने काव्यालंकार में दी है, वह संस्कृत के अन्य सभी आलंकारिकों से बहुत कुछ भिन्न, तथा महाभारत-रामायण और प्राकृत-अपभ्रंश के महाकाव्यों को भी ध्यान में रख कर बनाई प्रतीत होती है[1]। यही नहीं, रुद्रट की महाकाव्य सम्बन्धी मान्यता यूरोपीय महाकाव्यों के

---

free thinking, which is essential in all forms of creative poetry".

Ramacharita of Abhinanda—Edited by Ramaswami Shastri Sheromani, Preface, p 23

१—सन्ति द्विधा प्रबन्धाः काव्यकथाख्यायिकादयः काव्ये।
उत्पाद्यानुत्पाद्या महल्लघुत्वेन भूयोऽपि॥ २॥
तत्रोत्पाद्या येषा शरीरमुत्पादयेत्कविः सकलम्।
कल्पितयुक्तोत्पत्ति नायकमपि कुत्रचित्कुर्यात्॥ ३॥
पञ्जरमितिहासादिप्रसिद्धमखिलं तदेकदेशं वा।
परिपूरयेत्स्ववाचा यत्रकविस्ते त्वनुत्पाद्याः॥ ४॥
तत्र महान्तो येषु च विततेष्वभिधीयते चतुर्वर्गः।
सर्वे रसाः क्रियन्ते काव्यस्थानानि सर्वाणि॥ ५॥
ते लघवो विज्ञेया येष्वन्यतमो भवेच्चतुर्वर्गात्।
असमग्रानेकरसा ये च समग्रैकरसयुक्ताः॥ ६॥
तत्रोत्पाद्ये पूर्वसन्नगरीवर्णनं महाकाव्ये।
कुर्वीत तदनु तस्या नायकवंशप्रशंसा च॥ ७॥
तत्र त्रिवर्गसक्तं समिद्धशक्तित्रयं च सर्वगुणम्।
रक्तसमस्तप्रकृति विजिगीषु नायकं न्यस्येत्॥ ८॥
विधिवत्परिपालयतः सकलं राज्यं च राजवृत्तं च।
तस्य कदाचिदुपेतं शरदादि वर्णयेत्समयम्॥ ९॥

लक्षणों को भी पूर्णतया व्यक्त करती है। कारण यह है कि उन्होंने विकसनशील महाकाव्यों—महाभारत-रामायण—के अतिरिक्त यूरोपीय रोमांचक महाकाव्यों के ढंग के भारतीय प्राकृत-अपभ्रंश के महाकाव्यों को भी अपनी दृष्टि में अवश्य रखा था अथवा संस्कृत में भी उस समय पद्यबद्ध कथा-आख्यायिका के ढङ्ग के महाकाव्य होते थे जिनकी शैली में बाद में बृहत्कथामंजरी और कथासरित्सागर का निर्माण हुआ। रुद्रट ने गद्यबन्ध लघु या महत् प्रबन्धों को ही कथा-आख्यायिका माना है, पद्यबद्ध प्रबन्धों को नहीं। इसीलिए उन्होंने महाकाव्य की कथा के उत्पाद्य और अनुत्पाद्य तथा महत् और लघु दो भेद किये हैं और अनुत्पाद्य महत्प्रबन्ध (कथोद्भूत महाकाव्य) में उन सभी लक्षणों को स्वीकार किया है जो गद्यबन्ध कथा-आख्यायिका में होते हैं। रुद्रट के महाकाव्य

स्वार्थं मित्रार्थं वा धर्मादिं साधयिष्यतस्तस्य।
कुल्यादिष्वन्यतमं प्रतिपक्षं वर्णयेद्गुणिनम् ॥ १० ॥
स्वचरात्तद्दूताद्वा कुतोऽपि वा शृण्वतोऽरिकार्याणि।
कुर्वीत सदसि राज्ञः क्षोभं क्रोधेद्धचित्तगिराम् ॥ ११ ॥
संमन्त्र्य समं सचिवैर्निश्चित्य च दण्डसाध्यता शत्रोः।
तं दापयेत्प्रयाणं दूतं वा प्रेषयेन्मुखरम् ॥ १२ ॥
अथ नायकप्रयाणे नागरिकाक्षोभजनपदाद्रिनदीः।
अटवीकाननसरसीमरुजलधिद्वीपभुवनानि ॥ १३ ॥
स्कन्धावारनिवेशं क्रीडां यूना यथायथं तेषु।
रव्यस्तमयं सन्ध्या संतमसमथोदयं शशिनः ॥ १४ ॥
रजनीं च तत्र यूना समाजसंगीतपानशृंगारान्।
इति वर्णयेत्प्रसंगात्कथा च भूयो निबध्नीयात् ॥ १५ ॥
प्रतिनायकमपि तद्वत्तदभिमुखममृष्यमाणमायान्तम्।
अभिदध्यात्कार्यवशान्नगरीरोधस्थितं वापि ॥ १६ ॥
योद्धव्यं प्रातरिति प्रबन्धमधुपीति निशि कलत्रेभ्यः।
स्ववधं विशंकमानान्संदेशान्दापयेत्सुभटान् ॥ १७ ॥
सन्नह्य कृतव्यूहं सविस्मयं युध्यमानयोरुभयोः।
कृच्छ्रेण साधु कुर्यादभ्युदयं नायकस्यान्ते ॥ १८ ॥
सर्गाभिधानि चास्मिन्नवान्तरप्रकरणानि कुर्वीत।
संधीनपि संश्लिष्टंस्तेषामन्योन्य संबन्धात् ॥ १९ ॥

रुद्रट—काव्यालंकार, षोडशोऽध्यायः।

सम्बन्धी लक्षण यूरोपीय वीर-काव्यों के लक्षणों से भी मिलते हैं क्योंकि उन्होंने नायक और प्रतिनायक दोनों का वर्णन, दोनों का परस्पर युद्ध और नायक की विजय को बहुत महत्व दिया है और उनमें अवान्तर कथाओं का होना भी एक लक्षण बताया है। अन्य बातें उन्होंने दण्डी के समान ही रखी हैं। रुद्रट की परिभाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें युग-जीवन के विविध रूपों, पक्षों और घटनाओं को चित्रित करने की बात बहुत स्पष्ट रूप में और विस्तार के साथ कही गयी है। अतः इस परिभाषा को मानने पर केवल खानापूरी करने वालों का काम किसी प्रकार नहीं चल सकता था। सम्भवतः इसीलिए दण्डी और विश्वनाथ कविराज की परिभाषाओं का जितना प्रचार हुआ उतना भामह और रुद्रट की परिभाषा का नहीं, क्योंकि भामह ने तो सूत्र रूप में महाकाव्य के मूल तत्वों को कह दिया था और रुद्रट ने उनका पूरा विश्लेषण ही दे दिया जिसे पूरा-पूरा अपना कर चलना सामन्ती युग के दरबारी कवियों के लिए सम्भव नहीं था। रुद्रट की परिभाषा में निर्दिष्ट महाकाव्य के लक्षण ये हैं :—

१—महाकाव्य में उत्पाद्य या अनुत्पाद्य, कोई लम्बी पद्यबद्ध कथा होती है।

२—उसमें प्रसंगानुसार अवान्तर कथायें होती हैं अर्थात् उसमें पुराण और कथा-आख्यायिका के भी तत्व होते हैं।

३—कथा सर्गबद्ध और नाटकीय तत्वों से युक्त होती है।

४—उसमें जीवन की समग्रता का चित्रण होता है और किसी प्रधान घटना जैसे युद्ध या साहसिक कार्य आदि के आश्रय से अलंकृत वर्णन, प्रकृति चित्रण और विभिन्न नगरों, देशों और भुवनों (स्वर्गादि) के वर्णन का विधान होता है।

५—उसका नायक द्विजकुलोत्पन्न, सर्वगुणसम्पन्न, महान् वीर और विजिगीषु, शक्तिमान्, नीतिज्ञ, कुशल राजा होता है।

६—उसमें प्रतिनायक और उसके कुल का भी वर्णन होता है।

७—उसमें अन्त में नायक की ही विजय दिखाई जाती है, प्रतिनायक की नहीं।

८—उसका कोई महदुद्देश्य, जैसे चतुर्वर्गफल की प्राप्ति, होता है, साथ ही उसमें सभी रस भी होते हैं, अर्थात् उसमें रसात्मक और सोद्देश्यता अभिन्न रूप में प्राप्त होती हैं।

९—उत्पाद्य महाकाव्यों में प्रारम्भ में सन्नगरीवर्णन और नायक के वंश की प्रशंसा होती है।

१०—उसमें अलौकिक और अतिप्राकृत तत्व होते है पर मनुष्य-कृत असम्भव या अस्वाभाविक घटनाये नही होतीं।

इन लक्षणों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि रुद्रट ने महाकाव्य के संकीर्ण लक्षणों का नहीं, उसके व्यापक और आवश्यक तत्वो का निर्देश किया है। अतः पौराणिक, ऐतिहासिक, रोमांचक, नाटकीय, शास्त्रीय और गीतात्मक सभी शैलियों के महाकाव्यों पर यह परिभाषा लागू हो सकती है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे रुद्रट ने भामह की परिभाषा की व्याख्या की है और दण्डी के बताये लक्षणों को भी उसमे समेट लिया है। यह भी कहा जा सकता है कि दण्डी की शैली का अनुसरण करते हुए भी रुद्रट ने महाकाव्य को केवल अलंकृत महाकाव्य नहीं माना है, न उसको रूढ़ियाँ ही स्थिर की हैं जैसे मंगलाचरण, वस्तु-निर्देश आदि का विधान, आठ से अधिक सर्गों का नियम, प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द या सभी सर्गों में भिन्न छन्दों के प्रयोग का नियम आदि। महदुद्देश्य, महच्चरित्र, महती घटना और समग्रजीवन का रसात्मक चित्रण, महाकाव्य के बस ये ही चार प्रधान लक्षण होते हैं और रुद्रट ने उसका निर्देश कर के अन्य आचार्यों से अपने को भिन्न कर लिया है। उन्होंने अरस्तू की तरह महाकाव्य में सम्भावना और कल्पना को संयत रखने की भी सलाह दी है और कहा है कि यद्यपि महाकाव्य में अलौकिक और अतिप्राकृत तत्वों का योग हो सकता है पर उसमें मानव की सीमित शक्ति का ध्यान रखकर उसमें ऐसे असम्भव काम नहीं कराना चाहिये जैसे पहाड़-समुद्र और समस्त पृथ्वी का अपनी ही शक्ति के सहारे लंघन और चंक्रमण। यदि ऐसा करना ही हो तो देवता, गन्धर्व, किन्नर विद्याधरादि की सहायता द्वारा कराना चाहिये[1]। इस तरह रुद्रट की महाकाव्य सम्बन्धी परिभाषा अन्य आचार्यों की अपेक्षा अधिक व्यापक और स्वतन्त्र चिन्ता पर आधारित प्रतीत होती है।

हेमचन्द्र—रुद्रट के बाद के दूसरे महान् आचार्य बारहवीं शताब्दी के हेमचन्द्र सूरि है जिन्होंने महाकाव्य के सम्बन्ध में विचार करते समय प्राकृत-अपभ्रंश के महाकाव्यों को भी ध्यान में रखा है। उन्होंने 'काव्यानुशासनम्' में सूत्र रूप में महाकाव्य की यह परिभाषा दी है :—

१—कुलशैलाम्बुनिधीना न ब्रूयाल्लघनं मनुष्येण।
आत्मीयैव शक्त्या सप्तद्वीपानिचंक्रमणम् ॥३७॥
येऽपि तु लंघितवन्तो भरतप्राया कुलाचलाम्बुनिधीन्।
तेषा सुरादिमुख्यैः संगादासन्विमानानि ॥३८॥

रुद्रट—काव्यालंकार षोडशोध्यायः।

पद्यं प्रायःसंस्कृतप्राकृतापभ्रंशग्राम्यभाषानिबद्धभिन्नान्त्यवृत्तसर्गाश्वाससंध्यवस्कन्धकबन्धं सत्संधिशब्दार्थवैचित्र्योपेतं महाकाव्यम् ।

—काव्यानुशासन—आठवाँ अध्याय ।

इस सूत्र की वृत्ति में प्रायः दण्डी द्वारा निर्दिष्ट लक्षणों को ही दुहराया गया है[1] । दण्डी से उनकी परिभाषा में नवीनता यही है कि उन्होंने लक्षणों को शब्द वैचित्र्य, अर्थ-वैचित्र्य और उभयवैचित्र्य में विभाजित कर उभयवैचित्र्य में रसानुरूप संदर्भ, अर्थानुरूप छन्द, समस्तलोकरंजकता आदि का होना भी आवश्यक माना है, पर ये महाकाव्य के ही नहीं, काव्यमात्र के लक्षण हैं। उन्होंने 'देशकाल पात्रचेष्टाकथान्तरानुषंजम्' कहकर महाकाव्य में जीवन के व्यापक अनुभवों और किसी युग के सम्पूर्ण चित्र को उपस्थित करने का भी निर्देश किया है। उनकी परिभाषा की दूसरी बड़ी विशेषता यह है कि वे प्राकृत-अपभ्रंश तथा ग्राम्य-भाषाओं में भी महाकाव्य का होना स्वीकार करते है क्योंकि उस समय तक प्राकृत-अपभ्रंश के कुछ महाकाव्य बहुत प्रसिद्ध हो चुके थे । सर्गबद्धता के सम्बन्ध में उन्होने लिखा है कि संस्कृत में सर्गबन्ध, प्राकृत में आश्वासकबंध, अपभ्रंश में सन्धिबन्ध और ग्राम्यापभ्रंश में अवस्कन्धकबन्ध महाकाव्य होते हैं पर कभी-कभी संस्कृत में अवस्कन्धक नाम से भी सर्ग-विभाजन मिलता है। प्रत्येक सर्ग में एक छन्द हो, अन्त में छन्द बदल जाय और सभी सर्गों में भिन्न भिन्न छन्द हों, इस रूढि को स्वीकार करते हुए भी उन्होंने इसके अपवादों की चर्चा की है और कहा है कि कुछ महाकाव्यों—जैसे रावण-विजय, हरविजय, सेतुबन्ध आदि—में समाप्तिपर्यन्त एक ही छन्द होता है। इस तरह हेमचन्द्र ने महाकाव्य की परिभाषा में कुछ नई सूचनाये देने के अतिरिक्त और कोई

१—छन्दोविशेषरचितं प्रायः संस्कृतादिभाषानिबद्धैर्भिन्नान्त्यवृत्तैर्यथासख्यसर्गादिभिर्निर्मितं सुश्लिष्टमुखप्रतिमुखगर्भविमर्शनिर्वहणसंधिसुन्दरं शब्दार्थवैचित्र्योपेत महाकाव्यम् ।

उभयवैचित्र्य यथा—रसानुरूपसदर्भत्वम्, अर्थानुरूपच्छन्दस्त्वम्, समस्तलोकरजकत्वम्, सदलकारवाक्यत्वम्, देशकालपात्रचेष्टाकथान्तरानुषंजनम्, मार्गद्वयानुवर्तनं च, इति ।

प्रायोग्रहणात्संस्कृतभाषयाप्याश्वासकबन्धो हरिप्रबन्धादौ न दुष्यति । प्रायोग्रहणादेव रावणविजय हरिविजय सेतुबन्धेष्वादितः समाप्तिपर्यन्तमेकमेवच्छन्दो भवतीति । गलितकानि तु तत्र कैरपि विदग्धमानिभिः क्षिप्तानीति तद्विदो भाषन्ते ।

हेमचन्द्र–काव्यानुशासन, आठवाँ अध्याय ।

मौलिकता नहीं दिखाई है । वस्तुतः उनपर संस्कृत महाकाव्यों का ही प्रभाव अधिक दीखता है और प्राकृत-अपभ्रंश के रोमांचक और पौराणिक महाकाव्यों की विशेषताओं को ढूँढ़ने और उनकी व्याख्या करने का प्रयत्न उन्होंने नही किया है, यद्यपि वे यह कार्य आसानी से कर सकते थे क्योंकि वे इन भाषाओं के वैयाकरण और पंडित ही नहीं, उनके साहित्यकार और महाकवि भी थे ।

विश्वनाथ कविराज—संस्कृत के परवर्ती अलंकार-शास्त्रों में विश्वनाथ कविराज के साहित्यदर्पण में जितनी स्पष्टता और व्याख्यात्मकता है उतनी और किसी ग्रन्थ में नहीं। उसमें पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के मतो का समाहार कर लिया गया है पर विशेष रूप से दण्डी के काव्यादर्श की बातो को ही आदर्श मानकर मत निश्चित किये गये हैं। सम्भवतः इसीलिए संस्कृत साहित्य की शिक्षा परम्परा और आलोचना-पद्धति में विश्वनाथ बहुत अधिक उद्धृत होते है । उन्होने महाकाव्य की जो परिभाषा दी है वह दण्डी की परिभाषा का विकसित और परिवर्द्धित रूप है[1] । उनके समय तक संस्कृत में महाकाव्य का अर्थ कालिदास, भारवि, माघ और श्रीहर्ष के आदर्श पर रचित अलंकृत महाकाव्य ही समझा जाने लगा था और चरित्र की महानता, सोद्देश्यता और कथावस्तु की महत्ता आदि गुणों को महाकाव्य का आवश्यक तत्त्व मानने की बात भुला दी गयी थी। यद्यपि

१—सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः ॥३१५॥
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः ।
एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोपि वा ॥३१६॥
श्रृंगारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते ।
अंगानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसंधयः ॥३१७॥
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम् ।
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत् ॥३१८॥
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा ।
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सता च गुणकीर्तनम् ॥३१९॥
एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेन्यवृत्तकैः ।
नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा-अष्टाधिका इह ॥३२०॥
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते ।
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत् ॥३२१॥
संध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः ।

विश्वनाथ कविराज ने प्राकृत-अपभ्रंश के महाकाव्यों की भी चर्चा की है पर केवल इतना कहकर रह गये हैं कि उनमें सर्ग की जगह क्रमशः आश्वास और कुडवक का विधान होता है और प्राकृत में स्कन्ध और गलितक तथा अपभ्रंश में उसके योग्य अन्य विविध प्रकार के छन्दों का प्रयोग होता है। उन्होंने यह भी कहा है कि महत्काव्य में कम से कम आठ सर्ग होने चाहिये और सर्गों का नाम उसमें निबद्ध प्रसंगो के अनुसार भी रखा जाना चाहिये। सर्ग और छन्द सम्बन्धी ये बातें बहुत ही ऊपरी हैं और उन्हें लक्षण रूप में स्वीकार नही किया जा सकता। यही बात प्रारम्भ में आशीर्वचन, मंगलाचरण, वस्तुनिर्देश, सज्जन स्तुति, दुर्जन-निन्दा आदि के बारे में भी है। यह अवश्य है कि संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश के महाकाव्यों में ये बातें रुढ़ि के रूप में स्वीकार कर ली गयी थीं पर यदि कोई स्वतन्त्र विचार और व्यक्तित्व वाला महाकवि उन रूढ़ियों को मानकर नही चलता है, जैसा बहुतो ने किया है और जिनमें से कुछ का उल्लेख हेमचन्द्र ने किया है, तो उसके महाकाव्य को सदोष नहीं कहा जा सकता बल्कि यह उसकी विशेषता ही कही जायगी।

विश्वनाथ कविराज की महाकाव्य सम्बन्धी मान्यता मौलिक नहीं, अनुकृत, ऊपरी और महाकाव्य की रूढ़ियों से अधिक सम्बद्ध है, उसके मूल तत्वों से नहीं। उन्होंने अपनी परिभाषा में दण्डी से जो भिन्न और नयी बातें जोड़ी हैं, वे भी तात्विक नहीं है। वे ये हैं :—

प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः ॥३२२॥
संभोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः।
रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादयः ॥३२३॥
वर्णनीया यथायोग सागोपांगा अमी इह।
कवेर्वृत्तस्य वा नाना नायकस्येतरस्य वा ॥३२४॥
नामास्य, सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु।
अस्मिन्नार्षे पुनः सर्गा भवन्त्याख्यानसंज्ञकाः ॥३२५॥
प्राकृतैर्निर्मिते तस्मिन्सर्गा आश्वाससंज्ञकाः।
छन्दसा स्कन्धकेनैतत्क्वचिद्गलितकैरपि ॥३२६॥
अपभ्रंशनिबद्धेस्मिन्सर्गाः कुडवकाभिधाः।
तथापभ्रंशयोग्यानि च्छन्दासि विविधान्यपि ॥३२७॥
भाषाविभाषानियमात्काव्यं सर्गसमुत्थितम्।
एकार्थप्रवणैः पद्यैः सन्धिसामग्र्यवर्जितम् ॥३२८॥

विश्वनाथ कविराज—साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद।

१—महाकाव्य का नायक सद्वंश क्षत्रिय या देवता होता है पर एक वंश के अनेक राजा या अनेक कुलीन राजा भी एक ही महाकाव्य में नायक के रूप में रखे जा सकते हैं। दण्डी ने इस तरह की वंश-वर्ण-सम्बन्धी कोई शर्त नही रखी है। उन्होंने केवल उसका सदाश्रय, चतुर और उदात्त होना आवश्यक माना है।

२—दण्डी ने 'रसभाव निरन्तरम्' मात्र कहा था। उसे सीमित करके विश्वनाथ ने केवल तीन रसों—शृंगार, वीर और शान्त—में से किसी एक का अंगी होना आवश्यक कर दिया है। यद्यपि इन तीन रसों वाले महाकाव्य ही अधिक मिलते है, फिर भी सीमा बाँधने की कोई आवश्यकता नहीं थी, शान्त और करुण रस प्रधान महाकाव्य भी हैं और हो सकते हैं।

३—दण्डी ने महाकाव्य के सर्गों की संख्या नहीं निर्धारित की थी। विश्वनाथ ने कम से कम आठ सर्गों का होना आवश्यक मान लिया। दण्डी की यह बात कि प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द होना चाहिये, मानते हुए भी उन्होंने यह भी कह दिया है कि कुछ महाकाव्यों में एक ही सर्ग में नाना छन्दों का प्रयोग भी देखा जाता है। यह मान लेने के बाद फिर यह महाकाव्य का लक्षण नही रह जाता।

४—सर्गों की लम्बाई के सम्बन्ध में दण्डी ने इतना ही कहा था कि वे अतिविस्तीर्ण न हों क्योंकि उससे नाटक की सन्धियों की योजना अर्थात् कथानक के संघटन में बाधा पडेगी। विश्वनाथ ने उसमें इतना और जोड़ दिया कि वे बहुत बड़े तो न हों पर बहुत छोटे भी न हों। पर साथ ही उन्होंने अपभ्रंश के काव्य मे सर्ग की जगह कडवक का प्रयोग होना बताया है जबकि हेमचन्द्र ने उसका नाम सन्धि दिया है। कडवक को सर्ग नहीं, पद (स्टैन्जा) कहा जा सकता है, जैसे रामचरितमानस में चौपाइयो के बाद एक दोहा होता है, और सबको मिलाकर एक दोहा ही कहा जाता है।

५—उन्होंने महाभारत को भी महाकाव्य माना है पर वे उसे आर्ष महाकाव्य कहते है अर्थात् उसके आदर्श पर प्राकृत जनों द्वारा महाकाव्य की रचना नही होनी चाहिये। उसमें उन्होंने सर्ग की जगह आख्यान शब्द का प्रयोग होना स्वीकार किया है। पर यदि आख्यान ही सर्ग हैं तो फिर महाभारत के पर्व क्या हैं? उसी तरह रामायण में तो केवल सात ही काण्ड हैं। वह महाकाव्य कैसे हो सकता है? अतः उसके प्रत्येक काण्ड में जो सर्ग हैं उन्हें ही शास्त्रीय महाकाव्यों के सर्ग का रूप मान कर विश्वनाथ के मत से रामायण को महाकाव्य कहा जा सकता है।

६—प्रकृति-चित्रण और जीवन-व्यापार-वर्णन के सम्बन्ध में दण्डी की कही

बातें गिनाने के बाद विश्वनाथ ने जो महत्वपूर्ण बात कही है, वह यह है कि उनके निर्दिष्ट वस्तु-व्यापारों की संख्या को और भी बढ़ाया जा सकता है (मंत्रपुत्रोदयादयः) पर उनका वर्णन यथायोग और सांगोपांग होना चाहिये। पर दण्डी की और उनकी गिनाई बातें ही रूढ़ि रूप में स्वीकार कर ली गयीं और परवर्ती महाकाव्यों का वस्तु-व्यापार-वर्णन उस सूची के बाहर बहुत कम गया है, और जो वर्णन हुआ है वह भी 'यथायोग' नहीं, बलपूर्वक अनावश्यक रूप से महाकाव्य की शर्तें पूरी करने की दृष्टि से हुआ है।

यह हिन्दी साहित्य का दुर्भाग्य रहा है कि यद्यपि उसके अधिकांश मूल्यवान साहित्य का मूल स्रोत प्रायः प्राकृत-अपभ्रंश का साहित्य था पर उसका साहित्यशास्त्र प्रारम्भ से ही संस्कृतसाहित्यशास्त्र का अन्ध-अनुकरण करता रहा है। इसका यह अर्थ नहीं कि हिन्दी साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव पड़ा ही नहीं है, बहुत अधिक पड़ा है; पर उसका सहज विकास संस्कृत की ओर से नहीं प्राकृत-अपभ्रंश की ओर से हुआ है। अतः हिन्दी के काव्य-रूपों का विवेचन प्राकृत-अपभ्रंश के आधार पर विशेष रूप से होना चाहिये, केवल संस्कृत के अलंकार-शास्त्रों के आधार पर नहीं। महाकाव्य की जो परिभाषा संस्कृत के आचार्यों ने दी है वह मूलतः संस्कृत के महाकाव्यों को देख कर ही बनाई गयी है। यह दूसरी बात है कि किसी-किसी ने प्राकृत-अपभ्रंश के महाकाव्यों की कुछ ऊपरी बातों की भी चर्चा कर दी है। केवल रुद्रट ने महाकाव्य की ऐसी व्यापक परिभाषा दी है जो सभी प्रकार के और सभी साहित्यों के महाकाव्यों के प्रमुख तथा अनिवार्य लक्षणों का निर्देश करती है। प्राकृत-अपभ्रंश के महाकाव्यों के रूप-तत्त्व की विवेचना अगले अध्याय में की जायगी। महाकाव्य सम्बन्धी प्राचीन भारतीय मान्यताओं को जिन्हें विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न रूपों में स्वीकार किया और विभिन्न शब्दावली में व्यक्त किया है, एक सूत्र में पिरो कर और एक साथ रख कर देखने और उनके अभिप्राय का पता लगाने पर महाकाव्य के ये प्रमुख तत्त्व दिखाई पड़ते हैं :—

१—कथानक :—

(क) भारतीय मान्यता के अनुसार कथानक असंक्षिप्त अर्थात् न बहुत लम्बा और न बहुत छोटा होना चाहिये।

(ख) वह सर्गबद्ध होना चाहिए जिससे नाटक की सन्धियों की पद्धति सरलता पूर्वक अपनाई जा सके। नाटक की सन्धियों की योजना का उद्देश्य यह है कि महाकाव्य का कथानक इतिहास-पुराण की तरह बिखरा हुआ और असंयमित न रहे जिससे समन्वित प्रभाव उत्पन्न हो सके।

(ग) उसमें कोई महती घटना होनी चाहिये जिस पर पूरी कथा आधारित हो। इसी को नायक का अभ्युदय कहा गया है। उसी प्रधान घटना की ओर अन्य अप्रधान घटनाओं का प्रवाह होना चाहिये। इस दशा में महाकाव्य में कार्यों या सक्रियता (ऐक्शन) की प्रधानता होनी चाहिये। रुद्रट को छोड़ अन्य लोगों ने इधर अधिक ध्यान नही दिया है।

(घ) अवान्तर कथायें—मूल कथा के अतिरिक्त विकसनशील महाकाव्यों तथा कुछ अलंकृत महाकाव्यों में अनेक अवान्तर कथायें भी होती है। पर रुद्रट और हेमचन्द्र को छोड़कर अन्य किसी आचार्य ने अवान्तर कथाओं का होना आवश्यक नहीं माना है। अवान्तर कथायें महाकाव्य की जीवन्तता और लोक-सम्पृक्तता का संकेत करती हैं, क्योंकि कथा के भीतर कथा रखने की प्रवृत्ति विशेष रूप से लोककथाओं, लोकगाथाओ और पुराणों में देखी जाती हैं। प्राकृत-अपभ्रंश और हिन्दी के अधिकांश महाकाव्यों में लम्बी-लम्बी अवान्तर कथायें मिलती है, पर इसे लक्षण रूप में नहीं माना जा सकता।

(ङ) कथा उत्पाद्य, अनुत्पाद्य और मिश्र, तीन प्रकार की हो सकती है, पर अधिकतर उसे अनुत्पाद्य और मिश्र अर्थात् इतिहास-पुराण, निजन्धरी आख्यान और लोककथा–लोकगाथा पर आधारित होना चाहिये ताकि पाठको-श्रोताओं का चित्त घटनाचक्र में न उलझ कर वर्णन-सौन्दर्य और रस-परिपाक का आनन्द सहजता से प्राप्त कर सके। उत्पाद्य कथानक में कथा-प्रवाह ही प्रधान हो जाता है और कलात्मक-सौन्दर्य गौण। इसीलिए रुद्रट को छोड़कर अन्य आचार्यों ने इसे नहीं स्वीकार किया है।

२—चरित्र :—

(क) भारतीय दृष्टि से महाकाव्य का दूसरा प्रधान तत्त्व नायक है। उसे धीरोदात्त, सद्वंशोत्पन्न अथवा क्षत्रिय या देवता होना चाहिये। रुद्रट को छोड़ अन्य आचार्यों ने नायक की महानता, वीरता, नीतिकुशलता आदि गुणों की ओर अधिक ध्यान नही दिया है। रुद्रट के अनुसार नायक त्रिवर्णों में से किसी वर्ण का और दण्डी के अनुसार कोई भी धीरोदात्त चतुर व्यक्ति हो सकता है। विश्वनाथ के अनुसार एक वंश के कई राजा या उच्च कुलों में उत्पन्न अनेक राजा महाकाव्य के नायक हो सकते हैं। पर सच पूछा जाय तो अनेक नायकों वाली कथा में वह अन्विति नहीं रह सकती जो एक नायक वाली कथा में होती है। ऐसे महाकाव्य प्रशस्तिमूलक और ऐतिहासिक-धार्मिक होते हैं और उन्हें कथानक की दृष्टि से उच्च कोटि का महाकाव्य नहीं माना जा सकता।

(ख) नायक के बाद प्रधान भूमिका प्रतिनायक की होती है। उसके बिना कोई भी संघर्षमूलक महती घटना नहीं घट सकती। किन्तु रुद्रट को छोड़ अन्य किसी आचार्य ने उसकी चर्चा नहीं की है। रुद्रट का कहना है कि प्रतिनायक को भी नायक के समान ही बल-गुण वाला होना चाहिये और उसके कुल का भी वर्णन होना चाहिये।

(ग) नायक-प्रतिनायक के अतिरिक्त भी महाकाव्य में न जाने कितने पात्र होते हैं, पर भारतीय आचार्यों ने उनके सम्बन्ध में बिलकुल नहीं अथवा बहुत कम विचार किया है। अधिक से अधिक इतना ही कहा है कि मंत्र-दूत प्रयाण की चर्चा होनी चाहिये अर्थात् मंत्री, सहायक, दूत, सेना, सेनापति, शासक, रानियाँ, दास, दासियाँ इन सब की महाकाव्य मे आवश्यकता होती है। पर इन पात्रों को कैसा होना चाहिये, इस सम्बन्ध में भारतीय साहित्य-शास्त्र मौन हैं। केवल रुद्रट ने राजा, वीरों, मंत्रियों और शत्रुओं के स्वभाव के सम्बन्ध में कुछ चर्चा की है। नायिकाओं को चर्चा तो किसी ने नहीं की है।

३—वस्तु-व्यापार और परिस्थिति वर्णन :—भारतीय आचार्यों ने महाकाव्य में वस्तु व्यापार वर्णन पर बहुत अधिक जोर दिया है। अलंकृत महाकाव्य का यही प्रधान लक्षण है कि उसमें घटना प्रवाह चाहे क्षीण हो पर अलकृत वर्णनों की प्रधानता होनी चाहिये। इसीलिए आचार्यों ने विभिन्न प्रकार की वस्तुओं, परिस्थितियों और व्यापारों का वर्णन आवश्यक माना है; वे ये हैं :—

(क) प्रकृति-चित्रण—संध्या, प्रभात, मध्याह्न, रात्रि, वन, सूर्य-चन्द्र, नदी, पर्वत, मरु, समुद्र, द्वीप, द्वीपान्तर आदि प्राकृतिक वस्तुओं का यथायोग सांगोपांग और अलंकृत वर्णन।

(ख) जीवन के विभिन्न व्यापारो और परिस्थितियों का चित्रण—जैसे प्रेम, विवाह, मिलन, कुमारोदय, संगीत-समाज, मधुपान-गोष्ठी, राजकाज, मंत्रणा, दूत-प्रेषण, यज्ञ, सैनिक-अभियान, स्कन्धावार, व्यूहरचना, नगरावरोध, युद्ध, नायक की विजय आदि। इस सम्बन्ध में यह पहले ही कहा जा चुका है कि रुद्रट को छोड़ अन्य आचार्यों ने जीवन के समग्र रूप को महाकाव्य में चित्रित करने पर अधिक बल नहीं दिया है। उन्होंने कुछ प्रधान व्यापार ही गिना दिये हैं जो अलंकृत महाकाव्यों में पाये जाते हैं। रुद्रट ने जीवन के इतने अधिक व्यापारों और अवस्थाओं तथा देश-काल आदि की गणना की है कि उन सब को अलंकृत महाकाव्यों में सांगोपांग रूप में नहीं रखा जा सकता। अतः यह स्पष्ट है कि रुद्रट की परिभाषा रामायण-महाभारत और प्राकृत-अपभ्रंश के

चरितकाव्यों को देखकर बनाई गई है। समग्र युग-जीवन का चित्रण इतने अधिक व्यापारों और परिस्थितियों को ग्रहण किये बिना सम्भव नहीं है।

४—रस और भाव व्यंजना :—भारतीय आचार्यों के मत के अनुसार महाकाव्य में रस की योजना अवश्य होनी चाहिये। उसमें सभी रस होने चाहिएँ पर शृंगार वीर-शान्त में से कोई प्रधान होना चाहिए। रस की उत्पत्ति पात्रों और परिस्थितियों के सम्पर्क, संघर्ष और क्रिया-प्रतिक्रिया से होती है। अतः किस परिस्थिति में किसी पात्र के मन में क्या प्रतिक्रिया होती है, उसकी मानसिक अवस्थाएँ किस स्थिति में कैसी होती हैं, इसका चित्रण आवश्यक हो जाता है। आचार्यों ने इस सम्बन्ध में बस इतना ही कहा है कि महाकाव्य में रस होना चाहिये अथवा संभोग-विप्रलम्भ, युद्ध आदि का चित्रण होना चाहिये। उन्होंने उसका विश्लेषण नहीं किया है। सम्भवतः इसलिए कि अलंकार-शास्त्रों में रस-विवेचना पर अलग से बहुत अधिक विचार किया गया है और महाकाव्य के प्रसग में उसे दुहराने की आवश्यकता नहीं समझी गयी। लक्षण-ग्रन्थों को देखकर महाकाव्य लिखने वालों ने आचार्यों के इस अभिप्राय को नहीं समझा और वे गिनाये लक्षणों का यंत्रवत् प्रयोग करने लगे। रस योजना का अभिप्राय पात्र और परिस्थिति के चित्रण के साथ मानसिक अवस्थाओं का सन्तुलित वर्णन करना भी है। वाल्मीकि और कालिदास में घटना प्रवाह, वस्तुव्यापार-योजना और भाव-व्यंजना के समन्वय की अद्भुत शक्ति थी। पर परवर्ती कवियों ने लक्षण ग्रन्थों के अत्यधिक प्रभाव के कारण उनका असन्तुलित प्रयोग किया। नाटक के समान महाकाव्यों में भी भावव्यंजना प्रधान तत्त्व है, पर यहाँ उसकी अभिव्यक्ति संवाद रूप में नहीं, कवि द्वारा वर्णन रूप में भी होती है। भाव व्यंजना के प्रकार और शैली के सम्बन्ध में भारतीय आलंकारिकों ने महाकाव्य पर विचार करते समय अधिक कुछ नहीं कहा है।

५—अलौकिक और अतिप्राकृत तत्त्व—मानव मात्र के हृदय में प्रतिष्ठित धार्मिक वृत्तियों, पौराणिक और निजन्धरी विश्वासों और आश्चर्य तथा औत्सुक्य की सहज-प्रवृत्ति के कारण सभी देशों के प्राचीन महाकाव्यों में अलौकिक और अतिप्राकृत तत्त्व पाये जाते हैं। भारतीय महाकाव्यों में भी उनकी कमी नहीं है। पर आलंकारिकों ने उनके सम्बन्ध में बहुत कम विचार किया है। विश्वनाथ ने इस सम्बन्ध में इतना ही कहा है कि महाकाव्य में देवता भी नायक हो सकते हैं और उसमें मुनि और स्वर्ग का भी वर्णन होना चाहिए। देवता तो अलौकिक होते ही हैं, मुनि भी अलौकिक शक्ति वाले होते हैं और स्वर्ग भी अलौकिक या काल्पनिक ही होता है। रुद्रट ने महाकाव्य में अतिप्राकृत और अलौकिक तत्त्वों

का होना तो आवश्यक माना है पर यह भी कहा है कि मानव ऐसे अलौकिक या अतिप्राकृत कार्य अपनी शक्ति से नहीं कर सकते। अतः पर्वत-समुद्र आदि के लंघन और सारी पृथ्वी का भ्रमण वह अपनी शक्ति से नही कर सकता। देवता, किन्नर, गन्धर्व, यक्ष, विद्याधर, अप्सरा आदि अलौकिक और अतिप्राकृत कार्य आसानी से करते हैं। अतः महाकाव्य में ये कार्य उन्हीं से कराने चाहिये और यदि मानव से कराना ही हो तो देवतादिकों की सहायता से कराना चाहिए। इससे भी मालूम होता है कि रुद्रट ने महाकाव्य की परिभाषा निश्चित करते समय रामायण-महाभारत और रोमांचक कथा-काव्यों को ध्यान में रखा था।

६—शैली—महाकाव्य की शैली के कुछ अवयवों के सम्बन्ध में तो भारतीय आलंकारिकों ने पर्याप्त विचार किया है और कुछ को बिलकुल छोड़ दिया है। महाकाव्य की शैली का मूल तत्त्व उसकी गरिमा या गम्भीरता है जो कथावस्तु और पात्रों की महत्ता पर और उससे भी अधिक कवि की महाप्राणता पर निर्भर करती है। पर इस तत्व पर आलंकारिकों ने विचार नहीं किया है। शैली के जिन बाह्य तत्वों पर उन्होंने विचार किया है वे ये हैं :—

(क) महाकाव्य के सर्ग न बहुत बडे हों न बहुत छोटे। विश्वनाथ को छोड़ अन्य आचार्यों ने सर्गों की संख्या नहीं निर्धारित की है। सर्गों का नाम विश्वनाथ के अनुसार उसमें वर्णित कथा के आधार पर रखना चाहिये। पर अधिकांश महाकाव्यों में सर्गों की संख्या ही मिलती है नाम नहीं मिलता, अतः यह लक्षण नही हो सकता। संस्कृत, प्राकृत, और अपभ्रंश में उनके नाम क्रमशः सर्ग, आश्वासक, और सन्धि (विश्वनाथ के अनुसार सन्धि नहीं कडवक) होते हैं। पर यह भी बहुत ऊपरी बात है। सर्ग के अन्त में दूसरे सर्ग की कथा की सूचना देने की भी रूढ़ि थी जिसे विश्वनाथ ने लक्षण मान लिया है।

(ख) विश्वनाथ के अनुसार महाकाव्य का नामकरण कवि अथवा कथावस्तु (वृत्त) या चरितनायक के नाम पर होना चाहिये। पर यह प्रबन्ध महाकवियों को सदा मान्य कैसे हो सकता है ? देश, काल, प्रधान भाव आदि के नाम पर भी तो महाकाव्यों का नामकरण हुआ है और हो सकता है। अतः नामकरण के सम्बन्ध में कोई लक्षण नहीं निर्धारित किया जा सकता।

(ग) महाकाव्य का आदि कैसा हो और अन्त कैसे किया जाय, इस बारे में भी कवि को पूरी छूट होनी चाहिये। संस्कृत अलंकार-ग्रन्थों में आशीर्वचन,

मंगलाचरण, इष्ट देवता को नमस्कार, वस्तु-निर्देश या कथा की प्रस्तावना का विधान दिया गया है। पर संस्कृत के ही अनेक महाकाव्यों में ये बातें नहीं पाई जातीं जैसे कुमारसंभव, शिशुपालवध आदि। अन्त के संबंध में रुद्रट ने लिखा है कि नायक का अभ्युदय अन्त में होना चाहिये। ऐसा होना उचित भी है क्योंकि वही कथा का चरमोत्कर्ष होता है और उसके बाद कुछ भी लिखने या वर्णन करने से महाकाव्य की प्रभावान्विति में बाधा पड़ेगी। पर हेमचन्द्र प्राकृत-अपभ्रंश के महाकाव्यों के आधार पर अन्त में उपसंहारात्मक वर्णन आवश्यक मानते है। उनके अनुसार उसमें कवि को अपना अभिप्राय, अपना और अपने इष्ट का नाम और मंगलवाची वाक्यों का उपयोग करना चाहिये (स्वाभिप्रायस्वनामेष्टनाममंगलांकित समाप्तित्वम्)।

(घ) परवर्ती महाकाव्यो की एक प्रधान रूढि यह हो गयी थी कि उनमें आदि में ही प्रस्तावना के रूप में सज्जन-प्रशंसा, दुर्जन-निन्दा, कवियों की प्रशंसा, नायक के वंश की प्रशंसा, अपना प्रयोजन आदि का विधान रहता था। इस सम्बन्ध में भामह और दण्डी ने कोई लक्षण नहीं बनाया जो उचित ही था। पर बाद के महाकाव्यों को देखकर रुद्रट, हेमचन्द्र और विश्वनाथ ने ये लक्षण दिये हैं :—

रुद्रट—आदि में सन्नगरी वर्णन, नायक-वंश-प्रशंसा होनी चाहिये।

'तत्रोत्पाद्ये पूर्वं सन्नगरीवर्णनं महाकाव्ये।
कुर्वीत तदनुतस्यां नायक वंश प्रशंसां च ॥'

हेमचन्द्र—आशीर्वचन, नमस्कार, वस्तु निर्देश, उपक्रम के साथ ही वक्तव्य अर्थ का प्रतिज्ञान, उसके प्रयोजन का प्रकाशन, कवि-प्रशंसा, सज्जन-दुर्जन का स्वभाव-चित्रण आदि होना चाहिये।

'आशीर्नमस्कारवस्तुनिर्देशोपक्रमत्वम्, वक्तव्यार्थतत्प्रतिज्ञानतत्प्रयोजनोपन्यास कविप्रशंसासुजनदुर्जनस्वरूपवदादिवाक्यत्वम्'

विश्वनाथ—इन्होंने केवल खल-निन्दा और अच्छे आदमियों का गुणकीर्तन करने की बात कही है, अन्य की चर्चा नहीं की है।

'क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम्'

संस्कृत से अधिक प्राकृत और अपभ्रंश के प्रबन्ध काव्यों में प्रस्तावना और उपसंहार सम्बन्धी इन रूढ़ियों का पालन हुआ है।

(ङ) छन्द—छन्द के सम्बन्ध में भामह और रुद्रट ने कुछ नहीं कहा है। पर दण्डी ने जो लक्षण लिख दिया, बाद के सभी आचार्यों ने उसे ही दुहराया

चाहिए अर्थात् उसमें शिष्ट नागर जनों की भाषा प्रयुक्त होनी चाहिये। हेमचन्द्र ने महाकाव्य में 'समस्तलोकरंजक' गुण आवश्यक माना है जिसका अर्थ यह है कि उसकी भाषा सरल और सर्वबोधगम्य अवश्य होनी चाहिए, तभी उससे सबका मनोरंजन हो सकेगा। महाभारत-रामायण और किसी सीमा तक कालिदास के महाकाव्यों में भाषा का यह गुण दिखाई पड़ता है। पर बाद के महाकवियों ने बहुत ही क्लिष्ट, समास-बहुला और अतिशय अलंकृत भाषा का प्रयोग किया है। कुछ ने तो क्लिष्ट भाषा के प्रयोगों द्वारा द्वयर्थक काव्यों की और शास्त्र-ज्ञान दिखाने के लिए शास्त्र-काव्यों की भी रचना कर डाली है। महाकाव्य की गरिमामयी उदात्त शैली के अनुरूप उसकी भाषा भी गम्भीर अवश्य होनी चाहिए। पर गम्भीरता का अर्थ अतिशय अलंकृति या भाषा-दुरूहता नहीं है, क्योंकि इससे पाठक का मन भाषा की समस्यायें सुलझाने में ही उलझ जाता है। महाकाव्यों पर विचार करते समय आचार्यों ने इस प्रश्न पर विचार नहीं किया है।

(ज) रूप-संघटन—महाकाव्य का रूप अन्य काव्य-रूपों से भिन्न है, पर किससे कितना भिन्न है या कहाँ से उसने क्या तत्त्व लिया है, इस संबंध में आलंकारिकों ने बहुत कम विचार किया है। इतना तो सब ने कहा है कि उसमें नाटक की पाँचों संधियाँ होती हैं और नाटक के अंक-विभाजन की तरह इसमें भी सर्ग-विभाजन होता है। पर नाटक के मूल तत्त्वों से महाकाव्य के मूल तत्त्वों का क्या साम्य या वैषम्य है, इस सम्बन्ध में विचार नहीं किया गया है। महाकाव्य के रूपगठन में नाटक, गीतिकाव्य, कथा-आख्यायिका और इतिहास पुराण, सबसे कुछ न कुछ तत्त्व ग्रहण किये गये हैं। भारतीय आचार्यों ने नाटक की पंच सन्धियों को ग्रहण करना इसलिए आवश्यक माना है कि उसके कथानक में विश्रृंखलता न रहे और वह इतिहास पुराण से भिन्न शैली का हो सके तथा उनसे अधिक समन्वित प्रभाव उत्पन्न कर सके। इतिहास-पुराण के कथावस्तु लेने पर भी उसमें बहुत सी बातें कवि-कल्पित होती हैं जिसके संबंध में अरस्तू की तरह ही रुद्रट ने भी कहा है:—

पंजरामितिहासादिप्रसिद्धमखिलं तदेकदेशं वा।
परिपूरयेत्स्ववाचा यत्र कविस्ते त्वनुत्पाद्याः॥

काव्यालंकार—अ० १६, श्लोक ४।

अन्य आचार्य 'इतिहासकथोद्भूतम्' या 'इतिहासोद्भवम्' कहकर ही सन्तुष्ट हो गये पर रुद्रट ने यह भी बताया कि इतिहास, पुराण, कथा आदि से गृहीत कथानक से उसका कथा-पंजर ही लिया जा सकता है, शेष बातें तो कवि अपनी कल्पना और वाणी से, रक्त-मांस की तरह, उस कथा-पंजर में भर कर महाकाव्य के सुगठित शरीर का निर्माण करेगा और ऐसा कथानक भी अनुत्पाद्य ही कहा जायगा। रुद्रट ने लिखा है कि महाकाव्य में पूर्णतया उत्पाद्य या कल्पित कथानक भी होता है जिसे अन्य आचार्यों ने स्वीकार नहीं किया। रुद्रट के इस लक्षण को मान लेने पर महाकाव्य-शैली में निर्मित अनेक सर्गबद्ध पद्यात्मक कथा-आख्यायिकाओं को भी महाकाव्य माना जा सकता है। प्राकृत-अपभ्रंश के बहुत से प्रबन्धकाव्य इस प्रकार के हैं जैसे 'भविसयत्तकहा' 'करकण्ड चरिउ' आदि। इसे मानने पर यह भी मानना होगा कि महाकाव्य के रूपगठन में रोमांचक कथा-आख्यायिका के अनेक तत्त्वों का सम्मिश्रण हुआ है। उसी तरह गीतिकाव्य का प्रधान गुण कवि द्वारा विचारों और भावों की व्याख्या करना है अर्थात् यह विषयिप्रधान काव्य-रूप है। बाद के महाकाव्यों में यह बात बहुत अधिक दिखाई पड़ती है। इनमें कथा प्रवाह तो क्षीण होता है, कवि के विचारो और भावों की अभिव्यक्ति अधिक होती है। महाकाव्य ने गीतिकाव्य के इसी तत्त्व को ग्रहण किया है। गीतिकाव्य के छन्द गेय होते हैं और महाकाव्यों में भी गेयता होती है। शायद इसीलिये दण्डी ने उनमें 'श्राव्य' छन्दों का प्रयोग करने की सलाह की है। भारतीय आलंकारिकों ने इस सम्बन्ध में विशेष विचार नहीं किया है।

७—उद्देश्य :—महाकाव्य का कोई उद्देश्य होता है या नहीं, और होता है तो वह क्या है, इस सम्बन्ध में आचार्यों ने स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहा है, पर प्रकारान्तर से उन्होंने जो बातें कही हैं उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि महाकाव्य में कोई न कोई महान् उद्देश्य रहना चाहिये। स्पष्ट शब्दों में उन्होंने इतना ही कहा है कि महाकाव्य का लक्ष्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन फलों की प्राप्ति है। दण्डी, रुद्रट और हेमचन्द्र सभी पुरुषार्थों को लक्ष्य मानते हैं पर विश्वनाथ किसी एक को। रुद्रट ने तो स्पष्ट शब्दों में कहा है कि लघु प्रबन्धकाव्य (खण्ड काव्य) में कोई एक पुरुषार्थ लक्ष्य होता है और महाकाव्य का उद्देश्य सभी पुरुषार्थों की प्राप्ति है[1]। यदि चतुर्वर्ग फल की प्राप्ति ही लक्ष्य है तो फिर रस

१—दण्डी—चतुर्वर्गफलायत्तं चतुरोदात्त नायकं—काव्यादर्श, १-१५।

हेमचन्द्र—चतुर्वर्गफलोपायत्वम्,.........काव्यानुशासन, आठवाँ अध्याय

अर्थवैचित्र्यम्—

का क्या स्वरूप होगा, क्योंकि बहुत से लोग तो महाकाव्य का उद्देश्य रस-निष्पत्ति ही मानते हैं। सभी आचार्यों ने महाकाव्य में रसों का होना आवश्यक माना है। इस सम्बन्ध में रुद्रट और विश्वनाथ में मत-वैषम्य है। रुद्रट सभी रसों का होना और विश्वनाथ शृंगार, वीर, शान्त में से किसी एक का अंगी और अन्य का अंग रूप में होना आवश्यक मानते हैं[1]। महाकाव्यों में रसों की जो भी स्थिति हो, उन्हें अपने आप में लक्ष्य नहीं माना जा सकता। महाकाव्य में रस किसी अन्य महान उद्देश्य का साधन ही होता है। उदाहरण के लिए यदि धर्म की सिद्धि या प्रचार ही किसी महाकाव्य का लक्ष्य हो तो उसके लिए भी उपदेश या कीर्तन से काम नहीं चल सकता, रसानुभूति उत्पन्न करना ही उसका सर्वोत्तम उपाय हो सकता है। प्रबन्धकाव्यों या नाटकों में उद्देश्य अधिकतर अप्रत्यक्ष और छिपा हुआ रहता है जो प्रभावान्विति के रूप में या रसोद्रेक के बाद के लोकचित्त के परिष्कार के रूप में प्रकट होता है। अतः भारतीय दृष्टि से महाकाव्य का उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति ही है, रसानुभूति, मनोरंजन आदि नहीं।

८—**प्राचीन ज्ञान-वर्णन, पाण्डित्य-प्रदर्शन और वस्तु-विवरण**:-संस्कृत के अलंकारशास्त्रों में वस्तु-व्यापार वर्णन के सम्बन्ध में जो विषय गिनाये गये हैं अनेक महाकाव्यों में उनका बहुत दुरुपयोग भी हुआ है। कुछ में प्रकृति-चित्रण के प्रसंग में प्राकृतिक वस्तुओं की तालिका तक प्रस्तुत कर दी गयी है। पर ऐसा परवर्ती कवियों ने ही किया है क्योंकि उनमें पांडित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति अधिक थी। यह प्रवृत्ति प्राकृत-अपभ्रंश से होते हुए हिंदी में भी आयी जिसके फलस्वरूप रासो, पद्मावत, रामचन्द्रिका और आधुनिक प्रबन्धकाव्य-प्रियप्रवास-तक में घोड़ों की विविध जातियों, भोजन के विविध प्रकारों, नाना प्रकार के फूलों और पेड़पौधों के नामों की लम्बी सूची दी गयी है। सूची उपस्थित करने की यह प्रवृत्ति यूरोपीय महाकाव्यों में भी मिलती है। यह विवरण कहीं-कहीं

विश्वनाथ—चत्वारस्तस्य वर्गा स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत् ॥

साहित्यदर्पण, ६–३१८।

रुद्रट—तत्र महान्तो येषु च विततेष्वभिधीयते चतुर्वर्गः।

× × ×

ते लघवो विज्ञेया येष्वन्यतमो भवेच्चतुर्वर्गात्।

काव्यालंकार—सोलहवाँ अध्याय, ५–६।

१—रुद्रट—सर्वे रसाःक्रियन्ते काव्यस्थानानि सर्वाणि।

काव्यालंकार, १६–५।

इतना अधिक हो जाता है कि कथा या घटना से उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं रह जाता। विकसनशील महाकाव्यों, विशेषकर महाभारत, में तो सभी विषयों जैसे दर्शन, औपनिषदिक ज्ञान, धर्मशास्त्र, प्राचीन इतिहास-पुराण आदि की जानकारी प्रकट करने के लिए लम्बे-लम्बे अध्याय जोड़ दिये गये हैं। इस अनपेक्षित पांडित्य-प्रदर्शन से महाकाव्य की कलात्मकता में बाधा उपस्थित होती है। सम्भवतः इसीलिए भामह ने कहा था कि महाकाव्य को व्याख्या या विवरण द्वारा इतिहास-पुराण के समान बढाना नहीं चाहिए। रुद्रट ने भी स्पष्ट रूप से कहा है कि वस्तु-व्यापार का वर्णन प्रसंगानुसार ही होना चाहिये। विश्वनाथ के समय तक संस्कृत महाकाव्यों के साथ ही प्राकृत-अपभ्रंश के महाकाव्यों में भी वस्तु-व्यापार-वर्णन में पाण्डित्य प्रदर्शित करने और प्राचीन ज्ञान और धार्मिक उपदेश की बातें लिखने की प्रवृत्ति अधिक हो गयी थी। महाभारत में तो वह पहले से ही थी। इन सबको देखकर ही विश्वनाथ को लिखना पड़ा कि इनका सांगोपांग वर्णन करना अर्थात् पूर्ण विवरण उपस्थित करना चाहिये[1]। जिन कवियों ने विश्वनाथ को नहीं पढ़ा था उनमें भी इस प्रवृत्ति की अधिकता यह सूचित करती है कि लोक महाकाव्यों में भी यह एक रूढ़ि सी थी। जायसी ने शतरंज, खेलकूद, नाच, घोड़ा, सेना, भोजन आदि विविध प्रकार की वस्तुओं और योग, दर्शन, धर्म आदि विविध सिद्धान्तों का लम्बा विवरण दिया है। तुलसी में भी इस तरह की बहुत सी विवरणात्मक बातें मिलती हैं जिनसे उनके पाण्डित्य या दार्शनिक ज्ञान का परिचय मिलता है। प्राचीन भारतीय आलंकारिक आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट महाकाव्य के लक्षणों और उसके तत्वों के सम्बन्ध में विचार कर लेने के बाद महाकाव्य सम्बन्धी पाश्चात्य मान्यताओं पर भी विचार कर लेना चाहिये ताकि सार्वभौम लक्षणों का निर्धारण किया जा सके।

पाश्चात्य मत :—

यूरोपीय देशों में भी भारत की तरह महाकाव्य के विकास की कई अवस्थायें दिखाई पड़ती हैं। वहाँ पहली अवस्था अर्थात् प्रारम्भिक वीरयुग के महाकाव्य

विश्वनाथ—शृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते ।
अंगानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसंधयः ॥ साहित्यदर्पण, ६-३१६ ।

१.—वर्णनीया यथायोगं सांगोपांगा अमी इह ।
साहित्य दर्पण ६-३२४ ।

होमर के इलियड और ओडेसी हैं जो करीब सात सौ वर्ष ईसा पूर्व के माने जाते हैं। उन्हींके अनुकरण पर, किन्तु अलकृत शैली में, वर्जिल ने ईसा पूर्व पहली शताब्दी में 'इनीड' नामक महाकाव्य लिखा जो अत्यधिक संस्कृत और नियमबद्ध रोमन सभ्यता का प्रतीक माना जाता है। रोमन सभ्यता का प्रभाव सारे यूरोप पर जब तक रहा, इसी प्रकार के अलंकृत और शास्त्रीय महाकाव्यो की रचना होती रही। किन्तु उसी के साथ-साथ विशेषकर मध्ययुग के अन्तिम काल में जो सामंती वीरयुग का काल था, लोक-महाकाव्यों का भी विकास होता रहा और दरबारी कवियों द्वारा रोमांचक महाकाव्य भी लिखे जाते रहे। विदेशी बर्बर आक्रमणों के बाद रोमन साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया और तब यूरोप के सभी देशों में राष्ट्रीयता और पुनर्जागरण (रेनेसाँ) का काल शुरू हुआ जिसमें रोमानी प्रवृत्तियों के साथ ही ईसाई नैतिकता की भी प्रधानता थी। अतः इस काल में रोमांटिक और नैतिकतायुक्त, शास्त्रीय और रूपकात्मक महाकाव्यों की रचना साथ-साथ हुई। किसी-किसी महाकाव्य में तो इन विरोधी तत्वों का अद्भुत सम्मिश्रण दिखाई पड़ता है, जैसे दान्ते के 'डिवाइना कामेडिया' में। धीरे-धीरे नैतिकता और बौद्धिकता से युक्त शास्त्रीय नियमों का बन्धन इतना कड़ा हो गया कि उसके प्रतिक्रियास्वरूप सारे यूरोप में रोमानी प्रवृत्तियों ने विद्रोह किया और अठारहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध के बाद से शास्त्रीय नियमों और पुरानी नैतिकता की अवहेलना करके प्राचीन यूनानी सर्ववाद से प्रभावित रोमांचक काव्यों की रचना होने लगी। इस तरह यूरोपीय महाकाव्यो के विकास की पहली अवस्था वीर-भावना की, दूसरी शास्त्रीय, धार्मिक और नैतिक भावना की, तीसरी रोमांचक भावना की और चौथी आधुनिक स्वच्छन्दतावादी भावना की है। पहली अवस्था का महाकवि होमर, दूसरी के वर्जिल, दान्ते, कैमास, मिल्टन आदि, तीसरी के स्पेन्सर, एरिआस्टो, टैसो आदि और चौथी के गेटे, टेनिसन, ब्राउनिंग, विक्टर ह्यूगो, हार्डी आदि हैं। सभी विकसनशील काव्य या तो यूनान के प्रारम्भिक युग में विकसित हुए या यूरोप के अन्य देशों में मध्ययुगीन सामन्ती वीरकाल में, जो बारहवी तेरहवीं शताब्दी तक माना जाता है। वे अलंकृत महाकाव्य जो रोमन साम्राज्य के वैभव-काल में लिखे गये, शास्त्रीय महाकाव्य कहलाते हैं। बाद में सामन्ती वीरयुग में उस शैली की गम्भीरता की प्रतिक्रिया में रोमांचक महाकाव्यों का प्रचलन हुआ। सारे यूरोप में, विशेष रूपसे इटली में, पुनर्जागरण-काल तक ऐसे आश्चर्य-कुतूहल की भावना से युक्त और साहसिक यात्राओं से भरे रोमांचक महाकाव्यों की रचना होती रही जिनमें अलौकिक और अतिप्राकृत तत्वों का आधिक्य रहता था। इनकी तुलना संस्कृत के कथात्मक

काव्यों और प्राकृत-अपभ्रंश के चरितकाव्यों से की जा सकती है। चौदहवीं शताब्दी के बाद सारे यूरोप में धार्मिक सुधार, पुनर्जागरण और बौद्धिक सक्रियता का युग प्रारम्भ हुआ जिसमें राष्ट्रीयता, आध्यात्मिकता और नैतिकता का स्वर प्रधान था। अतः इस काल के कवियों की दृष्टि वर्जिल के अलंकृत महाकाव्य 'इनीड' और सोलहवीं शताब्दी के आलोचकों, विशेषकर 'विडा' की शास्त्रीय महाकाव्य सम्बन्धी मान्यताओं पर अधिक थी। इस तरह पुनर्जागरण-युग में वर्जिल के अनुकरण पर शास्त्रीय महाकाव्यों की रचना हुई जैसे संस्कृत के परवर्ती कवियों ने कालिदास की शैली के अनुकरण पर महाकाव्य लिखे। किन्तु पुनर्जागरण-काल में भी रोमांचक भावधारा की समाप्ति नहीं हो गयी थी क्योंकि इटली में टैसो तथा इंग्लैंड में मिल्टन के बाद शास्त्रीय या क्लासिकल महाकाव्य की उस ऊँचाई और गुरुत्व तक पहुँचने वाला अन्य कोई कवि नहीं हुआ यद्यपि अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक क्लासिकल मान्यताओं को प्रधानता सारे यूरोप में बनी रही। अठारहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध और उन्नीसवीं शताब्दी में रोमांटिक या स्वच्छन्दतावादी भावनाओं का प्रचार इतना अधिक हुआ कि महाकाव्य सम्बन्धी सभी पुरानी मान्यतायें छिन्न-भिन्न हो गयी। उस काल की प्रवृत्ति के सम्बन्ध में डिक्सन का कहना है कि इस समय विभिन्न काव्य-रूपों के सम्मिश्रण से ऐसे काव्यों की रचना हुई है जिन्हें देख कर लगता है कि या तो अब महाकाव्य को अलग काव्य-रूप मानने की कोई आवश्यकता नहीं रह गई है या महाकाव्य की परिभाषा को ही बहुत व्यापक और उदार बनाना होगा ताकि इस काल के नये प्रमुख कथात्मक काव्यों (नैरेटिव पोइट्री) को महाकाव्य माना जा सके[1]।

---

1. "Is it possible to propose a clue by means of which this labyrinth may be traversed ? Distinguish and divide we may, but frankly it is not possible. Type merges into type, classical forms melt into romantic to produce a confused panorama of scenes, characters, actions, where the distinctions that prevailed prevail no longer, where the old distinctions fail us . .... Two courses seem open, either to close the survey by the declaration that the term is outworn and must be cast aside, that a catagory once useful, is useful no longer, by the simple admission that epic poetry even what purpose to be epic poetry is no longer written, or confessing, as we have already had to confess,

महाकाव्य के इस स्वरूप-विकास के समानान्तर यूरोप में महाकाव्य की परिभाषा में भी परिवर्तन होता रहा है। महाकाव्य के सम्बन्ध में सब से पहले अरस्तू ने अपने काव्यशास्त्र में विचार किया। उन्होंने होमर के नाम से प्रचलित विकसनशील महाकाव्यों–इलियड और ओडेसी–को ध्यान में रखकर महाकाव्य के लक्षणों का निर्देश किया। अरस्तू ने महाकाव्य की परिभाषा इस धारणा के साथ निश्चित की है कि होमर नाम का कोई महाकवि सचमुच था जिसने अपनी अनुपम और महती काव्य-प्रतिभा के द्वारा इलियड-ओडेसी की रचना की। यह धारणा यूरोप में उस समय तक प्रचलित रही जब तक कि अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी के महान् साहित्यिक अन्वेषकों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं किया कि इलियड-ओडेसी का उन प्राचीन गाथा-चक्रों से विकास हुआ है जिन्हें प्राचीन यूनानी चारण (होमराइड) गाया करते थे और बहुत बाद में उन्हें लिपिबद्ध कराया गया। अब यह बात सर्वमान्य सी है कि होमर नाम का कोई कवि हुआ हो चाहे न हुआ हो, पर इलियड-ओडेसी, जिस रूप में आज वे प्राप्त हैं, एक हाथ की रचना नहीं हो सकते। इस अनुमान की पुष्टि इस बात से होती है कि यूरोप के अधिकांश देशों में ऐसे प्रारम्भिक महाकाव्य प्राप्त हुए हैं जो मौखिक परम्परा द्वारा विकसित हुए हैं और जो शैली तथा भावना में इलियड-ओडेसी से मिलते-जुलते हैं। अतः अरस्तू ने होमर के महाकाव्यों की जो विशेषतायें बताई हैं वे न्यूनाधिक मात्रा में सभी विकसनशील महाकाव्यों में पाई जाती हैं, पर वर्जिल और उसके बाद के कवियों में अलंकृत महाकाव्यों पर वे पूर्ण रूप से नहीं लागू होतीं।

अरस्तू के बाद यूरोप में महाकाव्य के सम्बन्ध में जो कुछ विचार हुआ वह सब सोलहवीं शताब्दी के बाद हुआ। सोलहवीं शताब्दी तक यूरोप में प्राचीन यूनानी भाषा और साहित्य का लोगों को अधिक ज्ञान नहीं रह गया था और रोमन साहित्य ही सर्वत्र आदर्श के रूप में पूजा जाता था। अत उस समय तक महाकाव्य का अर्थ या तो 'इनीड' के ढंग का अलंकृत महाकाव्य समझा

---

that we over step the proper limits of the subject, so throw our net as to bring within consideration certain of the larger and more ambitious narratives. such as both represent the class to which they rightly belong, and at the same time by their structure, their breadth and scope recall in some degree the features of the older poetry cast in the traditional epic form"

M. Dixon : English Epic & Heroic Poetry, p, 297.

जाता था या नव-विकसित रोमांस को ही महाकाव्य माना जाता था। पर पुनर्जागरण-काल में यूनानी भाषा और साहित्य की तरफ फिर लोगों का ध्यान गया और होमर के महाकाव्यों के साथ अरस्तू के काव्यशास्त्र का भी अध्ययन प्रारम्भ हुआ। परिणामस्वरूप सोलहवीं शताब्दी के बाद सारे यूरोप में 'एपिक' शब्द बहुत ही गम्भीर अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। 'एपिक' शब्द का प्रयोग अब अरस्तू की परिभाषा से भी आगे बढ़कर श्रेष्ठ या महान् काव्य के अर्थ में होने लगा। परिणामस्वरूप यूरोप में प्रबन्धकाव्यों की दो धारायें मान ली गयीं महाकाव्य (एपिक) और रोमांचक कथाकाव्य (रोमान्स)। यह मान्यता आज तक चली आ रही है; पर हर युग में ऐसे काव्य रचे गये जिनमें दोनों प्रकार के काव्यों के गुण दिखाई पड़ते हैं। अतः परवर्ती यूरोपीय आलोचकों को मानना पड़ा कि महाकाव्य दो प्रकार के होते है, इनीड की तरह के शास्त्रीय (क्लासिकल) महाकाव्य और ओडेसी और यरूसलम रिगेन्ड के ढंग के रोमांचक महाकाव्य। बाद में चलकर स्वच्छन्दतावादी विद्रोह के युग में दान्ते के ढंग के नाटकीय महाकाव्य और आधुनिक उपन्यास-शैली के मनोवैज्ञानिक या रूपक कथात्मक (एलेगोरिकल) महाकाव्य भी लिखे गये। अतः आधुनिक युग के समालोचकों को महाकाव्य की नयी-नयी परिभाषायें बनानी पड़ीं। किसी-किसी को तो खीझ कर यह भी कह देना पड़ा कि आधुनिक युग में महाकाव्य लिखा ही नहीं जा सकता और किसी ने महाकाव्य की परिभाषा को अत्यन्त उदार और व्यापक करने की सलाह दी। अनेक मतभेद रखते हुए भी एक बात में सभी आधुनिक आलोचक एक मत हैं कि विकसनशील और अलंकृत, दो प्रकार के महाकाव्य होते हैं और अलंकृत महाकाव्यो की भी शास्त्रीय और रोमांचक दो श्रेणियाँ होती हैं। इनके अतिरिक्त शैली की दृष्टि से नाटकीय, रूपक-कथात्मक, गीतात्मक और मनोवैज्ञानिक महाकाव्यों की भिन्न श्रेणियाँ भी मानी गयी हैं।

अरस्तू की परिभाषा :—अरस्तू ने हर प्रकार के काव्य और कला को अनुकरण कहा है। उसके अनुसार महाकाव्य वह काव्य-रूप है जिसमें कथात्मक अनुकरण होता है, जिसमें षट्पदी छन्द (हेक्सामीटर वर्स) का प्रयोग होता है, जिसका कथानक दुःखान्त नाटक (ट्रेजेडी) के समान अन्वितियुक्त होता है और जिसमें कोई एक सम्पूर्ण (आद्यन्त) घटना होती है जिसका आदि, मध्य और अन्त युक्त जीवन्त विकास दिखाया गया रहता है और इस तरह वह कथा जीवित प्राणी की तरह एक इकाई मालूम पड़ती है। महाकाव्य में समुचित आनंद प्रदान की क्षमता होती है। उसका रूप-संघटन इतिहास से बहुत भिन्न होता है

क्योंकि इतिहास एक व्यक्ति की समन्वित कथा नहीं कहता, बल्कि एक काल के एक या अनेक व्यक्तियों और घटनाओं की कथा कहता है और उन घटनाओं के बीच केवल संयोग का ही सम्बन्ध होता है, चेतन प्रयत्न से उत्पन्न सम्बन्ध नहीं। इस तरह कवि महाकाव्य की सामग्री का इतिहास से इस प्रकार चयन करता है कि उसमें सम्बन्धयुक्त अन्विति दिखाई पड़ती है। किसी काल की किसी प्रधान घटना का चुनाव करके उसका वर्णन करने के साथ ही कवि उस काल की अन्य घटनाओं या पूर्व काल की घटनाओं की कथा भी अवान्तर कथा के रूप में कह सकता है या वस्तु-व्यापार का विवरणात्मक वर्णन कर सकता है जिससे उसके महाकाव्य में जीवन के विविध रूपों का चित्रण हो सके। कुछ महाकाव्यों में एक व्यक्ति की पूरी जीवन-कथा या एक युग के किसी काल की सभी घटनाओं की कथा होती है अथवा एक ही महान् घटना की कथा होती है जिसके कई भाग होते हैं[1]। इस तरह के महाकाव्यों में अनेक उपाख्यान भरे हैं। अरस्तू ने उपर्युक्त परिभाषा की व्याख्या करते हुए महाकाव्य में नाटकीय तत्वों, अतिप्राकृत और अलौकिक घटनाओं, कथानक में प्रयुक्त

1. "With respect to that species of poetry which imitates by narration and in hexameter verse, it is obvious that the fable ought to be dramatically constructed like that of tragedy, and that it should have for its subject one entire and perfect action having a beginning, a middle and an end, so that, forming like an animal a complete whole, it may afford its proper pleasure, widely deffering in its construction from history, which necessarily treats not of one action, but of one time, and of all the events that happened to one person or to many during that time, events, the relation of which to each other is merely casual Instead of this selecting one part only of the war, he (Homer) has from the rest introduced many episodes—such as the catalogue of the ships and others—by which he has diversified his poem Other poets take for their subject the actions of one person or of one period of time, or an action which, though one, is composed of too many parts."
Aristotle's poetics—part III—of the Epic poem

Everyman's Library edition, 1949.
Edited by T. A Moxon. p. 46-47.

सम्भावना और कल्पना पर आधारित तथ्यों तथा महाकाव्य की भाषा और शब्द-चयन पर भी विचार किया है। इस प्रकार अरस्तू की महाकाव्य संबंधी मान्यता मुख्यतया उन गाथा-चक्रों से बने विकसनशील महाकाव्यों पर आधारित है जिनमें से इलियड और ओडेसी आज भी सुरक्षित रह गये हैं। बाद में वर्जिल ने भी इलियड-ओडेसी के अनुकरण पर ही अपने अलंकृत महाकाव्य 'इनीड' की रचना की और महाकाव्य का एक सुनिश्चित मानदण्ड स्थापित किया जिसके आधार पर बाद के शास्त्रीय महाकाव्य लिखे गये। अतः अरस्तू द्वारा निर्दिष्ट लक्षण प्रधानतया विकसनशील महाकाव्यों के ही हैं, पर वे न्यूनाधिक मात्रा में अलंकृत महाकाव्यों में भी पाये जाते हैं। वे लक्षण इतने व्यापक हैं कि उनमें से अनेक आज तक पाश्चात्य आलोचकों द्वारा पूर्ववत मान्य हैं। उन लक्षणों को अलग अलग करके नीचे दिया जा रहा है :—

१—काव्य-रूप—महाकाव्य एक लम्बा कथात्मक काव्य रूप है।

२—छन्द—उसमें आद्यन्त एक ही छन्द (हेक्सामीटर) का प्रयोग होता है जो वीर-काव्य के उपयुक्त होता है।

३—कार्यान्विति—महाकाव्य में कार्यान्विति होती है अर्थात् उसका कथानक नाटक के समान अन्वितियुक्त होता है पर उसका आकार नाटक से बड़ा होता है। उसमें किसी एक किन्तु अपने आप में सम्पूर्ण घटना का क्रमबद्ध वर्णन रहता है। इस प्रकार महाकाव्य का शरीर किसी जीवित प्राणी के समान सुसंघटित रहता है जिसमें विकास-क्रम का आदि, मध्य और अन्त निर्धारित रहता है। उसकी लम्बाई इतनी अधिक नहीं होनी चाहिये कि एक दृष्टि में आदि-मध्य-अन्त न दिखाई पड़े। पर उसे नाटक के समान बहुत छोटा भी नहीं होना चाहिये क्योंकि नाटक में एक ही समय पर घटित होने वाली कई घटनायें अभिनीत नहीं हो सकती, पर महाकाव्य में एक समय पर घटित होने वाली अनेक घटनाओं का बारी-बारी से वर्णन किया जा सकता है। इसी से महाकाव्य स्वभावतः नाटक से बहुत बड़ा हो जाता है[1]।

---

1. "The epic poem differs from tragedy in the length of its plan and in its metre. With respect to length a sufficient measure has already been assigned It should be such as to admit of our comperehending at one view the beginning and the end, and this would be the case if the epic poem were reduced from its ancient length, so as not to exceed that

४—अवान्तर कथायें—महाकाव्य में अवान्तर कथायें भी होती हैं पर वे प्रधान कथा के अंगरूप में होती हैं। कुछ महाकाव्यों में एक ही लम्बी कथा अनेक भागों में विभक्त होती है अर्थात् उसमें एक व्यक्ति से सम्बन्धित अनेक घटनायें होती हैं। ऐसे महाकाव्यों के भीतर अनेक महाकाव्यों की सामग्री भरी रहती है। अवान्तर कथाओं से महाकाव्य के गाम्भीर्य और गुरुत्व की वृद्धि होती है और साथ ही पाठकों-श्रोताओं को औत्सुक्य-शान्ति और विश्रान्ति भी प्राप्त होती है, क्योंकि विभिन्न प्रकार के उपाख्यानों में विभिन्न प्रकार के चरितों और दृश्यों की योजना होती है। नाटकों में यह रूप-वैविध्य नहीं मिलता जिससे उन्हें वैसी सफलता नहीं मिलती जैसी महाकाव्यों की मिलती है[1]। इस प्रकार महाकाव्य का विषय चाहे महान् और गुरु-गम्भीर हो या न हो पर उसमें उपकथायें और उसके भाग ऐसी गुरुता और गम्भीरता से युक्त अवश्य होने चाहिये जिससे पूरा महाकाव्य महान् प्रतीत होने लगे। नाटक में इस पद्धति को अपनाने से विपरीत परिणाम उत्पन्न हो जाता है[2]।

५—कथानक—महाकाव्य का कथानक इतिहास से लिया जाता है पर वह इतिहास से भिन्न होता है क्योंकि इतिहास एक काल के एक या अनेक व्यक्तियों और घटनाओं का, जो संयोग से ही परस्पर सम्बद्ध हो जाते हैं, वर्णन करता है, पर महाकाव्य किसी एक व्यक्ति या घटना की ऐसी बातों का ही

---

of such a number of tragedies as are performed successively at one hearing But there is a circumstance in the nature of epic poetry which affords its peculiar latitude in the extension of its plan ....But the epic imitation, being narrative, admits of many such simultaneous incidents, properly related to the subject which swell the poem to a considerable size".

Ibid p. 47—48

1—"And this gives it a great advantage, both in point of magnificence and also as it enables the poet to relieve his hearer and diversify his work by a variety of dissimilar episodes, for it is to the satiety naturally arising from similarity that tragedies frequently owe their ill success". Ibid. p. 48

2—"By an epic plan I mean a fable composed of many fables, as if any one, for instance, should take the entire fable of the Iliad for the subject of a tragedy. In the epic poem,

वर्णन करता है जिससे उसका कथानक विशृङ्खलित न होकर समन्वित बना रहे। पर उत्कृष्ट महाकाव्यों में ही ऐसा होता है, अन्य महाकाव्यों में एक काल की अनेक घटनाओं और व्यक्तियों की कथा भी होती है। होमर के पूर्व के महाकाव्य ऐसे ही बृहदाकार थे।

६—औचित्य-विचार—इतिहास के विषय का चुनाव करने पर महाकाव्य का कथानक अनुत्पाद्य कहा जायगा। पर इतिहास के समान महाकाव्य केवल यथार्थ का वर्णन नहीं करता। उसमें कवि को छूट रहती है कि वह अपनी कल्पना का खुल कर उपयोग करे अर्थात् इतिहास की घटना में उत्पाद्य या कल्पित अंशों का सम्मिश्रण करे। महाकाव्य में कवि को कल्पना का कलात्मक उपयोग अवश्य करना चाहिये। इससे कथानक में असाधारणता उत्पन्न होती है और पाठकों-श्रोताओं की जिज्ञासा निरन्तर बनी रहती है। अतः इसके लिये महाकाव्यों में दो पद्धतियाँ अपनाई जाती हैं :—

(क) अतिप्राकृत और अलौकिक तत्वों का मिश्रण—नाटकों में तो दर्शकों को आश्चर्यचकित करने की ही आवश्यकता होती है पर महाकाव्य में उससे आगे बढकर असम्भव और अविश्वसनीय बातों और घटनाओं का भी वर्णन होता है जिनमें आश्चर्योत्पादन की अधिक से अधिक शक्ति होती है। मनुष्य की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति भी है कि वह श्रोताओं को मुग्ध करने के लिये किसी बात को बहुत बढ़ा चढा कर कहता है। इसी कारण महाकाव्य में अलौकिक और अतिप्राकृत शक्ति वाले व्यक्तियों, देवताओं और घटनाओं का वर्णन किया जाता है[1]।

(ख) असम्भव बातों का वर्णन—किन्तु यहाँ महाकवि इस बात पर ध्यान रखता है कि जो कुछ भी कहा जाय वह श्रोताओं-पाठकों को असम्भव न प्रतीत हो। अरस्तू के ही शब्दों मे 'महाकवि को असम्भव प्रतीत होने वाली सम्भव घटनाओं की अपेक्षा सम्भव प्रतीत होने वाली असम्भव घटनाओं

---

the length of the whole admits of a proper magnitude in the parts, but in the drama. the effect of such a plan is far different from what is expected."

Ibid. Part II, p. 36.

1—"The surprising is necessary in tragedy, but the epic poem goes further and admits even the improbable and incredible, from which the highest degree of surprising results, because there the action is not seen."

Ibid. p. 49.

का चित्रण करना चाहिये[1]। पर ऐसी बातों का चित्रण करने की प्रवृत्ति कम से कम होनी चाहिये। असम्भव घटनाओं को महाकाव्य की मूल कथा का आधार तो कभी बनाना ही नहीं चाहिये, उन्हें मूल कथा का अंग भी नहीं बनने देना चाहिये और यदि उनको रखना बहुत जरूरी हो जाय तो फिर उन्हें मूल कथा के बाहर ही रखना चाहिये। निष्कर्ष यह कि महाकाव्य का धरातल ऐसा होना चाहिये कि उसमें सम्भावना-पक्ष क्षीण न होने पावे और कवि की शैली में इतनी शक्ति होनी चाहिये कि वह असम्भव को भी सम्भव बना कर उपस्थित कर सके। इसके लिए वह अन्य तरीको से इतना सौन्दर्य उत्पन्न करता है कि असम्भव होने पर भी कोई बात पाठकों की दृष्टि से छिपी रह जाती है[1]।

७—वस्तु-व्यापार-वर्णन— महाकाव्य में मूल कथा और अवान्तर कथाओं के अतिरिक्त वस्तुओं और पात्रों के भावों-अनुभावों का वर्णन भी होना चाहिये। महाकाव्य में कार्यान्विति लाने के लिए कवि किसी व्यक्ति के जीवन की आवश्यक घटनाओं को ही चुनता है पर जीवन की समग्रता का चित्रण करने के लिए वह अपनी कल्पना से जीवन की अन्य आवश्यक वस्तुओं और व्यापारों का चित्रण भी करता है जैसे समुद्री पोतों की विवरण-सूची तथा इसी तरह के अन्य विवरण। नाटक की तरह महाकाव्य में भी जीवन के विविध व्यापारों जैसे युद्ध, क्रान्ति, अन्वेषण, दुर्घटना या विनाश आदि का वर्णन होना चाहिये। इन बातों से काव्य में समग्र जीवन के रूपों और पक्षों का वैविध्य दिखलाई पड़ता है[2]।

---

1. "The poet should prefer impossibilities which appear probable to such things as, though possible, appear improbable. Far from producing a plan made up of improbable incidents, he shouid, if possible, admit no one circumstance of that kind, or, if he doses it, it should be exterior to the action itself. ....If, however, anything of this kind has been admitted, and yet is made to pass under some colour of probability, it may be allowed, though even in itself absurd. ......but here the absurdity is cencealed under the various beauties of other kinds with which the poet has embellished it."

   Ibid p 50.
2. "Instead of this, selecting one Part only of the war, he has from the rest introduced many episodes—such as the

८—शैली—अरस्तू के अनुसार नाटक की तरह महाकाव्य भी दो प्रकार के होते है, सरल या जटिल। फिर इनमें से भी प्रत्येक दो प्रकार का होता है, नैतिकतापूर्ण और दुर्घटनापूर्ण। होमर का इलियड सरल किन्तु दुर्घटनापूर्ण (दुखान्त) है और ओडेसी जटिल किन्तु नैतिकतापूर्ण है। ओडेसी की कथा जटिल इसलिए है कि उससे रोमांचक तत्त्व (घटना वैविध्य) अधिक है। इलियड में युद्ध ही प्रधान घटना है और उसमें कार्यान्विति अधिक है, अतः वह सरल शैली का महाकाव्य है। यह लक्षण देखकर अरस्तू ने स्वीकार किया है कि किसी महाकाव्य में दुखान्त नाटक के तत्त्व अधिक होते हैं और किसी में रोमांचक कथा-आख्यायिका के। इलियड पहले प्रकार का है और ओडेसी दूसरे प्रकार का[1]।

९—पात्र—महाकाव्य के पात्रों के सम्बन्ध में अरस्तू ने अलग से अधिक नहीं कहा है, अपने काव्य-शास्त्र में ही उसने नाटक और महाकाव्य की तुलना करते हुए कहा है कि दोनों महान् चरित्रों और महती घटनाओं का शब्दों द्वारा अनुकरण करते हैं[2]। इस तरह महाकाव्य और नाटक दोनों ही विषय-प्रधान काव्य-रूप हैं। नाटक में कवि पात्रों के बीच अपने को बिलकुल ही खो देता है पर महाकाव्य में भी उसे अपनी ओर से कम से कम बातें कहनी चाहिये। होमर इस कला में दक्ष था। उसने पात्रों के सम्वाद के रूप में ही अधिकांश कथा कही है। इन सभी पात्रों के अपने विशेष प्रकार के

Catalogue of the ships and others by which he has diversified his poem ... Its parts also, setting aside music and decorations, are the same, for it requires revolutions, discoveries, and disasters......"
Ibid p 47.

1. "Again, the epic poem must also agree with the tragic as to its two kinds, it must be simple or complicated, moral or disastrous .. Thus of his (Homer's) two poems, the Iliad is of the simple and disastrous kind, the odyssey complicated. (for it abounds throughout discoveries) and moral" Ibid. p. 47.

2. "Epic poetry agrees so far with tragic as is an imitation of great characters and actions by means of words.......".
Ibid. p. 13.

व्यक्तित्व हैं और कवि उन्हीं का अनुकरण करता है[1]। ये पात्र या चरित्र तीन प्रकार के होते हैं, वास्तविक, परम्परागत और आदर्श। महाकाव्य में तीनों प्रकार के पात्र होते हैं पर नायक को महान् घटनाओं के अनुरूप महान् चरित्र वाला भी होना चाहिये।[2]

१०—भाषा और शब्द-चयन— महाकाव्य चाहे सरल शैली का हो या जटिल शैली का, हर हालत में उसमें भावनाओं और शब्दों का सुन्दर सामंजस्य होना चाहिये। होमर के महाकाव्यों में यह सामंजस्य पूर्ण मात्रा में दिखाई पड़ता है। यों तो भाषा और शब्द-चयन का महाकाव्य में हर जगह महत्व है, पर जहाँ पर घटना या चरित्र में शिथिलता आ गयी हो, ऐसे स्थलों पर कवियों को शब्द-चयन और भाषा-सौन्दर्य पर विशेष ध्यान देना और उसके लिए परिश्रम करना चाहिये। इस तरह ऐसे स्थलों के दोष छिप जाते हैं। अरस्तू का तात्पर्य यह है कि अलंकृति सहज होनी चाहिये और यदि वह प्रयत्न-साध्य है तो समझना चाहिये कि महाकाव्य के दोषों को छिपाने के लिए ऐसा हुआ है।

११—उद्देश्य—अरस्तू के अनुसार कला का उद्देश्य अनुकृति द्वारा आनन्द प्रदान करना है, क्योंकि बचपन से मानव का यही स्वभाव है कि वह अनुकृति द्वारा आनन्द प्राप्त करता है। अनुकरण द्वारा उत्पन्न काव्य और कला से मानव को जो आनन्द प्राप्त होता है, वह साधन होता है साध्य नहीं। मनुष्य इस प्राप्त आनन्द की प्रेरणा से उस अनुकृति से बहुत कुछ सीखता है। इस तरह महाकाव्य और नाटक का, जो महती घटनाओं और महान् चरित्रों को गरिमामयी शैली में अनुकरण करते हैं, उद्देश्य समाज को आनन्द प्रदान

1 "The poet, in his own person, should speak as little as possible, for he is not then the imitator. But other poets, ambitions to figure throughout themselves, imitate but little and seldom."

Ibid p. 49.

2. "Since the poet is a portrayer, no less than a painter or other makers of figures, he must always be portraying one of the three following types, the real (past or present), the traditional (or conventional) or the ideal"

D. S Morgoliouth—The poetics of Aristotle, London. 1911. p. 218,

करके शिक्षा देना है[1] अथवा भारतीय अलंकार-शास्त्र की भाषा में, उसका उद्देश्य रस-निष्पत्ति द्वारा 'शिवेतर की क्षति' और 'कान्तासम्मिततयोपदेश' है।

पाश्चात्य महाकाव्य का स्वरूप-विकास :—

अरस्तू द्वारा निर्दिष्ट महाकाव्य के उपर्युक्त लक्षणों से स्पष्ट है कि उसने होमर के इलियड और ओडेसी को ही आदर्श महाकाव्य माना है, यद्यपि होमर के पहले के भी महाकाव्य, जो आकार में इलियड-ओडेसी से भी बड़े थे, अरस्तू के समय में वर्तमान थे। अरस्तू के समय में महाकाव्य के रूप में जो कथात्मक काव्य प्रचलित थे उनमें रोमांचक तत्त्वों की कमी नहीं थी पर उसने वीर-भावना और कार्यान्विति से युक्त महाकाव्यों को ही अपना आदर्श मान कर लक्षण निर्मित किये। होमर के महाकाव्यों में कार्यान्विति, कथानक की गम्भीरता और पात्रों की महानता आदि के कारण इतनी उत्कृष्टता थी 'और अरस्तू ने उन्हें इतना महत्व दे दिया कि आगे चल कर अरस्तू के समय के रोमांचक महाकाव्यों का महत्व बहुत कम हो गया और ईसापूर्व पहली शताब्दी में वर्जिल ने होमर के अनुकरण पर ही इनीड की रचना की। इलियड-ओडेसी अत्यन्त उत्कृष्ट महाकाव्य होते हुए भी एक हाथ की रचना नहीं है, साथ ही उनका विकास प्रारम्भिक वीरयुग में हुआ था, अतः सभ्य सामन्त-युग के विशिष्ट और दरबारी कवि द्वारा बिलकुल उसी प्रकार के महाकाव्य की रचना नहीं हो सकती थी। इसीसे वर्जिल ने होमर का अनुकरण करते हुए भी महाकाव्य का नया प्रतिमान स्थापित किया जो बाद के युगों में सभी शास्त्रीय

1. "All men, likewise, naturally receive pleasure from imitation. This is evident from what we experience in viewing the works of imitative art, for in them we contemplate with pleasure and with the more pleasure, the more exactly they are imitated, such objects as, if real, we could not see without pain, as the figures of the meanest and most disgusting animals, dead bodies and the like. And the reason of this is that to learn is a natural pleasure, not confined to philosophers, but common to all man... . Hence the pleasure they receive from a picture, in viewing it they learn, they infer, they discover what every object is, that this, for instance, is such a particular man"

T. A Moxon Aristlotle's poetics, p 9.

महाकाव्यों का आदर्श बना रहा। उसने होमर की कथा-वस्तु और कथानक का ही अनुकरण नहीं किया, अनेक छोटी-छोटी काव्य रूढ़ियों को भी स्वीकार किया। होमर ने इलियड में प्रधानतया युद्ध का और ओडेसी में रोमांचक और साहसपूर्ण यात्राओं का वर्णन किया है। वर्जिल ने इनीड में इन दोनों तत्वों का मिश्रण कर दिया। महाकाव्य के प्रारम्भ में वस्तु निर्देश और सरस्वती की वन्दना की पद्धति उसने होमर से ग्रहण की और होमर की यूनानी जातीय भावना के समान उसने भी अपने महाकाव्य में रोमन राष्ट्रीय-भावना की अभिव्यक्ति की। उसी तरह अलौकिक और अतिप्राकृत तत्वों के प्रयोग में भी उसने होमर का ही अनुसरण किया। दोनों ही महाकवियों के काव्यों में मनुष्य क्रूर और ईर्ष्यालु देवी-देवताओं के हाथ के खिलौने प्रतीत होते हैं और देवता मानव के साथ मिलते-जुलते और कथा के पात्र के रूप में काम करते हैं। वस्तुओं के विवृत वर्णन में भी 'इनीड' में होमर का अनुकरण किया गया है। उदाहरणार्थ सेना, खेल-कूद, अस्त्र-शस्त्र आदि का ब्योरेवार वर्णन दोनों में एक-सा मिलता है।

शास्त्रीय महाकाव्य—इतना अनुकृत होते हुए भी 'इनीड' अलंकृत महाकाव्य है, विकसनशील नहीं। उसका वातावरण, मूल प्रेरणा, उद्देश्य और शैली आदि होमर के महाकाव्यों से बहुत भिन्न हैं। अतः अरस्तू ने महाकाव्य की जो परिभाषा बनाई थी वह 'इनीड' तथा बाद के शास्त्रीय महाकाव्यों पर पूर्णतया नहीं लागू हो सकती। शास्त्रीय शैली का प्रचलन सभ्ययुग के रोमांचक महाकाव्यों के अत्यधिक प्रभाव के कारण बन्द-सा हो गया, पर पुनर्जागरण काल में कैमास और ऐरिआस्टो ने उसे फिर से प्रारम्भ किया और मिल्टन ने उसे चरमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया। इन सब शास्त्रीय महाकाव्यों में अरस्तू के बताये अनेक लक्षण मिलते है पर उसमें कुछ और भी विशेषतायें पाई जाती हैं जिनके आधार पर ये महाकाव्य शास्त्रीय नियमों का पालन करने वाले कहे जाते हैं।

यूरोपीय अलंकृत महाकाव्यों के लक्षण—

१—उनमें किसी न किसी गुरु-गम्भीर विषय को कथा का आधार बनाया गया है। उनके कथानक इतिहास-पुराण या धर्मग्रन्थ (बाइबिल) से लिये गये हैं, पर उनमें कवि द्वारा उत्पाद्य अंश अधिक हैं।

२—उनमें होमर के महाकाव्यों की तुलना में कार्यान्विति अधिक है। इसीलिये उनका कथानक अधिक लम्बा नहीं है।

३—उनमें कोई न कोई महान उद्देश्य—जैसे देश के गौरव का चित्रण, धार्मिक और नैतिक मूल्यों की स्थापना, आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध

का चित्रण आदि—अवश्य रहता है जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से पूरे महाकाव्य में व्याप्त दिखाई पड़ता है।

४—उन सब में कवियों के पुस्तकीय ज्ञान और पांडित्य का प्रभाव अत्यधिक मात्रा में दिखाई पड़ता है।

५—उनमें सचेष्ट और प्रयत्न-साध्य कलात्मक शैली का उपयोग हुआ है। यह शैली बहुत ही उदात्त और गरिमायुक्त है। होमर के महाकाव्यों में पुनरुक्ति दोष बहुत है, पर शास्त्रीय महाकाव्यों में शब्दों का अपव्यय नहीं हुआ है, उनमें अधिक से अधिक अर्थ और चमत्कार भरने का प्रयत्न दिखाई पड़ता है।

६—उनमें होमर के महाकाव्यो के जैसा घटनाओ और अवान्तर कथाओं का आधिक्य नही है। इसके विपरीत उनमें वस्तु-व्यापार-वर्णन की रूढ़ियों का पालन किया गया है। इस तरह सभी शास्त्रीय महाकाव्यों में संघर्ष, द्वन्द्व-युद्ध, साहसिक और कष्टप्रद यात्रा, सुंदर उद्यान, भव्य भवन, स्वर्ग और नरक के दृश्य, सृष्टि का रहस्य आदि बातों का चित्रण विस्तृत रूप में हुआ है।

७—सभी महाकाव्यों में प्रारम्भ में प्रस्तावना, वस्तु-निर्देश और मंगलाचरण की पद्धति अपनाई गयी है।

८—शास्त्रीय महाकाव्यों में वैयक्तिक वीरता का वह रूप नहीं दिखाई पड़ता जो इलियड-ओडेसी में है। उसका स्थान सामाजिक हित की भावना और देशभक्ति से समन्वित वीरता ने ले लिया है। साथ ही इन महाकाव्यों में प्रेम के अधिकाधिक चित्रण की परम्परा भी दिखलाई पड़ती है। अपालोनियस ने अपने महाकाव्य 'आरगोनाटिका' में सबसे पहले प्रेम का विशेष चित्रण किया था और वर्जिल ने उस पद्धति को अपनाया था। इसके पहले प्रेम का इतना महत्व नहीं था।[1]

९—होमर के महाकाव्यों में दिव्य और मानवीय चरित्रों का यथार्थ, परम्परागत या आदर्श चित्रण हुआ है जिसका उल्लेख अरस्तू ने अपने लक्षणों में किया है। पर अपालोनियस रोडियस के अनुकरण पर वर्जिल ने पात्रों के मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण की पद्धति निकाली। अतः बाद के सभी शास्त्रीय महाकाव्यों

---

1 "Love has been nothing but a subordinate incident, almost .. an ornament in the early epics, ... But it is Virgil who really begins the development of epic art. He took over from Apollonius love as part of the epic symbolism of life, and delicate psychology as part of the epic method."

L. Abercrombie The Epic, p. 71.

में विश्लेषणात्मक मनोवैज्ञानिक चित्रण की परम्परा बराबर दिखाई पड़ती है।[1]

१०—सभी शास्त्रीय महाकाव्यों में अलौकिक और अतिप्राकृत शक्तियों और कार्यों का वर्णन हुआ है पर यह वर्णन होमर के महाकाव्यों तथा बाद के रोमांचक महाकाव्यों जैसा नहीं है। उनमें बौद्धिक संयम और आध्यात्मिक गम्भीरता के कारण अलौकिक अतिप्राकृत तत्त्वों के प्रयोग में वैसी मनमानी नहीं बरती गयी है जैसी रोमांचक महाकाव्यों में दिखाई पड़ती है।

११—वर्जिल और उसके बाद के अलंकृत शास्त्रीय महाकाव्यों की सबसे बड़ी विशेषता, जो न तो विकसनशील महाकाव्यों में मिलती है और न अलंकृत रोमांचक महाकाव्यों में ही, यह है कि उनमें अपने युग की सच्ची सामाजिक चेतना को व्यक्त करने का सचेष्ट प्रयास दिखाई पड़ता है। विकसनशील महाकाव्यों में युग की चेतना वीरों की वैयक्तिक विशेषताओं के चित्रण द्वारा अभिव्यक्त होती है और रोमांचक महाकाव्यों में यथार्थ से दूर हट कर काल्पनिक जगत का चित्रण अधिक होता है। युग-जीवन का समग्र और यथार्थ चित्र सचेष्ट रूप से शास्त्रीय महाकाव्यों में ही मिलता है।

विकसनशील महाकाव्य :—

कहने की आवश्यकता नहीं कि महाकाव्य का यह गुरु-गम्भीर रूप शिष्ट-नागर समाज के लिए ही विशेष उपयोग का था। सामान्य जनता अपनी सीमाओं के कारण लोक-महाकाव्यों और गाथाचक्रों में ही रुचि लेती रही और मध्ययुग में तथा उसके बाद भी ऐतिहासिक और निजन्धरी वीरों का आश्रय लेकर मौखिक रूप में लोक-महाकाव्यों का विकास होता रहा। बियोवूल्फ, सांग आफ रोलां, निबुलंगेनलोड, वाल्संग, एडा, आर्थर गाथाचक्र, राबिनहुड-गाथाचक्र आदि इसी प्रकार के विकसनशील या अर्द्धविकसित महाकाव्य हैं। इनमें परम्परागत अनुश्रुतियों और लोकगाथाओं-लोकविश्वासों का प्रभाव इतना अधिक है तथा उन सबमें एक ही तरह की कथानक रूढ़ियों और वर्णनों का इतना अधिक प्रयोग हुआ है कि विकसनशील महाकाव्यों की अलग श्रेणी मानकर ही उनकी विशेषताओं का वर्गीकरण किया जा सकता है। अरस्तू के बताये काव्य के लक्षण उन सबमें अधिक नहीं मिलते. कारण यह है कि होमर के महाकाव्य जो अरस्तू के आदर्श

---

1. "To the manner of epic he added analytic psychology...... Through Virgil this contribution to epic manner has prevailed in subsequent literature.

Ibid. P. 70.

थे, विकसनशील होते हुए भी कला की उस सीमा का स्पर्श करते हैं जो अलंकृत महाकाव्योसे मिली हुई है। पर अन्य विकसनशील महाकाव्य कला की इस ऊँचाई तक नहीं पहुँच सके हैं यद्यपि महाकाव्य के मूल गुण, जिनकी चर्चा अरस्तू ने की है, उनमें हैं। इन महाकाव्यों की विशेषताओं के सम्बन्ध में विचार करने के पूर्व रोमांचक महाकाव्यों पर विचार कर लेना आवश्यक है क्योंकि रोमांचक महाकाव्य भी अलंकृत होते हैं यद्यपि उनमें शास्त्रीय महाकाव्यों की सभी विशेषतायें नहीं होतीं। वस्तुतः रोमांचक महाकाव्य शास्त्रीय और विकसनशील महाकाव्यो के बीच की कड़ी हैं। विकसनशील महाकाव्यों में लोककथा-लोकगाथा का इतना अधिक योग रहता है कि उनमें कुतूहल और आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली अनोखी बातों की अधिकता दिखाई पड़ती है। इसी कारण होमर के 'आडेसी' को अनेक विद्वान इलियड से भिन्न कोटि का रोमांचक महाकाव्य मानते है। अरस्तू ने ऐसा कोई भेद नहीं किया था। पर सच बात तो यह है कि होमर ने ही एपिक और रोमान्स दोनों का प्रारम्भ किया था। उसके दोनों महाकाव्यों में ये दो काव्यरूप विलग नहीं हुए थे। बाद में वर्जिल ने इलियड के आदर्श पर अलंकृत शास्त्रीय महाकाव्य की शैली विकसित की और बाद के लैटिन कवियों ने ओडेसी के अनुकरण पर रोमाण्टिक महाकाव्य की शैली का विकास किया। पुनर्जागरण युग के पहले तक 'एपिक और रोमांस' में भेद नहीं माना जाता था, पर सोलहवीं शताब्दी के बाद इन दोनो शब्दों का भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग होने लगा। 'एपिक' शब्द तब से श्रेष्ठ या शास्त्रीय महाकाव्य के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा और रोमांचक कथाकाव्य के अर्थ में।

रोमान्स और रोमांचक महाकाव्य :—

यह पहले ही कहा जा चुका है कि प्रारम्भिक महाकाव्यों में अनिवार्य रूप से रोमांचक तत्व रहा करते थे। वस्तुतः कथात्मक या आख्यानक काव्य का वह एक प्रधान अङ्ग है। कुछ लोगों का तो यह भी कहना है कि महान और गम्भीर काव्य-रूपों में बीच-बीच में रोमांचक तत्व रहने से उनका आकर्षण बढ जाता है क्योंकि वे तत्व गम्भीरता के दबाव और तीव्र भावानुभूतियों के तनाव से कुछ विश्रान्ति प्रदान करते चलते है[1]। रोमांस ऐसी कल्पना का नाम है जिसमें सुदूर-

1—"Romance in many varieties is to be found inherent in Epic and Tragedy, for some readers, possibly, the great and magnificent forms of poetry are most attractive when from time to time they forget their severity and when the tragic strength is allowed ro rest, ..."

W. P. Ker—Epic And Romance—P. 321.

वर्ती और अप्राप्य वस्तुओं में रहस्य और जादू जैसा आकर्षण उत्पन्न करने की शक्ति होती है। महाकाव्य में ऐसी कल्पनायें अलौकिक और अतिप्राकृत तत्त्वों तथा कथानक-रूढियों का आश्रय लेकर प्रयुक्त होती हैं पर इनकी मात्रा उनमें ऐसी रहती है कि महाकाव्य का सन्तुलन नहीं बिगडने पाता। जब वे तत्त्व किसी काव्य में अनपेक्षित रूप से अधिक हो जाते है तो वही रोमांचक कथा-काव्य कहलाता है। यदि ऐसे कथाकाव्य में महाकाव्य के गुण वर्तमान रहते है तो उसे रोमांचक कथाकाव्य कहा जाता है। अतः यह स्पष्ट है कि महाकाव्य और रोमांचक कथाकाव्य (रोमांस) दो भिन्न वस्तुएँ हैं। उस सीमा-रेखा का पता लगाना अत्यन्त कठिन है जहाँ रोमांचक कथाकाव्य महाकाव्य के रूप में बदल जाता है। जैसा पिछले अध्याय में महाकाव्य की सामग्री के सम्बन्ध में विचार करते हुए कहा जा चुका है, सामूहिक नृत्यगीत से ही आख्यानक काव्य का विकास हुआ ; अत उसमें प्रारम्भ मे महाकाव्य और रोमान्स का रूप मिलाजुला था जैसा कि होमर के महाकाव्यों में दिखाई पड़ता है। धीरे-धीरे महाकाव्य और रोमांचक कथाकाव्य भिन्न काव्य-रूप हो गये। इन रोमांचक कथाकाव्यों में साहसिक कार्यों, यात्राओं और प्रेम-व्यापारों की प्रधानता होती थी। मध्ययुग में यूरोप की परिस्थितियाँ ऐसी थी जिनमें रोमांचक कथाकाव्यों का बहुत अधिक विकास हुआ और महाकाव्य का उदात्त काव्य-रूप भुला दिया गया। पर पुनर्जागरण युग (१४ वीं से १७ वीं शताब्दी तक) में महाकाव्य का सम्मान फिर बढ़ा और दान्ते, एरिओस्टो, केमास, टैसो, स्पेन्सर और मिल्टन ने उसे चरमोत्कर्ष पर पहुँचाया। इनमें से कुछ के महाकाव्यों पर रोमांचक कथाकाव्य का प्रभाव बहुत अधिक है। लैटिन में टैसो का 'यरुसलम लिबरेटा' ऐसा ही रोमांचक महाकाव्य है। अंग्रेजी में स्पेन्सर का 'फेयरी क्वीन' भी ऐसा ही है। इस प्रकार यूरोप में विकसनशील महाकाव्यों के समानान्तर शास्त्रीय और रोमांचक महाकाव्य और रोमांचक कथाकाव्य या रोमान्स, इन दोनों काव्य-रूपों का प्रचलन था। रोमान्स के गद्यात्मक और पद्यात्मक दोनों रूप थे। गद्यात्मक रोमांस सागा, नरेटिव आदि नामों से पुकारा जाता था और उसी का विकास आधुनिक उपन्यासों के रूप में हुआ। गद्यात्मक रोमान्स हमारे विचार का विषय नहो है। पद्यात्मक रोमान्स भी, जिसे कथात्मक काव्य (नरेटिव पोइट्री) कहा जाता है, वहीं तक हमारे काम का है जहाँ तक उसने महाकाव्य को प्रभावित किया है। अतः यहाँ संक्षेप में शास्त्रीय महाकाव्य और रोमांचक कथाकाव्य (गद्यात्मक *या* पद्यात्मक) का भेद समझ लेना चाहिये :—

शास्त्रीय महाकाव्य और रोमांचक कथाकाव्य का भेद :—

१—दोनों ही का विकास प्रारम्भिक विकसनशील वीराख्यानों या वीर-महाकाव्यों से हुआ। अतः दोनों में वीरता और साहस की भावना होती है, पर दोनों के वातावरण में बहुत अधिक अन्तर होता है। शास्त्रीय महाकाव्य का विकास दरबारों के संस्कृत-शिष्ट वातावरण में हुआ, अतः उनका बौद्धिक स्तर बहुत ऊँचा होता है। इसके विपरीत रोमांचक कथाकाव्य लोक के बीच विकसित हुआ और बाद में दरबारी कवियों ने इस काव्य-रूप को ग्रहण कर लिया, अतः उसमें भावुकता और कल्पना का रंग अधिक होता है जो सामान्य जनता के लिए सुखद और सहज होता है।

२—जहाँ तक साहसिक कार्यों का सम्बन्ध है, रोमांचक कथाकाव्य, अलंकृत शास्त्रीय महाकाव्य की अपेक्षा, विकसनशील महाकाव्यों के अधिक निकट है। विकसनशील महाकाव्यों के रोमांचक तत्त्वों का विस्तार रोमांचक कथाकाव्य में हुआ है, जब कि शास्त्रीय महाकाव्यों में आदर्श चरित्रों और महान उद्देश्य के कारण उन तत्त्वों पर संयम का अंकुश लगा रहता है। इस तरह रोमांचक कथाकाव्य में युद्ध, प्रेम, भयंकर यात्रा आदि का अतिशयोक्ति-पूर्ण चित्रण होता है।

३—रोमांचक कथाकाव्य में कोई महान उद्देश्य नहीं होता। दूसरे शब्दों में मनोरंजक कथा कहना ही उसका उद्देश्य होता है, कोई आदर्श चित्रित करके उपदेश देना नहीं। महाकाव्य में यह बात नहीं होती। उसका कोई महान उद्देश्य होता है जो महान चरित्रों का आश्रय लेकर व्यक्त होता है। इसके विपरीत रोमांचक कथाकाव्य में यद्यपि वीर प्रतीत होने वाले चरित्र होते हैं पर उसका उद्देश्य वीर-भावना की प्रतिष्ठा नहीं होता और न वे चरित्र वीरता का आदर्श ही उपस्थित करते हैं।

४—रोमांचक कथाकाव्य में कथानक जीवन्त और आकर्षक अवश्य होता है पर वह यथार्थ जीवन पर आधारित नहीं होता। उसमें काल्पनिक कथा का चमत्कार अधिक से अधिक होता है। इस प्रकार उसमें लोक-कथा के सभी तत्त्व होते हैं।

५—अतिशय काल्पनिकता के कारण उसमें असम्भव और अविश्वसनीय बातों और घटनाओं की भरमार रहती है। प्रारम्भिक वीरयुग में सामान्य जनता ऐसी बातों को पौराणिक और निजन्धरी विश्वासों के कारण सच मानती थी पर मध्ययुग में उन्हें असत्य कल्पना मानते हुए भी पाठक शुद्ध मनोरंजन के लिए उनमें बहुत रुचि रखते थे। इसीलिए रोमांचक कथाकाव्यों में उनकी

अधिकता है। अरस्तू ने महाकाव्य में ऐसी असम्भव प्रतीत होने वाली बातों को रखना उचित नहीं माना है।

६—उपर्युक्त प्रवृत्ति के कारण उनकी कथा चमत्कारपूर्ण होती है। इन काव्यों के आश्चर्यमय लोक में सभी कुछ अनोखा और आश्चर्यजनक है। अविकसित समाज में मानसिक धरातल ऊँचा न होने के कारण आश्चर्य और जिज्ञासा भावना की प्रधानता रहती है। मध्ययुग का समाज ऐसा ही था। अतः उस काल में कथाकाव्यों की रचना अधिक हुई, जिसमें अलौकिक और अतिप्राकृत तत्त्वों की अधिकता है और देवी, देवता, भूत-प्रेत, जादू-टोना आदि की सहायता से आश्चर्य उत्पन्न करने की प्रवृत्ति प्रधान है। महाकाव्य में भी ये बातें होती हैं पर उनमें मानव का सहज स्वरूप और उसके सहज कार्य ही प्रधान होते हैं।

७—उपर्युक्त प्रवृत्तियों के कारण रोमांचक कथाकाव्यों में वे सभी कथानक-रूढ़ियाँ दिखलाई पड़ती हैं जिनकी चर्चा पहले अध्याय में की जा चुकी है। जिस तरह वर्जिल का आदर्श इलियड था, उसी तरह रोमांचक काव्यों का निर्माण ओडेसी के अनुकरण पर हुआ। एक ही स्रोत से प्रभावित होने और सुदूरवर्ती देशों में समान रूप से प्रचलित लोककथाओं-लोकगाथाओं से कथा के तत्त्व ग्रहण करने के कारण उनमें कथा की धारा को मोड़ने वाली वे छोटी से छोटी घटनायें और तथ्य पाये जाते है जो बहुत सी कथाओं में एक तरह के हैं। पण्डितों ने इन्हें ही कथानक रूढ़ि (मोटिफ) नाम दिया है। कथानक रूढ़ियो में अलौकिक और अतिप्राकृत तत्त्वों के अलावा और भी अनेक ऐसी बातें होती हैं जिनसे एक ओर तो आश्चर्य की प्रवृत्ति की तृप्ति होती है, दूसरी ओर किसी युग की सामाजिक दशा और लोक-विश्वासों का भी पता चलता है। इस तरह कबन्ध का लड़ना, देवताओं या राक्षसों की सहायता में एक जगह से दूसरी जगह पहुँचा दिया जाना, सुनसान जंगल या समुद्र में राह भटक जाना आदि कथानक रूढ़ियाँ इन रोमांचक कथाकाव्यों में भरी पड़ी हैं। अलंकृत शास्त्रीय महाकाव्यों में कथानक रूढ़ियाँ अधिक नहीं होतीं।

८—रोमांचक कथा-काव्यों में कार्यान्विति नहीं होती और न नाटकीय तत्त्व ही अधिक होते हैं। उनका कथानक प्रवाहमय और वैविध्यपूर्ण अधिक होता है पर उसमें कसावट और थोड़े में अधिक कहने का गुण, जो महाकाव्य का प्रधान लक्षण है, नहीं होता। इससे कथानक स्फीत और विशृंखलित हो जाता है। मध्ययुगीन रोमांचक कथाकाव्यों में अधिकतर समान विषय-वस्तु पर आधारित समान कथानकों का होना इस बात का संकेत करता है कि कवियों

का ध्यान संघटित कथानक द्वारा महान घटना का चित्रण करके समन्वित प्रभाव या उच्चकोटि का आनन्द उत्पन्न करने की उतना नही था जितना पूर्ण विचित्र घटनाओं के अतिशयोक्ति चित्रण द्वारा मनोरंजन करने की ओर था। मनोरंजन के कारण ही उनमें कथा के भीतर कथा कहने का प्रवृत्ति अधिक है जिसमें पूरे कथानक में कार्यान्विति नहीं पायी जाती।

९—प्रारम्भिक विकसनशील महाकाव्यों के नायक शारीरिक शक्ति का प्रदर्शन करने वाले, पर साथ ही सामाजिक शक्ति का प्रतिनिधित्व करने वाले वीर होते थे। उनके प्रेमी-रूप का चित्रण बहुत कम होता था। रोमाचक कथाकाव्यों में नायक वीर तो होता है पर उसकी वीरता निरुद्देश्य और बिलकुल ऐकान्तिक मालूम पडती है। लेकिन उनका वह वीर-रूप भी उसके प्रेमी-रूप से दबा रहता है। यह प्रेमी भी बहुत ही बाह्य, भावुकतापूर्ण और ऐकान्तिक होता है, महाकाव्यों की तरह आन्तरिक और सामाजिक नहीं।

रोमांचक महाकाव्य :—

रोमांचक कथाकाव्य के उपर्युक्त लक्षणों को न्यूनाधिक मात्रा में महाकाव्य में भी पाया जा सकता है। पुनर्जागरण-युग में आलोचकों में इस प्रश्न को लेकर बहुत मतभेद था कि महाकाव्य में रोमांचक तत्त्वों का क्या स्थान होना चाहिये। महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों को कड़ाई के साथ पालन करने वाले लोग इस मत के थे कि महाकाव्य में उन तत्त्वों का, जिन्हे उस समय 'गाथिक' कहा जाता था, बिलकुल प्रवेश नही होना चाहिये। अतः इटली के प्रसिद्ध साहित्यकार डावेनाण्ट, एरिओस्टो और दान्ते के महाकाव्यों को भी महाकाव्य की कोटि में रखने को तैयार नहीं था[1]। इसके विपरीत इटली के दूसरे महाकवि टैसो ने अपनी आलोचनाओं में एरिआस्टो का समर्थन ही नही किया, वह उसके महाकाव्य 'आर्लेण्डो' को अपना आदर्श भी मानता था। उसने महाकाव्य

1. "The epic poetry of the more austere critics was devised according to the strictest principles of dignity and sublimity with a precise exclusion of everything Gothic and romantic Davenant's Preface to Gondibert—"The Authors preface to his much Honoured friend, Mr. Hobs"—may show how the canon of epic was understood by poets who took things seriously, for I will yield to their opinion who permit not Arisosto, no, not Du Bartes, in this eminent rank of the Heroicks, rather than to make way by their admission for Dante, Marine, and others". Ibid—p 30.

को शास्त्रीय नियमों के बन्धनों से जकड़ने वालों का विरोध करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि महाकाव्य और रोमांचक कथाकाव्य के बीच कोई तात्विक अतर नहीं है[1]। यही कारण है कि उसका महाकाव्य 'यरुसलम लिबरेटा' 'आर्लेण्डो' की भाँति रोमांचक महाकाव्य माना जाता है। दान्ते, एरिआस्टो और टैसो से प्रभावित होकर ही अंग्रेजी में भी स्पेन्सर ने 'फेयरी क्वीन' नामक रोमांचक महाकाव्य की रचना की। इन रोमांचक महाकाव्यों में शास्त्रोय महाकाव्यों की अपेक्षा रोमांचक तत्त्व अधिक थे अर्थात् उनमें महाकाव्य और रोमांचक कथाकाव्य का समन्वय हुआ था। सोलहवीं शताब्दी तक तो टैसो का यह सिद्धान्त कि रोमान्स भी महाकाव्य ही है, किसी सीमा तक मान्य था पर सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी के आलोचकों ने दोनों को भिन्न माना और महाकाव्य की उदात्तता, गम्भीरता, अन्विति और आदर्शों पर ही अधिक जोर दिया। उनमें बासू (Bossu) का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इस सम्बन्ध में आधुनिक आलोचकों का कहना है कि उन आलोचकों ने महाकाव्य और रोमान्स में अन्तर मान कर तो उचित किया पर दोनों को अलग-अलग काव्य-रूप मान करके बहुत बड़ी गलती भी की, कारण यह है कि यद्यपि रोमान्स महाकाव्य का एक अनिवार्य अंग है पर वही उसका सबसे बड़ा दुश्मन भी हो जाता है[2]। यदि महाकाव्य में रोमांचक तत्त्वों का सयमित उपयोग किया जाय तो उससे महाकाव्य का महत्त्व बढ़ जाता है पर उसकी अधिकता उसके नाट्यतत्त्वों का हनन कर देती है[1]। इससे भी आगे बढ़ने पर कुछ ऐसे

---

1. The question was debated by Tasso it his critical writings against the strict and pedantic imitators of classical models and with a strong partiality for Ariosto against Triosino, Tasso made less of a distinction between romance and epic than was agreeable to some of his successor's criticism.. "

Ibid—p 30

2. "The critics of the seventeenth and eighteenth centuries were generally right in distinguishing between Epic and Romance, and generally wrong in separating the one kind from the other as opposite and mutually exclusive forms ..... Romance is at the same time one of the constituent parts and one of the enimies of epic poetry "

Ibid—p. 31—32

1—"Romance by itself is a kind of literature that does not allow the full exercise of dramatic imagination, a limited

महाकाव्य दिखाई पड़ते है जिनमें रोमांचक तत्वों और नाट्यतत्त्वों का स्थान बराबर-बराबर होता है। ऐसे ही महाकाव्य रोमांचक महाकाव्य कहलाते हैं। जब किसी काव्य में रोमांचक तत्त्व इतने अधिक हो जाते हैं कि उनमें नाट्य तत्त्व बिलकुल नहीं रह जाते और वह मात्र काल्पनिक और आश्चर्य भरी बातों पर ही आधारित होता है तो फिर वह महाकाव्य नहीं रह जाता, रोमांचक कथा-काव्य बन जाता है। अतः शास्त्रीय महाकाव्य, रोमांचक महाकाव्य और रोमांचक कथाकाव्य का यह सम्बन्ध और भेद रोमांचक तत्त्वो की मात्रा की न्यूनता या अधिकता पर ही आधारित है।

स्वच्छन्दतावादी और मनोवैज्ञानिक महाकाव्य :—

यह पहले ही कहा जा चुका है कि वर्जिल के 'इनीड' में ही पात्रों के मानसिक संकल्प-विकल्प का चित्रण करने और मानसिक दशाओ पर प्रकाश डालने की पद्धति का प्रारम्भ हो गया। बाद में शास्त्रीय महाकाव्यों में इस पद्धति को बराबर अपनाया जाता रहा। मिल्टन ने इस दिशा में महाकाव्य को बहुत आगे बढ़ाया। पर पात्रों का चरित्र शास्त्रीय महाकाव्यों में इतना मर्यादित होता था कि पूँजीवाद-युग के प्रारम्भ में व्यक्तिवादी स्वतन्त्रता की भावना से उत्पन्न स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा में उन शास्त्रीय नियमों के विरुद्ध जोरदार प्रतिक्रिया हुई। स्वतन्त्रता की भावना जीवन के क्षेत्रों तक ही सीमित न रही, वह साहित्य और कला के क्षेत्र में भी सभी पुरानो मान्यताओं के विरुद्ध विद्रोह करने लगी। फलस्वरूप अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में व्यक्ति-वादी भावनाओं और अनुभूतियों से युक्त गीतिकाव्य का युग प्रारम्भ हुआ। ऐसे युग में शास्त्रीय महाकाव्य की रचना की सम्भावना नहीं थी। फिर भी अनेक कवियों ने इस युग में प्रबन्धकाव्य लिखे। उनमें से स्काट जैसे लोगों ने जनता में प्रचलित चारण-गाथाओ का अनुसरण किया, वर्ड्सवर्थ और कालरिज ने गीति-गाथायें (लिरिकल बैलेड्स) लिखीं और कीट्स ने प्राचीन यूनानी पौराणिक आख्यानों के आधार पर प्रबन्धकाव्य की रचना की। बायरन ने जो प्रबन्ध काव्य लिखे उनमें उसने किसी प्रकार की मर्यादा को स्वीकार नहीं किया। अतः इस युग में अंग्रेजी में कोई महाकाव्य नहीं लिखा गया, पर जर्मनी में गेटे

---

and abstract form as compared with the fulness and variety of epic, though episodes of romance and romantic moods, and digressions may have their place along with all other human things in the epic scheme."

Ibid—P. 33.

ने स्वच्छन्दतावादी भावना से युक्त और दान्ते की काव्य-शैली से प्रभावित 'फाउस्ट' नामक नाट्यमहाकाव्य की रचना की। आगे चलकर विक्टर ह्यूगो और टेनिसन ने शास्त्रीय और रोमांचक महाकाव्यों की शैलियों को एक में मिलाकर स्वच्छन्द शैली का आविष्कार किया। टेनिसन ने लोक-प्रचलित 'आर्थर गाथाचक्र' के आधार पर 'आइडिल्स आफ द किंग' नामक महाकाव्य में आर्थर के दरबार में विभिन्न दरबारियों द्वारा कथायें कहलवाई हैं। ये कथायें अलग-अलग स्वतन्त्र प्रतीत होती है पर साथ ही प्रत्येक को महाकाव्य का एक सर्ग भी समझा जा सकता है। यह रोमांचक कथाकाव्य का गुण है। पर टेनिसिन ने शास्त्रीय महाकाव्य के गुण—महद् उद्देश्य और प्रतीकात्मकता—का भी अपने महाकाव्य में समावेश किया है। बीसवीं शताब्दी मे टामस हार्डी ने 'द डाइनेस्ट्स' नामक महाकाव्य लिखा। यह भी नाट्य-महाकाव्य है, इसमें पात्रों के स्वगत-कथन के रूप में कथा कही गई है। इस महाकाव्य का नायक नैपोलियन है। महाकाव्य का स्वरूप उन्नीसवीं सदी में विभिन्न काव्य-रूपों में बदल गया और जो महाकाव्य लिखे भी गये उनमें पुराने शास्त्रीय नियमों को तोड़ दिया गया। अतः इस युग के महाकाव्यों को स्वच्छन्दतावादी मनोवैज्ञानिक महाकाव्य कहा जा सकता है क्योंकि उनकी सबसे बड़ी विशेषता मन का वैज्ञानिक विश्लेषण ही है। ब्राउनिंग का 'द रिंग एण्ड द बुक' इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है जिसमें एक ही घटना अनेक व्यक्तियों के मुख से विभिन्न रूपों में कहलाई गई है। इससे स्पष्ट है कि कवि का उद्देश्य महान चरित्रों का चित्रण या महान घटना का वर्णन नही, बल्कि किसी भी घटना के कारण विभिन्न व्यक्तियों के मन पर पडने वाले विभिन्न प्रकार के प्रभावों का वर्णन और विभिन्न मानसिक दशाओ का उद्घाटन करना है। आधुनिक उपन्यास का महाकाव्य के इस रूप-परिवर्तन में कितना हाथ है, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

होमर से लेकर अब तक के यूरोपीय महाकाव्यों के विभिन्न रूपों के विकास की इस विवेचना का उद्देश्य यही था कि भारतीय महाकाव्यो के रूप-विकास को भी इसके मेल में रखकर तुलनात्मक दृष्टि से देखा जा सके। अरस्तू से लेकर अब तक यूरोपीय देशो में महाकाव्य के सम्बन्ध में जितना वाद-विवाद और विचार-विमर्श हुआ है उतना भारत में नहीं हुआ। पर यूरोप में भी उन्नीसवी शताब्दी के पूर्व तक विकसनशील महाकाव्य के सम्बन्ध मे कुछ भी चर्चा नहीं हुई थी क्योंकि इलियड-ओडेसी को होमर-कृत अलकृत शास्त्रीय महाकाव्य माना जाता था और बियोवूल्फ निबेलंगनलीड आदि विकसनशील लोक महाकाव्यों का या तो आलोचकों को पता नही था या पता होने पर भी उनका लिखित रूप न मिलने और अज्ञात कवियों की रचना होने के कारण

उन्हें महाकाव्य की श्रेणी में नहीं रखा गया था। रोमाण्टिक काल में जर्मनी के ग्रिम, शिलर, गेटे आदि विद्वानों ने तथा बाद के टेनब्रिंक, चाइल्ड, केर, कि८रिज आदि शोधकर्ताओं ने इन विकसनसील लोककाव्यों को भी महाकाव्य का ही एक रूप माना और उन्हें भी इलियड-ओडेसी की श्रेणी में रखा। उसी तरह भारतीय साहित्य के अन्वेषकों—वेबर, मैक्समूलर, मैकडानल, बिल्सन, म्योर, कीथ, रिजवे, विंटरनिट्स आदि—ने महाभारत और रामायण को तथा ग्रियर्सन आदि ने हिन्दी के पृथ्वीराज रासो और आल्हाखण्ड को विकसनशील महाकाव्य की संज्ञा दी। इस प्रकार भारतीय और पाश्चात्य महाकाव्यों के अलिखित और लिखित परम्परा के आधार पर दो स्पष्ट विभाग हो जाते हैं—१—मौखिक परम्परा में विकसित (विकसनशील २—लिखित या अलकृत।

महाकाव्य के जिन रूपों और लक्षणों को चर्चा ऊपर की गयी है वे सभी अलंकृत महाकाव्य के हैं। भारतीय साहित्य में एक प्रकार का और महाकाव्य होता है जो पुराण और धर्म ग्रन्थ की शैली में होता है और प्राकृत अपभ्रंश में उसकी अधिकता है। उसी तरह फारसी के शाहनामा और संस्कृत की राजतरंगिणी को ऐतिहासिक शैली का महाकाव्य कहा जा सकता है। इस प्रकार सारे विश्व के महाकाव्य इतनी शैलियों या कोटियों के हो सकते हैं :—
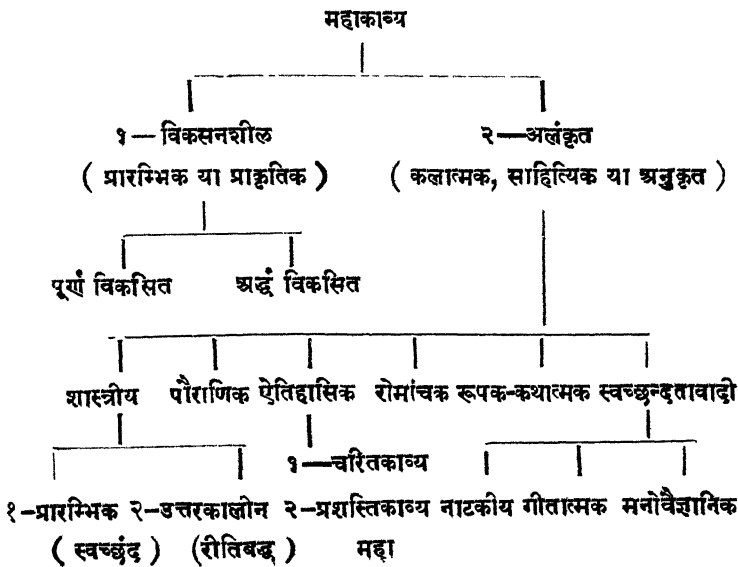
महाकाव्य की उपर्युक्त शैलियों में से कभी दो-दो तीन-तीन शैलियों के सम्मिश्रण से नये प्रकार के महाकाव्य भी दिखाई पड़ते हैं। अपभ्रंश के चरितकाव्यों में से कुछ तो विशुद्ध रोमांचक कथाकाव्य है और कुछ में महाकाव्य के गुण होते हुए भी पुराण, इतिहास और रोमांचक कथाकाव्य तीनों की शैली अपनायी गयी है। अपभ्रंश में उन्हें चरितकाव्य का नाम दिया गया था। चरितकाव्य में निजन्धरी और पौराणिक महापुरुषों और सामान्य व्यक्तियों के चरित को तो कथा का आधार बनाया ही जाता था, समसामयिक राजाओं, मन्त्रियों या सेठों की प्रशस्ति में भी उनके आश्रित कवि प्रशस्तिमूलक महाकाव्यों की रचना करते थे। संस्कृत के विक्रमांकदेवचरित, वस्तुपालचरित आदि महाकाव्य ऐसे ही प्रशस्ति-मूलक चरितकाव्य हैं। कई शैलियों के मिश्रण के अतिरिक्त कभी-कभी एक ही शैली बाह्यतः कई रूपों में मिलती है; जैसे शास्त्रीय महाकाव्य प्रारम्भ में अनुकृत होते हुए भी बहुत स्वच्छन्द थे पर उत्तरकालीन शास्त्रीय महाकाव्यों ने पूर्ववर्ती शास्त्रीय महाकाव्यों की रीतियों का पूर्णतया अनुकरण करके उन्हें रूढ़ बना दिया, अतः उनका रूप कालिदास और वर्जिल के स्वच्छन्दतायुक्त शास्त्रीय महाकाव्यों से भिन्न प्रकार का है। इन शैलियो के भारतीय महाकाव्यो के सम्बन्ध में अगले अध्याय में विशेष रूप से विचार किया जायगा।

आधुनिक पाश्चात्य आलोचकों ने विकसनशील वीरगाथात्मक महाकाव्य के संबंध में जो कुछ विचार किया हैं उसके आधार पर उसकी विशेषतायें और अलंकृत महाकाव्य से उसका अन्तर नीचे दिया जा रहा है :—

विकसनशील महाकाव्य की विशेषतायें :—

१—विकसनशील महाकाव्य एक कवि की रचना नहीं होता, सैकड़ों वर्षों में अनगिनत व्यक्तियो की प्रतिभा और वाणी के योग से उसका विकास होता है। दूसरे शब्दों में अलंकृत महाकाव्यों की तरह विशिष्ट कवियों द्वारा उसकी रचना नहीं होती बल्कि विभिन्न कालों के गायकों, चारणों और लेखकों (लिपिको) के प्रयत्न से उनका रूप विकसित होता है।

२—वीरता की भावना—विकसनशील महाकाव्य वीरयुग में विकसित होते हैं। अतः उनकी सामग्री तो वीरयुग की होती ही है, उनकी मूल भावना भी वीरता प्रधान होती है। उनमें प्रेम का चित्रण भी होता है पर उसकी प्रधानता नहीं होती है। पहले अध्याय में कहा जा चुका है कि वीरयुग दो प्रकार का रहा, पहला प्रारम्भिक वीरयुग और दूसरा सामन्ती वीरयुग। प्रारम्भिक वीरयुग में प्रेम का महत्व बहुत कम था। सामन्त वीरयुग के विकसनशील महाकाव्यों में प्रेमभावना का चित्रण अधिक हुआ है। अलंकृत महाकाव्यों में

वीर भावना का यह रूप नहीं मिलता, उनमें प्रेम का चित्रण भी दूसरे प्रकार का होता है।

३—वीर चरित्र—इन महाकाव्यों के नायक ऐसे महान वीर होते हैं जो साहस और शक्ति में समाज के अन्य लोगों की तुलना में बहुत आगे बढ़े हुए होते हैं। ये वीर युद्धों में अपनी वैयक्तिक वीरता और शक्ति-प्रदर्शन से विजय प्राप्त करते हैं, सैन्य-बल और सहयोग की अपेक्षा नहीं रखते। उनका प्रधान लक्ष्य यश और सम्मान की प्राप्ति और उसकी रक्षा करना होता । इसके लिए वे बिना सोच-विचार किये हर घड़ी अपने प्राणों की आहुति देने और दूसरों का प्राण लेने के लिए तैयार रहते हैं। उनके चरित्र की कुछ विशेषतायें ये हैं:—

(क) वे अपने शत्रुओं के प्रति अत्यन्त कठोर हैं।

(ख) उनमें औरों से अधिक और कभी-कभी अतिमानवीय शारीरिक और आत्मिक शक्ति होती है।

(ग उनका नैतिक मानदण्ड सामाजिक नही वैयक्तिक होता है। अर्थात् अपने यश-सम्मान के लिए या अपनी विजय के लिये वे जो कुछ करते हैं, सभी नैतिक माना जाता है। वीरयुग का यही नैतिक मानदण्ड था।

(घ) प्रारम्भिक वीरयुग का वीरनायक सारे समाज का आदर्श होता है, वह समाज की भावनाओं का मूर्त रूप होने के कारण उसका प्रतिनिधित्व करता है। पर सामंती वीरयुग का वीर नायक सारे समाज का प्रतिनिधित्व नहीं करता, वह अपने चामत्कारिक चरित्र के कारण ही मान्य होता है।

(ङ) इन वीरों का मानवीय सम्बन्ध युद्ध आदि के बाद प्रेम-व्यापार के रूप में सर्वाधिक व्यक्त होता है।

इसके विपरीत अलंकृत महाकाव्यों में जो महान चरित्र चित्रित किये जाते हैं वे वीरयुग के बाद के सभ्य-संस्कृत समाज के नैतिक मूल्यों से परिचालित महान उद्देश्य वाले सामाजिक व्यक्ति होते हैं।

४—साहसिक कार्य—इन महाकाव्यों में युद्ध और भयंकर यात्रा जैसे साहसिक कार्यों की अधिकता होती है। जीवन के अन्य क्षेत्रों और मानसिक दशाओं का चित्रण उनमें वैसा नहीं होता जैसा अलंकृत महाकाव्यों में होता है। अलंकृत महाकाव्य समाज की अत्यन्त संघटित और विकसित अवस्था में लिखे जाते हैं, अतः उनमें संघटित जीवन—जैसे शासन-कार्य, धर्म कार्य, सामाजिक व्यवहार आदि—का संश्लिष्ट चित्रण होता है।

५—कथानक का विस्तार—विकसनशील महाकाव्यों में कथानक उतना संघटित और अन्वितियुक्त नहीं होता जितना अलंकृत महाकाव्यों में होता है। अतः उनमें विस्तार अधिक होता है, कसावट कम। शास्त्रीय महाकाव्यों की तरह उनमें थोड़े में अधिक कहने की प्रवृत्ति नहीं होती है। उनमें रोमांचक महाकाव्यों की तरह कथा-प्रवाह अधिक वेगमय होता है। इसके निम्नलिखित कारण हैं :—

(क) उनमें अवान्तर कथायें अधिक होती है। अवान्तर कथायें अलंकृत महाकाव्यों में भी होती हैं पर वे प्रधान कार्य से घनिष्ट रूप से सम्बद्ध होती हैं। विकसनशील महाकाव्यों की अवान्तर कथायें लोककथा-लोकगाथा की प्रवृत्ति का परिचय देती हैं क्योंकि कथा के भीतर कथा रखने की प्रवृत्ति अधिकतर लोककथादि में ही होती है।

(ख) लोककथा की एक प्रवृत्ति अलौकिक और अतिप्राकृत तत्वों का अधिक उपयोग भी है। यह प्रवृत्ति विकसनशील महाकाव्यों में भी पाई जाती है। वीरयुग की सामान्य जनता अलौकिक शक्तियों और घटनाओं को सत्य मानती थी, अतः लोकविश्वास और सम्भावना के आधार पर विकसनशील महाकाव्यों में इन तत्वों का नियोजन पर्याप्त मात्रा में मिलता है। यही कारण है कि ऐसे महाकाव्यों में कथानक-रूढ़ियाँ भरी रहती हैं।

(ग) नाटकीय अन्विति उनमें उतनी नहीं होती जितनी शास्त्रीय महाकाव्यों में, अतः कथानक विशृङ्खलित प्रतीत होता है। अरस्तू द्वारा निर्दिष्ट यह लक्षण इलियड पर जितना लागू होता है उतना ओडेसी पर नहीं, और अन्य विकसनशील महाकाव्यों पर तो वह और भी कम लागू होता है।

६—उद्देश्य—विकसनशील महाकाव्य में वैसा कोई महान दर्शन उपस्थित करना उद्देश्य नहीं होता जैसा अलंकृत महाकाव्यों में होता है। किसी युग की अविस्मरणीय और प्रख्यात घटनाओं और महान चरित्रों की कथा को जीवन्त रूप में उपस्थित करके मनोरंजन करना इनका प्रधान उद्देश्य कहा जा सकता है। उनके चरित्र वीरयुग के बाद युगों के लिए नैतिक दृष्टि से आदर्श नहीं होते। अतः आदर्श चरित्रों का चित्रण करके उपदेश देना भी उनका उद्देश्य नहीं होता। यह अवश्य है कि विकसनशील महाकाव्य रोमांचक कथाकाव्य की तरह निरुद्देश्य और काल्पनिक नहीं होते, जीवन के प्रति दृढ आस्था उत्पन्न करना और संघर्ष और विपत्ति के क्षणों में अडिग साहस, धैर्य और वीरता से काम लेने का आदर्श उपस्थित करना ही उनका उद्देश्य कहा जा सकता है।

७—वस्तु-व्यापार वर्णन—उनमें वस्तुओं और विविध जीवन-व्यापारों का विव-

रण उपस्थित करने का प्रवृत्ति प्रारम्भिक रूप में होती है जिसको रूढि के रूप में अलंकृत महाकाव्यों में स्वीकार कर लिया गया। इससे जीवन और जगत में विविध रूपों और पक्षों का पूर्ण चित्र उद्घाटित हो जाता है। इन महाकाव्यों में जीवन के बाह्य रूपो का चित्रण जितना अधिक होता है उतना आन्तरिक रूपों अर्थात् मन की विविध दशाओं का नहीं। यही कारण है कि मनोवैज्ञानिक विवेचन उनमें नही होता, व्यक्ति के सामान्य सुख-दुख, क्रोध, घृणा, राग-विराग का सीधा चित्रण ही अधिक होता है। ऐन्द्रिक आनन्द की ओर भी विकसनशील महाकाव्यों का रुझान वैसा नहीं होता जैसा अलंकृत महाकाव्यों में होता है। पर सामाजिक आनन्द की बातों—जैसे हँसी-मजाक, खेल-कूद, नृत्यगान आदि—का चित्रण उनमें पर्याप्त मात्रा में होता है। अलंकृत महाकाव्यो में इनका चित्रण सयमित रूप में होता है।

८—सादगी और अनलकृति—विकसनशील महाकाव्य समाज की रचना होता है किसी विशिष्ट कवि की नहीं। समाज को सामूहिक प्रवृत्ति सहजता की होती है, अलंकरण की नहीं। इसके फलस्वरूप इन महाकाव्यों में निम्नलिखित विशेषताएँ दिखाई पडती हैं :—

(क) उनमें दूरारूढ कल्पनाओं और चमत्कार उत्पन्न करने वाले शास्त्रीय अलंकारों का अभाव होता है; पर उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अनुप्रास और अतिशयोक्ति जैसे सहज अलंकार, जो सामान्य जनता द्वारा प्रयुक्त होते हैं, इन महाकाव्यों में भी मिलते हैं।

(ख) भाषा और शब्द-चयन की दृष्टि से भी इन महाकाव्यों में वह चातुर्य और सौन्दर्य नहीं होता जो अलंकृत महाकाव्यों में होता है। अलंकृत महाकाव्यों में थोड़े में अधिक कहने की प्रवृत्ति के कारण कोई शब्द अनावश्यक रूप से नही प्रयुक्त होता और प्रत्येक शब्द में अधिक से अधिक अर्थ भरने का प्रयत्न कवि करते हैं जिससे उनमें अलंकारों की अधिकता दिखाई पडती है। फिर भी सहज भाषा में जो सौन्दर्य इनमें होता है, वह अलंकृत महाकाव्यों में नहीं होता।

(ग) उनमें पाण्डित्य-प्रदर्शन और शास्त्रीय ज्ञानोपदेश की प्रवृत्ति नहीं होती जो अलंकृत महाकाव्यों में होती है। विकसनशील महाकाव्य जीवन की खुली पुस्तक से अनुभव और सामान्य ज्ञान की सामग्री ग्रहण करते हैं, लिखित पोथियों से नहीं। अलंकृत महाकाव्यों का अधिक अंश पूर्व रचित ग्रन्थों के अध्ययन पर आधारित होता है। पर जिन विकसनशील महाकाव्यों को धार्मिक ग्रन्थ या पुराण के रूप में स्वीकार कर लिया

जाता है उनमें उपर्युक्त बातें धीरे-धीरे भर दी जाती हैं और वे प्रायः पुराण का रूप धारण कर लेते हैं।

९—परिवर्तनशील रूप—इन महाकाव्यों का विकास और प्रचार जनता के बीच या दरबारों में मौखिक रूप से होता रहा, अतः उनका रूप निश्चित नहीं रह सका। बाद में जब उन्हें लिखा गया तो विभिन्न स्थानों में और व्यक्तियों द्वारा उसके विभिन्न रूप तैयार हो गये। इस मौखिक प्रचार के कारण उनमें निम्नलिखित अभाव या दोष अनिवार्य रूप से मिलते हैं :—

(क) उनका सुनिश्चित पाठ नहीं होता।

(ख) गायकों-चारणों की आशु कविता की परम्परा से विकसित होने के कारण उनमें एक प्रकार की परिस्थितियों में एक ही तरह की उपमायें, विशेषण आदि का प्रयोग मिलता है। कई जगह तो वह पुनरुक्तिदोष बन गया है।

१०—छन्द—ये महाकाव्य जनता के बीच में दरबारों में वाद्य-यन्त्रों के साथ गाये या सस्वर सुनाये जाते थे। अतः इनमें अधिकतर गेय और सुपाठ्य छंदों का प्रयोग हुआ है जो भावानुरूप प्रभाव उत्पन्न करने में सहायक होते है।

११—अन्य काव्य-रूढ़ियाँ—अन्य काव्य-रूढ़ियाँ, जैसे महाकाव्य के प्रारंभ में मंगलाचरण, वस्तुनिर्देश और अनुक्रमणिका आदि, भी अनेक विकसनशील महाकाव्यों में पायी जाती हैं। पर इसे सामान्य लक्षण नहीं माना जा सकता। इनके अतिरिक्त स्वर्ग-नरक के वर्णन की रीति जो पाश्चात्य महाकाव्यों में रूढ़ हो गयी थी, या प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द रखने और सर्गान्त ते उसे बदल देने की भारतीय रूढ़ि भी विकसनशील महाकाव्यों में नहीं पाई जाती। यही नहीं, विकसनशील महाकाव्यों में बीच-बीच में गद्यांश भी मिलते है। इसे शास्त्रीय महाकाव्य में रूढ़ि रूप में नहीं स्वीकार किया गया। नाटक का एक प्रधान तत्त्व सम्वाद भी है जो विकसनशील महाकाव्यों में अधिक पाया जाता है। पर इसे भी अलंकृत महाकाव्यों में अधिक नहीं अपनाया गया।

महाकाव्य सम्बन्धी नयी मान्यताएँ

महाकाव्य के विविध रूपों और पाश्चात्य तथा भारतीय आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट उनके लक्षणों पर विचार कर लेने के बाद हम इस स्थिति में पहुँच गये हैं कि रामायण-महाभारत और इलियड-ओडेसी से लेकर आज तक के भारतीय और पाश्चात्य महाकाव्यों को दृष्टि-पथ में रखकर महाकाव्य की ऐसी परिभाषा निश्चित कर सकें जो सभी प्रकार के महाकाव्यों पर लागू हो। पर यह कार्य

आज भी उतना ही कठिन है जितना पहले था। कारण यह है कि महाकाव्य के सम्बन्ध में विभिन्न देशों और जातियों की विभिन्न प्रकार की मान्यता है। 'द बुक आफ एपिक' के लेखक ने विश्व भर के महाकाव्यों के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त करते हुए उक्त पुस्तक की भूमिका में ठीक ही लिखा है :—

"संसार में जितने राष्ट्र और जितने कवि हैं, महाकाव्य की सचमुच ही उतनी ही परिभाषाएँ हैं और महाकाव्य-रचना के उतने ही नियम हैं। इसीलिए जहाँ तक प्रस्तुत ग्रन्थ का सम्बन्ध है, इस बात की ओर ध्यान नहीं दिया गया कि कोई कवि-विशेष स्वयम् अपनी किसी कृति को महाकाव्य मानकर महाकवि का अधिकार चाहता है और कोई दूसरा राष्ट्रविशेष उसी कोटि की अन्य राष्ट्रीय कृति को आगे रख सकता है या नहीं, प्रत्युत इस ग्रन्थ के लिए तो उसी कृति को महाकाव्य मान लिया गया जिसे किसी भी राष्ट्र ने महाकाव्य की संज्ञा दी है[1]।"

इस कथन से सहमति प्रकट करते हुए कहा जा सकता है कि इस अध्याय में जिन आचार्यों के महाकाव्य सम्बन्धी विचार व्यक्त किये गये हैं उन सबने भी महाकाव्य की परिभाषा उन काव्य-ग्रन्थों को सामने रखकर ही बनाई है जो उनके समय में महाकाव्य माने जाते थे। अतः एबरक्रोम्बी के अनुसार महाकाव्य की एक परिभाषा तो यह हो सकती है कि महाकाव्य वह काव्य-रूप है जिसे पढ़ने या सुनने के उपरान्त उसी तरह का प्रभाव पड़े जैसा रामायण-महाभारत, इलियड-ओडेसी, इनीड-रघुवंश, बियोवूल्फ-पृथ्वीराज रासो, शाहनामा-पद्मावत, पैरेडाइजलास्ट-रामचरितमानस और फाउस्ट तथा कामायनी का पड़ता है[2]। पर यह परिभाषा बहुत ही अस्पष्ट और परिवर्तनशील भूमि पर आधारित है क्योंकि भावना और प्रभाव की परिभाषा नहीं हो सकती और न विभिन्न श्रोताओं-

---

१—विदेशों के महाकाव्य—"द बुक आफ एपिक का अनुवाद" अनु० गोपीकृष्ण गोपेश, प्रयाग—१९४९, भूमिका पृ० १३।

2—"An easy way to define epic, though not a very profitable way, would be to say simply that an epic is a poem which produces feelings similar to those produced by Paradise Lost or the Iliad, Beowulf or the Song of Roland. Indeed you might include all the epics of Europe in this difinition without loosing your breath, for the epic poet is the rarest kind of artist."

Abercrombie—The Epic, p 40—41.

पाठकों पर वह प्रभाव ही एक जैसा हो सकता है। अतः महाकाव्य का स्वरूप-निर्णय किसी दृढ़ और मूर्त आधार पर होना चाहिये। इस दृष्टि से 'दी बुक आफ़ एपिक' की भूमिका में महाकाव्य की यह परिभाषा दी गयी है:—एपिक प्रधान रूप से उस वीर रस प्रधान कथात्मक काव्य का नाम है जिसमें श्रेष्ठ काव्य के सभी गुण, जैसे सुख दुख और संयोग-वियोग का चित्रण तथा रीति-तत्त्वों और कथा-तत्त्वों का मिश्रण, आदि हो, जिसमें स्वाभाविक जीवन के मनोहारी चित्र और घात-प्रतिघात वर्णित हों और जिसमें सारे तत्त्वों का प्रकृत समन्वय इस कुशलता से किया गया हो कि वह रचना सदा के लिए अमर हो जाय। विस्तार से सोचने पर ऐसा प्रतीत होता है कि पौराणिक कथाएँ जिनमें हम प्रकृति को अपने ढङ्ग से सोचने-समझने का प्रयत्न करते रहे हैं, और महत्पात्रों के जीवन की कथायें जिनमें हम इतिहास को आदर्श पथ पर ले चलने का प्रयास करते रहे हैं, महाकाव्य के मुख्य और आवश्यक अंग है। और चूँकि महाकाव्य किसी भी जाति विशेष का जीता-जागता इतिहास होता है अतएव उसमें एक बड़ी नदी की चौड़ाई, गहराई और विस्तार होना अनिवार्य है। कहा जा सकता है कि आदिकाल से ही कल्पनाशील जातियाँ प्रकृति और जीवन को लेकर कितने ही अनुभव करती रही हैं। ये महाकाव्य और कुछ न होकर उन्हीं अनुभवों के प्रथम परिणाम और निष्कर्ष रहे हैं और वास्तविक कवि नियमित रूप से स्वयं एक जाति का व्यक्ति-रूप रहा है[1]।

पर यह परिभाषा भी स्पष्ट और पूर्ण नहीं है क्योंकि यह विकसनशील महाकाव्यों पर जितनी लागू होती है उतनी अलंकृत महाकाव्यों पर नहीं। आधुनिक युग के महाकाव्यो में कई में तो पौराणिक और निजन्धरी आख्यानों को बिलकुल नहीं लिया गया है। अतः यह परिभाषा सभी देशों और कालों के सभी प्रकार के महाकाव्यों पर नहीं लागू हो सकती :

बावरा और एबरक्रोम्बी का मत :—

अंग्रेजी के वर्तमान समय के एक प्रसिद्ध आलोचक सी० एम० बावरा ने महाकाव्य की एक दूसरी परिभाषा दी है जो यह है :—

"सर्व सम्मति से महाकाव्य वह कथात्मक काव्यरूप है जिसका आकार वृहद होता है, जिसमें महत्वपूर्ण और गरिमायुक्त घटनाओं का वर्णन होता है और जिसमें कुछ चरित्रों की क्रियाशील जीवन-कथा, विशेषकर भयंकर कार्यों जैसे युद्ध आदि से युक्त जीवन-कथा होता है। उसके पढ़ने के बाद हमें विशेष

१—विदेशों के महाकाव्य अनु० गोपीकृष्ण गोपेश-भूमिका पृ० १३।

प्रकार का आनन्द प्राप्त होता है क्योंकि उसकी घटनाएँ और पात्र हमारे भीतर मनुष्य की महानता, गौरव और उपलब्धियों के प्रति दृढ़ आस्था उत्पन्न करते हैं[1] ।" श्री बावरा की यह परिभाषा महाकाव्य के आन्तरिक गुणों को तो व्यक्त करती है पर उसके बाह्य लक्षणों पर इस से कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता । अतः यह परिभाषा भी पूर्ण नहीं मानी जा सकती । इसी से मिलता-जुलता मत एबरक्रोम्बी का भी है जिन्होंने महाकाव्य की यह परिभाषा दी है, "बड़े आकार के कारण ही कोई काव्य महाकाव्य नहीं हो जाता । जब उसकी शैली महाकाव्य की शैली होगी तभी उसे महाकाव्य माना जा सकता है और वह शैली कवि की कल्पना, विचारधारा तथा उनकी अभिव्यक्ति से जुड़ी रहती है । उस शैली के काव्य 'महाकाव्य' हमें एक ऐसे लोक में पहुँचा देते हैं जहाँ कुछ भी महत्वहीन और असारगर्भित नहीं होता । महाकाव्य के भीतर एक पुष्ट, स्पष्ट और प्रतीकात्मक उद्देश्य होता है जो उसकी गति का आद्यन्त संचालन करता है ।[2]" एबरक्रोम्बी की इस परिभाषा में घटना, चरित्र, उद्देश्य और शैली की महानता और गांभीर्य, सब पर ध्यान दिया गया है, फिर भी इससे महाकाव्य का रूप स्पष्ट नहीं हो पाता क्योंकि उसमें बाह्य तत्वों के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा गया है ।

केर और डिक्सन का मतः—

इस सम्बन्ध में डब्ल्यू० पी० केर की यह परिभाषा अधिक स्पष्ट और अपेक्षाकृत पूर्ण प्रतीत होती है । 'महाकाव्य में चरित्रों की कल्पना बहुत ही स्पष्ट और सम्पूर्ण रूप में की जाती है, अतः उनकी विभिन्न मनस्थितियों और समस्याओं के चित्रण के कारण महाकाव्य में नाना प्रकार के दृश्यों और गुणों का चित्रण स्वभावतः हो जाता है । इस प्रकार उसमें समग्र जीवन के कार्यकलाप जीवन-कथा

1—"An epic poem is by common consent a narrative of some length and deals with events which have a certain grandure and importance and come from a life of action, especially of violent action such as war It gives a special pleasure because its events and persons enhance our belief in the worth of human achievement and in the dignity and nobility of man"

C M, Bowara—From Virgil to Milton, P. I, London, 1945.

2. "What epic quality, detached from epic proper, do these poems posses, tnen, apart from the mere fact that they take up great many pages ? It is simple a question of their style—the style of their conception and the style

का रूप धारण कर लेते हैं। महाकाव्य की सफलता कवि की कल्पना शक्ति और उसके चरित्र-चित्रण पर निर्भर करती है। महाकाव्य माने जाने वाले कुछ काव्य-ग्रन्थों के कथानक में यद्यपि नाटकीय गुण नहीं होते और नवीन दृश्यों और साहसपूर्ण कार्यों की प्रधानता होते हुए भी उनका नायक महत्त्वहीन होता है, फिर भी ऐसे कथानको में एक प्रकार की गरिमा होती है जिससे वे महाकाव्य माने जाते है[1]।" इस परिभाषा में होमर से लेकर अब तक के उन सभी काव्यों में, जिन्हें विकसनशील शास्त्रीय या रोमांचक महाकाव्य माना जाता है, पाई जाने वाली सामान्य विशेषताओ का समावेश हो गया है, पर आधुनिक युग के स्वच्छन्दतावादी महाकाव्यों पर, यदि उन्हें महाकाव्य माना जाय तो, यह परिभाषा पूर्णतया नहीं लागू हो सकती। उदाहरण के लिये ब्राउनिंग के 'द रिंग ऐण्ड द बुक' में मनोवैज्ञानिक चित्रण ही प्रधान है, इसी तरह हिन्दी के आधुनिक महाकाव्य कामायनी में भी मनोवैज्ञानिक चित्रण और दार्शनिक निरूपण की ही प्रधानता है, उसमें घटनाओं और समग्र जीवन के विविध रूपों और पक्षों का चित्रण अधिक नहीं हुआ है। फिर भी उन्हें महाकाव्य इसलिए माना गया है कि उनमें कोई एक प्रधान घटना ऐसी है जो सहज या सरल होते हुए भी बहुत ही महत्त्वपूर्ण और महान है। सबका निष्कर्ष यह है कि महा-

---

of their writing, the whole style of their imagination, in fact. They take us into a region in which nothing happens that is not deeply significant, a dominant, noticeable symbolic purpose presides over each poem, moulds it greatly and informs it throughout."

Lascelles Abercrombie. The Epic P. 41-42

1. "In epic poem where the characters are vividly imagined it follows naturally that their various moods and problems involve a variety of scenery and properties, and so the whole business life comes into the story, the success of epic poetry depends on the author's power of imagining and representing characters, A kind of success and a kind of magnificence may be attained in stories, professing to be epic in which there is no dramatic virtue, in which every new scene and new adventure merely goes to accumulate, in immortal verse, the proofs of the heroes nullity and nsignificance."

W. P. Ker—Epic & Romance., p. 17

काव्य सम्बन्धी मान्यताएँ युग-युग में बदलती रहती हैं, पर प्रत्येक युग में पिछले युगों के मान्य महाकाव्यों को उनकी गद्दी से उतार नहीं दिया जाता, इस तरह महाकाव्य की नई-नई शैलियाँ बनती रहती हैं। अतः महाकाव्य के छोटे-मोटे लक्षणों से लेकर मूल विशेषताओं तक का विभिन्न युगों के कवियों द्वारा उल्लंघन किया जाता रहा है। स्वच्छन्दतावाद (रोमान्टिसिज्म) के युग में इस तरह के पुराने लक्षणों के बन्धनों को और भी अधिक तोड़ा गया। अतः उस युग के महान स्वच्छन्द विचारक वाल्टेयर का महाकाव्य के सम्बन्ध में यह कथन विचारणीय है जिसे मैकनील डिक्सन ने सर्वथा समीचीन मत माना है :—

"मान्य लक्षणों के होने या न होने से ही कोई काव्य महाकाव्य नहीं बन जाता। ऐसे काव्य-ग्रन्थ ही महाकाव्य-नाम के अधिकारी हैं जिनमें किसी महान घटना का वर्णन होता है और जिन्हें समाज व्यवहारतः महाकाव्य मानने लगता है। चाहे वह घटना सरल हो या जटिल, चाहे वह इलियड की तरह एक स्थान पर घटित हो या ओडेसी की तरह उसका नायक संसार भर में भटकता फिरे, चाहे उसमें एक नायक हो या अनेक, चाहे वे अभागे हों या सौभाग्यशाली, एचिलीस की तरह भयंकर क्रोधी हों या एनियास की तरह धर्मात्मा, चाहे वे राजा हों, या सेनापति, या इनमें से कुछ भी न हों, चाहे उसके दृश्य हिन्द महासागर के हों जैसे कैमाँस के लूसियाडा में, या पश्चिमी द्वीप समूह के हों, चाहे वे स्वर्ग के हों या नरक के जो इस धरती पर नहीं होते, इससे कुछ नहीं बनता-बिगड़ता। इसके बावजूद कोई काव्य तब तक महाकाव्य कहा जाता रहेगा जब तक आप उसके गुणों के अनुरूप उसका कुछ और नामकरण नहीं कर देते[1]।"

---

1 "Use alone has prefixed the name of epic particularly to those poems which relate some great action Let the action be simple or complex, let it lie in one single place, as in the Iliad, or let the hero wander all the world over, as in the Odyssey, let there be one single hero or a great many, happy or unfortunate, furious as Achilles, or pious as Aeneas, let them be kings or generals, or neither of them, let the scene lie upon the Indian ocean, as in the lusiada of Camoens, in the West Indies, as in the Arancana of Alonzo of Ericilla, in Hell, in Heaven, out of the limits of our nature, as in Milton, the poem will equally deserve the

वाल्टेयर का अभिप्राय यह है कि महाकाव्य में कुछ ऐसे गुण होते हैं जो भले ही शब्दों में व्यक्त न किये जा सकें, पर समाज जिनका अनुभव अपनी सहज बुद्धि द्वारा करता है और इस तरह सहज ही उसे महाकाव्य का पद प्राप्त हो जाता है। अतः उसका महाकाव्यत्व किसी काव्य के बाह्य लक्षणों, उसकी परम्परागत रूढियो पर निर्भर नहीं करता, बल्कि समाज की स्वीकृति पर निर्भर करता है। उस स्वीकृति के लिए वाल्टेयर ने केवल एक शर्त रखी है और वह है महाकाव्य में घटना का महान या गरिमायुक्त होना। अरस्तू ने भी यही शर्त रखी थी पर उसने उसके साथ और भी शर्तें रखी थीं जो बाद के कई मान्य महाकाव्यों में न मिलने के कारण वाल्टेयर को मान्य नहीं हुईं और उसी तरह आज भी उन्हें मानने की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। इस प्रकार संकीर्ण लक्षणों के मानदण्ड से महाकाव्य का स्वरूप निर्णय नहीं हो सकता। इस संबंध में डिक्सन का यह कथन सर्वथा उचित है कि यद्यपि महाकाव्य का एक निश्चित स्वरूप होता है पर उसे संकीर्ण लक्षणों के बन्धन में नहीं बाँधा जा सकता। उदाहरणार्थ शास्त्रीय महाकाव्य का यह नियम कि उसमें कल्पित और अविश्वसनीय तत्व नहीं होने चाहिये, यदि दृढ़तापूर्वक स्वीकृत किया जाय तो अनेक महान महाकाव्यों को इस श्रेणी से निकाल देना पड़ेगा[1]। जैसा पहले कहा जा चुका है, भारतीय आलंकारिकों द्वारा निर्दिष्ट लक्षणों का ही यह परिणाम हुआ कि रामायण और महाभारत को महाकाव्य की श्रेणी से निकाल कर इतिहास-पुराण की श्रेणी मे रख दिया गया। इन दोनों महाकाव्यों में नाटकीय अन्विति का अभाव है और आश्चर्यजनक तथा काल्पनिक घटनाओं का पर्याप्त वर्णन हुआ है, अतः शास्त्रीय महाकाव्य के लक्षणों के मानदण्ड से वे महाकाव्य नहीं

---

name of epic, unless you have a mind to honour in with another title proportionate to its merit"
Quoted by Macnielle Dixon—In English Epic & Heroic Poetry p, 9.

1 "And we may remind ourselves, and before all things that the term epic, definite enough in meaning. can bear no narrow interpretaion .. ..The rules like that for the exclusion of the marvellous or fantastic element, laid down by the critics, would have excluded from the role of epic poets, if rigidly applied, names the most brilliant had they not indeed made of it a total blank."

Ibid. p. 18—19

माने जा सकते पर यदि उन्हें, और प्राकृत-अपभ्रंश के सेतुबन्ध या रावणवहो, गौड़वहो, पउम चरिउ, महापुराण, आदि को तथा हिन्दी के पृथ्वीराज-रासो, रामचरित मानस और पद्मावत आदि को, जिनमें आश्चर्यजनक कल्पित घटनाओं और अतिप्राकृत तत्वो की प्रधानता और शास्त्रीय लक्षणों का अभाव है, महाकाव्य नही माना जायगा तो महाकाव्य की सीमा बहुत संकीर्ण हो जायगी।

महाकाव्य के स्थिर लक्षण :—

अतः महाकाव्य का स्वरूप-निर्धारण करते समय हमें इस बात का ध्यान रखना होगा कि हम उसके जो लक्षण निश्चित कर रहे है वे उनके स्थायी तत्वों से सम्बन्धित है या अस्थायी तत्वों से। पाश्चात्य और भारतीय आलोचको ने जितने लक्षण बताये हैं उनमें स्थायी तत्वों से सम्बन्ध रखनेवाले लक्षणों में अधिक अंतर नहीं है। भारतीय आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट लक्षणो में जो लक्षण सभी शैलियों के महाकाव्यों में निश्चित और अनिवार्य रूप से पाये जाते हैं, वे ये है—

१—नायक का आदर्श और महान होना—ऐसे नायकों को भारतीय आलंकारियो ने चतुरोदात्त या धीरोदात्त नायक कहा है। दशरूपक के अनुसार धीरोदात्त नायक महा सात्विक, अतिगम्भीर, क्षमावान, आत्मश्लाघाहीन, स्थिर तथा अहंकार को छिपाने वाला और दृढ़व्रती होता है[1]। रुद्रट ने महान नायक के और भी लक्षण दिये है।

२—महान उद्देश्य-इसे भारतीय आचार्यों ने चतुर्वर्ग फल की प्राप्ति कहा है।

३—रस की उपस्थिति।

४—कथानक का सदाश्रित होना या घटना का महान होना—इसी बात को दूसरे ढंग से इस तरह भी कहा गया है कि कथानक को इतिहास कथोद्भूत या ख्यातवृत्त होना चाहिये।

सभी भारतीय महाकाव्यों में अनिवार्य रूप से ये लक्षण मिलते हैं, क्योंकि इनका सम्बन्ध महाकाव्य की आत्मा से है। महाकाव्य के लक्षणों के सम्बन्ध में पाश्चात्य आलोचकों में भी बहुत मतभेद रहा है। पर वहाँ भी महाकाव्य की आत्मा से सम्बन्धित लक्षणों के बारे में सब एक मत रहे हैं। वे अनिवार्य या शाश्वत लक्षण ये है :—

१—महाकाव्य में किसी महान घटना का वर्णन होना चाहिये। उसके कथानक में नाटकीय अन्विति हो तो ठीक है, न हो तो भी उसे रोमांचक कथा की तरह विश्रृङ्खलित नहीं होना चाहिये।

१—"महासत्वोतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः।
स्थिरो निगूढ़ाहंकार, धीरोदात्त दृढव्रतः॥ दशरूपक—२।

२—उसमें कोई न कोई महान उद्देश्य अवश्य होना चाहिए, चाहे वह उद्देश्य राष्ट्रीय, या नैतिक, धार्मिक हो या दार्शनिक, मानवीय हो या मनोवैज्ञानिक।

३—उसमें प्रभावान्विति होनी चाहिये, चाहे वह नाटकीय ढंग की प्रभावान्विति हो या रोमांचक कथा के ढंग की या गीतिकाव्य के ढंग की।

उक्त लक्षणों की आलोचना—

महाकाव्य की आत्मा से सम्बन्धित भारतीय और पाश्चात्य आचार्यों के उक्त लक्षणों की तुलना करने पर ज्ञात होता है कि दोनों में अधिक अन्तर नहीं है। महान उद्देश्य, महती घटना और रस या प्रभावान्विति के सम्बन्ध में दोनों एक मत हैं। अन्तर केवल नायक या चरित्रों से सम्बन्धित लक्षणों के बारे में है। भारतीय आचार्यों और पाश्चात्य शास्त्रीय महाकाव्यों के समर्थकों ने समान रूप से इस बात पर ज़ोर दिया है कि महाकाव्य का नायक महान होना चाहिये, पर रोमांचक महाकाव्यों में प्रेम-भावना की अतिरञ्जना और अतिप्राकृत तत्त्वों के आधिक्य के कारण नायक का व्यक्तित्व दबा रहता है अथवा कभी कभी नैतिक दृष्टि से मध्यम कोटि का भी होता है। आधुनिक स्वच्छन्दतावादी महाकाव्यों में तो नायक का स्वरूप और भी बदल गया है। अतः नायक का आदर्श या महान होना महाकाव्य का सामान्य लक्षण नहीं माना जा सकता। उसी तरह महान घटना का होना या कथानक का इतिहास-कथोद्भूत होना भी सामान्य लक्षण नहीं माना जा सकता। कारण यह है कि कुछ महाकाव्यों में घटना महान न होकर सामान्य या अतिस्वाभाविक होती है पर उसके मूल में स्थित गूढ़ रहस्य का उद्घाटन करके महाकाव्य में प्रभावान्विति और महानता उत्पन्न कर दी जाती है। उसी प्रकार अनेक महाकाव्य ऐसे हैं जिनमें सभी या कुछ पात्र तो ऐतिहासिक-पौराणिक या निजन्धरी होते हैं पर शेष सभी बातें कवि द्वारा उत्पाद्य होती हैं। कुछ के कथानक में अनुत्पाद्य अंश भी होता है, पर उत्पाद्य अंश उससे बहुत अधिक होता है। रोमांचक और मनोवैज्ञानिक स्वच्छन्दतावादी महाकाव्यों में यही बात होती है।

अनिवार्य बाह्य लक्षण—

महाकाव्य के शरीर से सम्बन्धित लक्षण वे हैं जो उसके विस्तार, संगठन, रूप विधान या शैली, अलंकृति, वस्तुव्यापार वर्णन, अवान्तर कथाएँ, सर्ग, छन्द आदि के बारे में होते हैं। पाश्चात्य और भारतीय आलंकारिकों के ऐसे अनेक लक्षण परस्पर मिलते-जुलते हैं, जिनकी चर्चा पहले की जा चुकी है। इनमें कुछ लक्षण तो शाश्वत और स्थिर हैं और कुछ परिवर्तनशील या शैली विशेष और युग विशेष में लागू होने वाले होते हैं। सभी देशों, कालों और शैलियों

के महाकाव्यों में वे अनिवार्य रूप से नहीं मिलते। शाश्वत या अनिवार्य बाह्य लक्षण ये है :—

१—कथात्मकता और छन्दोबद्धता।

२—सर्गबद्धता या खण्डविभाजन और कथा का विस्तार।

३—जीवन के विविध और समग्र रूप का चित्रण।

४—नाटक, कथा और गीति-काव्य के अनेक तत्वों के सम्मिश्रण से संघटित कथानक का निर्माण।

५—शैली की गम्भीरता, उदात्तता और मनोहारिता।

अस्थायी लक्षण—

इनके अतिरिक्त महाकाव्य के अन्य जितने भी लक्षण पाश्चात्य और भारतीय आलोचकों ने दिये हैं वे अव्याप्ति या अतिव्याप्ति दोष से युक्त रहे हैं। अतः इस तरह के लक्षणों— जैसे महाकाव्य में आठ सर्ग हों, प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द हो जो अन्त में बदल जाय, भिन्न सर्गों में भिन्न छन्द हों, काव्यारम्भ में मगलाचरण, वस्तुनिर्देश, सज्जन दुर्जन-वर्णन और आत्मनिवेदन हो, कुछ निश्चित वस्तुओं और व्यापारों का वर्णन अवश्य हो, आदि के सम्बन्ध में अधिक विचार करना अनावश्यक है, क्योंकि ये महाकाव्य के शाश्वत लक्षण नहीं है। विभिन्न महाकाव्यों में इनका विभिन्न रूप होता है और किसी-किसी में इनमें से कई बिलकुल नहीं होते। इनकी उपयोगिता आज यही है कि उनके द्वारा तत्कालीन समाज की मनोवृत्ति और सांस्कृतिक-सामाजिक अवस्था का कुछ परिचय मिल जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्राचीन आलंकारिकों ने महाकाव्य के सम्बन्ध में पर्याप्त गम्भीरता के साथ विचार करके सूक्ष्म बुद्धि स इसका स्वरूप निर्धारण किया है। पर कुछ ऐसी भी बातें हैं जिनकी ओर पुराने आलोचकों का ध्यान नहीं गया है। हाँ कुछ आधुनिक आलोचकों ने उनकी ओर संकेत अवश्य किया है।

निष्कर्ष :—

अतः प्राचीन आलंकारिकों और अर्वाचीन आलोचकों के विचारों का अध्ययन करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि महाकाव्य मानव की कलात्मक प्रतिभा की वह सर्वोत्तम देन है जिसमें उसके जातीय गुणों, सर्वोत्कृष्ट उपलब्धियों और परम्परागत अनुभवों का पुंजीभूत रसात्मक रूप दिखलाई पड़ता है, जो उसके समग्र सामाजिक जीवन का प्रतीक होता है और जिसके बाह्य स्वरूप में यद्यपि देश-काल के भेद के साथ निरन्तर परिवर्तन होता रहता है पर

उसके आन्तरिक मूल्य और स्वाभाविक गुण शाश्वत और नित्य होते हैं। यदि महाकाव्य की परिभाषा देना आवश्यक ही हो तो उसकी यह परिभाषा दी जा सकती है—

महाकाव्य वह छन्दोबद्ध कथात्मक काव्यरूप है जिसमें क्षिप्र कथा-प्रवाह, या अलंकृत वर्णन अथवा मनोवैज्ञानिक चित्रण से युक्त ऐसा सुनियोजित, सांगोपांग और जीवन्त लम्बा कथानक होता है जो रसात्मकता या प्रभावान्विति उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ होता है, जिसमें यथार्थ, कल्पना या सम्भावना पर आधारित ऐसे चरित्र या चरित्रों के महत्पूर्ण जीवनवृत्त का पूर्ण या आंशिक चित्रण होता है जो किसी युग के सामाजिक जीवन का किसी न किसी रूप मे प्रतिनिधित्व करते हैं, और जिसमें किसी महत्प्रेरणा से परिचालित हो कर किसी महदुद्देश्य की सिद्धि के लिये किसी महत्वपूर्ण, गम्भीर अथवा आश्चर्योत्पादक और रहस्यमय घटना या घटनाओं का आश्रय लेकर सश्लिष्ट और समन्वित रूप से जाति विशेष और युग-विशेष के समग्र जीवन के विविध रूपो, पक्षों, मानसिक अवस्थाओं अथवा नाना रूपात्मक कार्यों का वर्णन और उद्घाटन किया गया रहता है और जिसकी शैली इतनी उदात्त और गरिमामयी होती है कि युग-युगान्तर में उस महाकाव्य को जीवित रहने की शक्ति प्रदान करती है।

इस परिभाषा में विभिन्न देशों और युगों के विभिन्न शैलियों के महाकाव्यों में प्राप्त सामान्य स्थायी लक्षणों का समावेश हो गया है। उन्हें मोटे तौर पर महाकाव्य के निम्नलिखित अवयवों के बीच विभाजित करके इस प्रकार रखा जा सकता है—

१—**महदुद्देश्य, महत्प्रेरणा और महती काव्य-प्रतिभा**—महाकाव्य में कोई न कोई महान उद्देश्य अवश्य होता है। इस उद्देश्य का रूप कभी प्रतीकात्मक या अप्रत्यक्ष होता है, और कभी वह प्रत्यक्ष और कभी उपदेशात्मक रूप मे स्थान-स्थान पर विकीर्ण रहता है। कुछ लोग उद्देश्य की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति को कलात्मक नहीं मानते, अतः भारतीय आलंकारिकों ने रसात्मकता के साथ चतुर्वर्ग फल की प्राप्ति को ही महाकाव्य का उद्देश्य कहा है। मात्र रसानुभूति अपने आप में कोई उद्देश्य नहीं है। महाकाव्य के महदुद्देश्य के मूल में कोई महत्प्रेरणा होती है जो पूरे महाकाव्य में उसकी प्राणशक्ति के समान आदि से अन्त तक व्याप्त रहती है। प्रेरणा उत्पन्न करने वाली वस्तुएँ और घटनाएँ तो बहुत सी होती हैं, पर उनकी अनुभूति उसी गहराई के साथ सबको नही होती जैसी किसी महान प्रतिभा वाले महाकवि को होती है। क्रौञ्चवध से उत्पन्न शोक को श्लोक में बदल देने की शक्ति वाल्मीकि जैसे महान प्रतिभा-

वाले कवि में ही हो सकती थी, अतः वही विश्व-व्यापी करुणा रामायण की महत्प्रेरणा है जो क्रौंचवध, रामवनवास, सीताहरण और वैदेही वनवास के रूप में रामायण में आदि से अन्त तक व्याप्त है। इस महत्प्रेरणा से रामायण में जिस महदुद्देश्य या फल की सिद्धि होती है वह है धर्मबल की विजय तथा महान आदर्श की स्थापना[1]। पर अन्य महाकाव्यों में दूसरे प्रकार के उद्देश्य भी हो सकते हैं जैसे महाभारत और इलियड में बाहुबल पर आधारित जीवन-मूल्यों की स्थापना, रघुवंश और कुमारसंभव में सामन्ती समाज के अनुरूप नैतिक कामशास्त्रीय और सामाजिक आदर्शों की स्थापना, इनीड और लूसियाडा में देश प्रेम के महान आदर्श की स्थापना। इसी तरह सभी महाकाव्यों में कोई न कोई महदुद्देश्य होता है जिसको सफलता के लिए ही महाकाव्य का सारा सरंजाम और अनुष्ठान होता है। इतने बड़े अनुष्ठान की कल्पना साधारण प्रतिभा वाला कवि नहीं, महाकवि ही कर सकता है।

२—गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्व—काव्य-प्रतिभा का सम्बन्ध कवि की कल्पनाशक्ति और उसके मानसिक धरातल से है। महाकवि की कल्पना-शक्ति इतनी विराट होती है कि उसमें उसका अपना स्वरूप बिलकुल ही खो जाता है, उसकी विराट कल्पना से समूचा युग-समाज अपने सद्-असद् रूपों के साथ प्रत्यक्ष रहता है और कवि उसका अपनी आवश्यकता के अनुरूप उपयोग करता है। इस विराट कल्पना की अवतारणा पहले उसके उच्च मानसिक धरातल पर होती है जहाँ वह उसे कलात्मक रूप प्रदान कर जीवन्त कथा-प्रबन्ध में बदलता और अपने मनोनुकूल भावों-विचारों और वस्तु-व्यापार का आयोजन करता है। कवि का मानसिक धरातल जितना ही ऊँचा होता है, उतनी ही गरिमा और उच्चता उसके महाकाव्य में भी होती है। अतः महाकाव्य का दूसरा आवश्यक और शाश्वत लक्षण यह है कि उसमें पर्याप्त गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्व होना चाहिये। इन गुणों के बिना महाकाव्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। गुरुत्व कवि के उच्च विचारों में आता है, गाम्भीर्य उसकी संयत और गम्भीर भावाभिव्यक्ति से

१. "रामायण म भी युद्ध-व्यापार यथेष्ठ है, राम का बाहुबल भी सामान्य नहीं है! इस बाहुबल की विजयदुन्दभी नहीं बजी है। युद्ध घटना उसके वर्णन का मुख्य विषय नहीं है......मनुष्य के चूडान्त आदर्श की स्थापना के लिए ही कवि ने इस महाकाव्य की रचना की है और उस दिन से आज तक मनुष्य के उस आदर्श चरित्र-वर्णन का पाठ भारतवासी अत्यन्त आग्रह और परम समादर से करते आ रहे है।"

रवीन्द्रनाथ ठाकुर—प्राचीन साहित्य, पृष्ठ ५।

उत्पन्न होता है और महानता उसकी घटनाओं, शैली, उद्देश्य और प्रभावान्विति से उत्पन्न होती है । ये सब मिलकर महाकाव्य को अन्य काव्य रूपों से अलग अन्यतम पद पर प्रतिष्ठित कर देते हैं ।

३—महत्कार्य और युग-जीवन का समग्र चित्र—महाकाव्य में युग-विशेष के समग्र जीवन का चित्रण किसी कथा के माध्यम से होता है जिसका चरम विन्दु कोई महत्वपूर्ण कार्य और आश्रय कोई एक प्रधान पात्र होता है । महत्कार्य का अभिप्राय यह है कि पूरी कथा की विविध घटनाओं का प्रवाह उसी कार्य की ओर होता है जैसे रामायण में राम-रावण-युद्ध महत्कार्य है और राम की विजय और सीता का उद्धार उसका फल । महत्कार्य को पाश्चात्य नाटकों के चरमविन्दु (क्लाईमेक्स) के रूप में माना जा सकता है । महत्कार्य के बिना महाकाव्य में महत्व नहीं आ सकता । आधुनिक स्वच्छन्दतावादी महाकाव्यों में महत्कार्य का रूप भिन्न होता है, उनमें किसी स्वाभाविक या सामान्य घटना के भीतर ही कवि किसी महत्वपूर्ण समस्या का आरोप करके फिर मनोवैज्ञानिक या दार्शनिक विश्लेषण द्वारा उसका उद्घाटन करता है । यही ऐसे महाकाव्यों का चरमविन्दु या महत्कार्य होता है । महत्कार्य का स्वरूप चाहे जो हो, पर हर हालत में उसके इर्द-गिर्द बुनी गयी कथा ऐसी होती है जो किसी युग के समूचे समाज के विविध रूपों और पक्षों का विवृत या सूक्ष्म रूप में चित्रण अवश्य करती है । महाकाव्य में कवि का मानसक्षितिज इतना व्यापक और विशाल होता है कि युग का समष्टि रूप उसमें स्वभावतः चित्रित हो जाता है । भारतीय और पाश्चात्य आलंकारिकों ने वस्तु व्यापार की जो सूची महाकाव्यों के लिए निश्चित की थी उसका अभिप्राय यही था कि मानव प्रकृति, मानसिक दशायें, मानवीय कृतियाँ और उपलब्धियाँ, मानव और प्रकृति का सबंध और संघर्ष, मानव-मानव का सामाजिक सम्बन्ध और संघर्ष, आदि विविध विषयों का समावेश हो जाने से महाकाव्य अपने युग का पूर्ण चित्र उपस्थित कर सके । पर ये सभी बातें गौण होती हैं, महाकाव्य का प्रधान वर्ण्य विषय उसका महत्कार्य होता है जिसके बिना महाकाव्य हो ही नहीं सकता ।

४—सुसंघटित जीवन्त कथानक—महाकाव्य में महत्कार्य और समष्टिगत जीवन चित्रों की नियोजना इतिहास-पुराण और कथा आख्यान से भिन्न ढंग की होती है । अतः अरस्तू का यह कथन सही है कि महाकाव्य में कार्यान्विति एक सीमा तक होनी चाहिये । महाकाव्य के कथानक और नाटक के कथानक में एकत्व सम्बन्धी समानता होते हुए भी सबसे बड़ी भिन्नता यह है कि नाटक में उतना ही कहा जाता है कि जितना किसी पात्र द्वारा कहलाया जा सकता है ।

कवि वहाँ अपनी ओर से कुछ भी नहीं कह सकता। इसके विपरीत महाकाव्य में संवाद तत्व के साथ कवि का वक्तव्य भी सम्मिलित रहता है। साथ ही नाटकों में पात्रों के बीच संवाद रूप में लम्बी अवान्तर कथाएँ नहीं कही जा सकती जब कि महाकाव्य में यह सर्वथा विहित है। इस सम्बन्ध में बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय का यह मत सर्वथा उचित है कि महाकाव्य में नाटक और गीति काव्य दोनों ही की शैलियों का सम्मिश्रण होता है[1]। इस तरह महाकाव्य में कार्यान्विति तो होती है, पर वह नाटक की तरह संकीर्ण नहीं होती और न इतिहास-पुराण की तरह नहीं के बराबर होती है। महाभारत और रामायण में घटना की अन्विति कम इसलिये है कि बाद के लोगों ने धार्मिक और नैतिक उद्देश्य से विविध प्रकार की सामग्री और कथाओं से उनको इस तरह भर दिया है जैसे वे सार्वजनिक वाहन ओमनीबस) हों। निष्कर्ष यह है कि महाकाव्य का कथानक बहुत बिखरा भी नहीं होना चाहिये और न उतना सीमित और जीवन के एक ही अंश और एक ही घटना पर आधारित होना चाहिए कि उसे खण्डकाव्य या एकार्थ-काव्य की सीमा में रखना पड़े। भारतीय आचार्यों ने महाकाव्य के कथानक का एक आवश्यक लक्षण यह भी दिया है कि वह सर्गबद्ध और नाटक की सभी सन्धियों से युक्त होना चाहिये। पाश्चात्य आचार्यों ने ऐसा नियम तो नहीं बनाया, पर वहाँ के महाकाव्य भी सर्गबद्ध होते हैं और नाटक के गुण उनमें भी होते हैं। इस प्रकार कथानक सम्बन्धी इतने लक्षण आवश्यक प्रतीत होते हैं :—

(क) उसके कथानक में पर्याप्त विस्तार होता है जो किसी व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन के चित्रण के कारण अथवा उसके जीवन से सम्बन्धित अन्य व्यक्तियों की जीवन-कथा के समावेश के कारण अपने आप हो जाता है।

(ख) उसमें कार्यान्विति से युक्त और सुसंघटित कथानक होता है।

(ग) उसमें नाटक और गीतिकाव्य के तत्वों का सम्मिश्रण रहता है अर्थात् नाटक से उसमें संवाद, सक्रियता, सर्ग-विभाजन, सन्धि आदि के तत्त्व लिये जाते हैं और गीतिकाव्य से वर्णनात्मकता का तत्त्व लिया जाता है।

---

१. "वही बातचीत और क्रिया नाटककार की सामग्री है। जो उसमें अव्यक्त रहता है, वही गीतिकाव्य रचने वाले की सामग्री है।......महाकाव्य का विशेष गुण यह है कि कवि को दोनो तरह के अधिकार रहते हैं, वक्तव्य और अवक्तव्य दोनों उसके अधीन होते हैं।"
बंकिम निबन्धावली, पृ० ५२-गीतिकाव्य, अनु० रूपनारायण पाण्डेय, बबई १९८८।

(घ) महाकाव्य के कथानक में चमत्कारपूर्ण आश्चर्यजनक और अतिप्राकृत तत्वों का सम्मिश्रण भी देखा जाता है। ये तत्व उसने रोमांचक कथाकाव्य से लिये हैं। पर आधुनिक महाकाव्यों में ये अधिक नहीं होते।

(ङ) कथानक में घटना का प्रवाह होना आवश्यक है, इसके बिना महाकाव्य दोषपूर्ण हो जाते हैं। घटना प्रवाह से सक्रियता का गुण उत्पन्न होता है जो महाकाव्य में अवश्य होना चाहिये।

(च) कथावस्तु कहाँ से ली जाय इसके लिये कोई नियम निर्धारित नहीं किया जा सकता। इतिहास-पुराण, कथा आख्यायिका, प्राचीन महाकाव्य, समसामयिक घटनायें और व्यक्ति, यहाँ तक कि विशुद्ध कल्पना से भी कथा का चुनाव और निर्माण किया जा सकता है। आज के युग की प्रवृत्ति अतीतोन्मुखी नहीं है, वर्तमान और भविष्य की ओर ही आज के समाज की आँखें रहती हैं। अत. महाकाव्य की कथावस्तु वर्तमान जीवन से सम्बन्धित भी हो सकती है।

५—महत्वपूर्ण नायक—अरस्तू ने महाकाव्य मे तीन प्रकार के चरित्रों का होना बताया है, आदर्श, यथार्थ और परम्परागत या रूढ। आदर्श वे महापुरुष होते है जो यथार्थ जीवन में बहुत कम होते है। मानवीय कमजोरियाँ प्रत्येक व्यक्ति में कुछ न कुछ होती ही हैं पर कवि कलाकार और चिन्तक सदा से निर्दोष व्यक्तित्व की आदर्श के रूप में कल्पना करते आये हैं। अधिकतर महाकाव्यों में नायक ऐसे ही आदर्श व्यक्ति होते हैं जो किसी उद्देश्य या निष्ठा के निमित्त अपना सब कुछ बलिदान करने के लिये तत्पर रहते है। भारतीय आचार्यों ने ऐसे आदर्श चरित्रो को धीरोदात्त नायक कहा है और उन्हीं को महाकाव्य का नायक बनाना आवश्यक माना है। अनेक पाश्चात्य आलोचको का भी यही मत है। पर अनेक महाकाव्यों में यथार्थ या सामान्य चरत्रि वाले व्यक्तियों को भी नायक बनाया गया है। दूसरी बात यह भी है कि आदर्श चरित्र का मानदण्ड हर युग में बदलता रहता है। प्रारम्भिक विकसनशील महाकाव्यों के नायक उस युग के लिए भले ही आदर्श रहे हो पर परवर्ती युगो में उन्हें या तो आदर्श नही माना गया या उनकी बहुत सी बातों को छिपाकर उन्हें आदर्श रूप प्रदान किया गया। परम्परागत या रूढ चरित्र से अरस्तू का अभिप्राय ऐसे कल्पित चरित्रों से है जिन्हें समाज पहले से मानता आया है पर जो ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं है। ये कोरे काल्पनिक या निजन्धरी चरित्र बहुधा कथा आख्यायिका के नायक होते हैं। इन कल्पित चरित्रों को चमत्कारपूर्ण शक्ति से युक्त दिखाया जाता है, कहीं वे देवता, गन्धर्व, राक्षस आदि होते हैं और कहीं

मानव को ही पौराणिक और निजन्धरी रूप प्रदान कर अलौकिक शक्ति से युक्त बना दिया जाता है। सामान्य या यथार्थ चरित्रों को उनकी स्वाभाविक सदसद् प्रवृत्तियों, चेष्टाओं और क्रियाओं के साथ चित्रित किया जाता है। महाकाव्य में नाना प्रकार के चरित्र होते हैं पर उनमें कोई चरित्र प्रधान अवश्य होता है। वह विभिन्न कारणों से अन्य चरित्रों से भिन्न भूमिका पर प्रतिष्ठित दिखाई पड़ता है। उसे ही महाकाव्य का नायक कहा जाता है। आदर्श नायक भी अनेक प्रकार के होते हैं, जैसे महान वीर, आदर्श त्यागी, महान प्रेमी, आदर्श देश-प्रेमी, महान सम्राट और राजनीतिज्ञ, विदुषी और सती साध्वी नारी आदि; पर इन महान और कल्पित व्यक्तियों के अतिरिक्त जो यथार्थ व्यक्ति नायक के रूप में दिखाये जाते हैं वे भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं होते। दान्ते के डिवाइना कामेडिया में कवि ने अपने ही को नायक के रूप में चित्रित किया है और अपने को यथार्थ व्यक्ति के रूप में ही रखा है, आदर्श या कल्पित चरित्र के रूप में नहीं। कामायनी का मनु भी यथार्थ नायक है। इसलिये नायक के सम्बन्ध में बस यही लक्षण हो सकता है कि चाहे वह आदर्श हो या कल्पित अथवा यथार्थ, पर हर हालत में महाकाव्य के लिए उसका चरित्र अत्यन्त महत्वपूर्ण होना चाहिये। उसके कारण ही महाकाव्य की कथा महत्वपूर्ण होती है और उसमें गरिमा और महानता आती है। सामान्य चरित्र बहुधा निष्क्रिय और किसी अन्य उद्देश्य के माध्यम मात्र होते हैं पर इससे उनका महत्व कम नहीं होता।

नायक का महत्व इस कारण होता है कि वह प्रधान घटना का प्रधान चालक होता है। वह घटना महती होती है इसलिये नायक में भी स्वतः महानता का प्रक्षेप हो जाता है। केवल देवता, राजा या सरदार होने से ही नायक में महानता नहीं आती बल्कि उनके अनुभवों और उद्दाम आवेगों का प्रशस्त और उदात्त चित्रण ही इन्हें महान बनाता है। अतः महान चरित्र का निर्माण भी कवि की कल्पना शक्ति पर ही निर्भर करता है जिसके द्वारा वह नायक को पूरे महाकाव्य का मेरुदण्ड बना देता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के अनुसार ऐसे चरित्र सदा आदर्श और देव-स्वभाव वाले होते हैं[1]। पर सभी महाकाव्यों में महान

१—"मन मे जब एक वेगवान अनुभव का उदय होता है तब कवि उसे गीत-काव्य में प्रकाशित किये बिना नहीं रह सकते। इसी प्रकार मन मे जब एक महत् व्यक्ति का उदय होता है, सहसा जब एक महापुरुष कवि के कल्पना राज्य पर अधिकार आ जमाता है, मनुष्य चरित्र का उदार महत्व

चरित्र आदर्श ही नहीं होते, कुछ में तो वे अलौकिक शक्तियों के हाथ की कठ-पुतली मात्र होते हैं और कुछ में अपने अन्तर में उठने वाले व्यक्तित्व होते हैं। पर सच पूछा जाय तो यही उनकी स्वाभाविक महानता है जो आदर्शवादी महानता से किसी भी अर्थ में कम नहीं है। कल्पित नायक भले ही आदर्श या यथार्थ न हों पर महाकवि उनकी कल्पना यदि इस प्रकार करता है कि वे असम्भव या काल्पनिक नहीं प्रतीत होते, तब भी उनमें महत्ता आ सकती है। उदाहरणार्थ, यदि देव-चरित्र वाले नायक 'कुमारसम्भव' के शिव को लें तो देखते हैं कि उनका चरित्र-चित्रण कालिदास ने यथार्थ मानव रूप में ही किया है जिससे उसमें सम्भावना पक्ष क्षीण नहीं हो पाया है[1]। पैरेडाइज लास्ट का शैतान, और कामायनी के मनु पौराणिक कल्पना के चरित्र हैं पर उन्हें भी आदर्श रूप में नहीं चित्रित किया गया है। इस प्रकार नायक चाहे आदर्श हो, या कल्पित अथवा यथार्थ उसकी प्रतीति असम्भव या कोरी कल्पना जैसी नहीं होनी चाहिये। इस प्रकार नायक के सम्बन्ध में तीन अनिवार्य लक्षण हो सकते हैं—

मनश्चक्षुओं के सामने अधिष्ठित होता है, तब उसके उन्नत भावों से उद्दीप्त होकर उस परम पुरुष की प्रतिमा प्रतिष्ठित करने के लिए कवि भाषा का मन्दिर निर्माण करते हैं। उस मन्दिर की भित्ति पृथ्वी के गम्भीर अन्तर्देश में रहती है और उसका शिखर मेघों को भेद कर आकाश मे उठता है। उस मन्दिर मे जो प्रतिमा प्रतिष्ठित होती है उसके देवभाव से मुग्ध और उसकी पुण्य-किरणों से अभिभूत होकर, नाना दिग्देशों से आ आकर लोग उसे प्रणाम करते है। इसी को कहते हैं महाकाव्य।" रवीन्द्रनाथ ठाकुर, मेघनादवध की भूमिका, पृ० १५७-१५८।

१—"कुमारसम्भव का कोई पात्र मनुष्य नहीं है। जो प्रधान नायक है, वे स्वयं परमेश्वर है। नायिका परमेश्वरी है।......इसी प्रकार मनोवृत्तियों को लेकर कवि ने नायक-नायिका बना कर लोगो की प्रीति के लिए लौकिक देवताओं के नाम से उनका परिचय दिया है। किन्तु देव चरित्र के प्रणयन में कालिदास ने मिल्टन की अपेक्षा अधिक कौशल दिखाया है......इसका कारण यही है कि कालिदास ने देव-चरित्र को मनुष्य-चरित्र के साँचे मे ढाल कर उसमे अमित माधुर्य भर दिया है...इसलिए अतिप्रकृत जब तक प्रकृत के अनुकरण पर नहीं होगा, तब तक वह उपयोगी नहीं हो सकता।" बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय-प्रकृत और अतिप्रकृत, बंकिमग्रन्थावली पृ० ५६-५७।

१—उसका चित्रण मानव के रूप में हो।

२—उसकी भूमिका महत्वपूर्ण और सर्वप्रधान हो और उसका चित्रण ऐसा हो कि वह अपनी अच्छाइयों-बुराइयों तथा सदसद्-प्रवृत्तियों के बावजूद महान प्रतीत हो।

३—वह महाकाव्य के महदुद्देश्य की सिद्धि का माध्यम और महत्कार्य का प्रधान आश्रय हो अर्थात् महाकाव्य के उद्देश्य के अनुरूप वह किसी विशेष राष्ट्र, जाति, कुटुम्ब, धर्म या समूची मानवता का प्रतिनिधित्व करने वाला व्यक्ति हो।

६—गरिमामयी उदात्त शैली—सामान्य कथात्मक काव्य और इतिहास-पुराण से महाकाव्य को अलग करने वाली प्रधान वस्तु उसकी शैली ही है। इसके अभाव में वही कथानक, वे ही पात्र, वही वस्तु-व्यापार वर्णन कभी इतिहास, कभी पुराण और कभी कथा-आख्यायिका का रूप धारण कर सकते है। अतः महाकाव्य की शैली कथा और इतिहास-पुराण की शैली से भिन्न, अत्यन्त गरिमामयी, उदात्त और गम्भीर होनी चाहिये। शैली के अन्तर्गत भारतीय आचार्यों ने गुण, रीति, औचित्य-विचार, अलंकार, शब्द-शक्ति, ध्वनि विचार आदि को लिया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन्हीं के द्वारा काव्य की शैली अभिव्यक्त होती है पर शैली बाह्य से अधिक आन्तरिक वस्तु है। उसे काव्य की आत्मा नहीं कह सकते तो उसका शरीर भी नही कह सकते। वह काव्य-शरीर की वह कान्ति है जो काव्य की आत्मा को मोती के आब की तरह बाहर झलकाती रहती है। महाकाव्य की शैली गीतिकाव्य और नाटक की शैली से बहुत कुछ ग्रहण करने के बाद भी उनसे बहुत भिन्न इसलिए होती है कि उनकी आत्मा का स्वरूप भिन्न-भिन्न होता है। गीतिकाव्य में माधुर्य, मृदुता और आन्तरिक आवेग का गुण होता है, इसके विपरीत महाकाव्य में गाम्भीर्य, प्रशस्तता और उदात्तता का गुण होता है। गीतिकाव्य की तुलना पहाड़ी झरने से, नाटक की मैदानी प्रवहमान सरिता से और महाकाव्य की गुरु-गम्भीर सागर से की जा सकती है। सागर मे जैसी व्यापकता, प्रशस्तता और गहराई होती है, वैसे ही महाकाव्य में भी ये सभी गुण होते हैं जो उसकी शैली के अंगरूप हैं। अतः स्पष्ट है कि महाकाव्य की शैली शब्द चयन, अलंकारों के प्रयोग और अन्य नियमों के पालन पर नही निर्भर करती। वह तो कवि की उस महाप्राणता पर निर्भर करती है जिसकी छाया का प्रक्षेपण काव्य पर स्वतः हुआ करता है। इस तरह कवि की महाप्राणता अथवा विराट चेतना महाकाव्य की शैली में ही विशेष रूप से अभिव्यक्त होती है। यद्यपि कथानक, चरित्र, उद्देश्य आदि भी कवि की ही

कल्पना और बुद्धि की उपज होते हैं पर महाकाव्य विषयप्रधान काव्यरूप है और उसमें नाटक के संवाद-तत्त्व का भी प्रयोग अधिक होता है तथा कवि को अपनी व्यक्तिगत बातें कहने का अवसर नहीं रहता है। अतः वहाँ शैली के रूप में ही कवि अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति करता है। कवि की चेतना विराट होने से उसकी शैली में भी वही विराटता और गम्भीरता होती है जो किसी काव्य को महाकाव्य बनाती है।

महाकाव्य का कथानक चाहे सरल हो या जटिल, उसके चरित्र चाहे आदर्श हो या यथार्थ अथवा कल्पित, यदि उसका उद्देश्य महान हैं, उसका नायक महत्त्वपूर्ण या महान है, और उसमें समग्र जीवन की विविध परिस्थितियों और मानसिक दशाओं का चित्रण हुआ है तो शैली अनलंकृत होते हुए भी अपने आप गम्भीर हो जायगी। विकसनशील महाकाव्यों में अलंकृति नहीं होती पर उनकी शैली अलंकृत महाकाव्यों जैसी ही गम्भीर और उदात्त होती है। भामह और दण्डी ने महाकाव्य में अग्राम्य शब्दों और अलकृत शैली का व्यवहार करने की व्यवस्था दी है। पर सच बात यह है कि जो अलंकार स्वाभाविक होते हैं वे ही शैली के अनिवार्य अवयव है क्योंकि वे कवि की चिन्ता-धारा की भाषा के भी अवयव होते हैं। श्रमसाध्य अलकार तो साधन न रह कर साध्य बन जाते हैं। अतः शिशुपालवध और नैषध-चरित की शैली अतिशय अलंकृत होने के कारण वैसी उदात्त और गम्भीर नहीं है जैसी रामायण, रघुवंश या कुमारसम्भव की। रोमांचक, पौराणिक और स्वच्छन्दतावादी शैली के महाकाव्यों में अलंकृति पर उतना ध्यान नही रहता जितना शास्त्रीय महाकाव्यों में रहता है। अतः अलंकृति शैली का आवश्यक अंग नहीं है। अरस्तू ने शैली के सम्बन्ध में अलग से विचार करते हुये कहा है कि कवि कभी सामान्य शब्दों द्वारा, अपने विचार प्रकट करता है और कभी विदेशी या रूपकात्मक शब्दों और कभी-कभी भाषा के उन परिवर्तनों और विशेषताओं (शब्द शक्ति आदि) का भी प्रयोग करता है जिन पर कवियों का ही विशेष रूप से अधिकार होता है। इससे स्पष्ट है कि भाषा सम्बन्धी प्रयोगों के लिए कवि को पूरी स्वतन्त्रता होती है। अतः महाकाव्य की भाषा अलंकृत ही हो ऐसा नियम नहीं हो सकता[1]। शब्द-चयन और गुण-रीति का ध्यान अलंकृत महाकाव्यों में अवश्य

1 "Again, all this he is to express in words, either common or foreign and metaphorical or varied by some of those many modifications and peculiarities of language which are the privilege of poets."
Poetics—by Aristotle—Ed—T. A. Maxon—London, 1949 p. 51.

रखा जाता है और इससे शैली में परिपक्वता भी आती है, पर ये भी शैली के स्थूल रूप ही हैं। वस्तुतः महाकाव्य की शैली उसके अन्य तत्वों से इतनी मिली जुली है कि उसे उनसे अलग करके देखना असम्भव है। महाकाव्य का वह सम्पूर्ण रूप-विधान ही उसकी शैली है जिसके विभिन्न अवयवों की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। उसके सम्बन्ध में बस यही कहा जा सकता है कि महाकाव्य की शैली महाकाव्योचित होनी चाहिए अर्थात् उसमें गम्भीरता, उदात्तता, कान्तिमत्ता, शक्तिमत्ता और प्राणवत्ता का होना आवश्यक है।

७—तीव्र प्रभावान्विति और गम्भीर रस-व्यंजना—अरस्तू ने महाकाव्य में प्रभावान्विति और भाव-व्यंजना का होना आवश्यक माना है और कहा है कि जिन स्थलों पर शैली और भावव्यंजना क्षीण होती है और जहाँ सक्रियता नहीं होती उन्हीं स्थलों पर श्रमसाध्य अलकृति होनी चाहिये क्योंकि चमत्कारपूर्ण अलकृति से शैली और भावव्यंजना नष्ट हो जाती है[1]। अरस्तू का अभिप्राय यह है कि शब्द चयन और अलंकृति की उपयोगिता महाकाव्य में हर जगह नहीं होती, उसमें तो शैली और भावव्यंजना का ही अधिक महत्व होता है। भावव्यंजना का ही भारतीय नाम रस है। भारतीय आचार्यों ने महाकाव्य में रस का होना आवश्यक माना है और कुछ आचार्य कहते है कि उसमें वीर, शृंगार और शान्त में से कोई एक रस प्रधान होना चाहिये पर अन्य रस भी गौण रूप से होने चाहिये। भारतीय आचार्यों का यह कथन सर्वथा सही है, हाँ प्रधान रस के लिए सीमा नहीं निर्धारित होनी चाहिये, करुण, अद्भुत या भयानक रस भी प्रधान हो जाय तो महाकाव्य महाकाव्य ही रहेगा। इसीलिए रुद्रट ने सब रसों का होना आवश्यक माना, उनमें से चाहे जो प्रधान हो। रस ही महाकाव्य या सभी प्रकार के काव्यों की आत्मा है, पर पाश्चात्य काव्यों में रस का स्वरूप भारतीय पारिभाषिक शब्दावली में व्यक्त 'रस' के अर्थ से भिन्न प्रकार का होता है। उसे वहाँ प्रभावान्विति (यूनिटी आफ इफेक्ट) कहा गया है और भारतीय रस' का अनुवाद इमोशिनमेण्ट या सेंटीमेन्ट किया गया है। प्रभावान्विति में दर्शक, श्रोता या पाठक काव्य से प्रभावित होकर हमेशा आनन्दित, क्षुब्ध, दुखी या करुणा-विगलित होकर कवि के उद्देश्य के प्रति परोक्ष रूप से अपनी सहमति और समर्थन प्रकट करता है। रस में वह

1—"The diction should be most laboured in the idle parts of the poem–those in which neither manners nor sentiments prevail, for the manners and sentiments are only obscured by too splendid a diction," Ibid-p 50

अपने 'स्व' की संकीर्ण परिधि को तोड़ कर अपने को नायक के साथ एक कर देता है, पर करुणा, क्षोभ, दुख, आनन्द, आश्चर्य, क्रोध आदि भाव रस के भीतर भी पहले प्रभावित ही करते हैं, और उस प्रभावान्विति के बाद ही रसानुभूति या रसनिष्पत्ति होती है। प्राचीन भारतीय महाकाव्य में रस-व्यंजना प्रधान वस्तु है, इसमें कोई सन्देह नहीं, पर पाश्चात्य महाकाव्यों और पाश्चात्य शैली के आधुनिक भारतीय स्वच्छन्दतावादी महाकाव्यों में रस की वही स्थिति नहीं है जो प्राचीन भारतीय महाकाव्यों में है। कामायनी को शान्त रस प्रधान महाकाव्य कहा जाता है पर उसमें पाश्चात्य ढंग की प्रभावान्विति अधिक है, भारतीय ढंग की रस-व्यंजना उतनी पूर्ण नहीं है। वस्तुतः मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखने पर प्रभावान्विति और रस व्यजना में अधिक अन्तर नहीं प्रतीत होता, यदि कोई अन्तर है तो यही कि आदर्शवादी साहित्य में रस-व्यंजना होती है और यथार्थवादी साहित्य में प्रभावान्विति। रस-व्यंजना भी प्रभावान्विति का ही एक रूप है। इसीलिए यहाँ दोनो शब्दों का साथ प्रयोग हुआ है। महाकाव्य में प्रभावान्विति का तीव्र और गहरा होना आवश्यक है क्योंकि इसी पर महाकाव्य की सफलता निर्भर करती है। यों तो नाटक और गीतिकाव्य में भी प्रभावान्विति होती है पर उनका प्रभाव उतना स्थायी और गहरा नहीं होता जितना महाकाव्य का। महाकाव्य का क्षितिज इतना विस्तृत और उदार होता है कि वह पाठक-श्रोता के मानस-क्षितिज को भी उतना ही व्यापक और उदार बना कर गहराई तक उसकी मानसिक वृत्तियों को झकझोर देता है। इस तरह पाठक को घनीभूत संवेदना और गम्भीर मानसमन्थन का सुयोग प्राप्त होता है जो सामान्य काव्य द्वारा नहीं मिल सकता। जितना ही उदात्त और गम्भीर महाकाव्य होता है उतना ही उसका प्रभाव भी गहरा और व्यापक होता है। रस का सम्बन्ध भावव्यंजना से है अतः जिन महाकाव्यों में मूल मनोवेगों और उनके विविध रूपो के प्रसार और प्रभाव का चित्रण अधिक होता है वे स्वभावतः रसात्मक होते है, उनमें घटना-प्रवाह और चरित्र-विकास भले ही अधिक न हो पर भावाभिव्यंजना की गहराई अधिक होती है। इस तरह महाकाव्य के लिये प्रभावान्विति या रसात्मकता आवश्यक तत्त्व है। उसमें उनका होना ही आवश्यक नहीं है, गहरा और तीव्र होना भी आवश्यक है क्योंकि जिस महान उद्देश्य की पूर्ति महाकवि करना चाहता है उसकी ऊँचाई तक पाठकों के व्यक्तित्व को उठाने के लिये उसके ऊपर गहरा से गहरा प्रभाव डाल कर या उन्हें रसमग्न कर उसके व्यक्तित्व को बदलना आवश्यक हो जाता है।

८—अनवरुद्ध जीवनी शक्ति और सशक्त प्राणवत्ता—महाकाव्य के

लक्षणों का अनुसरण और प्रसिद्ध महाकाव्यों का अनुकरण करके भी महाकाव्य लिखे जा सकते हैं और भारत तथा यूरोप में न जाने कितने लिखे जा चुके हैं। पर उनमें से अधिकांश या तो महाकाव्य माने नहीं गये या माने भी गये तो महाकाल ने उन्हें विस्मृति और अन्धकार के गर्त में ढकेल दिया। दूसरी ओर ऐसे काव्य, जिनके कवि या तो अज्ञात है अथवा जो न जाने कितने हाथों की रचनायें है और ऐसे ग्रन्थ जिनके लेखकों ने कभी सोचा भी नहीं कि वे महाकाव्य, लिख रहे हैं, कालान्तर में व्यापक प्रभाववाले महाकाव्य के रूप में मान्य हुए। ऐसे काव्यों ने युग-युग तक किसी विशेष देश, जाति या समाज के जीवन को नियंत्रित और प्रभावित किया है। यही कारण है कि नाटक, कथा-काव्य, इतिहास-पुराण और गीतिकाव्यों के ग्रन्थों की जहाँ कोई गणना नहीं हो सकती, वहाँ किसी भाषा के महाकाव्यों के नाम उगलियों पर गिने जा सकते हैं। और उस देश या जाति के अधिकांश लोग उन्हें अच्छी तरह जानते रहते हैं। ऐसा इसलिये है कि महाकाव्य हर समय और हर कवि द्वारा नहीं लिखा जाता। उसका एक उपयुक्त समय होता है और जब कोई विराट चेतनावाला महान कवि उस सुअवसर को पहचान कर तत्कालीन सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति अनजाने ही करने की चेष्टा करता है तब जाकर सच्चे महाकाव्य का निर्माण होता है। इसी बात को रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने महाकवि का ऐसा सामर्थ्य कहा है जिसके कारण 'उसकी रचना के अन्तस्तल में एक सारा देश, एक सारा युग अपने हृदय को और अपनी अभिज्ञता को प्रकट करके उस रचना को सदा के लिये समादरणीय सामग्री बना देता है। ऐसे महाकवियों की उक्तियाँ देश मात्र और जाति मात्र को मान्य होती है और ऐसे कवियों के नाम अपने काव्यों के अन्दर ही लुप्त हो जाते हैं।'[1] रवि बाबू का यह कथन

१—"साधारणतः काव्य के दो विभाग किये जा सकते है। एक तो वह जिसमे केवल कवि की बात होती है और दूसरा वह जिसमें किसी बड़े सम्प्रदाय या समाज की बात होती है..."

"इस दूसरी श्रेणी के कवि ही महाकवि कहे जाते हैं। सारे देशों और सारी जातियों की सरस्वती इनका आश्रय लेती हैं। ये जो रचना करते है, वह किसी व्यक्ति विशेष की लिखी मालूम नहीं पडती। कहने का अभिप्रायः यह कि उनकी उक्तियाँ देश मात्र और जाति मात्र को मान्य होती है। उनकी रचना उस बड़े वृक्ष की सी मालूम होती है जो देश के हृदय रूपी भूतल से उत्पन्न होकर उस देश भर को आश्रयरूपी छाया देता हुआ खड़ा हो।" प्राचीन साहित्य-(हिन्दी)-पृ० १०२

महाभारत-रामायण और इलियड-ओडेसी जैसे विकसनशील महाकाव्यों पर विशेष रूपसे लागू होता है पर अलंकृत महाकाव्यों में से भी कुछ में इतनी जीवन-शक्ति और प्राणवत्ता होती है कि वे समूचे राष्ट्र या जाति की सम्पत्ति बन जाते हैं। तुलसी का रामचरितमानस, वर्जिल का इनीड आदि ऐसे ही महाकाव्य हैं जो न केवल राष्ट्र और जाति की आत्मा को प्रतिबिम्बित करते हैं, बल्कि वे पूरे समाज की सम्पत्ति बन गये हैं।

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि महाकाव्य के सामान्य लक्षणों से अधिक आवश्यक यह है कि उसमें ऐसी अनवरुद्ध जीवनी शक्ति हो जो युग-युग में गंगा को धारा की तरह सामाजिक परिवर्तनों, राजनीतिक उलटफेर और सांस्कृतिक विकास की विषम भूमि के बीच से समाज के हृदय-प्रदेश में महाकाव्य की सरस धारा को अजस्र रूप से प्रवहमान रखे। विभिन्न जीवन्त महाकाव्यों में यह जीवन शक्ति विभिन्न रूपों और मात्रा मे हो सकती है, पर जिनमें यह बिलकुल नहीं होती वे महाकाव्य के सभी लक्षणों से युक्त होकर भी काल के अन्ध गर्भ में विलीन हो जाते हैं। यह जीवनी शक्ति महाकाव्य की अथवा महाकवि की अपनी जीवनी शक्ति नहीं होती, वस्तुतः वह किसी समाज की वह चिरन्तन जीवनी शक्ति है जिसके साथ महाकवि का तादात्म्य हुआ रहता है। अतः सच्चे महाकाव्य की जीवनी शक्ति पूरे समाज राष्ट्र अथवा जाति की जोवनी शक्ति होती है जो अनवरुद्ध रूप से युग-युग में प्रवाहित होती रहती है। रामायण, महाभारत और रामचरित मानस में यह जीवनो शक्ति सर्वांश रूप में वर्तमान है और पृथ्वीराज रासो, पद्मावत तथा कामायनी में उनसे कुछ कम अंशों में। उसी तरह यूरोप में इलियड, ओडेसी, बियोवूल्फ और इनीड मे वह सर्वांश रूप में है और अन्य अलंकृत महाकाव्यों में आंशिक रूप में। कुछ महाकाव्यो में वह शक्ति न्यूनतम अंश में होती है, अतः उनका साहित्य के इतिहास से नाम भर गिना दिया जाता है।

महाकाव्य की जीवनी शक्ति इस बात पर निर्भर करती है कि वह समाज को कितनी शक्ति, कितना साहस और जीवन को कितनी उमंग तथा आस्था प्रदान करती है। महाकवि जब अपनी सप्राणता को महाकाव्य में जीवन्त रूप में उतारता है तभी महाकाव्य में वह सशक्त सप्राणता आ पाती है जो युग-युग तक समाज को शक्ति और प्रेरणा प्रदान कर सकती है। रवि बाबू के शब्दों में ऐसे महाकवियों के वाक्य, झरनों के समान अपने-अपने देश के अन्तस्तल से निकल-कर बहुत दिनों से उसे आप्लावित करते आये हैं।" सामाजिक जीवन की उद्दाम जिजीविषा, अखण्ड वेग, और अजस्र प्रवाह जिस सशक्त और जीवन्त रूप में

किसी जातीय महाकाव्य में दिखाई पड़ता है, वैसा मानव की अन्य किसी कलात्मक कृति में नहीं। वीर-युग के प्रारम्भिक या विकसनशील महाकाव्यों में यह सशक्त प्राणवत्ता सबसे अधिक इसलिए मिलती है कि अत्यधिक सामूहिक भावना के कारण उस युग में मानव की जीवनी शक्ति व्यक्ति-केन्द्रित नहीं थी, वह विश्व में बिखर कर चलने वाली अर्थात् केन्द्र-प्रतिगामिनी थी, अतः उस काल के महाकाव्यों में कर्मण्यता, वीरता, त्याग-बलिदान, लोकहित आदि ऐसे गुणों का पूर्ण समावेश हो सका है जिनकी आवश्यकता और प्रतिष्ठा युग-युग में होती है। व्यक्तिवाद के विकास के साथ जीवनी शक्ति व्यक्ति केन्द्रित होती गयी, अतः परवर्ती महाकाव्यों में पहले जैसी सशक्त प्राणवत्ता नहीं मिलती। पर आधुनिक महाकाव्यों में भी वह होती अवश्य है, भले ही उसमें शक्ति हो या उसका स्वरूप बदला हुआ हो। उदाहरणार्थ आज के मानव की शक्ति की सक्रियता शारीरिक कम, मानसिक या बौद्धिक अधिक है, अतः आधुनिक महाकाव्यों -जैसे गेटे के फाउस्ट, हार्डी के डाइनेस्ट और प्रसाद की कामायनी—में मन की विविध शक्तियों की सक्रियता और बौद्धिक सप्राणता जितनी अधिक है उतनी घटनाओं और कार्य सम्बन्धी सक्रियता नहीं। इस प्रकार महाकाव्य का मूलभूत लक्षण उसका अनवरुद्ध जीवनी शक्ति और सशक्त प्राणवत्ता से युक्त होना ही है। ऐसा महाकाव्य लिखना सभी कवियों का काम नहीं है। इसी से महाकाव्य कहे जाने वाले सभी ग्रन्थ न तो महाकाव्य माने गये हैं, न माने जा सकते है!

तीसरा अध्याय

भारतीय महाकाव्य का रूप-विकास

हिन्दी महाकाव्य के रूप और उसकी विभिन्न शैलियों का विकास सहसा नहीं हो गया है। उसका अविच्छिन्न सम्बन्ध भारतीय महाकाव्य की उस अक्षुण्ण परम्परा से है जिसके विकास के विभिन्न स्रोतों और स्तरों या सामग्री के सम्बन्ध में प्रथम और द्वितीय अध्याय में विचार किया जा चुका है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि किस तरह भारतीय महाकाव्य का विकास वैदिक कालीन इतिहास-पुराण-आख्यान की परम्परा से हुआ है, जिनका प्रारम्भिक रूप वैदिक आख्यानों और दान स्तुतियों में दिखाई पडता है और जिनके विकसित रूप महाभारत रामायण तथा पुराण है। महाभारत और रामायण अपनी विशिष्ट शैली, विषय वस्तु और महत् उद्देश्य के कारण इतिहास पुराण के साथ महाकाव्य भी हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर का तो कहना है कि "भारत में महाकाव्य केवल दो ही हैं; महाभारत और रामायण। उनके बाद फिर कोई महाकाव्य नहीं निर्मित हुआ[1]।" अत रवि बाबू के मत के अनुसार इलियड-ओडेसी और रामायण-महाभारत जैसे विशाल विकसनशील काव्य ही महाकाव्य है और परवर्ती अलकृत महाकाव्य वस्तुतः महाकाव्य नहीं हैं। अनेक पाश्चात्य प्राच्य-विद्याविदों ने भी रविबाबू की तरह ही महाभारत और रामायण को तो 'एपिक' या महाकाव्य कहा है और अश्वघोष, कालिदास आदि परवर्ती कवियों के महाकाव्यों को दरबारी महाकाव्य (कोर्ट एपिक) या अलकृत महाकाव्य (आरनेट एपिक) कहा है। किन्तु इस प्रकार का नाम सम्बन्धी भेद उपस्थित करने का अर्थ

१—"अतएव कुछ प्राचीन काव्यों को एक श्रेणी मे रख कर यदि उनका नामकरण किया जाय तो वह नाम महाकाव्य के सिवा और क्या होगा! ये महाकाव्य प्राचीन काल के देवताओं और दानवो के समान ही विशालकाय थे। अब इनकी जाति लुप्त हो गयी है। साराश यह कि अब ससार भर मे कही भी महाकाव्यो का अवतार नहीं होता।"

'प्राचीन साहित्य', ले० रवीन्द्रनाथ ठाकुर, अनु० रामदहिन मिश्र, पृ० ३।

इतिहास के विकास के सिद्धान्त की उपेक्षा करना है। वस्तुतः हर युग में महाकाव्य निर्मित होते रहे है और हर युग मे उनके स्वरूप और शैली में परिवर्तन भी होता रहा है। अतः बुद्धचरित, रघुवंश, शिशुपालवध भी महाकाव्य हैं, भले ही महाभारत और रामायण से उनका स्वरूप-भेद बहुत अधिक है। महाकाव्य की जो परिभाषा पिछले अध्याय में दी गई है, उसके अनुसार वही काव्य महाकाव्य पद का अधिकारी हो सकता है जिसमे अदम्य और अक्षुण्ण जीवनी शक्ति हो और जिसका समग्र प्रभाव बहुत ही व्यापक और स्थायी हो। इस दृष्टि से शैली के विभिन्न भेदों के होते हुए भी भारत में महाभारत और रामायण के बाद लिखे गये अनेक काव्य महाकाव्य पद के अधिकारी है और सैकड़ों ऐसे काव्य जो महाकाव्य नाम देकर लिखे गये और आचार्यों द्वारा स्वीकृत भी हुए, वस्तुतः महाकाव्य नही है। इस अध्याय में ऐसे ही महाकाव्य पद के अधिकारी काव्य ग्रन्थों को ध्यान मे रख कर भारतीय महाकाव्य को परम्परा और उसके रूप-विकास पर विचार किया जायगा।

रामायण और महाभारत

रामायण और महाभारत हमारे देश के आदि महाकाव्य हैं। इनमें रामायण को तो भारतीय परम्परा आदि काव्य मानती रही है, पर महाभारत को वह इतिहास, पुराण या धर्मग्रन्थ के रूप में ही अधिक अपनाती आयी है, महाकाव्य के रूप में कम। जहाँ तक कथावस्तु का प्रश्न है, रामायण और महाभारत दोनों ही इतिहास माने जाते रहे हैं। किन्तु इतिहास होने के कारण ही ये दोनों महाकाव्य के महान पद से च्युत नहीं किये जा सकते। महाकाव्य के स्वरूप का जो विवेचन पिछले अध्याय में किया गया है, उसके अनुसार रामायण और महाभारत भारतीय इतिहास के प्रारम्भिक वीर-युग के विकसनशील महाकाव्य हैं। ये दोनों ही सच्चे अर्थों में महाकाव्य पद के अधिकारी हैं, क्योंकि महाकाव्य के जो मूलभूत लक्षण है, वे इनमें प्राप्त होते हैं। इन दोनों में आदिकालीन भारतीय संस्कृति और इतिहास का मर्म सम्पूर्ण रूप में व्यक्त हुआ है और भारतीय इतिहास का आदिकाल उनमें अपनी समूची ज्ञान-राशि और यथार्थ तथा बहुमुखी जीवन-व्यापारों को अभिव्यक्त कर सका है। इसीलिए ये महाग्रन्थ सदा सर्वदा के लिए भारतीय जातीय जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले अमर महाकाव्य बन गये हैं। इनमें भारत के आदिकालीन इतिहास का एक लम्बा युग इस कारण प्रतिबिम्बित होता है कि ये किसी विशेष कवि और सीमित अवधि वाले युग की रचनायें नहीं हैं। दूसरे शब्दों में वे यूनानी महाकाव्य इलियड और ओडेसी

की तरह भारत के आदि विकसनशील महाकाव्य हैं। विकसनशील महाकाव्य के लक्षण पिछले अध्याय में बताये जा चुके हैं। वे सभी महाभारत और रामायण में मिल जाते हैं। वे ये है :—

१ – कवि और काव्य-विकास

यद्यपि महाभारत और रामायण के साथ उनके कर्ता के रूप में व्यास और वाल्मीकि के नाम जुड़े हुए हैं, पर आधुनिक शोध से पता चलता है कि ये महाकाव्य एक से अधिक हाथों की रचनायें हैं। सैकड़ो वर्षों में अनगिनत व्यक्तियों की प्रतिभा और वाणी के योग से उनका वर्तमान रूप निर्मित हुआ है। व्यास और वाल्मीकि के जीवन से सम्बन्धित नाना प्रकार की अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं पर वैदिक साहित्य में व्यास पाराशर्य की चर्चा तो है, वाल्मीकि की चर्चा कहीं नही है। तैत्तिरीय आरण्यक और साम-विधान ब्राह्मण (१–४–३७७) में व्यास-पराशर्य का नाम आया है[1]। पाणिनि की अष्टाध्यायी में महाभारत की कथा से सम्बन्धित कई नाम, जैसे युधिष्ठिर, हस्तिनापुर, वासुदेव, अर्जुन आदि, आये है पर व्यास की चर्चा नहीं है। महाकाव्यमें पतंजलि ने महाभारत के उद्धरण तथा कथा-सन्दर्भ के साथ शुक वैयासिक (व्यास पुत्र शुक) का नाम लिया है। इससे स्पष्ट है कि उत्तर वैदिक काल में यद्यपि महाभारत की मूल कथा आख्यान-गीत के रूप में प्रचलित हो गयी थी पर उसके कर्ता के रूप मे व्यास का नाम अज्ञात था। महाभारत के अनसार मूल महाभारत, जिसका नाम 'जय' था, ऋषि कृष्णद्वैपायन अथवा व्यास द्वारा लिखा गया था, वे स्वय महाभारत के एक पात्र के रूप मे अर्थात् कौरव और पाण्डवों के पितामह के रूप में दिखाये गये हैं (महा० १–६३–१००) : उन्होंने भारती-युद्ध के उपरान्त इस काव्य की रचना की और अपने शिष्य वैशम्पायन को उसे सुनाया या दे दिया। वैशम्पायन ने जनमेजय के नाग-यज्ञ के समय पूरी कथा सुनाई। वैशम्पायन के उस ग्रन्थ का नाम 'भारत' था। उसी समय लोमहर्षण के पुत्र सूत उग्रश्रवा ने वह कथा सुनी थी। उन्होंने बाद में नैमिषारण्य में होने वाले शौनक के द्वादशवर्षीय यज्ञ के समय फिर पूरी कथा सुनाई और 'भारत' को 'महाभारत' बना दिया। वर्तमान महाभारत का प्रारम्भ यहीं से उग्रश्रवा और शौनक यज्ञ में एकत्र ऋषियों के संवाद के रूप में होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि महाभारत कम से कम तीन हाथों की रचना है। महाभारत स्वयं कहता है कि मूल ग्रन्थ में कृष्णद्वैपायन व्यास

1—History of Indian Literature, by weber, p. 184.

ने २४ हजार श्लोकों में रचना की थी। अन्यत्र उग्रश्रवा कहते हैं कि वे ८८ सौ श्लोक वाला भारत जानते हैं। फिर आगे ही यह भी कहा गया है कि व्यास ने ऐसे महाकाव्य की रचना की थी जिसमें तीस लाख श्लोक देवताओं के लिए, १५ लाख पितरों के लिए, १४ लाख गन्धर्वों के लिए और एक लाख छन्द मनुष्यों के लिए थे (महा० १-१-५१, ८१, १०१)। इससे स्पष्ट है कि महाभारत जिस रूप में आज प्राप्त है वैसा पहले नहीं था। इस सम्बन्ध में चिन्तामणि विनायक वैद्य का मत है कि 'इससे यही अनुमान होता है कि महाभारत के रचयिता एक से अधिक होंगे। महाभारत के ही वर्णनानुसार ये रचयिता तीन थे— व्यास, वैशम्पायन और सौति। भारतीय युद्ध के बाद व्यास ने 'जय' नामक इतिहास की रचना की.. .. इसमें सन्देह नही कि जो प्रश्नोत्तर वैशम्पायन और जनमेजय के बीच हुए होंगे वे व्यास जी के मूल ग्रन्थ से कुछ अधिक अवश्य होंगे। इसी प्रकार सौति तथा शौनक के बीच जो प्रश्नोत्तर हुए होंगे वे वैशम्पायन के ग्रन्थ से कुछ अधिक अवश्य होगे। सारांश, व्यास जी के ग्रन्थ को वैशम्पायन ने बढ़ाया और वैशम्पायन के ग्रन्थ को सौति ने बढ़ाकर एक लाख श्लोकों का कर दिया।'[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि महाभारत एक से अधिक हाथो की रचना है अर्थात् मूलभारत को व्यास ने स्वयं लिखा हो या लोक-प्रचलित आख्यानों का उसमें संग्रह किया हो पर बाद में उसका विस्तार विभिन्न लोगों द्वारा किया गया। यह ठीक-ठीक कहना संभव नहीं है कि व्यास जी के मूल ग्रन्थ 'जय' में कितने श्लोक थे। वेबर और मैकडानल का अनुमान है कि उसमें ८८ सौ श्लोक थे जैसा महाभारत में वैशम्पायन ने कहा है। श्री वैद्य इस मत को नहीं मानते। उनका कहना है कि वैशम्पायन के 'भारत' में २४ हजार श्लोक रहे होंगे और बाद में उग्रश्रवा ने शेष ७६ हजार श्लोक अतीत के पुरुषों की मनोरञ्जक कथाओं का वर्णन करने के लिए बढ़ाया होगा और उसी समय इसका नाम 'महाभारत' पड़ा होगा[2]। इस प्रकार हम देखते हैं कि महाभारत एक विकसनशील महाकाव्य है। उसकी श्लोक-संख्या के समान ही उसकी कथावस्तु और अवान्तर कथाओं का भी विकास और विस्तार धीरे-धीरे हुआ है। पहले अध्याय में महाकाव्य का उद्‌भव और विकास दिखाते हुए कहा जा चुका है

१—महाभारत-मीमांसा—हिन्दी अनुवाद, ले० चिन्तामणि विनायक वैद्य, अनुवादक पण्डित माधवराव सप्रे, पूना, सन् १६२०, पृ० ५–६।

२—वही पृष्ठ ८–६

कि किस तरह सूत, मागध, वैतालिक, बन्दीजन आदि ने इतिहास-पुराण और आख्यानों का संरक्षण किया और इस तरह लोकगाथाओ, लोककथाओं और अनुश्रुतियों या निजन्धरी कथाओं के योग से आख्यान-गीतों (बैलेड्स) ने महाकाव्य का रूप धारण कर लिया। महाभारत के सम्बन्ध में भी विद्वानों का यही मत है कि उसका विकास सूत-मागधों की परम्परा में ही हुआ है। उसकी मूल कथा कौरव-पाण्डव युद्ध की है जो सम्भवतः वैदिक कुरु-पांचालयुद्ध का परिवर्तित रूप है। इस सम्बन्ध मे भी, कि कौरव-पाण्डव एक ही कुल के थे या भिन्न जातियों या कुलों के, विद्वानों ने तरह तरह के अनुमान किये हैं। जो भी हो पर इतना सत्य है कि महाभारत की कथा का यथावत् रूप वैदिक साहित्य में नहीं मिलता, यद्यपि उसके अनेक पात्रों की चर्चा जगह - जगह आयी है। इससे यह सिद्ध होता है कि महाभारत यदि इतिहास है तो उसका संरक्षण वैदिक ब्राह्मणों की परम्परा में नहीं, बल्कि क्षत्रिय-परम्परा में और उन्ही के द्वारा संरक्षित सूत-मागधादि द्वारा हुआ। इस प्रकार इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि मौखिक रूप से गान होने या व्यासों द्वारा वाचन और विवर्धन होने के फलस्वरूप ही आज महाभारत इस विशाल आकार को प्राप्त कर शतसाहस्री संहिता बन सका है। उसकी मूल कथा के आस-पास सैकड़ों उपाख्यान और अतीत का इतिहास जुड़ने तथा उसमें धार्मिक और दार्शनिक वर्णनों की अधिकता होने का भी यही रहस्य है। यही कारण है कि विण्टरनित्स महाभारत को एक ग्रंथ नहीं, बल्कि एक पूरा साहित्य मानते हैं[1]। उनके अनुसार महाभारत का मूल रूप ईसापूर्व चौथी शताब्दी के पहले नहीं रहा होगा और उसका वर्तमान रूप चौथी शताब्दी में निर्मित हो चुका था[2]। इस तरह वर्तमान महाभारत करीब आठ सौ या हजार वर्षों के लम्बे काल के भीतर विकसित हुआ महाकाव्य है।

रामायण—महाभारत की तरह रामायण का कर्ता भी एक ही कवि नहीं है यद्यपि उसमें काव्य-कौशल और अन्विति महाभारत की अपेक्षा बहुत अधिक

1—"It is only in a very restricted sense that we may speak of the Mahabharat as an 'epic' and a 'poem'. Indeed in a certain sence, the Mahabharat is not one poetic production but rather a whole literature."—History of Indian Literature, part I, by M. Winternitz Calcutta, English translation, 1927, p. 317.

२—वही पृष्ठ ४६४।

है। इसीलिए वह अधिकांश में एक हाथ की रचना प्रतीत होती है। महाभारत इतिहास है, रामायण काव्य। रामायण में अलंकृत काव्य के लक्षण है। उसमें 'अमुक उवाच' कहकर कुछ नहीं लिखा गया। महाभारत में ऐसा है। महाभारत की शैली विकसित होकर पुराण बनी, रामायण की अलंकृत काव्य। इसीलिए रामायण आदि काव्य है और उसका लेखक आदि कवि। रामायण के कर्त्ता वाल्मीकि माने जाते हैं और रामायण के प्रारम्भ में ही उनके काव्यारम्भ करने की प्रेरणा क्रौंच-वध, नारद द्वारा राम-कथा-वर्णन, ब्रह्मा का वरदान आदि का वर्णन किया गया है। यह अधिकांश विद्वानों का मत है कि वर्तमान रामायण के आदिकाण्ड और उत्तरकाण्ड बाद के जोड़े हुए हैं, अतः वाल्मीकि की यह जीवन-कथा विश्वसनीय नहीं हो सकती। वस्तुतः व्यास के समान वाल्मीकि का होना भी सन्दिग्ध ही है क्योंकि प्राचीन वैदिक साहित्य में न तो रामकथा का उल्लेख मिलता है, न वाल्मीकि का। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि वैदिक काल के बाद कोशल प्रान्त में रामकथा सम्बन्धी आख्यान-काव्य की उत्पत्ति हुई यद्यपि इसका निश्चित रचना-काल निर्धारित करना अत्यन्त कठिन है। कामिल बुल्के ने अपनी खोज पुस्तक 'रामकथा' में ई० पूर्व छठी शती को उसकी रचना का काल माना है[1]। जिस तरह महाभारत की मूलकथा कुरु वंश के आश्रय में उत्तर-पश्चिम भारत में विकसित हुई उसी तरह रामकथा भी इक्ष्वाकु वश वालों के आश्रय में कोशल प्रदेश या मध्यदेश में विकसित हुई। राम के इक्ष्वाकुवंशीय होने के कारण इस वंश के सूत मागधों ने रामायण की मूल कथा सम्बन्धी आख्यान-गीत का प्रारम्भ किया होगा जिसे बाद में वाल्मीकि नामक किसी ऋषि ने काव्य का रूप प्रदान किया। महाभारत के द्रोणपर्व और शान्तिपर्व का रामोपाख्यान वाल्मीकि के पूर्ववर्ती रामआख्यान पर आधारित प्रतीत होता है। ई० पूर्व चौथी शताब्दी में रामकथा प्रचलित थी, इसका प्रमाण पालि-त्रिपिटक में रामकथा का होना है। त्रिपिटक की राम सम्बन्धी गाथायें वाल्मीकि रामायण की कथावस्तु से बहुत भिन्न हैं और इसी कारण वेबर और दिनेशचन्द्र सेन वाल्मीकि रामायण को बौद्ध रामकथा के आधार पर निर्मित मानते हैं। पर यह बात सही नहीं है, क्योंकि दोनों में बहुत अधिक भिन्नता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि रामायण में एक स्थान को छोड़ कर, जो क्षेपक मान लिया गया है, बुद्ध या बौद्ध धर्म की चर्चा कहीं नहीं है। अतः यही मानना तर्कसंगत है कि वाल्मीकि रामायण की रचना के

१—राम-कथा (उत्पत्ति और विकास), लेखक कामिल-बुल्के, प्रयाग, १९५०, पृष्ठ १३५।

पूर्व रामकथा की उत्पत्ति हो चुकी थी और वह आख्यान-गीत के रूप में लोक में प्रचलित थी। नाराशंसी-गाथा या इतिहास-पुराण के रूप में रामकथा का प्रचार पहले ही से था और उन्हीं गाथाओं को बौद्ध ग्रन्थों ने भी अपनाया और रामायण-महाभारत ने भी। इसका प्रमाण महाभारत के हरिवंश का यह श्लोक है :—

गाथा अप्यत्र गायन्ति ये पुराणविदो जनाः
रामे निबद्धतत्त्वार्था माहात्म्यं तस्य धीमतः ॥ (हरि० ४१-१४९)

इसके अनुसार पुराणविद् लोग राम की गाथा को गाते थे। इन गाथाओं का संकलन वाल्मीकि के पूर्व संभवतः भार्गव च्यवन ऋषि ने किया था, जिसका उल्लेख महाभारत में हुआ है[1]। वैसे वाल्मीकि को भी भार्गव कहा गया है पर अश्वघोष ने बुद्धचरित में कहा है कि महर्षि च्यवन जिस राम-काव्य की रचना में सफल नहीं हो सके उसे पहले पहल वाल्मीकि ने पूर्ण किया[2]। पर बाद में संभवतः च्यवन और वाल्मीकि को एक में मिला दिया गया या वाल्मीकि को च्यवन का पुत्र मान लिया गया[3]। इस प्रकार वाल्मीकि की स्थिति, काल और उनकी मूल रचना का कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। फिर भी अनुश्रुति के अनुसार वाल्मीकि को रामायण का कर्ता मानने में कोई आपत्ति इसलिए नहीं है कि इस ग्रन्थ में काव्य-गुण और अन्विति पर्याप्त मात्रा में है। पर इतना तो निश्चित है कि रामायण आज जिस रूप में प्राप्त है वह पूरी की पूरी वाल्मीकि कृत नहीं है। अधिकांश विद्वानों का मत है कि रामायण में भी महाभारत की तरह कालान्तर में गायकों द्वारा श्लोकों की वृद्धि हुई है और प्रारंभ में इसमें अयोध्या काण्ड से युद्ध काण्ड तक की ही कथा थी। बौद्ध ग्रंथ 'अभिधर्म महाविभाषा' में, जो चीनी भाषा में अनूदित रूप में सुरक्षित है, रामायण का उल्लेख है। उसके अनुसार रामायण में बारह हजार श्लोक थे। इसके अतिरिक्त कल्पनामण्डितिका (दूसरी शताब्दी) और सद्धर्म स्मृत्युपाख्यान (पहली शती) में भी रामायण का उल्लेख है। इससे यह सिद्ध है कि पहली

१—क श्लोकश्चायं पुरा गीतो भार्गवेन महात्मना।
आख्याते रामचरिते नृपतिं प्रति भारत। (शान्तिपर्व-१६)
ख. भृगोर्महर्षेः पुत्रोऽभ्च्यवनो नाम भूभार्गव। (६।१२२।१)

२—वाल्मीकिरादौ च ससर्ज पद्यं
जग्रन्थ यन्न च्यवनो महर्षिः। (बुद्धचरित १-४३)

३—देखिये कृत्तिवास रामायण—प्रारम्भ मे रत्नाकर की कथा।

शताब्दी तक वाल्मीकि रामायण निर्मित हो चुकी थी और अभिधर्म महाविभाषा के रचना-काल में उसका कलेवर वर्तमान रामायण के आधे से भी कम विस्तृत था।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रामायण भी महाभारत की तरह ही विकसनशील महाकाव्य है और उसकी रचना में एक से अधिक व्यक्तियों का हाथ रहा है। जर्मन विद्वान डा० रूबन का मत है कि मूल रामायण क्षत्रियों की सम्पत्ति थी; वह एक क्षत्रिय वीर-काव्य था, बाद में ब्राह्मणों ने उसे धार्मिक रूप प्रदान कर दिया और उसमें अवतारवाद और आदर्शवाद की बातें भर दीं। इस तरह ब्राह्मण प्रभाव से रामायण को वर्तमान रूप प्राप्त हुआ[1]। इस मत में सत्य का अंश है; पर अधिक सच बात तो यह है कि रामायण के विकास का प्रधान कारण उसका कुशीलवों द्वारा गाया जाना है। संभवतः ३०० ई० पू० के आसपास वाल्मीकि ने आदि रामायण की रचना की। रामायण स्वयं इसका प्रमाण है कि वाल्मीकि ने इसकी रचना करके कुश और लव को सिखाया। कुश-लव उसे लोक के बीच गाते थे तथा उन्होंने राम को भी उसे गा कर सुनाया[1]। रघुवंश में भी कुश-लव द्वारा रामायण-गान की चर्चा है[2]। यह कथा कुशीलवों द्वारा अपना महत्व बढ़ाने के लिए गढ़ी गयी प्रतीत होती है पर इससे इतना तो प्रमाणित होता ही है कि वाल्मीकि रामायण का गान होता था अर्थात् उसका मौखिक रूप में प्रचार था। रामायण के बारे में परम्परा से यह माना जाता है कि वह पढ़ने और गाने में समान रूप से मधुर है:—"पाठ्ये गेये च मधुरं प्रमाणैस्त्रिभिरन्वितम्।" कुशीलव जाति का उल्लेख अनेक जगह मिलता है। ये लोग रामायण को कण्ठस्थ करके जगह-जगह गाकर जीविकोपार्जन करते थे। पहले अध्याय में कहा जा चुका है कि चारण-भाट आदि किस तरह लोक रुचि को ध्यान में रख कर किसी रचना में वृद्धि कर दिया करते हैं। कुशीलवों ने भी रामायण को इसी प्रकार वर्तमान

१— कृत्स्नं रामायणं काव्यं गायतां परया मुदा।
ऋषिवाटेषु पुण्येषु ब्राह्मणावसथेषु च।
रथ्यासु राजमार्गेषु पार्थिवानां गृहेषु च।
(वा० रामायण—उत्तरकाण्ड, ९३)।

२—वृत्तं रामस्य वाल्मीकेः कृतिस्तौ किन्नरस्वनौ।
किं तद्येन मनोहर्तुमलं स्यातां न शृण्वताम्॥ रघुवंश

रूप दिया होगा, यह अनुमान सत्य के अधिक निकट है। याकोबी ने भी 'डास रामायण' में यही मत व्यक्त किया है[1]। पर वर्तमान रामायण के आदि और उत्तर काण्डों पर ब्राह्मण प्रभाव भी पड़ा है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार महाभारत और रामायण दोनों ही, कर्त्ता और कलेवर-वृद्धि की दृष्टि से तथा मौखिक परम्परा में विकसित होने के कारण, विकसनशील महाकाव्य सिद्ध होते हैं।

२—वीर-युग की रचनायें और वीरता की भावना

विकसनशील महाकाव्य की दूसरी विशेषता यह है कि वे वीर-युग में उद्भूत होते हैं जिससे उनकी मूल भावना वीरता की रहती है। पहले अध्याय में महाकाव्य का उद्भव और विकास दिखाते हुए कहा जा चुका है कि भारत में गौतम बुद्ध के पूर्व के काल को प्रारम्भिक वीर-युग और उसके बाद गुप्त काल तक की अवधि को विकसित वीर-युग माना जा सकता है। ऊपर कहा जा चुका है कि महाभारत की मूल कथा गौतम बुद्ध के पूर्व उत्तर वैदिक काल में ही उत्पन्न हो चुकी थी और चौथी शताब्दी तक उसको वर्तमान रूप प्राप्त हो गया था। इस तरह महाभारत का उदय भारतीय इतिहास के प्रारम्भिक वीर-युग में हुआ जिस समय क्षत्रियत्व और बाहुबल का समाज में अत्यधिक सम्मान था। उसका विकास भी क्षत्रिय-आश्रित सूत-मागध या ऋषियों की परम्परा में हुआ था। अतः मूल 'भारत' निश्चयरूप से वीर-आख्यान था। विण्टरनित्स का अनुमान है कि प्रारम्भ में उसका विकास कुरुवंश के राजाओं के सूतों द्वारा होता रहा और उसमें प्राचीन कुरु-पांचाल युद्ध का वर्णन था पर बाद में पाण्डव वंश के राजाओं का अधिकार हो जाने पर उसका रूप पाण्डवों के पक्षपात से पूर्ण हो गया[2]। फिर यह आख्यान इतना लोक प्रचलित हुआ कि ब्राह्मणों ने पौराणिक-ऐतिहासिक तथा आख्यान-गाथा सम्बन्धी साहित्य पर भी अपने धर्म के प्रचार या जीविकोपार्जन के उद्देश्य से अधिकार करना आवश्यक समझा और धीरे धीरे पाण्डवों को धार्मिक और कौरवों को अत्याचारी चित्रित कर दिया गया। इस तरह महाभारत अन्ततोगत्वा ब्राह्मण विचारधारा का प्रमुख ग्रंथ, यहाँ तक कि पंचम वेद माना जाने लगा। परिणामस्वरूप उसकी प्रारम्भिक अन्विति नष्ट हो गयी। फिर भी उसमें वीरता की भावना बहुत कुछ सुरक्षित रह गयी है। जहाँ तक उसकी मूल कथा का सम्बन्ध

१—डास रामायण, ले० हरमन याकोबी, पृ० ६२।

२—हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भाग १, विण्टरनित्स, पृ० ४५५।

है वह निस्सन्देह एक वीर-काव्य है, धार्मिक काव्य नहीं। उसका मूल रूप 'जय' तो विशुद्ध रूप से वीर-काव्य रहा होगा जैसा उसके नाम से ही प्रकट है[1]। इसके उपाख्यानों में धार्मिक या भक्ति की भावना अधिक है, अतः स्पष्ट ही वे बाद के जोड़े हैं। वर्तमान महाभारत का उद्देश्य वैष्णव भक्ति और कर्म-मार्ग का उपदेश देना हो गया है और उसमें ध्वन्यालोककार के अनुसार शान्त रस प्रधान है, वीर रस गौण या अंगरूप है[2]। पर मूल ग्रंथ जय और भारत में वीर-रस ही प्रधान रहा होगा क्योंकि स्पष्ट ही उन पर वैष्णव विचार धारा का नहीं बल्कि क्षत्रियोचित वीर-भावना का प्रभाव था। इसमें कोई संदेह नहीं कि महाभारत के ही कथनानुसार जो इसमें नहीं है वह अन्यत्र भी नही है (९-१८), वह स्वयं विशाल साहित्य है। पर इस सत्य से भी इन्कार नही किया जा सकता कि वर्तमान महाभारत में भी सर्वप्रधान वस्तु महायुद्ध और उसका भयंकर परिणाम तथा पाण्डवों की विजय ही है। अतः वीर रस का ऐसा विशाल महाकाव्य अन्य कोई नहीं है। वीर-युग की जो भी विशेषतायें होती हैं वे सभी इसमें पाई जाती है। वस्तुतः महाभारत अनेक प्रकार के धार्मिक घटाटोप द्वारा कलेवर-वृद्धि के बाद भी भारत के प्रारम्भिक वीर-युग का समग्र और सच्चा चित्र उपस्थित करता है।

रामायण उत्तरकालीन विकसित वीर-युग का काव्य है—उस युग में समाज बर्बरयुगीन समाज-व्यवस्था से पर्याप्त आगे बढ़ चुका था और साम्राज्य स्थापित हो गये थे तथा धर्म की मर्यादा स्थिर हो चुकी थी। पर वीरता का स्थान अब भी उतना ही महत्त्वपूर्ण था। वीर-युग में बाहुबल अर्थात् शारीरिक शक्ति और वैयक्तिक वीरता का ही सर्वाधिक महत्व होता है और जिसमें ये गुण होते हैं वही सेनापति, नायक और राजा बनता है। महाभारत की भाँति रामायण में भी वीरता का यह स्वरूप दिखाई पड़ता है। प्रारम्भिक वीर-युग में वैयक्तिक वीरता और विजय की कामना के अतिरिक्त नैतिकता का अन्य मूल्य नहीं होता, महाभारत में यह बात दिखाई पड़ती है। पर विकसित वीर-युग में धार्मिक और

१—क. नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत्॥ महाभारत
ख. जयनामेतिहासोऽयम्। महाभारत।

२—महाभारतेऽपि शास्त्रकाव्यरूपच्छायान्वयिनि वृष्णिपाण्डव विरसाव-सानवैमनस्यदायिनी समाप्तिमुपनिबध्नता महामुनिना वैराग्यजननं तात्पर्य प्राधान्येन स्वप्रबन्धस्य दर्शयता मोक्षलक्षणः पुरुषार्थः शान्तो रसश्च मुख्यतया सूचितः॥ ध्वन्यालोक-चतुर्थ उद्योत।

सामाजिक नैतिकता वैयक्तिक उद्दाम वीरता की भावना को नियंत्रित करने लगती है। रामायण में समाज का यही विकसित रूप दिखाई पड़ता है और पात्रों के चरित्र भी इस तरह नियन्त्रित और संयमित वीरता की भावना से ओत-प्रोत हैं। इसीलिए रामायण का विकास मूल भारत के बाद का प्रतीत होता है। महाभारत में भीमसेन द्वारा दुःशासन का रक्त पीना सम्भव है, हिडिम्बा आदि से विवाह सम्भव है, अर्जुन का अनेक प्रकार का प्रेम-व्यापार सम्भव है, कृष्ण का छल-कपटमय व्यवहार सम्भव है पर रामायण में यह सब सम्भव नहीं है। वहाँ तो धोबी के व्यंग पर राम सीता को वनवास दे सकते हैं, रावण के आश्रय में रहने के कारण सीता की अग्नि-परीक्षा ली जाती है और कहीं भी अनैतिक ढंग से युद्ध नहीं लड़ा जाता। रामायण में नैतिकता और धर्म-भावना की अधिकता का यह अर्थ नहीं कि उनमें वीर-भावना की कमी है। रामायण की प्रधान घटना राम-रावण युद्ध ही है, उसमें राम अपने वैयक्तिक बाहुबल से तथा लक्ष्मण और वानरादि की सहायता से युद्ध जीतते हैं। पर राम की वीरता धर्म-भावना से ओतप्रोत है। महाभारत के पात्रों की वीरता ऐसी नहीं हैं। राम वैयक्तिक हित के साथ आर्य साम्राज्य के विस्तार के लिए भी लड़ते हैं, महाभारत का शक्ति-प्रदर्शन वैयक्तिक स्वार्थों के लिए ही है। इस प्रकार यद्यपि महाभारत और रामायण दोनों ही वीर-युग का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं, दोनों ही में विकसनशील महाकाव्यों के अनुरूप वीरता की भावना ही प्रधान है पर दोनों के विकास-काल में भेद होने के कारण दृष्टिकोण का भेद भी है। वैसे धार्मिक और उपदेशात्मक बातों, घटनाओं और कथाओं को दोनों में खूब जोड़ा गया है और दोनों को धार्मिक रूप प्रदान करने और अवतार-वाद तथा भक्ति का प्रचारक बनाने का प्रयत्न बाद के लोगों ने खूब किया पर इससे इन दोनों महाकाव्यो की मूल भावना पर परदा नहीं पड़ सका है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर का मत है कि 'रामायण में भी युद्ध-व्यापार यथेष्ट है, राम का बाहुबल भी सामान्य नहीं है, तथापि रामायण में जो रस सर्वापेक्ष्य प्रधान है वह वीर रस नहीं है। उसमें बाहुबल की विजय-दुन्दुभी नहीं बजी है। युद्ध-घटना उसके वर्णन का मुख्य विषय नहीं है।' ''मनुष्य के चूड़ान्त आदर्श की स्थापना के लिए ही कवि ने इस महाकाव्य की रचना की है और उस दिन से आज तक मनुष्य के उस आदर्श चरित्र-वर्णन का पाठ भारतवासी अत्यन्त आग्रह और परम आदर के साथ करते आ रहे है।' (प्राचीन साहित्य, पृ० ४-५) रवि बाबू का निष्कर्ष तो सर्वथा सत्य है कि रामायण में आदर्श की स्थापना हुई है पर इससे उसके वीर-काव्य होने में कमी कहाँ पड़ती है? आदर्शवादी

काव्य होने पर भी उसका प्रधान रस वीर ही है, हाँ, क्षेपकों और बाद के बढ़ाये अंशों (आदि और उत्तर काण्ड) को ही अधिक महत्व दिया जाय तो बात दूसरी है। अतः रवि बाबू का यह मत विवादास्पद है कि 'रामायण में बाहुबल को नहीं जिगीषा को नहीं, राष्ट्र-गौरव को नहीं, केवल शान्त रसास्पद गृहस्थधर्म को ही, करुणा के अश्रुजल से अभिषिक्त कर, महान शौर्य-वीर्य के ऊपर प्रतिष्ठित किया गया है। (प्राचीन साहित्य, पृ० ७) वस्तुतः उसमें गृहस्थ-धर्म के आदर्श की स्थापना के साथ-साथ बाहुबल और राष्ट्र-गौरव को ही अधिक महत्व दिया गया है और इसी कारण रामायण जातीय महाकाव्य माना जाता है।

महाभारत और रामायण में इस मात्रा तक विकास हुआ है कि उनके मूल रूप और वर्तमान रूप में कोई समानता नहीं रह गयी है। हम जब उन्हें वीर-काव्य कहते हैं तो हमारा तात्पर्य उनके मूल रूप से है जिनका आभास मात्र इनके वर्तमान रूपों में मिलता है। वर्तमान महाभारत और रामायण में वीरगाथा तथा धार्मिक गाथा के तत्त्व मिले जुले हैं पर दोनों तत्त्वों को पहचानना कठिन नहीं है और वीरगाथात्मक तत्त्वों को पहचान कर उनमें रामायण-महाभारत का मूल रूप खोजा जा सकता है। शाडविक ने अपनी पुस्तक 'ग्रोथ आफ लिटरेचर' में वीरगाथात्मक तत्त्वों और अन्य प्रकार के तत्त्वों में प्रधान अन्तर यह माना है कि सामान्यतः वीर-गाथायें क्षत्रिय या राजन्य वर्ग के पात्रों का आधार ग्रहण करके निर्मित होती हैं और धार्मिक कथाओं के नायक बहुधा ब्राह्मण होते हैं। किन्तु क्षत्रिय नायक यदि दया, त्याग, तपस्या आदि का पथ ग्रहण करता है तो उस कथा को वीरगाथा तो नहीं माना जायगा, उसे वीरयुग के बाद का ब्राह्मण स्रोतों से उद्धृत माना जायगा[1]। इस दृष्टि से महाभारत और रामायण की बहुत सी उपकथायें ब्राह्मण स्रोतों या प्रभाव से आयी प्रतीत होती हैं; अतः उनके

1---"It may be remarked here that the contrast between heroic and non-heroic elements is as a rule very clearly marked in early Indian literature In general heroic stories are concerned with persons of the kshattriya or princely caste, non-heroic stories primarily with Brahmans References to the other castes are rare But stories of Prin es whose fame is due to piety and asceticism, rather than to prowess, or who come to grief through impiety, must be regarded as non-heroic. They are doubtless of Brahmanic origin."

Growth of Literature---part II by Chadwick, p. 466.

कारण इन महाकाव्यों की वीर-भावना को गौण नहीं माना जा सकता। दोनों ग्रन्थों में अवतारवाद की स्थापना भी बाद की जोड़ी प्रतीत होती है और मूल कथा से उसका सम्बन्ध भी सीधा नहीं है। महाभारत में आधिकारिक कथा के नायक पाण्डव मानव है, यद्यपि उन्हें देवता का अंश या देवता से उत्पन्न बताने का प्रयत्न ब्राह्मण-प्रभाव को प्रकट करता है। कृष्ण में अवतार का आरोप भागवत या पांचरात्र प्रभाव व्यक्त करता है। उसी तरह रामायण के राम देवता नहीं मानव ही हैं। इसके सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ ठाकुर का यह कहना सर्वथा सही है कि 'देवता की अवतार लीला या आलम्बन करके यह काव्य बनाया गया हो सो भी नहीं है। कवि वाल्मीकि के निकट राम अवतार नहीं थे मनुष्य ही थे, इस बात को पण्डित मण्डली मण्डित करेगी।...मनुष्य होने से ही राम-चरित इतना महत्त्वपूर्ण है (प्राचीन साहित्य, पृ० ५)। स्वयं रामायण में राम को नरचन्द्रमा कहा गया है[1]। इस प्रकार महाभारत और रामायण का मूल उद्देश्य वीरता-प्रदर्शन द्वारा मनोरंजन करना, इतिहास बताना और वीरता का आदर्श उपस्थित करना है न कि धर्म, भक्ति या ज्ञान का उपदेश देना।

चरित्र-चित्रण—वीरता की भावना और शारीरिक शक्ति तथा वैयक्तिक वीरता के सर्वाधिक महत्त्व के कारण ही महान वीर ही वीर-युग का महान व्यक्तित्व होता है और वैयक्तिक वीरता को ही सबसे बड़ा गुण माना जाता है। महाभारत उज्ज्वल चरित्रों का वन इसी अर्थ में है कि उसके चरित्रों में सभी महान शक्ति और अदम्य उत्साह तथा साहस के प्रतीक हैं। वे डरना तो जानते ही नहीं, कभी हिम्मत हारते हुए भी नहीं दिखाई पड़ते। 'युद्धंदेहि' का क्षत्रियोंचित आदर्श ही सर्वदा उनके संमुख रहता है। यही कारण है कि महाभारत के पढ़ने के बाद पहला विचार तो पाठक के मन में यही उठता है कि यह अर्जुन, कर्ण, भीम, भीष्म, द्रोण, दुर्योधन आदि वीरों की वैयक्तिक वीरता की कहानी है; भारतीय संस्कृति, वैष्णव धर्म, या जातीय राष्ट्रीय भावना के विचार बाद में उठते हैं।[2] इसके साथ ही वीर-युग का

१—देवष्वपि न पश्यामि कश्चिदेभिर्गुणैर्युतम्।
श्रूयतां तु गुणैरेभिर्यो युक्तो नरचन्द्रमा॥ रामायण—आदिपर्व

2. "Here we must emphasize what is apparent on a first reading of mahabharat, that it is a Story of heroism of Arjun and Karna, of Bhima and Bhisma and the question of patriotism or tribal supremacy never strikes us. Numerous princes come to help the heroes on either side and one feels that it is

नैतिक मानदण्ड भी धार्मिक या सामाजिक न होकर वैयक्तिक होता है। महाभारत में वीरयुग की यही वैयक्तिक नैतिकता दिखलाई पड़ती है और सभी वीर अपनी विजय के लिए जो भी करते है, सब नैतिक माना जाता है। कृष्ण जैसे व्यक्ति को छल-कपट का सहारा लेना पडता है, द्रौपदी-चीर-हरण भी दुर्योधन की सभा में द्रोण और भीष्म के सामने ही होता है। इस तरह वीरता तथा अधिकार ही नैतिकता का मान स्थिर करते हैं। महाभारत के चरित्रों में प्रारम्भिक वीर-युग की सभी विशेषतायें दिखलाई पडती है।

रामायण के चरित्र कुछ दृष्टियों से महाभारत के चरित्रों से भिन्न कोटि के हैं। कारण यह है कि महाभारत के चरित्र प्रारम्भिक वीर-युग का प्रतिनिधित्व करते हैं और रामायण के चरित्र विकसित वीर-युग का। विकसित वीर-युग में यद्यपि वीरता की भावना का महत्व तो पूर्ववत् रहता है पर धर्म और नैतिकता का एक विशेष मानदण्ड स्थापित हो गया रहता है जो वीरों के आचरण का संयमन करता है। अत. रामायण के चरित्र वीर होते हुए भी गृहस्थ-धर्म के लिए आदर्श चरित्र है। महाभारत के चरित्रों को भाँति उनमें भी अपरिमित शारीरिक शक्ति है और अपने बाहुबल, आत्मिक बल और साहस तथा अनुपम निर्भयता से वे वीर-युग के ही प्रतीत होते है पर उनमें क्रूरता, द्यूतक्रीडा, परस्त्री-हरण, बहुविवाह या बहुस्त्रीरति, अनैतिक युद्ध आदि बातें नहीं दिखाई देतीं। उन्हें सामाजिक नियमों का नियंत्रण मान्य है और वे दया-दाक्षिण्य, त्याग-तपस्या, क्षमाशीलता, न्यायप्रियता और सात्विक प्रेम आदि मानवीय मूल्यों में विश्वास करनेवाले ही नहीं हैं बल्कि उनका आदर्श भी उपस्थित करते हैं, व्यक्तिगत भूमिका से ऊपर उठकर परिवार, समाज और राष्ट्र की भूमिका में अपने चरित्र की ऊँचाई स्थापित करते है। अतः प्रा० सिद्धान्त का यह मत बिलकुल सही है कि वाल्मीकि परवर्ती विकसित युग के कवि हैं और उन्होंने प्रारम्भिक वीर-युग को निजन्धरी कथाओं से अपने पात्र चुनकर उन्हे अपने युग के चारित्रिक सांचे में ढाल दिया है[1]।

---

always the personal factor which determines these alliances." The Heroic Age of India, by Prof N. K. Sidhant, London 1929, p. 76.

1.—"Even though the Ramayan does not have the didactic overgowth of the Mahabharat, it seems the product of an age of polish and culture, quite distinct from the "barbarism"

कथानक—सभी विकसनशील महाकाव्यों में कथानक का संघटन बहुत ही शिथिल होता है। उनमें कथानक का प्रधान व्यापार युद्ध होता है और प्रधान कथा के साथ उसके चरित्रों का जीवन व्यापार और बहुधा उनकी वंशावली भी उसमें दे दी गई रहती है। परिणाम स्वरूप विकसनशील महाकाव्यों में अवान्तर या प्रासंगिक कथाओं की अधिकता होती भी उनका है, फिर प्रधान कार्य बहुत थोड़े समय का होता है। साहसिक कार्यों तथा अतिप्राकृत और अतिमानवीय तत्त्वों की बहुलता के साथ ही साथ उनमें बहुत दिनों तक विकसित होते रहने के कारण अनपेक्षित धार्मिक उपदेश, नैतिक शिक्षा संबंधी कथायें, प्राचीन ज्ञान-भण्डार, वंशानुक्रम आदि पौराणिक, शास्त्रीय और धर्मशास्त्रीय विषय भी जुड़ जाते हैं। महाभारत में कथानक संबंधी ये विशेषतायें बहुत अधिक पाई जाती हैं, रामायण में उससे कम हैं। महाभारत की अपेक्षा रामायण एक हाथ को रचना अधिक है, इस कारण महाभारत का कथानक जितना शिथिल और विपुल है उतना रामायण का नहीं। महाभारत की मूलकथा कौरव-पाण्डव युद्ध को है और कुरुवंश के पूर्व पुरुषों में शान्तनु और भीष्म तक की कथा उसमें आई है। इस प्रधान कथा से इतर अवान्तर कथायें प्रसंगवशात आई हैं और अधिकांश बाद की जोड़ी प्रतीत होती हैं। पाण्डवों के वंशजों में जनमेजय तक की कथा है, बाद की नहीं। रामायण में आधिकारिक कथा अधिक संघटित है और उसमें महाभारत की तुलना में अवान्तर कथायें बहुत कम हैं। उसमें भी पूर्व पुरुषों का संक्षेप में वर्णन है पर वंशजों का नहीं है। दोनों ही महाकाव्यों में प्रधान घटना बहुत कम समय की है, महाभारत-युद्ध की अठारह दिन की और लंका युद्ध की दस दिन की। पर यूरोपीय विकसनशील महाकाव्यों के विपरीत इन दोनों महाकाव्यों में नायकों के सम्पूर्ण जीवन की कथा मिलती है। हो सकता है यह बाद के कवियों-गायकों द्वारा जोड़ी गई हो। विकसनशील महाकाव्यों में घटना-प्रवाह ही प्रधान

---

of the heroic age The personality of the poet is well defined, he is a creature of flesh and blood, not an abstraction like vyas He has tried to reproduce the atmosphere of the heroic past, he has taken his characters from the heroic legend and attempted to make them act according to heroic standards But his heroes are animated with the ideas and sentiments of his own age and these do not at all harmonize with deeds of blood they perform. Ibid—p. 89 90.

वस्तु होती है और रामायण महाभारत दोनों ही में हम यह बात पाते है। अलंकृत महाकाव्यों की तरह उनमें घटना को छोड़कर वस्तु-व्यापार वर्णन को ही प्रधानता नहीं दी गई है। उनके कलेवर की वृद्धि का कारण तो वे अवान्तर कथायें हैं जो इन ग्रन्थों को इतिहास की श्रेणी में प्रतिष्ठित करती है। महाभारत की अनेक अवान्तर कथायें तो 'महाकाव्य के भीतर महाकाव्य' कही जाती हैं। साथ ही इन दोनों ग्रन्थों में, विशेषकर महाभारत में, प्राचीन ज्ञान-भाण्डार, वैदिक और औपनिषदिक उपदेश तथा पांचरात्र भागवत मत को भी संरक्षित और प्रचारित करने का प्रयत्न किया गया है, जो निश्चय ही मूल कवि की देन नही है। दोनों ही महाकाव्यों में अतिप्राकृत तत्व, जैसे देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस आदि के अतिमानवीय कार्यों का वर्णन है और उनके पात्र प्रायः असम्भव दीखने वाले अतिप्राकृत कार्य करते हुये दिखलाई पड़ते हैं।

उद्देश्य —इस प्रकार महाभारत यदि एक ओर महान वीर-काव्य है तो दूसरी ओर विशाल भारतीय संस्कृति का कोश या धर्म ग्रन्थ भी है। ब्राह्मण परम्परा में विकसित होकर धर्म-ग्रन्थ बन जाने के कारण उसका उद्देश्य धर्मसिद्धि और मोक्ष की प्राप्ति है और इसीलिये ध्वन्यालोककार ने उसमें शान्त रस की ही प्रधानता मानी है[1]। किन्तु यदि उसकी मूलकथा और वीरोपाख्यानों को ही दृष्टि में रखकर देखा जाय तो महाभारत का उद्देश्य धर्म की रक्षा नहीं बल्कि इतिहास की गौरवमयी परम्परा की रक्षा करना प्रतीत होता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि महाभारत के आदिरूप 'जय' काव्य का मूल उद्देश्य वीरता-प्रदर्शन द्वारा मनोरंजन तथा बाद में वैशम्पायन ने जिस भारत काव्य या भारती कथा की रचना की उसका उद्देश्य क्षात्रधर्म की प्रतिष्ठा और इतिहास के गौरवमय पृष्ठों का संरक्षण रहा होगा। संहिता रूप में वर्तमान महाभारत के दो मुख्य उद्देश्य—इतिहास के गौरव की रक्षा और धर्मसिद्धि-मालूम होते हैं। ये दोनों ही महत् उद्देश्य है जिनके कारण महाभारत दो हजार वर्षों से अपनी अखण्ड जीवनी-शक्ति का परिचय देता हुआ भारतीय जीवन का पथप्रदर्शक और लोकप्रिय बना हुआ है। विशाल-बुद्धि व्यास को इसीलिये वन्दनीय माना जाता है कि उन्होंने भारत-कथा रूपी तैल से पूर्ण पात्र में ज्ञानमय प्रदीप को जलाया है। महाभारत की शतसाहस्री संहिता इसीलिये व्यासदेव का ज्ञान-प्रदीप है। वह परम ज्ञान का प्रकाश देती है।

रामायण में महाभारत की अपेक्षा उद्देश्य की स्पष्टता है क्योंकि अधिकतर

---

१. 'ध्वन्यालोक–चतुर्थोद्योतः श्लोक ५–कारिका ।

एक हाथ की रचना होने के कारण उसमें अन्विति अधिक है और वह विकसित वीर-युग की देन है। यद्यपि वह भी मूलतः वीर-कथा ही है किन्तु उसमें परवर्ती युग की समाज व्यवस्था का संयमित रूप दिखलाई पड़ता है। रामायण उसी संयमित और विकसित भारतीय समाज का आदर्श चित्र उपस्थित करता है। इस प्रकार उसका प्रधान उद्देश्य गृहस्थ-धर्म का ऐसा आदर्श उपस्थित करना है जिसमें मानवीय सामाजिक सबंधों का व्यवस्थित नैतिक मूल्य निश्चित है। उसका उद्देश्य युगानुरूप संयमित वीरता तथा पारिवारिक सामाजिक जीवन के आदर्श-स्थापन द्वारा गृहस्थ-धर्म पर आश्रित आर्य-संस्कृति का गौरव-गान करना है। इस दृष्टि से रामायण इतिहास ही नहीं, एक राष्ट्रीय और सांस्कृतिक महाकाव्य है।

महाभारत-रामायण का परवर्ती काव्यों पर प्रभाव--ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि महाभारत और रामायण विकसनशील महाकाव्य हैं। ध्वन्यालोककार ने उन्हे महाकाव्य मानकर उनमें रसों की विवेचना की है और विश्वनाथ कविराज ने उन्हें आर्षकाव्य कहा है। पर जैसा पहले कहा जा चुका है, महाभारत और रामायण सामान्यता या इतिहास माने जाते रहे है यद्यपि परम्परा से रामायण को आदि काव्य भी कहा जाता रहा है। परिणाम-स्वरूप परवर्ती भारतीय काव्य-साहित्य का ९० प्रतिशत इन दोनों महाकाव्यो से प्रेरित और प्रभावित होकर निर्मित हुआ है[1]। महाभारत से तो कवियो ने विशेष रूप से कथावस्तु की सामग्री ली है और रामायण से काव्य-शैली अपनाई है। सस्कृत के सभी महाकाव्यो में रामायण की शैली का उसी तरह अनुकरण किया गया है जिस तरह यूरोपियन अलंकृत महाकाव्यों में इलियड और ओडेसी की शैली का अनुकरण किया गया है। यही कारण है कि रामायण को आदि काव्य और वाल्मीकि को आदिकवि कहा जाता है। भारतीय आलकारिकों ने महाकाव्य के जितने लक्षण बताये है उनमें से अधिकांश रामायण के आधार पर निर्मित हुए है[1]। कीथ का मत है कि यद्यपि

१—"परवर्ती भारतीय साहित्य को इन दो ग्रन्थो ने कितना प्रभावित किया है, इसका अन्दाजा इसीसे लगाया जा सकता है कि यदि समूचे भारतीय साहित्य का विश्लेषण किया जाय तो अधिकाश—शायद ६० प्रतिशत-रचनायें इन्ही दोनों ग्रन्थों के आधार पर हुई है, और आज हो रही हैं।" आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी—सस्कृत के महाकाव्यों की परम्परा—आलोचना अक १—१६५१।

रामायण के बहुत से अंश, जिनकी शैली बहुत अधिक परिष्कृत है, बाद के जोड़े हुए हैं, फिर भी रामायण का वर्तमान रूप ईसवी पूर्व दूसरी शताब्दी के पहले ही निर्मित हो चुका था, अतः उस समय तक अलंकृत काव्य-शैली का प्रारम्भ हो गया होगा। महाभारत की तुलना में रामायण में भाषा की एकरूपता और छन्दों की निर्दोषता और पूर्णता को देखते हुए यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि ईसापूर्व ४०० से २०० के बीच वाल्मीकि रामायण के विकास में योग देने वालों ने ही अलकृत महाकाव्य का प्रारम्भ किया था[2]। वस्तुतः महाभारत जैसे विकसनशील महाकाव्य और अश्वघोष, कालिदास, माघ, भारवि आदि के विशुद्ध अलंकृत महाकाव्यों के बीच की कड़ी रामायण है और इसीसे उसे इतिहास और काव्य दोनों कहा गया है। परवर्ती महाकाव्यों के रूप-शिल्प सबधी सभी तत्वों का पूर्वाभास रामायण में मिल जाता है, अलंकार-प्रियता, रूपकों और उपमाओं की अधिकता, अचेतन वस्तुओं को चेतन वस्तुओं से तुलना की प्रवृत्ति, प्रकृति चित्रण की प्रचुरता, मानवीय रूप-चित्रण और वस्तु-व्यापार-वर्णन की प्रवृत्ति आदि बातें जो परवर्ती महाकाव्यों में दोष की सीमा तक पहुँच गयी, रामायण में अपने प्रारम्भिक रूप में दिखाई पड़ती है। जिस प्रकार रूप-शिल्प के क्षेत्र में परवर्ती कवियों ने रामायण का अनुकरण किया उसी तरह विषय-वस्तु के क्षेत्र में उन्होंने महाभारत से अधिकाधिक सामग्री ली। कुमारसंभव, शिशुपालवध, किरातार्जुनीय, नैषधचरित्र, सभी की कथावस्तु महाभारत से अथवा पुराणो से ली गयी है। महाभारत की शैली पुराणों की शैली के बहुत अधिक निकट है, यही कारण है कि परवर्ती सस्कृत काव्यों में वह शैली नहीं अपनाई गयी। राजतरंगिणी जैसे इतिहास-काव्यों और कथासरित्सागर जैसे रोमांचक काव्यों में महाभारत की शैली अवश्य दृष्टिगोचर होती है पर वे काव्य नही माने जाते यद्यपि उन्होने स्वय अपने को महाकाव्य ही कहा है। पाली के महावंश-दीपवश और प्राकृत-अपभ्रंश के पउमचरिउ महापुराण (त्रिसट्ठि महापुरिष गुणालंकार) आदि ग्रथों में महाभारत की शैली अपनाई गयी है,

---

1 "Ramayan, the Adikavya, is the first poem, It is a Mahakavya answering in every detail to the description by retoricians. The Mahakavyas are modelled upon Ramayan .."

History of Classical Sanskrit Literature, by Krishnamachariar, Madras, 1937, p 82

2. A History of Sanskrit Literature, by A. B. Keith, London 1948, p. 42.43.

अनेक अन्य विद्वान रामायण को भी विकसनशील या लोक महाकाव्य मानते हैं, पर साथ ही यह भी स्वीकार करते है कि वह अपेक्षाकृत एक हाथ की रचना अधिक है और उसमें काव्यशैली के सभी गुण प्रारम्भिक रूप में विद्यमान हैं। अतः रामायण विकसनशील और अलंकृत महाकाव्यों के बीच की कड़ी है। जहाँ तक अनुकृति का प्रश्न है, संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के महाकाव्यों को महाभारत और रामायण दोनो ने प्रभावित किया है, कुछ ने महाभारत की शैली का अनुकरण किया है और अधिकाश में रामायण की शैली को अपना लिया गया है। अतः महाभारत रामायण के बाद लौकिक संस्कृत के महाकाव्यों को अनुकृत महाकाव्य भी कहा जा सकता है।

विकसनशील और अलंकृत (अनुकृत) महाकाव्यों का अन्तर दूसरे अध्याय में स्पष्ट कर दिया गया है। उसके अनुसार रामायण के बाद के संस्कृत महाकाव्य अलंकृत महाकाव्य हैं, क्योंकि :—

१—वे सभी वीर-युग के बाद सामंत-युग में निर्मित हुए हैं।

२—वे शिष्ट समाज के बीच, दरबारी वातावरण में या धार्मिक संप्रदायों में लिखे और प्रचारित किये जाते रहे। मौखिक रूप में उनका विकास नही हुआ।

३—उनके रचयिता विशिष्ट कवि थे। ये लोक-महाकाव्यों की तरह सामान्य जनता के बीच या चारण-भाटों की वश परम्परा में विकसित नहीं हुए न उनके कर्त्ता होमर, व्यास, वाल्मीकि आदि की तरह निजन्धरी या पौराणिक व्यक्तित्व वाले कवि थे।

४—उनमें विकसनशील महाकाव्यों जैसी सादगी और सहज अलंकरण-प्रवृत्ति नहीं है। इसके विपरीत उनमें कवि का यत्न-साध्य कौशल और आयास-सिद्ध अलंकरण-प्रदर्शन दिखाई पड़ता है।

५—उनमें घटनाओ और अवान्तर कथाओं से कथा-विस्तार नहीं किया गया है। इसके विपरीत उनमें कथानक बहुत लम्बा नहीं है और उसमें अन्विति और विकासक्रम भी दिखाई पड़ता है। इस प्रवृत्ति का संयत रूप तो विकासोन्मुख सामत-युग के महाकाव्यों मे दिखाई पड़ता है जिनमें कथा-वस्तु और रूप-शिल्प तथा वस्तु-व्यापार का वर्णन संतुलित रूप में नियोजित है, पर परवर्ती ह्रासोन्मुख सामंत-युग के महाकाव्यो में यह संतुलन बिगड़ गया, कथावस्तु बहुत क्षीण हो

---

time, by a number of kavyas, ranging from the fifth to the twelvth century." A History of Sanskrit Literature.

A, A Macdonell—London, 1913, P. 326

गयी तथा रूप-शिल्प और वस्तु-व्यापार का रूढ़ वर्णन ही प्रधान हो गया।

६—उनमें कवियों के पुस्तकीय ज्ञान और पाण्डित्य की झलक मिलती है। प्रारम्भिक अलंकृत महाकाव्यो में सहज काव्य-प्रतिभा और शास्त्र-ज्ञान का संतुलन उचित मात्रा में है पर परवर्ती महाकाव्यों में कवियों के काव्याभ्यास की परिपाटी के फलस्वरूप वाग्वैदग्ध्य और पाण्डित्य-प्रदर्शन ही प्रधान वस्तु हो गये हैं। वे जन साधारण के लिए बोधगम्य नहीं हैं। वे हृदय की अपेक्षा बुद्धि की उपज है और उसी को अधिक तुष्ट भी करते हैं[1]।

७—उनके चरित्रों में वीरता का वह रूप दिखाई पड़ता जो विकसनशील महाकाव्यो के चरित्रो में होता है। वैयक्तिक वीरता और शारीरिक शक्ति की जगह उनके पात्रों में मानसिक या बौद्धिक शक्ति, सैन्यबल पर आधारित वीरता, सामाजिक हित और राष्ट्र-गौरव, धार्मिक प्रवृत्ति और प्रेम-भावना आदि विकसित मानवीय गुणों का दर्शन होता है। किन्तु अलंकृत महाकाव्यों में सबसे अधिक प्रेम के विविध रूपों का चित्रण हुआ है और शारीरिक सौन्दर्य के चित्रण की ओर भी उनकी प्रवृत्ति बहुत अधिक दिखाई पड़ती है।

८—सभी अलंकृत महाकाव्यों मे कोई न कोई उद्देश्य-चाहे वह महत् हो या लघु, प्रत्यक्ष हो या अप्रत्यक्ष कवियों द्वारा प्रयत्नपूर्वक नियोजित हुआ है। धार्मिक उपदेश, उच्च आदर्शों की प्रतिष्ठा, राष्ट्र-गौरव की अभिव्यक्ति, राजा या आश्रयदाता को प्रसन्न करके धन-यश की प्राप्ति अथवा सहृदय वर्ग का मनोरंजन करना, इस प्रकार के एक या एकाधिक उद्देश्यो को ध्यान में रखकर इन महाकाव्यों की रचना हुई है।

अलंकृत महाकाव्यो के रूप-प्रकार—पिछले अध्याय में महाकाव्य के विविध रूपों के सबंध में विचार किया जा चुका है। उसके अनुसार संस्कृत में चार प्रकार के अलंकृत महाकाव्य पाये जाते है। वे ये हैं·—

१—शास्त्रीय महाकाव्य।

२—पौराणिक शैली के महाकाव्य।

1—"while in the old epic poetry form is subordinated to matter, it is of primary importance in the kavyas, the matter becoming more and more merely a means for the display of tricks of style. The later the author of a kavya, the more he seeks to win admiration of his audience by the cleverness of his conceits and the ingenuity of his diction, appealing always to the head rather than the heart" Ibid—P. 325.

३—ऐतिहासिक शैली के महाकाव्य।

४—रोमांचक या कथात्मक महाकाव्य।

संस्कृत में अधिकतर शास्त्रीय शैली के महाकाव्य ही लिखे गये है पर कुछ ऐसे महाकाव्य भी हैं जिनमें एकाधिक शैलियों का मिश्रण दिखाई पड़ता है जैसे किसी में शास्त्रोय और पौराणिक शैली का मिश्रण है तो किसी में शास्त्रीय और ऐतिहासिक शैली का या शास्त्रीय और रोमांचक शैली का। कोई ऐतिहासिक और रोमाचक दोनों शैलियों का उदाहरण है तो कोई पौराणिक और रोमांचक शैली का मिश्र रूप। सस्कृत के आलंकारिको ने इस तरह का कोई शैली-विभाजन नहीं किया है और प्रबन्ध सम्बन्धी रूढियों के स्थूल लक्षणों के आधार पर ही महाकाव्य की परिभाषा बना दी है। पिछले अध्याय में महाकाव्य की जो परिभाषा दी गयी है उसके अनुसार संस्कृत के बहुत से काव्य जो महाकाव्य रूप में माने जाते रहे हैं, वस्तुतः महाकाव्य पद के अधिकारी नहीं है। फिर भी उन्हें यहाँ रूप प्रकार के विभाजन के अन्तर्गत लिया जा रहा है क्योंकि उनसे महाकाव्य के रूप-शिल्प के विकास के अध्ययन में सहायता मिलती है।

शास्त्रीय महाकाव्य—काव्य का प्रारम्भ तो भारत में वैदिक काल से ही हो गया था पर उसका स्वतन्त्र रूप वाल्मीकि के काव्य-रामायण—में ही दिखाई पड़ता है। महाभारत यद्यपि इतिहास, पंचम वेद और पुराण के रूप मे माना जाता रहा है पर आधुनिक विद्वान उसे भी महाकाव्य मानते हैं। इस तरह भारत में काव्यशैली का नैरन्तर्य यद्यपि वैदिक काल से आज तक दिखाई पड़ता है परन्तु लौकिक काव्य या अलंकृत काव्य का स्वतन्त्र रूप वीरयुग के बाद सामन्त-युग के प्रारम्भिक काल से मानना चाहिये। सन् इसवी के प्रारम्भ तक लौकिक संस्कृत की काव्य-शैली परिष्कृत हो चुकी थी, उसका स्वरूप निश्चित हो चुका था और उसके लक्षण और आदर्श भी सर्वमान्य हो चुके थे। भरतमुनि का नाट्यशास्त्र, भास के नाटक और अश्वघोष के महाकाव्य इसके प्रमाण है। महाकाव्यो की रचना मुख्यतया रामायण की शैली से प्रभावित होकर होती थी, अतः कुछ शताब्दियों में महाकाव्य के रूप-शिल्प की एक ही पद्धति बार बार प्रयुक्त होने से रूढ़ होती गयी[1]। पाँचवीं शताब्दी में

१—'सन् ईस्वी के आरम्भ के समय निश्चित रूप से संस्कृत की काव्य शैली निखर चुकी थी, काव्य संबधी रूढ़ियाँ बन चुकी थीं और कथानक में भी मोहन गुण और मादक प्रवृत्ति ले आने वाले काव्यगत अभिप्राय प्रतिष्ठित हो चुके थे।' सस्कृत के महाकाव्यों की परम्परा—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी-आलोचना, जुलाई १९५२, पृ० ९।

भामह तथा छठी शताब्दी में दण्डी ने महाकाव्य के जो लक्षण दिये हैं उनसे उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है। बाद में आलंकारिक आचार्यों ने महाकाव्य को रूपशिल्प संबंधी नियमों के बन्धन में इस तरह जकड़ दिया कि स्वच्छन्द पद्धति से महाकाव्य रचना का कार्य बन्द सा हो गया। इस प्रकार के काव्य-शास्त्रों के नियमों की कसौटी पर जो महाकाव्य खरे उतरते हैं, उन्हें शास्त्रीय महाकाव्य (क्लैसिकल एपिक) कहा जाता है। शास्त्रीय महाकाव्यों को तीन कोटियों में विभाजित किया जा सकता है : —

१ — रससिद्ध या रीतिमुक्त,

२—रूढ़िबद्ध या रीतिबद्ध,

३—शास्त्र-काव्य या यमक-काव्य

रससिद्ध शास्त्रीय महाकाव्य—पहले प्रकार के (रससिद्ध) महाकाव्य अश्वघोष और कालिदास के हैं। इन महाकाव्यों की रचना आलंकारिक आचार्यों के काव्यशास्त्रों की रचना के पूर्व ही हो चुकी थी। यद्यपि इनकी रचना रामायण की शैली में हुई थी पर किसी आचार्य के अलंकार-शास्त्र का अध्ययन करके काव्य सम्बन्धी सभी रूढ़ियों और महाकाव्य के नियमों की खानापूरी इनमें नहीं की गयी है। इनमें कवियों की सहज प्रतिभा और काव्य-शक्ति का पूर्ण प्रस्फुटन हुआ है। पाण्डित्य और ज्ञान उनमें ऊपर उतराता नहीं है बल्कि काव्य में घुल मिल कर एक हो गया है। इस तरह भामह की काव्य सम्बन्धी वह परिभाषा उन पर पूर्ण-रूप से लागू होती जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। उनमें सादगी और ताजगी, कथा-प्रवाह, जीवन के विविध अनुभवों की अभिव्यक्ति, मँजी हुई और प्रवाहमयी भाषा महत्तर उद्देश्य, महान चरित्रों को अवतारणा, आदि बातें जो महाकाव्य को दीर्घजीवी और प्राणवान बनाने वाली होती हैं, समुचित रूप में पाई जाती हैं।

अश्वघोष यद्यपि बौद्ध-भिक्खु और महान् पंडित थे पर उनके महाकाव्यों-बुद्धचरित और सौन्दरनन्द—में उनका कविरूप ही प्रधान है, यद्यपि सौन्दरनन्द में उनका धर्म-प्रचारक और दार्शनिक पक्ष अधिक प्रबल हो उठा है। उनकी शैली कालिदास जैसी परिष्कृत और परिस्फुट नहीं है किन्तु उसमें नैसर्गिक ऊर्जस्विता और सौन्दर्य विद्यमान हैं। उनके वर्णन भी प्रसंगोचित, स्वाभाविक और संतुलित है, परवर्ती महाकाव्यों की तरह अप्रासंगिक, कृत्रिम और असंतुलित नहीं। उनमें अलंकृति भी है पर रामायण जैसी, परवर्ती महाकाव्यों जैसी नहीं। अश्वघोष का उद्देश्य महाकाव्य के माध्यम से जीवन के मोहक और अनुरंजक पक्षों का वर्णन करके उनकी अस्थिरता और क्षणिकता दिखाते हुए उनसे मुक्त

होने का संदेश देना है। इस तरह उनके महाकाव्य शान्तरस प्रधान हैं यद्यपि शृंगार और मारविजय के प्रसंग में वीर-रस की व्यंजना भी उन्होंने की है। फिर भी प्रधानतया उनकी दृष्टि वैराग्य-परक है जिसके कारण वे जीवन के सुन्दर और आकर्षक पक्षों को समुचित महत्व नहीं दे सके हैं। इसके विपरीत कालिदास ने जीवन के दोनों पक्षों–राग और विराग, भोग और त्याग–का संतुलित चित्र खींचा है। वस्तुतः कालिदास समन्वय और संतुलन के कवि हैं। उनका विचारक और दार्शनिक पक्ष जितना प्रबल है उससे कम प्रबल उनका सौन्दर्य-प्रेमी और कलाकार रूप नहीं है, पर उन दोनों रूपों का परस्पर ऐसा रासायनिक सम्मिश्रण हुआ है कि कालिदास का व्यक्तित्व समूचे भारतीय साहित्य में बिलकुल अलग दिखाई पड़ता है। उन्होंने भोग और त्याग, आकर्षण और विकर्षण, शरीर और आत्मा का सहज समन्वय तो किया ही है, रूप-शिल्प में भी सादगी और अलंकृति, सहजता और गम्भीरता, लघुता और विराटता, माधुर्य और ज्ञान-गरिमा, सहज काव्य-प्रतिभा और पाण्डित्य या विदग्धता का आश्चर्यजनक समन्वय किया है। उनके महाकाव्यों में जीवन के विविध स्वरूपों का सहज उद्घाटन हुआ है, अत; महाभारत रामायण की तरह तो नहीं, फिर भी समग्र जीवन का युग-सापेक्ष्य चित्रण उनमें संस्कृत के अन्य अलंकृत कवियों से बहुत अधिक हुआ है। इतना होते हुए भी उनके महाकाव्यों में अन्विति है, घटना प्रवाह है, अवान्तर कथाओं की कमी है और नाटकीय विकास-क्रम है। रघुवंश में यह बात विशेष रूप से दिखाई पड़ती है। इतने बड़े काल का फलक लेकर उस पर उन्होंने दिलीप से लेकर अग्निवर्ण तक के जीवन की प्रमुख घटनाओं के जो चित्र खींचे हैं, वे नाटक के दृश्यों के समान एक के बाद एक, उद्घाटित होते चलते हैं, पाठक का मन उनमें दृश्य-काव्य का आनन्द लेने लगता है। वस्तुव्यापारो के अप्रासंगिक या असंतुलित वर्णन के लिए रघुवश में बिलकुल अवकाश नहीं था, पर कथा के मार्मिक स्थलों को पहचान कर उनका-रसमय और रागात्मक वर्णन करने का अवसर कालिदास ने कही नहीं छोड़ा है। अपने दोनो महाकाव्यों में कालिदास ने जिन महान आदर्शों की स्थापना की है, जिन महान युग-व्यापी कथानकों को लिया है, जिन विराट चरित्रों की अवतारणा की है और जिस गरिमामयी उदात्त शैली की उद्भावना की है, वह संस्कृत साहित्य में ही नहीं, विश्व-साहित्य में अद्वितीय है। ऐसी प्रतिभा के कवि किसी अंकुश या परिपाटी में बँध कर चलने वाले नहीं होते। महाकाव्य की जो रूढ़ियाँ आलंकारिकों द्वारा निर्दिष्ट की गयी है वे बहुत पहले से प्रचलित रही होंगी पर कालिदास ने उनसे स्वतन्त्र

होकर अपना पथ बनाया है। यहाँ तक कि रघुवंश में उन्होंने पूरे रघुवंश का इतिहास ही काव्य का विषय बना दिया है जिससे बाध्य होकर विश्वनाथ कविराज को यह नियम बनाना पड़ा कि महाकाव्य के नायक एक वंश के अनेक राजा भी हो सकते हैं। आरम्भिक आशीर्वचन, नमस्क्रिया और वस्तु-निर्देश संबंधी रूढ़ि का पालन भी उन्होंने कुमारसंभव में नहीं किया है।

इस प्रकार अश्वघोष और कालिदास के महाकाव्य रससिद्ध या रीतिमुक्त शास्त्रीय महाकाव्य हैं। सभव है, उनकी रचना के समय तक रीति-ग्रंथों की रचना न हुई हो, पर निश्चित है कि उस समय तक महाकाव्यो संबंधी रूढ़ियाँ निश्चित हो चुकी थीं। इन दोनों महाकवियों ने रूढ़ियों का पालन करने के लिए महाकाव्य नहीं लिखा बल्कि महाकाव्य लिख कर महाकाव्य सम्बन्धी नई रूढियों की नींव भी डाली। उनका ध्यान विषयवस्तु के प्रतिपादन और काव्य-सौन्दर्य के निदर्शन की ओर था, रीति-निर्वाह की ओर नही। अतः वे रीति-मुक्त महाकवि हैं। इस परम्परा का निर्वाह सातवीं शताब्दी के कवि कुमारदास के महाकाव्य 'जानकीहरण' और नवीं शताब्दी के गौड़ कवि अभिनन्द के महाकाव्य 'रामचरित' में भी हुआ है। यद्यपि ये कवि ह्रासोन्मुख सामंत-युग में हुए पर अपनी स्वतंत्र वृत्ति के कारण उन्होने भारवि का आदर्श न अपना कर वाल्मीकि और कालिदास का पथ अपनाया। इनमें कुमारदास के 'जानकीहरण' पर कालिदास का इतना प्रभाव है कि जनश्रुति उन्हें कालिदास का मित्र बताती है। यह महाकाव्य सौकुमार्य, नैसर्गिकता और सरसता से परिपूर्ण है। अभिनन्द के रामचरित पर वाल्मीकि की रामायण का प्रभाव स्पष्ट है।

रीतिबद्ध महाकाव्य—जैसा पहले कहा जा चुका है, छठीं शताब्दी के बाद ह्रासोन्मुख सामंत-युग की प्रवृत्तियों ने साहित्य को बेतरह प्रभावित किया। उसी समय दण्डी ने अलंकार-ग्रंथ 'काव्यादर्श' और कथा-ग्रंथ दशकुमारचरित की रचना की और बाणभट्ट ने कादम्बरी और हर्षचरित लिख कर साहित्य को अलंकृति की चरम सीमा पर पहुँचा दिया। छठीं शताब्दी से दसवी शताब्दी तक यह प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गयी और उसका चरमोत्कर्ष श्रीहर्ष (१२ वीं शती) के नैषधचरित में दिखाई पड़ा। महाकाव्य के क्षेत्र में रीतिबद्धता का प्रथम उदाहरण भारवि का महाकाव्य किरातार्जुनीय है जो छठीं शताब्दी का बताया जाता है। रीतिबद्धता की यह प्रवृत्ति दरबारों के वातावरण और सामंती युग की देन थी। यह इसी से स्पष्ट है कि सातवीं शताब्दी में कान्य-कुब्ज के दरबारी कवि वाक्पतिराज के प्राकृत महाकाव्य 'गउडवहो' में भी

वह चरम रूप में वर्तमान है। डा० दे ने संस्कृत काव्य-साहित्य का इतिहास लिखते हुए यह मत व्यक्त किया है कि भारवि, माघ आदि प्रारम्भिक रीतिबद्ध कवियों ने अलंकार-ग्रन्थों का अध्ययन करके महाकाव्यों की रचना नहीं की, इसके विपरीत प्रारम्भिक आलंकारिक आचार्य भामह और दण्डी ने जो नियम बनाये हैं और आलोचना की है, वह सब उन कवियों के महाकाव्यों को, विशेष-कर भारवि के किरातार्जुनीय को पढ़कर लिखा गया प्रतीत होता है। यही कारण है कि उनमें अव्याप्ति दोष तो है ही, वे अपने पूर्ववर्ती कवियों के काव्यों के ऐतिहासिक और काव्यात्मक मूल्यों पर भी कुछ प्रकाश नहीं डाल सके हैं[1]। पर भामह भारवि से पूर्ववर्ती और दण्डी के समकालीन थे, उस युग में किसी कवि के जीवन-काल में ही उसकी कृतियाँ प्रचारित नहीं हो जाती थी। अतः भारवि के आधार पर भामह और दण्डी के लक्षण-ग्रन्थ नहीं बन सकते थे। इसके अतिरिक्त दण्डी ने दशकुमारचरित में यमक, श्लेष आदि की जो अतिशयता दिखाई है, वह इसका प्रमाण है कि वस्तुतः छठी शताब्दी का युग ही ऐसा था जिसमें साहित्य अत्यधिक अलंकृति, पाण्डित्य-प्रदर्शन, वाक्चातुरी और कल्पनातिरेक, कथावस्तु की उपेक्षा और वस्तु-व्यापार वर्णन की अनावश्यक स्फीति के कृत्रिम साधनों से आक्रान्त हो गया था। कथा-आख्यायिका और महाकाव्य दोनों की यही प्रवृत्ति थी।

भारवि के 'किरातार्जुनीय' में महाकाव्य की विषय-वस्तु और रूपशिल्प का सन्तुलन बिगड़ा तो आगे वह उत्तरोत्तर बिगड़ता ही गया। माघ ने 'शिशुपाल वध' में किरातार्जुनीय की पद्धति को अपनाया ही नहीं, अलंकृति और विद्वत्ता-प्रदर्शन में उनसे आगे निकल जाने का प्रयास भी किया। फल-स्वरूप इन दोनों महाकाव्यों में कथानक तो बहुत छोटा है पर वस्तु-व्यापार के अप्रासंगिक और अत्यधिक अलंकृत वर्णनों के विस्तार से उनके कलेवर की वृद्धि की गयी है। इस प्रकार उनमें कथावस्तु और वस्तु-वर्णन तथा शैली के बीच का संतुलन नष्ट हो गया है। बाद के कुछ प्रसिद्ध महाकाव्यों जैसे रत्नाकर के हरविजय (नवी शती), मंखक के श्रीकण्ठचरित और श्रीहर्ष के नैषधचरित (दोनों बारहवीं शती) आदि, में भी असन्तुलित और अप्रासंगिक वर्णन की यह प्रवृत्ति बहुत अधिक दिखाई पड़ती है। कथा-क्रम को छोड़ कर बीच में ही ये कवि लगातार चार-पाँच सर्गों तक चन्द्रोदय, वन-विहार, जल-क्रीड़ा, पान गोष्ठी, और शरद् वसन्त आदि ऋतुओं का वर्णन करते चले गये हैं,

1—History of Sanskrit Literature-Vol. 1.—Dr. Das gupta & Dr. De, Calcutta. 1947, p. 174.

अचानक उन्हें कथा की बात याद आती है तो कथा फिर लँगड़ाती हुई आगे बढ़ती है। शिशुपाल-वध में तो तीसरे सर्ग से लेकर तेरहवें सर्ग तक श्रीकृष्ण के अतुल वैभव, वन-विहार, जलक्रीड़ा, मधुपान, प्रकृति की छटा आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है और चौदहवें सर्ग में भी कवि क्षीण कथा के सूत्र को फिर पकड़ता है। जिस प्रकार शास्त्रीय-संगीत में शब्द या अर्थ महत्वहीन हो गया और स्वर के आलाप का चमत्कार ही मुख्य हो गया उसी तरह रीतिबद्ध शास्त्रीय महाकाव्यों में उत्तरोत्तर कथानक गौण और वस्तु-व्यापार-वर्णन और अलंकृत-प्रकृति-चित्रण ही प्रधान होता गया। भारवि और माघ तक तो अर्थ-गौरव का भी महत्व था यद्यपि उनमें अर्थ नारिकेल की गरी के समान श्लेष, यमक और चित्र-काव्य आदि के दुरूह आवरण के भीतर छिपा है, परन्तु परवर्ती कवियों में श्रीहर्ष को छोड़ कर अन्य किसी में न तो कथा प्रवाह है, न अर्थ-गाम्भीर्य और न पाण्डित्य-प्रदर्शन। उनमें बस अलंकारों, वर्णनों और चमत्कार की प्रचुरता है। इस तरह किरातार्जुनीय, शिशुपाल-बध और नैषध-चरित कालिदासोत्तर महाकाव्यों की बृहत्त्रयी हैं। इन महाकाव्यों में व्याकरण, राजनीति, कामशास्त्र, दर्शन, योगक्रिया आदि शास्त्रों का पाण्डित्य भी प्रदर्शित किया गया है, जो उस युग की प्रवृत्ति का द्योतक है। बाद के महाकाव्यों में रत्नाकर का हरविजय पचास सर्गों का सबसे विशाल ग्रंथ है पर उसमें तीन चौथाई सर्गों में नगर, ऋतु, शिव-ताण्डव, पर्वत, कुसुमावचय, जलक्रीड़ा, सन्ध्या, चन्द्रोदय, उषा, समुद्रोल्लास, प्रसाधन, विरहदशा, पानगोष्ठी, संभोग, चंडी स्तोत्र, सैन्य प्रस्थान, चित्र-युद्ध, दूत-संवाद और अन्य अनावश्यक वर्णनों की अधिकता है। शिव स्वामी (नवीं शती) के कप्फिणाभ्युदय और मंखक (१२वीं शती) के श्रीकण्ठचरित में भी इसी प्रकार के रीतिबद्ध और गतानुगतिक वर्णनों से महाकाव्य का ढाँचा खड़ा किया गया है। इस प्रकार संस्कृत महाकाव्य कालिदास के बाद ह्रासोन्मुख होकर रूढ़िपालन और चमत्कार प्रदर्शन का प्रयत्न मात्र रह गया[1]। अतः ऐसे काव्यों को सच्चे अर्थ में महाकाव्य नहीं माना जा सकता।

शास्त्र-काव्य और बहु-अर्थक महाकाव्य—अलंकृत शैली द्वारा पाण्डित्य प्रदर्शन करने की प्रवृत्ति का दूसरा रूप शास्त्र-काव्यों और बहु-अर्थक काव्यों में मिलता है। छठीं शताब्दी में भट्टि नामक वैयाकरण कवि ने रावण-वध या भट्टि-काव्य की रचना की जिसमें राम-कथा के वर्णन के साथ-साथ व्याकरण

१—वही पृष्ठ १७५।

और अलंकार के प्रयोग भी बताये गये हैं। यह काव्य इतना लोकप्रिय हुआ कि जावा और बाली तक में इसका प्रचार हुआ और इसकी दर्जनों टीकायें लिखी गयीं। वस्तुतः यह काव्य के साथ व्याकरण-शास्त्र का भी ग्रन्थ है इसी से इसे शास्त्र-काव्य भी कहा जाता है। इस शैली के अनुकरण पर अनेक परवर्ती कवियों ने काव्य लिखे जिनमें १२ वीं शती में हेमचन्द्र का कुमारपाल चरित या द्वाश्रय-काव्य बहुत प्रसिद्ध है उसमें हेमचन्द्र ने चालुक्य वंश और कुमारपाल के जीवन वृत्त का २८ सर्गों में वर्णन किया है जिनमें २० सर्ग संस्कृत में और शेष ८ सर्ग प्राकृत भाषा में लिखे गये हैं। इसमें भी भट्टि-काव्य की तरह संस्कृत व्याकरण का प्रयोग तो बताया ही गया है, प्राकृत और अपभ्रंश का व्याकरण भी लिखा गया है। भौमक या भूम के 'रावणार्जुनीयम्' और दिवाकर के 'लक्षणादर्श' में तो पाणिनि ने संपूर्ण अष्टाध्यायी का उदाहरण उपस्थित कर दिया गया है। भट्टि को छोड़ कर इस शैली के अन्य महाकाव्यों में काव्य-गुण नहीं के बराबर है। अलंकृत शैली का एक रूप शास्त्र-काव्यो के अतिरिक्त बहु-अर्थक-काव्यों में भी दिखाई पड़ता है जिनमें एक ही महाकाव्य में दो या दो से अधिक कथानकों को विविध अलंकारों के सहारे ऐसा पिरोया गया है जिसमें पाठक चमत्कृत हो उठें। वस्तुतः चमत्कार उत्पन्न करना और पांडित्य-प्रदर्शन करना ही उनका लक्ष्य है। दोहरे अर्थ वाले महाकाव्यों में धनंजय का 'द्विसंधान', सध्याकरनन्दी का 'रामचरित' विद्यामाधव का 'पार्वती-रुक्मिणीय' हरिदत्त सूरि का 'राघव नैषधीय' कविराज सूरि का 'राघव पाण्डवीय' प्रमुख हैं और तीन अर्थ वाले महाकाव्यों में चूडामणि दीक्षित कृत 'राघव यादवपाण्डवीय और चिदम्बर सुमति का 'राघवपाण्डव यादवीय' हैं। इन सभी काव्यों में वास्तविक महाकाव्य के लक्षण तो नहीं ही हैं, सच्चे काव्य के गुणों का भी अभाव है। वस्तुतः वे ह्रासोन्मुख सामंत-युग के कला-विलास और पाण्डित्य-प्रदर्शन की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों के उदाहरण मात्र हैं। बहु-अर्थक काव्य-शैली का सबसे विकट रूप कुछ जैन काव्यों, जैसे मेघविजयगणि के सप्त संधान महाकाव्य और सोमप्रभाचार्य के शतार्थकाव्य, में दिखाई पड़ता है। पहले में प्रत्येक श्लोक के सात अर्थ और दूसरे में सौ अर्थ निकलते हैं।

पौराणिक शैली के महाकाव्य पहले-दूसरे अध्याय में बताया जा चुका है कि महाकाव्य और पुराण का उद्भव और विकास समानान्तर रूप से हुआ और प्रारम्भ में दोनों का रूप एक में मिला हुआ था, महाभारत इसका उदाहरण है जो महाकाव्य और इतिहास-पुराण दोनों ही है। वस्तुतः महाकाव्य पुराणों के ही परिष्कृत, अलंकृत और अन्वितियुक्त कलात्मक रूप है। अधिकांश परवर्ती

महाकाव्यों की कथावस्तु महाभारत-रामायण और पुराणों से ही ली गयी है और आलंकारिकों ने भी महाकाव्य के कथानक का इतिहास-पुराण और कथा से उद्भूत होना आवश्यक माना है। पुराणों में भी कुछ ऐसे हैं जिनमें काव्यात्मकता पर्याप्त मात्रा में वर्तमान है। श्रीमद्भागवत ऐसा पुराण है। विन्टरनित्स का कहना है कि भाषा, शैली, छन्द और कथा की अन्विति, सभी दृष्टियों से भागवत एक महत्वपूर्ण साहित्यिक रचना है[1]। इस पुराण ने रामायण-महाभारत की भाँति लोकप्रियता प्राप्त की है और परवर्ती भारतीय जीवन तथा साहित्य को दूर तक प्रभावित किया है। इस तरह महाभारत और भागवत पुराण की शैली से प्रभावित होकर पौराणिक आख्यानों को जिन महाकाव्यो में अपनाया गया है वे पौराणिक शैली के महाकाव्य हैं। जैनों ने महाभारत और हिन्दू पुराणों के अनुकरण में अपने अलग पुराण बनाये और इन जैन पुराणों से प्रभावित होकर जैन कवियो ने पौराणिक महाकाव्यों की रचना की। पुराणों की शैली से तात्पर्य यह है कि उसमें पौराणिक-धार्मिक आख्यान होते हैं, कथानक में अन्विति कम होती है, अवान्तर कथाओं और घटना-वैविध्य की अधिकता होती है, अलौकिक और अप्राकृत तत्वों का अधिक उपयोग हुआ रहता है, कथा के भीतर कथा कहने और संवाद रूप में कथा को उपस्थित करने की प्रवृत्ति होती है, साथ ही उपदेश देना या किसी मत विशेष का प्रचार करना उनका उद्देश्य होता है। सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित, पुराणों के पाँच विषय होते हैं। पौराणिक शैली के महाकाव्यों में भी इनमें से एकाधिक विषय अपनाये जाते हैं पुराणो की तरह उनमें भी कथा कहना लक्ष्य होता है अतः उनकी शैली में सादगी, कभी-कभी अनगढपन, अतिशयोक्ति और काव्यात्मक वर्णनों की अपेक्षाकृत कमी रहती है। निष्कर्ष यह कि पौराणिक शैली के महाकाव्य शास्त्रीय महाकाव्य और पुराणों के बीच की वस्तु है, उनमें दोनों के ही तत्त्व वर्तमान होते हैं।

इस शैली के महाकाव्य सस्कृत में अधिक नहीं हैं, पर उनका अभाव भी नही है। १० वीं शताब्दी के बाद जब शास्त्रीय महाकाव्य का ह्रास होने लगा

1.—'Moreover it is the one purana which, more than any of others bears the stamp of a unified composition, and deserves to be appreciated as a literary production on account of its language style, and metre.''

A History of Indian Literature—Vol. 1, by Winternitz, Calcutta, p,556.

तो शास्त्रीय शैली के अतिरिक्त पौराणिक, ऐतिहासिक और रोमांचक शैली के महाकाव्य भी लिखे जाने लगे । ह्रासोन्मुख सामंत-युग तक आते-आते संस्कृत केवल शिष्ट समाज की भाषा रह गयी थी, विद्वान लोग ही उसके काव्यों का आनन्द ले सकते थे। उस समय का समाज भी पौराणिक धर्मावलम्बी और स्मृतियों-धर्मशास्त्रों के नियमों से पूर्ण आबद्ध हो गया था । अतः शास्त्रीय महाकाव्यों में भी कथावस्तु अधिकतर इतिहास-पुराण से ही ली गयी और सामान्य जनता की रुचि से प्रभावित होकर पौराणिक और रोमांचक शैली के महाकाव्यों की रचना प्रारम्भ हुई। जैनों ने प्राकृत और अपभ्रंश भाषा में जैन पुराणों और पौराणिक चरित काव्यों की रचना भी इसी युग में प्रारम्भ की थी। उनका प्रभाव भी संस्कृत के महाकाव्यों पर पड़ा। इस तरह संस्कृत में पौराणिक निजन्धरी और लोकाश्रित कथाओं के पात्रों और घटनाओं को आधार बनाकर महाकाव्य लिखे जाने लगे। ब्राह्मण धर्मावलम्बी कवियों ने हिन्दू पुराणों के आधार पर और जैन कवियों ने जैन पुराणों का आश्रय लेकर ऐसे महाकाव्यों की रचना की। पौराणिक, निजन्धरी और समसामयिक, तीनों प्रकार के नायकों के जीवनवृत्त का अवलम्बन करके चरित काव्यों की रचना होने लगी। ये चरित काव्य पौराणिक, कथात्मक और ऐतिहासिक तीनों शैलियों में लिखे गये हैं। पौराणिक चरितकाव्यों और महाकाव्यों के सम्बन्ध में विचार करने के पूर्व इतना कह देना आवश्यक है कि १०वीं शताब्दी के आसपास महाकाव्य के शास्त्रीय नियमों की अवहेलना की जाने लगी और महाभारत रामायण के बाद पुराण और महाकाव्य को जो भिन्न शैलियाँ हो गयी थीं, इस युग में दोनों फिर एक में मिलने लगीं। चरित-काव्य, पुराण, कथा-आख्यायिका और शास्त्रीय महाकाव्यों की शैलियों के मिश्रण की प्रवृत्ति की देन है। जैनो द्वारा लिखे गये कुछ महाकाव्य एक साथ ही पौराणिक, कथात्मक और शास्त्रीय तीनों शैलियों के हैं, कुछ में पौराणिक और शास्त्रीय शैलियों का मिश्रण हुआ और कुछ में शास्त्रीय और कथात्मक शैलियों का।

संस्कृत में पौराणिक शैली के महाकाव्य १० वीं शताब्दी के बाद विशेष रूप में मिलते है। इसके पूर्व आठवीं शताब्दी में जिनसेन ने आदिपुराण और गुणभद्र ने उत्तरपुराण की रचना की थी और जटासिंह नन्दि ने 'वरांग चरित' में ३१ सर्गों में वरांग की जैन पौराणिक कथा लिखी थी। ११ वीं शताब्दी में काश्मीर के अपर व्यास क्षेमेन्द्र ने रामायणमंजरी, भारतमंजरी और दशावतार चरित की रचना की। इन तीनों ग्रन्थो में कवि ने सरल और अनलंकृत शैली में रामायण-महाभारत और पुराणाश्रित दसअवतारों की कथा कही है। बारहवीं

शताब्दी में क्षेमेन्द्र के समान ही बहुत अधिक लिखने वाले जैन आचार्य हेमचन्द्र ने 'त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित' नामक विशाल ग्रन्थ की रचना की। हेमचन्द्र ने इस ग्रन्थ को महाकाव्य कहा है पर वस्तुतः वह महाभारत के समान संस्कृत में श्लोकबद्ध जैन पुराण है। उसमें जैनो के चौबीस तीर्थंकरों, बारह चक्रवर्तियों, नौ वासुदेवो, नौ बलदेवो और नौ प्रतिवासुदेवों की जीवन-गाथा दस पर्वों में वर्णित है, अंतिम पर्व परिशिष्टपर्वन या स्थविरावली चरित पौराणिक-कथात्मक शैली का एक स्वतन्त्र महाकाव्य है। इस विशाल ग्रन्थ में पौराणिक शैली के साथ काव्यात्मकता की भी कमी नहीं है। स्थान-स्थान पर उसमें ऋतु वर्णन-प्रेम-व्यापार का चित्रण तथा महाकाव्य के लिये मान्य अन्य आवश्यक बातें मिलती हैं इसमें उपदेशात्मकता बहुत अधिक है, पर अवांतर कथाओं, लोक-तत्त्वों और संवाद-शैली, नायको के जन्म-जन्मान्तर की गाथा कहने की प्रवृत्ति आदि के कारण यह ग्रन्थ पौराणिक शैली का महाकाव्य माना जाता है। हरमन जाकोबी का कहना है कि महाभारत-रामायण के समान जैन महाकाव्य के रूप में इसकी रचना की गयी है[1]। बारहवीं शताब्दी में ही देवप्रभसूरि ने पौराणिक शैली में पाण्डवचरित नाम से १८ सर्गों में महाभारत की कथा लिखी। तेरहवीं शताब्दी में अमरचन्द्र सूरि ने बालभारत और वेंकटनाथ ने यादवाभ्युदय नामक बृहत् पौराणिक महाकाव्यो की रचना की। इसी समय जयद्रथ (राजानक) ने ३२ सर्गों का हरचरित-चिन्तामणि नामक पौराणिक महाकाव्य लिखा जिसमें शिव से सम्बन्धित विविध पौराणिक कथाओ का वर्णन है। परवर्ती-काल में कृष्णदास कविराज ने भागवत की शैली में गोविन्द लीलामृत और १७ वीं शती में नीलकण्ठ दीक्षित ने स्कन्द पुराण का प्रभाव लेकर शिव लीलार्णव नामक महाकाव्य लिखे। यशोधर की जैन कथा को लेकर भी कई 'यशोधर-चरित' लिखे गये। १३ वीं शती में अमरचन्द्र ने पद्मानन्द, हरिश्चन्द्र ने धर्मशर्माभ्युदय अभयदेव सूरि ने जयन्त-विजय और वाग्भट्ट ने नेमिनिर्वाण, नामक महाकाव्यों की रचना की। इन तीनो महाकाव्यो मे शास्त्रीय, पौराणिक और कथात्मक शैलो का सुन्दर समन्वय हुआ है।

1—Hemchandra, on the other hand, writing in Sanskrit in Kavya style and fluent verses, has produced an epical poem of great length (some 37, 000 verses), intended as it were, for the Jain substitude for the great epics of Brahmans."

Sthaviravalicharita—Introduction—by Hermann Jacobi, Calcutta, 1932 (Second Edition), p. 24.

ऐतिहासिक शैली के महाकाव्य—इतिहास, ऐतिहासिक महाकाव्य और ऐतिहासिक शैली के महाकाव्य, इन तीनो में अन्तर है। इतिहास तो अलग शास्त्र ही है। अरस्तू ने काव्य से उसका अन्तर भलीभाँति समझाया है जिसके सम्बन्ध में पिछले अध्याय में विचार किया जा चुका है। ऐतिहासिक महाकाव्य वे हैं जिनका कथानक इतिहास से अलग लिया गया है और जिनका घटनाक्रम भी इतिहास-सम्मत होता है, पर जिनकी शैली शास्त्रीय महाकाव्य की ही होती है अर्थात् वस्तु-व्यापार-वर्णन, अलंकृत शैली, पात्रों की विविध मनोदशाओं का रागात्मक-चित्रण, काव्य-रूढियों का निर्वाह आदि बातें उनमें होती हैं। ऐसे महाकाव्य शास्त्रीय महाकाव्य के अन्तर्गत ही आते हैं। पर ऐसे काव्य जिनका लक्ष्य इतिहास-क्रम वा चरितनायक के जीवनवृत्त का सीधा वर्णन कर देना रहता है और साथ ही जिनमें काल्पनिक घटनाओ और पात्रों का मनमाना उपयोग भी किया जाता है, ऐतिहासिक शैली के महाकाव्य कहे जा सकते हैं।। पौराणिक शैली की भाँति यह शैली भी काव्य और इतिहास के बीच की है पुराण और इतिहास में पहले कोई अन्तर माना भी नहीं जाता था, अतः पुराणों में जैसे प्राचीन भारतीय इतिहास अंशतः सुरक्षित हैं उसी तरह ऐतिहासिक शैली के काव्यों में भी इतिहास आंशिक रूप में ही प्राप्त होता है। वस्तुतः पुनर्जन्म और कर्मफल के विश्वास के कारण वैयक्तिक कृतित्व को इस देश में महत्व नहीं दिया जाता था, इसलिए इतिहास लिखने की प्रवृत्ति यहाँ नहीं के बराबर थी। शिलालेखों की प्रशस्तियों में ऐतिहासिक काव्य का पूर्वरूप दिखाई पड़ता है। सबसे पहला ऐतिहासिक काव्य बुद्धचरित है। सम सामयिक राजाओं और व्यक्तियों को लेकर सबसे पहला ग्रन्थ बाण का हर्षचरित है। आठवीं-नवीं शताब्दी से समसामयिक राजाओं के नाम पर प्रशस्ति-काव्य या चरित काव्यों की रचना होने लगी। इस तरह पौराणिक और निजन्धरी व्यक्तियों से चरित काव्यों की रचना शुरू हुई और समसामयिक राजाओं के जीवन के अतिशयोक्तिपूर्ण, संभावना पर आधारित, कल्पित कथाओं से युक्त वर्णन में उनका पर्यवसान हुआ। अतः समसामयिक व्यक्तियो के जीवन पर लिखे गये काव्यों में ऐतिहासिकता बहुत कम है, ऐसे काव्य या तो शास्त्रीय महाकाव्य के रूप में हैं या रोमांचक कथात्मक महाकाव्य के रूप में अथवा ऐतिहासिक शैली के महाकाव्य के रूप में। अन्तिम प्रकार के काव्यों में ऐतिहासिक घटना-क्रमावलम्बन, वंश-परम्परा-वर्णन और नायक के कार्यों का वर्णन भी छन्दोबद्ध रूप में यथातथ्य रीति से हुआ है। ऐसे काव्यो में काव्यात्मकता और कथा-प्रवाह कम है और महान उद्देश्य तथा कार्यान्विति की भी कमी है। अतः ऐसे काव्य ऐतिहासिक

शैली के महाकाव्य कहे जा सकते हैं। इस शैली के महाकाव्यों की कुछ विशेषतायें ये हैं :—

१—इन महाकाव्यों की विषय-वस्तु तो ऐतिहासिक होती है और उनमें काव्यात्मकता भी होतो है परन्तु ऐतिहासिक इतिवृत्त के भीतर चुनाव करने का अवसर न होने और साथ ही कवियों की दृष्टि ऐतिहासिक न होने के कारण इन काव्यों में ऐतिहासिक तथ्यों और अतिशयोक्तिपूर्ण तथा काल्पनिक घटनाओं और वंश-परम्परा का विचित्र मिश्रण दिखाई पड़ता है। इसी से वे न तो उत्कृष्ट कोटि के काव्य ही बन सके हैं न सच्चे इतिहास हो[1]।

२—जैसा कि बूलर ने विक्रमांकदेव-चरित की भूमिका में कहा है, ये काव्य चाहे जितनी कल्पित घटनाओं और अनैतिहासिक बातों से भरे हों पर उनकी मुख्य घटनायें और चरित ऐतिहासिक होते हैं[2]।

३—उनमें घटनाओं की तिथि और उनके बीच के काल की निश्चित सीमा कम बताई गई है या गलत बताई है।

४—उनमें प्रारम्भ में निश्चित रूप से नायक के कुल की उत्पत्ति-कथा और पूर्वजों की वंशावली दी गयी रहती है यद्यपि वे अधिकतर मनगढ़न्त और निजन्धरी या पौराणिक ढङ्ग की ही होती है।

५—ऐसे सभी महाकाव्यों में कवियों ने अपने बारे में तथा अपने पूर्वपुरुषों के बारे में कुछ न कुछ अवश्य लिखा है। शास्त्रीय महाकाव्यों में यह

1—"But while the geneology beyond one or two generations is often amiably invented and exaggerated, and glorification takes the place of sober statement of facts, the laudatory accounts are generally composed by poets of modest power. The result is neither good poetry nor good history."

History of Sanskrit Literature by Dr. Das gupta—& Dr. De—Calcutta, 1947, p. 246,

2—"The importance of Charitas like Shriharshcharita and Vikramankdevacharita lies chiefly therein that however much a vitiated taste and a false conception of the duties of historiographer royal may lead their authors stray the main facts may be accepted as historical."

Vikramankdevacharitam—Introduction, by George Buhlar, Bombay. 1915. p 3.

प्रवृत्ति नहीं मिलती। किसी-किसी में सामयिक परिस्थितियों और देश-दशा का वर्णन भी मिलता है।

६—सबमें नायक के जन्म, प्रेम, विवाह, राज्य-प्राप्ति, युद्ध, विजय आदि का विस्तार के साथ वर्णन मिलता है।

७—इनमे नायक बहुत अच्छे और प्रतिनायक बहुत बुरे दिखाये गये रहते है। प्रशस्तिकाव्य होने के कारण उनकी यह प्रवृत्ति स्वाभाविक ही है। यद्यपि इतिहासकार की दृष्टि से यह अनुचित है। इससे नायकों के चरित्र की वैयक्तिक विशेषतायें प्रकट नही हो सकी हैं। उनमें किसी महान आदर्श की स्थापना भी नहीं की गयी है। अतः इन महाकाव्यों मे काव्यात्मकता होते हुए भी प्राणवत्ता और दीर्घ जीवनी-शक्ति नहीं है।

८—काव्यात्मकता लाने और रोमांचक गुण उत्पन्न करने की दृष्टि से इन काव्यों में अलौकिक और अप्राकृत शक्तियों के कार्यों का भी वर्णन मिलता है, जो इतिहास की दृष्टि से असंभव माना जाता है। ऐतिहासिक काव्यों के कवि संभावना पर अधिक बल देते हैं, इसी से अतिशयोक्तिपूर्ण बातों और कार्यों का वर्णन उनमें अधिक मिलता है। किसी-किसी ऐतिहासिक काव्य में महाकाव्य की कुछ रूढ़ियाँ—जैसे ऋतु-वर्णन, जलक्रीड़ा, वन-विहार, संयोग-विप्रलंभ-शृङ्गार आदि का वर्णन—भी खानापूरी करने के लिए अपनाई गयी हैं।

ऐतिहासिक कहे जाने वाले महाकाव्यों में प्रथम पद्मगुप्त या परिमल का नवसाहसांक-चरित कहा जाता है जो सन् १००५ में लिखा गया था। पर इस ग्रन्थ में नायक के नाम के अतिरिक्त ऐतिहासिक तथ्य एक भी नहीं है और न वह ऐतिहासिक शैली में ही लिखा गया है। वस्तुतः वह विशुद्ध रोमांचक (कथात्मक) महाकाव्य है अतः उसके संबंध में बाद में विचार किया जायगा। ऐतिहासिक शैली का महत्वपूर्ण महाकाव्य बिल्हण का विक्रमांकदेव-चरित है जो ग्यारहवी शती के उत्तरार्द्ध में कवि के आश्रयदाता कल्याण के चालुक्य राजा त्रिभुवनमल्ल (विक्रमादित्य षष्ठ) के जीवनवृत्त के संबंध में लिखा गया है। इसमें ऐतिहासिक शैली की उपर्युक्त सभी विशेषतायें पाई जाती हैं, साथ ही इसका काव्य-पक्ष भी बहुत पुष्ट है। कार्यान्विति, महती घटना और महान चरित का अभाव होते हुए भी इस काव्य में अलंकृत काव्य के सभी गुण वर्तमान हैं। परिमार्जित भाषा, अलकृत शैली और काव्य-रूढ़ियों के पालन की दृष्टि से यह काव्य भारवि-माघ की शास्त्रीय परम्परा में ही माना जायगा, पर इतिवृत्तिपरक और प्रशस्तिमूलक होने के कारण उसमें विराटता और प्राणवत्ता का अभाव है। वंशावली-वर्णन और नायक के अतिशयोक्ति पूर्ण चरित्र-

चित्रण, अलौकिक-अतिप्राकृत कार्यों के समावेश आदि के कारण यह प्रमुखतः ऐतिहासिक शैली का ही महाकाव्य है, शास्त्रीय शैली का नहीं। १२ वीं शती में लिखी गयी कल्हण की राजतरंगिणी यद्यपि प्रधानतया इतिहास ग्रन्थ है पर उसमें लेखक का कविरूप स्थान-स्थान पर इतना उभर कर आया है कि डा० दे प्रभृति विद्वान इसे इतिहास से अधिक काव्य ही मानते हैं[1]। कल्हण ने स्वयं भी राजतरंगिणी को महाकाव्य ही कहा है, पर इसमें हजारों वर्षों का इतिहास संमिलित होने से कथा की अन्विति और महाकाव्योचित घटनाओं के चुनाव का अभाव है। यद्यपि पौराणिक और निजन्धरी तत्त्वों, देवी-देवता, भूतप्रेत, राक्षस आदि अलौकिक-अप्राकृत शक्तियों के कार्यों, शकुन शाप-वरदान, जादू-टोना, भाग्य, कर्मफल और पुनर्जन्म में विश्वास तथा ऐसी अन्य बातों के कारण राजतरंगिणी की ऐतिहासिकता में पूर्णरूप से विश्वास नहीं किया जा सकता फिर भी कल्हण ने समसामयिक और निकट भूत की घटनाओं को तटस्थ दृष्टि से देखा है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में ऐतिहासिक, पौराणिक और रोमांचक तीनों शैलियों का सम्मिश्रण हो गया है, यद्यपि प्रमुखता ऐतिहासिक शैली की है। महाकाव्य की व्यापक परिभाषा की दृष्टि से देखने पर महाभारत और रघुवंश की तरह राजतरंगिणी को भी महाकाव्य माना जा सकता है पर महाभारत की तरह न तो वह विकसनशील महाकाव्य है न रघुवंश की तरह अलंकृत शास्त्रीय महाकाव्य बल्कि अपने ढंग का ऐतिहासिक शैली का अकेला महाकाव्य है।

ऐतिहासिक चरित-काव्यों में सन्ध्याकरनन्दी के रामचरित का भी नाम लिया जाता है जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है, पर इसमें काव्यात्मकता और ऐतिहासिकता दोनों का अभाव होने से यह काव्य महत्वपूर्ण नहीं है। बारहवीं सदी का हेमचन्द्र का कुमारपाल-चरित भी 'रामचरित' की तरह ही द्व्यर्थक काव्य है जिसमें कुमारपाल का जीवन-वृत्त दिया गया है। इसमें ऐतिहासिक शैली तो अपनाई गयी है पर काव्यात्मकता का नितान्त अभाव है। गुजरात के राजा वीरधवल और विशालदेव के मन्त्री वस्तुपाल और तेजपाल के सम्बन्ध में अरिसिंह ने 'सुकृत-संकीर्तन' और बालचन्द्र सूरि ने वसन्त-विलास नामक महाकाव्यों की रचना की। इनमें महाकाव्य के वस्तु-व्यापार-वर्णन की रूढ़ियों का तो पालन हुआ है, पर उपदेशात्मक और इतिवृत्तात्मक वर्णनों के कारण महाकाव्य के गुण इसमें नहीं हैं। पन्द्रहवीं शताब्दी में लिखित जयचन्द्र

1. A History of Sanskrit Literature, Dr. S. N. Dasgupta & De, P. 359.

सूरि का 'हम्मीर महाकाव्य' ऐतिहासिक शैली का महत्वपूर्ण महाकाव्य है क्योंकि उसमें ऐतिहासिक शैली की सभी विशेषताएँ मिलती हैं। पन्द्रहवीं शताब्दी में जोनराज ने जयानक के 'पृथ्वीराज विजय' महाकाव्य की टीका लिखी है पर इस महाकाव्य की खण्डित प्रति मिलने से उसका रचना-काल अज्ञात है। पर प्राप्त अंश में ऐतिहासिकता पर्याप्त मात्रा में दिखाई पड़ती है।

रोमांचक महाकाव्य—जैसा पहले कहा जा चुका है, चरितकाव्य पौराणिक, ऐतिहासिक और रोमांचक तीनों शैलियों में लिखे गये हैं। यह भी कहा जा चुका है कि पौराणिक और ऐतिहानिक शैली के महाकाव्यों में कथा-आख्यायिका के गुण भी पाये जाते हैं। वस्तुतः संस्कृत के जितने चरितकाव्य हैं, चाहे वे जिस शैली में लिखे गये हों, कथा-आख्यायिका से बहुत प्रभावित हैं। किन्तु यह प्रभाव सबसे अधिक रोमांचक शैली के चरितकाव्यों पर दिखाई पड़ता है। अतः यहाँ कथा, आख्यायिका और चरितकाव्य के सम्बन्ध के बारे में विचार कर लेने की आवश्यकता है। चरितकाव्यों का मूल उद्देश्य मनोरंजक शैली में किसी पौराणिक पुरुष, देवता, ऐतिहासिक और निजन्धरी व्यक्तित्व या समसामयिक आश्रयदाता राजा का चरित्र चित्रित करके धर्म-भावना का प्रसार करना या राजा को प्रसन्न करना या सहृदयों का मात्र मनोरंजन करना प्रतीत होता है। अतः यह स्पष्ट है कि उनमें शैली की वह गम्भीरता, उदात्तता और गरिमा नहीं हो सकती जो महत् उद्देश्य वाले शास्त्रीय महाकाव्यों में होती है। यद्यपि महाकाव्य के लिए आवश्यक ऋतु, वन, पर्वत, नगर, मन्त्र-दूत, युद्ध आदि वस्तु-व्यापारों का वर्णन इनमें भी हुआ है, पर महच्चरित्र, गरिमामयी शैली, महदुद्देश्य और अदम्य जीवनी-शक्ति के अभाव में उन्हें उच्चकोटि का महाकाव्य क्या महाकाव्य भी नहीं माना जा सकता। फिर भी परम्परा से उन्हें महाकाव्य माना जाता रहा है और उन काव्यों ने स्वयं भी अपने को महाकाव्य कहा है। किन्तु वस्तुतः देखा जाय तो अधिकांश चरितकाव्य कथा-आख्यायिका के अधिक निकट के हैं। उनमें से कुछ ही ऐसे हैं जो अलंकृत महाकाव्य के रूप में अधिक ख्याति प्राप्त कर सके हैं जैसे हरिश्चन्द्र का धर्मशर्माभ्युदय, मंखक का श्रीकण्ठचरित, पद्मगुप्त का नवसाहसांक चरित, विल्हण का विक्रमांकदेव-चरित आदि। शास्त्रीय महाकाव्यों की तरह चरितकाव्यों के मूल स्रोत भी रामायण-महाभारत और अति प्रसिद्ध कथाकाव्य जैसे गुणाढ्य की बृहत्कथा ही है। शास्त्रीय महाकाव्य इतिहास-कथोद्भूत होते हुए भी अपनी विशिष्ट कलात्मक शैली और शिष्ट नागर वातावरण के कारण अलग काव्य रूप बन गये किन्तु लोक के बीच पौराणिक, ऐतिहासिक, निजन्धरी

और कल्पित कथा-आख्यान का प्रचलन निरन्तर बना रहा। संस्कृत पण्डितों और नागर जनों की भाषा थी अतः लोक भाषाओं (प्राकृतों) में ही इस तरह की कथायें संकलित और निर्मित होतीं। गुणाढ्य की बृहत्कथा इसका उदाहरण है। जब प्राकृत साहित्य बहुत समृद्ध और लोकप्रिय हो गया और राजदरबारों में उसकी प्रतिष्ठा होने लगी तो उसकी उपेक्षा करना संस्कृत के पण्डितों के लिए सम्भव न था, अतः प्राकृत कथा-साहित्य का प्रभाव संस्कृत पर पड़ा, उसमें अलंकृत शैली की गद्यबद्ध कथा-आख्यायिकायें लिखी गयीं। छठी शताब्दी में दण्डी, सुबन्धु और बाणभट्ट ने इस प्रकार की कथा-आख्यायिकायें लिखीं और भामह, दण्डी प्रभृत आचार्यों ने उनके लक्षण भी बताये। प्राकृत और अपभ्रंश में इस प्रकार के पद्यबद्ध कथा-काव्य भी होते थे जिनकी ओर नवीं शताब्दी के आलंकारिक रुद्रट ने संकेत किया है[1]। इन काव्यों की शैली संस्कृत के शास्त्रीय महाकाव्यों की शैली से भिन्न होती थी। धीरे-धीरे उन काव्यो ने संस्कृत की महाकाव्य-शैली को प्रभावित करना प्रारम्भ किया और नवीं शताब्दी तक संस्कृत में भी प्राकृत-अपभ्रंश की तरह कथात्मक चरितकाव्य लिखे जाने लगे और उनकी गणना महाकाव्य के रूप में होने लगी जैसा रुद्रट के बताये महाकाव्य के लक्षणों से स्पष्ट है।

इस प्रकार आठवीं-नवीं शताब्दी के आसपास प्राकृत-अपभ्रंश के चरितकाव्यों के प्रभाव के परिणामस्वरूप संस्कृत महाकाव्य में कथात्मक शैली का प्रवेश हुआ और कुछ नई रूढियाँ स्थिर हो गयीं जो शास्त्रीय, पौराणिक, ऐतिहासिक और कथात्मक सभी शैलियों के महाकाव्यों में (नैषधचरित जैसे कुछ इने-गिने महाकाव्यों को छोडकर) पाई जाती हैं और जिनको रुद्रट, हेमचन्द्र और विश्वनाथ ने महाकाव्य के लक्षण के रूप में मान लिया है। दण्डी के अनुसार महाकाव्य के आदि में नमस्क्रिया, आशीर्वचन और वस्तुनिर्देश होना चाहिये, पर इस काल के महाकाव्यों के आदि में मगलाचरण के अतिरिक्त गुरु-वन्दना, पूर्ववर्ती कवियों की प्रशंसा, साधु-सज्जनों की प्रशंसा और खलों की निन्दा, ग्रन्थ के सम्बन्ध में निवेदन और अपने सम्बन्ध में विनम्रता और संकोचपूर्ण कथन, नायक की नगरी का वर्णन, नागरिकों का वर्णन, नायक के वंश का वर्णन आदि बातें भी पाई जाती हैं जो पूर्ववर्ती शास्त्रीय महा-

---

१—कन्यालाभ फला वा सम्यग्विन्यस्त सकल शृंगारम्
इति सस्कृतेन कुर्यात्कथामगद्येन चान्येन ॥
रुद्रट-काव्यालंकार, अध्याय १६, श्लोक २३।

काव्यों में नहीं होतीं। महाकाव्य में इन रूढ़ियों का प्रवेश कथा-आख्यायिका से हुआ है जैसा रुद्रट के कथा सम्बन्धी इस लक्षण से स्पष्ट है :—

श्लोकेमहाकथायामिष्टान्देवान्गुरुन्नमस्कृत्य।
संक्षेपेण निजं कुलमभिदध्यात्स्वं च कर्तृतया॥

काव्यालंकार, १६–२०।

रुद्रट ने महाकाव्य को उत्पाद्य और अनुत्पाद्य दो प्रकार का माना है और उत्पाद्य महाकाव्य के लक्षण में कहा है :—

तत्रोत्पाद्यं पूर्वं सन्नगरीवर्णनं महाकाव्ये।
कुर्वीत् तदनु तस्यां नायकवंशप्रशंसां च॥

काव्यालंकार, १६–७।

इस प्रकार रुद्रट द्वारा निर्दिष्ट कथा तथा उत्पाद्य महाकाव्य के जो लक्षण ऊपर दिये गये हैं वे सिद्ध करते हैं कि नवीं शताब्दी तक महाकाव्य में कथा सम्बन्धी अनेक रूढ़ियाँ अपना ली गयी थीं।

प्राकृत-अपभ्रंश के कथा-काव्य के प्रभाव के फलस्वरूप संस्कृत महाकाव्य के केवल बाह्य और स्थूल लक्षणों में ही परिवर्तन नहीं हुआ बल्कि उसकी अन्तरात्मा भी बदली। शास्त्रीय-शैली में पाण्डित्य-प्रदर्शन, दुरूह अलंकृति और वस्तु-व्यापार वर्णन की जो रीतिबद्ध परिपाटी थी उसकी जगह लोकतत्त्वों से प्रभावित सरलता, स्वच्छन्दता और रोमांचकता का प्रादुर्भाव हुआ। यह आधुनिक ढंग का रीतिवाद (क्लासिसिज्म) के विरुद्ध स्वच्छन्दतावाद (रोमाण्टिसिज्म) का विद्रोह नहीं था बल्कि दोनों प्रवृत्तियाँ, जो पहले शिष्ट नागर साहित्य और लोक साहित्य में समानान्तर रूप से चल रही थीं, इस युग में शिष्ट-साहित्य और लोक-साहित्य में भी साथ-साथ चलने लगीं और धीरे-धीरे दोनों का एकीकरण या सम्मिश्रण हो गया। इस प्रकार परवर्ती आचार्यों को इन लक्ष्य-ग्रन्थों को देखकर बाध्य होकर रोमांचक चरितकाव्यों को भी महाकाव्य मानना पड़ा। वस्तुतः रोमांचक महाकाव्य तो लोक-साहित्य के रोमांचक काव्यों के विकसित रूप हैं। जैन कवियों ने विशेष रूप से लोकाश्रित भावधारा और शैलियों को अपनाया। इसलिए संस्कृत के अधिकांश चरितकाव्य या रोमांचक शैली के महाकाव्य भी उन्होंने ही लिखे हैं। कथात्मक शैली की विशेषतायें निम्नलिखित हैं :—

१—रोमांचक महाकाव्यों में काव्य-कौशल और विदग्धता का विलास अधिक नहीं होता न उनका बौद्धिक स्तर ही बहुत ऊँचा होता है। उनकी प्रवृत्ति सरलता, भावुकता और स्वच्छन्द कल्पना-प्रवणता की ओर अधिक दिखाई पड़ती है।

२—कथा-आख्यायिका की भाँति उनमें रोमांचक, अतिशयोक्ति पूर्ण, तथा

कल्पना पर आधारित साहसिक कार्यों, जैसे दुष्कर यात्रा, युद्ध, भयंकर दुर्घटना आदि का वर्णन होता है।

३—इनमें काल्पनिक और रोमांचक प्रेम-व्यापारों की अधिकता होती है और वास्तविक वीरतापूर्ण कार्यों का अभाव होता है।

४—उनका कथानक जीवन्त और आकर्षक तो होता है पर शास्त्रीय महाकाव्यों जैसी अन्विति नहीं होती। वह असंयमित जटिल और असंतुलित होता है। कारण यह है कि उनमें अवान्तर और प्रासंगिक कथायें भी होती हैं जो दो व्यक्तियों के संवाद के रूप में बीच-बीच में आती रहती हैं। कथा के बीच कथा आने से मूल कथा का सूत्र बार-बार टूट जाता है जिससे कथानक पेचीदा बन जाता है।

५—रोमांचक महाकाव्य का कथानक चाहे उत्पाद्य हो या अनुत्पाद्य, उसमें जीवन की यथार्थता की कमी रहती है और कल्पना तथा सम्भावना के आधार पर कथा को आगे बढ़ाया जाता है जिससे उसमें ऐतिहासिक व्यक्तित्व भी पौराणिक और निजन्धरी रूप धारण कर लेते हैं। इस तरह उसमें आश्चर्यजनक चमत्कारपूर्ण, अविश्वसनीय और अलौकिक घटनाओं की भरमार रहती है।

६—उसमें लोक-कथा और लोकगाथा के वे सभी तत्त्व जो विकसनशील महाकाव्यों, पौराणिक कथाओं और कथा-आख्यायिका में होते हैं, अपना लिए गये हैं। अतः उनमें अलौकिक और अतिप्राकृत शक्तियों के कार्य, जादू, टोना, मन्त्र-तन्त्र की बातें, पशु-पक्षियों की बात-चीत, शकुन-शाप, वरदान में विश्वास, तथा ऐसी ही अन्य बातें बहुत अधिक हैं। ये बातें बार-बार प्रयुक्त होने से कथानक सम्बन्धी रूढ़ियाँ बन गई हैं जिनके सम्बन्ध में दूसरे अध्याय में विस्तार के साथ विचार किया जा चुका है।

७—उसमें महदुद्देश्य, महती केन्द्रीय घटना और महच्चरित्र का अभाव होता है। उसके नायक न तो विकसनशील महाकाव्यों के नायकों की तरह सच्चे और वैयक्तिक वीरता के प्रतीक होते हैं, न शास्त्रीय महाकाव्यों के नायकों की भाँति सामाजिक शक्ति के प्रतीक और आदर्श धीर वीर व्यक्ति ही होते हैं। इसके विपरीत वे कवि की कल्पना की देन होते हैं अर्थात् उनकी वीरता और प्रेम दोनों ही अयथार्थ और सम्भावना पर आधारित होते हैं और उनका व्यक्तित्व बहुधा ऐकान्तिक, चमत्कारपूर्ण और सामाजिक जीवन से विच्छिन्न होता है।

संस्कृति में रोमांचक महाकाव्यो का प्रारम्भ प्रधानतया जैनों के पौराणिक काव्य-ग्रन्थों और गुणाढ्य की बृहत्कथा के आधार पर लिखे गये ग्रन्थों से मानना

चाहिये। यद्यपि वे महाकाव्य नहीं बल्कि पुराण और कथा-काव्य माने जाते हैं, किन्तु परवर्ती रोमांचक काव्यों पर उसका प्रभाव बहुत अधिक है। आठवीं शताब्दी में जिनसन ने आदिपुराण और उनके शिष्य गुणभद्र ने उत्तरपुराण और जिनदत्त-चरित की रचना की। आठवीं-नवीं शताब्दी में बुद्ध स्वामी ने बृहत्कथाश्लोकसंग्रह और गौडाभिनन्द ने कादम्बरी कथासार नामक पद्यबद्ध कथा-ग्रंथों की रचना की। फिर ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में एक ओर तो काश्मीर में क्षेमेन्द्र ने बृहत्कथा मजरी और सोमदेव ने कथासरित्सागर नाम से गुणाढ्य को बृहत्कथा को काव्यात्मक रूप दिया, दूसरी ओर गुजरात में हेमचन्द्र ने त्रिषष्ठिशलाकापुरुष-चरित नाम से जैनों के प्राकृत-बद्ध पुराण-कथाओं को संस्कृत में श्लोकबद्ध किया। इन पौराणिक और निजन्धरी कथाओं ने परवर्ती महाकाव्यो की विषयवस्तु और रूप-शिल्प को बहुत अधिक प्रभावित किया। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है कि गुणाढ्य की बृहत्कथा मूल रूप में भी पद्य में ही लिखी गयी थी और वहीं से प्राकृत भाषा या लोकभाषा में पद्य-बद्ध कथाओं के लिखने की परम्परा शुरू होती है। बृहत्कथा का महत्व आठवी-नवीं शताब्दी तक रामायण और महाभारत के समान माना जाने लगा था अतः उसके अनुकरण में संस्कृत में रोमांचक महाकाव्य की परपरा शुरू हो जाना आश्चर्य की बात नही है। सोमदेव के कथासरित्सागर में काव्यात्मकता अधिक है और उसे संस्कृत का प्रारंभिक रोमांचक महाकाव्य कहा जा सकता है। ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारभ में ही पद्मगुप्त का नवसाहसांक चरित लिखा गया जो सम-सामयिक राजा के नाम पर लिखा गया प्रथम परिष्कृत और अलंकृत शैली का रोमांचक महाकाव्य है। उसमें रोमांचक महाकाव्य के ऊपर बताये सभी लक्षण मिलते हैं। १२ वी शताब्दी में वाग्भट्ट ने १५ सर्गों का नेमिनिर्वाण नामक महाकाव्य लिखा। उसके बाद १३ वीं शताब्दी से लेकर १५-१६ वीं शताब्दी तक जैन कवियों ने चरित-काव्यों की भरमार कर दी जिनमें से वीरनन्दी का चन्द्रप्रभ चरित (१३ वीं शती), सोमेश्वर कवि का सुरथोत्सव (१३ वीं शती), भवदेव सूरि का पार्श्वनाथचरित (१३-१४ वीं शती) और मुनिभद्रसूरि का शान्तिनाथ चरित प्रमुख रोमांचक महाकाव्य है। अभयदेव के जयन्त विजय और हरिश्चन्द्र के धर्मशर्माभ्युदय में शास्त्रीय महाकाव्य की रूढियाँ अधिक मिलती है पर मूलत वे पौराणिक रोमांचक शैली के ही महाकाव्य हैं। १५ वीं शती में वीवर ने फारसी कवि जामी के प्रेमाख्यानक काव्य युसुफ जुलेखा के आधार पर कथा-कौतुक नामक काव्य का अनुवाद किया और रोमांचक प्रेम कथा को शैव-कथा के रूप में बदल दिया। १३ वीं शताब्दी के बाद जैन कवियों

ने अपभ्रंश से अधिक संस्कृत में लिखना प्रारंभ किया और सैकड़ों चरित-काव्य इस काल के बीच लिखे गये। इस प्रकार दसवीं शताब्दी से सोलहवीं शताब्दी तक संस्कृत में रोमांचक पद्यबद्ध कथा-काव्यों की रचना बहुत हुई, उनमें से यद्यपि सबने अपने को महाकाव्य कहा है पर वस्तुतः महाकाव्य पद के अधिकारी उनमें से बहुत कम हैं, यदि महाकाव्य माना ही जाय तो वे रोमांचक शैली के महाकाव्य (रोमाण्टिक एपिक) कहे जा सकते हैं। वस्तुतः इस काल की लोक-रुचि और सामाजिक स्थिति ऐसी थी जिसमें रोमांचक और कथात्मक प्रबन्ध-काव्य की रचना अधिक सभव थी, शास्त्रीय महाकाव्यों की उतनी नहीं। यही कारण है कि ११ वीं से १६ वीं शताब्दी तक संस्कृत में ही नहीं अपभ्रश, और हिन्दी में ही पौराणिक, ऐतिहासिक और रोमांचक शैली के महाकाव्यों की रचना हुई, शास्त्रीय शैली के महाकाव्यों की नहीं।

पालि और प्राकृत के महाकाव्य

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के उदय के पूर्व भारतीय साहित्य की सक्रियता सबसे अधिक संस्कृत भाषा के क्षेत्र में ही दिखलाई पड़ती है। यद्यपि पालि और प्राकृत में भी साहित्य निर्माण कम नहीं हुआ पर शुद्ध या रसात्मक साहित्य जितना संस्कृत में निर्मित हुआ उतना पालि और प्राकृत में नहीं। पालि गौतम के समय की बोलचाल की प्राकृत थी और क्रमशः वह बौद्धों के धर्मग्रन्थों की भाषा बनकर रह गई, जब कि व्यवहार का भाषा प्राकृत अपनी विविध बोलियों – मागधी, अर्द्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री पैशाची आदि—में विकसित होकर आगे बढ़ी। जैनो ने अर्द्धमागधी और महाराष्ट्री प्राकृत को अपनी धार्मिक भाषा बनाया। इस तरह बौद्धों के त्रिपटिक आदि ग्रन्थ पालि में और जैनों के सूत्र या आगम ग्रन्थ प्राकृत में मिलते है। पर जिस तरह रामायण के साथ संस्कृत में अलंकृत काव्य की परम्परा प्रारम्भ हुई, जो हजारों वर्ष तक अनवरत चलती रही, उस तरह की रसात्मक और अलंकृत काव्य परम्परा पालि में नहीं दिखाई पड़ती। प्राकृत में भी वह परवर्ती काल में प्रारम्भ हुई और बहुत ही क्षीण रूप में तथा अधिकतर धार्मिक आवरण लेकर दसवीं शताब्दी के आसपास तक चलती रही और अपभ्रंश साहित्य के उत्थान ने उसकी गति को सदा के लिए समाप्त कर दिया। इस तरह संस्कृत, पालि और प्राकृत साहित्य की धारायें समानान्तर रूप से ५०० ई० तक बहती रहीं, उसके बाद बौद्ध साहित्य भी संस्कृत में ही निर्मित होने लगा और संस्कृत और प्राकृत ही मैदान में रह गई। ७ वीं-९ वो शताब्दी से तो जैन साहित्य भी अधिकतर संस्कृत और अपभ्रंश में लिखा जाने लगा और प्राकृत धर्म-ग्रन्थों और विद्वानों की भाषा बनकर रह गई।

चाहे जिस कारण हो पालि में रसात्मक या शुद्ध साहित्य का निर्माण नहीं के बराबर हुआ या यदि हुआ भी हो तो आज वह प्राप्त नहीं है। सम्भवतः पालि केवल धर्म की भाषा समझी जाती थी तभी अश्वघोष को अपने महाकाव्य संस्कृत में लिखने की आवश्यकता पड़ी। कथाओं और ऐतिहासिक निजन्धरी आख्यानों की दृष्टि से पालि-साहित्य की निश्चित रूप से महत्वपूर्ण देन है। जातक कथाओं में कथा-साहित्य का प्रारम्भिक रूप मिलता है और थेरथेरी गाथा तथा अट्ठकहा में कथा और निजन्धरी आख्यान के बीच दिखाई पड़ते

हैं। ५ वीं शताब्दी में अट्ठकहा के आधार पर ही सिंहल के इतिहास से सम्बन्धित दो ग्रन्थ दीपवंश और महावंश निर्मित हुए। विटरनित्स ने इन्हें ऐतिहासिक महा-महाकाव्य की संज्ञा दी है[1]। इनमें महावंश को राजतरंगिणी की तरह का ऐतिहासिक शैली का महाकाव्य कहा जा सकता है। इसमें भाषा और छन्द की पूर्णता भी अलंकृत काव्यों जैसी है।

प्राकृत के काव्य अधिकतर जैन कवियों द्वारा लिखे हुए हैं। जैनों द्वारा जो काव्य लिखे गये उनमें से अधिकांश चरितकाव्य हैं और इन सब पर पुराण और कथाशैली का गहरा प्रभाव है। जो जैनेतर काव्य हैं, उनमें उक्त शैली नहीं या बहुत कम दिखलाई पड़ती है। ऐसे दो ही महाकाव्य प्राप्त हैं, प्रवरसेन का सेतुबन्ध या रावण-वहो और वाक्पतिराज का गउड़ वहो। ये दोनों ही शास्त्रीय शैली के महाकाव्य हैं। इस प्रकार प्राकृत में प्रधानतया इन तीन शैलियों के महाकाव्य मिलते हैं:—

१—पौराणिक शैली
२—रोमांचक शैली
३—शास्त्रीय शैली

पौराणिक शैली—प्राकृत का प्राचीनतम महाकाव्य विमलसूरि का 'पउमचरिय' है। विमलसूरि के काल के बारे में विद्वानों में मतभेद है। विंटरनित्स उन्हें पहली शताब्दी का और जैकोबी तीसरी शताब्दी ईसवी का मानते हैं, जब कि मुनिजिनविजय, केशवलाल ध्रुव, ए० सी० उपाध्याय आदि विद्वान उन्हें वाणभट्ट के बाद का मानते हैं। किंतु पउमचरिय की शैली और भाषा की प्राचीनता यह सिद्ध करती है कि यह काव्य तीसरी शताब्दी के बाद का नहीं है। इस संबध में डा० जैकोबी का कहना है कि यह तीसरी शताब्दी में लिखा हुआ प्राकृत का प्राचीनतम महाकाव्य है जो वाल्मीकि रामायण की कथा का जैन रूपान्तर है, उसकी भाषा प्रारम्भिक

1 "The same Atthakathas are also the sources fiom which the histoiical and epic Pali poems of Cylon are derived, for the Pali chronicles of Cylon the Dipavamsa and the Mahavamsa, cannot be termed actual histories, but only historical poems. As it has never been the Indian way to make-clearly defined distinction between myth, legend and history, histriography in India was never more than a branch of epic poetry." A History of Indian Literature, Vol II, by H. Winternitz, Calcutta, 1933, p. 208,

मिक प्राकृत है और वह महाकाव्य की सरल शैली में लिखा गया है। डा० जैकोबी ने इस आधार पर यह अनुमान किया है कि विमलसूरि के पहले भी प्राकृत में अनेक लोक प्रचलित महाकाव्य थे और पउमचरिय उनमें से एक है जो आज भी प्राप्त है[1]। पउमचरिय में प्राचीन महाकाव्य परम्परा के अनुरूप आद्यन्त अनवरुद्ध कथा-प्रवाह दिखलाई पड़ता है और वाल्मीकि रामायण को तरह ही अनलंकृत किन्तु सश्लिष्ट वर्णन स्थान-स्थान पर मिलते हैं जिससे उसकी शैली आकर्षक और उदात्त हो गई है। इसमें पौराणिक शैली के महाकाव्यों के अनेक तत्व दिखलाई पड़ते हैं। कथा का प्रारम्भ संवाद रूप में होता है। पउमचरिय के अनुसार रामकथा पहले पहल महावीर स्वामी ने अपने शिष्यों—इन्दुभूति आदि—से कही थी, इन्दुभूति ने उसे अपने शिष्यों को बताया और वहाँ से वह कथा विभिन्न आचार्यों के पास पहुँची। पउमचरिय की कथा भी इन्दुभूति और उनके शिष्य श्रेणिक के सम्वाद के रूप कही गई है और बीच-बीच में पौराणिक शैली के अनुरूप प्रश्नोत्तर के रूप में अनेक अवान्तर कथायें भी कही गई हैं। यद्यपि इसमें महाभारत और पुराणों की तरह जगह-जगह उपदेशात्मक कथन भरे हुये हैं किन्तु कुल मिलाकर यह पुराण से अधिक महाकाव्य ही है क्योंकि सर्ग, प्रति सर्ग, मन्वन्तर आदि का वर्णन इसमें नहीं है। इसके विपरीत इसमें प्रारम्भ में तीर्थंकरों की वन्दना, देश-वर्णन, सम्वाद रूप में कथा का वस्तु-निर्देश और पहले अध्याय में ही सभी अध्यायों का सार सक्षेप में दे दिया गया है। इस प्रकार यह वाल्मीकि रामायण के ढंग का उसी की शैली में लिखा गया प्राकृत महाकाव्य है।

पौराणिक शैली के अन्य ग्रन्थ ८वीं शताब्दी के बाद के लिखे हुये मिलते है। इनमे से अनेक हस्तलिखित रूप में पाटण, जैसलमेर आदि के जैन ग्रन्थागारों में सुरक्षित है जिनमें से कुछ प्रमुख ये हैं। गुणपाल का जम्बूचरित, लक्ष्मणदेव का णेमिणाहचरिय, सोमप्रभ का सुमतिनाथ चरित, देवचन्द्र सूरि का शान्तनाथ चरियम्, शीलाचार्य का महापुरिस चरिय, महेश्वर सूरि का 'पञ्चमी कहा', वर्द्धमानाचार्य का आदिनाथ चरिय, देवप्रभसूरि का पार्श्वनाथ चरिय और हरिभद्रसूरि का नेमिनाथ चरियम्। ये ग्रन्थ अभी प्रकाशित नहीं हुये है, अतः इनके बारे मे निश्चित रूप से कुछ कह सकना कठिन है। फिर भी इनका जो संक्षिप्त विवरण प्रकाशित किया गया है उससे पता चलता है कि इनमें से अधिकांश या तो विशुद्ध धार्मिक कथायें या पौराणिक पुरुषों के चरित मात्र हैं जिन्हें जैन पुराण

1—"Some ancient Prakrit Works.", by Dr. Jacobi, modern review, December, 1914.

कहा जा सकता है। गुणचन्द्रमणि का महावीर चरियं (सं० ११३९) प्राकृत का सबसे बड़ा चरित काव्य है किन्तु यह भी महाकाव्य से अधिक पुराण ही है।

प्राकृत के रोमांचक महाकाव्य—संस्कृत के रोमांचक महाकाव्यों पर विचार करते हुये कहा जा चुका है कि संस्कृत के अनेक जैन काव्य पौराणिक कथा-वस्तु को लेकर निर्मित होते हुये भी पौराणिक नहीं बल्कि रोमांचक काव्य हैं क्योंकि उनमें रोमांचक उत्पाद्य कथाओं के बहुत से तत्त्व पाये जाते हैं। प्राकृत में भी इस प्रकार के रोमांचक काव्यों की कमी नहीं है। जैसा कि कहा जा चुका है रुद्रट की महाकथा और महाकाव्य की परिभाषा से पता चलता है कि कथाओं के अनेक तत्त्व महाकाव्यों में भी गृहीत होने लगे थे और प्राकृत के महाकाव्यों और कथा-काव्यों में बहुत ही सूक्ष्म अन्तर था। स्वयं रुद्रट ने जो अन्तर बताये हैं वे बाहरी लक्षण से ही अधिक सम्बन्धित हैं, दोनों के बीच मौलिक अन्तर उन्होने यही बताया है कि महाकाव्य में सभी रस होते हैं पर कथा में शृंगार ही प्रधान होता है और उसका लक्ष्य कन्याफल की प्राप्ति होता है जब कि महाकाव्य में नायक का अभ्युदय लक्ष्य होता है। प्राकृत-अपभ्रंश में तो महाकाव्य और कथा में संस्कृत की तरह पद्य और गद्य का भेद भी नहीं रह गया जैसा कि रुद्रट के 'इति संस्कृतेन कुर्यात्कथा-मगद्येन चान्येव' से पता चलता है। उसमें कथायें तो पहले ही से पद्यबद्ध होती थीं, बाद में पौराणिक और कल्पित काव्य भी कथा की शैली में ही लिखे जाने लगे। परवर्ती प्राकृत काव्यो को गुणाढ्य की लोकप्रिय 'वड्डकहा' ने इतना अधिक प्रभावित किया कि "पउमचरिय" की शैली भुला दी गई और पादलिप्त की तरङ्गवई और कौतूहल की लीलावई की शैली ही काव्यों में भी प्रमुख हो गई। महाकाव्य और कथा का भेद प्राकृत में इस सीमा तक मिट गया कि आज एक ही काव्य को एक विद्वान महाकाव्य कहता है तो दूसरा कथा। उदाहरण के लिए कौतूहल की लीलावती के दो सम्पादकों में से आचार्य मुनिजिनविजयजी उसे महा-काव्य मानते हैं तो दूसरे सम्पादक डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्याय उसे कथा कहते हैं[1]। मलयसुन्दरी कथा को भी विंटरनित्स ने रोमांचक महाकाव्य माना

---

1. (a) "When, in 1940, my beloved friend Dr. Upadhyay expressed his desire to edit this poem I felt very happy, and decided to present this "Prakrit Mahakavya with its Sanskrit commentry by an anonymous Jain author edited by him as a precious jewel in the necklace of our Granthmala."

Munijin vijaya—Lilavi, General editor's preface, Bombay, Sambat 2005, page 21.

है जब कि रुद्रट की परिभाषा के अनुसार उसे महाकथा कहना चाहिये[1]। उसी तरह संस्कृत में भवदेव सूरि का पार्श्वनाथ चरित, हरिश्चन्द्र का धर्मशर्माभ्युदय, वाग्भट्ट कृत नेमिनिर्वाण आदि ग्रन्थ पौराणिक महाकाव्य होते हुये भी रोमांचक महाकाव्य माने गये हैं। विंटरनित्स ने अपभ्रंश के कथात्मक काव्य 'भविषयत्त कहा' को भी रोमांचक महाकाव्य ही माना है[2]। इस तरह हम देखते हैं कि प्राकृत में ऐसे काव्यों का प्रचलन था जिनमें शास्त्रीय महाकाव्यों और कथा आख्यायिका—दोनों की विशेषताओं का सम्मिश्रण हुआ था। यही कारण है कि संस्कृत के आचार्यों की परिभाषा को दृढ़तापूर्वक स्वीकार करनेवाले ऐसे काव्यों को कथा-आख्यायिका कहते हैं जब कि महाकाव्य के स्वरूप-विकास को ध्यान में रखकर उसकी व्यापक परिभाषा मानने वाले उन्हें रोमांचक महाकाव्य मानते हैं।

किन्तु रोमांचक महाकाव्य और रोमांचक कथा में इतना अधिक अभेद होते हुये भी उनकी अन्तरात्मा और स्थापन-पद्धति में अन्तर होता है। दोनों में प्रधान अन्तर यह है कि रोमांचक महाकाव्य में कथावस्तु रोमांचक होते हुये भी उसे प्रस्तुत करने का ढङ्ग महाकाव्य का होता है, अर्थात् उसमें कथानक की योजना नाटकीय शैली में होती है और घटनाओं का विस्तार न होकर वस्तु-व्यापार, मनस्थिति, विविध सौन्दर्य आदि का सूक्ष्म और प्रचुर वर्णन होता है, तथा उसका लक्ष्य किसी महत् उद्देश्य की सिद्धि होता है मात्र मनोरञ्जन नहीं। इसके विपरीत रोमांचक कथाओं में कथानक असंयमित, जटिल और विविध घटनाओं और अवान्तर कथाओं से भरा होता है और उसका उद्देश्य मात्र मनोरञ्जन या किसी धार्मिक या नैतिक तथ्य का उदाहरण उपस्थित करना रहता है। उसमें पाठक की जिज्ञासा वृत्ति को बनाये रखने में वस्तु-व्यापार आदि का सूक्ष्म और विस्तृत वर्णन अनावश्यक और बाधक समझा

(b) Rudrat's recognition of katha in verse in any language other than Sanskrit, one can easily believe, presupposes Prakrit kathas of the proto-type of Lilavati. And it will be seen that this Lilavati admirably and suitably fulfills all the requirements of a katha as noted by Rudrat"

Dr A. N Upabhyay—Lilavati, Introduction, Bombay, Sambat 2005, p 42.

1. A History of Indian Literature, by M. Winterxitz, Calcutta, 1933, Vol. 11, p. 533

2—Ibid, page 532.

जाता है। रोमांचक महाकाव्य और रोमांचक कथाओं में अन्तर समझने के लिए उपर्युक्त बात को ध्यान में रखना आवश्यक है।

प्राकृत में चरितकाव्यों के अतिरिक्त अनेक पद्यबद्ध कथाकाव्य भी लिखे गये है जिनमें से अधिकांश तो रोमांचक कथा मात्र है किन्तु कुछ को रोमांचक महाकाव्य भी कहा जा सकता है। १० वी शताब्दी के पूर्व लिखी गई कथाओं में पादलिप्त की 'विलासवई कहा' (जिसका मूलरूप अब अप्राप्य है) उद्योतन की 'कुवलयमाला' और हरिभद्र की 'समराइच्च कहा' प्रमुख हैं किन्तु इनमें से कोई भी महाकाव्य नहीं है। दसवी शताब्दी से प्राकृत और अपभ्रंश में ऐसे कथात्मक काव्य लिखे जाने लगे जिनमें कथा और महाकाव्य दोनों के लक्षण मिलते हैं। ऐसे काव्यों में कौतूहल की 'लीलावती' (कोऊहल विरइया लीलावई णाम पाइय कहा) विशेष महत्वपूर्ण है। यद्यपि यह ग्रन्थ परिच्छेद, सर्ग या उच्छ्वास में विभक्त नहीं है और कवि ने स्वयं भी इसे कथा कहा है, किन्तु इसमें महाकाव्य के कई तत्व पाये जाते हैं, अतः लीलावई को रोमांचक महाकाव्य कहा जा सकता है और इसी कारण मुनि जिनविजय जी ने इसे महाकाव्य कहा भी है। इसमें कथा के प्रायः सभी लक्षण मिलते हैं जैसे प्रारम्भ में देवताओं की स्तुति, सज्जन स्तुति और दुर्जन-निन्दा, कविवंश-परिचय, कवि और उसकी पत्नी के बीच सवादरूप मे कथा का प्रारम्भ, प्रधान कथा के भीतर अनेक प्रासंगिक कथाओं का होना, धाराप्रवाह कथा-वर्णन आदि। किन्तु उसमें महाकाव्य के भी ये लक्षण हैं—अलंकृति, वस्तु-व्यापार वर्णन, प्रेम की गम्भीरता और विजय को महत्ता स्थापित करने का महत् उद्देश्य, रसों और भाव-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति, उदात्त शैली। डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्याय ने इसी आधार पर 'इनसाइक्लोपीडिया आव लिटरेचर' में प्राकृत साहित्य के सम्बन्ध में लिखते हुये लोलावती को एक अलङ्कृत रोमांचक काव्य कहा है[1]। यद्यपि लोलावतो को भूमिका में उन्होंने उसे कथा माना है।

1—"The 'Lilavati' of Kutuhal, earlier than Bhoja. is a Stylistic, romantic kavaya with considerable racy narration. It tells the love story of king satavahan and Lilavati, a princess of Sinhal Dwip, The threads of fhe story are a bit complicated but the sceness are attractively stretched, and the sentiments are served with freseners and flavour," Dr. A N. Upadhya, Prakrit Literature (Encyclopaedia of Literature Vol I) P. 489.

रोमांचक महाकाव्य की यह शैली अधिकांश परवर्ती महाकाव्यों में—चाहे वे संस्कृत के हों या अपभ्रंश के—दिखलाई पड़ती है । हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यों में भी यह शैली अपनाई गई है, अतः इस शैली के कहाकाव्यों की काव्यरूढ़ियों के लक्षणों और कथानक रूढ़ियों का विश्लेषण अपभ्रंश के रोमांचक महाकाव्यों के सम्बन्ध में विचार करते समय किया जायगा । लीलावई के अतिरिक्त प्राकृत में महेश्वर सूरि का 'पंचमी कहा' (११ वीं सदी) धनेश्वर का सुरसुन्दरी चरिय (१०३८ ई०) वर्धमान का मनोरमाचरित (१०४३ ई०) महेन्द्रसूरि की नर्मदा सुन्दरी कथा (१२१६ ई०) गुणसमृद्धिमहत्तरा लिखित 'अजणा सुन्दरी चरिय' और किसी अज्ञात कवि का लिखा 'कालकाचार्य कथानक' आदि ग्रंथ विशेष उल्लेखनीय हैं । इनमें से मलयसुन्दरी कथा को हर्टल और विंटरनित्स ने रोमांचक महाकाव्य माना है जिसमें चमत्कारपूर्ण, काल्पनिक और मंत्रतत्र सम्बन्धी घटनाओं से भरी हुई लोक-प्रचलित कथा को लेकर जैन निजन्धरी आख्यान का निर्माण किया गया है। अन्य जैन निजन्धरी कथाओं की तरह इनमें भी लोक-कथाओं के अनेक 'अभिप्राय' प्रयुक्त हुये हैं । धनेश्वर सूरि का सुरसुन्दरी चरिय भी १६ परिच्छेदों में विभक्त वैसा ही लम्बा प्रेम कथानक है, जिसमें कथा के भीतर कथा रखने की शैली, धाराप्रवाह, घटना-वर्णन और वस्तुव्यापार का समुचित वर्णन मिलता है अत. इसे रोमांचक महाकाव्य कहा जा सकता है । जैन निजन्धरी कथाओं के आधार पर निर्मित ग्रंथों में सुमतिगणि का जिनदत्ताख्यान, महेश्वरसूरि का पंचमी कहा, वर्धमान का मनोरमा चरित और किसी अज्ञात कवि का 'कालकाचार्य कथानक' कथा की शैली में लिखे हुए उल्लेखनीय पौराणिक काव्य हैं पर महत् उद्देश्य के अभाव, कथानक की जटिलता और वस्तुव्यापार वर्णन की कमी के कारण उन्हें महाकाव्य नहीं माना जा सकता ।

प्राकृत के शास्त्रीय महाकाव्य—पहले कहा जा चुका है कि छठीं शताब्दी तक संस्कृत की तरह प्राकृत भी बोलचाल की भाषा न रहकर शिष्ट साहित्य की भाषा हो गई । विभिन्न प्राकृतों में महाराष्ट्री प्राकृत ही ऐसी है जिसमें बहुत बाद तक धार्मिक ग्रन्थों के अतिरिक्त गीतकाव्य, मुक्तक, नाटक, पौराणिक और रोमाचक आख्यान तथा विद्वत्तापूर्ण महाकाव्यों की रचना होती रही । इस तरह प्राकृत का साहित्य भी संस्कृत की तरह राज्याश्रित हो गया। परिणामस्वरूप प्राकृत में संस्कृत साहित्य की अधिकांश परंपरागत रूढ़ियाँ अपना ली गईं । परवर्तीकाल में राज्याश्रित कवियों के लिए प्राकृत में लिखना पाण्डित्य का लक्षण अथवा फैशन माना जाने लगा और प्राकृत-व्याकरण के अनुसार संस्कृत भाषा को बदलकर

कृत्रिम प्राकृत भाषा गढ़नेकी प्रवृत्ति बढ़ गई। इस तरह प्राकृत भाषा में संस्कृत के भाव, विचार, काव्यरूढ़ियों आदि को यथावत उठाकर प्राकृत साहित्य निर्मित होने लगा। इसका यह अर्थ नहीं कि संस्कृत ने ही प्राकृत को प्रभावित किया, प्राकृत साहित्य ने भी संस्कृत साहित्य को दूरतक प्रभावित किया जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। कालिदास के समय तक नाटकों में प्राकृत छन्दों का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि उस समय के संस्कृत कवि प्राकृत भाषा के भी अच्छे जानकार होते थे। दरबारी वातावरण और नागर सभ्यता में पले हुये कवियों ने, चाहे वे सस्कृत के कवि हों या प्राकृत के, अलंकृत काव्य-शैली अपनाई। दशवी शताब्दी में अपभ्रश-साहित्य के उत्कर्ष और आधुनिक भाषाओं के उदय के कारण प्राकृत का प्रचार समाप्तप्राय हो गया और साहित्यनिर्माण का कार्य या तो संस्कृत में होने लगा या अपभ्रंश और देश्य भाषाओ मे। धीरे-धीरे प्राकृत काव्यों की उपेक्षा होने लगी। धर्माश्रित प्राकृत साहित्य की रक्षा जैन साधुओ और ग्रथागारों की कृपा से हो गई है किन्तु राज्याश्रित धर्मेतर प्राकृत साहित्य का, जो निश्चित रूप से अलंकृत काव्य-शैली में लिखा गया होगा, बहुलांश आज हमें प्राप्त नहीं है। पादलिप्त की तरंगवई, सर्वसेन का हरिविजय, वाक्पति का मधुपथविजय और आनन्दवर्धन का विसमवाणलीला और मारकण्डेय का विलासवईसट्टक आदि ग्रथो का आज नाम मात्र ही शेष रह गया है। शास्त्रीय प्राकृत महाकाव्यों में प्रवरसेन का सेतुबन्ध और वाक्पतिराज का गौडवहो-यही दो प्राकृत ग्रन्थ आज बचे हुये हैं। इनकी शैली संस्कृत के शास्त्रीय महाकाव्यों के समान परिपक्व और मजी हुई है जिससे पता चलता है कि इस प्रकार के और भी शास्त्रीय महाकाव्य अवश्य लिखे गये होंगे।

संस्कृत में वाल्मीकि रामायण के बाद जिस तरह कालिदास के महाकाव्य शास्त्रीय शैली के मानदण्ड के रूप में मान्य है, उसी प्रकार प्राकृत में पउमचरिय के बाद प्रवरसेन का सेतुबन्ध या रावणवहो सर्वोत्कृष्ट शास्त्रीय महाकाव्य है। सेतुबन्ध पर कालिदास की काव्यशैली का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है, यही कारण है कि कुछ लोग उसे कालिदास का लिखा हुआ बताते है। सेतुबन्ध सम्भवतः पाँचवी सदी के उत्तरार्द्ध अथवा छठीं के पूर्वार्द्ध में लिखा गया था और उसका कवि या तो स्वयं राजा था या राजदरबार में रहनेवाला था, यही कारण है कि इस ग्रन्थ में सामन्ती संस्कृति के प्रतीक शास्त्रीय महाकाव्य के सभी लक्षण पायें जाते हैं। इसमें बालिबध के बाद राम द्वारा सेतु बाँधने की कथा से लेकर रावण-बध और सीता की प्राप्ति तक की कथा दी गई है। इसकी कथावस्तु बहुत संक्षिप्त है किन्तु प्राकृतिक दृश्य, युद्ध, विरह-शोक आदि भावों के यथोचित

वर्णन द्वारा महाकाव्य १४ आश्वासकों में समाप्त हुआ है। यद्यपि इसमें परवर्ती महाकाव्यों में पाई जाने वाली सभी काव्यरूढियों का समावेश नहीं है किन्तु कालिदास के रघुवंश और कुमारसम्भव के समान इसमें कथावस्तु और वस्तुव्यापार वर्णन का अत्यन्त सुन्दर सामञ्जस्य हुआ है। परवर्ती महाकाव्यों की तरह इसमें कवि ने कथा-प्रवाह को छोडकर कई सर्ग वस्तु व्यापार-वर्णन में ही नहीं लगाये हैं। प्रौढ़ और प्रसाद गुण युक्त भाषा, उक्तिवैचित्र्य, अलकृत-चित्रण, प्रासंगिक वस्तु-व्यापार-वर्णन और प्रसाद गुण के कारण इसे रूढ़िमुक्त रससिद्ध शास्त्रीय महाकाव्य कहा जा सकता है।

वाक्पतिराज का गउडवहो सातवीं शताब्दी में लिखा हुआ काव्य है। इसमें १२०८ गाथायें है और कथानक सर्ग, आश्वास आदि में विभक्त नहीं है। यों भी इसमे कथावस्तु नही के ही बराबर है और अत्यन्त अलंकृत वर्णनों, दूरारूढ़ कल्पनाओं, विद्वत्तापूर्ण सन्दर्भों तथा अनावश्यक वस्तुव्यापार वर्णन से काव्य का कलेवर स्फीत हो गया है। किन्तु इस काव्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें ग्राम्य-जीवन और दृश्यों का बहुत ही यथार्थ और जीवन्त चित्रण हुआ है। शास्त्रीय महाकाव्य के लक्षणों की दृष्टि से देखने पर इसमें अनेक त्रुटियाँ भी दिखलाई पडती है। कथा सर्गबद्ध नही है और प्रारम्भ में मङ्गलाचरण, पूर्व कवियों की प्रशंसा, सज्जन-प्रशंसा, दुर्जन-निन्दा, राजा को प्रशंसा, काव्यालोचना, प्राकृतभाषा की प्रशंसा आदि बातें ऐसी हैं जो विशेष रूप से कथा आख्यायिका में ही विस्तार के साथ पाई जाती हैं। कथा आख्यायिका की तरह ही इसमें कथान्तर के रूप में प्रलय वर्णन, आदि अप्रासंगित बातें तथा यशोवर्मन का देशान्तर भ्रमण और बीच-बीच में उनकी प्रशस्ति भी भरी हुई है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि वाक्पतिराज ने इस काव्य में बाणभट्ट के हर्षचरित और प्राकृत के छन्दोबद्ध कथाकाव्यों की शैली का समन्वय किया है और साथ ही परम्पराबद्ध शास्त्रीय महाकाव्य की रूढ़ियों का भी अप्रासंगिक-वस्तु-व्यापार-वर्णनों के रूप में पालन किया है। अत. इसे अलकृत काव्य शैली में लिखा हुआ ऐतिहासिक चरित काव्य ही कहा जा सकता है। परम्परा से इसे महाकाव्य माना जाता है किन्तु वस्तुतः यह महाकाव्य पद का अधिकारी नहीं है, जैसे बाण का हर्षचरित यदि छन्दोबद्ध रूप में होता तो भी महाकाव्य नही माना जाता।

———

अपभ्रंश के महाकाव्य

ईसा की दूसरी शताब्दी के बाद लोकभाषा प्राकृत अपभ्रंश के रूप में बदलने लगी थी और जैसा डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने सिद्ध किया है, कालिदास के नाटकों में प्राप्त अपभ्रंश की रचनाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि चौथी शताब्दी के आसपास अपभ्रंश में अच्छी रचना होने लगी थी[1]। प्रो० हीरालाल जैन का मत है कि 'छठी शताब्दी में अपभ्रंश काव्य संस्कृत और प्राकृत काव्य की बराबरी में आ बैठा था इसमें तो कुछ सन्देह है ही नहीं'[2] इस मत की पुष्टि वलभी के धरसेन के शिलालेख (५५९ और ५६९ ई० के बीच) से होती है जिसमें कहा गया है कि धरसेन के पिता गुहसेन संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों भाषाओं में प्रबन्ध रचना करते थे[3]। अपभ्रंश के प्राचीनतम उपलब्ध ग्रंथ आठवीं शताब्दी के हैं जिनमें पर्याप्त काव्यगत और भाषागत प्रौढ़ता दिखाई पड़ती है। अपभ्रंश में साहित्य-निर्माण का यह क्रम यों तो १६ वीं शताब्दी तक चलता रहा पर उसका उत्कर्षकाल ८ वी से १३ वीं शताब्दी तक ही था। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के उदय के साथ अपभ्रंश मुख्य रूप से जैन धर्म की भाषा होकर रह गयी और उसमें साहित्य रचना उत्तरोत्तर कम होने लगी। श्री अगरचन्द नाहटा के मतानुसार श्वेताम्बर संप्रदाय के जैन १३ वीं १४ वीं, शताब्दी के पश्चात् अपभ्रंश में रचना करना छोड़ कर तत्कालीन लोक भाषाओं में रचना करने लगे; दिगम्बर संप्रदाय के जैन विद्वानों ने १६ वीं शताब्दी तक भी अपभ्रंश भाषा को अपनाये रखा[4]।" रइधू आदि जैन कवियों के काव्य ग्रंथ इसके प्रमाण है।

१—'इंडो आर्यन एंड हिन्दी' डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, कलकत्ता, पृ० ९९।

२—अपभ्रंश भाषा और साहित्य, प्रा० हीरालाल जैन, नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५०—अंक ३–४, पृ० १०६।

३—बम्बई गजेटियर, भाग १, पृ० ९०।

४—वीरगाथा-काल का जैन भाषा साहित्य, ले० अगरचन्द नाहटा, ना० प्र० पत्रिका वर्ष ५०, अंक १–२, पृ० १०।

ऊपर हम देख चुके हैं कि छठीं शताब्दी से १३ वीं शताब्दी तक संस्कृत और प्राकृत में भी अपभ्रंश के समानान्तर रूप से काव्य-रचना होती रही और जैन कवि इन तीनों ही भाषाओं में समान विद्वत्ता और लगन के साथ काव्य रचना करते रहे। अतः इस अवधि के बीच सभी भाषाओं के साहित्य में काव्य-रूपों, रूप-शिल्प के विविध तत्वों और भाव-विचारों में बहुत अधिक सादृश्य दिखाई पड़ता है। इसका एक कारण एक भाषा की साहित्यिक परम्परा का दूसरी भाषा के साहित्य को प्रभावित करना तो है ही, पर इसके और भी कई कारण हैं जो अधिक महत्वपूर्ण हैं।

अपभ्रंश महाकाव्यों की कोटियाँ—इस शताब्दी के प्रारंभ तक अपभ्रंश भाषा और उसके साहित्य के बारे मे लोगों को बहुत कम ज्ञान था किन्तु पिछले २०-२५ वर्षों के भीतर गुणे, दलाल, मुनि जिनविजय, प्रो० हीरालाल, पी० एल० वैद्य, ए० एन० उपाध्याय, प्रो० मायाणी प्रभृत विद्वानों ने सतत् खोज कर के बहुत से अपभ्रंश ग्रंथो का पता लगा लिया है और अनेक संपादित होकर प्रकाशित भी हो चुके हैं। किन्तु अपभ्रंश का विशाल साहित्य-भण्डार अभी बहुत कुछ अज्ञात और अप्रकाशित है; जब तक सभी महत्वपूर्ण ग्रंथ प्रकाशित नहीं हो जाते या कम से कम उनका अध्ययन नहीं कर लिया जाता तब तक समूचे अप-भ्रंश साहित्य के बारे में जो भी विवेचना की जायगी वह अन्तिम नहीं होगी। अतः ज्ञात और प्रकाशित ग्रंथों को अपने अध्ययन का आधार बना कर यहाँ विचार किया जा रहा है। प्रारंभ ही में यह कह देना आवश्यक है कि विषय वस्तु और शैली के कुछ तत्वों की दृष्टि से उपलब्ध अपभ्रंश-काव्य प्राकृत-काव्य के समान ही है; अतः प्राकृत महाकाव्यों के सम्बन्ध में जो बातें कही गयी हैं, वे ही बहुत कुछ अपभ्रंश के महाकाव्यों पर भी लागू होती हैं। अपभ्रंश ने प्राकृत की काव्य-परम्परा का पूर्णतः निर्वाह किया और अलंकृत शास्त्रीय महाकाव्यों को छोड़कर उसकी अन्य सभी प्रवृत्तियों तथा काव्य-रूपों को अपनाया है पहले-पहले हम कह आये हैं कि संस्कृत में चार प्रकार—शास्त्रीय, पौराणिक, रोमांचक (रोमाण्टिक) और ऐतिहासिक शैली—के महाकाव्य हैं, और प्राकृत में तीन ही शैलियों के काव्य अधिक हैं। ऐतिहासिक चरित काव्य 'गउडवहो' है पर उसकी शैली शास्त्रीय ही है अतः उसे ऐतिहासिक शैली का नहीं माना गया है। अपभ्रंश में जो काव्य उपलब्ध हुए हैं उनमें केवल दो शैलियो के ही काव्य हैः—

१—पौराणिक शैली

२—रोमांचक शैली

पुराण, कथा और चरित काव्य—उपर्युक्त दोनों ही शैलियों के काव्यों को चरित काव्य कहा गया है। संस्कृत के चरित काव्य चारों ही शैलियों के मिलते हैं, प्राकृत में तीन शैलियों के और अपभ्रंश में उपर्युक्त दो शैलियों के। कहने का तात्पर्य यह कि चरित नाम से काव्य रचना की प्रथा उस समय इतनी लोकप्रिय हो गयी थी और जैन परम्परा में उसका इतना महत्व था कि उपलब्ध काव्यों में से अधिकांश चरित नाम वाले हैं। किन्तु इन नाम के कारण भ्रम भी उत्पन्न हो सकता है क्योंकि चरित नाम से बहुत से पुराण भी लिखे गये हैं और पुराणनाम के अनेक काव्य-ग्रंथ भी हैं। उसी तरह 'कहा' या 'कथा' नामधारी कई ग्रंथ वस्तुतः रोमांचक चरित-काव्य या धर्मकथा हैं। पौराणिक काव्य और चरित काव्य के संबध में धाहिल विरचित 'पउमसिरिचरिउ' की भूमिका में प्रो० हरिवल्लभ मायाणी ने लिखा है 'कि स्वरूप की दृष्टि से अपभ्रंश के पौराणिक काव्यों और चरित-काव्यों में बहुत अन्तर नहीं है। पौराणिक काव्यों में विषय का विस्तार बहुत अधिक होने से सन्धियों की संख्या ५० से सवा सौ तक होती है जब कि चरित काव्यों में विषय-विस्तार मर्यादित होता है जिससे सन्धि-संख्या अधिक नहीं होती। शेष बातों—जैसे सन्धि, कडवक, तुक, पंक्तियुगल आदि दोनों में कोई भेद नहीं है। किन्तु सभी चरित-काव्य कडवकबद्ध हों, यह बात भी नहीं है, हरिभद्रकृत 'णेमिणाह चरिउ' आद्यन्त रड्डा छन्द में है[1]।'

किन्तु वस्तुतः अपभ्रंश में पौराणिक और चरित काव्य का भेद करना ही गलत है क्योंकि उसमें प्रायः सभी काव्य पौराणिक भी हैं और चरित काव्य भी हैं। उदाहरणार्थ स्वयम्भू के 'रिट्ठणेमिचरिउ' का नाम हरिवंश पुराण भी है और पुष्पदंत का महापुराण 'त्रिसट्ठिपुरिसगुणालंकार' भी कहलाता है। भेद पुराण और काव्य में किया जा सकता है जैसा संस्कृत और प्राकृत के प्रसंग में हमने किया है। उसी तरह कथा और काव्य का भेद भी अपभ्रंश में वैसा नहीं रह गया जैसा प्राकृत और संस्कृत में था। अतः यह कहना कि अपभ्रंश में 'प्रबन्ध काव्य के भी कई भेद हैं, कुछ तो चरित हैं, कुछ कथा और पुराण' निराधार है। वस्तुतः अपभ्रंश में ये तीनों परस्पर इतने घुलमिल गये हैं कि उन सब का सम्मिलित नाम चरित-काव्य दे दिया गया है, अर्थात् प्रधानता उनमें काव्य की ही है पौराणिकता, ऐतिहासिकता या मात्र कथा-वर्णन की नहीं। पुराण की परम्परा भी अपभ्रंश में संस्कृत के हिन्दू पुराणों जैसी नहीं है। दिगम्बर जैन-आगम के

१—धाहिल विरचित 'पउमसिरीचरिउ'—भूमिका (गुजराती), भूमिका लेखक श्री हरिवल्लभ मायाणी, विद्याभवन, बंबई, २००५, पृ० १५।

प्रथमानुयोग में तीर्थंकरों और अन्य महापुरुषों के जीवन-चरित वर्णित हैं, उसी का परवर्ती और विस्तृत रूप महापुराण है, इस तरह ये हिन्दू पुराणों के ढंग के सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तरादि से युक्त पुराण नहीं हैं। जिनसेन ने अपने आदि पुराण में कहा है कि 'यह ग्रंथ महापुराण' इसलिए कहा गया है कि उसमें तीर्थंकरों, चक्रवर्त्तियों, बलदेवों, वासुदेवों और प्रति वासुदेवों प्रभृत प्राचीन महापुरुषों का चरित वर्णित है और इसमें महान उपदेश और श्रेयस्कर अनुशासन की बातें लिखी है। अन्य लोगो का कहना यह है कि पुराने कवियों की मूल रचना होने से यह पुराण कहलाता है[1]। कुछ जैनी इतिहास और पुराण में यह भेद मानते है कि इतिहास एक पुरुष की कथा होता है और पुराण तिरसठ पुरुषो की जीवन-कथा है[2]। किंतु सच तो यह है कि अपभ्रंश में जैन कवियो ने पौराणिक कथावस्तु को भी काव्यात्मक रूप में ही लिखा है। अतः पुराण नाम से प्रचलित अधिकाश अपभ्रंश ग्रंथ काव्य ही माने जाने चाहिये, पुराण नहीं। अधिक से अधिक उन्हें पौराणिक शैली के प्रबन्ध या महाकाव्य कह सकते हैं। 'कथा' नाम देकर लिखे गये अपभ्रंश काव्यों के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है। 'भविषयत कहा' जैसे कुछ ग्रंथ कथात्मक होते हुए भी महाकाव्य ही माने जाते हैं कथा नहीं। संस्कृत-प्राकृत का कथा-आख्यायिका वाला काव्य-रूप अपभ्रंश में नहीं के बराबर है। शुद्ध कथा रूप में जो रचनायें प्राप्त हैं वे धर्म-कथायें हैं, काव्य नहीं। चरित, कथा और पुराण की तरह ही रासक, चर्चरी, फाग, लता, वेलि, रसायन, कौमुदी, संकीर्तन, प्रकाश, विलास, विजय, अभ्युदय आदि नाम देकर भी इस काल में प्रशस्तिमूलक प्रबन्ध काव्य लिखने की प्रथा प्रचलित हो गई थी जैसे अपभ्रंश में भरतबाहुबलिरास, स्थूलभद्ररास, सदेश रासक, कीर्तिलता और संस्कृत में धर्मशर्माभ्युदय, पृथ्वीराज विजय, सुकृत संकीर्तन, कीर्ति-कौमुदी आदि। अतः नाम देखकर काव्य रूप का निर्णय नहीं किया जा सकता।

प्रमुख महाकाव्य—यद्यपि अपभ्रंश के साहित्यिक उत्कर्ष का काल ८वीं शताब्दी से १२वीं शताब्दी तक का ही है किन्तु उसमें १६वीं-१७वीं शताब्दी तक काव्य-रचना होती रही और छोटे-बड़े सभी प्रकार के प्रबन्ध काव्य लिखे जाते रहे।

१—महापुराण (संस्कृत), जिनसेन, पृ० २०-२३।

२—इतिहास एक पुरुषाश्रिता कथा, पुराण त्रिषष्टि पुरुषाश्रिताः कथाः पुराणानि। पुष्पदन्त के महापुराण में १-६-३ की टिप्पणी, श्री पी० एल० वैद्य द्वारा महापुराण भाग १ की भूमिका पृष्ठ ३३ में उद्धृत।

अपभ्रंश प्राचीन कवि स्वयम्भू ने हरिवंश पुराण की उत्थानिका में लिखा है कि मुझे इन्द्र से व्याकरण, भरत से रस, व्यास से विस्तरण, पिंगल से छन्द, भामह और दण्डी से अलंकार, बाण से घनघनाता हुआ शब्दाडम्बर, हरिसेन (या हर्ष) तथा अन्य कवियों से कवित्व और चतुर्मुख से दुवई और ध्रुवकों से जड़ा हुआ पद्धडिया छन्द मिला[1]। इससे पता चलता है कि स्वयम्भू के भी पहले चतुर्मुख नाम के अपभ्रंश के महाकवि हो चुके थे जिन्होंने कडवकबद्ध प्रबन्ध रचना का प्रारंभ किया या उसमें प्रसिद्धि प्राप्त की। प्रो० हीरालाल जैन का अनुमान है कि 'चतुर्मुख, देव ने महाभारत की पूरी या खण्डरूप से रचना की थी[2]।' उनका कोई ग्रंथ अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। अपभ्रंश के परवर्ती कवि परम्परा से चतुर्मुख स्वयंम्भू और पुष्पदन्त को सर्वप्रमुख स्थान देते रहे हैं। स्वयम्भू-पुत्र त्रिभुवन स्वयम्भू ने चतुर्मुख के अतिरिक्त दन्ती और भद्र इन दो अन्य कवियों का भी उल्लेख किया है पर आज इनकी रचनाये भी उपलब्ध नहीं हैं। बाण ने हर्षचरित में भाषा कवि ईशान का उल्लेख किया है जो संभवतः अपभ्रंश के ही कवि थे पर उनका भी नाम ही नाम प्राप्त है। इस तरह प्राप्त होने वाले महाकाव्यों में प्राचीनतम स्वयंभू के पउमचरिउ और हरिवश पुराण है। उसके बाद से १७ वी शताब्दी तक के ऐसे प्रमुख प्रबन्ध काव्यों की, जिन्हें परम्परागत परिभाषा के अनुसार महाकाव्य माना जा सकता है, सूची नीचे दी जा रही है :—

१—पउमचरिउ ...स्वयम्भू ...९० संधियां ...८-९ शताब्दी
(रामायण) (१२ हजार श्लोक)

२—रिट्ठणेमिचरिउ...स्वयम्भू ...११२ सन्धियां ...८-९वीं शताब्दी
(हरिवंशपुराण) (१८ हजार श्लोक)

१—'इन्देण समप्पिउ वायरणु। रस भरहें वासे वित्थरणु।
पिंगलेण छन्द पथ पत्थारू। भम्मह दंडिणिहि अलंकारु।
वाणेण समप्पिउ घणघणउ। ते अक्खर-डम्बर घण घणउ।
हरिसेणि पाणिउ णित्तणउ। अवरेहिं मि कइहिं कविचणउ।
छन्दणिय-दुवइ-धुवएहिं जड़िय। चउमुहेण समप्पिय पद्धडिय॥'

—हरिवंशपुराण।

२—अपभ्रंश भाषा और साहित्य—ले० प्रो० हीरालाल जैन, ना० प्र० पत्रिका- वर्ष ५० अङ्क ३-४, पृ० १०६।

३—महापुराण ... पुष्पदन्त ... ११२ सन्धियां ... दसवीं शताब्दी
(त्रिषष्टिपुरिसगुणालंकार) (२० हजार श्लोक)

४—भविसयत्तकहा ... धनपाल ... २२ सन्धियां ... दसवीं शताब्दी

५—सुदंसणचरिउ ... नयनन्दि ... १२ सन्धियां ... दसवीं शताब्दी

६—हरिवंशपुराण ... धवल ... १२२ सन्धियां ... दसवीं शताब्दी

७—जम्बूसामिचरिउ ... वीर कवि ... ११ सन्धियां ... ग्यारहवीं शताब्दी

८—पासुपुराणु ... पद्मकीर्ति ... १८ सन्धियां ... ग्यारहवीं शताब्दी

९—पासचरित ... विबुधश्रीधर ... १२ सन्धियां ... बारहवीं शताब्दी

१०—णेमिणाहचरिउ ... हरिभद्रसूरि ... ... बारहवीं शताब्दी

११—विलासवई कहा ... साधारण (सिद्धसेन) ११ सन्धियां ... सं० ११२३

१२—करकण्डुचरिउ ... मुनि कनकामर ११ सन्धियां ... १२ वीं शताब्दी

१३—पज्जुण्ण कहा ... सिद्ध तथा सिंह १५ सन्धियां ... १२ वीं शताब्दी
(प्रद्युम्नकुमार चरित) (रइधू ?)

१४—जिणदत्तचरिउ ... कवि लक्ष्मण ६ सन्धियां ... १३ वीं शताब्दी
(४ हजार पद्य)

१५—पाण्डवपुराण .... भट्टारक यशःकीर्ति ११ सन्धियां ... १५ वीं शताब्दी

१६—चन्दप्पहचरिउ ... „ „ „

१७—बाहुबलचरिउ ... धनपाल १८ सन्धियां ... १५ वीं शताब्दी

१८—सान्तिणाहचरिउ ... शुभकीर्ति ... १९ सन्धियां ... सं. १५५१ के पूर्व

१९—मेहेसरचरिउ ... पंडित रइधू ... १४ सन्धियां ... १५ वीं शताब्दी
(मेघेश्वरचरित या आदिपुराण)

२०—पद्मपुराण (बलभद्रपुराण) „ „

२१—सिद्धचक्कमाहप्प .. पंडित रइधू ... १० सन्धियां ... १५ वीं शताब्दी
(सिरिवालकहा-श्रीपाल कथा)

२२—सम्भवणाहचरिउ ... तेजपाल ... १० सन्धियां ... १५ वीं शताब्दी

२३—णायकुमारचरिउ ... माणिकराज ... ९ सन्धियां ... १६ वीं शताब्दी
(२३ सौ पद्य)

२४—सान्तिणाहचरिउ ... महीन्दु ... १३ सन्धियां ... १६ वीं शताब्दी
(महीचन्द्र)

२५—वड्ढमाणकव्वु ... जयमित्र हल्ल ... ११ सन्धियां ... „ „
(वर्धमान काव्य)

इनके अतिरिक्त बहुत से और भी छोटे खण्डकाव्य प्राप्त हुए हैं जिनमें प्रबन्ध-कौशल और विषय-वस्तु का विन्यास उपर्युक्त काव्यों जैसा ही है। प्रवृत्तियों और विशेषताओं के विश्लेषण के लिए प्रसंगानुसार उनके सम्बन्ध में भी विचार किया जायगा। उपर्युक्त काव्यों में सबसे महत्त्वपूर्ण प्रारम्भ के बारह ग्रन्थ हैं और उनमें भी सर्वोत्कृष्ट स्वयम्भु और पुष्पदन्त के महाकाव्य ही हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस तरह संस्कृत में चोटी के महाकाव्य प्रारम्भिक कवियों व्यास, वाल्मीकि और कालिदास के हैं और प्राकृत में प्रारम्भिक कवि विमलसूरि का पउमचरिय है, उसी तरह अपभ्रंश में भी प्रारम्भिक कवियों-स्वयम्भू, पुष्पदन्त और धनपाल के काव्य सर्वाधिक मौलिक और महत्त्वपूर्ण हैं। बाद के अपभ्रंश कवियों ने उन्ही का अनुकरण मात्र किया है। अतः महाकाव्य की जो परिभाषा पिछले अध्याय में निश्चित की गयी है उसके अनुसार सच्चे महाकाव्य के रूप में अपभ्रंश के तीन ग्रन्थ—पउमचरिउ, रिट्ठणेमिचरिउ और महापुराण—ही दिखाई पड़ते हैं। अन्य काव्य उन्हीं की शैली और विषय-वस्तु को लेकर परम्पराभुक्त घिसी-पिटी प्रबन्ध रूढ़ियों और कथानक सम्बन्धी अभिप्रायों के आधार पर निर्मित हुए हैं। सच्चे अर्थ में महाकाव्य न होते हुए भी वे इसलिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि उन्होंने हिन्दी के महाकाव्यों को बहुत गहराई तक प्रभावित किया है। इसीलिए यहाँ उन पर भी विचार किया जायगा।

पौराणिक शैली के महाकाव्य—जैसा ऊपर कहा जा चुका है, अपभ्रंश में पौराणिक और रोमांचक इन दो ही शैलियों के महाकाव्य हैं। उनमें शास्त्रीय और ऐतिहासिक शैली के महाकाव्यों का अभाव है। उनमें भी पौराणिक शैली के सबसे अधिक हैं। संस्कृत और प्राकृत के महाकाव्यों की शैली पर विचार करते हुए कहा जा चुका है कि पौराणिक विषय या कथावस्तु होने से ही कोई काव्य पौराणिक शैली का नहीं हो जाता। प्राकृत और अपभ्रंश दोनो में पौराणिक शैली के तत्त्व एक से है। अपभ्रंश के पौराणिक शैली के महाकाव्यों पर एक दृष्टि डाल लेने के बाद उन तत्त्वों पर विचार किया जायगा। वे महाकाव्य ये हैं:—

१—पउमचरिउ, २—रिट्ठणेमिचरिउ, ३—महापुराण, ४—धवलकृत हरिवंसपुराण, ५—पासचरित, ६—पासपुराण, ७—णेमिणाहचरिउ, ८—जिणदत्तचरिउ, ९—यशःकीर्ति कृत हरिवंसपुराण, १०—पांडवपुराण, ११—वड्ढमाणकव्वु, १२—शुभकीर्ति का सन्तिणाहचरिउ, १३—महान्दु का सान्तिणाहचरिउ, १४—मेहेसरचरिउ और १५—पद्मपुराण या बलभद्दपुराण।

ये पौराणिक काव्य तीन प्रकार के हैं :—

१—रामायण और महाभारत का जैन रूपान्तर उपस्थित करने वाले।

२—तिरसठ शलाकापुरुषों का जीवनवृत्त एक साथ वर्णन करने वाले।

३—पौराणिक पुरुषों का अलग-अलग जीवनचरित वर्णन करने वाले।

रामायण महाभारत सम्बन्धी अपभ्रंश महाकाव्य—आठवीं शताब्दी में स्वयम्भू ने पउमचरिउ और रिट्ठणेमिचरिउ नाम के दो विपुलकाय महाकाव्य लिखे जिन्हें पद्मपुराण या रामायणपुराण और हरिवंशपुराण भी कहा गया है। ईसवी सन् की पहली शताब्दी तक जैनों ने अपने पुराणों को पूर्ण रूप से विकसित कर लिया था और राम, लक्ष्मण, कृष्ण, बलदेव आदि ब्राह्मणों के पौराणिक पुरुषों को भी उन्होंने अपने शलाकापुरुषों में शामिल कर लिया था। वस्तुतः उन्होंने ब्राह्मण-धर्म को पराजित करने के लिए उन्हीं के अस्त्रों को छीन लिया था और इस तरह ब्राह्मण-विचारधारा के प्रतिनिधि काव्य-ग्रन्थ महाभारत और रामायण की कथाओं को भी कुछ उलट-फेर कर जैन महाभारत और जैन रामायण का रूप दे दिया था। पहली शताब्दी के प्राकृत महाकवि विमलसूरि का 'पउमचरिय' इसी प्रकार का जैन रामायण है जिसमें वाल्मीकि रामायण की शैली का बहुत अधिक प्रभाव दिखाई पड़ता है। उसके बाद राम-कथा के जैन रूपान्तर संस्कृत और अपभ्रंश में भी काव्य और पुराण रूप में हुए। जैन राम कथा सम्बन्धी ये ग्रन्थ उपलब्ध हैं :—

कवि	ग्रंथ	काल	भाषा
१—विमलसूरि	पउमचरिय	पहली शताब्दी	प्राकृत
२—रविषेण	पद्मचरित	सातवीं शताब्दी	संस्कृत
३—गुणभद्र	उत्तरपुराण (रामायण और हरिवंश)	नवीं शताब्दी	संस्कृत
४—स्वयम्भूदेव	पउमचरिउ	नवीं शताब्दी	अपभ्रंश
५—पुष्पदन्त	महापुराण के भीतर (पउमचरिउ)	१० वीं शताब्दी	अपभ्रंश
६—हेमचन्द्र	त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित के भीतर (पद्मचरित)	१२ वीं शताब्दी	संस्कृत
७—पण्डित रइधू	पद्मपुराण (बलभद्रपुराण)	१५ वीं शताब्दी	अपभ्रंश

स्वयम्भू का पउमचरिउ— उपर्युक्त सूची से स्पष्ट है कि विमलसूरि का 'पउमचरिय' आदि जैन रामायण है। इस महाकाव्य के सम्बन्ध में पहले विचार किया जा चुका है। जैन पुराणों के अनुसार राम, लक्ष्मण, और रावण क्रमशः वासुदेवों, बलदेवों और प्रतिवासुदेवों में आठवें हैं और उनकी कथा का जैन पुराणों में एक निश्चित स्वरूप है जो विमलसूरि के 'पउमचरिय' में दिखलाई पड़ता है। रविषेण ने पद्मचरित में विमलसूरि का इस सीमा तक अनुसरण किया है कि वह पउमचरिउ का भाषान्तर प्रतीत होता है[1]। दोनों में अन्तर यही है कि पउमचरिय में दस हजार के करीब श्लोक हैं तो पद्मचरित में उन्हें बढ़ाकर १८ हजार कर दिया गया है। स्वयम्भू ने अपने 'पउमचरिउ' में रविषेण के पद्मपुराण का अनुसरण किया है और प्रारम्भ के ही दूसरे कडवक में इसे स्वयं स्वीकार किया है 'पुणु रविशेणायरिय पसाएँ। बुद्धिए अवगाहिय कइराएं।' इस तरह अप्रत्यक्ष रूप से विमलसूरि का भी आधार उन्होंने ग्रहण किया है। किन्तु स्वयम्भू का उद्देश्य महाकाव्य लिखना था, रविषेण की तरह पुराण नहीं। इसीलिए स्वयम्भू ने पद्मचरित के उन अंशों को नहीं अपनाया है जो अप्रासंगिक, अनावश्यक और अत्यधिक धार्मिक उपदेशों से युक्त थे; साथ ही उन्होंने पद्मचरित में आई अनेक अवान्तर या प्रासंगिक कथाओं को भी कुछ ही पंक्तियों में लिखकर छुट्टी ले ली है। सभी जैन रामायणों की तरह पउमचरिउ भी पौराणिक शैली का है, रघुवंश आदि की तरह विशुद्ध काव्यात्मक शैली का नहीं। इसका उद्देश्य धार्मिक है अतः जैन पुराणों में स्वीकृत रामकथा में अधिक परिवर्तन करने या कल्पना द्वारा नई बातें जोड़ने की स्वतन्त्रता कवि ने नहीं दिखलाई है। इसमें विद्याधरकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, सुन्दरकाण्ड, युद्धकाण्ड और उत्तरकाण्ड ये पाँच काण्ड है और कुल ९० सन्धियाँ और १२९६ कडवक हैं। किसी कारणवश यह महाकाव्य ८२ सन्धियों तक ही रुक गया था और बाद में स्वयंभू के पुत्र त्रिभुवन स्वयंभू ने इसमें ८ सन्धियाँ और जोड़कर पूरा किया। श्री नाथूराम प्रेमी का तो अनुमान है कि स्वयंभू की योजना के अनुसार रामकथा ८२ सन्धियों में ही समाप्त हो गई थी और त्रिभुवन स्वयंभू ने जो अंश बढ़ाये है वे पउमचरिउ की प्रधान कथा के लिए अनिवार्य और प्रासगिक नहीं है[2]। यद्यपि डाक्टर भयाणी इससे सहमत नहीं हैं[2] किन्तु प्रेमी जी के कथन में कुछ सचाई अवश्य है क्योंकि स्वयंभू

१—स्वयम्भूदेव का 'पउमचरिउ' भूमिका (अंग्रेजी), विद्याभवन, बम्बई, प्रथम संस्करण, पृ० ४७।

२—वही पृ० ४३-४४।

का लक्ष्य महाकाव्य लिखना था, पुराण नहीं। त्रिभुवन ने इसे पुराण बनाने के लिए ८ और संधियाँ जोड़कर सात अधिकारों वाली पुराण की परम्परागत शर्त पूरी की। यद्यपि धार्मिक उपदेश और विवरण-संग्रह पउमचरिउ में भी है किन्तु स्वयंभू का मन कथा का मनोरञ्जक और सुन्दर रूप में वर्णन करने में अधिक रमा है। रसात्मकता और सौन्दर्य उत्पन्न करने के लिए कवि ने विभिन्न मर्मस्पर्शी भावों के चित्रण, प्राकृतिक दृश्यों और घटनाओं के वर्णन तथा वस्तु-व्यापार के सश्लिष्ट और प्रासंगिक निरूपण में पर्याप्त मौलिकता और धार्मिक रूढ़ियों से ऊपर उठकर स्वतंत्रता की प्रवृत्ति का परिचय दिया है[1]।

काव्य-शैली की दृष्टि से स्वयंभू का महाकाव्य विशेष महत्व का है क्योंकि अपभ्रंश और हिन्दी के मध्यकालीन प्रबन्धकाव्यों में जो काव्यरूढ़ियाँ और शैलीगत विशेषतायें दिखलाई पड़ती हैं उनमें से कुछ तो संस्कृत-प्राकृत से आयीं पर अधिकांश का प्रारभ चतुर्मुख और स्वयंभू ने किया। काव्यारंभ में देवता की स्तुति, विषयवस्तु का निर्देश, अपनी असमर्थता और दीनता का निवेदन पूर्वकवि-प्रशंसा, सज्जन-प्रशंसा तथा दुर्जन-निन्दा, देशवर्णन, नगरवर्णन के साथ ही साथ राजनीति, दण्डनीति, अर्थनीति आदि का विशद वर्णन और कहीं-कहीं विभिन्न वस्तुओं की नामावली और परिगणना आदि बातें ऐसी हैं जो सस्कृत के परवर्ती काव्यों तथा प्राकृत और अपभ्रंश के प्रायः सभी काव्यों में समान रूप से पाई जाती हैं और हिन्दी के प्रबन्धकाव्यों में भी ये रूढ़ियाँ उसी तरह अपना ली गई हैं। इनके संबंध में हिन्दी-महाकाव्यों के प्रसंग में विशेष रूप से विचार किया जायगा।

हरिवंश पुराण—स्वयंभू का दूसरा महाकाव्य हरिवंशपुराण या रिट्ठणेमिचरिउ महाभारत के हरिवंश का जैन रूपान्तर है। अपभ्रंश में इस विषय पर बहुत से काव्य लिखे गये हैं। दसवीं शताब्दी के कवि धवल का 'हरिवंश पुराण' पुष्पदंत के महापुराण के भीतर हरिवंश की कथा और १५ वीं, १६ वीं सदी के कवि पं० रइधू कृत हरिवश पुराण या रिट्ठणेमिचरिउ इसके उदाहरण है। किन्तु महाभारत और हरिवंश सम्बन्धी जैन काव्य-ग्रन्थों में स्वयंभू का हरिवशपुराण ही सर्वोत्कृष्ट है। इसकी काव्य-शैली और बाह्यरूप-विन्यास 'पउमचरिउ' के समान ही है पर आकार में यह बहुत बड़ा है। इसमें कुल ११२ सन्धियाँ, १९३७ कडवक और १८ हजार श्लोक या ग्रन्थाग्रन्थ हैं। ग्रन्थ का प्रारम्भ पउमचरिउ के ढंग से ही देवस्तुति, पूर्वकवि प्रशंसा, विनम्रता प्रदर्शन आदि के बाद श्रेणिक और गणधर के प्रश्नोत्तर रूप में हुआ है। वस्तुव्यापारवर्णन, प्रकृति-

---

१—पउमचरिउ-भूमिका (अंग्रेजी), पृ० ४८-४९।

चित्रण, जलक्रीड़ा आदि का वर्णन महाकाव्य की प्रचलित शैली में किया गया है। कलात्मकता और कथावस्तु के संघटन की दृष्टि से भी रिट्ठणेमिचरिउ पउमचरिउ के समान ही उत्कृष्ट कोटि का महाकाव्य है।

पुष्पदन्त का महापुराण—सभी शलाकापुरुषों के जीवनचरित का एक साथ वर्णन करने वाले ग्रन्थ जैन साहित्य में महापुराण कहलाते हैं। पुष्पदन्त का १० वीं सदी (९६५ ई०) में लिखा तिसट्ठिमहापुरिसगुणालङ्कार, जो महापुराण भी कहा जाता है, इसी प्रकार का पौराणिक चरितकाव्य है जिसमें अन्य जैन महापुराणों की तरह तिरसठ शलाकापुरुषों का चरित वर्णित है और इसीलिए जैनधर्म के अनुसार यह एक पुराण है। किन्तु पुष्पदन्त प्रधान रूप से कवि थे, पौराणिक नहीं। अतः यह हिन्दू पुराणों के ढंग का पुराण नहीं है बल्कि महाभारत के ढंग का महाकाव्य और इतिहास-पुराण दोनों ही है। पुष्पदन्त के सामने महाभारत का आदर्श अवश्य था क्योंकि जिस तरह महाभारत अपने बारे में कहता है कि 'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्' उसी प्रकार पुष्पदन्त ने भी महापुराण में कहा है--

अत्र प्राकृत लक्षणानि सकला नीतिः स्थितिश्छन्दसा-
मर्थालङ्कृतयो रसाश्च विविधास्तत्त्वार्थनिर्णीतयः।
किं चान्यद्यदिहास्ति जैनचरिते नान्यत्र तद्विद्यते
द्वावेतौ भरतेशपुष्पदशनौ सिद्धं ययोरीदृशम् ॥५९वी संधि-प्रारंभिकप्रशस्ति।

महाभारत तो इतना ही कहता है कि 'जो यहाँ है वही अन्यत्र भी है, जो यहाँ नहीं है, वह अन्यत्र भी नहीं मिलेगा', पर पुष्पदन्त इससे भी आगे बढ़कर कहते हैं कि 'इस जैन चरित में जो कुछ है वह अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगा।' महाभारत में प्रधान या प्रासंगिक कथा एक होने से कुछ अन्विति तो है, पर महापुराण में ६३ पुरुषों का चरित होने से अन्विति नहीं है। डाक्टर पी० एल० वैद्य का कहना है कि 'महापुराण में महाभारत और रामायण के समान अन्विति नहीं है, अतः यदि महाकाव्य की परिभाषा का कड़ाई से पालन किया जाय तो महापुराण को महाकाव्य नहीं कहा जा सकता।'[1] किन्तु महाकाव्य की जो

---

1 "The Mahapuran, therefore, is a work on the lives of sixtythree great men of the Jain faith, and thus occupies the same place of importance as the Mahabharat or the Ramayan in Hinduism. The Mahapuran, however, lacks the unity of the Mahabharat or of the Ramayan and therefore cannot be called an epic in the strictest sense of the term."

परिभाषा हमने पिछले अध्याय में मानी है, उसके अनुसार महापुराण महाकाव्य अवश्य है। दिगम्बर जैन समाज में जिनसेन—गुणभद्र के संस्कृत महापुराण और पुष्पदन्त के अपभ्रंश महापुराण का वैसा ही सम्मान और प्रचार है जैसा हिन्दू समाज में रामायण, महाभारत और तुलसी के रामचरित मानस का। इसके अतिरिक्त कवि ने शैली की दृष्टि से इसे महाकाव्य बनाने का ही प्रयत्न किया है और प्रत्येक सन्धि के अन्त में पुष्पिका में इसे महाकाव्य कहा भी है, जैसे महापुराणे तिसट्ठिमहापुरिस गुणालंकारे महाकइ पुष्पदंतविरइए महाभव्वभरहाणुमारणिए महाकव्वे···।' यह सच है कि इसमें रामायण-महाभारत की तरह कथान्विति नहीं है पर रघुवंश जैसी भावान्विति अवश्य है। अनेक आदर्श पुरुषों की समग्र जीवन-गाथा वर्णन करने वाले काव्य भी महाकाव्य हो सकते हैं, यदि उनमें उद्देश्य की महत्ता, शैली की उदात्तता और गरिमा तथा भाव-सौन्दर्य और वस्तु-व्यापार वर्णन आदि के द्वारा रस उत्पन्न करने की क्षमता हो। इस कसौटी पर कसने पर महापुराण एक उच्च कोटि का महाकाव्य सिद्ध होगा। साथ ही पूर्व-कवि प्रशंसा, विनम्रता-प्रदर्शन तथा सज्जन-प्रशंसा, दुर्जन-निन्दा आदि अनेक ऐसी काव्यरूढ़ियों का भी इसमें उपयोग हुआ है जो अपभ्रंश और हिन्दी के चरित-काव्यों में सामान्यतया व्यवहृत होती आई हैं।

पौराणिक शैली के वैयक्तिक पुरुषों के चरित काव्य—अनेक धार्मिक पुरुषों का एक साथ जीवन-चरित वर्णन करने वाले काव्यों के अतिरिक्त, अपभ्रंश में अनेक ऐसे पौराणिक शैली के काव्य भी लिखे गये हैं जिनमें किसी एक ही धार्मिक पुरुष का चरित वर्णित है। ऐसे काव्यों की विशेषता यह है कि उनमें किसी पौराणिक या धार्मिक व्यक्ति की जीवन-कथा जैन परम्परा में स्वीकृत ढंग से कही जाती है; कवि अपनी कल्पना-शक्ति से कथा के रूप में अधिक परिवर्तन नहीं कर सकता और विषय-प्रतिपादन का उद्देश्य बोध-प्रधान, उपदेशात्मक या प्रचारात्मक होता है। सारांश यह कि इस प्रकार के चरित-काव्य काव्यात्मक धर्मकथा होते हैं और पुराणों या धर्मग्रन्थों के समान ही उनका आदर होने लगता है जैसा हिन्दी में तुलसी के रामचरित मानस का होता है। ऐसे अपभ्रंश काव्यों में विशेष उल्लेखनीय ये हैं। १—जम्बूस्वामीचरिउ (वीर कवि), २—पासचरित (विबुध श्रीधर), ३—पासुपुराण (पद्मकीर्ति), ४—णेमिणाहचरिउ (हरिभद्र), ५—सान्तिणाहचरिउ (शुभकीर्ति), ६—चन्दप्पहचरिउ (भट्टारक यशःकीर्ति), ७—बाहुबलिचरिउ (धनपाल), ८—सम्भव-

---

Introduction of the Mahapuran of Puspadant—Vol 1, by P. L. Vaidya, Bombay, 1937.

णाहचरिउ (तेजपाल), ९—सान्तिणाहचरिउ (महीन्द्र), १०—वड्ढमाणकव्वु (जयमित्र हल्ल)।

इन काव्यों में महाकाव्यत्व और प्राचीनता की दृष्टि से वीर कवि का जम्बूस्वामीचरिउ और हरिभद्र का णेमिणाहचरिउ ही विशेष महत्व के हैं। इन काव्यों में णेमिणाहचरिउ का एक अंश 'सनत्कुमारचरिउ' याकोबी द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हो चुका है, शेष अन्य काव्य अभी प्रकाशित नहीं हुए हैं। जम्बूस्वामीचरिउ में अन्तिम केवली जम्बू स्वामी का जीवन-चरित ११ सन्धियों में वर्णित है[1]। कवि ने प्रत्येक सन्धि के अन्त में पुष्पिका में इसे शृङ्गार-वीर-महाकाव्य कहा है। अन्य पौराणिक अपभ्रंश महाकाव्यों की भाँति इसका प्रारम्भ भी मंगलाचरण, कथा-निर्देश, सज्जन-दुर्जन चर्चा, पूर्वकवि-प्रशस्ति आदि के बाद श्रेणिक और वर्धमान के प्रश्नोत्तर के रूप में हुआ है। इसमें युद्ध और शृङ्गारिक वर्णनों की प्रधानता है। इसीलिए कवि ने इसे शृङ्गार-वीर-महाकाव्य कहा है पर इसका समग्र प्रभाव वैराग्य-भावना की पुष्टि करनेवाला ही है और इस तरह इसे शान्त रस का महाकाव्य मानना चाहिये। इसकी दूसरी विशेषता यह है कि इसमें धर्मकथा, महाकाव्य और रोमाञ्चक कथा तीनों के गुणों का सुन्दर सामञ्जस्य हुआ है। अपभ्रंश के परवर्ती प्रबन्ध काव्यों में युद्ध-वर्णन और वीरता की प्रवृत्ति अधिक नहीं मिलती पर इस महाकाव्य में इसकी समुचित योजना हुई है। यह अपभ्रंश में अपने ढंग का निराला काव्य है क्योंकि इसमें पौराणिक और रोमाञ्चक दोनों शैलियाँ मिलती हैं। हरिभद्र के णेमिणाहचरिउ को 'जैसलमेरीय भाण्डागारीय ग्रन्थानां सूची' में प्राकृतापभ्रंश भाषा निबद्ध कहा गया है पर याकोबी ने इसे अपभ्रंश का ग्रंथ कहा है। इसमें २२ वें तीर्थंकर नेमिनाथ के नौ भवों का वर्णन है। णेमिणाह-चरिउ अपभ्रंश के काव्यों में विशिष्ट और सर्वाधिक क्लिष्ट काव्य है। यह एक उत्कृष्ट कोटि का महाकाव्य है क्योंकि यद्यपि इसमें जैन पुराणों द्वारा अनुमोदित कथा के स्वरूप में परिवर्तन नहीं किया गया है पर अलंकृत महाकाव्यों की शैली में रोमाञ्चक दृश्यों और प्राकृतिक वस्तुओं के वर्णन का पूर्ण प्रयत्न किया गया है[2]। यद्यपि इस महाकाव्य में अलंकृत शास्त्रीय महाकाव्यों की सभी रूढ़ियों को

१—देखिए—(अ) अपभ्रंश भाषा का जम्बूसामिचरित और महाकवि वीर-लेखक पंडित परमानन्द जैन शास्त्री, प्रेमी अभिनन्दन ग्रंथ-पृ० ४३६।

(ब) अपभ्रंश का एक शृंगार वीर काव्य, वीर कृत जम्बू स्वामी चरित, ले० श्री रामसिंह तोमर, अनेकान्त-अक्टूबर १९४८, पृ० ३९४।

2—There were also religious novels written entirely in vers

अपनाया गया है और शृङ्गार तथा वीर-रस की भी योजना हुई है किन्तु इसका समग्र प्रभाव वैराग्यमूलक है और इसमें शान्त-रस की ही प्रधानता है।

पौराणिक महाकाव्यों की सामान्य विशेषताएं—ऊपर जिन महाकाव्यों पर विचार किया गया है वे सभी जैन लेखकों द्वारा लिखे जैन पौराणिक पुरुषों से संबंधित ग्रंथ हैं। हिन्दू पुराणों से सम्बन्धित और हिन्दू कवियों द्वारा अपभ्रंश में पौराणिक महाकाव्य लिखे गये या नहीं, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। किन्तु इन जैन पौराणिक महाकाव्यों में कुछ ऐसी सामान्य विशेषताएँ है जिनका प्रभाव परवर्ती काल में हिन्दी के पौराणिक महाकाव्यों—जैसे रामचरित मानस पर बहुत अधिक पड़ा है। अतः या तो ८ वीं शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी तक लोक भाषाओं में पौराणिक शैली के महाकाव्यों की विशेष रूढ़ियाँ बन गयी थीं जिन्हें तुलसीदास ने भी अपनाया है या इन्हीं जैन पुराणों की शैली ही उन्होंने अपना ली है। वे सामान्य विशेषतायें ये हैं:—

१—इन सबमें जैन पुराणों के शलाकापुरुषों का जीवनचरित लिखा गया है, सबके कथानक पुराण-सम्मत हैं, उनमें कवियों ने कल्पना द्वारा परिवर्तन करने की स्वतंत्रता नहीं दिखाई है।

२—सबमें चरित-नायकों और उनसे सम्बन्धित व्यक्तियों के विभिन्न जन्मों की कथा, प्रधान-कथा के आवश्यक अंग के रूप में कही गयी है।

३—भावान्तर-वर्णन का कारण कर्मफल-प्राप्ति में अडिग आस्था है और उसका उद्देश्य जैन धर्म का उपदेश देना है। परिणामस्वरूप ये सभी महाकाव्य वैराग्यमूलक और शान्तरस पर्यवसायी है, क्योंकि उनमें नायकों का साधु हो जाना और निर्वाण प्राप्त करना अवश्य दिखाया गया है। जगह-जगह जन धर्म के सिद्धान्तों का उपदेश भी मिलता है।

४—उन सबमें लोक-विश्वासों और लोककथाओं पर आधारित रोमांचक, अलौकिक और अप्राकृत तत्त्वों का समावेश अवश्य हुआ है जैसे देवता, यक्ष, गन्धर्व, विद्याधर आदि के अलौकिक कार्यों, मत्त गज से युद्ध, मुनियों का श्राप, आकाश में उड़ना आदि का वर्णन।

५—सबका प्रारम्भ एक ही प्रकार से हुआ है; जैसे तीर्थंकरों आदि की स्तुति, पूर्व-कवियों और विद्वानों का स्मरण, सज्जन-प्रशंसा, दुर्जन-निन्दा, काव्य-रचना में प्रेरणा और सहायता करने वालों की स्तुति, विनम्रता-प्रदर्शन और काव्य-विषय के

---

se A romantic epic of this kind is the 'Bhavisattkaha' in Apabhransh by a poet Dhanval (Sanskrit Dhanpal). History of Indian Literature Vol. II—p, 532.

महत्व का वर्णन, मगध देश और राजगृह का वर्णन, श्रेणिक महाराज की प्रशंसा, महावीर वर्धमान का राजगृह में समवसरण, श्रेणिक का उसमें जाना और उनसे प्रश्न करना। फिर वक्ता गणधर गौतम या वर्द्धमान और श्रोता श्रेणिक के प्रश्नोत्तर के रूप में पूरी कथा कही जाती है।

६—यद्यपि ये सभी पौराणिक विषयों पर लिखे गये धार्मिक काव्य हैं पर इनमें शृङ्गार और युद्ध का वर्णन भी मिलता है। कथा के भीतर अवसर मिलते ही कवियों ने प्राकृतिक वस्तुओं—संध्या, प्रभात, चन्द्रमा, नदी, सागर, पर्वत आदि—का सुन्दर चित्रण किया है और स्त्रियों के शारीरिक सौन्दर्य, जलक्रीड़ा, सुरति आदि के वर्णन से भी परहेज नहीं किया है। रण-प्रयाण, युद्ध, कुमार-जन्म, विवाहोत्सव आदि के विशद वर्णन द्वारा उन्होंने समग्र जीवन का चित्र उपस्थित करने का भी प्रयत्न किया है। वस्तुतः जैन कवियों ने वर्णन में ही स्वतंत्रता दिखाई है, कथा में बिलकुल नहीं।

रोमांचक शैली के महाकाव्य—रोमांचक काव्यों में उल्लेखनीय ग्रंथ ये हैं:—१—भविसयत्तकहा (धनपाल), २—सुदंसणचरिउ (नयनन्दि), ३—विलासवईकहा (साधारण कवि), ४—करकंडुचरिउ (कनकामर), ५—पज्जुण्णकहा (सिद्ध तथा सिंह), ६—जिणदत्तचरिउ (कवि लाखण), ७—णायकुमारचरिउ (माणिकराज), ८—सिद्धचक्कमाहप्प (रइधू)।

इनमें से 'भविसयत्त कहा' ही ऐसा ग्रंथ है जिसे निश्चित रूप से महाकाव्य माना जा सकता है। दसवीं शताब्दी के कवि धनपाल ने श्रुतपंचमीव्रत का माहात्म्य प्रकट करने के लिए दृष्टान्त रूप में इस महाकाव्य की रचना की। हरिभद्र के प्राकृत कथा ग्रंथ 'समराइच्चकहा' का प्रभाव इस काव्य पर स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। यह पहले कहा जा चुका है कि अपभ्रंश में कथा और काव्य का अन्तर नहीं रह गया था, अतः यद्यपि धनपाल ने अपने ग्रन्थ को कथा ही कहा है, 'निसुणंतहं एह णिम्मल पुण्णपवित्त-कहा' (१-४) पर इसकी शैली महाकाव्य की ही है। इसीलिए विण्टरनित्स ने इसे कथा के ढंग का रोमांचक महाकाव्य (रोमाण्टिक एपिक) माना है[1]। इसमें प्रारम्भ में जिन-वन्दना के बाद प्रचलित रीति से विनम्रता का प्रदर्शन और सज्जन-प्रशंसा, दुर्जन-निन्दा की गयी है, फिर संक्षेप में कहा गया है कि यह कथा गणधर गौतम ने श्रेणिक से श्रुतपंचमी का महत्व पूछने पर कही थी। इसके बाद कुरुजंगल देश, गजपुर नगर, भूपाल नामक राजा और धनपाल नामक राजश्रेष्ठि के वर्णन के साथ सीधे

१—देखिये पृष्ठ २१६ टिप्पणी नं० २

कथा का प्रारंभ हो गया है। इस ग्रथ का पूर्वार्द्ध रोमांचक और साहसिक यात्रा वर्णनो और आश्चर्यजनक घटनाओं से भरा है और उत्तरार्द्ध में युद्ध तथा पूर्व भवों का वर्णन है। इस तरह यह किसी लोक-प्रचलित कथा का जैन रूपांतर प्रतीत होता है। महेश्वरसूरि (१०वीं शताब्दी) के प्राकृत ग्रन्थ 'पंचमी कहा' में भी यह कथा आयी है। अतः धनपाल के पहले से ही भविष्यदत्त की कथा का जैन रूपान्तर हो गया होगा। २२ सन्धियों में कवि ने रोमांचक दृश्यों, प्राकृतिक वस्तुओं, युद्ध और प्रेम की क्रियाओं का विशद चित्रण और अलंकृत वर्णन किया है जिससे इसके महाकाव्य मानने में कोई बाधा नहीं रह जाती है। पिछले अध्याय में रोमांचक महाकाव्य की जो विशेषताएँ बताई गयी हैं वे सभी, विशेषकर अधिकांश कथानक रूढ़ियाँ जैसे उजाड़ नगर का मिलना, गन्धर्व से भेंट और उससे सहायता की प्राप्ति, निर्जन में राजकुमारी से भेंट और विवाह, आदि इसमें मिलती हैं।

दूसरा महत्वपूर्ण काव्य जिसे एक लघु रोमांचक महाकाव्य माना जा सकता है, मुनि कनकामर का करकंडुचरिउ है। यह दस सन्धियों का सुन्दर और अन्य काव्यों की अपेक्षा सरल अपभ्रंश काव्य है। इसमें बौद्धों और जैनों में समान रूप से प्रत्येक बुद्ध के रूप में मान्य करकण्डु महाराज का जीवन-चरित वर्णित है। इसका प्रारम्भ भी प्रचलित रीति से हुआ है, पहले कडवक में जिन-वन्दना, दूसरे में सरस्वती-वन्दना, दुर्जन-निन्दा, सज्जन-प्रशंसा, विनम्रता प्रकाशन और पूर्व कवियों का स्मरण, तीसरे में अंग देश का सुन्दर वर्णन और चौथे में चम्पानगरी के वर्णन के बाद धाड़ीवाहन राजा और पद्मावती के विवाह और करकण्डु के जन्म से कथा का प्रारम्भ हो गया है। इसमें करकण्डु नरेश के युद्धों और विवाहों का वर्णन है। इसमें आठ अवान्तर कथाएँ कही गयी हैं और अलौकिक तथा अप्राकृत तत्वो और विविध कथानक-रूढ़ियों, जैसे विद्याधर की सहायता, दोहद-कामना, मुनि का शाप, पचदिव्याधिवास आदि, की योजना द्वारा कथा-सूत्र को आगे बढ़ाया गया है। करककण्डुचरिउ प्रधानतया एक प्रेमाख्यानक काव्य है जिसमें करकण्डु के मदनावली से विवाह, विद्याधर द्वारा मदनावलीहरण, सिंहलयात्रा और सिंहल की राजकन्या रतिवेगा से विवाह, लौटते समय समुद्र में मच्छ का आक्रमण और विद्याधरी द्वारा करकण्डु का हरण, विद्याधरी से विवाह, रतिवेगा से मिलन, मदनावली से मिलन आदि की रोमांचक कथा कही गयी है। इसमें ९ अवान्तर कथायें हैं जो दो व्यक्तियों के बीच वार्तालापरूप में कही गयी हैं। इन अवान्तर कथाओं में भी अनेक कथानक-रूढ़ियाँ मिलती हैं जिससे स्पष्ट है कि ये तत्कालीन लोक-

प्रचलित कथाओं से ली गयी हैं। अन्तिम कुछ सन्धियों में करकण्डु तथा अन्य लोगों के भवान्तर की कथा मुनिराज शीलगुप्त द्वारा कहवाई गयी हैं और अन्त में करकण्डु के मुनि होने तथा केवल-ज्ञान और मोक्ष प्राप्त करने की कथा कही गयी है। इस प्रकार करकण्डु-चरिउ पंचकल्याण-विधान का फल दिखाने के लिए लिखा गया है किन्तु इसमें धर्मकथा और प्रेमाख्यानक काव्य का सुन्दर सामंजस्य हुआ है और वर्णन-सौन्दर्य तथा कथा-प्रवाह का भी समुचित योग हुआ है। हिन्दी के मध्यकालीन प्रेमाख्यानक काव्य—विशेष रूप से पद्मावत-भविसयत्तकहा और करकण्डुचरिउ से बहुत मिलते जुलते है, अतः यह स्पष्ट है कि प्रेमाख्यानक काव्य की परम्परा हिन्दी में अपभ्रंश के प्रबन्ध-काव्यो से ही आयी है।

अन्य काव्यो में नयनन्दि का १२ सन्धियों वाला सुदसणचरिउ विचारणीय है, जिसमें पंचनमस्कार मंत्र का फल बताने के लिए सेठ सुदर्शन का चरित वर्णन किया गया है। पंचनमस्कार मंत्र की आराधना के फलस्वरूप एक सामान्य गोपाल गंगा में डूब कर मरने के बाद चम्पापुर में सेठ ऋषभदास के पुत्र के रूप में कामदेव का कमनीय रूप लेकर उत्पन्न होता है। उसके रूप की चारों ओर चर्चा फैल जाती है और चम्पापुर के राजा धाड़ीवाहन की रानी उस पर आसक्त होती, उसे अपने जाल में फँसाने का प्रयत्न करती और असफल होती है, फिर राजा से कह कर उस पर सतीत्वहरण करने का अपराध लगाकर फांसी की सजा दिलवाती है पर अन्त में एक देव द्वारा उसकी रक्षा होती है और राजा देव से युद्ध में हार कर सुदर्शन को अपना राज्य देना चाहता है पर सुदर्शन दिगम्बर-दीक्षा लेकर तपस्या द्वारा मुक्ति प्राप्त करता है। इस प्रकार यह काव्य भी भवान्तर से सम्बन्धित धार्मिकतापरक और शान्तरसपर्यवसायी है। बीच-बीच में प्रकृति-चित्रण तथा नायिका-भेद और वेश-भूषा आदि का सुन्दर वर्णन हुआ है। पात्रों के चरित का मनोवैज्ञानिक चित्रण इस काव्य की विशेषता है। ग्रन्थ अभी अप्रकाशित है। पण्डित परमानन्द जैन शास्त्री ने इसे महाकाव्य कहा है[1] पर धार्मिक और उपदेशात्मक अधिक होने से इसे धर्म कथात्मक काव्य मानना ही अधिक समीचीन है।

प्राकृत की 'लीलावई कहा' के ढंग का काव्य अपभ्रंश में साधारण कवि कृति 'विलासवई कहा' है जो अभी अप्रकाशित है और जिसकी दो प्रतियाँ जैसलमेर के बड़े भाण्डार में हैं।[2] यह ग्यारह सन्धियों का काव्य है और जैसा

१—अनेकान्त—मार्च १९५०, पृ० ३१३।

२—जैसलमीर भाण्डागारीय ग्रंथनां सूची—पृ० १४ और १८।

कवि ने स्वयं अन्तिम प्रशस्ति में कहा है, यह हरिभद्र की 'समराइच्च कहा' के ◌ंचम भव-वर्णन का अपभ्रंश में काव्यात्मक रूपान्तर है और इसमें ३६२० श्लोक या छन्द हैं।[1] कवि ने स्वयं इसे बार-बार कथा ही कहा है और वस्तुतः यह काव्यात्मक शैली में होते हुए भी धार्मिक कथा ही है, महाकाव्य नहीं। उसी तरह 'नागकुमार' के जीवन से सम्बन्धित दो काव्य हैं, १—पुष्पदन्त का णायकुमारचरिउ और २—मल्लिक्कराज का नागकुमारचरित। दोनों ही में नौ-नौ सन्धियाँ हैं और एक ही कथा कही गयी है। नागकुमार की कथा जैनों में बहुत प्रसिद्ध है, इसका नायक नागकुमार चौबीस कामदेवों में से एक है। पूर्वजन्म में श्रुतिपञ्चमीव्रत रखने के कारण वह कामदेव के अवतार के रूप में पैदा हुआ। उसने अपने सौन्दर्य, वीरता और विद्याबल से अनेक युद्धों को जीता और सैकड़ों राजकुमारियों से विवाह किया। इस प्रकार यह अत्यन्त रोमांचक कथा है जिसमें साहसिक यात्राओं, अनेक युद्धों, अलौकिक और अतिमानव कार्यों और परम्परागत कथानक-रूढ़ियो का बाहुल्य है। अन्त में नागकुमार के पूर्व-भव का वर्णन और दिगम्बर मुनि बनकर मुक्ति पाने की कथा है। वस्तुतः यह महाकाव्य नही बल्कि रोमांचक खण्डकाव्य है जिसमें धर्मकथा, रोमांचक कथा और काव्य तीनों की विशेषताओं का सुन्दर सामंजस्य हुआ है। पुष्पदन्त ने अपने काव्य को प्रत्येक सन्धि के अन्त में पुष्पिका में महाकाव्य (महाकइ पुप्फदंत विरइये महाकाव्वे) कहा है और इसका प्रारम्भ भी काव्य की प्रचलित रूढ़ियों के अनुसार ही किया है पर इसमें पुष्पदन्त ने प्रारम्भ में तीर्थंकरों आदि की नहीं बल्कि सरस्वती की वन्दना की है तथा आत्मनिवेदन, सज्जन-दुर्जन-चिन्ता और मगध-वर्णन के बाद श्रेणिक और महावीर के संवाद रूप में कथा कही गयी है। सिंह कवि (बारहवीं शताब्दी) का १५ सन्धियों का काव्य 'पज्जुण्ण कहा' भी इसी प्रकार का कथात्मक काव्य है जिसमें श्रीकृष्ण के पुत्र और कामदेव के अवतार प्रद्युम्न का चरित वर्णन किया गया है[2]।

१–समराइच्च कहा ओ उद्धरिया सुइ सन्धिवन्धेण।
कोउहलेण एसापसण्ण वयणा विलासवई॥
एसा य गणिज्जन्ती पारणुटठुमेण छंदेण।
संपुण्णइ जावा छतीस सयाई वीसाई॥
'विलासवई कहा' अन्तिम प्रशस्ति।

२–अपभ्रंश भाषा और साहित्य, नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५०, अङ्क ३४, पृ० ११७।

रोमांचक काव्यों की सामान्य विशेषतायें—कुछ बातें ऐसी हैं जो इन सभी रोमांचक काव्यों में समान रूप से पाई जाती है, उन्हें अपभ्रंश के रोमांचक काव्यों (महाकाव्य या खण्डकाव्य) की सामान्य विशेषतायें कह सकते हैं। वे ये हैं—

१—इन सबमें धार्मिकता और ऐहिकता का मेल कराया गया है। इनमें से कुछ धार्मिक पुरुषों या कामदेव के अवतारों के जीवन-चरित हैं और कुछ व्रतों और मन्त्रों का फल दिखाने के लिए दृष्टान्त-रूप में लिखे गये है। नायकों के पूर्वभव वर्णन, बीच-बीच में जैन मन्दिरो में पूजा-पाठ और मुनियों के उपदेश तथा अन्त में किसी भी बात से प्रभावित होकर संसार त्याग कर तपस्या करना और निर्वाण प्राप्त करना, ये बातें पौराणिक महाकाव्यों के समान रोमांचक काव्यों में भी अनिवार्य रूप से पाई जाती हैं। किन्तु इनमें शेष बातें बिलकुल सांसारिक ढग की होती हैं। वस्तुतः ये कथाएँ प्रचलित लोककथाओं-लोकगाथाओं के आधार पर लिखी गयी हैं जिनमें कवियों ने कुछ धार्मिक बाते जोड़ कर उन्हे कथात्मक-काव्य या चरित-काव्य बनाने का प्रयत्न किया है।

२—इन सबमें युद्ध और प्रेम का वर्णन पौराणिक शैली के काव्यों की अपेक्षा अधिक है। यह नहीं कहा जा सकता कि ये सभी प्रेमाख्यानक काव्य हैं, किन्तु यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि वीरगाथात्मक काव्यों की भाँति इनमें युद्ध और प्रेम को बहुत अधिक महत्व दिया गया है। यह लोकगाथाओं और वीरगीतों की प्रवृत्ति है जिनके चक्र से विकसनशील महाकाव्यों का विकास हुआ। यह पिछले अध्याय में कहा जा चुका है कि विकसनशील महाकाव्यों में रोमांचक तत्त्व बहुत अधिक होते है जिनके अनुकरण या आधार पर बाद में कथा—आख्यायिका और रोमाचक महाकाव्यों का निर्माण होता है। आठवीं से पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी तक की सभी भाषाओं के साहित्य में इस तरह के काव्य लिखे गये। जैनों ने धार्मिक आवरण में रोमांचक काव्य लिखे और दरबारी कवियों और चारण-भाटों ने राजाओं को प्रशस्ति के लिये रास, विजय, चरित, विलास आदि नामों से ऐतिहासिक शैली के वीरगाथात्मक और रोमांचक काव्य लिखे।

३—इन काव्यों में काल्पनाश्रित और अतिशयोक्तिपूर्ण बातें अधिक हैं यद्यपि उनका आधार यथार्थ जीवन है। पुष्पदन्त के णायकुमारचरिउ में नागकुमार कई सौ राजकुमारियों से विवाह करता है जिसका यथार्थ आधार यह है कि सामन्ती वीर-युग में सामन्त युद्ध में विजित राजाओं की कुमारियों से विवाह करते थे, इस तरह वे बहुत से विवाह कर सकते थे। उसमें युद्धों की अधिकता

का आधार भी यही है कि तत्कालीन राजा अनावश्यक रूप से भी युद्ध किया करते थे। वस्तुतः संभावना के बल पर ही उनमें अतिशयोक्ति पूर्ण और कल्पनाश्रित घटनाओं की योजना हुई है।

४—सबसे साहसिक कार्यों, जसे बीहड़ यात्रायें, उजाड़ नगर या भयंकर वन में अकेले जाना, मत्त गज से युद्ध, उग्र अश्व को वश में कर यक्ष-गन्धर्व विद्याधरादि से युद्ध, समुद्र-यात्रा और जहाज का टूटना, आदि का वर्णन मिलता है। इससे कथामें रोमांचक गुण बढ़ जाता है और पाठक की जिज्ञासा-वृत्ति की तृप्ति होती है। यह कथा-आख्यायिका का गुण है जिसे इन काव्यों में अपना लिया गया है।

५—इन सभी काव्यों में कथानक के संघटन में अलौकिक और अतिप्राकृत शक्तियों तथा अतिमानव कार्यों का बहुत सहारा लिया गया है। यद्यपि ये तत्त्व पौराणिक काव्यों में भी हैं, पर रोमांचक काव्यों में इनकी अधिकता है। देवता, राक्षस, गन्धर्व, यक्ष, विद्याधर, नाग आदि इन काव्यों में मानव के सहायक और विरोधी दोनों रूपों में दिखाई पड़ते हैं। मुनि का शाप या वरदान, किसी गुह्य विद्या की सहायता से दूर देर में पहुँच जाना, मत्त गज को परास्त करना, समूची सेना को युद्ध में बात की बात में परास्त कर देना आदि अतिमानव कार्यों की योजना सभी काव्यों में मिलती है।

६—पौराणिक काव्यों की भाँति इनका कथानक भी बहुत ही उलझा या जटिल है क्योंकि इनमें कथा के भीतर कथायें बहुत हैं। अवान्तर कथाओं और भवान्तरों का वर्णन इन काव्यों की एक सामान्य विशेषता है। किसी पर कोई आपत्ति पड़ती है तो दूसरा व्यक्ति उसे सान्त्वना देने के लिये उसी प्रकार की कोई कथा दृष्टान्त रूप में सुनाता है। करकण्डु चरिउ की अवान्तर कथायें उसी प्रकार की हैं। पूर्व जन्मों के कर्मों का फल दिखा कर आचारिक-धार्मिक उपदेश देने के लिए भवान्तर की कथाओं का वर्णन किया गया है। इस तरह की कथायें गणधर, गौतम, वर्धमान, महावीर या कोई अन्य मुनि सुनता है या कोई पूर्व जन्म की बातों को याद रखने वाला व्यक्ति कहता है। भविसयत्त कहा में विमलबुद्धि, करकण्डचरिउ में शीलगुप्त और णायकुमारचरिउ में विद्याधर भवान्तर की बातें बताते हैं।

७—ये सभी काव्य पौराणिक काव्यों के समान ही शान्तरस-पर्यवसायी हैं क्योंकि सबका अन्त निर्वेद, सन्यास और मुक्ति दिखा कर हुआ है।

८—इन सबमें भारतीय कथा और प्रबन्ध साहित्य की चिराचरित कथानक संबंधी रूढ़ियों या अभिप्रायों का भरपूर प्रयोग हुआ है जिससे कथा को आगे

बढ़ाने या उसकी धारा को मोड़ने में कवि को सहायता मिली है। इन कथानक-रूढ़ियों का प्रथम अध्याय में विचार किया जा चुका है। अपभ्रंश के रोमांचक काव्यों में विशेषकर ये रूढ़ियाँ प्रयुक्त हुई हैं :—

१—उजाड़ नगर का मिलना और कुमारी-दर्शन तथा उससे विवाह (भविसयत्त कहा) २—प्रथम दर्शन, गुणश्रवण या चित्रदर्शन से प्रेम (भविसयत्त कहा, सुदंसणचरिउ, करकण्डुचरिउ, णायकुमारचरिउ), ३—द्वीपान्तर, विशेष कर सिंहलद्वीप की यात्रा और समुद्र में जहाज टूटना या अन्य बाधायें (भविसयत्तकहा—करकण्डुचरिउ) ४—दोहद-कामना (करकण्डुचरिउ) ५—पञ्चदिव्याधिवास (करकण्डुचरिउ), ६—शत्रु-संतापित सरदार की सहायता और युद्ध मोल लेना (णायकुमारचरिउ, करकण्डुचरिउ) ७—मुनि का शाप (करकण्डुचरिउ) ८—पूर्व जन्म की याद, कई जन्मों में साथ पैदा होकर शत्रुता निभाना या पूर्व जन्म के उपकार का बदला चुकाना या पति-पत्नी होना (जसहर चरिउ, भविसयत्तकहा, करकण्डुचरिउ, णायकुमारचरिउ आदि), ९—दुश्चरित्रा या धोखेबाज पत्नी (करकण्डुचरिउ, जसहरचरिउ, सुदंसणचरिउ, भविसयत्तकहा), १०—रूप-परिवर्तन (करकण्डुचरिउ, भविसयत्तकहा आदि)।

अपभ्रंश काव्यों की बाह्य प्रबंध रूढ़ियाँ—पिछले अध्याय में महाकाव्य की परिभाषा के प्रसंग में कहा जा चुका है कि महाकाव्य की कुछ आभ्यन्तर विशेषताएँ होती हैं जिनके कारण कोई काव्य महाकाव्य-पद का अधिकारी होता है। पर प्राचीन भारतीय आलंकारिकों ने अधिकतर बाह्य प्रबन्ध रूढ़ियों को ही महाकाव्य का प्रधान लक्षण मान लिया था। अपभ्रंश के महाकाव्यों की भी कुछ विशेष प्रबन्ध-रूढियाँ स्थिर हो गयी थीं जिनका पालन प्रायः सभी महाकाव्यों में किया गया है। हिन्दी के महाकाव्यों में भी उन्हें अपनाया गया है, अतः उन पर कुछ विचार कर लेना आवश्यक है। वे रूढ़ियाँ ये हैं :—

१—अपभ्रंश के सभी महाकाव्य सन्धियों में विभक्त हैं। स्वयम्भू के दोनों महाकाव्य काण्डों में भी विभक्त हैं और सन्धियाँ भी रखी गयी हैं। इन पर महाभारत और रामायण का प्रभाव होने से ही ऐसा हुआ है, पर अन्य सभी केवल संधियों में विभाजित हैं। ये संधियाँ कडवकबद्ध हैं। विश्वनाथ कविराज ने भ्रमवश कह दिया है कि अपभ्रंश महाकाव्यों में सर्गों की जगह कडवक होते हैं। वस्तुतः कडवक तो पदों (स्टैन्ज़ाज़) के समान है और १५ से ३० कडवकों की एक सन्धि होती है। कुछ छन्दों के बाद घत्ता जोड़ कर कडवक बनाये जाते हैं। प्राकृत में 'गउडवहो' और 'लीलावई कहा' आदि कुछ काव्य

सर्गों या आश्वासों में विभक्त नहीं हैं पर अपभ्रंश में ऐसा अन्य कोई महाकाव्य नहीं है।

२—रामचरितमानस, पद्मावत आदि प्रबन्धकाव्यों में कुछ चौपाइयाँ रख कर दोहा या कभी-कभी हरिगीतिका छन्द रखा गया है और यह विधान ग्रन्थ में आद्यन्त मिलता है। इस रूढ़ि का पूर्वरूप अपभ्रंश के प्रायः सभी प्रबन्ध काव्यों में कडवक योजना के रूप में मिलता है। केवल 'णेमिणाहचरिउ' 'सुदंसणचरिउ' और 'सन्देशरासक' इसके अपवाद हैं। णेमिणाहचरिउ आद्यन्त रड्डा छन्द में है और सुदंसणचरिउ हिन्दी के काव्य रामचन्द्रिका की तरह विविध प्रकार के छन्दों से विभूषित है। संदेशरासक भी कडवकबद्ध नहीं है। पुष्पदन्त के काव्यों में नाना छन्दों का प्रयोग हुआ है पर वे कडवकबद्ध हैं, धाराप्रवाह नहीं। यद्यपि अपभ्रंश का प्रिय छन्द दूहा या दोहा है पर प्रबन्ध काव्यों में अधिकतर पद्धड़िया, अडिल्ल, रड्डा तथा अन्य कई प्रकार के मात्रिक छन्दों का प्रयोग हुआ है। इसमें प्रधानता पद्धडिया की है जो चौपाई से मिलती जुलती है। कडवक के अन्त में घत्ता, दोहा, सोरठा या कुछ अन्य छन्दों का प्रयोग हुआ है और ये सभी घत्ता कहे गये हैं। कभी-कभी कडवक के प्रारम्भ में हेला, दुवई आदि छन्द रखने की प्रवृत्ति भी दिखाई पडती है। अपभ्रंश के छन्दों की सबसे बड़ी विशेषता या नवीनता जो संस्कृत-प्राकृत में नहीं मिलती, यह है कि वे अधिकतर तुकान्त और कभी अन्तर-तुकों से युक्त भी हैं और उनमें गेय गुण भी है। सम्भवतः लोकगीतों के छन्दों से प्रभावित होकर या उन्हीं को अपनाने की प्रवृत्ति के कारण तुकान्त छन्दों का प्रचलन हुआ जो पहले-पहल अपभ्रंश भाषा में ही मिलते हैं। उसके बाद तो सभी आधुनिक आर्यभाषाओं के छन्दों में यह बात देखने को मिलती है।

३—संस्कृत के प्रारम्भिक महाकाव्यों में कुछ में तो बिना मंगलाचरण या वस्तु-निर्देश आदि के ही काव्यारंभ हो गया है और कुछ में ये बातें संक्षेप रूप में मिलती हैं। पर परवर्ती महाकाव्यों में मंगलाचरण, काव्य लिखने का कारण, विषय-वस्तु की महत्ता, कवि का विनम्रता-प्रदर्शन, पूर्वकवियों की प्रशस्ति, नायक के देश और नगर का वर्णन आदि बातों को लिखने की प्रथा प्रचलित हो गई थी। रुद्रट ने इनका निर्देश किया है। यह प्राकृत और अपभ्रंश के काव्यों की निजी विशेषता है और उसी परम्परा को हिन्दी के महाकाव्यों में भी अपनाया गया है।

४—अधिकांश अपभ्रंश काव्यों में कथा का प्रारम्भ दो व्यक्तियों के प्रश्नोत्तर या संवाद के रूप में हुआ है। कहा जा चुका है कि अपभ्रंश महाकाव्यों पर कथा-शैली का प्रभाव अधिक है। भामह ने काव्यालंकार में कथा का जो लक्षण बताया है उसके अनुसार कथा दो व्यक्तियों के बीच बातचीत के रूप में कही

जाती है और आख्यायिका में नायक स्वयं अपनी कथा कहता है इन काव्यों पर संस्कृत की कथा का प्रभाव था या वे प्राकृत और लोकभाषा के कथात्मक काव्यों के अनुकरण पर लिखे जाने लगे, इसका निश्चय करना कठिन है पर भामह के कथन से इतना स्पष्ट है कि कथा या कथात्मक काव्य प्रायः दो व्यक्तियों के संवाद के रूप में प्रारम्भ होते हैं। प्राकृत और अपभ्रंश के सभी पौराणिक काव्य महाराज श्रेणिक और महावीर या गणधर गौतम के प्रश्नोत्तर के रूप में शुरू हुए हैं। रोमांचक काव्यों में भविसयत कहा और जसहरचरिउ आदि का प्रारम्भ उसी तरह हुआ है। रामायण, महाभारत और बृहत्कथा में भी कथा कहने की यही शैली अपनाई गई है और हिन्दी में पृथ्वीराजरासो तथा रामचरितमानस मे भी प्रश्नोत्तर और संवाद के रूप में कथा कहने की वही पुरानी परम्परा अपनाई गई है। पशु-पक्षियों की बातचीत के रूप में भी अनेक अवान्तर कथायें कही गई हैं। कीर्तिलता भृङ्ग-भृङ्गी की बातचीत के रूप में है और पद्मावत में हीरामन शुक पद्मावती की बातें बताता है।

५—संस्कृत मे महाकाव्यों के लिए यह आवश्यक माना गया था कि उनकी कथा इतिहास-पुराण या कथा (बृहत्कथा) से ली गयी हो और नायक धीरोदात्त गुणों वाला महान आदर्श व्यक्ति हो जो देवता या सद्वंश क्षत्रिय हो। प्राकृत अपभ्रंश के महाकाव्यों में प्रायः कथा जैन पुराणों से ली गयी है। पर रोमांचक काव्यों में कल्पना द्वारा उनमें बहुत सी बातें जोड़ी भी गयी हैं। इन काव्यों पर रुद्रट की महाकाव्य सम्बन्धी परिभाषा अधिक सही ढंग से लागू होती है। नायक के सम्बन्ध में इस काल के कवियों—विशेषकर जैन कवियों—ने उक्त नियम को नहीं माना है। उनके नायक किसी भी जाति के और किसी भी वर्ग या श्रेणी के हो सकते हैं। रोमांचक काव्यों के नायक बहुधा वणिक् हैं, वे प्रारम्भ ही से आदर्श व्यक्ति नहीं हैं। वे सभी प्रकार के अच्छे बुरे कार्य करते दिखाये गये है पर अन्त में सत्कर्मों और तपश्चर्या के बल से या किसी विशेष व्रत या मन्त्र की आराधना से वे मुक्ति प्राप्त करके आदर्श उपस्थित करते हैं। इस प्रकार संस्कृत के प्रारम्भिक महाकाव्यों और प्राकृत अपभ्रंश के महाकाव्यो का यह मौलिक अन्तर है। महती घटना और महच्चरित्र को अपभ्रंश कवियों ने यथार्थवादी मापदण्ड से नापा है और यह माना है कि कोई जन्मजात आदर्श चरित्रवाला नहीं होता बल्कि पूर्वजन्मों के कर्मों के कारण और वर्तमान भव के अच्छे कार्यों द्वारा ही उसका चरित्र आदर्श बनता है, चाहे वह व्यक्ति किसी भी जाति, वर्ण या वर्ग का क्यों न हो।

—:०:—

चौथा अध्याय

हिन्दी महाकाव्य का उदय और उसका परिवेश

अब तक हमने भारतीय महाकाव्य के उद्भव और विकास के सम्बन्ध में कुछ विस्तार के साथ इसलिए विचार किया है कि यह स्पष्ट रूप से देखा जा सके कि हिन्दी के महाकाव्यों के रूप-निर्माण में पूर्ववर्ती महाकाव्यों के किन तत्त्वों का विशेष रूप से ग्रहण हुआ है, साथ ही यह भी स्पष्ट हो सके कि इनकी अपनी विशेषतायें क्या हैं जिनके कारण पूर्ववर्ती महाकाव्यों की परम्परा में होते हुये भी ये उनकी अनुकृति मात्र नहीं हैं।

हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास भारतीय इतिहास के मध्ययुग और आधुनिक युग में हुआ है। सारे संसार के इतिहास में मध्ययुग सातवीं-आठवीं शताब्दी से माना जाता है और भारतीय इतिहास के मध्ययुग का प्रारम्भ भी उसी समय (हर्षवर्धन के बाद) हुआ। हिन्दी भाषा और साहित्य के ठीक पूर्व का या उसका पुरातन रूप अपभ्रंश है जिसे चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, राहुल सांकृत्यायन आदि विद्वानों ने पुरानी हिन्दी कहा है। उसका साहित्य भी सातवीं-आठवीं शताब्दी से ही मिलने लगता है। किन्तु हिन्दी साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों ने मोटे तौर पर ग्यारहवीं से चौदहवीं शताब्दी तक के काल को हिन्दी साहित्य का आदिकाल माना है। पिछले अध्याय में कहा जा चुका है कि अपभ्रंश साहित्य के उत्कर्ष का काल (८०० से १२०० ई०) भी यही है। भारतीय इतिहास के मध्ययुग को इतिहासकारों ने पूर्वमध्ययुग (६५० से १२०० ई०) मध्यवर्ती मध्ययुग (१२०० से १७०० ई०) और उत्तर मध्ययुग (१७०० से १८५० ई०) इन तीन कालों में विभाजित किया है।

इस तरह आधुनिक काल के पूर्व के हिन्दी साहित्य का विकास उपर्युक्त तीनों कालों में हुआ है। इस सम्बन्ध में ध्यान देने की बात यह है कि इतिहास का पूर्वमध्यकाल, जिसमें अपभ्रंश साहित्य का विकास और उत्कर्ष तथा हिन्दी भाषा और साहित्य का उदय हुआ, प्रत्येक दृष्टि से उथल-पुथल और संक्रान्ति का काल है। इस काल में प्राचीन भारत एक नये साँचे में ढलने का उपक्रम कर रहा था। इस युग में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में तो प्रचुर साहित्य का निर्माण हुआ ही, साथ ही प्रायः सभी आधुनिक भारतीय भाषाओं का उदय भी हुआ और उनमें साहित्य की रचना भी प्रारम्भ हो गई।

पिछले अध्याय में कहा जा चुका है कि सातवीं आठवीं शताब्दी के बाद साहित्य दो धाराओं में विभक्त हो गया था। एक धारा सामन्ती सभ्यता के शिष्ट नागरिक और दरबारी संरक्षण में पुष्ट होकर प्रवाहित हुई जिसमें अलंकृत, उक्ति-चमत्कारपूर्ण, रूढ़िपालन के आग्रह से युक्त महाकाव्यों की रचना हुई। संस्कृत और प्राकृत के अलंकृत महाकाव्य इसी प्रकार के थे। दूसरी धारा लोकजीवन और स्वतन्त्र धार्मिक वातावरण के बीच बहती रही। संस्कृत और प्राकृत के ऐतिहासिक, रोमांचक और पौराणिक शैली के महाकाव्य तथा अपभ्रंश के प्रायः सभी महाकाव्य इसी लोकाश्रित धर्माश्रित साहित्य-धारा की देन हैं। दसवीं शताब्दी के बाद धीरे धीरे संस्कृत के आडम्बरपूर्ण महाकाव्यों का वातावरण साधारण जीवन से इतनी दूर हो गया कि फिर लोकप्रिय होने के लिए संस्कृत महाकाव्य को विवश होकर लोकाश्रित कथाकाव्यों की शैली अपनानी पड़ी। इस तरह हिन्दी साहित्य के आदि काल में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में अधिकतर ऐतिहासिक, पौराणिक और रोमांचक शैली के महाकाव्य लिखे जाते रहे जिनमें परस्पर लोक-तत्वों, कथानक-रूढ़ियों और काव्य-रूढ़ियों की अद्भुत समानता दिखाई देती है। ऐसे ही संक्रान्तिशील वातावरण और परिवर्तनशील साहित्यिक पृष्ठ-भूमि में हिन्दी महाकाव्य का उदय हुआ।

अपभ्रंश के जिन काव्यों पर पिछले अध्याय में विचार किया गया है, वस्तुतः वे हिन्दी महाकाव्य के पूर्ववर्ती रूप हैं क्योंकि हिन्दी महाकाव्य अधिकांश बातों में उन्हीं से मिलते जुलते है। वस्तुतः हिन्दी साहित्य के आदि और मध्य युग की प्रवृत्तियों का बीज दसवीं शताब्दी के पूर्व के संस्कृत, प्राकृत और विशेष रूप से अपभ्रंश के साहित्य में ही दिखलाई पड़ता है। जैसा कि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, "वस्तुतः छन्द, काव्यरूप, काव्यगत रूढ़ियों और वक्तव्य-वस्तु की दृष्टि से दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक का लोकभाषा का साहित्य परिनिष्ठित अपभ्रंश में प्राप्त साहित्य का ही बढ़ाव है यद्यपि उसकी भाषा उक्त अपभ्रंश से थोड़ी भिन्न है[1]।" द्विवेदी जी के इस कथन का यह अर्थ नहीं है कि हिन्दी साहित्य ने संस्कृत और प्राकृत साहित्य से कुछ ग्रहण ही नहीं किया है। हिन्दी साहित्य, विशेषकर हिन्दी महाकाव्य, पर रामायण-महाभारत, बृहत्कथा और परवर्ती संस्कृत-प्राकृत की काव्यशैली का

१—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य (उद्भव और विकास) प्रथम संस्करण १९५२ पृ० ४३।

बहुत प्रभाव पड़ा है, पर वह प्रभाव मात्र है। हिन्दी महाकाव्य का विकास वस्तुत: अपभ्रंश काव्य की ओर से हुआ है। उदाहरण के लिये पृथ्वीराजरासो पर महाभारत और प्राकृत-अपभ्रंश के पौराणिक और रोमांचक शैली के महाकाव्यों का सम्मिलित प्रभाव दिखलाई पड़ता है। साथ ही यहाँ यह भी ध्यान में रखना है कि केवल १० वीं से १४ वी शताब्दी तक के काव्यों पर ही अपभ्रंश के काव्यों का प्रभाव नहीं है बल्कि १४ वीं शताब्दी के बाद लिखे जाने वाले पौराणिक और रोमांचक शैली के प्रबन्ध काव्यो पर भी अपभ्रंश के पौराणिक और रोमांचक चरितकाव्यों का सीधा प्रभाव दिखलाई पड़ता है। अपने को 'कथा' और 'चरित' कहने वाले हिन्दी के प्रायः सभी प्रबन्ध काव्य सीधे अपभ्रंश के चरितकाव्यो की परम्परा में आते है। अपभ्रंश के चरित काव्यों की प्रायः सभी विशेषतायें इनमें भी उसी प्रकार दिखलाई पडती है। अतः इन चरितकाव्यों की विशेषताओ पर संक्षेप में विचार कर लेना आवश्यक है। ये विशेषतायें निम्नलिखित हैं—

(क) चरितकाव्यों में प्रबन्ध काव्य और कथा-आख्यायिका तथा धर्मकथा आदि के लक्षणो का समन्वय हुआ है। यही कारण है कि प्रायः सभी चरित काव्य अपने को 'चरित' और 'कथा' दोनों कहते हैं। वस्तुतः इन काव्यों में कथा और चरित शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग हुआ है और दोनों का अभिप्राय प्रबन्ध काव्य से ही है, पौराणिक कथा या साहित्यिक कथा-आख्यायिका से नहीं। स्वयंभु ने अपने 'पउमचरिउ' को प्रारम्भ में ही 'रामकहा' कहा है[1]। धनपाल ने तो अपने काव्य का नाम ही 'भविसयत्तकहा' रखा है और उसे 'णिम्मल पुण्ण पवित्त कह' माना है[2]। इसी तरह पुष्पदंत ने 'जसहर चरिउ' को और धाहिल ने 'पउमसिरिचरिउ' को 'धर्मकथा' की संज्ञा दी है[3]। इस तरह यद्यपि इन काव्यों के नाम के साथ प्रायः चरित शब्द जुड़ा है पर ये अपने को कथा या धर्म-कथानक कहते है। किन्तु उनके ऐसा कहने

१—बद्धमाण मुह कुहर विणिग्गय। रामकहा णइ एह कमागय। पउमचरिउ १-२।

२—णिसुणन्तह एह णिम्मल पुण्ण पवित कहा।—भविसयत्तकहा १-४।

३—(क)—कह धम्म णिवद्धी का वि कहमि। कहियाइ जाइ सिव सोक्खु लहमि।—जसहरचरिउ १-१।

(ख)—णिसुणह साहमि कन्न रसायणु। धम्म कहायणु बहुगुण भायणु! पउमसिरिचरिउ १-१।

से ही उन्हें कथा-आख्यायिका या पुराण नहीं माना जा सकता। हिन्दी में विद्यापति की कीर्तिलता, चन्द कृत पृथ्वीराजरासो और रामचरितमानस में भी एक ओर जहाँ इन ग्रन्थों के नायकों का 'चरित' कहने की बात कही गई है वहीं दूसरी ओर 'पुरिस कहाणी' (कीर्तिलता) 'कथ इक पूछों तोहिं' (रासो) और 'राम कथा' (मानस) कहकर इनके कवियों ने इनके 'कथा' होने की भी सूचना दे दी है।

(ख) पौराणिक शैली के काव्यों में वक्ता और श्रोता के सम्वाद के रूप में कथा कहने की प्रथा पहले ही से चली आ रही थी। लोककथाओं में प्रायः कोई कथा पशुपक्षियों की बातचीत के रूप में कही जाती थी। प्राकृत की 'लीलावई कहा' में कवि और उसकी पत्नी की बातचीत के रूप में कथा कही गई है। अपभ्रंश के प्रायः सभी चरितकाव्यों में किसी न किसी प्रकार के वक्ता-श्रोता की योजना अवश्य हुई है। इस रूढ़ि को आदिकाल के कुछ प्रबन्ध काव्यों में भी अपनाया गया है और बाद में रामचरितमानस में भी यह शैली अपनाई गई। संवाद-शैली में निम्नलिखित रूपों में कथा कही गई है—

१—धर्मगुरुओं-पौराणिकों तथा भक्त ऋषियों और श्रावकों-श्रोताओं के बीच प्रश्नोत्तर के रूप में।

२—शुक्र-शुकी, भृङ्ग-भृंगी, तोता-मैना या पत्नी और मानव की बातचीत के रूप में। पृथ्वीराजरासो और कीर्तिलता में शुक-शुकी और भृंग-भृंगी के संवाद के रूप में पूरी कथा कही गई है।

३—कवि और कवि-पत्नी की बातचीत के रूप में (पृथ्वीराज रासो)।

(ग) प्रायः सभी चरितकाव्यों में उन अलौकिक, अतिप्राकृत और अति-मानवीय शक्तियों, कार्यों और वस्तुओं का समावेश हुआ है जो पौराणिक और लोकविश्वासों की देन हैं और लोककथाओं और पौराणिक आख्यानों तथा कथा-आख्यायिका में जिनकी भरमार होती है इस तरह देवी-देवता, राक्षस, गन्धर्व, असुर, नाग, भूत-प्रेत, मुनि, अतिबलशाली तथा मन्त्र-तन्त्र में निष्णात व्यक्ति, मानव-भाषा जानने वाले पशु-पक्षी अथवा अलौकिक शक्ति वाले गरुड़, भरुण्ड आदि पक्षी कथा में मानव की सहायता करते या उनसे युद्ध करते हैं। अलौकिक जन्म, शाप-वरदान, स्वप्न, शकुन, मन्त्र-तन्त्र, जादू-टोना तथा दैवी विपत्तियों का भी इन चरितकाव्यों में बहुत अधिक उपयोग हुआ है। इन्हीं से सम्बधित अनेक कथानक-रूढ़ियाँ बन गई थीं जो लोककथाओं, कथा-आख्यायिकाओं, पौराणिक कथाओं और चरितकाव्यों में समानरूप से मिलती

हैं। पृथ्वीराजरासो, पद्मावत आदि में इस प्रकार के अलौकिक और अति-प्राकृत तत्त्वों की भरमार है।

(घ) सभी चरितकाव्यों में साहसिक कार्यों और रोमांचक तत्त्वों की अधिकता है, जैसे भयंकर यात्रा, यात्रा में मार्ग भूलना या जहाज डूबना, राक्षस, गन्धर्व, यक्ष, अप्सरा आदि से भेंट, उजाड़ नगर का मिलना, सरोवर तट पर अथवा वाटिका, मन्दिर या आश्रम में नायक-नायिका का प्रथम दर्शन, भरुण्ड या गन्धर्व द्वारा नायक-नायिका का एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाया जाना, पाताल-लोक या सात-सागर पार या द्वीपान्तर की यात्रा, युद्ध और विवाह, प्रेम में वियोग और मिलन के लिये कठिन प्रयत्न, लक्ष्मी या राज्य प्राप्ति का शकुन या स्वप्न में सूचना, पञ्चदिव्याधिवास आदि। लोककथा और कथा-आख्यायिका आदि में इनकी अधिकता होती है और उसी दिशा से ये चरितकाव्यों में आई हुई हैं। पृथ्वीराजरासो, पद्मावत, अथवा अन्य प्रेमाख्यानक प्रबन्ध काव्यों में भी इस प्रकार के साहसिक और रोमांचक कार्यों और घटनाओं की अधिकता है। 'रासो' और पद्मावत, में तो इनमें से प्रायः सभी का उपयोग हुआ है।

(ङ) चरितकाव्यों की शैली जीवन-चरित की शैली है जिसमें या तो ऐतिहासिक ढंग से पूर्वज, माता-पिता और वंश का वर्णन रहता है या पौराणिक ढंग से पूर्व जन्मों का वृत्तान्त होता है। उनमें चरित-नायक के जीवन की सम्पूर्ण कथा संक्षेप रूप में कहने की प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है; अतः उनमें नायकों के जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त तक की अथवा कई भवान्तरों की कथा मिलती है। शास्त्रीय महाकाव्यों की तरह उनमें महत्वपूर्ण और कलात्मकता उत्पन्न करने वाली घटनाओं का चुनाव नहीं होता है और न उनमें शास्त्रीय महाकाव्यों के समान कथा-भाग की कमी तथा वर्णनात्मक अंशों की अधिकता ही होती है। वस्तुतः ये काव्य कथात्मक अधिक और वर्णनात्मक कम हैं क्योंकि चरित-वर्णन उनका प्रमुख उद्देश्य है उनमें वर्णनात्मक अंश कम नहीं होते पर चरितकाव्यों का कवि प्रायः कथा छोड़कर ऋतुवर्णन और वस्तुवर्णन में ज्यादे देर तक नहीं उलझता। इसी कारण ये काव्य शास्त्रीय महाकाव्यों की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक, सरल और लोकोन्मुख है।

(च) प्रायः चरितकाव्यों में प्रेम, वीरता और वैराग्य का भावनाओं का समन्वय हुआ है। सब में कोई न कोई प्रेम-कथा अवश्य है और उसका स्थान गौण नहीं महत्वपूर्ण है। पौराणिक कथानक में भी इन काव्यों में प्रेमाख्यानक रंग भरने का प्रयत्न किया गया है। उदाहरणार्थ वीर कवि के जम्बू-

स्वामी-चरित में अन्तिम केवली जम्बूस्वामी के जीवन को शृंगार और वीररस समन्वित बनाया गया है। प्रायः सब में प्रेम का प्रारम्भ समान रूप से स्वप्न-दर्शन, गुणश्रवण, चित्रदर्शन या प्रथमदर्शन द्वारा हुआ है और उसका अन्त विवाह में हुआ है। विवाह के पहले या उपरान्त नायक नायिका के मार्ग में अनेक विघ्न-बाधायें भी आती है, युद्ध हुआ है अथवा समुद्र-यात्रा के समय जहाज डूब जाता है या कोई प्रतिनायक बाधा उपस्थित करता है। परन्तु अन्त में उनका मिलन होता है। किसी किसी काव्य में खल नायक या भ्रष्ट नायिका भी आयी है जो छल-कपट से अपरपक्ष को सत्यमार्ग से हटाकर पाप-पंक में गिराना चाहती है। हिन्दी के आदि और मध्यकालीन प्रबन्ध काव्यों में भी प्रेम, वीरता और वैराग्य की भावनाओं का समन्वय दिखलाई पड़ता है, यह अवश्य है कि युग की प्रमुख चेतना के अनुरूप प्रधानता इनमें से किसी एक की ही है।

(छ) इन चरितकाव्यों में शास्त्रीय महाकाव्यों की प्रबन्ध-रूढ़ियों का दृढ़तापूर्वक पालन नहीं किया गया है। प्रारम्भिक शास्त्रीय महाकाव्यों में संक्षेप में स्तुति और वस्तुनिर्देश के बाद सीधे कथा शुरू हो जाती है। किन्तु परवर्ती महाकाव्यों में सज्जन-प्रशंसा, दुर्जन-निन्दा और पूर्वकवि-प्रशंसा की पद्धति भी रूढ बन गई। चरितकाव्यों में इन रूढ़ियों के अतिरिक्त कुछ नई रूढियाँ भी आ गई हैं जैसे कवि का विनम्रता प्रदर्शन, संस्कृत में काव्य न लिखकर भाषा (लोकभाषा) में काव्य लिखने के लिये सफाई देना, राजा या अपने आश्रयदाता की प्रशंसा, काव्य लिखने का कारण और उससे रचनाकाल का निर्देश, अपने और अपने पूर्वजों अथवा अपने गुरुओं के बारे में लिखना आदि। इनमें से अनेक रूढ़ियाँ परवर्ती शास्त्रीय महाकाव्यों में भी मिलती हैं जिससे पता चलता है कि यह ह्रासोन्मुख सामन्ती समाज के कवियों की सामान्य प्रवृत्ति है। पूर्ववर्ती महाकाव्यों में कवियों ने अपना परिचय कहीं नहीं दिया है। आदिकालीन हिन्दी प्रबन्ध काव्यों में भी प्रस्तावना सम्बन्धी ये रूढ़ियाँ अपना ली गई हैं। संदेशरासक, कीर्तिलता, पृथ्वीराजरासो आदि में लम्बी लम्बी प्रस्तावनायें हैं। परवर्ती प्रबन्ध-काव्यों में भी इस रूढ़ि का बहुत अधिक व्यवहार हुआ है।

अपभ्रंश और हिन्दी के प्रबन्ध काव्यों में प्रयुक्त इन रूढ़ियों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा इस बात को और अधिक स्पष्टता के साथ समझा जा सकता है। कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं—

सज्जन-दुर्जन-चर्चा :—

इहु सज्जणलोयहु विणउ सिट्ठु । जो सुहि मज्झत्थु विसिट्ठु इट्ठु ॥
जो पुणु खलु खुड्डु अइट्ठ संगु । सो किं अब्भत्थिउ देइ अंगु ॥
परच्छिद्दसएहि वावारु जासु । गुणवन्तु कहि मि किं कोवि तासु ॥
णउ सक्कइ देखिवि परहो रिद्धि । णउ सहइ सउरिसहँ गुणपसिद्धि ॥

भविष्यतकहा १—३

रामचरितमानस में तुलसीदास ने भी खलों की वन्दना करते हुये इसी से मिलती जुलती बात कही है—

बहुरि वन्दि खलगन सतिभाए । जे विनु काज दाहिनेहु बाएँ ।
परहित हानि लाभ जिन्ह केरे । उजरे हरष विषाद बसेरे ।

× × ×

जे परदोष लखहिं सहसाखी । परहित घृत जिन्हके मन माखी ।
बन्दों खल जस सेष सरोषा । सहस बदन बरने पर दोषा ।
पुनि प्रनवों पृथुराज समाना । पर अघ सुनै सहसदस काना ।
छमिहहिं सज्जन मोर ढिठाई । सुनिहहिं वाल वचन मन लाई ।

पूर्वकवि-प्रशंसा—महापुराण (१-९) में पुष्पदन्त ने जिस तरह अकलंक, कपिल, कणाद, व्यास, पतंजलि, भारवि, भास, कालिदास, चतुर्मुख, स्वयंभु और श्रीहर्ष की प्रशंसा की है उसी तरह रासो में (१-१०) चन्द ने व्यास, शुकदेव, श्रीहर्ष, कालिदास, दंडमाली और जयदेव की अभ्यर्थना की है और अपने को पूर्व कवियों का उच्छिष्ट कथन करने वाला कहकर अपनी लघुता का प्रदर्शन किया है ।

गुरं सव्व कव्वी लहू चन्द कव्वो । जिनै दर्सियं देवि सा अंगहव्वी ।
कवी किन्ति किन्ती उकत्ती सुदिक्खी । तिनैकी उचिष्टी कवी चन्द भक्खी ।

(१-१०)

यह उक्ति पुष्पदंत के इस कथन से कितनी मिलती जुलती है—

णउ हउ होमि वियक्खणु ण मुणामि लक्खुणु छंदु देसिण वियाणामि ।
जा विरइय जयवंदहि आरि मुणिंदहि सा कह केम समाणमि ।

महापुराण (१-८)

आत्महीनता प्रकाशन—अपने काव्य को पूर्वकवियों का उच्छिष्ट तथा अपने को काव्य-प्रतिभा या काव्य-ज्ञान से हीन कहने की प्रवृत्ति अपभ्रंश और

हिन्दी के महाकाव्यों में समान रूप से पाई जाती है। संस्कृत में कालिदास आदि ने विनम्रता प्रदर्शन के लिए एकाध पंक्ति में इस प्रकार की बात कह दी थी किन्तु अपभ्रंश और हिन्दी में तो यह विनम्रता-प्रदर्शन की प्रवृत्ति इतनी बढ़ गई कि उसने व्यापक रूढ़ि का रूप धारण कर लिया और महाकाव्यों के रचयिताओं तक ने अपने को काव्य-ज्ञान, छन्द,, रस, अलकार आदि के ज्ञान से रहित कह डाला। 'पउमचरिउ' के रचयिता स्वयम्भु और तुलसी जैसे कवि अपने को काव्य-ज्ञान से अनभिज्ञ कहते हैं—

बुहयण सयंभु पइं विणतावइ। मइं सरिसउ अण्णु णाहि कुकइ।
वायरणु कयावि ण जाणियउ। णउ वित्ति सुत्तु वक्खाणियउ।
णउ पच्चाहारहो तत्ति किय। णउ सन्धिहे उप्परि बुद्धि थिय।
णउ णिसुअउ सत्त विहत्तियउ। छविहउ समास-पवुत्तियउ।

× × ×

णउ बूझिउ पिंगल पत्थारू। णउ भम्मह दण्डि अलंकारू। आदि
—पउमचरिउ (१–३)

इसी प्रकार तुलसी अपने को 'कवित विवेक' से हीन तथा अपने काव्य को सब गुणों से रहित तो कहते ही हैं, साथ ही स्वयं को कवि भी नहीं मानते--

कवित विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहौं लिखि कागद कोरे।
कवि न होउँ नहिं चतुर प्रवीनू। सकल कला सब विद्या हीनू।

आत्महीनता-प्रकाशन की इस रूढ़ि से परिचित न होने के कारण ही कुछ लोग तुलसी को धार्मिक या पौराणिक सिद्ध करने के लिए इन उक्तियों को बड़े विश्वास के साथ आधार बनाते है।

लोकभाषा में काव्य लिखने के लिये जफाई—किन्तु पूर्व कवियों ने सब-कुछ लिख दिया है तो क्या नये कवि कुछ लिखे ही नहीं? इस सम्बन्ध में अब्दुल रहमान और चन्दबरदाई की उक्तियाँ बिल्कुल समान है। सन्देशरासक में ११ छन्दों (प्रथम प्रक्रम — छन्द ७ से १७, में जिस तरह कवि अपने को लघु मानता हुआ भी काव्य-रचना करने का अधिकारी सिद्ध करता है, उसी तरह रासो (१—छन्द ४२ से ५०) में भी किया गया है; यहाँ तक कि दोनों की उक्तियाँ कहीं कही बिल्कुल एक ही हैं—

जइ भरह भाव छंदे णच्चइ णवरंग चंगिमा तरुणी।
ता किं गाम गहिल्ली ताली सद्दे ण णच्चइ।
—सन्देशरासक १—१५।

सत्त खने आवासं महिलानं मह सद्द नूपुरया ।
सतफल वज्जुन पयसा पव्वरियं नैव चालन्ति ।

—रासो १—४४ ।

इसी प्रकार स्वयंभु 'पउमचरिउ' में लिखते हैं कि पिंगल आदि तो नहीं जानता लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि अपना व्यवसाय (कविकर्म) छोड़ दूँ । संस्कृत-प्राकृत में नहीं तो लोक भाषा में तो काव्य (रड्डावद्ध कव्वु) की रचना करूँगा ।

ववसाउ तो वि णउ परिहरमि । वरि रड्डावद्ध कव्व करमि ।

(१ : ३ : ९)

तुलसी 'भाषा भनिति भोरि मति मोरी' कहने के बाद भी अपने लोक-भाषा-काव्य का महत्व इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—

भनिति भदेस वस्तु भल बरनी । रामकथा जग मंगल करनी ।

रामकथा के महत्व के कारण उनके काव्य को भी महत्व प्राप्त होगा, इसी विश्वास से वे लोकभाषा में काव्य की रचना कर रहे हैं—

जदपि कवित रस एकौ नाहीं । रामप्रताप प्रगट एहि माहीं ।
सोइ भरोस मोरे मन आवा । केहि न सुसंग बड़प्पनु पावा ।

(ज) पुराणों के प्रभावस्वरूप और धार्मिक प्रवृत्ति की प्रबलता के कारण स्तुति, मगल विनय, विनती आदि नामों से अनेक छोटे-छोटे जैन पौराणिक काव्य तो लिखे ही गये, प्रबन्धकाव्यों के भीतर भी इस काव्य-रूप को समाविष्ट कर लिया गया । जैनों द्वारा लिखे अपभ्रंश के चरित काव्यो में इस तरह के स्तोत्र, विनय आदि के छन्द है, मंगलाचरण में तो विनय, स्तोत्र आदि पहले से ही लिखे जाते थे । परवर्ती प्रबन्ध काव्यों के भीतर कोई भी अवसर उपस्थित होने पर इस तरह स्तोत्र और विनय लिखने की प्रवृत्ति इन्हीं आदिकालीन लघु स्तोत्र काव्यो के प्रभाव का परिणाम है । पृथ्वीराजरासो में प्रारम्भ में सभी देवताओं की वन्दना, बाद में दशावतार-चरित, विनय-मंगल आदि में यह रूढ़ि दिखलाई पड़ती है । रामचरितमानस में भी जगह जगह स्तुति-वन्दना तथा अन्य धार्मिक प्रसगों की बहुत अधिक योजना हुई है ।

(झ) अपभ्रंश के चरितकाव्यों की छन्द-योजना संस्कृत और प्राकृत से भिन्न प्रकार की है । अधिकांश चरितकाव्य कडवकबद्ध शैली में है । विश्वनाथ कविराज ने लिखा है कि अपभ्रश काव्यों में सर्ग की जगह 'कडवक' होते हैं किन्तु वस्तुतः कडवक सर्ग नहीं हैं । सर्गों की जगह तो अपभ्रंश काव्यों में सन्धियाँ होती हैं । कडवक वस्तुतः सन्धियो के खण्ड या उपसन्धि हैं अथवा

उसे गेय पदों के समान निश्चित संख्या में एक प्रकार के कुछ छन्दों का गुच्छ कहा जा सकता है जैसे गेय पद अथवा अंग्रेजी में स्टैंजा होता है। चरित-काव्य प्रायः गेय काव्य हैं और उनमें से अधिकांश का धार्मिक दृष्टि से गान या पाठ होता है। इसलिये उसमें कडवक या पद की शैली का अपनाया जाना स्वाभाविक है। चरित काव्यों में मात्रिक छन्दों का ही अधिक प्रयोग हुआ है, वर्णवृत्तों का कम। मात्रिक छन्दों में पज्झटिका, अडिल्ल, रड्डा, दुवई, घत्ता, वदनक, दोहा, सोरठा, पारणक, षटपदी आदि छन्दों का प्रयोग हुआ है। सन्धियों के प्रारम्भ में कोई भी छन्द ध्रुवक के रूप में होता है, उसके बाद प्रत्येक कडवक में एक छन्द की ६,८ या १० पंक्तियाँ होती हैं। ये छन्द तुकान्त पंक्ति युगल रूप में होते हैं। कडवक के अन्त में एक घत्ता होता है जो कई प्रकार के छंदों का होता है किन्तु प्रायः दो पंक्तियो का ही होता है। कभी कभी घत्ता की जगह चार चरणों या छः चरणों वाले छन्द होते हैं। इस तरह कडवकबद्ध शैली अपभ्रंश के चरितकाव्य की निजी विशेषता है जिसका अनुकरण रासो, रामचरितमानस तथा हिन्दी के प्रेमाख्यानक तथा अन्य चरितकाव्यों में किया गया है। चरितकाव्यों में घत्ता के रूप में षटपदी जाति के अनेक छन्दों का प्रयोग द्विपदी के रूप में हुआ है जिनमें प्रथम-द्वितीय, चतुर्थ-पंचम तथा तीसरे और छठे चरण समतुकान्त है। हिन्दी में 'रामचरितमानस' में घत्ता के दोहे के बाद हरगीतिका आदि छन्दों का प्रयोग इसी शैली का प्रभाव है। चरितकाव्यों में णेमिणाहचरिउ आद्यन्त रड्डा छन्द में है, कडवकबद्ध रूप में नही और वीर कवि का जम्बूस्वामीचरित विविध प्रकार के छन्दों से युक्त है। ये काव्य छन्द-योजना की दृष्टि से अपभ्रंश के चरित काव्यों के अपवाद माने जायेंगे।

युग का प्रभाव--किन्तु जैसा शुरू में कहा गया है, साहित्यिक परम्परा के रूप में अपभ्रंश की अधिकांश विशेषताओं और प्रबन्धरूढ़ियों को स्वीकार करते हुये भी मध्ययुग में लिखे गये हिन्दी के प्रबन्ध-काव्यों-विशेषरूप से महाकाव्यों—की कुछ अपनी निश्चित विशेषतायें भी हैं जो इन्हे अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्यों और महाकाव्यों से भिन्न श्रेणी का सिद्ध करती हैं। कम से कम महाकाव्य के सम्बन्ध में तो इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि पूर्ववर्ती परम्परा की अनुकृति मात्र से कोई भी काव्य महाकाव्य-पद का अधिकारी नही हो सकता और न उसका कवि ही महाकवि कहा जा सकता है। प्रतिभाशाली कवि पर उसके युग का प्रभाव निश्चित रूप से पड़ता है और उस युग की मूल चेतना की अभिव्यक्ति उसके काव्य में किसी न किसी रूप में

अवश्य होती है। कहने का अभिप्राय यह कि युग-चेतना का महाकाव्य के रूप-निर्माण में बहुत अधिक हाथ होता है। वैसे तो साहित्य के सभी रूपों पर तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों का किसी न किसी रूप में और किसी न किसी सीमा तक प्रभाव पड़ता है किन्तु महाकाव्य पर यह प्रभाव अधिक स्पष्ट प्रत्यक्ष और गहरा होता है। यही कारण है कि प्रत्येक युग के महाकाव्य में पूर्ववर्ती युगों की साहित्यिक परम्परा का ग्रहण होते हुए भी अपने युग की नई साहित्यिक और सांस्कृतिक परम्परा तथा नये जीवन-मूल्यों की छाप अधिक स्पष्ट और गहरे रूप में दिखलाई पड़ती है। अतः हिन्दी महाकाव्यों की विशेषताओं और उनकी मूल प्रवृत्तियों को समझने के लिए उनके साहित्यिक और सामाजिक परिवेश को समझना आवश्यक है।

वीर-युग और वीरता की भावना :—पहले अध्याय में विस्तार के साथ इस बात पर विचार किया जा चुका है कि प्रारम्भिक वीरयुग में महाकाव्य लोक की सम्पत्ति होता था और मौखिक रूप में गाथा-चक्रों से आगे बढ़कर वह महाकाव्य का रूप धारण कर लेता था। किन्तु विकासोन्मुख सामन्त-युग या विकसित वीरयुग में विकसनशील महाकाव्य के अनुकरण पर विशिष्ट कवियों द्वारा विशेष रूप से शिष्ट नागर वातावरण में अलंकृत काव्यों की रचना होने लगी। इस युग में दरबारों में पंडितों, विद्वानों और वाणी-विदग्ध कवियों का सम्मान होने लगा और सूत-मागध-वैतालिक वन्दीजन आदि का स्थान सामान्य कर्मचारियों के समान हीन कोटि का रह गया। यह भी कहा जा चुका है कि किसी समाज में वीरयुग एक ही बार नहीं, एक से अधिक बार भी आ सकता है। प्रथम बार वह प्रारम्भिक वीरयुग होता है, दूसरी बार सामन्ती वीरयुग और तीसरी बार राष्ट्रीय या क्रान्तिवादी वीरयुग। यह उत्साह के स्वरूप और उसकी परिस्थितिजन्य मूल चेतना से पहचाना जा सकता है कि वह उत्साह-भावना किस प्रकार के वीरयुग की देन है। प्रारम्भिक वीरयुग बर्बर युग की समाधि पर निर्मित नवीन सामाजिक व्यवस्था की देन है जिसमें व्यक्ति का बाहुबल ही अधिकार, शक्ति और नैतिकता का मानदण्ड होता है। सामन्ती वीरयुग में केन्द्रीय राज्यसत्ता के नष्ट हो जाने पर पड़ोसी राजाओं में राज्य और राजकन्या के हरण के लिए या मात्र प्रतिशोध की भावना से अकारण लड़ाइयाँ होती हैं। वीरता इस युग में सामन्ती वातावरण और विशिष्ट कुल या वंश के भीतर ही सीमित होकर रह जाती है जब कि प्रारम्भिक वीरयुग में वह समूचे समाज की सामान्य भावना होती थी। प्रारम्भिक वीरयुग में वीर पहले वीर होता था और अन्य कुछ बाद में; पर सामन्ती वीरयुग में वह राजा

या सामन्त पहले था, वीर बाद में। तात्पर्य यह कि सामन्ती वीरयुग में वीरता की प्रवृत्ति के साथ-साथ राज्यादि के लिए स्वार्थ की प्रवृत्ति का भी प्रमुख स्थान था। राष्ट्रीय या क्रान्तिवादी वीरयुग पूँजीवादी-साम्राज्यवादी शोषण के विरुद्ध होने वाले राष्ट्रीय आन्दोलनों और राजनीतिक क्रान्तियों के समय आता है। इस प्रकार की वीरता की भावना बिलकुल आधुनिक-काल की वस्तु है। इन तीनों ही वीरयुगों में परिवेश और ऐतिहासिक-सांस्कृतिक पीठिका की भिन्नता के कारण वीर-भावना का स्वरूप भी भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। प्रारम्भिक वीरयुग और उसमें विकसित महाकाव्यों—महाभारत और रामायण—के सम्बन्ध में पिछले अध्याय में विचार किया जा चुका है और यह भी कहा जा चुका है कि उसके बाद हर्षवर्द्धन तक का काल विकासोन्मुख सामन्त-युग या केन्द्रीय राज्यसत्ता का युग था जिसमें समग्र राष्ट्र की एक जातीय भावना तत्कालीन साहित्यकला में अभिव्यक्त हुई है। हर्षवर्द्धन के बाद सामन्तवाद ह्रासोन्मुख हो गया, केन्द्रीय राज्य-सत्ता नष्ट हो गई और सारा देश विभिन्न प्रान्तीय राज्यों में बँट गया जिनकी सीमा सदा अनिश्चित रहती थी। इस प्रकार सातवीं शताब्दी से ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गईं जिनमें दूसरे प्रकार का वीरयुग अर्थात् सामन्ती वीरयुग का प्रादुर्भाव होता है। हिन्दी साहित्य का बीज इसी युग में पड़ गया था।

सामन्ती वीरयुग—सामन्ती वीरयुग भारती इतिहास का पूर्वमध्य युग है। इसमें पुष्यभूति साम्राज्य के पतन के बाद सारा उत्तरी भारत प्रान्तीय राज्यों में बँट गया। उसी तरह दक्षिण में चालुक्य साम्राज्य के ह्रास के बाद दक्षिण भारत भी छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया। इस काल में भारत में राजपूतों की शक्ति का उदय और अरब में इस्लाम का प्रादुर्भाव, एक ही समय हुआ, और इन दोनों शक्तियों की मुठभेड़ से आठवीं से चौदहवीं शताब्दी तक के काल में भारतीय इतिहास में फिर दूसरी बार वीरयुग का उदय हुआ। सामन्ती वीर-युग की परिस्थितियाँ तो यहाँ केन्द्रीय राज्य शक्तियों के अभाव में अपने आप उत्पन्न हो गई थी पर अरब, तुर्क आदि विदेशी मुसलिम आक्रमणकारियों की शक्ति का प्रतिरोध करते रहने के कारण इस वीरता की भावना का पोषण और परिवर्द्धन हुआ। इस तरह सामन्ती वीरयुग के दो काल-पूर्ववर्ती और परवर्ती दिखाई पड़ते हैं। पूर्ववर्ती-वीरयुग ६५० ई० से १००० ई० तक का है और परवर्ती १००० ई० से १२०० ई० तक का। पूर्ववर्ती-वीरयुग में भारतीय राजा और सामन्त आपस में ही लड़ते भिड़ते रहे और परवर्ती काल में उन्हें मुसलमानों की बाहरी शक्ति का भी मुकाबला करना पड़ा। सामन्ती वीरयुग का

उत्कृष्ट रूप परवर्तीकाल अर्थात् १००० ई० से १४०० ई० का है और हिन्दी साहित्य का आदिकाल भी यही है।

भारतीय इतिहास में ६५० ई० से १००० ई० तक का काल भारतीय राजाओं के परस्पर युद्धों और प्रतिद्वन्दिता का काल है और १००० ई० के बाद की कई शताब्दियों तक का काल राजपूतों और मुसलमानों के सतत संघर्ष का काल है। ऐसी अराजकतापूर्ण और अनिश्चित राजनीतिक परिस्थिति का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि देश की समष्टिगत एकता की भावना, जो गुप्तकाल में सांस्कृतिक राष्ट्रीयता के रूप में हुई थी, इस काल में नष्ट हो गई। गुप्तकाल में गणतन्त्रों के प्रभाव-स्वरूप सामान्य जनता में राजनीतिक चेतना बनी रहती थी और प्रजा राजकाज में दिलचस्पी लेती थी, परन्तु इस काल में उत्तराधिकार के नियम और राजवंशों की स्थिति अनिश्चित होने के कारण व्यक्तिगत शक्ति और बाहुबल का बोलबाला हो गया जिससे राजा स्वेच्छाचारी और निरंकुश होने लगे, वीरता और युद्ध-कौशल में जो श्रेष्ठ होता था उसके आगे सबको झुकना पड़ता था। फलस्वरूप राजकाज में प्रजा का कोई हाथ या दिलचस्पी नहीं रह गई। स्वतंत्रता, राष्ट्रीयता और देशभक्ति की भावना का लोप हो गया और सामान्य जनता परावलम्बन, राज्य के प्रति उदासीनता और चाटुकारिता आदि का सहारा लेने लगी। इस काल में एक राज्य के भीतर कई प्रान्तीय शासक होते थे जो वस्तुतः अधीन सामन्त होते थे और उनकी प्रजा उन्हीं के प्रति भक्ति रखती थी। ये सामन्त, अवसर मिलते ही स्वतन्त्र होकर अपना राज्यविस्तार करने लग जाते थे। इन राजाओं और सामन्तों की राजधानियाँ कला-कौशल और साहित्यिक सक्रियता का केन्द्र होती थीं क्योंकि वे युद्धप्रिय वीर ही नहीं, साहित्य-प्रेमी और कला-विलासी भी होते थे। उनके दरबारों में वीरों, विद्वानों, कवियों और कलाकारों को सम्मान और आश्रय मिलता था और उनकी कृतियों को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया जाता था। इस काल के राजा-सामन्त ही नहीं, उनके मन्त्री या नगर के सेठ भी साहित्य-कला का प्रोत्साहन और संरक्षण करते थे। इस तरह उच्चवर्गीय साहित्य-कला शिष्ट नागर समाज की वस्तु बनकर सामान्य-जनता के जीवन से दूर हट गयी थी।

पूर्वमध्य-काल भारतीय संस्कृति और समाज के लिए भी एक संक्रान्ति और परिवर्तन का काल था। इस समय ब्राह्मण-धर्म का एक नई शक्ति के रूप में पुनरुत्थान हुआ जिसके फलस्वरूप बौद्ध धर्म तो विलुप्तप्राय ही हो गया, जैन धर्म भी धीरे-धीरे कुछ विशेष स्थानों में ही सिमट कर रह गया। इस काल की

प्रारम्भिक शताब्दियों में ब्राह्मण धर्म बहुत ही उदार और लचीला था, उसमें अन्य जातियों के लोगों को आसानी से खपा लिया जाता था। वर्ण-व्यवस्था भी अधिक संकीर्ण नहीं थी। विभिन्न जातियों के लोग बाहुबल का प्रदर्शन करके और ब्राह्मण धर्म को स्वीकार करके राजपूत बन जाते थे। शंकराचार्य ने बौद्ध धर्म के उच्च सिद्धान्तों को अपने धर्म और दर्शन में आत्मसात कर लिया और वैदिक धर्म की जगह धीरे-धीरे पौराणिक हिन्दू धर्म का उदय हुआ। दसवीं शताब्दी के बाद स्मृतियों और धर्मशास्त्रों का नियन्त्रण फिर कड़ा होता गया, राजा में देवत्व की स्थापना की गयी और ब्राह्मण मन्त्रियों या पुरोहितों की सहायता राज्य-शासन के लिए आवश्यक वस्तु हो गयी। इस तरह अन्ततोगत्वा सामन्ततन्त्र धर्म की सहायता से भारतीय शासन और समाज-व्यवस्था में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो गया। परिणामस्वरूप विचार और दर्शन के क्षेत्र में इस काल में कोई भी नवीन चेतना और उद्भावना नहीं दिखाई पड़ती। इसके विपरीत गतानुगतिकता, पिष्टपेषण, टीका-वार्तिक आदि द्वारा पूर्व सिद्धान्तों की व्याख्या, चिराचरित रूढ़ियों के पालन का आग्रह आदि बातें दसवीं शताब्दी के बाद के सामाजिक जीवन का प्रमुख लक्षण बन गयीं। मुसलमानों के आगमन के बाद सामाजिक रूढ़ियों और जाति-व्यवस्था के नियमों का और भी कड़ाई से पालन किया जाने लगा। सातवीं शताब्दी से ही बौद्ध धर्म पतनोन्मुख होकर वज्रयान और तंत्र-मार्ग के रूप में बदलने लगा। हिन्दू धर्म भी भक्ति की विविध धाराओं और सम्प्रदायों में विभक्त हो गया जिनमें वैष्णव, शैव और शाक्त प्रधान थे। शैव सम्प्रदाय में पाशुपत, कापालिक, अघोरपंथ और नाथपथ के विविध रूप इसी काल में दिखाई पड़ने लगे। दक्षिण में ग्यारहवी शताब्दी में वैष्णव सन्त और दार्शनिक रामानुजाचार्य का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने विशिष्टाद्वैत दर्शन और भक्ति-मार्ग का प्रवर्तन किया। काश्मीर में नव्य शैव या शैवागम दर्शन तथा कर्णाटक और महाराष्ट्र में लिंगायत मार्ग चले। जैन धर्म ने भी इस काल में हिन्दू धर्म के समान ही अवतारवाद और भक्ति का आश्रय लेकर तथा कर्मकाण्ड वाले संकीर्ण पौराणिक रास्ते को अपना कर अपने को रूढ़िवादी और अंधविश्वासी बना लिया। फिर भी उसमें अहिंसा और सामाजिक न्याय की भावना प्रबल थी और ब्राह्मण तथा बौद्ध धर्मों की तरह उसमें समाज विरोधी गुह्य साधना और वामाचार का प्रवेश नहीं हुआ। इससे इसे मध्यवर्गीय जनता में सम्मान मिलता रहा। जनता ने जैन धर्म को अधिक प्रश्रय नहीं दिया। फिर भी जैनधर्म को उच्च वर्ग—विशेष रूप से मंत्रियों, श्रेष्ठियों और वणिक् वर्ग—का आश्रय मिलता रहा। गुजरात और दक्षिण में कुछ राजाओं से भी जैन

धर्म को आश्रय और प्रोत्साहन मिला, किन्तु इस काल के राजाओं ने प्रधानतया ब्राह्मण-धर्म को ही प्रोत्साहन दिया।

पूर्व-मध्यकाल की राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों के उपर्युक्त विवेचन से हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—

१—भारतीय इतिहास के पूर्वमध्यकाल का पूर्वार्द्ध ह्रासोन्मुख सामन्त-युग था और उत्तरार्द्ध सामन्ती वीरता का युग, जिसमें वैयक्तिक शक्ति-प्रदर्शन और बाहुबल का सबसे अधिक महत्त्व था, राष्ट्रीय एकता की भावना का नहीं।

२—वीरता की भावना के बाद इस काल की दूसरी प्रमुख प्रवृत्ति धर्म की थी। इस युग के पूर्वार्द्ध में उसका रूप लचीला और शक्तिमान था किन्तु उत्तरार्द्ध में वह संकीर्ण और रूढ़िवादी बन गया।

३—इस काल की तीसरी प्रधान प्रवृत्ति सामन्ती विलास और शृङ्गारिकता की थी। राजा के निरंकुश और स्वेच्छाचारी हो जाने पर तथा बाहुबल को ही नैतिकता का मापदण्ड स्वीकृत कर लेने पर राजाओं के अनेक विवाह करने की बात में सन्देह करने का अवसर नहीं रह जाता है। इस काल में किसी राजकन्या के सौन्दर्य की प्रशंसा सुन कर उसके लिए युद्ध छेड़ देना आसान बात थी।

४—इस काल की साहित्यिक क्रियाशीलता और कला-प्रेम की प्रवृत्ति भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इस समय साहित्य की रचना या तो राज-दरबारों में रहने वाले कवियों द्वारा हुई या राजाओं के स्तुति गायक और वंशावली रचक चारण-भाटों द्वारा अथवा धर्म-भावना से प्रेरित कवियों द्वारा जो या तो मठों-मन्दिरों में धार्मिक सम्प्रदायों के आश्रय में रहते थे या सेठों और राजाओं के मन्त्रियों के आश्रय में। सामान्य जनता द्वारा रचित या प्रचारित साहित्य भी इस काल में अवश्य रहा पर उसका अत्यन्त परिवर्तित-परिवर्द्धित रूप ही मौखिक परम्परा में सुरक्षित रहकर आज उपलब्ध है।

सामन्ती वीरयुग का साहित्य :—

दसवीं से चौदहवीं शताब्दी के बीच हिन्दी भाषाभाषी क्षेत्रों तथा उसके चतुर्दिक प्रदेशों में लोकभाषाओं से अधिक संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में रचना होती थी। १००० ई० के बाद का लोकभाषाओं में रचित साहित्य भाषा की दृष्टि से अपभ्रंश से इतना निकट है कि उसे परवर्ती अपभ्रंश या अवहट्ट भी कहा जाता है। वस्तुतः इस काल में अपभ्रंश भाषा परिनिष्ठित होकर संस्कृत प्राकृत की तरह ही रूढ़ साहित्य-भाषा बन गई और लोकभाषा उससे दूर रहकर स्वच्छन्द गति से आगे बढ़ने लगी।

तत्कालीन राजदरबारों में सामान्यतया इन सभी भाषाओं में साहित्य-रचना करने वालों का सम्मान होता था पर संस्कृत के विद्वानों और कवियों की अब भी सर्वाधिक पूछ थी। इस समूचे काल में संस्कृत देश की संस्कृति और राजनीति की भाषा थी और धर्मग्रन्थ तथा अन्य विषयों के ग्रन्थ प्रधान रूप से संस्कृत में ही लिखे जाते थे। राजकीय कागज-पत्र, प्रशस्ति, दानपत्र आदि भी प्रमुखतः संस्कृत में ही लिखे जाते थे। साहित्य और शास्त्र की जो धारा संस्कृत में गुप्तकाल में प्रारम्भ हुई थी वह इस काल में अजस्र रूप से और अधिक वेग के साथ प्रवाहित होती रही, यद्यपि उसका रूप बहुत कुछ परिवर्तित हो गया था। इस काल के राजदरबारों के आश्रय में रहकर ही भवभूति, वाक्पतिराज, राजशेखर, क्षेमेन्द्र, कल्हण, विल्हण, मंखक, पद्मगुप्त, भट्टनारायण, श्रीहर्ष, हेमचन्द्र, सन्ध्याकर नन्दि, जयानक, कृष्णमिश्र आदि ने संस्कृत और प्राकृत में अपने काव्य, नाटक तथा शास्त्र-ग्रंथों की रचना की। इस काल के कुछ राजा भी संस्कृत और अपभ्रंश के अच्छे लेखक थे जिनमें वाक्पतिराज मुंज, भोज, वीसल देव (विग्रह राज) का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इतना होते हुए भी संस्कृत और प्राकृत का सम्बन्ध जनजीवन से विच्छिन्न हो गया था, वे राजदरबारों और पण्डितों की भाषायें हो गयीं थीं। उनमें या तो चमत्कार-प्रदर्शन और आडम्बरपूर्ण वर्णनों का प्राधान्य होता था या राजाओं की प्रशस्ति और अतिशयोक्तिपूर्ण गुनगान होता था। बाणभट्ट के हर्षचरित से आश्रयदाता राजाओं के नाम पर चरितकाव्य लिखने की जो परिपाटी चली उसने इस काल में अधिक जोर पकड़ा। वाक्पतिराज का गउडवहो, पद्मगुप्त (परिमल) का नवसाहसांक चरित, विल्हण का विक्रमांकदेवचरित, हेमचन्द्र का कुमारपालचरित, सन्ध्याकर नन्दि का 'रामचरित', सोमेश्वर की कीर्त्ति-कौमुदी, अरि सिंह का सुकृतसंकीर्तन, जयसिंह सूरि का वस्तुपालचरित, जयसिंह का हम्मीरमदमर्दन, जयानक का पृथ्वीराजविजय, नयचन्द्रसूरि का हम्मीरमहाकाव्य, आनन्दभट्ट का बल्लालचरित, सोमदेव का ललित-विग्रहराज नाटक, गंगाधर पंडित का मण्डलीक-महाकाव्य, और विद्यापति की कीर्तिलता तथा कीर्तिपताका आदि काव्य और नाटक ग्रन्थ इसी सामन्ती प्रशस्ति-गान की प्रवृत्ति के परिणाम हैं। इन काव्यों के सम्बन्ध में पिछले अध्याय में विचार किया जा चुका है और यह भी कहा जा चुका है कि सामन्त-काल में साहित्य का सम्मान करने में राजा-सामन्तों का उद्देश्य केवल साहित्य को प्रोत्साहित करना ही नहीं बल्कि अपनी कीर्ति को स्थायी बनाना भी था। कवियों की भी यही धारणा बन गई थी राजाओं का यशोगान करके उन्हें अमर बना देना ही उनके काव्य का लक्ष्य है। इसी आशय से विल्हण ने

विक्रमांकदेव चरित के प्रथम सर्ग में लिखा है कि राजाओं को कवियों पर कोप नहीं, उनका आदर करना चाहिए क्योंकि यह एकमात्र वाल्मीकि के काव्य का ही फल था कि रावण का यश तो संकुचित हो गया और राम आज भी यशस्वी समझे जाते हैं[1]। इस तरह सामन्ती वीर-युग में साहित्य भी धीरे-धीरे सामन्तों के यश-विस्तार और वैभव-प्रदर्शन का एक प्रमुख साधन बन गया।

यशःगान और प्रशस्ति की यह प्रवृत्ति संस्कृत और प्राकृत के कवियों तक ही सीमित नहीं थी। अपभ्रंश और लोक-भाषा के कवियों में भी यह वर्तमान थी। यह युग की प्रमुख प्रवृत्ति थी। ऊपर कहा जा चुका है कि इस युग में व्यापक राष्ट्रीय एकता की भावना और सांस्कृतिक समग्रता की प्रवृत्ति लुप्त हो चली थी और उनकी जगह चाटुकारिता, स्वार्थपरता, वंशगत या एकदेशीय स्वातन्त्र्य प्रेम ने ले लिया था। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इस काल में वीरता की भावना भी नष्ट हो गई थी। इसके विपरीत इस युग में वीरता की भावना और भी प्रबल हो उठी थी। राजनीतिक परिस्थितियाँ ऐसी थीं जिनमें सामन्तों और राजाओं को युद्ध करने और मरने-मारने के लिए हर घड़ी तैयार रहना पड़ता था। राजपूतों की जाति एक तरह से पेशेवर लड़ाकू जाति बन गयी थी। राजपूत बच्चों को प्रारम्भ से ही निर्भीकता और आन पर मर मिटने की शिक्षा दी जाती थी। इस तरह युद्ध करना राजाओं-सामन्तों और राज्याश्रित सरदारों-सैनिकों का स्वभाव ही नहीं बन गया था, यह उनके अस्तित्व के लिए एक अनिवार्य कर्तव्य भी हो गया था। ऐसी स्थिति में उन्हें प्रोत्साहित करने, वीर भावना उत्पन्न करने और यश अमर करने वाले कवियों की भी आवश्यकता थी। राहुल सांकृत्यायन ने इस सम्बन्ध में लिखा है—

"हमारी इन पाँच सदियों में सामन्त वस्तुतः निर्भय वीर होते थे, उनकी देश-विजयों के बारे में कवि अतिशयोक्ति भले ही कर सकता है, लेकिन शरीर पर तीरों और तलवारों के घावों के चिह्नों के बारे में अतिरंजना की जरूरत नहीं थी। ऐसे समाज के लिए वीर रस की कवितायें बिलकुल स्वाभाविक हैं।"

हिन्दी काव्यधारा—अवतरणिका पृ० २९।

इस तरह सामन्ती वीर-युग की प्रमुख प्रवृत्ति वीरता की थी और इसी के परिणामस्वरूप सभी भाषाओं में प्रशस्तिमूलक ऐतिहासिक, अर्द्धऐतिहासिक और

१—"लंकापतेः संकुचितं यशो यद् यत्कीर्तिपात्रं रघुराजपुत्रः।
स सर्व एवादिकवेः प्रभावो न कोपनीयाः कवयः क्षितीन्द्रैः॥

विक्रमांकदेव-चरित १–२७।

कथात्मक (रोमांचक) वीर-काव्यों की रचना हुई। संस्कृत की अलंकृत काव्य-परम्परा में वीररस के लिए अधिक अवकाश नहीं था। अतः इस काल में प्रशस्तिमूलक संस्कृत महाकाव्यों या प्रबन्धकाव्यों में ऐतिहासिक इतिवृत्त, अतिशयोक्तिपूर्ण रोमांचकता, अतिरञ्जित विषय-वस्तु वर्णन और काव्यगत चमत्कार और सौंदर्य जितना अधिक था, उतना वीरता का झनझनाता वर्णन और उत्तेजक वातावरण का उत्साह और उल्लास पूर्ण चित्रण नहीं था। इस आवश्यकता की पूर्ति अवहट्ट और लोकभाषाओं के काव्य द्वारा ही हो सकती थी। कारण यह था कि एक तो राजाओं, सरदारों और सैनिकों की ये अपनी भाषायें थी, दूसरे इन भाषाओं के कवि रणक्षेत्र में भी उनका साथ देते, उन्हें प्रोत्साहित करते और स्वयं लड़ते-मरते थे। लोकभाषा के कवियों के सिर पर न तो पाण्डित्य और रूढ़िबद्ध परम्परा का बोझ था, न कृत्रिम भाषा शैली का साधन। वे अपनी सहज वीरतापरक भावनाओ और साक्षात अनुभूत तथ्यों का सरल, बोधगम्य और जीवन्त भाषा में वर्णन करते और आवश्यकता के अनुरूप उद्बोधनपूर्ण शैली और लोक-प्रचलित वीररसोपयुक्त छन्दों द्वारा वीरों को प्रोत्साहित करते थे। अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशस्ति उनके काव्यों में भी होती थी, पर उनका काव्य यथार्थ जीवन से उतना दूर नहीं होता था जितने संस्कृत के काव्य।

चारण-भाटों का उदय :—

इसका परिणाम यह हुआ कि पूर्वमध्यकाल के उत्तरार्द्ध में राजदरबारों में लोकभाषा के कवियों का प्रवेश ही नही हुआ, उनका सम्मान भी बढ़ने लगा। यह देखकर संस्कृत के पण्डित कवियों ने भी लोकभाषाओं में काव्य-रचना प्रारम्भ की। कुछ तो बहुभाषा-ज्ञान का प्रदर्शन करने के लिए और कुछ लोकभाषा के कवियों की प्रतिद्वन्द्विता में टिके रहने के लिए इस ओर झुके। संस्कृत के विद्वानों और कवियों को लोकभाषा के कवियों—विशेषकर चारण-भाटों—का आदर होते देख कर ईर्ष्या भी अवश्य हुई होगी जैसा मुरारी कवि के इस पद्य से स्पष्ट प्रतीत होता है—

> चर्चाभिश्चारणानां क्षितिरमण परां प्राप्य समोदलीलां
> मा कीर्तेः सौविदल्लानवगणय कविप्राप्तवाणीविलासान्।
> गीतं ख्यातं न नाम्ना किमपिरघुपतेरद्य यावत्प्रसादा-
> द्वाल्मीकेरेव धात्रीं धवलपति यशोमुद्रया रामभद्रः[1]।

---

[1] हरिकवि कृत सुभाषित हारावलि—(सुभाषित संग्रह)
पीटर्सन—दूसरी रिपोर्ट पृ० ५७–६४।

इसमें कवि ने राजा से निवेदन किया है कि हे राजन! चारणों की चर्चा से प्रसन्न होकर आप्त कवियों (संस्कृत प्राकृत के कवियो) की कविता का अनादर मत कीजिये क्योंकि कवि ही यशरूपी नायिका के रखवाले या उसे लाकर राजाओं से मिलाने वाले होते हैं। रामचन्द्र के यश की छाप पृथ्वो पर आदि कवि वाल्मीकि के काव्य के कारण ही बनी हुई है, किसी चारण के गीत या ख्यात के कारण नहीं।

मुरारी कवि का काल निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का अनुमान है कि यह अनर्घराघव नाटक के कर्ता मुरारी कवि भी हो सकते हैं जो आठवीं-नवीं शताब्दी में हुए थे। यदि यह अनुमान सच हो तो यह मानना पड़ेगा कि आठवी-नवीं शताब्दी से ही चारण-भाट लोकभाषाओं में प्रशस्तिमूलक काव्य रचना करके राजदरबारों में सम्मान पाने लगे थे। सातवीं शताब्दी से ही सामन्ती वीरयुग प्रारम्भ हो गया था, अतः दो सौ वर्षों में युद्ध-गीतों के गायक चारणों-भाटो का होना कोई असम्भव या आश्चर्य की बात नहीं है। ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में मुंज और भोज के दरबार में तो लोकभाषा तथा जन-साधारण के बीच में कवियों का सम्मान होने ही लगा था। जयानक कवि के पृथ्वीराजविजय के अनुसार पृथ्वीराज के दरबार में पृथ्वीभट्ट नाम का एक कवि था। पृथ्वीराज रासो में चन्द वरदाई को भट्ट या भाट तो कहा ही गया है, गोरी के राजकवि माधोभट्ट की भी विस्तृत चर्चा हुई है। इस तरह इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि सातवीं से बारहवीं शताब्दी के बीच चारण-भाटों का उदय हो चुका था जो तत्कालीन लोकभाषाओं में प्रशस्ति-मूलक काव्य-रचना करते थे। बाद की शताब्दियों से तो चारणों-भाटों का इति-हास और उनकी रचनायें भी मिलने लगती है। इन चारण-भाटों का काव्य वस्तुतः संस्कृत प्राकृत के प्रशस्तिमूलक ऐतिहासिक चरित-काव्यों की परम्परा का ही बढ़ाव या विकास है। उनकी फुटकल रचनाओ, व गीतों ख्यातों और रासो नामक चरित-काव्यों में सामन्ती वीर-युग की सभी प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। भाषा की नवीनता, उल्लसित भावों की जीवन्तता, तीव्र तथा उत्कट वीर-भावना की अभिव्यक्ति और सशक्त श्रृङ्गारिकता और प्रेम-भावना के चित्रण के कारग उनकी कविता सचमुच ही वीर-गाथा कही जाने योग्य है। उसे झूठी प्रशंसा चाटुकारिता या स्वार्थपूर्ति का साधन बता कर टाल देना उसके साथ अन्याय करना होगा।

इस प्रकार हिन्दी साहित्य के आदिकाल में साहित्य की भाषा और भावनाओं में परिवर्तन के साथ नये प्रकार के कवियों का भी उदय हुआ।

दरबारों में विद्वान ब्राह्मण कवियों की जगह अब चारण-भाट रहने लगे। परम्परा से भी यह बात मानी जाती है जैसा इस प्रसिद्ध छन्द से स्पष्ट है:—

ब्राह्मग के मुख की कविता कछु भाट लई कछु चारण लीन्हीं।

पिछले अध्याय में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के महाकाव्यों पर विचार करते हुये कहा जा चुका है कि उनमें विशुद्ध वीरकाव्य तो कोई नहीं है किन्तु प्रशस्तिमूलक ऐतिहासिक और रोमाञ्चक शैली के महाकाव्य अवश्य है। हिन्दी में आकर हम एक नई दुनिया में पहुँच जाते हैं जहाँ प्रशस्तिमूलक काव्यों की चार श्रेणियाँ दिखलाई पड़ती हैं। वे ये हैं:—१—प्रशस्तिमूलक वीरकाव्य २—ऐतिहासिक-वर्णनात्मक काव्य ३—प्रशस्तिमूलक रोमाञ्चक श्रृङ्गार या प्रेम का काव्य ४—प्रशस्तिमूलक धार्मिक काव्य। इनके अतिरिक्त ५—विशुद्ध पौराणिक और धार्मिक काव्य और ६—निजन्धरी तथा काल्पनिक रोमांचक काव्य भी संस्कृत प्राकृत और अपभ्रश के कथात्मक और पौराणिक काव्य की परम्परा के विकास के रूप में मिलते है।

आदिकाल के प्रशस्तिमूलक प्रबन्धकाव्यों में ग्रन्थ आते हैं:—

१. प्रशस्तिमूलक वर्णनात्मक ऐतिहासिक काव्यः—कीर्तिलता
२ प्रशस्तिमूलक रोमाञ्चक प्रेम काव्यः—वीसलदेव रासो
३. प्रशस्तिमूलक धार्मिक काव्यः—क. संघसमरारास ख.कुमारपाल प्रतिबोध
४. प्रशस्तिमूलक वीरकाव्यः—

क पृथ्वीराजरासो
ख. आल्हखण्ड
ग. रणमलछन्द
घ. विजयपालरासो

इनके अतिरिक्त इस काल के दो प्रकार के प्रबन्धकाव्य और मिलते हैं। वे ये हैं:

१. निजन्धरी और कल्पित रोमाञ्चक प्रेमाख्यान:—क. ढोलामारू रा दूहा ख. संदेशरासक, सदेवन्त सावलिंगा की कथा, नलदमयन्ती, विद्याविलास आदि लोक-कथायें।

२. धार्मिक-पौराणिक लघु चरितकाव्यः—क. स्थूलभद्द रासु ख. भरतेश्वर बाहुबलिरास ग. जम्बूस्वामीचरिउ आदि।

प्रशस्तिमूलक वर्णनात्मक ऐतिहासिक काव्य तथा रोमांचक प्रेम काव्य...

कीर्तिलता बिल्कुल उसी तरह का ऐतिहासिक चरितकाव्य है जिस तरह के विक्रमांकदेवचरित, पृथ्वीराजविजय सुकृतसंकीर्तन आदि है। इसमें राजा-

इसलिए है कि ऐतिहासिक नायक को लेकर लिखा गया वह हिन्दी का प्रथम प्रेमाख्यानक काव्य है।

प्रशस्तिमूलक धार्मिक काव्य—

सामन्ती वीरयुग में राजाओं, मन्त्रियों और सेठ सामन्तों में धार्मिक भावना प्रबल थी और वे धार्मिक सम्प्रदायों, साधुओं और धर्म-गुरुओं का संरक्षण भी करते थे। चालुक्य राजा कुमारपाल (जिसके बारे में कहा जाता है कि हेमचन्द्र सूरि की प्रेरणा से जैन हो गया था) के समय में जैन धर्म और साहित्य का बहुत उत्कर्ष हुआ था। उसके मंत्री वस्तुपाल और तेजपाल भी जैन थे, वे जैन-धर्म के संरक्षक और जैन तीर्थों के उद्धारक थे। उसी तरह मान्यखेट के कई राष्ट्रकूट राजा भी जैनधर्म के पोषक थे। अपभ्रंश के महाकवि पुष्पदन्त राष्ट्रकूट कृष्ण के मन्त्री भरत और नन्द के आश्रित थे। मध्यदेश के राजा अधिकतर शैव थे, चौहानों के कुलदेवता श्री हर्ष महादेव और गुलिलोतों के एकलिंग थे। चन्देल, गहडवार और परमार भी शैवधर्म के पोषक थे। चेदि के कलचुरी राजा परम शैव से और उनके राज्य में पाशुपत मत के कालामुख सम्प्रदाय का बहुत प्रचार था। पूर्व में गौड़ देश के पाल राजा बौद्धधर्म के सहजयान सम्प्रदाय के संरक्षक थे। पूर्वी बंगाल के सेन राजा वैदिक मतानुयायी और ब्राह्मण धर्म के पक्के पोषक थे। इस प्रकार समस्त भारत में विविध धार्मिक मतमतान्तर और संप्रदाय बिखरे थे और राजाओं द्वारा उन्हें प्रोत्साहन मिलता था। जो राजा, सेठ या मन्त्री विशेष धार्मिक थे उनकी प्रशस्ति में धार्मिक काव्य भी रचे गये। कुमारपाल के लिए शिक्षा या उपदेश के रूप में जैन साधु सोमप्रभ सूरि ने कुमारपाल-प्रतिबोध की रचना की जिसका एक अंश परवर्ती अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी में लिखा गया है। गुजरात में जैनधर्म का अधिक जोर था, अतः वहाँ के मन्त्रियों–वस्तुपाल, तेजपाल–के धार्मिक कार्यों का उल्लेख करते हुए प्रशस्ति-काव्य लिखे गये। जैन तीर्थ रेवन्तगिरि के उद्धारकर्ता समरसेठ के सम्बन्ध में अम्बदेव सूरि ने पुरानी हिन्दी में संघसमरासु लिखा। यह 'रास' या नृत्य गीत के रूप में गाने के लिए लिखा गया था जैसा कवि ने इस लघु प्रबन्धकाव्य के प्रारम्भ में ही कहा है :

> लेउ देवालउमाहि वइठहु ए संघपति संघ साहिउ
> लहरि लागइ आगासि प्रवहणु ए जाइ विमाण जिमि
> जलवट नाटक जोइ नवरंग ए रास लवुडारस।

रस नामक काव्य-रूप का प्रचार इस काल में खूब हो गया था पर उस समय तक रास नामक काव्यरूप केवल चरितकाव्यों के लिए ही सीमित नहीं था

धार्मिक उपदेश सम्बन्धी काव्यों के नाम भी रास होते थे। इस सम्बन्ध में अगले अध्याय में विशेषरूप से विचार किया जायगा। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि धार्मिक राजाओं, मंत्रियों और सेठो की प्रशस्ति में इस काल में धार्मिक काव्य लिखने की प्रथा थी और उनके सम्बन्ध में या तो प्रशस्ति-ग्रंथ लिखे जाते थे या धार्मिक कवि अपने काव्य-ग्रंथों में प्रारम्भ या अन्त में उनकी प्रशंसा करते हुये लिख देते थे कि उन्हीं की प्रेरणा से यह काव्य लिखा जा रहा है। धीरे-धीरे लौकिक प्रबन्ध काव्यों में भी धार्मिक रंग अधिक आने लगा और भक्तिकाल में लौकिक काव्य या 'पुरिस कहानी' लिखने की प्रथा बहुत कम हो गई।

प्रशस्तिमूलक वीरकाव्य—

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, हिन्दी साहित्य का आदिकाल सामन्ती वीर युग था। उसके पीछे प्रारम्भिक वीरयुग (महाभारत-रामायण काल) विकासोन्मुख सामन्तयुग (संस्कृत काव्य-काल) और ह्रासोन्मुख सामन्त-युग (हर्षोत्तर-काल) की सुदीर्घ सांस्कृतिक, सामाजिक और साहित्यिक परम्परा थी और सामने अचिन्त्य कठिनाइयाँ, खतरे और अनिश्चित भविष्य था। ऐसा काल संक्रान्ति या परिवर्तन का काल होता है जिसमें एक ओर पुराने संस्कार सामाजिक जीवन को अधिकाधिक जकड़ने का प्रयत्न करते हैं तो दूसरी ओर स्वच्छन्द जीवनी शक्ति और नवीन मार्गों पर चलने की तीव्र मनोवृत्ति उसे आकर्षित करती है। पिछले अध्याय में दिखाया जा चुका है कि किस प्रकार इस युग में शिष्ट साहित्य, जो अधिकतर संस्कृत भाषा में निर्मित हुआ, रूढ़िबद्ध और आडम्बरपूर्ण हो गया था। इसके विपरीत लोक-प्रवृत्तियों और शासक वर्ग की वीरता और प्रेम की मनोवृत्तियों की अभिव्यक्ति लोकभाषाओं अपभ्रंश—अवहट्ट और पुरानी हिन्दी—में होने लगी। इस धारा के साहित्य में जीवन्तता और विद्रोह की भावना थी। चारण-भाटों तथा वीर राजाओं-सामन्तों के आश्रित अन्य लोकोन्मुख कवियों में रूढ़िबद्धता, गतानुगतिकता और आडम्बर-वृत्ति उतनी नहीं थी जितनी सहजता, वीरोल्लास, अनगढ़पन और सादगी। भाषा, छन्द, शैली और भाव-धारा सब में इस धारा की कविता लोकाश्रित अधिक थी, परम्पराश्रित कम। अपभ्रंश भाषा के कवियों ने लोकजीवन और लोकविश्वासों से सामग्री लेकर, धार्मिक दृष्टि से ही सही, जो साहित्यिक परम्परा स्थापित कर दी थी, हिन्दी के प्राचीनतम काव्य में उसका पर्याप्त उपयोग किया गया। फिर भी प्रशस्तिमूलक वीरकाव्य की रचना हिन्दी की निजी विशेषता है। अपभ्रंश के दोहा—साहित्य में वीर-शृङ्गार काव्य अवश्य अधिक मिलता है पर वह भी सातवीं शताब्दी के बाद का ही है जब कि वीरयुग का बीजवपन हो गया था। प्रशस्तिमूलक वीर-काव्य में कवियों

ने, राजाओं का अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशस्तिगान ही नहीं गाया है, उन्हें साहस, उत्साह, शक्ति और वीरोचित कार्यों के लिए प्रेरणा भी दी है। उनका यह काव्य राजा-सामन्तों में ही नहीं, सामान्य जनता में भी वीरता की भावना और उमग जाग्रत करता रहा है। यह इसी से स्पष्ट है कि पृथ्वीराजरासो राजस्थान में और आल्हखंड समस्त मध्यदेश में कई सौ वर्षों से इतने लोकप्रिय रहे हैं।

इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि इस युग में भी वीरता, प्रेम, और धर्म-भावना इन तीन प्रमुख प्रवृत्तियों में वीरता की प्रवृत्ति ही प्रमुख थी और वह वीरता सामन्त वर्ग, विशेषकर निरंकुश राजपूत वीरों, में विशेष रूप से थी। अतः सामन्ती प्रेम और शृङ्गार की प्रवृत्ति भी उस वीरभावना के आवश्यक अंग के रूप में लगी-लिपटी थी। यह युग प्रारम्भिक वीरयुग जैसा नहीं था जिसमें वैयक्तिक शौर्य-प्रदर्शन के लिये या आत्माभिमान पर ठेस लगने से ही द्वन्द्वयुद्ध हो जाता था। इस युग में अपने राज्य की रक्षा या दूसरे का राज्य छीनने के लिए अथवा कन्या-हरण और धन लूटने के लिए युद्ध होते थे। पराजित राजा का नगर, धन-धान्य और राज्य लूटे जाने का तो इतिहास साक्षी है, एक राजा के अनेक विवाहों के भी प्रमाण मिलते हैं। कवियों ने सम्भावना पर जोर दिया है और राजकन्या का रूप-गुण सुन कर नायकों द्वारा उस कन्या के हरण या उसके पिता से युद्ध का विधान भी अपने काव्यों में किया है। यूरोप में आठवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक का जो सान्मती वीरयुग था उसमें भी वीर-काव्य की यही प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। वस्तुतः सामन्ती वीरयुग की विशेषता है कि उसमें लोक-जीवन और लौकिक काव्य में वीरता और प्रेम की प्रवृत्तियाँ अनिवार्य रूप से साथ-साथ रहती है। अतः इस युग की स्फुट कविताओं में उद्दाम प्रेम और प्रचण्ड वीरता तथा दर्प का चित्रण तो हुआ ही है, जैसा हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण तथा प्रबन्ध-चिन्तामणि आदि ग्रंथों के दोहों में दिखाई पड़ता है, साथ ही प्रबन्धात्मक वीर-काव्यों में भी वीरता और शृङ्गारिकता की साथ-साथ अभिव्यक्ति हुई है। ये दोनो परस्पर विरोधी नही बल्कि पूरक प्रवृत्तियों के रूप में दिखाई पड़ते है और इसीसे इस काव्य में शास्त्रीयता और पाण्डित्य-प्रदर्शन की जगह रोमांचक स्वच्छन्दता का दर्शन होता है। साथ ही धार्मिक प्रवृत्ति के कारण पौराणिकता से भी उनका पल्ला नहीं छूटा है। इस तरह इस काल के प्रबन्ध काव्यों में ऐतिहासिक, रोमांचक और पौराणिक तीनों ही शैलियों का मिश्रण दिखाई पड़ता है।

१००० ई० से १४००ई० के बीच के लम्बे काल में प्रशस्तिमूलक प्रबन्धात्मक वीर-काव्य बहुत लिखे गये होंगे। उस काल की प्रवृत्ति और परिस्थिति को

देखते हुए यह अनुमान करना स्वाभाविक है। पर दुर्भाग्य वश उस काल की रचनायें-विशेष रूप से राज्याश्रित लौकिक काव्य-सुरक्षित नहीं रह सकीं, अतः आज उनमें से बहुत कम उपलब्ध हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उस काल की प्रवृत्ति को ही ध्यान में रखकर कुछ सदिग्ध और अधिकतर नाम मात्र ही से ज्ञात प्रबन्धात्मक वीर-काव्यों के आधार पर उस काल का नाम वीरगाथा-काल रख दिया था। बाद में डा० रामकुमार वर्मा ने अपने 'हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' में इस काल को चारण-काल और राहुल सांकृत्यायन ने 'हिन्दी काव्यधारा' में इसे सिद्ध-सामन्त-युग कहा। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस काल में लिखित माने जाने वाले वीरगाथा-काव्यों के सम्बन्ध में अबतक के शोधों का उपयोग करते हुए कहा है कि 'यह स्पष्ट है कि जिन ग्रन्थों के आधार पर इस काल का नाम वीरगाथाकाल रखा गया है उनमें से कुछ 'नोटिस' मात्र से बहुत अधिक महत्वपूर्ण नहीं, और कुछ या तो पीछे की रचनायें हैं या पहले की रचनाओं के विकृत रूप हैं'[1]। द्विवेदी जी का यह मत कि इस युग का नाम 'वीरगाथाकाल' उपयुक्त नहीं है, सही होने पर भी इस काल के माने जाने वाले काव्यों का महत्व नहीं कम हो जाता और न 'नोटिस' रूप में ज्ञात ग्रन्थों की खोज का कार्य ही समाप्त कर देने की आवश्यकता है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, 'प्राकृतपैंगलम' में प्राप्त प्रशस्ति मूलक वीररस के छन्दों को देखकर यह अवश्य प्रतीत होता है कि ये किन्हीं प्रबन्ध काव्यों के अंश हैं। शारंगधर का 'हम्मीररासो' और भट्ट केदार-मधुकर कवि के जयचन्द्र-प्रकाश और जयमयक-जसचन्द्रिका नामक काव्य आज उपलब्ध नहीं हैं पर हम्मीररासो के परम्परा से प्रसिद्ध होने और अन्य दो ग्रन्थों का 'राठौड़ा री ख्यात' नामक प्राचीन ग्रन्थ में उल्लेख होने के कारण यह अनुमान करना स्वाभाविक है कि सम्भवतः प्राकृतपैंगलम् के उपर्युक्त छन्द इन्हीं काव्यों से लिए गये हों। पर इसका कोई प्रमाण न होने से यह अनुमान मात्र है। अतः आदिकाल के प्रबन्धात्मक वीर-काव्यों की परम्परा पर विचार करते समय इनका कोई महत्व नहीं है। खुम्माणरासो के बारे में तो अब निश्चित-सा हो गया है कि वह सत्रहवीं शताब्दी के दौलतविजय नामक जैन साधु द्वारा महाराज संग्राम सिंह द्वितीय के समय में लिखा गया काव्य है और सिसौदिया राजाओं की वंशगत उपाधि 'खुम्माण' होने के कारण इस वंशावली जैसे काव्य का नाम खुमाणरासो पड़ा है। पं० मोतीलाल मेनारिया के अनुसार

---

१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० १६, १७ स०—१६५२।

यह मेवाड़ का काव्यमय इतिहास है जिसे पूर्ववर्ती ग्रंथ राणारासो से भिन्न रखने के लिये उसी अर्थ का व्यंजक खुमाण रासो नाम दिया गया और इसके कवि दौलतविजय नामक साधु थे जिन्होंने सं० १७६७ से १७९० के बीच कभी इसकी रचना की[1]। अतः 'खुमाण रासो' आदिकाल के भीतर विचारणीय नहीं है। इस प्रकार इस काल के प्राप्त होने वाले प्रशस्तिमूलक वीर-काव्य केवल ये हैं...

१. पृथ्वीराजरासो
२. आल्हखंड
३. रणमल्लछन्द
४. विजयपालरासो

इनमें से पृथ्वीराजरासो और आल्हखंड विकसनशील महाकाव्य हैं, अतः उनके संबंध में अगले अध्याय में विचार किया जायगा। शेष दोनों लघु काव्य हैं और लिखित रूप में पहले ही उनका रूप स्थिर हो चुका है। रणमल्लछन्द चौदहवी शताब्दी के अन्तिम भाग में १३९७ ई० के आसपास श्रीधर नामक कवि का लिखा है। इसमें गुजरात के ईडर के राठौड़ राणा रणमल्ल के पाटण के सूबेदार जफर खाँ के साथ युद्ध और उनकी विजय का बहुत ही ओजपूर्ण शैली में तत्कालीन काव्य-भाषा डिंगल में वर्णन किया गया है। काव्य आद्यन्त वीररस से ओतप्रोत है और तत्कालीन वीर-काव्य की प्रवृत्ति का पूर्ण प्रतिनिधित्व करता है। गुजरात के विद्वान मौ० सैयद अबूजफर नदवी ने इस काव्य का ऐतिहासिक दृष्टि से मूल्यांकन करते हुए इसकी ऐतिहासिकता सिद्ध की है[2]। अतः भाषा और वीर-भावना की अभिव्यक्ति की तत्कालीन प्रवृत्ति का परिचय देने वाला यह एकमात्र असन्दिग्ध ग्रंथ हैं। दूसरा ग्रंथ नल्लसिंह भाट का विजयपालरासो है जिसका रचना-काल मिश्रबन्धुओं ने १२९८ ई० माना है पर यह भाषा की दृष्टि से और भी परवर्ती काल का प्रतीत होता है। इसकी कथा ग्यारहवीं शताब्दी की है जिसमें करौली के यदुवंशी राजा विजयपाल के पंग के साथ युद्ध का वर्णन है। ऐतिहासिक दृष्टि से इसमें भी अतिशयोक्तिपूर्ण कथन है पर वीररस की इसमें अच्छी योजना हुई है। ग्रंथ का कुछ ही अंश प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में डा० हजारी प्रसाद

---

१. पं० मोतीलाल मेनारिया—'खुमाणरासो'--नागरी प्रचारिणी पत्रिका-पृ० ५०, ५६—सं० २००६--वर्ष ५७।

२. मौलाना सैयद अबूजफर नदवी—'रणमल्ल छन्दनी ऐतिहासिक समालोचनाः—गुजरातीः प्रकाशक, गुजरात वर्नाक्यूलर सोसायटी, अहमदाबाद.

द्विवेदी का कहना है कि 'इसकी भाषा और शैली पर विचार करने से मालूम होता है कि इसकी रचना बहुत बाद में हुई होगी[1]।

रोमांचक प्रेमाख्यानक काव्य :—

संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के रोमांचक महाकाव्यों पर पिछले अध्याय में विचार करते हुए कहा जा चुका है कि इनमें लोककथा-लोकगाथा की सभी प्रवृत्तियाँ अपना ली गयी हैं। इसका अर्थ यह है कि इस युग का साहित्य अधिकाधिक लोकोन्मुख होता गया। लोकभाषाओं में रचित साहित्य में इन प्रवृत्तियों का मिलना तो और भी स्वाभाविक है। बृहत्कथा से रोमांचक कथाओं की जो पद्धति प्रारम्भ हुई वह कथा-आख्यायिकाओं और पौराणिक रोमांचक महाकाव्यों में प्रशस्त रूप में गृहीत हुई। अपभ्रंश साहित्य में इस काव्य-धारा का और भी अधिक विस्तार हुआ। हिन्दी साहित्य के आदिकाल में लोकभाषाओं में इस प्रकार के काव्यों का अधिक प्रचलन अवश्य रहा होगा पर संरक्षण के अभाव तथा अधिकतर लिखित रूप में न रहने के कारण उनका तत्कालीन रूप आज प्राप्त नहीं है। इस समय का लिखा एक रोमांचक प्रेमाख्यान काव्य 'सन्देशरासक' अवश्य उपलब्ध है। यद्यपि उसे पूर्णतः हिन्दी का काव्य नहीं कहा जा सकता पर उसकी भाषा परिनिष्ठित या क्लासिकल अपभ्रंश नहीं बल्कि पुरानी हिन्दी से मिलती जुलती बोधगम्य अपभ्रंश भाषा है। उस काल में जनता के बीच अनेक प्रेम कहानियाँ प्रचलित थीं जिनका प्रभाव इस काव्य पर पड़ा है। जायसी ने पद्मावत में जिस प्रकार कई पूर्व-प्रचलित प्रेम-कथाओं की परम्परा की चर्चा की है उसी तरह अब्दुल रहमान ने भी पथिक के मुख से अपने नगर मुलतान का वर्णन कराते हुए वहाँ की लोककथाओं और रासक, नाटक आदि मनोरंजन के साधनों का वर्णन इस प्रकार किया :—

कह व ठाइ चउवेइहि वेउ पयासियइ
कह बहुरूवि णिबद्धउ रासउ भासियइ।
कह व ठाइ सुदयवच्छ कत्थ व नलचरिउ
कत्थ व विविह विणोइह भारहु उच्चरिउ।
कह व ठाइ आसीसिय चाइहि दयवरिहि
रामायणु अहिणवियअइ कत्थविकय वरिहि।

संदेशरासक ४३,४४।

(कहीं चारों वेद जानने वाले पाठ कर रहे हैं। कहीं अनेक रूप धारण करने वाले बहुरूपिये या बहुरूप धारण करने वाले अभिनेताओं द्वारा रासक

१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'हिन्दी साहित्य', पृ० ५५, आगरा १९५२

पाठ हो रहा है, कहीं सदयवत्स और नल की कथा कही जा रही है, कहीं विविध विनोद के साथ महाभारत की कथा हो रही है और कहीं त्यागी विद्वान रामायण की कथा कहते हैं)

इससे प्रकट है कि अब्दुल रहमान के समय में (द्विवेदी जी के मत से ग्यारहवीं शताब्दी—मुनि जिन विजय जी के मत से १२ वीं का अन्त, तेरहवीं का आदि) रामायण-महाभारत के समान नल चरित और सदयवत्स की कथा आदि प्रेमाख्यानक लोककथा-लोकगाथाओं का भी प्रचार था। अतः उन कथाओं को नवोदित लोकभाषा साहित्य में अवश्य अपनाया गया होगा जैसा अपभ्रंश के काव्यों में किया गया था और परवर्ती हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यों में बाद में किया गया। उस काल के रोमांचक प्रेमाख्यानक काव्य या तो लोक-कंठ में सुरक्षित रहकर भाषा और कथानक में नितान्त परिवर्तित रूप में आज उपलब्ध हैं या संरक्षण के अभाव में नष्ट हो गये हैं। बाबू सत्यजीवन वर्मा ने इस सम्बन्ध में लिखा है, "यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि विक्रमीय १४ वीं शताब्दी में कुछ छोटे मोटे आख्यानों का प्रचार अवश्य था जिनका पीछे से लोप हो गया।" लिखित रूप में अवहट्ट काव्य सन्देश-रासक ही प्राप्त है। तत्कालीन लोकभाषा के दो प्रेमाख्यानक काव्य आज प्राप्त हैं जो सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में बदले हुए रूप में लिपिबद्ध किये गये। इस तरह इस काल के जो प्रेमाख्यानक काव्य आज किसी न किसी रूप में हमें प्राप्त है, वे ये हैं :—

१. सन्देशरासक
२. ढोला मारू रा दूहा
३. नेमिनाथ चउपई
४. तत्कालीन लोक कथायें जैसे

सदयवत्स-सावलिंगा (सारंगा सदाबृक्ष या सदयवत्स की कथा)।

ये सभी भिन्न प्रकार के काव्य हैं। 'सन्देशरासक' ग्राम्य अपभ्रंश भाषा में पूर्ववर्ती साहित्यिक परम्परा और भावधारा को अपना कर लिखा गया मेघदूत के ढंग का सन्देश काव्य है। उसमें कथावस्तु नहीं के बराबर है, भावनाओं का सौन्दर्य, रूप और नखशिखवर्णन, ऋतु-वर्णन तथा विरह की विविध मनोदशाओं का चित्रण इसकी विशेषता है और इस दृष्टि से यह वर्णनात्मक आख्यानक काव्य नहीं, भावनात्मक खंड-काव्य है जिसमें मेघदूत के समान गीतात्मक प्रबन्धत्व है। सन्देशरासक पूर्ववर्ती शास्त्रीय काव्य-परम्परा और

तत्कालीन लोक-प्रचलित प्रेमाख्यानक काव्य-परम्परा के बीच की कड़ी है। आख्यानक काव्य से अधिक वह स्वच्छन्द प्रेम-काव्य है जिसमें अलंकार और वर्णनविधि तो परम्परागत तथा रूढ़ हैं पर प्रेम की विदग्धता अत्यन्त स्वाभाविक और लोकभाव-भूमि पर आधारित है। परवर्ती सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों की विरह-वेदना का प्रारम्भिक रूप सन्देशरासक में दिखाई पड़ता है। पद्मावत में नागमती का वियोग-वर्णन सन्देशरासक के विरह-वर्णन से तुलनीय है।

ढोला मारू रा दूहा :—सन्देशरासक एक नागर कवि की यत्नसाध्य कृति है किन्तु उसकी भाव-धारा इन प्रेमाख्यानक लोकगाथाओं की ही है जिनकी चर्चा (सदयवत्सचरित की) अब्दुल रहमान ने की है। पिछले अध्याय में कहा जा चुका है कि कथा-आख्यायिका तथा परवर्ती रोमांचक काव्य लोककथाओं-लोकगाथाओं के आधार पर निर्मित हुए। लोककथा लोकगाथा के रूप-निर्माण, विकास और शिष्ट साहित्य पर उनके प्रभाव के सम्बन्ध में पहले अध्याय में विचार किया जा चुका है, यहाँ उसे दुहराने की आवश्यकता नहीं है। लोकगाथायें या तो लोक-कवियों द्वारा कथा के रूप में गाने के लिए निर्मित होती हैं और मौखिक रूप में कालक्रम से रूप बदलती रहती हैं या किसी विशेष कवि का काव्य अपनी चरम लोकप्रियता के कारण लोक-कंठ में बस कर लोकगाथा का रूप धारण कर लेता है। प्रारम्भिक वीर युग में इन्हीं गाथाओं के चक्र से महाकाव्य बन जाते थे। विकासोन्मुख सामन्त युग और अन्य परवर्ती युगों में कुछ लोकोन्मुख कवि इन्हीं लोकगाथाओं की कथावस्तु और भावधारा को लेकर आख्यानक काव्यों की रचना करने लगते हैं। हिन्दी में लोरिकायन, राजा भरथरी, कुँवरसिंह, विजयमल, सारंगासदावृक्ष आदि प्रथम प्रकार की लोकगाथायें हैं जो युग-युग के लोक कवियों की सामूहिक रचना है। दूसरे प्रकार की लोकगाथायें आल्हखंड, ढोला मारू रा दूहा आदि हैं जो प्रारम्भ में विशिष्ट कवियों द्वारा निर्मित हुईं पर लोकप्रिय होकर लोक-कंठ में बस गईं और अपना मूल रूप खो बैठीं। तीसरे प्रकार के काव्य लोक-कथाओं के आधार पर उनके साहित्यिक रूपान्तर के रूप में रचे गये हैं। हिन्दी के अधिकतर प्रेमाख्यानक काव्य ऐसे ही हैं। कथावस्तु की दृष्टि से प्रेमाख्यानक काव्य चार प्रकार के होते हैं।

१. जिनमें कथावस्तु अत्यन्त अल्प या क्षीण होती है, भावात्मकता और वस्तुवर्णन ही अधिक होता है।

२. जिनमें कथावस्तु तो होती है पर वह बिल्कुल काल्पनिक या उत्पाद्य

होती है, कवि आधुनिक उपन्यासों के ढंग पर कथानक का ढाँचा स्वयं खड़ा करता है।

३. जिनमें कथावस्तु लोककथाओं-लोकगाथाओं से ग्रहण की जाती हैं; कवि उनका रूपान्तर मात्र करता है।

४. जिनमें कथावस्तु का कुछ अंश इतिहास या पुराण की घटनाओं और व्यक्तियों से सम्बद्ध होता है पर शेष बातें कवि या तो स्वयं कल्पित कर लेता है या लोक-प्रचलित कल्पित या निजन्धरी कथाओं से ग्रहण करके अर्द्ध ऐतिहासिक-अर्द्धपौराणिक काव्य क रचना करता है।

विवेच्य काल के प्रेमाख्यानक काव्यों में पहले प्रकार का काव्य सन्देश—रासक है, दूसरे प्रकार का काव्य एक भी नही है, तीसरे प्रकार के काव्य सदयवत्स, सावलिंगा, चन्द्रावन आदि है, और चौथे प्रकार के काव्य बीसलदेव रासो, ढोला मारू रा दूहा और नेमिनाथ चउपई है।

'ढोला मारू रा दूहा' और बीसलदेवरासो, दोनों में ही कथानक बहुत कम है, परन्तु दोनों में प्रधान अंतर यह है बीसलदेवरासो की कथा वर्णनात्मक ढंग से धाराप्रवाह एक ही छन्द में कही गयी है और ढोला मारू रा दूहा मुक्त प्रबन्ध काव्य है अर्थात् उसके दोहे अलग-अलग भी काव्य-सौन्दर्य और उक्ति चमत्कार की दृष्टि से स्वतंत्र प्रतीत होते हैं, परन्तु एक साथ मिलकर वे प्रबन्ध काव्य का रूप धारण कर लेते हैं। ढोला मारू की कथा सदियों से राजस्थान की प्रिय लोकगाथा रही है ये और ढाढ़ी जाति ने इसके विकास में सर्वाधिक योग दिया है। प्रारम्भ में यह सामूहिक लोकगीत रहा होगा। पर बाद में चारण भाँट ढोली-ढाली दमामी आदि पेशेवर गाने वालो ने इसे विकसित-विवर्द्धित किया और ढोली-ढाली जाति के लोग आज भी इसे विकृत रूप में गा-गा कर जीविकोपार्जन करते हैं। अतः वर्तमान समय में यह विकसनशील रोमांचक काव्य का रूप धारण कर चुका है। यह ग्रन्थ सम्पादित होकर प्रकाशित हो चुका है और इसके सम्पादकों का अनुमान है कि इसकी रचना मूल रूप में दोहों में सं० १४५० के पहले किसी समय ढोली-ढाढ़ी जाति के किसी कवि द्वारा हुई होगी क्योकि कथा का मूल आधार ऐतिहासिक है और उसका नायक संवत् १००० ई० के आसपास का ऐतिहासिक व्यक्ति है। सोलहवीं शताब्दी तक ढोलामारू काव्य के दोहे छिन्न-भिन्न होने लगे थे अतः कुशललाभ नामक जैन कवि ने टूटे कथासूत्र को बीच-बीच में चौपाइयाँ रख कर जोड़ा और उस ग्रन्थ का नाम ढोलामारू-चउपई रखा। परन्तु दोहों वाली कथा भी अन्य स्थानों में प्रचलित रही यद्यपि भिन्न-भिन्न स्थानों में उसके

भिन्न-भिन्न रूपान्तर हो गये। इस तरह पंजाब से लेकर गुजरात तक सारे पश्चिमी भारत में यह प्रेम-गाथा लोक-प्रचलित रही है। अतः ढोला मारू रा दूहा सच्चे अर्थ में उत्कृष्ट लोकगाथा है। उसके निर्माण में कवि का विशेष कुशल हाथ अवश्य दिखलाई पडता है पर कई शताब्दियों के रूप-परिवर्तन के बाद इसके मूल कवि ने समुदाय में अपने को खो दिया है। अतः वर्तमान रूप में प्राप्त ढोला मारू रा दूहा, सामुदायिक कृतित्व है, किसी एक कवि की रचना नहीं।

यद्यपि यह काव्य सन्देशरासक के समान ही प्रेमाख्यानक काव्य है पर दोनों में भारी अन्तर यह है कि रासक में कथावस्तु अत्यन्त क्षीण है जबकि इस काव्य में कथा क्षीण होते हुये भी द्रुत वेग से आगे बढती है। कथा क्षीण होने का तात्पर्य यह है कि संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के रोमांचक काव्यों अथवा हिन्दी के परवर्ती प्रेमाख्यानक काव्यों की तरह इसका कथानक जटिल, घुमावदार और अत्यधिक घटना प्रधान नहीं है। इसकी कथा सरल है और स्वाभाविक ढंग से आगे बढ़ती है। फिर भी उसे आगे बढाने के लिए लोकगाथाओं और रोमांचक काव्यों की चिराचरित कथानक-रूढ़ियों का सहारा लिया गया है जैसे मालवणी द्वारा स्वप्न में प्रियदर्शन, मालवणी का तोता से प्रिय के पास सन्देश भेजना, प्रियामिलन के बाद घर लौटते समय ढोला के मार्ग की बाधाएँ जैसे सर्पदंश से प्रिया की मृत्यु, योगी-योगिनी द्वारा मंत्र-तंत्र से जीवित किया जाना उमरा सूमरा, के द्वारा लौटते समय बाधा डालना आदि। प्रेमाख्यानक काव्यों में सिंहल यात्रा या समुद्र-यात्रा का वर्णन और मार्ग में जहाज टूटने और काष्ठफलक के सहारे या किसी अलौकिक शक्ति की सहायता से प्राणरक्षा और अन्त में प्रेमी-युगल के मिलन का विधान बहुधा रहता है। ढोला मारू की कथा का पंजाब में जो रूपान्तर मिलता है उसमें सचमुच ही मालवणी को सिंहल द्वीप स्थित पिंगल नगर की राजकन्या बताया गया है और ढोला के वहाँ की यात्रा करनी पड़ी है। इस तरह किसी न किसी रूप में इस कथा में सिंहल-यात्रा की रूढ़ि भी आ गई है। विरह-वर्णन, ऋतुवर्णन और नखशिख वर्णन प्रेमाख्यानक काव्यों की प्रधान काव्य रूढ़ि हैं। वह भी इस काव्य में संयमित रूप में वर्तमान है। वैसे इसमें विषयवस्तु का इतना विस्तृत-वर्णन कहीं नहीं है जिससे कथा-प्रवाह, भावव्यञ्जना और रसात्मकता में बाधा उपस्थित हो। सन्देशरासक की सन्देश भेजने की पद्धति, जो प्रेमाख्यानक काव्यों में रूढ़ि के रूप में स्वीकृत हो गयी, इस काव्य में खूब अपनाई गई है। ढाढी, तोता, सौदागर और चारण इसमें सन्देश पहुँचाने का काम करते हैं। इस प्रकार इस काव्य में लोकगाथाओं और उनके अनुकरण या आधार पर रचित प्रेमाख्यानक काव्यों

की अनेक रूढ़ियों और प्रवृत्तियों का समावेश हुआ है। इन रूढ़ियों के अतिरिक्त प्रेम की जैसी मार्मिक व्यञ्जना और विरह की मनोदशाओं का जैसा सरल और हृदयस्पर्शी चित्रण इस काव्य में हुआ है वैसा इसके पूर्व के संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश के काव्य में बहुत कम दिखाई पड़ता है, हिन्दी के परवर्ती प्रेमाख्यानक काव्यों में वह अवश्य मिलता है। इस दृष्टि से भी हिन्दी के आदिकालीन काव्य में ढोला मारू रा दूहा का महत्वपूर्ण स्थान है।

नेमिनाथ चउपई—बारहमासा काव्य

आदिकाल में प्रबन्ध काव्य का एक ऐसा रूप विशेष प्रचलित हुआ जिसमें इतिहास-पुराण के व्यक्तियों के जीवन से सम्बन्धित किसी विशेष मार्मिक स्थल या घटना-वर्णन के प्रसंग में विविध प्रकार की मनोदशाओं और हृदय की अनुभूतियों की विवृत अभिव्यञ्जना रसात्मक पद्धति से हुई है। ये अत्यन्त लघु भावात्मक प्रबन्ध हैं और तत्कालीन लोक प्रचलित छन्दों और काव्यरूपों जैसे चउपई, रासा या रासो, फाग, चर्चरी, सन्धि, बारहमासा, चरित आदि नामों से लिखे गये हैं। इन्हें भाव-प्रबन्ध कहा जा सकता है। इनमें से कुछ भाव-प्रबन्ध प्रेमाख्यानक हैं जैसे विनयचन्द सूरि का नेमिनाथचउपई, एक अज्ञात कवि का नेमिनाथ-बारहमासा, समधर का नेमिनाथ-फागु, राजशेखर सूरि का नेमिनाथ फागु आदि। नेमिनाथ की पौराणिक कथा में प्रेम की विविध भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए अधिक स्थान है, इसीलिए जैन कवियों ने धर्म-भावना से प्रेरित हो कर भी युग की श्रृंगारिक प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति इन काव्यों में की है। नेमिनाथ का विवाह उग्रसेन की पुत्री राजुल देवी से होने वाला था। सारी तैयारी हो चुकी थी, नेमिनाथ विवाह करने जा रहे थे कि बहुत से पशु-पक्षी रास्ते में दिखाई पड़े। यह ज्ञात होने पर कि वे ब्याह में मांस भोज के लिए मारे जायेंगे, नेमिनाथ को विराग हो गया। वे ससुर के तोरण-द्वार से ही लौट कर रेवंत गिरि पर तप करने चले गये। राजुल देवी (राजमती) को इससे अत्यधिक दुख हुआ और वह भी जैन विहार में चली गयी। जैनपुराणों में इस घटना का उल्लेख भर कर दिया गया है। पुष्पदन्त ने परित्यक्ता राजुल देवी की मानसिक दशा का वर्णन महापुराण के ९९ वीं सन्धि के दूसरे कडवक में कुछ पंक्तियों में किया है। किन्तु परवर्ती जैन कवियों ने इस मार्मिक स्थल को श्रृंगार और वैराग्य के वर्णन के लिए सर्वाधिक उपयुक्त समझकर बहुत से भाव-प्रबन्ध लिखे। नेमिनाथचउपइ उनमें सर्वश्रेष्ठ है। ४० छन्दों के इस लघु काव्य की रचना विनयचन्द्र सूरि ने सं० १३२५ में की थी। प्रेम और श्रृङ्गार की भावव्यञ्जना का विषय कृष्णाश्रयी शाखा के

कवियों के लिए कृष्ण और राधा अथवा गोपियों का मिलन-विरह रहा। उसी तरह जैन कवियों ने कृष्ण के चचेरे भाई नेमिनाथ और राजुल के विवाह और विरह के प्रसंग को लेकर उक्त भावनाओं की मार्मिक व्यञ्जना की है। गौतम और यशोधरा की कथा से भी यह कथा अधिक मार्मिक है क्योंकि इसमें राजमती ने नेमिनाथ को देखा भी नहीं था, फिर भी वह पति रूप में उन्हें स्वीकृत कर चुकी थी। नेमिनाथचउपई में प्रकृति का चित्रण उद्दीपन रूप में हुआ है पर राजमती के हृदय की व्याकुलता और विरह-व्यथा की व्यञ्जना उद्दीपन-वर्णनों और अलंकारों से कहीं भी दबने नहीं पाई है। स्वाभाविक और लोकगृहीत उपमानों के कारण काव्य बड़ा सुन्दर और आकर्षक बन पड़ा है। राजमती सखियों से कहती है :—

श्रावणि सरवणि कडुए मेहु। गज्जइ विरहि रिझिज्जइ देहु।
विज्ज झबक्कइ रक्खसि जेंव। नेमिहि विणु सहि सहियइ केवि।

इसके उत्तर में सखी कहती है :—

सखो भणइ सामिणि मति झूरि। दुज्जण तण मनवांछित पूरि।
गयउ नेमि तउ विनठउ काइ। अछइ अनेरावरह सयाइ।

और इसके जवाब में राजमती कहती है :—

बोलइ राजुल तउ इह वयणु। नत्थि नेमि वर सम रयणु
धरइ तेजु गहगण सविताउ। गणणि न उग्गइ दिणवर जाउ।

इसी प्रकार सरस प्रश्नोत्तरों में यह लघु भाव-प्रबन्ध समाप्त हुआ है। इस काव्य की विशेषता यही है कि इसमें बारहमासे के रूप में और प्रश्नोत्तर-शैली में विरह की विविध दशाओं का वर्णन किया गया है। सन्देशरासक भी विप्रलम्भ शृङ्गार का ही काव्य है पर सन्देशरूप में है और उसमें ऋतुवर्णन है, बारह मासों क वर्णन नहीं। अतः प्रश्नोत्तर शैली और 'बारहमासा' काव्यरूप की दृष्टि से नेमिनाथचउपई का महत्व बहुत अधिक है। बीसलदेवरासो, नेमिनाथ-चउपई और उपर्युक्त अज्ञात कवि के नेमिनाथ बारहमासा द्वारा आदिकाल में बारहमासा के रूप में विरह-वर्णन की जो पद्धति प्रारम्भ हुई वह परवर्ती प्रबन्ध काव्यों में खूब अपनाई गई। पद्मावत में नागमती का वियोग-वर्णन बारहमासे के रूप में ही है।

लोककथाओं के साहित्यिक रूपान्तर :

लोककथाओं का साहित्यिक रूपान्तर अपभ्रंश में बहुत हुआ है। ऐसे काव्य पौराणिक या काल्पनिक रोमांचकथा वाले होते थे जिनके सम्बन्ध

में पिछले अध्याय में विचार किया जा चुका है। पुष्पदन्त का णायकुमार-चरिउ और धनपाल का 'भविसयत्त कहा' ऐसे ही पौराणिक प्रेमाख्यानक काव्य हैं। दसवीं शताब्दी के मूलराज सोलंकी के समकालीन मुनि श्रीचन्द्र का कथा-कोष भी छोटी-छोटी रोचक कथाओं का संकलन है। तेरहवीं शताब्दी का लक्खण का 'अणुवय-रयण-पईव' भी व्रत-निरूपण के निमित्त लोककथाओं के आधार पर निर्मित कथात्मक काव्य है। तात्पर्य यह कि अपभ्रंश और परवर्ती अवहट्ट में लोककथाओं के आधार पर कथात्मक काव्यों की खूब रचना होती थी जिनमें प्रेमाख्यानक काव्य भी होते थे। चौदहवीं शताब्दी के अन्त और पन्द्रहवीं के प्रारम्भ में उन लोक-कथाओं का लोकभाषाओं में भी साहित्यिक रूपान्तर होने लगा। श्री अगरचन्द नाहटा के अनुसार स० १४८५ में हीरानन्द सूरि रचित 'विद्याविलास-रास' लोक भाषा में रचित सर्वप्रथम लोक-कथा है[1]। किन्तु यदि मुल्ला दाउद के 'नूरक-चन्दा की प्रेम-कथा' (चन्दावन) को प्रामाणिक माना जाय तो चौदहवीं शताब्दी में ही सूफी ढंग के काल्पनिक प्रेमाख्यानक काव्य का प्रारम्भ मानना पड़ेगा और चन्दावन को ही इस प्रकार का प्रथम काव्य कहना पड़ेगा। 'नूरक-चन्दा की प्रेम-कथा' का रूप क्या है, यह ज्ञात नहीं है क्योंकि उपलब्ध ग्रन्थ न तो प्रकाशित है न किसी अधिकारी विद्वान् ने देखकर उसकी परीक्षा ही की है। पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस नाम का प्रेमाख्यानक काव्य जहाँगीर के समय में वर्तमान था और इस काव्य का उल्लेख करते हुये जहाँगीरकालीन इतिहासकार अलबदाऊनी ने अपने 'मुन्खुवत तवारीख' में लिखा है कि 'मुल्ला दाऊद ने चन्दावन नामक एक हिन्दी मसनवी में नूरक और चन्दा की प्रेम-कहानी बड़ी सजीव शैली में जूनाशाह के सम्मान में सन् १३७० के आसपास लिखी थी और वह काव्य हिन्दुस्तानी गायकों-भाटों के गीतों जैसा था जिसे गाने से जहाँगीर के समय में जनता बहुत प्रभावित होती थी[2]।' अलबदाऊनी के इस कथन से प्रतीत होता है कि वह मूलतः कोई लोककथा थी, जिसे अलाउद्दीन खिलजी के समय में वजीर जूनाशाह के सम्मान में मुल्ला दाऊद नामक कवि ने छन्दोबद्ध किया। अतः चन्दावन को भी लोककथा पर आधारित प्रेमकथा ही मानना चाहिए।

---

१. अगरचन्द नाहटा,—'लोककथा सम्बन्धी जैन साहित्य'—ना० प्र० पत्रिका वर्ष ५२ सं० २००४ पृ० ७।

२. डा० कमल कुलश्रेष्ठ के 'हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य' नामक पुस्तक के ६०, से उद्धृत।

पौराणिक-धार्मिक प्रबन्ध काव्य :

पिछले अध्याय में संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश के जिन पौराणिक शैली के धार्मिक काव्यों पर विचार किया गया है उनमें से बहुत से दसवीं शताब्दी के बाद के हैं और अधिकतर जैन कवियों के लिखे हुए हैं। इन काव्यों में लोक-परक बुद्धि का दर्शन तो अवश्य होता है किन्तु धार्मिक रूढ़िप्रियता और गतानुगतिकता उनमें इतनी अधिक है कि साहित्य का स्वतन्त्र स्वरूप उनमें निखर नहीं सका है यह भी कहा जा चुका है कि शुभकीर्ति, यशःकीर्ति, नयचन्द, रइधू आदि जैन कवि सोलहवीं शताब्दी तक, जब कि लोकभाषाओं—हिन्दी, गुजराती, मराठी, बंगला आदि—में सशक्त और प्रौढ़ साहित्य की रचना हो रही थी, धार्मिक भावना की प्रधानता के कारण अपभ्रंश में ही प्रबन्ध काव्य लिखते रहे। तुलसीदास के सामने भी रामचरितमानस लिखते समय यह संकोच अवश्य था कि लोक-भाषा में पौराणिक-धार्मिक काव्य लिखने पर पंडित-वर्ग असन्तुष्ट होगा या उसका आदर नहीं करेगा। जब सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में यह स्थिति थी तो पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्व तो पौराणिक-धार्मिक विषयों को लेकर हिन्दी में काव्य-रचना करने वाला या तो विद्रोही स्वभाव का कवि हो सकता था या धर्म-प्रचार के उद्देश्य को दृष्टि में रखकर ही ऐसा किया जा सकता था। नाथपन्थी और सिद्ध विद्रोही थे। उन्होंने तत्कालीन लोकभाषाओं में निर्भय होकर काव्य-रचना की। पर उन्होंने प्रबन्ध-काव्य नहीं लिखे। विद्यापति ने अवश्य लोकभाषा में भक्तिपरक काव्य लिखा पर पौराणिक-धार्मिक मनोवृत्ति उनके काव्य में कहीं नहीं झलकी। वे स्पष्टतः लौकिक और शृंगारिक भावना के कवि हैं। जैन कवियों में धार्मिक रूढ़ि-प्रियता अधिक थी, अतः उन्होंने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश को ही अधिकतर अपनाया। पर उनमें से कुछ ने १२ वीं शताब्दी के बाद लोकभाषा में धार्मिक काव्यों की रचना की। उन्होंने स्तुतिपरक, माहात्म्यमूलक, ऐतिहासिक, पौराणिक और प्रेमाख्यानक सभी प्रकार के काव्य लिखे पर उन सब में उनका धर्म प्रचारक या भक्त रूप ही प्रधान था। उदाहरण के लिए इस काल के जैन लोकभाषा काव्यों में रासो, फाग, चर्चरी, गीत आदि की अधिकता इसलिए है कि मन्दिरों में व्याख्यान के अवसर पर इन लोकप्रचलित काव्यरूपों में धार्मिक प्रवचन या गान होने से श्रावकों और सामान्य जनता में जैन धर्म का प्रचार होता था। जैन गुरुओं और मुनियों की कीर्ति के प्रचार के लिए गुर्वावली और गुरुओं की प्रशस्ति के काव्य लिखे गये। अतः साहित्यिक दृष्टि से इन काव्यों का अधिक मूल्य नहीं है। ये अधिकतर लघु काव्य भी इसीलिये हैं कि आसानी से उनका

प्रचार और गान हो सके। किन्तु हिन्दी के परवर्ती धार्मिक-पौराणिक प्रबन्ध काव्यों और महाकाव्यों का आदि रूप नहीं लघु काव्यों को ही मानना चाहिये क्योंकि उनमें कई तो लघु प्रबन्ध हैं ही, शेष काव्यरूपों को परवर्ती प्रबन्ध काव्यों, विशेष कर महाकाव्यों, में समेट लिया गया है। देवताओं का स्तवन पृथ्वीराजरासो और रामचरितमानस में जगह जगह मिलेगा। उन अंशों को यदि ग्रन्थ से निकाल भी दिया जाय तो काव्य के प्रबन्धत्व और सौन्दर्य में कोई कमी नहीं आवेगी। वस्तुतः तुलसी आदि कवियों ने उन्हें इसलिए रखा है कि पौराणिक शैली और धार्मिक विषय के वे अनिवार्य अंग हैं।

लोकभाषा हिन्दी में रचित तत्कालीन जैन प्रबन्ध काव्यों में जैन महापुरुषों और धार्मिक गुरुओं की जीवनी ही प्रधान-रूप से निबद्ध है उनमें भरतेश्वर बाहुबलि रास, सुभद्रा रास, स्थूलिभद्र रास, चन्दनबाला रास, शालिभद्र रास, पंच पांडव फाग, जम्बूसामि रास, मलयरेहारास, शालिभद्रमुनि का रास, नेमिनाथ रास, जिनचन्द्र सूरि वर्णन रास आदि प्रधान है। ये सभी लघु प्रबन्ध या लघु चरित काव्य हैं श्री अगरचन्द्र नाहटा के निबन्ध 'वीरगाथा काल का जैन भाषा साहित्य' और श्री कामताप्रसाद जैन के 'हिन्दी जैन साहित्य के संक्षिप्त इतिहास' में इन ग्रन्थों की सूचना और परिचय दिया गया है, और प्राचीन गुर्जर काव्य-संग्रह और 'भारतीयविद्या' में उनमें से कुछ ग्रन्थ पूरे प्रकाशित भी हुए हैं। इनसे यह ज्ञात होता है कि उस काल में लोकभाषा में लम्बे पौराणिक-धार्मिक काव्य लिखने की प्रथा नहीं प्रारम्भ हुई थी। ये सभी बीस से लेकर सौ-सवा सौ छन्दों के भीतर के काव्य हैं। अतः प्रबन्ध काव्य के सभी गुणों को उनमें खोजना व्यर्थ है। हिन्दी साहित्य के आदिकाल में रचे जाने के कारण ये काव्य परवर्ती प्रौढ़ एवं बृहत् प्रबन्ध काव्यों के अग्रदूत के रूप में अत्यन्त महत्वपूर्ण है और यहाँ वे इसी कारण विवेच्य भी समझे गये।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि लोकभाषा-साहित्य में प्रबन्ध काव्यों की अधिकता नहीं है। जो हैं भी वे प्रायः लघु प्रबन्ध काव्य हैं। उनमें ऐतिहासिक, पौराणिक और रोमांचक, इन तीनों शैलियों के काव्य हैं। वे सभी कथानक की दृष्टि से प्रारम्भिक अवस्था में हैं अर्थात् उनमें प्रबन्धकौशल का अभाव है। इसका कारण यह था कि कभी पुण्य-लाभ और धर्म-प्रचार, कभी जीविकोपार्जन और यश-लाभ और कभी कोरा मनोरञ्जन उन कवियों का उद्देश्य होता था। अलंकृत पद-योजना, भाव-लालित्य, वर्णन-सौन्दर्य और प्रबन्धकौशल द्वारा अपने काव्य को कल्पान्तरस्थायी बनाने की ओर उनका ध्यान कम था। उनके प्रबन्ध काव्यों में कथानक का क्रमिक विकास नहीं दिखाई पड़ता अर्थात्

कथानक में आदि, मध्य और अन्त की यत्नसाध्य संतुलित योजना कम हुई है। प्रबन्ध कौशल की कमी के कारण कथानक का कोई अंग अति स्फीत हो गया है तो कोई अति उपेक्षित। वस्तुतः प्रबन्ध-पटुता अलंकृत प्रबन्ध काव्यों में ही अधिक होती है। इस काल के काव्य या तो विकसनशील प्रेमाख्यानक और वीर-काव्य हैं या प्रशस्तिमूलक वर्णनात्मक प्रबन्ध-काव्य या इतिवृत्तात्मक पौराणिक लघु काव्य अथवा भावात्मक लघु प्रबन्ध-काव्य। अतः इनमें इन काव्य-शैलियों के पूर्ववर्ती प्रबन्ध काव्यों की बहुत सी रूढ़ियाँ अपनाई गयी हैं। परन्तु साथ ही उनमें अनेक नई काव्यरूढ़ियाँ भी आविष्कृत की गयी हैं। उदाहरणार्थ इस काल में लोकभाषा (परवर्ती अपभ्रंश, हिन्दी, गुजराती आदि) में निम्नलिखित काव्य रूपों और उनके नामों का प्रारम्भ हुआः—

(१) लोक-प्रचलित छन्दों के नाम पर आधारितः—चउपई, दूहा आदि; जैसे नेमिनाथ चउपई, ढोलामारू रा दूहा।

(२) लोक-प्रचलित नृत्य-गीतों के नाम पर आधारित— चच्चरी (चाँचर) रासक या रास आदि।

(३) लोक-प्रचलित ऋतु-काव्य—बारहमासा, फाग, धमाल, चौमासा आदि।

(४) स्तुति और मंगल वाचक—स्तुति, मंगल, विनती या विनय आदि।

(५) प्रशस्ति-व्यंजक नाम—वेलि, विजय, चन्द्रिका, पताका, लता, विलास, विनोद आदि।

(६) संख्या वाचक नाम—दशक, बीसी, पचीसी, बत्तीसी, चालीसा आदि।

(७) बारहखड़ी या वर्णमाला-काव्य—कक्क (शालिभद्र कक्क) मातृका (दूहा-मातृका) आदि।

इन काव्यरूपों का हिन्दी महाकाव्य के रूप-विकास में महत्त्वपूर्ण योग रहा है क्योंकि उनकी शैलियों और काव्य-रूढ़ियों को परवर्ती काल के प्रबन्ध-काव्यों में बहुत कुछ अपना लिया गया। इस सम्बन्ध में विशेष रूप से अगले अध्याय में यथास्थान विचार किया जायगा।

अब तक हिन्दी साहित्य के आदिकाल के काव्यों और प्रमुख प्रवृत्तियों पर विस्तार से विचार करने का उद्देश्य यह था कि हम इन काव्यरूपों और प्रमुख प्रवृत्तियों की पृष्ठभूमि में हिन्दी महाकाव्य के विकास के प्रारम्भिक स्वरूप को ठीक-ठीक समझ सकें, क्योंकि जैसा शुरू में कहा गया है, किसी युग के महाकाव्य में पूर्ववर्ती साहित्यिक परम्परा के साथ ही उस युग की नई साहित्यिक और सांस्कृतिक परम्परा तथा नये जीवन-मूल्यों का सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। अब तक के विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि

इस समय की राजनीतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक परिस्थितियाँ संक्रांतिशील थीं। ऐसा युग नवोदित लोकभाषाओं के अलंकृत महाकाव्य का युग नहीं होता। अलंकृत काव्य के लिये सुव्यवस्थित और विकसित भाषा तथा उनकी सुदीर्घ साहित्यिक परम्परा की आवश्यकता तो होती ही है, साथ ही यह भी आवश्यक होता है कि महाकाव्य के निर्माण के लिये उपयुक्त परिस्थितियाँ भी वर्तमान हों। वे परिस्थितियाँ है, राजनीतिक स्थिरता और शान्तिपूर्ण शासन, सुदृढ़ सामाजिक नियमन और उच्च आदर्शों से पूर्ण जीवन-विधि, राष्ट्रीय या जातीय इकाई की भावना और अतीत की सांस्कृतिक परम्परा से संतुलित सम्बन्ध। आदिकाल में इस प्रकार की परिस्थितियाँ वर्तमान नहीं थीं। संस्कृत में महाकाव्य रचना अवश्य हुई क्योंकि उसमें उस परम्परा के आधार पर महाकाव्य लिखे जाते थे, पर लोकभाषाओं का अभी उदय हो रहा था। अतः उनका रूप व्यवस्थित नही था, न उनकी कोई दीर्घ साहित्यिक परम्परा थी। इस काल में संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश में अलंकृत साहित्य लिखा जा रहा था पर वह अपनी ह्रासोन्मुख अवस्था में था। लोकभाषाओं का साहित्य उन ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियों को स्वीकार करके अपना स्वतन्त्र रूप नहीं निर्मित कर सकता था। उनमें साहित्य-निर्माण का जो प्रारम्भिक प्रयत्न हुआ उसमें संस्कृत प्राकृत-अपभ्रंश की ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियों को पूर्णतः नहीं ग्रहण किया गया बल्कि लोक-प्रचलित काव्यरूपों, परम्पराओं और विश्वासों को अधिक अपनाया गया। हिन्दी साहित्य का निर्माण चौदहवीं शताब्दी के बाद जिस धूमधाम और वेग से प्रारम्भ हुआ उसकी भूमिका आदिकाल के चार सौ वर्षों में ही तैयार हुई थी। महाकाव्य की भूमिका के रूप में विभिन्न प्रकार के लघु प्रबन्ध काव्यों की रचना का इस समय प्रारम्भ हो गया था जिसके द्वारा महाकाव्य का रूपतत्त्व निर्मित हुआ। बाद के महाकाव्यों में इन प्रबन्धकाव्यों की प्रायः अधिकांश विशेषताओं को समेट लिया गया।

इस काल की परिस्थितियों और साहित्यिक प्रवृत्तियों के विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि यद्यपि वीरता, धर्म और शृंगारिकता, ये तीनों ही प्रवृत्तियाँ इस काल के काव्य की प्रेरक शक्तियाँ थीं पर इनमें भी वीरता की प्रवृत्ति ही सर्वप्रमुख प्रेरक शक्ति थी और शृंगार उसका पूरक था। राजाओं, सामन्तों और सैनिक-वर्ग की जातियों में वीरता जीवन की आवश्यकता थी, उसके बिना उनका अस्तित्व नहीं टिक सकता था। किन्तु सामान्य जनता भी वीरता की भावना को महत्व देती थी। उसके हृदय में वीरपूजा की भावना बलवती थी यद्यपि रति की आदिम मनोवृत्ति का उसके हृदय में सबसे अधिक

स्थान था। इस तरह वीर-काव्य का क्षेत्र सामन्ती वातावरण और राजदरबार था तथा शृङ्गारिक प्रेमाख्यानक काव्य का क्षेत्र लोक हृदय। धार्मिक-काव्य सम्प्रदायों, साधुओं और भक्तों श्रावकों तक ही परिमित था, उसका क्षेत्र व्यापक नहीं था।

सामन्ती वीरयुग होने के कारण इस काल में लोकभाषाओं में शृंगार-मिश्रित वीर-गाथा अथवा शुद्ध शृङ्गारिक लोकगाथाओं के महाकाव्य रूप में विकसित होने का अधिक अवसर था। सामन्तवर्ग में वैयक्तिक वीरता की उत्कट भावना और उसके लिये अधिक से अधिक त्याग-बलिदान करने का प्रबल उत्साह और आदर्श वर्तमान था। सामान्य जनता के हृदय में भी वीर पुरुषों के लिये सम्मान और वीरपूजा की भावना होने के कारण-युद्ध-भूमि में वैयक्तिक रूप से शारीरिक शक्ति और युद्ध कौशल का प्रदर्शन करने वाला तथा मृत्युपर्यन्त असाधारण साहस, उत्साह और निर्भयता के साथ घोर कठिनाइयों और दुर्दान्त शत्रुओं से जूझता रहने वाला वीर पुरुष लोक-हृदय में सहज ही स्थान पा जाता था। उसकी वीरता और साहस की ख्याति दूर दूर के देशों में अतिरंजित होकर पहुँचती थी। और इस तरह उसके सम्बन्ध में नाना प्रकार की कल्पित कथायें गढ़ ली जाती थीं, इस प्रकार के वीर पुरुष मरणोपरान्त थोड़े ही दिनों में निजन्धरी व्यक्तियों को समान बन कर अपनी ऐतिहासिकता बहुत कुछ खो देते थे। सामन्ती वीरयुग के पूर्व के कालों में महाभारत के पात्र कृष्ण, पाण्डव तथा परवर्ती पार्श्वनाथ, बुद्ध, महावीर उदयन, विक्रमादित्य, सालवाहन प्रभृत महात्मा और धीर-वीर पुरुष जिस तरह अपनी ऐतिहासिकता खो कर लोक और शिष्ट साहित्य में निजन्धरी व्यक्तित्व बन गये थे, उसी तरह इस काल में गोरखनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, भरथरी, गोपीचन्द, भोज, वीसलदेव, पृथ्वीराज, आल्हा, उदल प्रभृत ऐतिहासिक पुरुषों के तप-त्याग, वीरता और आध्यात्मिक तथा शारीरिक शक्ति की ख्याति इतनी अधिक फैली और उनके सम्बन्ध में इतनी अधिक कहानियाँ प्रचलित हुईं कि वे अपनी ऐतिहासिकता खो बैठे; कालक्रम का सम्बन्ध उनसे सम्बन्धित घटनाओं के लिए अनिवार्य नहीं रहा। वे नाना प्रकार की वृत्तकथाओं, लोकगाथाओं और चारण-भाट-ढाढी आदि पेशेवर कवि-गायकों के प्रबन्ध काव्यों के नायक बने जिनमें उन्हें निजन्धरी व्यक्तियों की ऊँचाई तक पहुँचा दिया गया। चौदहवीं शताब्दी के अन्त तक लोक-कंठ में तथा चारण, भाट आदि कवियों की वंश-परम्परा में लिखित या मौखिक रूप में इस प्रकार के विकसनशील काव्यों का, जिनके नायक सामन्ती वीरयुग के ऐतिहासिक

व्यक्ति थे, प्रारम्भिक रूप निर्मित हो चुका था और सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी तक उनमें से कुछ ने विकसनशील साहित्यिक महाकाव्य अथवा विकसनशील लोकमहाकाव्य का रूप धारण कर लिया। इस तरह सामन्ती वीरयुग हिन्दी के विकसनशील महाकाव्यों के उदय का काल था, अलंकृत महाकाव्यों का नहीं। ऐसे विकसनशील महाकाव्य दो हैं और दोनों दो प्रकार के हैं। पृथ्वीराजरासो चारण-भाटों की वंशगत काव्य-परम्परा में और राजदरबारों के वातावरण में विकसित हुआ है और आल्हखंड को उत्तर-पश्चिम और मध्य भारत में जनता के गायकों और कवियों ने गा-गाकर विकसित किया है। तात्पर्य यह कि पृथ्वीराजरासो महाभारत के ढग का विकसनशील साहित्यिक महाकाव्य है और आल्हखंड विकसनशील लोक-महाकाव्य। पृथ्वीराजरासो का विकास बहुत पहले रुक गया और अब उसका रूप स्थिर हो चुका है जब कि आल्हखंड का विकास अब भी जारी है क्योंकि वह आज भी गाँव-गाँव में गाया जाता है। हिन्दी महाकाव्य के निर्माण की दृष्टि से आदिकाल के बाद का युग (पूर्वमध्ययुग) विशेष उपयुक्त था क्योंकि उस समय तक हिन्दी की एक साहित्यिक परम्परा बन चुकी थी। आदिकाल में जो काव्यरूप अपनी प्रारम्भिक अवस्था में थे, इस काल में उनका पूर्ण विकास हुआ और उनकी प्रमुख प्रवृत्तियों और विशेषताओं के आधार पर उनका स्वरूप भी स्थिर हो गया। जैसा कि ऊपर कहा गया है, अलंकृत महाकाव्य के लिए सुदृढ़ साहित्यिक-परम्परा और विकसित समृद्ध भाषा के साथ ही साथ राजनीतिक स्थिरता और शान्तिपूर्ण सुदृढ़ शासन की भी आवश्यकता होती है। भक्तिकाल में आकर आदिकालीन संक्रान्तिशील राजनीतिक स्थिति नहीं रह गई थी। इस समय तक सुदृढ़ और विस्तृत राज्य बन चुके थे। बाद में मुगल-काल में तो बहुत बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित हुए। फलस्वरूप राजनीतिक स्थिति की अनिश्चितता इस समय समाप्त हो गई थी। राजनीतिक स्थिरता, सुदृढ़ शासन और विस्तृत साम्राज्य के कारण पूर्वमध्यकाल में राष्ट्रीय एकता की भावना के साथ ही सांस्कृतिक चेतना के विकास का भी पूर्ण अवसर था। इस उपयुक्त राजनीतिक स्थिति के परिणामस्वरूप इस काल की कला और साहित्य में मानव पूर्णता के महान आदर्शों की प्रतिष्ठा हुई। भक्ति के व्यापक आन्दोलन के रूप में यह काल सांस्कृतिक पुनर्जागरण का भी काल था जिसमें भारतीय संस्कृति के विकसनशील तत्वों को युग के अनुरूप नये रूपों में ढालने का प्रयत्न किया गया। भक्ति-आन्दोलन के मूल में निहित आध्यात्मिक मानवतावादी आदर्शवाद की, मानव-पूर्णता के आदर्श और मानव-जीवन के चरम

लक्ष्य के रूप में, प्रतिष्ठा की गई। इस तरह इस काल के सांस्कृतिक व्यक्तियों ने समाज को मानवतावादी आदर्श के महत् उद्देश्य से अनुप्राणित करने के साथ ही साथ मानव की सांस्कृतिक चेतना को पूर्ण उद्बुद्ध करने का भी प्रयत्न किया। अतः लोक-कल्याण की भावना और मानव-जीवन को नये आदर्शों के आधार पर नये रूप में ढालने के महत् उद्देश्य को लेकर लिखे जाने वाले काव्यों में कुछ का महाकाव्य की ऊँचाई तक पहुँच जाना बिलकुल स्वाभाविक था। रामचरितमानस और पद्मावत इसी प्रकार के काव्य हैं।

यद्यपि इस काल के साहित्य का मूल प्रेरणा-स्रोत धर्म था किन्तु उसमें अपभ्रंश के जैन कवियों के पौराणिक-धार्मिक काव्यों के तरह की सांप्रदायिकता या संकीर्णता नहीं थी। धार्मिक भावना से प्रेरित होते हुये भी इस काल के कवियों का उद्देश्य अपने काव्य के माध्यम से किसी धर्म या संप्रदाय विशेष का प्रचार करना नहीं था। यद्यपि ये कवि किसी न किसी धार्मिक संप्रदाय से सम्बद्ध थे किन्तु उन्होंने अपने काव्य-नायकों को अपने मत या संप्रदाय में दीक्षित कराने की आवश्यकता नहीं समझी। उनकी दृष्टि मानव कल्याण की भावना से युक्त होने के कारण पूर्ववर्ती कवियों की अपेक्षा अधिक व्यापक थी। यही कारण है कि विभिन्न मतों को मानते हुऐ भी सभी कवियों ने विभिन्न मत-मतान्तरों के समन्वय पर किसी न किसी रूप में जोर दिया। उनका लक्ष्य मुख्यरूप से बिना किसी भेदभाव के मानव मात्र को मुक्ति दिलाना था। साम्प्रदायिक एकता की भावना इसी व्यापक दृष्टिकोण का परिणाम है। यहाँ यह ध्यान में रखना होगा कि इन कवियों की धर्म-भावना ज्ञान या बुद्धि जन्य तर्क पर आधारित नहीं थी, उसका सीधा सम्बन्ध हृदय से था। यही कारण है कि आनन्द-विह्वलता, भावावेश और प्रेमोल्लास का जो रूप इस काल के भक्त कवियों में दिखलाई पड़ता है वह पूर्ववर्ती महाकाव्यों में कहीं नहीं मिलता।

काव्य-कौशल की दृष्टि से इस काल के प्रबन्ध काव्यों, विशेषरूप से महाकाव्यों, में आदिकालीन काव्यों के अनगढ़पन और सादगी के स्थान पर सुनियोजित और यत्नसाध्य अलंकार दिखलाई पड़ते हैं; किन्तु इस अलंकृति में दरबारी कवियों की तरह चमत्कार और पांडित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति नहीं है। प्रबन्ध-कौशल, भाषा, अलंकार, छन्द सभी में परिष्कृत रुचि के साथ ही स्वाभाविक अलंकार की प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है।

हिन्दी साहित्य का उत्तर-मध्य-काल फिर महाकाव्य-निर्माण के लिये अनुर्वर सिद्ध हुआ। इस काल में प्रबन्ध काव्यों की रचना की ओर कवियों का ध्यान यों भी कम गया, और जो प्रबन्ध-काव्य लिखे भी गये उनमें से किसी में भी महा-

काव्यत्व नहीं आ सका। इसका मुख्य कारण यह है कि इस काल के कवियों ने राधा कृष्ण का नाम लेकर अपने को भक्त कवियों की सूची में तो अवश्य बनाये रखा किन्तु पूर्व-मध्य-काल के कवियों—तुलसी, जायसी, सूर, आदि—की तरह प्रेरणा देने वाला वह महत् उद्देश्य उनके सम्मुख नहीं था। दरबारी वातावरण में काव्य-ज्ञान-प्रदर्शन द्वारा अधिक से अधिक सम्मान और धन प्राप्त करने के लिये इस काल के कवियो में काव्यशास्त्रों के आधार पर अलंकार, रस, छन्द तथा नायिका-भेद के विस्तृत निरूपण द्वारा पांडित्य प्रदर्शन और चमत्कार प्रियता की प्रवृत्ति इतनी अधिक बढ़ गई कि लोक-जीवन को प्रभावित करने वाले किसी महत् उद्देश्य को लेकर काव्य-रचना के लक्ष्य की ओर उनका ध्यान ही नहीं गया। काव्य-कौशल की दृष्टि से बधे-बँधाये शब्दों में एक ही प्रकार के वर्णनों, उपमाओं तथा गतानुगतिकता और पिष्टपेषण की प्रवृत्ति के कारण काव्य-गत सौन्दर्य और स्वभाविकता अपने आप समाप्त हो गई। लोक जीवन से दूर होने के कारण इस काल के काव्यों मे व्यापक युग-जीवन का चित्र उपस्थित करने वाले महाकाव्य का न लिखा जाना स्वाभाविक हे।

उत्तर-मध्य-काल के बाद आधुनिक-युग में पुनः नयी सामाजिक और राजनीतिक परिस्थिति में पाश्चात्य सभ्यता और साहित्य के प्रभाव से नये ढंग के महाकाव्यो की रचना प्रारम्भ हुई। आधुनिक-शिक्षा तथा विज्ञान की उत्तरोत्तर प्रगति ने प्राचीन काल से चली आती हुई अनेक मान्यताओ और प्राचीन जीवन-मूल्यों के सम्मुख प्रश्नवाचक चिन्ह लगा दिया। आधुनिक वैज्ञानिक खोजो के प्रकाश मे पुराने विश्वासों, आचारों तथा संस्काररूप में बद्धमूल पुरानी धारणाओं और मान्यताओं की मनुष्य ने पुनः जांच और नये ढग से व्याख्या की। १९०० ई० के आसपास देश में भी सामतवाद के स्थान पर नवीन पूँजीवादी समाज-व्यवस्था का प्रारम्भ हुआ। इस नवीन समाज-व्यवस्था ने पुराने सामन्ती मूल्यो के स्थान पर नये मूल्यों की स्थापना की और व्यक्ति ने अपने को सामन्ती बन्धनोंसे मुक्त करने के लिये विद्रोह प्रारम्भ कर दिया। पूँजीवादी स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व के आदर्श ने व्यक्ति को हर दिशा में प्रगति करने के लिए पूर्ण स्वतंत्रता और अवकाश प्रदान किया। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के बढ़ते हुए आन्दोलन ने इस काल के साहित्य और संस्कृति को भी एक नयी दिशा की ओर प्रेरित किया जिसमें व्यक्तिवाद के साथ ही साथ आत्मगत अनुभूतियों और व्यक्तिगत चिन्तन-प्रणाली का सर्वाधिक महत्व स्वीकार किया गया। परिणामस्वरूप काव्य में भी व्यक्तिगत चिन्तन के साथ ही आत्मानुभूति और अन्तर्वृत्ति-निरूपण की प्रवृत्ति ने जोर पकड़ा। बाह्य वस्तुओं और बाह्य सौन्दर्य के यथातथ्यात्मक वर्णन के

स्थान पर कवियों ने आन्तरिक सौन्दर्य का चित्रण अधिक किया। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि वस्तु-सत्य के स्थान पर भाव-सत्य के चित्रण की ओर अधिक ध्यान दिया गया। प्राचीन पौराणिक विश्वासों और आख्यानों को भी यदि काव्य में ग्रहण किया गया तो उनकी युगानुरूप बौद्धिक व्याख्या की गई या उनमें भाव-सत्य ढूँढने का प्रयास किया गया। वैयक्तिक अनुभूतियों और भाव-सत्य-निरूपण पर अधिक बल देने के कारण इस काल में प्रगीत-मुक्तक ही अधिक लिखे गये और जो प्रबन्ध काव्य लिखे गये उनमें भी प्रायः प्रगीतात्मक भावव्यञ्जना को ही अधिक अपनाया गया है। यहाँ यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि इस काल में लिखे गये प्रबन्ध काव्यों में जहाँ एक ओर संस्कृत साहित्य के प्रबन्ध काव्यों और महाकाव्यों का आदर्श कवियों ने अपने सामने रखा, वहीं दूसरी ओर पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव के कारण पश्चिम के नये ढग के महाकाव्यों से भी उन्होने पर्याप्त प्रेरणा ली। अतः इस काल के प्रबन्ध काव्यों में कुछ में जहाँ भारतीय महाकाव्य-परम्परा के यथावत पालन की प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है, वहीं कुछ में पाश्चात्य और भारतीय महाकाव्यो के विभिन्न रूप-तत्त्वो और विशेषताओं के समन्वय की प्रवृत्ति भी लक्षित होती है। इन दोनों प्रकार के प्रबन्ध काव्यों में कितने वास्तविक अर्थ में महाकाव्य पद के अधिकारी हैं, इस सम्बन्ध में हम अगले अध्यायों में विस्तार से विचार करेंगे।

प्रथम अध्याय से अबतक महाकाव्य के उद्भव और विकास, महाकाव्य के स्वरूप, भारतीय महाकाव्य के स्वरूप विकास और हिन्दी महाकाव्य के उदय और उसके परिवेश पर विचार कर लेने के बाद अब हम इस स्थिति में पहुँच गये हैं कि भारतीय महाकाव्य के रूप-विकास का एक मानचित्र निश्चित करके हिन्दी के महाकाव्यों का उस विकास-क्रम में स्थान और उनकी प्रवृत्तियों की दिशा ढूँढ़ सकें। वैदिक-काल से लेकर अब तक महाकाव्य के मूल स्रोतों, प्रारम्भिक रूपों तथा परवर्ती महाकाव्यों के रूप-विकास का मान-चित्र अगले पृष्ठ में दिया जा रहा है।

युग	लोकभाषा के काव्य	साहित्य-भाषा		
पूर्व वैदिक युग	लोककथा लोकगाथा	वैदिक संस्कृत		
उत्तर वैदिक युग [आरण्यक-काल]	लोककथा लोकगाथा	लौकिक संस्कृत का पूर्व रूप		
			विकसनशील महाकाव्य	
प्रारंभिक वीर-युग या महाकाव्य-युग (Epic age) [विकसनशील महा-काव्यों का काल]	लोककथा लोकगाथा	लौकिक सस्कृत	आदि काव्य (रामायण)	इतिहास काव्य (महाभारत)
विकासोन्मुख सामन्त-युग [अलं-कृत काव्य-काल]	प्राकृत में लोककथा लोकगाथा	अलकृत लौकिक संस्कृत	शास्त्रीय शैली के अलकृत महाकाव्य (बुद्ध-चरित्, रघुवंश आदि)	ऐतिहासिक शैली के अलंकृत महाकाव्य
		पाली प्राकृत	सेतुबन्ध	दीपवश महावंश
ह्रासोन्मुख सामन्त युग [ह्रासोन्मुख काव्य-काल]	अपभ्रंश और अवहट्ट में लोक-कथा, लोक-गाथा	संस्कृत प्राकृत अपभ्रश	किरातार्जुनीय, शिशुपाल बध आदि × ×	राजतरंगिणी, रामचरित गोडबहो ×
सामन्ती वीरयुग [हिंदी साहित्य का आदि काल]	लोकभाषा हिंदी में विक-सनशील गाथा १-पृथ्वीराज रासो २-परमालरासो	संस्कृत प्राकृत अपभ्रंश हिन्दी	नैषधचरित आदि × × ×	विक्रमांकदेव चरित, कुमारपाल चरित, हम्मीर महाकाव्य, पृथ्वी-राजविजय आदि × × ×
७–पुनरुत्थान-युग [पूर्व-मध्ययुग या भक्ति काल]	हिन्दी की बोलियों में लोककथा लोकगाथा	हिन्दी	×	×
८–रीति युग [उत्तर मध्यकाल]	”	हिन्दी	×	×
९–आधुनिक युग	”	हिन्दी	आधुनिक मनो वैज्ञानिक शैली	×

पाँचवाँ अध्याय

विकसनशील महाकाव्य—पृथ्वीराजरासो

पहले कहा जा चुका है कि विकसनशील महाकाव्य तीन प्रकार के होते हैः—

१—लोक-कण्ठ में व्याप्त गाथाचक्र बढ़ते-बढ़ते लोक-महाकाव्य या पौराणिक बृहत् आख्यान का रूप धारण कर लेते हैं और जब उनका ऐसा रूप हो जाता है तो विशिष्ट कवि उन्हे सुव्यवस्थित रूप देकर अपने या किसी पूर्ववर्ती निजन्धरी कवि द्वारा लिखित होने का प्रचार कर देते है।

२—कोई कवि किसी प्रसिद्ध ऐतिहासिक नायक का चरित्र लघु या बृहत् काव्य के रूप निबद्ध करता है, पर वह नायक इतना लोकप्रिय होता है कि कालान्तर में निजन्धरी व्यक्तित्व बन जाता है। अतः उसका काव्य कविपेशा वाली जातियों की सामूहिक सम्पत्ति बन जाता है और वे लोग मौखिक रूप में या लिख कर क्षेपक के रूप में बराबर नई-नई कथायें, घटनायें, वर्णन आदि जोड़ते जाते और मूल काव्य को, कथानक, भाषा और शैली की दृष्टि से बिलकुल नवीन रूप प्रदान कर देते हैं।

३—तीसरे प्रकार के विकसनशील महाकाव्य पहले और दूसरे प्रकार के बीच की श्रेणी के होते है अर्थात् उनका मूल कवि कोई न कोई अवश्य होता है। ये काव्य गेय रूप में होते है जिससे कालान्तर में वे लोक-कण्ठ में व्याप्त हो जाते हैं और फिर तो उन काव्यों पर उनके कवियों का कोई अधिकार नहीं रह जाता। जनता के कवि और गायक वंशानुवंश उसे मनमाने ढग से गाते और बढ़ाते रहते हैं। ऐसे महाकाव्य लोक-महाकाव्य (फोक एपिक) कहे जाते हैं।

हिंदी में पृथ्वीराजरासो दूसरे प्रकार का और आल्हखण्ड तीसरे प्रकार का विकसनशील महाकाव्य है। पृथ्वीराजरासो का कर्ता पृथ्वीराज का दरबारी कवि चन्द नामक भट्ट (भाट) बताया जाता है। पृथ्वीराज अपने शौर्य और पराक्रम के कारण तथा विदेशी मुसलिम आक्रमणों से डट कर मुकाबिला करने के कारण अपनी मृत्यु के उपरांत कुछ सौ वर्षों के भीतर ही एक जातीय या राष्ट्रीय वीर

शिष्ट आख्यानक साहित्य के रूप

आख्यानक गीत, गाथा नाराशंसी, दान-स्तुति

इतिहास-पुराण, आख्यानों या गाथाओं के चक्र

पुराण			कथा	
प्राचीनतम वैदिक, बौद्ध और जैन पुराण		पौराणिक कथाएँ	अर्द्ध ऐतिहासिक निजन्धरी कथाएँ (कल्पना और इतिहास का मिश्रण)	कल्पित रोमांचक या नैतिक कथाएँ
इतिहास पुराण	पौराणिक शैली के अलंकृत महाकाव्य ×	पौराणिक और रोमांचक धर्म-कथाएँ	रोमांचक शैली के अलंकृत महाकाव्य	कथा आख्यायिका
	× पउमचरिय (विमल सूरि)		× × ×	
	महापुराण, वरांग चरित .... महापुराण, पउम-चरिउ, रिट्ठणेमि चरिउ आदि		लीलावईकहा विलासवईकहा भविसयत्तकहा	
	धर्मशर्माभ्युदय नेमि निर्वाणत्रिषष्टि शलाका पुरुष-चरित आदि। —महावीर चरियं, आदिनाथचरियं, आदि —णेमिणाह चरियं ×		नवसाहसांकचरित × करकंडुचरिउ ×	
	रामचरित मानस		पद्मावत	
	×		×	
	×		×	

पुरुष तथा निजन्धरी व्यक्तित्व के रूप में मान्य हो गया और उसके सम्बन्ध में लिखा हुआ चन्द का काव्य 'पृथ्वीराजरासो' भी धीरे धीरे चारण-भाटों की सम्पत्ति बन गया। वे विभिन्न राजदरबारों में इसका गान अथवा पाठ कर जीविकोपार्जन करने लगे। वे इसमें नई-नई घटनाओं और कथाओं का वर्णन भी बराबर जोड़ते और मूल ग्रन्थ की भाषा और स्वरूप में यथेच्छ परिवर्तन करते रहे। इसका परिणाम यह हुआ कि सोलहवीं शताब्दी तक पृथ्वीराजरासो ने एक बहुत बड़े काव्य का रूप धारण कर लिया। यह काव्य विविध स्थानों में विविध रूपों में चारणों और भाटों के बीच बिखरा हुआ था और सत्रहवी शताब्दी के प्रारम्भ में राणा अमरसिंह के समय में उसका संग्रह करने का प्रयत्न किया गया। वर्तमान समय में रासो की जितनी भी प्रतियाँ प्राप्त हैं उनमें से सम्भवतः कोई भी मूल-ग्रन्थ नहीं है, सभी मूल-ग्रन्थ के परवर्ती परिवर्द्धित और परिवर्तित रूपान्तर हैं। इस प्रकार पृथ्वीराज-रासो, जो आज विविध रूपान्तरों में उपलब्ध है, एक हाथ की रचना नहीं है। उसमें कई शताब्दियों के अनेक कवियों की प्रतिभा और लेखनी का योग है।

रासो के चार रूपान्तर—

रासो के सम्बन्ध में अब तक यह विवाद चल रहा है कि वह बारहवीं शताब्दी का काव्य है अथवा सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी का बना जाली ग्रंथ है। विकसनशील महाकाव्यों की प्रवृत्तियों और विशेषताओं की तरफ ध्यान न देने के कारण ही विद्वानो ने अपने-अपने पक्ष का जोरदार ढङ्ग से समर्थन किया है और उसे बिलकुल जाली अथवा पूर्ण मौलिक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। किन्तु सच बात यह है कि वर्तमान 'रासो' न तो जाली है न मौलिक। यदि रासो जाली है तो महाभारत, रामायण इलियड, ओडेसी आदि सभी विकसनशील महाकाव्य जाली हैं। अतः जिस तरह महाभारत, इलियड आदि ग्रन्थों के जाली या मौलिक होने का प्रश्न नही उठाया जाता, बल्कि उन्हें उसी रूप में स्वीकृत किया जाता है जिस रूप में वे हमें पूर्व-परम्परा से प्राप्त हुए हैं, उसी तरह रासो को भी उसके वर्तमान रूप में स्वीकृत कर लेने की आवश्यकता है। किन्तु इसमें एक बहुत बड़ी बाधा है। महाभारत और रामायण के पूर्वी, पश्चिमी और दक्षिणी आदि कई रूपान्तर होते हुये भी उनके विभिन्न रूपान्तरों में आकार सम्बन्धी ऐसी अनेकरूपता नहीं दिखाई देती जैसी रासो की विविध हस्तलिखित प्रतियों में दिखाई पड़ती है। रासो की जितनी

भी हस्तलिखित प्रतियाँ आज उपलब्ध है उनमें चार रूपान्तर दिखलाई पड़ते हैं[1] :—

बृहत् रूपान्तर—इसमें ६४ से ६९ समय (सर्ग), १३ से १७ हजार तक पद्य और अनुष्टुप छन्द की ३२ मात्रा के हिसाब से ३० से ३६ हजार तक श्लोक या ग्रंथाग्रंथ है। इस रूपान्तर की प्रतियाँ यूरोप में तथा बम्बई, कलकत्ता, आगरा, काशी, बीकानेर आदि स्थानो मे विद्यमान हैं।

२—मध्यम रूपान्तर—इसमें समयों की संख्या ४० से ४७ तक है और ९ से १२ हजार तक श्लोक है। इस रूपान्तर की प्रतियाँ बीकानेर, अबोहर, लाहौर, पूना और कलकत्ता में है।

३—लघु रूपान्तर—इसमें लगभग उन्नीस समय, २ हजार पद्य और ३५ सौ श्लोक है। इसकी प्रतियाँ बीकानेर और लाहौर में है।

४—लघुतम रूपान्तर—यह लघु रूपान्तर के आधे के बराबर, लगभग १३ सौ श्लोक परिमाण वाला है और इसमें समयों का विभाजन नहीं है। इसकी एक ही प्रति उपलब्ध है जो बीकानेर के श्री अगरचन्द नाहटा के पास है।

अब प्रश्न यह है कि इन चारों रूपान्तरो में से किसे प्रामाणिक माना जाय जिसके आधार पर रासो का साहित्यिक मूल्यांकन और उसके महाकाव्यत्व का निर्णय किया जा सके। श्री मूलराज जैन का कहना है कि 'मध्यम वाचना में लघु वाचना का सारा विषय कुछ विस्तृत रूप में मिलता है और इसके अतिरिक्त कई अन्य घटनाओं का वर्णन भी मिलता है जैसे अग्निकुण्ड से चौहान वंश की उत्पत्ति, पद्मावती, हंसावती, शशिव्रता आदि अनेक राजकुमारियों से पृथ्वीराज का विवाह, उसके विविध युद्ध, पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन में अनेक युद्धों का होना और हर बार शहाबुद्दीन का बन्दी होना, भीम द्वारा सोमेश्वर का बध, आदि। रासो की बृहत् वाचना में लघु वाचना का विषय विशेष

१—यह विवरण निम्नलिखित लेखों के आधार पर उपस्थित किया गया है :—

(क) पृथ्वीराजरासो की विविध वाचनायें—लेखक श्री मूलराज जैन, एम० ए०, एल०-एल० बी०—प्रेमी अभिनन्दन ग्रंथ पृ० १३०-३६।

(ख) पृथ्वीराजरासो और उसकी हस्तलिखित प्रतियाँ—ले० श्री अगरचन्द नाहटा, राजस्थानी—भाग ३, अक २, अक्तूबर, १९३९, पृ० ११।

(ग) पृथ्वीराजरासो का रचना-काल-ले० श्री अगरचन्द नाहटा—विशाल-भारत, भाग ३८, अंक ६, दिसम्बर १९४६, पृ० ३९५।

विस्तार से मिलता है और इसके अतिरिक्त इसमें मध्यम वाचना की घटनाओं के साथ अन्य अनेक घटनाओं का समावेश भी है।' (प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० १३१)। इस प्रकार श्री जैन ने यह निष्कर्ष निकाला है कि लघु रूपान्तर से मध्यम और बृहत् रूपान्तरों का विकास हुआ है, अतः रासो की उपलब्ध वाचनाओं में से लघु वाचना शेष दोनों की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक तथा प्राचीन है। इस सम्बन्ध में मेरा विचार यह है कि रासो की जितनी हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हैं उन सबको सामने रख कर जब तक उसका वैज्ञानिक ढंग से सम्पादन नहीं किया जाता तब तक मूल या प्रामाणिक रूपान्तर का निर्णय नहीं हो सकता। डा० माताप्रसाद गुप्त ने भी इस सम्बन्ध में यही मत व्यक्त किया है[1]।

रासो की विभिन्न रूपान्तरों वाली अनेक प्रतियाँ भिन्न भिन्न स्थानों से प्राप्त हुई हैं। इनके अतिरिक्त बहुत सी हस्तलिखित प्रतियाँ राजस्थान के विभिन्न स्थानों में बिखरी हुई है जिनकी खोज अभी नहीं की जा सकी है। इस ग्रन्थ की इतनी हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त है, यही इस बात का प्रमाण है कि रासो पिछली कुछ शताब्दियों में अत्यन्त लोकप्रिय, जातीय महाकाव्य रहा है और विभिन्न स्थानों में मौखिक परम्परा में विकसित होने के कारण इसके लघुतम लघु, मध्यम और बृहत् रूपान्तर हो गये हैं। इस सम्बन्ध में श्री अगरचन्द नाहटा ने अपना मत व्यक्त करते हुये लिखा है कि रासो को सत्रहवीं शताब्दी की लिखित प्रतियाँ लघु रूपान्तर वाली है, अठारहवीं शताब्दी की लिखित मध्यम रूपान्तरवाली और उन्नीसवीं शताब्दी की लिखित बृहत् रूपान्तरवाली है[2]। इस तरह उन्होंने यह कहना चाहा है कि सत्रहवीं शताब्दी का लघु रूपान्तर अधिक प्रामाणिक है। वे लिखते हैं, "पाठकों को विस्मय होगा कि जहाँ नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'रासो' ६९ समय, १६३०६ छन्द एवं लगभग १ लाख श्लोक प्रमाण वाला है वहाँ हमें उपलब्ध प्रतियों में से तीन प्रतियों में तो रासो का प्रमाण केवल ३५ सौ श्लोक के करीब ही है। इसी से आप अनुमान लगा सकते हैं कि तिल का ताड़ कैसे हो गया। हमारे संग्रह की प्रति में ४६ समय, ३३०९ छन्द और ११ हजार के करीब ग्रंथाग्रंथ

१—संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो की आलोचना—ले० डा० माताप्रसाद गुप्त—आलोचना, जुलाई १९५३।

२—पृथ्वीराजरासो और उसकी हस्तलिखित प्रतियाँ—ले० श्री अगरचन्द नाहटा राजस्थानी, भाग ३, अक २—अक्टूबर १९३९, पृ० ११।

है। बीकानेर के ज्ञान-भण्डार की प्रति में समय संख्या ४२-४३, छन्द संख्या २६४७ और श्लोक प्रमाण साढ़े ११ हजार के करीब है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि उपलब्ध प्रतियों में ही परस्पर आकाश-पाताल का-सा अन्तर है।"[1] नाहटा जी की तथा ज्ञान-भण्डार की कई प्रतियाँ अठारहवीं शताब्दी की लिखी हुई है और मध्यम रूपान्तर वाली हैं। बृहत् रूपान्तर वाली प्रतियों में से जिस प्रति के आधार पर नागरीप्रचारिणी सभा वाला संस्करण प्रकाशित हुआ है उसका लेखन-काल स्व० श्री मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या और बाबू श्यामसुन्दर दास ने सं० १६४२ माना है किन्तु श्री नरोत्तमदास स्वामी और श्री मोतीलाल मेनारिया ने अठारहरीं शताब्दी विक्रम का उत्तरार्द्ध माना है[2]। यदि प्रकाशित रासो की आदर्श प्रति को अठारहवी शताब्दी की लिखी हुई मान ले तो भी नाहटा जी का यह मत सही नही प्रतीत होता कि रासो का बृहत् रूपान्तर उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ। श्री नाहटा जी को मुनि विनयसागर जी से रासो की जो दो खण्डित प्रतियाँ प्राप्त हुई है उनमें से कण्वज खण्ड वाली प्रति में, जो सवत् १७७७ की लिखी है, निम्नलिखित दो दोहे दिये हुए हैं[3]।

सम्व्रत सिव पैंतीस में, अष्टम रवि उजियाल।
चन्द विरुदय कवियणह, ग्रन्थ सु रच्यों विशाल॥
सवा लक्ख संख्या सकल, अधिक अपूरब वत्त।
वेद मुक्त पुराण मय, वरणि वार्ता सत्य॥

इससे यह स्पष्ट है कि संवत् १७७७ तक रासो विशाल ग्रंथ के रूप में माना जाता था और यह धारणा भी बन गयी थी कि उसका परिमाण सवा लाख श्लोक का था। तद्यपि बृहत् रूपान्तर की कोई भी ऐसी प्रति नहीं है जिसका ३० से ३६ हजार श्लोक से अधिक का परिमाण हो किन्तु कई शताब्दियों से परम्परा रूप से यह प्रवाद प्रचलित रहा है कि रासो में एक लाख के करीब श्लोक हैं। किसी भी बड़े ग्रंथ में श्लोक संख्या जब २५-३० हजार से ऊपर चली जाती है तो उसे लक्ष श्लोक संख्या वाला मान लेने की स्वाभाविक प्रवृत्ति

१—वही, पृ० १०-११।

२—पं० मोतीलाल मेनारिया-राजस्थानी भाषा और साहित्य—प्रयाग, सम्वत् २००६—पृ० ६६।

३—पृथ्वीराजरासो का विस्तार—ले० अगरचन्द नाहटा—आलोचना—वर्ष ३, अंक ४, जुलाई १९५४, पृ० ८२—८३।

बहुत दिनो से चली आती है। रासो के संबंध में भी यह धारणा बहुत दिनों से प्रचलित रही है जिससे प्रमाणित होता है कि सोलहवी-सत्रहवीं शताब्दी में ही वह एक विशाल महाकाव्य का रूप प्राप्त कर चुका था। अतः उस काल की तथा उसके बाद की लिखी हुई जो लघु और मध्यम रूपान्तर वाली प्रतियाँ प्राप्त होती है उन्हें, केवल इसलिये कि वे आकार में अपेक्षाकृत छोटी हैं, प्रामाणिक या मूल रासो नहीं माना जा सकता, क्योंकि यह भी संभव है कि रासो का बृहत् रूपान्तर निर्मित हो जाने के बाद लेखकों ने अपनी सुविधा के लिये उसका संशोधन और संक्षेपीकरण करके लघु और मध्यम रूपान्तर वाली प्रतियों को लिखा हो। लघु और मध्यम रूपान्तरो में जितने भी समय और रूपक मिलते हैं करीब-करीब वे सभी बृहत् रूपान्तर वाली प्रतियों में भी हैं। इसका अर्थ यह है कि या तो लघु रूपान्तर वाला रासो ही पूर्ववर्ती है जिसमें परिवर्द्धन करके कहीं मध्यम और कही बृहत् रूपान्तरों का विकास और प्रचार हुआ अथवा बृहत् रूपान्तर ही पूर्ववर्ती है और लघुतम, लघु तथा मध्यम रूपान्तर उसके संक्षिप्त और संशोधित रूप हैं। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पृथ्वीराजरासो से संबंधित इस विवाद से कोई लाभ नही है कि वह मौलिक है अथवा जाली। साथ ही उसके इतने रूपान्तरों और परिवर्द्धित रूपों में से मूल रासो को ढूँढ निकालना भी कठिन ही नहीं, असंभव प्रतीत होता है। अधिक से अधिक सम्पादन करके उसका प्रामाणिक पाठोद्धार किया जा सकता है। इस संबंध में 'पुरातनप्रबंध-संग्रह' की प्रस्तावना में मुनि जिनविजय जी का निम्नलिखित कथन उल्लेख्य है :—

"इसमें कोई शक नहीं है कि पृथ्वीराजरासो नाम का जो महाकाव्य वर्तमान में उपलब्ध है उसका बहुत बड़ा भाग पीछे से बना हुआ है। उसका यह बनावटी हिस्सा इतना अधिक और विस्तृत है और उसमें मूल रचना का अंश इतना अल्प और वह भी इतनी विकृत दशा मे है कि साधारण विद्वानों को तो उसके बारे में किसी प्रकार की कल्पना करना भी कठिन है। मालूम पड़ता है कि मूल रचना का बहुत कुछ भाग नष्ट हो गया है और जो कुछ अवशेष रहा है वह भाषा की दृष्टि से इतना भ्रष्ट हो गया है कि उसको खोज निकालना साधारण कार्य नहीं है। मन भर बनावटी मोती के ढेर में से मुट्ठी भर सच्चे मोतियो को खोज निकालना जैसा दुष्कर कार्य है वैसा ही इस सवा लाख श्लोक प्रमाण वाले बनावटी पद्यों के विशाल पुंज में से चंद कवि के बनाये हुए हजार-पाँच सौर अस्वव्यस्त पद्यों को ढूँढ निकालना कठिन कार्य है।... मालूम पड़ता है कि चन्द कवि को मूल कृति बहुत ही लोकप्रिय हुई और

इसलिये ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों त्यों उसमें पीछे से चारण और भाट लोग अनेकानेक नये-नये पद्य बना कर मिलाते गये और उसका कलेवर बढ़ाते गये। कण्ठानुकण्ठ प्रचार होते रहने के कारण पद्यो की भाषा में भी बहुत कुछ परिवर्तन होता गया। उसका परिणाम यह हुआ कि आज हमें चन्द की उस मूल रचना का अस्तित्व ही विलुप्त सा हो गया मालूम दे रहा है।"[1]

मुनि जी के इस कथन से स्पष्ट है कि पृथ्वीराजरासो एक विकसनशील महाकाव्य है जिसमें चन्द कृत मूल रासो खो सा गया है। फिर भी मुनि जी ने उसी भूमिका में यह आशा प्रकट की है कि "यदि कोई पुरातन-भाषाविद् विचक्षण विद्वान यथेष्ट साधन-सामग्री के साथ पूरा परिश्रम करे तो इस कूड़े-करकट के बडे ढेर में से चन्द कवि के उन रत्न रूप असली पद्यो को खोजकर निकाल सकता है और इस तरह हिंदी भाषा के नष्ट-भ्रष्ट इस महाकाव्य का प्रामाणिक पाठोद्धार कर सकता है। नागरीप्रचारिणी सभा का कर्तव्य है कि जिस तरह पूना का भाण्डारकर रिसर्च इस्टीच्यूट महाभारत की संशोधित आवृत्ति तैयार कर प्रकाशित कर रहा है उसी तरह वह भी हिंदी भाषा के महाभारत समझे जाने वाले इस पृथ्वीराजरासो की एक संपूर्ण संशोधित आवृत्ति प्रकाशित करने का पुण्य कार्य करे।"[2] मुनि जी ने स्वयं इसे कठिन कार्य माना है और कहा है कि वर्तमान रासो में चन्द की मूल रचना का अस्तित्व विलुप्त सा हो गया है, अत. उनका फिर यह कहना विरोधाभास जैसा है कि चन्द के मूल ग्रंथ के हजार-पाँच सौ छन्द जो असली मोती की तरह है कूड़े की ढेरी से निकाले जा सकते हैं। मेरे विचार से तो अब यह असंभव कार्य है क्योंकि क्षेपकयुक्त काव्यों और विकसनशील काव्यो मे अन्तर होता है। क्षेपकयुक्त काव्यो में तो मूल छन्दों को क्षेपकों से, चाहे वे कितने भी अधिक क्यों न हों, अलग किया जा सकता है, किन्तु विकसनशील काव्यों में ऐसा करना सभव नहीं होता। क्षेपक वाले काव्यों का रूपान्तर अधिक नही होता, अत: अनेक पाठों को मिला कर मूल पाठ का पता लगाया जा सकता है जैसा हिन्दी में पद्मावत और रामचरितमानस के संपादन में किया गया है। परन्तु रासो के रूपांतर उसके मौखिक परम्परा में विकसित होने के कारण हुए है जिससे उसके मूल पाठ का रूप खोजने से भी नही मिल सकता है। उसका उद्धार तो तभी सभव है जब चन्द के मूल ग्रंथ की कोई प्रति उसी तरह प्राप्त हो जाय जैसे

१—पुरातनप्रबन्ध-संग्रह-प्रास्ताविक वक्तव्य—पृ० ६-१०।
२—वही, पृ० १०।

मुनि जी को उसके चार छप्पय प्राप्त हो गये हैं। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक वर्तमान रासो के बृहत् रूपान्तर का वैज्ञानिक ढंग से पाठ-संशोधन और संपादन करके उसका परिस्कृत और शुद्ध रूप निर्धारित करने के अतिरिक्त और कोई रास्ता नही है। यदि रासो सचमुच हिन्दी का महाभारत जैसा विकसनशील महाकाव्य है तो अब उसके मूलरूप को ढूँढ़ने के प्रयत्न की भी इतनी ही उपयोगिता हो सकती है कि बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी की देश्य भाषा और तत्कालीन काव्यरूपों पर प्रकाश पड़ सके, अन्यथा विकसित रूप में उपलब्ध रासो ने तो महाकाव्य रूप में अपनी उपयोगिता और महत्व को सिद्ध कर दिया है और हिन्दी साहित्य के लिए उसकी उतनी ही देन कम नहीं है।

ग्रियर्सन और सी० वी० वैद्य का मत—पहले के विद्वानों में सर जार्ज ग्रियर्सन और सी० वी० वैद्य ने भी पृथ्वीराजरासो को महाभारत के ढग का विकसनशील महाकाव्य ही माना है। ग्रियर्सन ने लिखा है कि "यह विशाल काव्य, जिसमें एक लाख छन्द बताये जाते है, यदि प्रामाणिक है तो इसे भारत के इस भूभाग (राजस्थान) का तत्कालीन चारणी इतिहास समझना चाहिये। वर्तमान रासो की प्रामाणिकता में इधर हाल में गम्भीर सन्देह प्रकट किया गया है और सत्य संभवतः यह है कि संस्कृत महाभारत की तरह रासो के मूल पाठ पर भी मनमाने क्षेपको का इतना अधिक बोझ लाद दिया गया है कि अब मूल छन्दों को परवर्ती क्षेपकों से अलग करना असम्भव है।"[1] ग्रियर्सन महोदय मूल रासो के सम्बन्ध में अभी अपना मत स्थिर नहीं कर सके थे पर सी० वी० वैद्य ने तो स्पष्ट शब्दों में रासो को विकसनशील महाकाव्य कहते हुए उसकी तुलना महाभारत से की है। उनका मत यह है :—

"हमारे मत से कई महत्वपूर्ण बातों में, विशेषतया मौलिकता और प्राचीनता के सम्बन्ध में, रासो का महाभारत से बहुत कुछ सादृश्य है। ऐसे विवाद में परस्पर विरोधी दो मतो के बीच में सत्य निहित रहता है। हमारी समझ में इस

1—"His huge poem, said to contain 100,000 stanzas, is if it be genuine, a bardic chronicle of his master's deeds and a contemporary history of this part of India. The authenticity of the work, as we have it now, has of late years been seriously doubted, and the truth probably is that like the Sanskrit Mahabharat the text is so encumbered by spurious additions that it is impossible to separate the original from its accretions" Sir George Grierson—Imperial Gazetteer of India, Vol, II p. 427.

महाकाव्य का मूल भाग प्रामाणिक, मूल लेखक की कृति और प्राचीन है, परन्तु कम से कम दो बार इसमें पीछे से कई बातें बढाई गई हैं। हिन्दी महाभारत-मीमांसा में जैसा हमने लिखा है कि वर्तमान उपलब्ध महाभारत व्यास के मूल महाभारत का दुबारा सौति द्वारा परिवर्द्धित रूप है (पहली बार वैशम्पायन ने मूल महाभारत को बढ़ाया था) उसी तरह मूल रासो चन्द ने रचा, फिर इसके पुत्र ने उसे कुछ बढा दिया और सोलहवी या सत्रहवी सदी के लगभग किसी अज्ञात कवि ने उसमें अपनी रचना भी मिला दी है। बहुत सी महत्व की बातो में दोनों महाकाव्यो में बहुत कुछ साम्य है।"[1] इस तरह वैद्य महोदय रासो को मूल रूप में तो प्राचीन मानते हैं पर उनके मत से उसका अधिकांश भाग परवर्ती काल में विकसित और विवर्द्धित है। इसके लिए उनका यह आग्रह कही नही है कि प्रक्षिप्त भागों को निकाल कर फेंक दिया जाय और मूल रासो का ही प्रचार प्रसार किया जाय। रामायण और महाभारत के प्रक्षिप्त अंशों का अनुमान से पता लग जाता है पर उन्हें निकाल नहीं दिया जाता। उसी तरह रासो में प्रक्षिप्त और परवर्ती अंश कौन से हैं, इसकी खोज तो अवश्य होनी चाहिये पर मूल रासो को खोज कर उसी का प्रचार-प्रसार करना और उसके उस रूप की जो अब तक के विकास और विवर्द्धन की प्रक्रिया द्वारा निर्मित है, अवहेलना और उपेक्षा करना हिन्दी साहित्य और हमारी जातीय भावना का बहुत बडा अहित करना होगा। विकसनशील महाकाव्यों में इस तरह काट-छांट और अग-भंग ससार के साहित्य में कहीं भी देखने में नहीं आता।

रासो की प्राचीनता — रासो के सम्बन्ध में अब तक जितनी खोज हो चुकी है उससे इतना तो सिद्ध हो गया है कि वह पूरा सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में लिखा गया जाली ग्रन्थ नहीं है। रायबहादुर गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने उसे १६०० ई० के आस-पास का लिखा माना है और इसके लिए तर्क यह दिया है कि वि० सं० १५१७ में महाराणा कुम्भकर्ण ने कुम्भलगढ़ में कुम्भस्वामी के मन्दिर में जो लम्बा प्रशस्ति-लेख खुदवाया था उसमें मेवाड़ के तब तक के राजाओं का बहुत कुछ वृत्तान्त दिया है पर समर सिंह के पृथ्वीराज की बहिन पृथा से विवाह करने या पृथ्वीराज-शहाबुद्दीन की लड़ाई में

१—हिन्दू भारत का उत्कर्ष या राजपूतों का प्रारम्भिक इतिहास—ले० श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य, (मूल अंगरेजी ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद) काशी, सं० १६८६।

मारे जाने का कोई वर्णन नहीं है। परन्तु वि० सं० १७३१ में महाराणा राजसिंह के बनवाये राजसमुद्र को नौचौकी बाँध पर खुदे राजप्रशस्ति नामक महाकाव्य में न केवल उक्त घटना का उल्लेख है बल्कि यह भी कहा गया है कि "भाषारासापुस्तकेऽस्य युद्धस्योक्तोऽस्ति विस्तार" अर्थात् उन घटनाओं का वर्णन अत्यन्त विस्तार से लोकभाषा के रासो नामक काव्य में किया गया है। इस तरह ओझा जी ने यह निष्कर्ष निकाला है कि पृथ्वीराजरासो की रचना सं० १५१७ और सं १७३२ के बीच किसी समय हुई होगी और १६४२ की रासो की हस्तलिखित प्रति मिल चुकी है अतः उसकी रचना १६०० के आस पास हुई होगी[1]। उसके बाद पं० मोतीलाल मेनारिया ने इससे दो कदम आगे बढ़कर यह घोषणा की कि पृथ्वीराजरासो की रचना स० १६०० के आसपास नहीं बल्कि सं० १७०० के आसपास हुई क्योंकि रासो का उल्लेख राजप्रशस्ति से पूर्व और कहीं भी नहीं मिलता और जिस १६४२ वाली प्रति के लिपि-काल के कारण ओझा जी ने रासो का रचना-काल स० १६०० माना है, वह प्रति वस्तुतः १८७९ में लिखि गयी थी, अतः "वास्तव में न तो रासो की सबसे प्राचीन प्रति सं० १६४२ की लिखी हुई है और न रासो का निर्माण-काल सं० १६०० के आसपास है । सं० १७०६ और स० १७३२ के बीच किसी समय यह रचा गया है[2]।" ओझा जी और मेनारिया जी के पूर्व भी श्यामलदान, मुरारिदान, डा० बूलर आदि विद्वानों ने ऐतिहासिक आधार पर रासो को अप्रामाणिक माना था। इस मत का खण्डन करते हुए स्व० पण्डया जी, श्यामसुन्दरदास, मिश्रबन्धु आदि विद्वानों ने उसे प्रामाणिक स्वीकार किया था। श्री दशरथ शर्मा, मीनाराम रगा, नरोत्तमस्वामी, अगरचन्द नाहटा, मथुराप्रसाद दीक्षित, मूलराज जैन, कविराज मोहन सिंह आदि विद्वान अन्वेषकों ने भी पूर्व पक्ष के तर्कों का अपने-अपने ढङ्ग से उत्तर दिया है और अधिकतर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि रासो की अप्रामाणिकता के सम्बन्ध में जितने आक्षेप किये जाते हैं वे सभी उसके बृहत् रूपान्तर के कारण हैं जिसका प्रकाशित रूप नागरीप्रचारिणी सभा वाला सस्करण है। वस्तुतः रासो का मूल-रूप उसके मध्यम, लघु या लघुतम प्रतियों वाला ही है और उनमें वे अप्रामाणिक बातें

१—पृथ्वीराजरासो का निर्माण-काल—ले० रा० ब० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा—कोशोत्सव स्मारक सग्रह—पृ० ६१-६२ ।

२—पृथ्वीराजरासोका निर्माण-काल, ले० प० मोतीलाल मेनारिया—विशाल भारत, अक्तूबर, १६४६, भाग ३८, अंक ४।

या अशुद्धियाँ नहीं है जिनके कारण रासो को जाली कहा जाता है। इस तरह लघु या लघुत्तम रूपान्तरो के असली रासो होने का दावा किया जाने लगा है। परन्तु डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार "इतिहास की जिन गलतियो से बचने के लिये बडे रासो को अप्रामाणिक और छोटे रासो को प्रामाणिक बताया जाता है उनमें से कुछ न कुछ छोटी प्रतियों में भी रह ही जाती है। वस्तुतः कई भिन्न भिन्न उद्धारकों ने चन्द का उद्धार किया था। सभी संस्करण परवर्ती है, सबमे क्षेपक की संभावना बनी हुई है। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर एक भी प्रति प्रामाणिक नही ठहरती है।"[1] यही विचार इस सम्बन्ध में डा० उदयनारायण तिवारी ने भी अपनी 'वीर काव्य' पुस्तक में प्रकट किया है। उनका कहना है कि "प्रस्तुत प्रतियो में भी यह कहना कि अमुक प्रति लघुतम होने से प्रामाणिक है, युक्तियुक्त नही प्रतीत होता। सम्भव है सकलन-कर्त्ता ने जान बूझ कर कुछ अश छोड दिया हो. ऐसे संस्करण में स्वाभाविक रूप से ऐतिहासिक अशुद्धियो की सख्या भी कम रहेगी। जितनी ही अधिक घटनाओ का समावेश किया जायगा उतनी ही अशुद्धियों का बढ़ना स्वाभाविक है। अतः अशुद्धियों का अभाव देख कर ही उसे प्रामाणिक सिद्ध करने के लोभ में पड़ना भ्रम है।"[2]

इस तरह अब अधिकाधिक विद्वान, भले ही वे रासो के मूलरूप को ही खोज लेने का प्रयत्न कर रहे हों, यह मानने लगे है कि चन्द पृथ्वीराज का समकालीन कवि अवश्य था जिसने पृथ्वीराज के संम्बध में कोई काव्य लिखा था और वही काव्य बढते-बढ़ते आज वर्तमान बृहत् रूपान्तर वाले रासो के रूप में बदल गया है। इस मत को सबसे अधिक बल मुनि जिनविजय द्वारा प्राप्त उन चार छन्दो से मिला है जो उन्हे पुरातन प्रबन्ध-संग्रह के कुछ प्रबन्धो में मिले है। उसी आधार पर मुनि जी ने रासो की प्राचीनता के संम्बध मे अपना मत व्यक्त करते हुये लिखा है कि 'चन्द कवि रचित पृथ्वीराजरासो नामक हिन्दी के सुप्रसिद्ध महाकाव्य के कर्तृत्व और काल के विषय में जो कुछ पुराविद् विद्वानों का यह मत है कि वह ग्रन्थ समूचा ही बनावटी है और सतरहवी सदी के आसपास में बना हुआ है, यह मत सर्वथा सत्य नही है। इस संग्रह (पुरातन-प्रबन्ध सग्रह) के उक्त प्रकरणो में जो ३–४ प्राकृत भाषा के पद्य (पृ० ८६–

---

१ - हिन्दी साहित्य का आदिकाल - ले० डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रथम सस्करण—पृ० ५१।

२—वीर-काव्य—ले० डा० उदयनारायण तिवारी-प्रयाग, स० २००५, पृ० १११।

८८-८९) उद्धृत किये हुए मिलते हैं, उनका पता हमने उक्त रासो में लगाया है और इन चार पद्यों में से तीन पद्य यद्यपि विकृत रूप में, लेकिन शब्दशः उसमें हमें मिल गये हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि चन्द कवि निश्चिततया एक ऐतिहासिक पुरुष था और वह दिल्लीश्वर हिन्दू सम्राट पृथ्वीराज का समकालीन और उसका सम्मानित एवं राजकवि था। उसी ने पृथ्वीराज के कीर्ति-कलाप का वर्णन करने के लिये देश्य प्राकृत भाषा में एक काव्य की रचना की थी जो पृथ्वीराजरासो के नाम से प्रसिद्ध हुआ।"[1] इसी से मिलता-जुलता विचार डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी व्यक्त किया है। वे कहते हैं कि "अब यह मान लेने में किसी को आपत्ति नहीं है कि रासो एकदम जाली पुस्तक नहीं है। उसमे बहुत अधिक प्रक्षेप होने से उसका रूप विकृत जरूर हो गया है। पर इस विशाल ग्रन्थ में कुछ सार भी अवश्य है[2]।" इस प्रकार उपर्युक्त दोनों विद्वान चन्दवरदाई के पृथ्वीराज का समकालीन होने और उसके द्वारा पृथ्वीराज से सम्बधित कोई काव्य लिखे जाने की बात में विश्वास करते है। चन्दवरदाई का अस्तित्व और पृथ्वीराजरासो तथा उसकी वर्ण्य-वस्तु की प्राचीनता सिद्ध करने के लिये निम्नलिखित प्रमाण दिये जा सकते है :—

१—पृथ्वीराजविजय नामक संस्कृत के महाकाव्य में, जो जयानक नामक काश्मीरी कवि का लिखा बताया जाता है और जिसमें केवल बारह सर्ग ही बचे हुए प्राप्त हुये है, पृथ्वीराज का जीवन-चरित्र लिखा गया है। इस ग्रन्थ का रचनाकाल सं० १२४६ के आस-पास माना गया है। इस काव्य में कवि ने लिखा है कि काश्मीर का एक कवि (संभवतः जयानक स्वयं) पृथ्वीराज के दरबार में गया। वहाँ राजा के मन्त्री ने राजकवि और राजा के मित्र तथा सामन्त पृथ्वीभट्ट से उसे मिलाया। पृथ्वीभट्ट ने उस कवि को राजदरबार में रख लिया। यह घटना सम्भवतः पृथ्वीराज की मृत्यु के एक-दो वर्ष पूर्व की है। पृथ्वीराजविजय महाकाव्य अजमेर में नहीं, काश्मीर में कुछ वर्षों के बाद पूरा हुआ होगा। उसमें बारहवें सर्ग में पृथ्वीराज को राम का अवतार कहा गया है और तिलोत्तमा के गंगा तटवर्ती किसी स्थान पर राजकुमारी रूप में अवतार लेने की बात कही गयी है, इसके बाद प्रति खण्डित है। संभवतः वह राज-

---

१—पुरातन प्रबंध सग्रह—सपादक, मुनि जिनविजय, प्रास्ताविक वक्तव्य पृ० ८-९।

२—हिन्दी साहित्य का आदिकाल—प्रथम संस्करण ले० डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ५०।

कुमारी जयचन्द की कन्या संयोगिता है और इस महाकाव्य में कवि ने आगे उसी के साथ पृथ्वीराज के विवाह और फिर शहाबुद्दीन के साथ पृथ्वीराज के युद्ध का वर्णन किया होगा। इस प्रकार, यदि यह अनुमान सही हो तो पृथ्वीराज-विजय की तिलोत्तमा और पृथ्वीराजरासो की सयोगिता एक ही है, दोनों ही में नायिका अप्सरा का अवतार है। इसके अतिरिक्त पृथ्वीभट्ट नाम के जिस प्रमुख राजदरबारी कवि और उसकी विद्वत्ता का वर्णन जयानक ने किया है वह सम्भवत: चन्दभट्ट ही है जिसे रासो मे भी पृथ्वीराज के दरबार में और सामन्तों के बीच सर्वप्रमुख स्थान दिया गया है।

२—पृथ्वीराजरासो की कई बातों की पुष्टि प्रबन्धकोश, प्रबन्धचिन्तामणि और पुरातन प्रबन्ध संग्रह के कुछ प्रबन्धों से भी होती है। स० १३६१ में रचित मेरुतुङ्ग के प्रबन्ध-चिन्तामणि के तुङ्गसुभट-प्रबन्ध में शहाबुद्दीन से पृथ्वीराज के २२ बार युद्ध होने की बात कही गयी है[1]। सं० १४०५ में राजशेखर सूरि रचित प्रबन्धकोश के वस्तुपाल-प्रबन्ध में लिखा है कि पृथ्वीराज ने शहाबुद्दीन को २० बार पकड़ कर फिर मुक्त कर दिया था पर अन्त में गोरी द्वारा पकड़ लिया गया और मारा गया[2]। 'पुरातन प्रबन्ध सग्रह' के पृथ्वीराज और जयचन्द प्रबन्ध में तो पृथ्वीराज और चन्द की जो कथा दी हुई है उसका आधार हो उस काल में प्रचलित पृथ्वीराजरासो प्रतीत होता है। कारण यह है कि उसमे कथा-वस्तु तो पृथ्वीराजरासो से कुछ-कुछ मिलती ही है, साथ ही उसी मे वे चार छप्पय भी हैं जिनमें से दो में बरदाई का और दो में जल्ह कवि का नाम आया है और इनमें से तीन वर्तमान रासो में मिल गये है। ये छप्पय अपभ्रंश भाषा में है[3] 'पुरातन प्रबन्धसंग्रह' के उपर्युक्त प्रबन्ध जिन संग्रह प्रतियों से लिये गये है उनमें से पी संज्ञक प्रति को सं. १५२८ में मुनि गुणवर्धन ने लिपिबद्ध किया था और जिस प्राचीन प्रबन्ध संग्रह से उन्होंने उतारा था वह नाना कथानक प्रधान प्रबन्धावली स० १२९० में जिनभद्र द्वारा

१—प्रबन्ध-चिन्तामणि—तुंगसुभट-प्रबन्ध—सम्पादक, श्री मुनि जिन-विजयशातिनिकेतन, सन् १९३३ पृ० ११६।

२—"विशतिवार बद्ध-रुद्ध सहावदीन सुरत्राण मोक्ता पृथ्वीराजो णिबद्धः।" प्रबन्ध-कोश (वस्तुपाल-प्रबन्ध)—सम्पादक मुनि जिनविजय पृ० १७।

३—'पुरातन प्रबन्ध-सग्रह' सं० मुनि जिनविजय—कलकत्ता १९३६ ई० पृ० ८६, ८८।

रची गयी थी[1]। इससे यह सिद्ध होता है कि १२९० तक पृथ्वीराज और चन्द-कृत पृथ्वीराजरासो की ख्याति इतनी फैल गयी थी कि उसका कथानक और छन्द प्रबन्ध-संग्रहों में भी उद्धृत होने लगे थे। यदि उक्त प्रबन्धों को सं० १२९० का रचित न भी माना जाय तो भी सं० १५२८ तक, जब कि पी० संज्ञक संग्रह लिपिबद्ध हुआ जहाँ से मुनि जी ने ये प्रबन्ध लिये हैं, पृथ्वीराज-रासो के प्रसिद्ध होने में कोई संदेह नहीं है। इन प्रबन्धों से तीन बातें स्पष्ट हो जाती हैं, एक तो यह कि पृथ्वीराजरासो की रचना चन्द भट्ट और जल्ह कवि दोनो कवियों द्वारा हुई है, दूसरी यह कि चन्दभट्ट या चन्द बलद्दिय पृथ्वीराज का खास व्यक्ति और उसका दरबारी कवि या द्वारभट्ट था, तीसरी यह कि सं० १२९० तक पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन के बीच सात लडाइयाँ होने की अनुश्रुति प्रचलित हो चुकी थी और स० १४०५ में राजशेखर सूरि के समय तक यह अनुश्रुति २०-२२ लड़ाइयो वाली हो गयी थी। इस तरह ज्यों-ज्यों पृथ्वीराज सम्बन्धी अनुश्रुतियाँ बढ़ती गयी होंगी त्यों-त्यों चन्द कृत पृथ्वीराज-रासो का भी चारण-भाट आदि कवियो द्वारा विकास होता गया होगा।

३—पं० मोतीलाल मेनारिया का कहना है कि सं० १७०० के पूर्व की लिखी गई रासो की कोई प्रति नहीं मिली है। मेनारिया जी के कथनानुसार रासो की सबसे पुरानी प्रति उदयपुर के राजकीय पुस्तकालय, सरस्वती भंडार की है जो सं० १७६० की लिखी हुई है[2]। इसके उत्तर में नाहटा जी ने विशाल भारत में "पृथ्वीराज रासो का रचना-काल" शीर्षक लेख में लिखा है कि 'तदनन्तर तीन और प्रतियों का पता चला है जिनमे से एक के उद्धारकर्ता कछवाहा चन्द्रसिंह निर्णीत हो चुके हैं, जिनके संस्करण का समय सं० १६४०-

---

१ (पी) संज्ञक संग्रहस्य अन्तिमोल्लेख :—

सिरिवत्थुपालनंदणमतीसर जयतसिहभणणत्थं।
नागिन्दगच्छमंडणउदयप्पहसूरिसीसेणं॥
जिणभद्देण य विक्कमकालाउ नवइ अहिय बारसए।
नाणा कहाणपहाणा एस पबन्धावली रईआ॥

सम्वत् १५२८ वर्षे मार्गसिर १४ सोमे श्री कोरण्टगच्छे श्रीसावदेवसूरीणा शिष्येण मुनिगुणवर्द्धनेन लिपीकृतः। मु० उदयराज योग्यम्। श्रीः।"—वही, पृ० १३६।

२—पृथ्वीराजरासो का निर्माण-काल—ले० श्री मोतीलाल मेनारिया—विशाल भारत भाग, ३८, अङ्क ४,—पृ० २३७ (जुलाई १९४६)।

५० के लगभग निश्चित हुआ है। सुप्रसिद्ध जैन मंत्रीश्वर कर्मचन्द के पुत्रों के लिए रासो की प्रति १७ वीं शताब्दी मे लिखी गयी है जिसका रचना (लिपि) काल सं० १७६९ है। अतः वह (चन्द्रसिंह वाली प्रति) उसके पूर्व की अवश्य लिखी है। श्री मोतीचन्द्र जी खजाँची के संग्रह की सं० १६६८ वाली प्रति से प्रेस-कापी, पाठान्तर टिप्पण कर शीघ्रातिशीघ्र प्रकाशित करने की भरसक चेष्टा हो रही है।''[1] नाहटा जी ने उपर्युक्त प्रतियो के लिपिकाल की जो सूचना दी है इससे इस बात में कोई संदेह नहीं रह जाता कि सत्रहवीं शताब्दी के मध्य तक रासो के कई रूपान्तर हो गये थे और वह दूर-दूर तक इस प्रकार बिखर गया था कि लोगों को उसके उद्धार करने की आवश्यकता प्रतीत हुई थी। नाहटा जी का कहना है कि सं० १७६० के पहले की लिखित रासो की १० प्रतियाँ उन्हे प्राप्त हो चुकी है[2]। यदि उनका यह दावा सही है तो यह मानना पडेगा कि सत्रहवी शताब्दी में रासो का पूरा प्रचार हो चुका था। अपने मत के समर्थन मे उन्होने कहा है कि ''हमे उपलब्ध प्रतियों में तो बीकानेर राज्य पुस्तकालय की दो प्रतियाँ ही सबसे प्राचीन प्रतियां है जिनका लेखन समय सं० १६७० के करीब है और बीकानेर के राजकीय पुस्तकालय की प्राचीन तीन प्रतियाँ मूल दो आदर्शों की प्रतिलिपि प्रतीत होती है · सभव है उसकी मूल प्रति प्राचीन होने से उसमे पाठ नष्ट हो गया है, अतः उसी मूल प्रति को उससे कम से कम सौ वर्ष पुरानो भी मान ली (लिया) जाय तो भी रासो का संकलन स० १५७० से पूर्व का ही हो जाना विशेष सभव है[3]।'' इस प्रकार नाहटा जी के अन्वेषणों के आधार पर कहा जा सकता है कि विक्रम की सोलहवी शताब्दी तक रासो के मूल रूप का पर्याप्त विकास और प्रचार हो चुका था।

४—सोलहवी शताब्दी में अकबर के समय तक रासो मे वर्णित घटनायें ऐतिहासिक मानी जाने लगी थी और सामान्य विश्वास की वस्तु हो गयी थी। इसका पता दो ग्रंथो से चलता है। संस्कृत के सुर्जनचरित महाकाव्य और अबुलफजल के 'आइनेअकबरी' मे रासो की अनेक घटनाओं को उद्धरणी उप-

---

१—पृथ्वीराजरासो का रचना-काल—ले० अगरचन्द नाहटा-विशाल भारत, भाग ३८, अंक ६–पृ० ३६५, दिसम्बर १६४६।

२—वही पृ० ३६६।

३—पृथ्वीराजरासो और उसकी हस्तलिखित प्रतियाँ—ले० अगरचन्द नाहटा—राजस्थानी भाग ३ अंक २, पृ० १३, १७।

स्थित की गयी है। ये घटनायें प्राचीन मुसलमानी इतिहास-ग्रंथों—'तबकाते नासिरी' और 'ताज-उल-मा-आसीर'—में तथा चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी के हम्मीर महाकाव्य और राजकीय प्रशस्ति-लेखों में नही मिलतीं। उदाहरणार्थ 'तबकाते नासिरी' में दिल्ली के राजा का नाम गोविन्दराज था। फरिश्ता ने लिखा है कि पिथौरा का भाई चामुण्ड राय उस समय दिल्ली का राजा था और ताज-उल-मा-आसीर में लिखा है कि शहाबुद्दीन ने सं० १२४८ (५८९ हि०) में पृथ्वीराज पर चढ़ाई करके उसे पराम्त किया और उसे अधीनस्थ बना कर छोड दिया था, पर जब सुना कि पृथ्वीराज उसके विरुद्ध षडयन्त्र कर रहा है तो उसने उसका शिरोच्छेदन करवा दिया[1]। यद्यपि उक्त मुसलमानी तवारीखों की सभी बातें विश्वसनीय नहीं है क्योकि उनमें अतिशय सांप्रदायिक और हिन्दू-विरोधी दृष्टि से घटनाओं का वर्णन किया गया है, परन्तु यदि उनमें सचाई हो तो भी १६ शताब्दी तक अबुलफजल जैसे विद्वान ने उन पर विश्वास न करके रासो के ढंग पर पृथ्वीराज की कथा लिखो है। ओझा जी प्रभृति विद्वानों ने पृथ्वीराज और जयचन्द के वैमनस्य, संयोगिता-स्वयम्बर, उसके हरण और दोनों राजाओं के युद्ध को बिलकुल अनैतिहासिक और काल्पनिक बताया है क्योंकि उपर्युक्त मुसलमानी इतिहास-ग्रंथों में ये बातें नही आयी है किन्तु आइनेअकबरी में अबुलफजल ने जयचन्द के यज्ञ, यज्ञ-द्वार पर पृथ्वीराज की स्वर्ण मूर्ति रखा जाना, राजकुमारी का हरण, पृथ्वीराज के सामन्तों का शौर्य आदि बातों का तथा चन्द भाट का उल्लेख किया है[2]। उसी काल में कवि चन्द्रशेखर ने स० १६३४ में बूँदी नरेश एवं अकबर के मनसबदार सुर्जन हाडा के लिए २२ सर्गों का सुर्जनचरित महाकाव्य लिखा था। उसमें सातवें सर्ग में रासो की तरह ही ब्रह्मा के यज्ञकुंड से चाहमान या चहुआन की उत्पत्ति की बात लिखी है। उसके बाद दसवें सर्ग में पृथ्वीराज का उल्लेख है और कान्यकुब्जेश्वर की कन्या के साथ पृथ्वीराज के प्रेम, पृथ्वीराज और चन्द कवि के कन्नौजगमन, गंगातट पर पृथ्वीराज और संयोगिता के मिलन तथा संयोगिता-हरण और युद्ध आदि की घटनायें ठीक उसी तरह वर्णित हैं जैसी पृथ्वीराजरासो या आइनेअकबरी में कही गयी है। उसके बाद १२८ वें श्लोक

१—वीर-काव्य—ले० डा० उदयनारायण तिवारी—प्रयाग सं० २००५, पृ० १३१।

२—आइनेअकबरी—ले० अबुलफजल (गैरेट का अंग्रेजी में अनुवाद)—भाग २, पृ० ३००-३०१।

से पृथ्वीराज की दिग्विजय का वर्णन है जिसमें पृथ्वीराज ने म्लेच्छराज शहाबुद्दीन को इक्कीस बार पराजित कर उसे पकड कर छोड दिया है और अन्त में शहाबुद्दीन पृथ्वीराज को पकड़ कर गजनी ले जाता है, उसे नेत्रहीन कर देता है तथा चन्द कवि गजनी जाता एव उसकी प्रेरणा से पृथ्वीराज शब्दवेधी बाण से शहाबुद्दीन की हत्या करता है[1]। इस तरह सुर्जनचरित में वर्णित घटनायें बीकानेर फोर्ट लाइब्रेरी के रासो की प्रति की घटनाओं से मेल खाती है। पृथ्वीराज और जयचन्द के बैर की बात तथा पृथ्वीराज की मृत्यु के बाद जयचन्द द्वारा घर घर घी के दीप जलवाने की घटना का उल्लेख 'पुरातन प्रबन्धसंग्रह' के जयचन्द-प्रबन्ध में हुआ है और प्रबन्ध-चिन्तामणि के तुङ्गसुभट-प्रबन्ध में शहाबुद्दीन से पृथ्वीराज के २२ युद्धों का उल्लेख भी हुआ है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि प्रबन्ध चिन्तामणि की रचना स० १३६१ में हुई थी और 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' के उपर्युक्त प्रबन्ध सं० १२९० के लिखे है। इस तरह तेरहवीं शताब्दी से सुर्जनचरित के निर्माण-काल तक, यह अनुश्रुति प्रचलित थी कि पृथ्वीराज और जयचन्द मे दुश्मनी थी और पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन के बीच अनेक युद्ध हुए थे। यह निश्चय करना अत्यन्त कठिन है कि उपर्युक्त ग्रन्थों में वर्णित घटनायें मूल पृथ्वीराजरासो से ली गयी थीं या लोक-प्रचलित अनुश्रुतियों से। मेरा अनुमान है कि पृथ्वीराज की मृत्यु के बाद सौ वर्ष के भीतर ही उस महान वीर के सम्बन्ध में नाना प्रकार की अनैतिहासिक और अर्द्धऐतिहासिक अनुश्रुतियाँ और किंवदंतियाँ प्रचलित हो गयी और उन्ही के आधार पर पृथ्वीराजरासो के कथानक और घटना-क्रम का विकास होता गया और उन्हीं मूल स्रोतों से प्रबन्ध-संग्रहो और बाद में सुर्जनचरित और आइनेअकबरी में भी पृथ्वीराज से सम्बन्धित बातें ग्रहण की गई। उनमें ऐतिहासिकता है या नहीं, यह बिलकुल अलग प्रश्न है। पर यदि वे बाते अनैतिहासिक भी हों तो भी उनके आधार पर पृथ्वीराजरासो को परवर्ती और जाली नहीं कहा जा सकता। निष्कर्ष यह कि तेरहवीं और सोलहवो शताब्दी के बीच पृथ्वीराज रासो के वर्तमान रहने की पूरी सम्भावना प्रतीत होती है क्योंकि उसमें वर्णित घटनायें प्रबन्ध-चिन्तामणि, पुरातन प्रबन्धसंग्रह, प्रबन्ध-कोश, सुर्जनचरित महाकाव्य और आइनेअकबरी की तत्सम्बन्धी घटनाओ से मिलती जुलती हैं। इस सम्बन्ध में डा० दशरथ शर्मा का मत है कि सं० १५२८ से पूर्व रासो की कोई प्रति वर्त-

---

१—सुर्जनचरित महाकाव्य (निबन्ध), ले० डा० दशरथ शर्मा, नागरी-प्रचारिणी पत्रिका—वर्ष ४६, पृ० २०५, सं० १९९८।

मान थी जिसके कुछ छन्द 'पुरातन प्रबन्ध-संग्रह' में उद्धृत किये गये हैं। साथ ही उनका यह भी कहना है कि सुर्जनचरित में तत्कालीन प्रचलित पृथ्वीराजरासो का सारांश ले लिया है।[1]

५—पं० मोतीलाल मेनारिया जैसे कुछ लोगों का यह भी कहना है कि चंद नाम का कवि पृथ्वीराज का समसामयिक तो अवश्य था पर उसने कोई रासो नहीं लिखा था बल्कि 'रणमल्लछन्द' या 'पावजी रा छन्द' के तरह का पृथ्वीराज से संबंधित कोई लघु काव्य या कुछ फुटकल छन्द लिखे थे।[2] यह क्लिष्ट कल्पना इन विद्वानों को इसलिए करनी पड़ी है कि रासो को जाली सिद्ध किया जाय क्योंकि वे चन्द को काल्पनिक व्यक्तित्व नही सिद्ध कर सके। पृथ्वीराजविजय का पृथ्वीभट्ट और पुरातन प्रबन्ध-संग्रह का द्वारभट्ट और चन्द बलद्दिय चन्द के अस्तित्व के प्रमाण हैं। अतः उन्होंने पृथ्वीराजरासो को ही परवर्ती और जाली कह कर सतोष किया है। परन्तु यदि चन्द के वशधर नागौर के नानूराम का यह दावा सही है कि उनके पास की दो प्रतियों में से एक सं० १४५५ में लिपिबद्ध की गयी थी तो रासो का विक्रम की पंद्रहवीं शताब्दी मे होना भी स्वतः सिद्ध हो जाता है। प्रो० रमाकान्त त्रिपाठी ने उन दोनों प्रतियों को स्वयं देखा था और उनका कहना है कि उनमें से "एक प्रति, कागज स्याही तथा अक्षरों को देखते हुए काफी पुरानी ज्ञात होती है।'[3] उनके कथनानुसार उस प्रति की अन्तिम पुष्पिका इस प्रकार है:—

सं० १४५५ वर्षे शरद् ऋतौ आश्विन मासे शुक्लपक्षे उद्यात घटी १६ चतुर्थी दिवसे लिखितं। श्री षरतरगच्छाधिराजे पंडित श्रीरूप जी लिखितं। चेलाः श्री शोभा जो रा। कपासन मध्ये लिपिकृतं।

इस प्रति के सम्बन्ध में विद्वानों को शंका है। श्री अगरचन्द नाहटा ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि "बिना प्रति के स्वयं देखे हमें तो इसकी भाषा और लेखन-प्रशस्ति पर विश्वास नहीं होता कि यह प्रति ठीक सं० १४५५ की लिखी हुई

१—वीर-काव्य—(डा० दशरथ शर्मा के मत पर विचार)—ले० डा० उदयनारायण तिवारी, पृ० ४५।

२—पृथ्वीराजरासो का निर्माण-काल—ले० प० मोतीलाल मेनारिया—विशाल भारत, भाग ३८, पृ० २३६, अक्टूबर १९४६।

३—महाकवि चन्द के वंशधर—ले० प्रो० रमाकान्त त्रिपाठी, एम० ए०—चाँद (मारवाडी अंक)-पृ० १४९।

है[1]। इसी तरह डा० उदयनारायण तिवारी ने भी नानूराम वाली प्रति की प्राचीनता के सम्बन्ध में लिखा है, "जब तक यह प्रति प्रकाश में न आये और विद्वान उसकी प्राचीनता के सम्बन्ध में एकमत न हो जायँ तब तक इसे सम्वत् १४५५ में लिपिबद्ध होना कैसे माना जा सकता है ?"[2] किन्तु इस सम्बन्ध में यह भी तो कहा जा सकता है कि जब तक इस प्रति की जाँच करके उसे अर्वाचीन नहीं सिद्ध कर दिया जाता तब तक प्रो० रमाकांत त्रिपाठी की बातों पर अविश्वास करने का क्या आधार है ? इधर नानूराम वाली प्रति से भी पहले की लिखी हुई एक प्राचीन प्रति का पता चला है। नवम्बर सन् १९४६ के 'विशाल भारत' में प्रसिद्ध जैन पुरातत्वान्वेषक मुनिकान्तसागर जी ने लिखा है कि उन्हें रासो की एक १२५ पत्रों वाली अत्यन्त प्राचीन प्रति मिली है जिसका लिपिकाल सं० १४०३ है। मुनि जी के मतानुसार आज तक रासो की उपलब्ध सब प्रतियों में यह प्रति अत्यन्त प्राचीन और प्रामाणिक है। प्रस्तुत प्रति की पुष्पिका इस प्रकार है :—"विक्रम सं० १४०३ कार्तिक शुक्ल पंचम्यां तुगलक फिरोजशाह विजय राज्ये दिल्यां मध्ये लिपिकृतं वाचक महिमराजेन श्रीमाल-कुलोत्पन्न श्री ठक्कुर फेरू पुत्र हेमपाल वाचनार्थं। शुभं भूयात्।" मुनि जी ने लिखा है कि यह प्रति सचित्र है और इसमें रासो की घटनाओं से सम्बन्धित ४५ तिरंगे चित्र हैं, इस प्रति में चन्द्रशेखर रचित सुर्जनचरित काव्य भी उल्लिखित है और सम्पूर्ण रासो छप्पय छन्द मे गुम्फित है[3]। आश्चर्य है कि मुनि जी के इस लेख के प्रकाशन के उपरान्त अब तक किसी अधिकारी विद्वान ने उनकी प्रति को देखकर उसके बारे में अपना मन्तव्य क्यों नहीं प्रकाशित किया। मुझे इस प्रति के विषय में सन्देह इस कारण हो रहा है कि इसके साथ सुर्जन-चरित महाकाव्य स० १४०३ में कैसे लिखा जा सकता था जब कि उसकी रचना ही संवत् १६३४ में हुई। साथ ही सम्पूर्ण रासो छप्पय छन्द में होने की बात भी कल्पनातीत ही है। अतः इस प्रति को देखकर इसका अध्ययन किये बिना इसे नोटिस मात्र माना जा सकता है। किन्तु यदि मुनिकान्त सागर जी

१—पृथ्वीराजरासो और उसकी हस्तलिखित प्रतियाँ—ले० श्री अगरचन्द नाहटा-राजस्थानी, भाग ३, अङ्क २, अक्तूबर १९३९, पृ० ४५।

२—वीर-काव्य—ले० डा० उदयनारायण तिवारी—प्रयाग, सं० २००५, पृ० ११०।

३—पृथ्वीराजरासो की सर्वप्राचीन प्रति—ले० मुनिकान्त सागर—विशाल भारत—नवम्बर सन् १९०६, पृ० ३३१।

के पास सचमुच कोई ऐसी प्रति हो तो इसमें कोई सदेह नहीं कि रासो की प्राची-नता और मौलिकता के बारे में किसी को कोई सन्देह नहीं रह जायगा।

६—अकबर के राज्यकाल में सूरदास जी ने 'साहित्य-लहरी' की रचना की थी। उसमें उन्होंने अपने को चन्द का वंशज कहा है और उस पद की टीका में किसी अन्य कवि ने लिखा है :—

प्रथम ही पृथु यज्ञ ते भे प्रकट अद्भुत रूप।
ब्रह्म राव विचार ब्रह्मा राखु नाम अनूप॥
पान पय देवी दियो सिव आदि सुर सुख पाय।
कह्यो दुर्गा पुत्र तेरो भयो अति अधिकाय॥
पारि पायन सुरन के सुर सहित अस्तुति कीन।
तासु बंस प्रसंस में भो चन्द चारु नवीन॥
भूप पृथ्वीराज दीन्हों तिन्हें ज्वाला देस।

महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री का नानूराम ब्रह्मभट्ट ने चन्द के वंशजों की जो वंशावली बताई थी वह साहित्य-लहरी वाली वंशावली से करीब करीब मिल जाती है। उपर्युक्त उद्धरण में भाटों को पृथु-यज्ञ से उत्पन्न बताया गया है। भाट सूत मागधों की वंश-परम्परा में आते हैं जिनकी उत्पत्ति पुराण-महाभारत-मनुस्मृति आदि में पृथु के ब्रह्म यज्ञ से बतायी गयी है। इस तरह चन्द ब्रह्मराव के कुल में उत्पन्न ब्रह्मभट्ट थे। इसी कारण 'पुरातन प्रबन्धसंग्रह' में चन्द द्वारभट्ट और रासो में बार-बार भाट, भट्ट, भट और वीर भट्ट कहा गया है। अतएव चन्द वरदाई भट्ट जाति के थे और पृथ्वीराज के दरबारी कवि थे, यह बात साहित्य-लहरी और 'चन्द-छन्द वर्णन की महिमा' दोनों ग्रंथों से प्रमाणित होती है। डा० ब्रजेश्वर वर्मा के अनुसार यदि साहित्य-लहरी को महाराज जसवन्त सिंह (सं० १६८३–१७३५) के समय में किसी भाट का लिखा भी मान लें तो भी हमारे उपर्युक्त निष्कर्ष में कोई अन्तर नहीं पड़ता। भविष्य-पुराण में भी सूरदास का चन्द भट्ट का वंशज होना लिखा है :—

सूरदास इतिज्ञेयः कृष्णलीलाकरः कविः।
शम्भुवै चन्द्र भट्टस्य कुले जातो हरिप्रियः॥१॥

उपर्युक्त श्लोक को यदि परवर्ती क्षेपक मान लिया जाय तो भी यह प्रक्षेप सूरदास जी की प्रसिद्धि के बाद सं० १६०० के आसपास हुआ होगा; अतः यह सिद्ध है कि १६०२ वि० सं० के आसपास चन्द भट्ट का नाम प्रख्यात था और

—भविष्यपुराण—प्रतिसर्ग पर्व, अध्याय २२, श्लोक ३०

सर उसके वंशज माने जाते थे ।[1]

७—भाषा, छन्द, काव्यरूप और कथानकरूढ़ियो की दृष्टि से भी रासो में प्राचीनता के पर्याप्त लक्षण दिखाई पड़ते हैं । पिछले अध्याय में सामन्ती वीर-युग के काव्यरूपो, छन्द, भाषा आदि के सम्बन्ध में विस्तार के साथ विचार किया जा चुका है । उनको दृष्टि में रखकर पृथ्वीराजरासो का अध्ययन करने पर पता चलता है उसमें प्राचीनता के तत्त्व अर्वाचीन आवरण के भीतर छिपे हुए है । उनके बारे में आगे विशेष रूप से विचार किया जायगा । यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि भाषा, छन्द, काव्यरूप और कथानकरूढियों की दृष्टि से विचार करने पर इस बारे में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि मूल रासो की रचना विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में अवश्य हुई होगी । बीकानेर के प्रोफेसर मीनाराम रंगा ने ने इस सम्बन्ध मे लिखा है कि 'आधुनिक अन्वेषण ने रासो की प्रामाणिकता का प्रतिपादन करने के साथ इसकी भाषा की प्राचीनता से सम्बद्ध भ्रमात्मक विचारों का निराकरण कर दिया है । सभी अधिकारी व्यक्ति मूल रासो को भाषा अपभ्रंश मानते हैं ।[2] पिछले अध्याय में हमने जिन रासो ग्रन्थो की चर्चा की है उनकी भाषा भी देश्य मिश्रित अपभ्रंश या परवर्ती अपभ्रश है । अतः उन्हीं की परम्परा में पृथ्वीराजरासो को मान लेने पर उसकी मूल भाषा परवर्ती अपभ्रश मानना पड़ेगा । डा० दशरथ शर्मा और प्रो० मीनाराम रंगा ने 'रासो की भाषा' के सम्बन्ध में एक लेख में रासो की साठ पक्तियों का अपभ्रंश में रूपान्तर भी किया है और लिखा है कि रासो के लघु रूपान्तरों में भाषा अधिकाधिक अप-भ्रंश के निकट पहुँचने लगती है । कई स्थल तो ऐसे हैं कि सामान्य परिवर्तन करते ही भाषा अपभ्रंश हो जाती है ।[3] चूँकि इस तरह की अपभ्रंशाभास वाली देशी भाषा में तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में ही काव्य लिखे जाते रहे, बाद में या तो विशुद्ध अपभ्रंश-प्राकृत में लिखे जाने लगे या सस्कृत-गर्भित हिन्दी में, अतः मूल पृथ्वीराजरासो भी उक्त काल की ही रचना है, परवर्ती नहीं । इसी तरह रासो में गाहा या गाथा छन्दों की अधिकता उसकी प्राचीनता सिद्ध करती है । अपभ्रंश तक में गाथा छन्द का प्रयोग होता रहा, पर हिन्दी में उसका प्रयोग प्रायः बन्द ही हो गया ।

१—महाकवि चन्द अने पृथ्वीराजरासो (गुजराती)—ले० श्री गोवर्धन शर्मा, बम्बई, १९४७, पृ० ५९ ।

२—वही-(भूमिका)-भूमिका लेखक—प्रो० श्री मीनाराम रंगा, एम० ए० ।

३—पृथ्वीराजरासो की भाषा—ले० डा० दशरथ शर्मा और प्रो० मीनाराम रंगा—राजस्थान भारती, भाग १—अंक ४—सन् १९४७—पृ० ४९ ।

२—रासो के विकास की अवस्थाएँ और उसका उद्धार-काल

ऊपर के प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पृथ्वीराज के दरबार में चन्द भट्ट नाम का कोई कवि था जिसने अपने आश्रयदाता की प्रशस्ति में कोई काव्य लिखा था। उस काव्य का नाम पृथ्वीराजरासो था या और कुछ, इसके बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। 'पृथ्वीराज-रासो' नाम का सत्रहवीं शताब्दी से पहले का कोई प्रमाण नही मिलता। सत्रहवी शताब्दी की रासो की जो हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं उनमें तो पृथ्वीराजरासो नाम मिलता ही है, सं० १७०५ में लिखित दलपति मिश्र के 'जसवन्त-उद्योग' नामक ऐतिहासिक काव्य में भी पृथ्वीराजरासो नामक विस्तृत कथा वाले ग्रन्थ का नामोल्लेख इस प्रकार हुआ है[1]।—

> रासौ पृथ्वीराज को तहां बहुत विस्तारु।
> मैं वरण्यो संछेप ही सकल कथा को सारु॥ १३॥

इससे स्पष्ट है कि सं० १७०५ तक पृथ्वीराजरासो का विस्तार बहुत अधिक हो गया था। नौचौकी बाँध के जिस राजप्रशस्ति काव्य का उल्लेख ऊपर किया गया है, उसकी रचना सं० १७१८–१७३२ में हुई थी। उसमें भी पृथ्वीराजरासो के विस्तृत होने की ही बात लिखी है,—"भाषारासा पुस्तकेऽस्य युद्धस्योक्तोऽस्ति विस्तरः।" यद्यपि पं० मोतीलाल मेनारिया ने इसी काल को पृथ्वीराजरासो का रचना-काल माना है पर अन्यत्र उन्होंने स्वयं ही विरोधी बात भी कही है। "राज-स्थान में हिन्दी ग्रन्थों की खोज" नामक पुस्तक में पृ० ५६ पर रासो की प्रति नं० १ का परिचय देते हुए उन्होंने लिखा है, "प्रति में कही भी इसके लेखन-काल का निर्देश नहीं है लेकिन प्रति है यह बहुत पुरानी। अनुमानतः ३००—३५० वर्ष की पुरानी होगी। इसकी वर्तमान अवस्था, कागज, स्याही, लिखावट इत्यादि को देख कर कोई इसे ५—१० वर्ष और पहिले की लिखी हुई बतलाए तो इसकी भी गुंजाइश है।" अतः मेनारिया जी के कथनानुसार ही यह प्रति, जिसमें कुल ६१ समय हैं, सं० १६५० के आसपास की लिखी प्रतीत होती है अर्थात सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में रासो का बृहत् रूपान्तर हो चुका था। अतः यह मानना पड़ेगा कि उसका संकलन समर सिंह द्वितीय नहीं बल्कि प्रथम के समय (सं० १७५३) में ही हुआ। सत्रहवीं शताब्दी की लिखित रासो की कई मध्यम, लघु और लघुतम रूपान्तर वाली प्रतियाँ भी प्राप्त

१—पृथ्वीराजरासो का रचना-काल—ले० श्री अगरचन्द नाहटा—विशालभारत, भाग ३८, अंक ६—पृ० ३६६—दिसम्बर १९४६।

हुई है जिससे उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है। तुलना के लिए उनके लिपि-काल की सरणी नीचे दी जा रही है :—

प्रति	रूपान्तर	समय और श्लोक	लिपिकाल
१—नाहटा जी वाली प्रति	लघुतम रूपान्तर	(समय नहीं है। श्लोक १३००	सं० १६६७
२—बीकानेर फोर्ट लाइब्रेरी की प्रति (करमचन्द के पुत्रों द्वारा उद्धृत)	लघु रूपान्तर	१९ समय ४००४ श्लोक	सं० १६२७
३—कछवाहा चन्द्र सिंह द्वारा उद्धृत रूपान्तर	लघु रूपान्तर	१९ समय ३५०० श्लोक	सं० १६४०-५०
४—मथुरा प्रसाद दीक्षित की ओरियण्टल कालेज लाहौर वाली प्रति	मध्यम रूपान्तर	४६ समय ७००० श्लोक	सं० १६९५ के आसपास
५—उदयपुर सरस्वती भण्डारवाली प्राचीन-तम प्रति (राणा अमर सिंह प्रथम के समय की।)	बृहत् रूपान्तर	३०,००० के करीब श्लोक	सं० १६५३-७६ के आसपास

इस प्रकार हम देखते हैं कि विक्रमीय सत्रहवीं शताब्दी में रासो का अत्यधिक प्रचार था और इसी काल में उसके लघुतम, लघु, मध्यम और बृहत् चारों रूपान्तर हो गये थे। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पृथ्वीराज की मृत्यु के बाद तेरहवीं से सतरहवीं शताब्दी के बीच करीब चार सौ वर्षों तक पृथ्वीराजरासो का निरन्तर विकास होता रहा। पर विकास का क्रम बृहत् रूपान्तर वाली प्रतियों के लिख जाने के बाद भी रुका नहीं। सत्रहवीं शताब्दी में तो रासो केवल विस्तृत ग्रंथ माना जाता था, पर अठारहवीं शताब्दी में इसकी श्लोक-संख्या एक लाख के करीब मानी जाने लगी। सं० १७७७ में गुजराती कवि प्रेमानन्द के पुत्र वल्लभ ने 'कुन्तीप्रसन्नाख्यान' नामक ग्रन्थ लिखा। उसमें पृथ्वीराजरासो के संबंध में लिखा है कि वह महाभारत के प्रमाण का (एक लाख छन्दों वाला) ग्रंथ है[1] :—

१—पृथ्वीराजरासो की हस्तलिखित प्रतियाँ, और पृथ्वीराजरासो का रचना-काल—ले० श्री अगरचन्द नाहटा।

भारत समुं प्रमाण, रासा न तमासा भाखो
कर्यो भारत वेत्रण आरत उवेखिए।
पृथ्वीश प्रशंसा कथी मानशेनु मोधु तेमां
प्रेमानन्द की कविता सविता शी पेखिए
ब्राह्मण थी भाट थया वंशज विधिना आतो
कवीश्वर ना पिता थी चन्द मन्द देखिए।

करोली के यादव राजा गोपाल सिंह के समय में सं० १८०० के करीब चन्द के वंशधर कवि जदुनाथ ने भी अपने 'वृत्तविलास' नामक ग्रथ में रासो को एक लाख पाँच हजार श्लोकों वाला कहा है[1] :—

एम लाख रासो कियो सहस पंच परिमाण।
पृथ्वीराज नृप को सुजसु जाहर सकल जहान ॥

कर्नल टाड ने भी अपने ग्रन्थ 'एनल्स एण्ड एण्टिक्विटीज़ आफ राजस्थान' में अठारहवीं शताब्दी में राजस्थान में प्रचलित प्रवाद के आधार पर रासो का श्लोक-परिमाण एक लाख बताया है[2]। नाहटा जी के पास की मुनि विनयसागर से प्राप्त कण्वज-खण्ड वाली प्रति में भी रासो में सवा लाख श्लोक होने की बात कही गयी है जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इस प्रकार १७ वीं शताब्दी के बाद सामान्यतया यह विश्वास किया जाने लगा था कि रासो महाभारत के समान 'शत साहस्री' ग्रंथ है। सभा द्वारा प्रकाशित 'पृथ्वीराज-रासो' ग्रन्थ वस्तुतः ६८ वें समय में ही समाप्त हो जाता है, क्योंकि शहाबुद्दीन, पृथ्वीराज और चन्द की मृत्यु उसी 'समयों' में दिखाई गई है और उसके अन्त में ग्रंथ की समाप्ति के सूचक छन्द भी आ गये हैं। अतः उसके बाद का महोबा समय स्पष्ट ही बाद का जोड़ा हुआ है क्योंकि उसकी कथा अन्तिम लड़ाई के पहले की है। सत्रहवीं शताब्दी की उदयपुर की बृहत् रूपान्तर वाली प्रति में केवल ६९ समय हैं और महोबा समय उसमें नहीं है। बाद की भी अधिकांश प्रतियों में महोबा समय का न मिलना यह सिद्ध करता है कि यह परवर्ती रचना है।

रासो के विकास की पाँच अवस्थाएँ

रासो के विकास के सम्बन्ध में विचार करने पर पता चलता है कि उसको विकास की पाँच अवस्थाओं (स्टेजेज़) से होकर गुजरना पड़ा है :—

१—कोशोत्सव स्मारक संग्रह–पृ० ६४।

२—वाल्यूम प्रथम, पृ० २५४।

पहली अवस्था—इसमें चन्दबरदाई ने मूल रासो लिखा। पहले कहा जा चुका है कि पृथ्वीराज के दरबारी कवि और मित्र चन्दबरदाई ने कोई प्रशस्ति काव्य अवश्य लिखा था जिसकी भाषा देश्य मिश्रित अपभ्रंश थी। पृथ्वीराज की पराजय और मृत्यु के बाद सभवतः यह ग्रंथ अधूरा रह गया था क्योंकि चन्द स्वयं पृथ्वीराज के साथ ही मारा गया था। अतः मूल रासो की रचना सं० १२५० के कुछ पूर्व हुई होगी। चन्द के वंशधर नानूराम ने महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री को बताया था कि चन्द ने तीन-चार हजार श्लोक संख्या में अपना काव्य लिखा था। यद्यपि इस कथन की सत्यता का कोई प्रमाण उन्होंने नही दिया पर इसमें कोई संदेह नहीं कि मूल रासो बहुत छोटा रहा होगा। वैसे तो लघुतम, लघु और मध्यम रूपान्तर, तीनो के अलग-अलग मूल रासो होने का दावा सर्वश्री अगरचन्द नाहटा, डा० दशरथ शर्मा, मूलराज जैन, मीनाराम रंगा, मथुराप्रसाद दीक्षित, कविराव मोहन सिंह प्रभृति विद्वानों ने किया है पर उन सबके दावे अनुमानाश्रित ही हैं। उनके पास इसका कोई ठोस प्रमाण नही है कि मूल रासो उनके पास वाला ही है। ये रूपान्तर बृहत् रूपान्तर के संक्षिप्त रूप भी हो सकते है।

दूसरी अवस्था—इसमें कवि चन्द के पुत्र जल्हण या जल्ह द्वारा पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन के संघर्ष की अवशिष्ट कथा पूरी की गयी। रासो के ६७वें समय में कहा गया है कि पृथ्वीराज के कैद होने के बाद देवी का आशीर्वाद पाकर चन्द ने ७५ दिन (या साढ़े साठ दिन ?) में सात हजार रूपकों वाले पृथ्वीराज रासो नामक पुस्तक की रचना की।

> उभै मास दिन अद्धवर किय रासो चहुआन।
> रसना भट्ट सुचन्द की बोलि उमा परमान॥
> सहस सत्त रूपक सरस गुन सुन्दर बहु वित्त।
> ले पुस्तक कवि चन्द को दिय माता बहु रित्त॥ ६७,४९-५०

उसके बाद फिर उसने अपने पुत्र को रासो का गुन दिया :—

> फिरिय आप जोगिनि पुरह रासो गुन दे पुत्त।
> पुच्छि त्रीय परिवार सब कहौ तो साधों मुत्ति॥ ६७-४१

और अन्त में अपने दस पुत्रों में सबसे योग्य जल्हण को, जो चन्द के काव्य रूपी सागर को पार करने के लिए जहाज के समान था, रासो देकर उससे पूरी कथा बता दी और सम्भवतः जो अंश पूरा नहीं हुआ था उसकी योजना भी बता दी; इसके बाद राजा की मुक्ति के लिए गजनी की ओर चल पड़ा—

जल्हन जिहाज गुन साज कवि चन्द छन्द सागर तिरन।
अप्यौ सुहित्त रासो सरस चल्यौ अप्प राजन सरन। ६७-८३

दहति पुत्र कवि चन्द के सुन्दर रूप सुजान।
इक जल्लह गुन बावरो गुन समन्द ससि मान॥

आदि अन्त लगि वृत्त मन ब्रन्नि गुनी गुनराज।
पुस्तक जल्हन हत्थ दै चलि गज्जन नृप काज॥

—६७-८४, ८५

इस प्रकार पृथ्वीराजरासो में इस बात का स्पष्ट निर्देश कर दिया गया है कि उसके अन्तिम दो (६७ और ६८) समय चन्द के पुत्र जल्हन के लिखे हुए हैं। किन्तु यह बात विश्वसनीय नहीं प्रतीत होती कि उसके पहले के सभी ४६ समय चन्द के ही लिखे हैं क्योंकि एक तो पृथ्वीराज के कैद और नेत्रहीन होने की खबर सुनने के बाद चन्द के लिए यह सम्भव नही था कि वह ७५ दिन तक पुस्तक लिखने के लिए पृथ्वीराज को भुलाये रहता, दूसरे ७५ दिन में ही इतना विशालकाय और गम्भीर भावों वाला ग्रन्थ लिखना बहुत कठिन है। अतः यही अधिक स्वाभाविक प्रतीत होता है कि चन्द ने पृथ्वीराज की प्रशस्ति में पहले ही मूल रासो की रचना कर ली होगी और बड़ी लड़ाई के बाद घर आकर उसने बड़ी लड़ाई वाला प्रसंग, जिसे उसने वीरभद्र से सुना था, लिखा होगा। जब जल्हन के हाथ में मूल रासो आया होगा तो उसने अपनी बुद्धि और विद्वत्ता का उपयोग करते हुए ग्रथ का संस्कार परिष्कार किया होगा, समय-समय पर लिखे गये छन्दों को एक सूत्र में मिलाने के लिए उसमें बहुत कुछ जोड़ा होगा। इस तरह रासो के उन अंशों में भी जो उसमें चन्द के लिखे कहे गये हैं, जल्हन का लिखा अंश बहुत अधिक होना चाहिए। चन्द की दैवी शक्तियों, चमत्कारपूर्ण कार्यों और अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशसा के जितने भी वर्णन रासो में है वे चन्द के लिखे नहीं हो सकते। जल्हन के बाद के कवियों को भी चन्द की इतनी प्रशंसा करने की आवश्यकता क्यों होती? अतः ये सभी अंश जल्हण ने पृथ्वीराज के साथ अपने पिता की कीर्ति को अमर करने के लिए लिखे होंगे। इस सम्बन्ध में श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य का यह मत सर्वथा सही प्रतीत होता है कि महाभारत में व्यास ने जिस प्रकार दैवी शक्तियाँ अपने साथ नहीं जोड़ लीं, उसी प्रकार सम्भवतः चन्द ने भी अपने साथ (वरदाई, इस विशेषण से व्यक्त होने वाली) नहीं जोड़ी होंगी। दैवी शक्तियों का आरोप उस पर उसके पुत्र अथवा दुबारा उस काव्य का संस्कार करने वाले कवि ने

किया है[1]। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में लिखा है कि "नानूराम भाट का कहना है कि चन्द ने तीन या चार हजार श्लोक-संख्या में रासो की रचना की थी किन्तु इसके पीछे उनके लड़के ने अन्तिम दस समयों को लिखकर उस ग्रंथ को पूरा किया।"[2] पता नहीं शुक्ल जी को नानूराम का उक्त कथन किस स्रोत से प्राप्त हुआ पर यह भ्रमपूर्ण कथन प्रतीत होता है। अन्तिम दो समय तो जल्हन के लिखे अवश्य है पर अडसठ समयो में अन्तिम सभी दस समय, जिसमें कनवज्ज समय भी है, जल्हन के लिखे नही हो सकते क्योंकि रासो का सार भाग या मूल रासो कनवज्ज समय में जरूर है। पूरे रासो में जल्हन के लिखे दस समयों का होना अधिक सम्भव है। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने चारण-काव्य के प्रारम्भिक खोज-विवरण में जल्हन के बारे मे यह लिखा है कि "चन्द का पुत्र झल्ल एक गुणज्ञ कवि था। कहते हैं कि उसने अपने पिता द्वारा लिखित पृथ्वीराजरासो में बहुत कुछ जोड़ा है। कहा जाता है कि अपनी माँ का नाम चलाने के लिए चन्द और उसकी स्त्री विषयक वार्तालाप उसी के जोड़े हुए हैं, जो छपे रासो में दिये गये है[3]।" इस बात में सत्य की संभावना अधिक है क्योंकि रासो की कथा मूलत. शुक-शुकी संवाद के रूप में ही कही गयी होगी। कथा कहने की यह परम्परा पहले से प्रचलित रही है। कौतूहल की लीलावईकहा में पति-पत्नी के सम्वाद के रूप में कथा अवश्य कही गयी है पर वह काल्पनिक कथा है, ऐतिहासिक काव्य नही। इस प्रकार यह अनुमान सत्य के बहुत अधिक निकट है कि रासो के विकास की दूसरी अवस्था में चन्द के पुत्र जल्हन ने मूल रासो में बहुत कुछ परिवर्द्धन-परिवर्तन किया। यह कार्य चन्द की मृत्यु के ५० वर्ष के भीतर ही अर्थात् स० १३०० तक हो गया होगा। सं० १२९० के 'पुरातन प्रबन्ध-संग्रह' वाले प्रबन्धों में जो चार छप्पय मिले हैं उनमें एक 'जल्ह' का लिखा है। इससे उपर्युक्त कथन की सत्यता प्रमाणित हो जाती है।

१—हिन्दू भारत का उत्कर्ष—ले० चि० वि० वैद्य—हिन्दी अनुवाद—काशी सं० १९८६ पृ० २७।

२—हिन्दी साहित्य का इतिहास—ले० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—आठवाँ संस्करण, पृ० ४७।

2—Preliminary Keport on the Operation in Search of Manuscripts of Bardic Chronicles—by Harprasad Shastri-Royal Asiatic Society of Bengal. 1913, P, 29.

तीसरी अवस्था—विकास की इस तीसरी अवस्था में पृथ्वीराज चौहान की ख्याति के साथ पृथ्वीराजरासो की लोकप्रियता भी बढ़ती गयी। परिणाम-स्वरूप यह काव्य चन्द की वंश-परम्परा के भाटों की ही नहीं, समूचे राजस्थान के चारण-भाट-ढाढी आदि पेशेवर कवि-गायक जातियों की सम्पत्ति और जीविका का साधन बन गया। यह अवस्था सं० १३०० से १६५० तक रही जब तक कि उसका संकलन या उद्धार करने के प्रयत्न नहीं होने लगे। हरप्रसाद शास्त्री ने यह भी कहा है कि 'झल्ल के वंशजों का अकबर के समय तक जोड़ करते रहना कहा जाता है।'[1] पिछले अध्याय में कहा जा चुका है कि चारण-भाट आदि जातियाँ प्राचीन सूत-मागध बन्दीजन की परम्परा में हैं और उन्हीं की तरह इन जातियों के कवि भी दरबारों में रह कर राजाओं की प्रशस्ति गाया करते थे। सामन्ती वीरयुग में चारण-भाटों का दरबारो में सम्मान होने लगा क्योंकि वे केवल कवि और विरुद-गायक ही नहीं होते थे, वे वंशावली लिख कर सुरक्षित रखते तथा दौत्य और मन्त्रणा का कार्य भी करते थे। साथ ही वे राजाओं के साथ युद्ध-भूमि में जाकर लड़ते और उनमें निरन्तर वीर-भावना भरते रहते थे। अतः पृथ्वीराजरासो में चन्द वरदाई के सम्बन्ध में इस प्रकार की जितनी बातें कही गयी हैं वे अस्वाभाविक नहीं है। बाद की शताब्दियों में भी राजस्थान के विभिन्न राजाओं के दरबारों में चारण-भाटों का बहुत अधिक सम्मान था, वे स्वतन्त्र रचना करने के साथ ही वीरगाथा के रूप में पृथ्वीराजरासो का गान या पाठ राजाओं के सामने किया करते थे। इस तरह विकास की तीसरी अवस्था चारण भाट आदि पेशेवर जातियों के कवियों द्वारा रासो का रूप-परिवर्तन दो प्रकार से हुआ :—

(१) गाने वाले कवियों द्वारा आशु काव्य-प्रतिभा से मूल रासो में परिवर्तन परिवर्द्धन हुआ।

(२) चन्द की वंश-परम्परा के भाटों तथा अन्य चारण-भाटों ने अपने राजाओ का सम्मान बढ़ाने के लिए उनके पूर्वजों को भी पृथ्वीराजरासो में लाना आवश्यक समझा, अतः वे लिखित रूप में भी मूल रासो में कुछ-न-कुछ जोड़ते रहे।

गेय रूप में रासो का विकास :—

राजस्थान में पृथ्वीराजरासो गाया जाता था, उसमें सन्देह की गुंजाइश नहीं है। राजस्थानी के प्रसिद्ध विद्वान और रासो के विशेषज्ञ डा० दशरथ शर्मा और प्रो० मीनाराम रंगा ने लिखा है कि 'रासो सदैव जनप्रिय श्रव्य-काव्य रहा है।

१—वही–पृ० वही।

ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता गया त्यों-त्यों इसमें नवीन कृतियाँ प्रविष्ट होती गयीं, पुराने छन्दों का रूप परिवर्तित या विकृत हो गया। नवीन छन्द प्रायः उसी बोली में आ गये जो प्रक्षेपकर्ता के जीवन में व्यवहृत हो रही थी।" इस तरह गेय रूप में प्रचलित रहने के कारण रासो की भाषा और वर्ण्य-वस्तु में परिवर्तन हुआ है। राजस्थान में साहित्यिक कृतियों के चारण-भाट ढाढी आदि लोगों द्वारा गाये जाने की प्रथा अभी कुछ दिनो पूर्व तक रही है। 'राजस्थान में हिन्दी की हस्तलिखित पुस्तको की खोज' नामक पुस्तक की अंग्रेजी भूमिका में प्रसिद्ध विद्वान् श्री हरविलास शारदा ने लिखा है कि "राजपूताना में पाश्चात्य शिक्षा की जड़ जमने के पूर्व डिंगल भाषा में रचित साहित्य का सार्वभौम रूप से गायन और पाठ हुआ करता था और उसे सुनकर जनता में वीरता और साहस की भावना हिलोरें लेने लगती थो। राजस्थान में वीरो के वीरतापूर्ण कार्यों और जीवनचरित को गाये जाते सुनकर वहाँ के राजपूत ही नही, छतीसो जातियों की जनता प्रोत्साहित और क्रियाशील होती थी। इस वीर-भूमि के गाँव-गाँव और नगर-नगर मे चारण-भाट, ढाढ़ी तथा अन्य लोग वीरों की गाथाओं का गान करते थे और उनके सम्बन्ध में दोहे और कहानियाँ सुनाया करते थे।"[2] इससे स्पष्ट है कि पृथ्वीराजरासो भी अवश्य गाकर सुनाया जाता रहा होगा। फ्रान्सीसी विद्वान गार्सां द तासी ने अपने 'हिन्दुस्तानी साहित्य के इतिहास' में लिखा है कि 'श्री एम० एम० फैलन को अजमेर में एक दिन एक अपढ़ ऊँटवाहा मिला। उसने कण्ठस्थ किये हुए चन्द की रचना के दीर्घ अंश सुनाये जिन्हें अन्य भारतीयों को गाते सुनकर उसने याद किया था। एक निरक्षर निम्न श्रेणी के व्यक्ति ने इस प्रसिद्ध राजपूत काव्य के छन्द पूर्ण उत्साह और जोश के साथ गाये, यह इसका प्रतिपादक है कि अस्त्र-शस्त्रो के शौर्य की वह गाथा, जिसका रंगमंच रजवाड़ा था, अभी भी जनता की स्मृति में थी[3]।'

१—पृथ्वीराजरासो की भाषा—ले० डा० दशरथ शर्मा और प्रो० मीनाराम रंगा—राजस्थान भारती—भाग १—अंक ४, पृ० ४६, सन् १६४७।

२—राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, (प्रथम भाग)—लेखक पं० मोतीलाल मेनारिया (दीवान बहादुर हरविलास शारदा की अंग्रेजी भूमिका) प्रथम संस्करण, पृ० २।

३—इस्तवार दी ला लितरात्यूर ऐन्दुई ए ऐन्दुस्तानी—द्वितीय संस्करण, प्रथय भाग, पेरिस, पृ० ३८५। (श्री विपिन विहारी त्रिवेदी के चन्द 'वरदायी और उनका काव्य' ग्रन्थ के पृ० ३५३ से उद्धृत)।

यहाँ रासो के तत्सम्बन्धी अन्तस्साक्ष्य पर विचार कर लेने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि मूल पृथ्वीराजरासो भी गेय ही रहा होगा। आदि पर्व (प्रथम समय) के ४० वें छन्द से प्रतीत होता है कि रासो का सस्वर पाठ या गान होता रहा होगा :—

चरन नीम अच्छर सुरंग पाट लहु गुरु विधि मंडिय।
सुर विकास जारो सु मुष्ष उक्किरस गौरव निछंडिय॥ १-४०

उसी तरह ६८वें समय में उपसंहार भी कहा गया है कि रासो को कैसे गाना और सुनना चाहिये :—

मंत्र सकति या मझ धूप अष्पत उष्षेवय।
सुनै श्रवन गुन एह दान श्रद्धा करि देवय।
एक चित्त करि भाव भाव या मझ्झह पावय।
अरथहीन अनहीन हीन छन्दह नन गावय।
पिंगल प्रमान बहु भाँति जुति, रस रूपक नव नव सरस।
वरदाय माय रसना रसिक परचि प्रीति पावे सुरस॥६८-२४२

ये दोनों छन्द चाहे परवर्ती क्षेपक ही क्यों न हों पर वे इस बात पर प्रकाश डालते हैं कि पृथ्वीराजरासो का दरबारों में तथा जनता में गान होता था और धार्मिक ग्रंथ के रूप में उसका पाठ करके श्रोताओं को भी सुनाया जाता था। पिछले अध्याय में कहा जा चुका है कि सामन्ती वीरयुग में रासक या रासो नामक काव्यरूप का प्रचार था। ये अधिकतर लघु काव्य होते थे। धार्मिक अवसरों, उत्सवों और मन्दिरों में जैन साधुओं और कवियों के लिखे रासकाव्यो का नृत्य के साथ ताली बजा कर गान किया जाता था। जिनदत्त सूरि के उपदेशरसायनरास में छत्तीसवें छन्द में कहा गया है कि रात्रि में रास-गान के समय ताली नहीं बजानी चाहिए क्योंकि जीव-हिंसा का भय रहता है और दिन में स्त्रियों को पुरुषों के साथ लकुट (लगुडा) रास में भाग नहीं लेना चाहिये क्योंकि उससे चोट लगने का भय रहता है :—

ताला रासु वि दिन्ति न रयणिहि।
दिवसि विलउ डारसु सहुँ पुरिसिहि।

श्री अगरचन्द नाहटा का कहना है कि जैन मन्दिरों में ये दोनों रास चौदहवीं शती तक खेले जाते थे[1]। सं० १३२७ में रचित 'सप्तक्षेत्री रास' के

१—प्राचीन भाषा-काव्यों की विविध संज्ञायें—ले० श्री अगरचन्द नाहटा—ना० प्र० पत्रिका–वर्ष ५८, अंक ४, सं० २०१०—पृ० ४२० ।

निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि जैन मन्दिरों में श्रमणों और श्रावकों की उपस्थिति में ताला रास और लकुटा रास का आयोजन होता था जिसमें ललित वाणी, मधुर शब्द, ताल-छन्द और वाद्य के साथ 'जिन' का गुणगान किया जाता था[1]।'

बइसइ सहूइ श्रमण संघ सावय गुणवन्ता।
जोयइ इच्छवु जिनह भुवणि मनि हरख धरन्ता।
तीछे ताला रास पडइ बहु भाट पढंता।
अन्नइ लकुटारास जोइइ खेला नाचंता। ४८.
सविहु सरीखा सिणगार सवि तेवड तेवडा।
नाचइ धामीय रभरे तउ भावहि रूडा।
सुललित वाणी मधुर सादि जिण गुण गायन्ता।
ताल मानु छन्द गीत मेलु बाजित्र बाजन्ता ॥ ४९

इस लोक-प्रचलित गीतिनाट्य 'रास' को भारतीय नाट्यशास्त्र में रासक नाम से उपरूपक मान लिया गया है वाग्भट्ट के काव्यानुशासन के अनुसार रासक एक मसृणोद्धत गेय रूपक है जिसमें अनेक नर्तकियाँ तथा अनेक प्रकार के ताल और लय होते हैं और ६४ तक के युग्मक (युगल) होते हैं[2]। उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रारम्भ में रासक या रास लोक-प्रचलित गीति-नृत्य था; बाद में शिष्ट साहित्य में उसे रासक नामक मसृणोद्धत गेय उपरूपक मान लिया था, पर लोक-प्रचलित गीतिनाट्य वाला रूप चलता रहा। बाद में जैन साधुओं और कवियों ने अपने धर्म-प्रचार के लिए रासक या रास नाम से लघु काव्य लिखे जिनका मन्दिरों में और उत्सवो के अवसर पर नृत्य के साथ गान होता था। आगे चल कर नृत्य तो उसमें से बिलकुल निकल गया और गान रह गया। इस प्रकार रास, रासअ (रासउ), रासा या रासो शब्द ग्यारहवीं शताब्दी के बाद लघु गेय काव्य के लिए प्रयुक्त होने लगा। पृथ्वीराजरासो के निर्माण के समय रासो नामक काव्यरूप प्रबन्ध काव्य की सीमा में चला आया था पर उसका गेयता से सम्बन्ध-विच्छेद नहीं हुआ था। इस तर्क के आधार पर भी यह सिद्ध

१—'प्राचीन गुर्जर काव्य-संग्रह'—(सप्तक्षेत्रिरासु) पृ० ५२।

२—अनेकनर्तकीयोज्यं चित्रताललयान्वितम्।
आचतुःषष्टियुगलाद्रासकं मसृणोद्धतम् ॥
—वाग्भट्ट—काव्यानुशासन की वृत्ति।

होता है कि परवर्ती शताब्दियों में चारणों भाटों द्वारा पृथ्वीराजरासो गाया जाता रहा होगा। इस प्रकार सैकड़ों वर्षों तक गाये जाते रहने के कारण मूल रासो की भाषा तो बदलती ही रही, साथ ही गायक अपनी आशु काव्य-प्रतिभा के प्रदर्शन के लिए अथवा अपने आश्रय-दाता की प्रसन्नता और उसके पूर्वजों के कीर्ति-संरक्षण के लिए, श्रोताओं की रुचि पहचान कर, उनके मनोनुकूल धार्मिक और मनोरञ्जक तत्वों वाले उपाख्यानों और छन्दों को उसमें बराबर जोड़ते रहे। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है क्योंकि महाभारत, रामायण और पुराणों का विकास भी अधिकतर इसी तरह हुआ है। सभी विकसनशील काव्यों का विकास इसी तरह होता रहा है। गायन-प्रक्रिया के साथ ही रासो में लिखित रूप में भी विकास होता रहा। चारण-भाटों का काम इन शताब्दियों में राजाओं की वंशावली और 'पीढ़ीयावली' को छन्दोबद्ध करना और सुनाना या सुरक्षित रखना भी होता था। वे 'ख्यात' और 'बात' लिखते थे और इसके साथ ही प्राचीन ख्यातों या ऐतिहासिक समझे जाने वाले काव्यों के जानकार भी होते थे। यद्यपि पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में भारत की केन्द्रीय राज्यसत्ता मुसलमानों के हाथ में चली गयी पर उस समय भी राजस्थान के राजपूतों ने अन्तिम रूप से पराजय नहीं स्वीकार की। उनमें से कुछ की मुसलमान राजाओं से अन्त तक लड़ाई होती रही। इस भावना को पृथ्वीराज के जीवन-चरित से बहुत शक्ति मिलती थी। अतः सभी राजवंश अपना महत्त्व बढ़ाने और पूर्वजों की कीर्ति के अधिकाधिक प्रचार के लिए यह आवश्यक समझते थे कि पृथ्वीराज से उनके पूर्वजों का सम्बन्ध भी किसी न किसी रूप में स्थापित हो। अतः उनके चारण-भाट बिना ऐतिहासिक पूर्वापर सम्बन्ध का ध्यान रखे उनके पूर्वजों को किसी न किसी युद्ध में पृथ्वीराज का सहायक, सामन्त या सम्बन्धी बना कर रासो में घुसाते गये। परिणाम यह हुआ कि रासो नाना युद्धों और राजाओं की नामावली की संहिता बन गया और बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी के राजस्थान के राजपूतों का इतिहास माना जाने लगा। राजपूतों की अग्नि-कुण्ड से उत्पत्ति और ३६ राजपूत जातियों का वर्णन सम्भवतः इसी काल में रासो में जोड़ा हुआ प्रक्षिप्त अंश है। कर्नल टाड ने भी रासो को एक इतिहास-ग्रंथ के रूप में मान कर उसके आधार पर "राजस्थान का इतिहास" लिखा है? वे लिखते है :—

"चन्द का ग्रंथ उसके समय का स्वाभाविक इतिहास है। इसमें ६९ भाग (समयो) तथा एक लाख पद हैं जिनमें पृथ्वीराज के पराक्रम का वर्णन है, किन्तु इसके साथ ही साथ इसमें प्रत्येक उच्च राजपूत वंश के पूर्व पुरुषों का

उल्लेख भी मिलता है। यही कारण है कि राजपूत नामधारी प्रत्येक वंश के संग्रहालय में यह ग्रंथ सुरक्षित मिलता है[1]।"

कर्नल टाड ने राजस्थान का इतना अधिक भ्रमण किया था और उनका राजस्थान सम्बन्धी ज्ञान इतना अधिक था कि उनकी इस बात पर अविश्वास नहीं किया जा सकता कि राजपूतों के प्रत्येक वंश के सग्रहालय में रासो सुरक्षित मिलता है। जिस वंश के राजा ने रासो को लिपि-बद्ध कराया होगा उसके पूर्वजों का वर्णन लिपिकार या उस राजा के राजकवि ने उसमें अवश्य जोड़ा होगा। यही कारण है कि रासो के इतने रूपान्तर मिलते है। इस सम्बन्ध में श्री अगरचन्द नाहटा का यह कथन उचित प्रतीत होता है कि "यह तो सर्वसंमत बात है कि रासो में कई प्रकार की भाषा एवं शैली के पद्य प्रक्षेपित मिलते है जिनसे स्पष्ट है कि वर्तमान रासो की रचना में कई व्यक्तियों का हाथ है। पर वे कौन-कौन थे और कब हुए, यह कहना असम्भव है क्योंकि यह बहुत लोकप्रिय काव्य-ग्रंथ है। जिसके पास गया उसी ने ही उसका कुछ न कुछ भाषा सम्बन्धी रूपान्तर एवं कुछ पद्य अपनी ओर से नये मिला कर उसके प्रभाव में वृद्धि की ही है[2]।" इससे स्पष्ट है कि ज्यों-ज्यों पृथ्वीराजरासो की लोकप्रियता बढ़ती गयी त्यों त्यों उसका विस्तार और विकास भी होता गया। पर विकास की इस तीसरी अवस्था में उसका कितना परिवर्द्धन हुआ, इसका ठीक-ठीक परिमाण बताना असम्भव है। फिर भी इस दिशा में कुछ संकेत किया जा सकता है। उदाहरणार्थ:—

(१) इतिहासकारों का कहना है कि पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन के बीच केवल दो ही युद्ध हुये। पर प्रबन्धचिन्तामणि (सं० १३६१) और प्रबन्ध-कोश (सं० १४०९) में पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन के बीच २०–२२ युद्धों का उल्लेख है। अतः रासो में पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन के अन्य युद्धों का वर्णन सं० १२९० और सं० १५०० के बीच जोड़ा हुआ प्रतीत होता है।

(२) उसी तरह पृथ्वीराजविजय (सं० १२५०) और हम्मीर-महाकाव्य (सं० १४६०) में चौहानो की जो वंशावली दी गयी है और पृथ्वीराज के सम्बन्ध में जो लिखा गया है, उसमें और सुर्जनचरित (सं० १६२५) की पृथ्वीराज सम्बन्धी बातो में बहुत अन्तर दिखलाई पड़ता है। डा० दशरथ शर्मा का अनुमान

१—मूल अंग्रेजी में टाड राजस्थान, भाग १, पृ० २५४। डा० उदय-नारायण तिवारी के वीर-काव्य (पृ० ६३) उद्धृत।

२—पृथ्वीराजरासो और उसकी हस्तलिखित प्रतियाँ—नाहटा—राजस्थानी।

है कि सुर्जनचरित में तत्कालीन प्रचलित रासो की बातों का संस्कृत रूपान्तर किया गया है। अतः यह कहा जा सकता है कि सं० १४६० और सं० १६३५ के बीच रासो का विकास बहुत अधिक हो गया था।

(३) रासो में पृथ्वीराज की बहन पृथा का रावल समर सिंह से विवाह, मेवात के मुगल राजा मुद्गल राय से सोमेश्वर और पृथ्वीराज के युद्ध तथा समर सिंह के ज्येष्ठ पुत्र कुम्भा का दक्षिण में बीदर के मुसलमान बादशाह के पास जाने की बात लिखी है। बीदर सं० १४८७ में बहमनी वंश के बादशाहों की राजधानी बना। उसी तरह मुगल भारत में तैमूरलंग के साथ पहले पहल सं० १४५५ में आये। महाराणा कुंभकर्ण ने सं० १५१७ में कुंभलगढ़ के किले में कुंभ स्वामी के मंदिर में जो शिलालेख खुदवाया उसमें समरसिंह और पृथा के ब्याह तथा शहाबुद्दीन के साथ युद्ध में समरसिंह के मारे जाने का वृत्तान्त नहीं है। किन्तु चन्द्रसिंह कछवाहा द्वारा उद्धार किये गये और राणा अमरसिंह प्रथम के समय में संकलित रासो की बृहत् रूपान्तर वाली प्रतियों में ये बातें हैं। अतः ये घटनाएँ रासो में सं० १४५५, १४८७, और १५१७ के बाद और सं० १६५० के पूर्व जोड़ी गयी होंगी। अतः वर्तमान बृहत् रूपान्तर वाले रासो की अनेक अनैतिहासिक घटनायें इस तृतीय अवस्था में चारण-भाट आदि दरबारी कवियों द्वारा जोड़ी गयी प्रतीत होती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राजदरबारों में सम्मान पाने के कारण ही रासो का इतना विस्तार हुआ। रासो के कई छन्दों में इसका स्पष्ट उल्लेख भी हुआ है कि जो कवि राजसभा में सबको प्रसन्न करने योग्य उत्तम भाषण करने की योग्यता और बुद्धिमानों में आदर चाहे वह रासो को पढ़े :—

तर्क वितर्क उतर्क सजुत्तिय। राज सभा सुभ भासन भत्तिय।
कवि आदर सादर बुध चाहो। पढ़ि करि गुन रासो निर्वाहो।
—१—४१

चौथी अवस्था—रासो के विकास का चौथी अवस्था वह थी जिसमें उसका उद्धार या संकलन करने के विविध प्रयत्न किये गये और इस प्रकार उसके विविध रूपान्तरों को लिपिबद्ध किया गया। यह अवस्था सं० १६३० से सं० १७६० के बीच की थी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में लिखा है कि "पीछे से और लोग इसमें अपनी रुचि अथवा आवश्यकता के अनुसार जोड़-तोड़ करते रहे। अंत में अकबर के समय में इसने इस प्रकार से परिवर्तित रूप धारण किया। अकबर ने इस प्रसिद्ध ग्रंथ को सुना था। उसके इस प्रकार उत्साह-प्रदर्शन पर, कहते हैं कि, उस समय रासो नामक

अनेक ग्रंथों की रचना की गयी ।"[1] यह पहले ही कहा जा चुका है कि रासो का उद्धार और संकलन कछवाहा चन्द्रसिंह, मंत्री करमचन्द के पुत्र और राणा अमरसिंह ने अलग अलग कराया था । प्रकाशित रासो में उपसंहार वाले छन्दों में एक छन्द इस प्रकार है जो रासो की अधिकांश प्रतियों में मिलता है :—

प्रथम वेद उद्धार बंभ मच्छह तन किन्नो ।
दुतिय वीर बाराह धरनि उद्धरि जस लिन्नो ।
कौनारक नभदेस धरम उद्धरि सुर सष्षिय ।
कूरम सूर नरेस हिन्द हद उद्धरि रष्षिय ।
रघुनाथ चरित हनुमन्त कृत भूप भोज उद्धरिय जिम ।
पृथिराज सुजस कवि चन्द कृत चन्द-नन्द उद्धरिय इम ॥
—५८—२२१.

इसका पहले यह अर्थ समझा जाता था कि चन्द के पुत्र जल्हन ने इस ग्रंथ का उद्धार किया । रासो की कुछ लघु रूपान्तर वाली प्रतियों में उपर्युक्त छन्द कुछ भिन्न रूप में मिलता है जिसकी अन्तिम पंक्ति यह है[2] :—

पृथ्वीराज सुजसु कवि चन्द कृत चन्द्र सिंह उद्धरिय तिम ।

इससे स्पष्ट है कि रासो का उद्धारकर्ता अर्थात् धन व्यय करके उसको संकलित और लिपिबद्ध कराने वाला कोई चन्द्रसिंह नामक व्यक्ति था । 'मुहणोत नैणसी री ख्यात' के आधार पर कुछ विद्वानों ने इसे महाराजा मान सिंह का भतीजा चन्द्रसिंह कछवाहा माना है जिसका समय नाहटा जी के अनुसार सं० १६४०-५० है[3] । इस प्रकार रासो के प्रथम उद्धारकर्ता तो ये ही चन्द्रसिंह कछवाहा प्रतीत होते है । चन्द्रसिंह वाली प्रति की प्रतिलिपि कुछ दशकों के बाद सुप्रसिद्ध जैन मंत्रीश्वर करमचन्द के पुत्रों के लिए स० १६७९ में की गयी । उक्त छन्द लघु रूपान्तर वाली बीकानेर राजकीय पुस्तकालय की दो प्रतियों में मिलता है । उनकी अन्तिम पुष्पिका यों है :—

मंत्रीश्वर मंडन तिलक बच्छा वंश भर भाण ।
करमचन्द सुत करमवड भागचन्द सब जाण ॥ १ ॥

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास—ले० रामचन्द्र शुक्ल, आठवाँ संस्करण, पृ० ४७ ।

२—पृथ्वीराज रासो का रचना-काल—श्रीअगरचन्द नाहटा, विशाल भारत, दिसंबर १९४६, पृ० ३९५ ।

३—वीर-काव्य—डा० उदयनारायण तिवारी—प्रथम संस्करण, पृ० ११४ ।

तसु कारण लिखियो सही पृथ्वीराज चरित्र।
पठतां सुख संपति सकल मन सुख होवे मित्र ॥ २ ॥

× × ×

महाराज नृपसूर सुव कूरमचन्द उदार।
रासो पृथ्वीराज को राख्यो लगि संसार ॥

इन पद्यों से पता चलता है कूरमचन्द और उसके पुत्रों ने भी रासो के संरक्षण और लिपिबद्ध करने के लिए बहुत प्रयत्न किया था। ये छन्द बीकानेर के लघु रूपान्तर वाली प्रतियों में 'प्रथम वेद उद्धरिय ' ' वाले छन्द के साथ भी हैं। इससे यह पता चलता है कि चन्द्रसिंह कछवाहा ने रासो का जो संकलन कराया था उसी को 'कूरमचन्द' और उसके पुत्रों ने लिपिबद्ध कराया था, अतः वे रासो के उद्धारक तो नहीं, रक्षक अवश्य कहे जा सकते हैं। इसी काल में उदयपुर के सीसोदिया राजाओं में राणा अमरसिंह प्रथम (सं० १६५३-७६) राणा राजसिंह (सं० ७१८-३२) और राणा अमरसिंह द्वितीय (सं०१७५५-६७) ने रासो के सकलन, उद्धार और लिपिबद्ध कराने का कार्य किया। नौचौकी बाँध के 'राजप्रशस्ति-महाकाव्य' में कहा गया है कि पृथ्वीराजरासो विशाल काव्य है। इससे पं० मोतीलाल मेनारिया ने यह अनुमान किया है कि "राजप्रशस्ति के लिए इतिहास-सामग्री एकत्र करवाने में महाराणा राजसिंह ने बहुत व्यय किया था और बहुत दूर-दूर तक खोज करवाई थी। फलस्वरूप प्राचीन ग्रंथों आदि के रूप में इतिहास विषयक प्रचुर सामग्री प्रकाश में आई और रासरत्नाकर, राजप्रकाश आदि सस्कृत-हिन्दी के कई ग्रंथ उसी समय नये भी लिखे गये। इसी समय चन्द का कोई वंशज अथवा उसकी जाति का कोई दूसरा व्यक्ति रासो लिखकर सामने लाया प्रतीत होता है। यदि यह व्यक्ति रासो को अपने नाम से प्रचारित करता तो लोग उसे प्राचीन इतिहास के लिए अनुपयोगी समझते।......अतः चन्द रचित बतला कर उसने इस सारे झगड़े का अन्त कर दिया।"[1]

पहले कहा जा चुका है कि मेनारिया जी का यह निष्कर्ष तर्कहीन है कि रासो नामक जाली ग्रथ की रचना राजप्रशस्ति के लेखन काल में हुई। किन्तु उनके कथन में इतना सत्य अवश्य है कि राजसिंह के समय में इतिहास विषयक खोज के सिलसिले में पृथ्वीराजरासो का पुनस्संकलन अवश्य हुआ होगा, तभी

१—पृथ्वीराजरासो का निर्माण-काल—ले० श्री मोतीलाल मेनारिया, विशाल भारत, अक्टूबर १९४६, पृ० २३७।

तो राजप्रशस्ति में उसे विस्तृत काव्य कहा गया है। उदयपुर की बृहत् रूपान्तर वाली सं० १६६७ की प्रति से यह स्वतः प्रमाणित है कि राजसिंह के पूर्व भी रासो का संकलन अवश्य हुआ था। उदयपुरवाली प्रतियो में ये दो छन्द पुष्पिका के बाद मिलते हैं:—

मिलौ पंकज गन उदधि करद कागद कातरनी।
कोटि कवी काजलह, कमल कटिकते करनी॥
इहि तिथि संख्या गुनित कहै कक्का कवियोंने।
इह श्रम लेखनहार, भेद भेदै सोइ जाने॥
इन कष्ट ग्रंथ पूरन करय जन बड़ या दुखनां लहय।
पालिये जतन पुस्तक पवित्र लिखि लेखक विनती करय॥ १ ॥
गुन मनियन रस पोइ चन्द कवियन कहँ दिद्धिय।
छन्द गुनी ते तुट्टि, मन्द कवि भिनभिन किद्धिय॥
देस देस विष्षरिय मेल गुन पार न पावय।
उद्दम करि मेलवत आस बिन आलय आनय॥
चित्रकोट रांन अमरेस नृप हित श्रीमुख आयस दयौ।
गुन बीन बीन करुना उदधि लखि रासो उद्दिम कियौ॥ २ ॥

इन छन्दों के संबंध में प्रकाशित रासो की उपसंहारिणी टिप्पणी में पण्ड्याजी ने लिखा है कि 'किसी कक्का नामक पुरुष ने मेवाड राज्य के अधीन बडे श्रीअमरसिंह जी (चित्रकोटरान अमरेस नृप) के आज्ञानुसार उक्त पुस्तक लिखी थी। इन महाराणा जी का राज्य-समय कविराज जी के अनुसार सं० १६५३ से १६७६ तक का है।'[1] मेनारिया जी ने इसे गलत माना है। उनके अनुसार 'ये छन्द उदयपुर वाली उस प्रति के है जिसकी अन्तिम पुष्पिका में लिखा है कि सं० १७६० में महाराणा अमरसिंह के राज्य काल में भट्ट गोवर्धन के पुत्र रूपजी ने उस प्रति को लिखा था।'[2] अतः उपर्युक्त दोनो छप्पय भी सं० १७६० के ही लिखे हैं और पहले छप्पय का अर्थ करने पर यही तिथि निकलती है। श्री अगरचन्द नाहटा के अनुसार सं० १८५९ तथा अन्य तिथियो की लिखी प्रतियों में भी उपर्युक्त छन्द पाये जाते है। इससे यह सिद्ध होता है कि सं० १७६० वाली प्रति के लेखक रूपजी ने उपर्युक्त छन्द नहीं लिखे बल्कि कक्का नामक किसी अन्य कवि के ही

१—पृथ्वीराजरासो—प्रकाशक—नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, प्रथम संस्करण—पृ० १७८।

२—पृथ्वीराजरासो का निर्माण-काल—विशाल भारत, अक्टूबर, १९४६, पृ० २३७।

वे छन्द हैं, अथवा पहला कक्का कवि का और दूसरा किसी अन्य कवि का है। इन दोनों ने अलग-अलग रासो का संकलन करके एक एक छप्पय लिख दिया होगा। अतः ये दोनों छप्पय सं० १७६० के पूर्व लिखे गये, और परवर्ती सभी प्रतियों में पुष्पिका के साथ वे छन्द भी लिख दिये गये हैं। बहुत संभव है कि ये दोनों छप्पय क्रमशः अमरसिंह प्रथम और राजसिंह के समय के लिखे हों। अस्तु, ये छन्द चाहे सं० १६५३ में लिखे गये हों, चाहे सं० १७१८-३२ के बीच या सं० १७६० में, पर उनसे इतना स्पष्ट हो जाता है कि चन्द का बहुमूल्य काव्य चन्द कवियों के हाथ में पड़कर देश-देश में विकलांग होकर बिखरा हुआ था और सं० १६५३ और सं० १७६० के बीच कक्का या अन्य किसी कवि ने उद्यम कर के उन्हें इकट्ठा किया, उसकी कथा के अंगों को जोड़ा और अप्रत्याशित रूप से रासो का उद्धार करके पुस्तकालय में रखा। दूसरा छन्द स्पष्ट कहता है कि रासो चित्तौड़ के राणा अमरसिंह के समय में संकलित हुआ। अब वे अमरसिंह प्रथम थे या द्वितीय, इससे हमें विशेष मतलब नहीं है।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सं० १६०० से सं० १७६० तक का काल रासो के विकास की चौथी अवस्था का काल है जिसमें उसके संकलन, उद्धार और लेखन के लिए अलग-अलग प्रयत्न हुए।

पाँचवीं अवस्था—सं० १७६० तक रासो के चारों रूपान्तर हो गये थे और अलग-अलग उनकी प्रतियाँ भी लिखी जाती रहीं। इस काल के बाद रासो को एक लाख छन्दों का ग्रंथ माना जाने लगा और अनेक लोगों ने उसे अधिकाधिक बढ़ा कर महाभारत के समान बृहदाकार बनाने का प्रयत्न किया। किन्तु इस काल के प्रक्षेप मान्य नहीं हुए क्योंकि तब तक रासो के बृहत् रूपान्तर की अनेक प्रतिलिपियाँ हो जाने के कारण उसका रूप स्थिर हो चुका था। महोबा समयो इसी काल की रचना प्रतीत होता है। इसलिए उसे प्रकाशित रासो में भी बाद में स्थान मिला है। शिक्षा का अधिक प्रचार हो जाने, पुरातत्त्व संबंधी खोज का कार्य शुरू हो जाने और छपाई की सुविधाएँ मिल जाने के बाद विकसनशील महाकाव्यों का विकास रुक जाता है। पृथ्वीराजरासो के संबंध में भी यही बात हुई है। कर्नल टाड द्वारा रासो का गुणगान और आंशिक अनुवाद करने के बाद पढ़े लिखे लोगों में रासो के प्रति उत्सुकता उत्पन्न हुई, उसकी प्रतियाँ कराई गयीं, प्रकाशन हुआ और इस तरह अब उसका विकास रुक गया है। किन्तु विकास की अन्तिम अवस्था में पहुँच कर रासो महाकाव्य के पद का पूर्ण रूप से अधिकारी भी हो गया है।

रासो और महाभारत की तुलना

प्रकाशित रासो के उपसंहार भाग के एक छन्द में कवि ने यह दावा किया है कि रामायण-महाभारत जैसे सात-आठ ग्रंथों में रासो की भी गणना करनी चाहिये[1]। राजस्थान में राजपूत राजवंशों के बीच महाभारत के बाद रासो को ही स्थान मिलता रहा है, इस बात को देखते हुए उक्त दावा अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं प्रतीत होता। इस सम्बन्ध में श्री चि० वि० वैद्य ने लिखा है, "हमारे मत से कई महत्वपूर्ण बातों में, विशेषतया मौलिकता और प्राचीनता के सम्बन्ध में रासो का महाभारत से बहुत कुछ सादृश्य है।......राजपूत लोग महाभारत के बाद रासो का ही आदर करते हैं। क्षत्रियों के लिए अत्यन्त प्रिय भीषण युद्ध के आधार पर महाभारत की रचना हुई है। अर्वाचीन क्षत्रियों ने स्वातंत्र्य रक्षार्थ पृथ्वीराज के नेतृत्व में मुसलमानों के साथ जो तुमुल युद्ध किया, वही रासो का आधार है। .....इसमे सन्देह नही कि इस काव्य का परिवर्द्धन करने का प्रयत्न करते हुए जान बूझ कर महाभारत का अनुकरण किया गया है।"[2] अपने मत के समर्थन में श्री वैद्य ने अनेक प्रमाण दिये है जो विचारणीय हैं। यह बात बिलकुल सही है कि महाभारत और रासो में कई बातों में सादृश्य है और कई स्थलों पर तो रासोकार द्वारा महाभारत को आदर्श मान कर उसका उल्लेख भी किया गया है। प्रथम समयो के ८७वें छन्द में कहा गया है कि जो पाराशर के पुत्र व्यास के १८ पर्व और सवा लाख छन्द वाले महाभारत के तत्त्व को जानने वाला होगा वही रासो का तत्त्वज्ञान समझ सकता है :

पारासर जो पुत्र विहासह। सतवंती प्रम्भं गुर भासह।
प्रब्ब अठार सवा लष लष्षै। तौ भारत गुर तत्त विसष्षै॥

इसके बाद ही रासो के महत्त्व का उसी तरह वर्णन किया गया है जैसे महाभारत

१—रामाइन भारतत्थ ग्रन्थ अठ दसै प्रमानं।
सुनत सिद्धि घर रिद्धि होय रासौ सनमानं॥
अठसठ तीरथ न्हाय गाय गुन गोविन्द गानं।
ता सम वरि श्रोतान लिषत बाँचत विधि जानं॥
गंगा सनान दिन प्रति लह्य जे नरिन्द रासो सुनय।
डाकिनिय भूत बेताल छल रोग सोग दोषन कुनय॥
पृथ्वीराजरासो—६८—२४२

२—हिन्दू भारत का उत्कर्ष, (हिन्दी अनुवाद)—ले० चिन्तामणि विनायक वैद्य—काशी, सं० १९८६, पृ० २७-२८।

में ग्रंथ का माहात्म्य दिखाया गया है। फिर एक दोहे में रासो के 'अधिकारी' का वर्णन करने के बाद निम्नलिखित दोहा आया है :—

सत सहस नष सिष सरस सकल आदि मुनि दिष्ष।
घट बढ़ मत कोऊ पढ़ौ मोहि दूसन न बसिष्ष ॥

इस दोहे का अर्थ पं० मथुरा प्रसाद दीक्षित ने यह किया है कि 'आद्योपान्त रस युक्त सात हजार रासो है, आरम्भ से मनोहर है। यदि न्यूनाधिक मात्रा में कोई पढ़े तो मुझे दोष न देना।' अन्य लोगों ने आदि मुनि का अर्थ यह लिखा है कि चन्दन ने किसी गुरु की तरफ संकेत किया है। पर ये सभी अर्थ खींच-तान कर लाये प्रतीत होते हैं क्योंकि प० मथुराप्रसाद दीक्षित वाली प्रति में अनुष्टुप छन्द के हिसाब से ६ हजार के करीब श्लोक होते हैं पर उन्होंने मत का अर्थ मात्रा मान कर आर्या छन्द के हिसाब से गणना करके सात हजार श्लोक माने हैं। यह दोहा उन रूपान्तरो मे भी मिलता है जिनमें ३०–३५ हजार श्लोक हैं। अतः मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि इस दोहे का दूसरा ही अर्थ है। इस दोहे के ठीक पहले जो छन्द हैं वे महाभारत का प्रभाव स्पष्ट रूप से व्यक्त करते है :—

पासा महीव कव्वी नव नव कित्तीय संग्रहं ग्रंथं।
सागर सरिस तरंगी बोहृथ्थ उक्तियं चलय ॥ १–७९
काव्य समुद्र कवि चन्द कृत मुगति समप्पन ग्यान।
राजनीति बोहिथ सुफल पार उतारन यान ॥ १–८०
उक्ति धर्म बिशालस्य राजनीति नव रसं।
षट्भाषा पुराणं च कुरानं कथित मया ॥ १–८३
तर्क बितर्क उतर्क सु जतिय। राज सभा सुभ भासन जुत्तिय।
कवि आदर सादर बुध चाहो। पढ़ि करि गुन रासो निर्बाहो ॥ १–८५

इन छन्दों में रासो को पृथ्वीराज की कीर्ति का सग्रह ग्रंथ कहा गया है अर्थात् वह महाभारत की तरह संहिता है। चन्द के काव्य को समुद्र कहा गया है जिसे राजनीति के ज्ञान रूपी जहाज से पार किया जा सकता है अर्थात् महाभारत की तरह रासो भी राजनीतिप्रधान (इतिहास) ग्रथ है, साथ ही उसमें उक्ति, विशाल धर्म, षट्भाषाओं का ज्ञान, पुराण और इस्लाम धर्म की बातें भी है। इसका तात्पर्य यह कि उसमें सब कुछ है जैसे महाभारत में सब कुछ है और उसमें जो नहीं है वह सारे भारत में नहीं है (यन्न भारते तन्न भारते)। रासो महाभारत की तरह ही राजसभा में आदर दिलाने वाला है और सवा लाख श्लोक वाले महाभारत को जानने वाला ही इसे समझ सकता

है। रासो की उपमा रासो स्वयं है और देव-नर नाग इसकी प्रशंसा करते हैं क्योंकि इसमें भूत भविष्यत् यानी त्रिकाल की बातें है, जो इसे अच्छे गुरु से पढ़ता है उसके पास कुमति नहीं आती है।

इन छन्दों के बाद उसी प्रसंग में सहज भाव से 'सत सहस' वाला दोहा कहा गया है। अतः इसमें 'सत सहस' का अर्थ शतसाहस्री संहिता–महाभारत-के समान, एक लाख छन्द है न कि सात हजार। आदि मुनि से कवि का संकेत व्यास या वाल्मीकि की ओर है। पंडित मथुराप्रसाद दीक्षित वाली प्रति में 'सत्त सहस' 'आदि शुभ' 'मत्तह' पाठान्तर है जिससे कोई स्पष्ट अर्थ नहीं निकलता। अतः सभी छन्द परवर्ती (सोलहवी-सत्रहवीं शताब्दी के जोड़े हुये) प्रतीत होते हैं जब कि जान बूझ कर रासो को महाभारत की तरह विशाल धार्मिक और राजनीतिक ग्रन्थ–शत साहस्री संहिता–बनाने के प्रयत्न हो रहे थे।

श्री चि० वि० वैद्य ने महाभारत और रासो में साम्य के कुछ उदाहरण दिये है[1]। वस्तुत ये बाते थोड़े बहुत अन्तर के साथ सभी विकसनशील महाकाव्यो में पाई जाती है। वे उदाहरण संक्षेप में नीचे दिये जा रहे हैं।

१—महाभारत की तरह रासो भी एक हाथ की रचना नही है। वर्तमान महाभारत जिस तरह पहली बार वैशम्पायन द्वारा और दूसरी बार सौति उग्रश्रवा द्वारा परिवर्द्धित होकर वर्तमान रूप में आया उसी तरह रासो में कम से कम दो बार परिवर्द्धन हुआ है, पहली बार चन्द के पुत्र जल्हन ने और दूसरी बार सोलहवी या सत्रहवी शताब्दी में किन्हीं अज्ञात कवियों ने उसमें अपनी रचना मिला दी है। वैशम्पायन ने जिस प्रकार जनमेजय को भारत सुनाया था, उसी तरह चन्द भी अपना काव्य अपनी स्त्री तथा पुत्र को सुना कर गजनी गया और सौति ने जिस तरह शौनक आदि ऋषियों को महाभारत सुनाया था उसी तरह सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में चारण-भाट आदि कवि राजाओं को रासो सुनाते थे जैसे गंग भाट ने अकबर को सुनाया था।

(२) विकसनशील महाकाव्यों के कवि अधिकतर अपने काव्य में पात्र के रूप में दिखाई पडते हैं। इलियड, रामायण, महाभारत आदि के कवि अपने महाकाव्यों के पात्र भी हैं। महाभारत का कवि अलौकिक दिव्य शक्तियों से युक्त दिखाया गया है। अवश्य ही व्यास ने अपने बारे मे इस तरह की बाते नहीं लिखी होंगी। वैशम्पायन या उग्रश्रवा ने उनको अलौकिक शक्तियो से युक्त

१—हिन्दू भारत का उत्कर्ष (हिन्दी अनुवाद)—ले० चिन्तामणि विनायक वैद्य—काशी सं० १९८६, पृ० २७-२८।

बनाकर उन्हें महाभारत में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान दे दिया है। उसी तरह रासो में चन्द को भी अलौकिक शक्तियों से युक्त दिखाया गया है और उसके महाकाव्य में पृथ्वीराज के बाद उसी का सबसे अधिक महत्व का स्थान है। उसे इस प्रकार की शक्ति से युक्त तथा महत्वपूर्ण बनाने वाले जल्हन और अन्य परवर्ती क्षेपककार है।

(३) महाभारत में १८ पर्व हैं, प्रत्येक पर्व में अनेक आख्यान हैं और कुल मिलाकर सवा लाख छन्द हैं जिसमें परिशिष्ट पर्व हरिवंश भी सम्मिलित है। रासो में ६९ समय हैं क्योंकि उसमें समय या प्रस्तावों के भीतर आख्यान नहीं हैं। पहले समय का नाम प्रकाशित रासो में आदि पर्व दिया है जो महाभारत का अनुकरण है। बृहत् रूपान्तर वाले प्रकाशित रासो में कुल ३६ हजार के करीब श्लोक हैं यद्यपि प्रवाद यही रहा है कि उसमें १ लाख के करीब छन्द हैं। इसका कारण यह है कि भारतवासियों की प्राचीन समय से यही धारणा रही है कि जो ग्रन्थ एक लाख छन्दों का हो वही महाग्रन्थ कहलाने योग्य होता है। अतः रासो को 'शत साहस्री संहिता' बनाने की महत्वाकांक्षा 'सत सहस' वाले दोहे में प्रारम्भ में ही प्रकट की गयी है।

(४) सभी विकसनशील महाकाव्यों में आधिकारिक कथा के अतिरिक्त प्रासंगिक या उपकथाओं की अधिकता होती है। महाभारत में कुछ उपकथाएँ तो बिलकुल स्वतंत्र प्रतीत होती हैं जिन्हे 'महाकाव्य के भीतर महाकाव्य' कहा जाता है। उसी तरह रासो में अनेक उपकथाएँ है जिनके कारण ग्रथ का बहुत विस्तार हो गया है। इन उपकथाओं में कुछ तो बिलकुल स्वतंत्र जैसी हैं जैसे होली और दीपावली की कथा, हुसेन-कथा आदि।

(५) विकसनशील महाकाव्य अधिकतर वीर-काव्य होते हैं और उनमें युद्धों का बाहुल्य होता है। इलियड, बियोवूल्फ और महाभारत में यह बात देखी जाती है। किन्तु महाभारत में भारतीयुद्ध के अतिरिक्त भी अनेकानेक युद्धों का वर्णन हुआ है। उसी तरह रासो भी प्रधानतया युद्धों का काव्य है। उसमें प्रधान तो जयचंद और शहाबुद्दीन के साथ पृथ्वीराज के दो युद्ध ही हैं पर इनके अतिरिक्त भी पचासों युद्धो का सविस्तार और हृदयस्पर्शी वर्णन हुआ है।

(६) रासों में महाभारत के समान ही शास्त्रीय ज्ञान-भाण्डार, वंशोत्पत्ति, राजनीतिशास्त्र आदि का वर्णन बहुत अधिक हुआ है। इस सम्बन्ध में आगे विशेष रूप से विचार किया जायगा।

(७) महाभारत में जिस तरह स्थान-स्थान पर कूट श्लोक या पहेली जैसे वाक्य मिलते है उसी तरह रासो में भी कूट कवितायें रचने का प्रयत्न किया गया है। श्री वैद्य के शब्दो में रासों में "महाभारत की तरह कूट कविताएँ सख्या सूचक अकों पर ही रची गयी है। उदाहरणार्थ इस काव्य में समय सूचक सब उल्लेख आनन्द विक्रम शक के है।" "यह शक, सम्भव है, उस समय प्रचार मे था अथवा कवि ने ही यह प्रचलित किया था।"[1]

(८) महाभारत में जिस तरह उदयन के सम्बन्ध मे भविष्य-कथन बाद का जोडा हुआ है उसी तरह रासो में भी चित्तौड पर मुसलमानों के अधिकार होने की भविष्यवाणी इस प्रकार की गयी है—

सोरेसे सत्तोत्तरे विक्रम साक बरोत।
दिल्लीश्वर चित्तोड़ये लेवेगे बलजीत॥

यह भविष्य-कथन सत्रहवी शताब्दी में किसी कवि का जोड़ा प्रतीत होता है।

(९) जिस तरह महाभारत में कहीं-कही बीच-बीच में गद्य भी मिल जाता है उसी तरह रासो में भी कही-कही वचनिकाएँ मिलती है जो तुकान्त गद्य है। लोकगाथाओं में पद्यों के बीच में कथा गद्य में भी कही जाती है। उसी प्रथा का अवशेष साहित्यिक विकसनशील महाकाव्यों में पद्यों के बीच के ये गद्यांश है। महाभारत में पुराणों की शैली में ये बोलनेवाले पात्रों का नाम पद्य से अलग लिखा मिलता है। रासो की प्रकाशित प्रतियों में पद्यों के ऊपर बोलने वाले का नाम और उनके कथन का सारांश दे दिया गया है जो महाभारत की उक्त पद्धति का विकृत रूप मालूम पड़ता है।

(१०) महाभारत को जिस तरह इतिहास, पुराण और काव्य तीनों माना जाता है, क्योंकि उसमें तीनों की शैलियों का सम्मिश्रण हुआ है, उसी तरह रासो में भी पौराणिक, ऐतिहासिक और शास्त्रीय तीनों ही काव्य शैलियों का मिश्रण हुआ है। इसीसे रासो इतिहास और महाकाव्य दोनों ही माना जाता रहा है, साथ ही उसमें पौराणिक बातो की भी अधिकता है।

सामती वीरयुग का प्रतिनिधि महाकाव्य—ऊपर पृथ्वीराजरासो की महाभारत से जो समानता दिखाई गयी है उसका यह तात्पर्य नही है कि रासो

---

१. हिन्दू भारत का उत्कर्ष (हिन्दी अनुवाद)—ले० चिन्तामणि विनायक वैद्य— काशी सं० १९८९, पृ० २७-२८।

का महत्व महाभारत के बराबर का है। महाभारत भारतीय संस्कृति का प्रतीक है। वस्तुतः वह एक ग्रंथ नहीं बल्कि सहस्रों वर्षों का साहित्य है। अतः यह तो स्पष्ट है कि रासो में वह व्यापकता और विराटता नहीं हो सकती जो महाभारत में है। किन्तु इन दोनों महाकाव्यों में जो भी सादृश्य और वैभिन्य दिखाई पड़ता है वह उन काव्यों के विकास के युगों में साम्य या वैषम्य के कारण है। पहले अध्याय में कहा जा चुका है कि भारत में वीरयुग पहली बार वैदिक काल के बाद आया था जिसमें महाभारत और रामायण जैसे विकसनशील महाकाव्य विकसित हुए। दूसरी बार वीरयुग दसवीं शताब्दी के बाद मुसलमानी आक्रमणों के बाद आया जिसमें पृथ्वीराजरासो और आल्हखण्ड जैसे विकसनशील महाकाव्य विकसित हुए। यह दूसरी बार वाला वीरयुग सामन्ती वीरयुग था जिसके बारे में पिछले अध्याय में विचार किया जा चुका है और प्रारम्भिक वीरयुग से उसकी तुलना की जा चुकी है। महाभारत और पृथ्वीराजरासो दोनों ही अपने-अपने युग का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं। महाभारत में प्रधान प्रेरणा-शक्ति अदम्य और निर्भय वीरता की प्रवृत्ति है और धार्मिक-पौराणिक ऊहापोह उसमें बाद का मिलाया हुआ है। किन्तु रासो में सामन्ती वीर-युग के अनुरूप वीरता और श्रृङ्गार दोनों ही प्रवृत्तियाँ प्रेरणा-शक्ति के रूप में दिखाई पड़ती हैं। यद्यपि धार्मिकता की प्रवृत्ति भी सामन्ती वीरयुग में पर्याप्त बलवती थी किन्तु रासो में वह जिस मात्रा में दिखलाई पड़ती है वह निश्चित रूप से बाद की जोड़ी हुई है। इस तरह परिवर्तित परिस्थितियों के अनुरूप रासो में वीरता और श्रृङ्गारिकता परस्पर पूरक रूप में दिखलाई पड़ती है जब कि महाभारत में श्रृंगारिकता और विलासिता के लिए कोई स्थान नहीं है। केन्द्रीय राज्यसत्ता के अभाव में इस युग में छोटे-छोटे राजा और सामन्त व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए लड़ा करते थे। यह प्रवृत्ति रासो में पूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित हुई है। यद्यपि महाभारत और रासो दोनों ही में वैयक्तिक वीरता के प्रदर्शन में वीरता की भावना निहित है, किन्तु महाभारत के वीर आत्मसम्मान की रक्षा, यश और ख्याति तथा परोपकार के लिए अपनी शारीरिक शक्ति और शौर्य का उपयोग करते और उसके लिए प्रत्येक क्षण मरने-मारने के लिए तैयार रहते हैं। पर रासो के राजा और सामन्त व्यक्तिगत स्वार्थ, स्वामिभक्ति, कन्या-हरण, लूट और राज्यविस्तार के लिए युद्ध करते हैं। रासो के पात्रों में भी स्वाभिमान की मात्रा कम नहीं है पर कहीं-कहीं वह राजपूत-युग के अनुरूप बुद्धिहीनतापूर्ण और अनावश्यक प्रतीत होता है, वह स्वाभिमान न रह कर झूठी शान का रूप धारण कर लेता है। महाभारत में प्रारंभिक वीरयुग के अनुरूप वीरों की प्रवृत्ति अपने शत्रुओं के प्रति

अत्यधिक क्रूरता-प्रदर्शन करने या सीधे बध कर देने की दिखाई पडती है, क्षमा के लिए वहाँ स्थान नही है। किन्तु रासो में उतनी क्रूरता नही दिखाई पड़ती। क्रूरता की जो भी बातें होती है, युद्ध-भूमि में ही दिखाई पड़ती है। अन्य समय क्षमा-दान देना या शरणागत के लिए दूसरो से शत्रुता मोल लेना इस युग में वीरता की प्रवृत्ति का ही एक अंग था जो रासो में आद्यन्त दिखाई पडता है। इस प्रकार रासो मे वीरयुग की सभी प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति हुई है। अतः वह अपने युग-जीवन का पूर्ण प्रतिनिधित्व करता है।

पृथ्वीराजरासो का महाकाव्यत्व और महत्व

१ —महदुद्देश्य, महत्प्रेरणा और महती काव्यप्रतिभा

अलंकारिकों द्वारा निर्दिष्ट लक्षणों के अनुसार तो ऐसे अनगिनत प्रबन्ध-काव्य महाकाव्य की कोटि मे आ सकते है जिनका न कोई महान उद्देश्य होता है और न जिनमें महती काव्यप्रतिभा और अदम्य प्रेरणाशक्ति के हो दर्शन होते हैं। किन्तु ऐसे सभी काव्य न तो महाकाव्य होते है और न युगों की प्रवहमान धारा में वे महाकाव्य के रूप में विशाल शिलाखण्ड की तरह अपना अडिग स्थान ही बना पाते है। हिन्दी साहित्य के आदिकाल में निर्मित अथवा विकसित काव्यों में पृथ्वी-राजरासो का स्थान इसी कारण अन्यतम है कि वह आज भी काल-धारा में अडिग चट्टान की तरह खडा है अर्थात् उसमें महाकाव्य के स्थायी तत्त्व वर्तमान है। इन स्थायी तत्त्वों में सर्वप्रमुख स्थान महान उद्देश्य और महती प्रेरणा का है। यहाँ यही देखना है कि रासो का उद्देश्य और उसकी मूल प्रेरणा क्या है और उसमें कवि की प्रतिभा का क्या रूप दिखाई पडता है।

पिछले अध्याय में कहा जा चुका है कि सामन्ती वीरयुग की प्रमुख प्रेरणा-शक्ति वीरता की थी और श्रृंगार तथा धर्म की भावनायें उसके पूरक के रूप में थीं। सामन्ती वीरयुग का पूर्ण प्रतिनिधित्व करने वाला काव्य होने के कारण रासो में वीरता की भावना की प्रमुखता है और श्रृङ्गार और धर्म की भावनायें उसकी सहायिका के रूप में हैं। रासो हिन्दी का वास्तविक वीरकाव्य है क्योंकि सामन्ती वीरयुग उसमे अपने सम्पूर्ण गुणों और दुर्गुणों के साथ अभिव्यक्त हुआ है। इसमें सन्देह नहीं है कि मूल रासो प्रशस्तिमूलक काव्य रहा होगा जिसमें चन्द बरदाई ने अपने आश्रयदाता पृथ्वीराज के कीर्तिकलाप का वर्णन किया होगा, किन्तु कालान्तर में विकसित हो जाने के बाद रासो का जो वर्तमान रूप दिखलाई पड़ता है उसका उद्देश्य पृथ्वीराज चौहान का यश वर्णन करना मात्र

नहीं है। वर्तमान रासो एक जातीय महाकाव्य है जिसमें बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में भारतीयों के विदेशी आक्रमणकारियों से अनवरत संघर्ष और अन्तिम युद्ध में उनकी पराजय की कथा अत्यत ओजस्वी ढंग से कही गयी है। इस काव्य की प्रमुख प्रेरणा-शक्ति प्रचण्ड वीरता की प्रवृत्ति है जो उसमें आदि से अन्त तक प्राण-शक्ति के रूप में व्याप्त है। रासो में वीर रस का पूर्ण परिपाक हुआ है किन्तु वीर रस का आस्वाद कराना ही उसका उद्देश्य नहीं है और न केवल इसी गुण के कारण कोई काव्य महाकाव्य माना जा सकता है। रासो का उद्देश्य रस की पूर्ण निष्पत्ति कराना अथवा इतिहास की घटनाओं का विवरण उपस्थित करना नहीं है। वस्तुतः उसका उद्देश्य इन सबसे बहुत ऊँचा और महान है। वह उद्देश्य है जातीय जीवन में प्राण-संचार करना, उसमें स्वातंत्र्य और बलिदान का मत्र फूँकना और बाहुबल पर आधारित जीवन-मूल्यों की स्थापना करना। रासो का नायक यद्यपि अन्तिम युद्ध में विजयी नही होता, और पृथ्वीराज, चन्द तथा गोरी की मृत्यु के बाद ६८वें समय में दिल्ली, अजमेर और कान्यकुब्ज पर अर्थात् प्राय. समूचे उत्तरी भारत पर विदेशी और विधर्मी आक्रमणकारियों का अधिकार हो जाता है किन्तु इससे इस महाकाव्य के उद्देश्य पर आँच नहीं आती और न उससे निराशा और जीवन के प्रति अनास्था की भावना का ही उदय होता है। इससे स्पष्ट है कि पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन गोरी के युद्ध को निमित्त बनाकर पृथ्वीराजरासो में भारतीय स्वातंत्र्य का ही सिंहनाद किया गया है। वस्तुतः स्वतंत्रता की बलिवेदी पर हँसते-हँसते बलि हो जाने और देश-जाति तथा अपने व्यक्तित्व के गौरव और प्रतिष्ठा के लिए प्रतिक्षण मरने-मिटने के लिए तैयार रहने का अमर संदेश देना ही इस महाकाव्य का महत् उद्देश्य है। यह संदेश रासो के समन्वित प्रभाव में तो निहित है ही, उसके अधिकांश छन्दों में भी उसकी प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति हुई है। इस तरह रासो का उद्देश्य महान है और उसकी महती प्रेरणा शक्ति, जो उसमें आद्यन्त व्याप्त है, उस उद्देश्य की सिद्धि में, उसे सफल बनाने में, प्रारम्भ से अन्त तक योग देती हुई दिखाई पडती है। किसी महाकाव्य में महत् उद्देश्य और महती प्रेरणा-शक्ति की प्रतिष्ठा तभी होती है जब उसके कवि की चेतना विराट् और कार्य-प्रतिभा सशक्त होती है। वर्तमान रासो का कवि कोई एक व्यक्ति नहीं, बल्कि वह समूचा युग-समाज है जिसके कधो पर भारतीय स्वातंत्र्य की रक्षा का उत्तरदायित्व सैकडों वर्षों तक रहा, जो भारतीय संस्कृति और हिन्दू धर्म का प्रहरी था। दूसरे शब्दों में रासो का विकास राजस्थान की वीर-भूमि में वीर राजपूतों की जातीय परम्परा के बीच हुआ है। अतः वर्तमान

रासो को दो-चार या दस-बीस कवियों और क्षेपककारों की कृति न मानकर उस वीर-भूमि और जातीय परम्परा की कृति मानना चाहिये जिसकी विराट् चेतना के दीप-स्तम्भ राणाप्रताप, अमरसिंह राठौर, गुरुगोविन्द सिंह, शिवाजी आदि स्वतन्त्रता के बलिदानी वीर थे। इस प्रकार पृथ्वीराजरासो युग-व्यापी विराट् चेतना और स्वातन्त्र्य-प्रेम की अटूट परम्परा की देन है, न कि केवल पृथ्वीराज के दरबारी कवि चन्द बरदाई की कृति। इस दृष्टि से देखने पर रासो को 'भट्ट भणन्त' कह कर या उसे जाली सिद्ध करके उसकी हँसी उड़ाना अनुचित ही नहीं, राष्ट्रीयता और जातीय परम्परा का अपमान करना है। रासो इतिहास नहीं, काव्य है जो सामन्ती वीरयुग ही नहो, परवर्ती कुछ शताब्दियों की सामाजिक भाव-भूमि और अदम्य जीवनावस्था का यथार्थ प्रतिबिम्ब उपस्थित करता है। जिन महाकाव्यों का उद्देश्य महान नहो होता और जिसमें कोई अदम्य प्रेरणा-शक्ति नहीं होती, वे अनेक युगों की अवधि को अपनी सीमा मे समेट कर उनका प्रतिनिधित्व नहो कर सकत। पहले कहा जा चुका है कि राजस्थान में महाभारत के बाद रासो को ही महत्त्व मिलता रहा है। इससे यही सिद्ध होता है कि इस महाकाव्य का उद्देश्य महान है, उसकी प्रेरणा-शक्ति महती है और उसके कवि की काव्यप्रतिभा भी विराट् चेतना वाली है।

२—गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्त्व

रासो विशालकाय काव्य है किन्तु उसके आकार की विशालता उसके महाकाव्यत्व का कारण नहीं है। उसके गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्त्व के वे लक्षण हैं जिनके कारण ही कोई काव्य महाकाव्य की संज्ञा पाने का अधिकारी होता है। विकसनशील महाकाव्य होने के कारण उसमें रघुवश, किरातार्जुनीय और शिशुपाल-वध आदि शास्त्रीय महाकाव्यों जैसा अर्थ-गौरव और विचारों-भावों का गाम्भीर्य भले ही न हो किन्तु प्राचीन ज्ञान-भण्डार सम्बन्धी उन विषयों की, जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है, योजना हुई है जिससे उसमें पर्याप्त गुरुत्व और गाम्भीर्य दिखलायी पडता है। ये गुण किसी काव्य में ज्ञान-विज्ञान के विषयो की शुष्क व्याख्या और विवेचना द्वारा नहीं उत्पन्न होते, बल्कि वे उस विशाल चित्रपट (कनवास) की अपेक्षा रखते हैं जिस पर महाकाव्य के व्यापक दृश्य-चित्र अंकित होते हैं। गम्भीर विचारों और ज्ञान-विज्ञान की बातों को पृष्ठभूमि बना कर उस चित्रपट पर युग-जीवन का जो विशाल चित्र अंकित किया जाता है उसी मे गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्व की प्रतिष्ठा होती है। रासो में युग-जीवन के विविध दृश्यों का विशाल

चित्र अंकित हुआ है। राजनीति, नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र, योग-दर्शन, अध्यात्म-विद्या आदि के वर्णनात्मक अंश उसकी पृष्ठभूमि या पार्श्वदृश्य के रूप में दिखाई पड़ते हैं और उनके कारण उसमें गुरुत्व और गाम्भीर्य का समावेश पर्याप्त मात्रा में हुआ है। यह सही है कि यह महाकाव्य प्रधानतया वर्णनात्मक है और उसमें बहुत से अंश ऐसे हैं जिनमें न तो विचारोत्तेजना की सामग्री है न गंभीर भावनाओं की अभिव्यक्ति, किन्तु उसमें अनेक स्थल ऐसे हैं जहाँ जीवन के गभीर पक्षों और आभ्यन्तर तथ्यों का उद्घाटन हुआ है। शास्त्रीय महाकाव्यों के यत्नसाध्य गाम्भीर्य और गुरुत्व में कृत्रिमता होती है, पर रासो में जो गाम्भीर्य है वह अलंकृत रीतिबद्ध सौन्दर्य की अभ्यस्त आँखों को नही दिखलाई पड सकता क्योंकि वह सहज और अप्रत्यक्ष है।

पृथ्वीराजरासो में कथानक की चुस्ती अथवा आदर्श चरित्रों की योजना भी नही है। इस कारण उसमें अलंकृत महाकाव्यों जैसी उत्कृष्टता और चमक-दमक का अभाव है; फिर भी उसमें अकुतोभय वीरत्व अपरिमित उत्साह और अदम्य साहस के नानाविध कार्यों की आदि से अन्त तक योजना हुई है और क्रियाशील, संघर्षशील और जीवनानुरक्त मानव को उसमें इतना महत्व दिया गया है कि गुरुत्व गाम्भीर्य और महानता की प्रतिष्ठा स्वतः हो गयी है। यह मानी हुई बात है कि रासो में निहित गाम्भीर्य और गुरुत्व की माप आधुनिक जीवन-मूल्यों के अनुसार नही हो सकती, उसका मापदण्ड तो सामन्ती वीरयुग के जीवन-मूल्य ही हो सकते हैं। विपत्तियों के बीच साहस और निर्भयता का प्रदर्शन करने वाला वीर पुरुष ही उस काल के जीवन-मूल्य के अनुसार महान या योग्यतम व्यक्ति माना जाता था, इसके अतिरिक्त वहाँ नैतिकता का अन्य कोई मानदण्ड नहीं था। इस दृष्टि से पृथ्वीराज महान नायक—उस युग का योग्यतम व्यक्ति था। उसकी उस योग्यता और महानता के प्रमाण रासो में स्थान-स्थान पर मिलते हैं। इस प्रकार तत्कालीन जीवन-मूल्यों की दृष्टि से देखने पर पृथ्वीराज का व्यक्तित्व एक विशाल स्तम्भ या पर्वत-शिखर के समान अडिग तथा अकेला दिखाई पड़ता है। यह ऊँचाई और विशालता ही पृथ्वीराजरासो के गाम्भीर्य और गुरुत्व का कारण है।

३—महत्कार्य और समग्र युग-जीवन का चित्रण

महाकाव्य में किसी विशेष युग के समग्र सामाजिक जीवन का चित्रण किसी एक व्यक्ति या अनेक व्यक्तियों की जीवन-कथा के माध्यम से किया जाता है। किन्तु उसकी कथा का कोई चरम बिन्दु अवश्य होता है जो उस महाकाव्य का महत्कार्य कहलाता है। रासो में पृथ्वीराज के जन्म से लेकर मृत्यु तक की

जीवन-कथा तो है ही, साथ ही उसमें उसके वंश की उत्पत्ति तथा पूर्वजों की जीवन-कथा और अन्त में उसके पुत्र के मुसलमानों से युद्ध और दिल्ली-अजमेर पर मुसलमानों के अधिकार की कथा भी दी गयी है। इस तरह उसके कथानक का काल बहुत लम्बा और कार्य-क्षेत्र बहुत व्यापक है। बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में उत्तरी भारत की जो राजनीतिक और सामाजिक परिस्थिति थी उसका स्पष्ट चित्रण रासो के नाना युद्धों, विवाहों और दौत्य, मंत्रणा, मृगया यात्रा आदि कार्यों के रूप में हुआ है। उसमें अनेकानेक उपकथाओं की योजना हुई है किन्तु मुख्य कथा पृथ्वीराज के जीवन की है जो बड़े विस्तार और ब्योरे से कही गयी है। इस प्रधान कथा का चरम बिन्दु पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन का अन्तिम युद्ध है। यह युद्ध रासो के अन्य युद्धों से सर्वथा भिन्न भूमिका में रखा गया है। इस अन्तिम युद्ध के पूर्व पृथ्वीराज विलासी हो गया था, संयोगिता के महल से वह निकलता ही नहीं था। दिल्ली की प्रजा को कष्ट होने लगा, उसने पुरोहित गुरुराम से शिकायत की। इसी बीच शहाबुद्दीन के हमले की तैयारी की सूचना मिली। रावल समर सिंह दिल्ली आकर निगमबोध बाग में ठहरे, किन्तु पृथ्वीराज को उनके आने की सूचना तक नहीं मिली। इस प्रकार पृथ्वीराज की आगामी पराजय की भूमिका यहीं शुरू हो जाती है। फिर जब चन्द बरदाई के कौशल से पृथ्वीराज महल से बाहर आता और समर सिंह से मिलता है तो उसके बाद युद्ध सम्बन्धी मन्त्रणाएँ होती है, युद्ध की तैयारी होती है, सामन्तों को अलग-अलग कार्य-भार दिया जाता है, रण-यात्रा और व्यूह रचना होती है। इस प्रकार रासो में इस अन्तिम युद्ध की बहुत लम्बी-चौडी भूमिका दी गयी है और उसका वर्णन कवि ने बहुत जम कर किया है। अतः कवि ने स्वयं इस युद्ध को महाकाव्य का चरम-बिन्दु बनाना चाहा है। इस युद्ध में पृथ्वीराज की पराजय हुई और वह बन्दी बना लिया गया। इतिहासकारों का तो कहना है कि पृथ्वीराज इसी युद्ध में मारा गया किन्तु रासो का कवि पृथ्वीराज की पराजय और मृत्यु दोनों एक साथ रख कर महाकाव्य को दुखान्त नहीं बनाना चाहता था। अतः पृथ्वीराज बन्दी बनाकर गजनी ले जाया जाता है, जहाँ चन्द बरदाई के संकेत से वह गोरी को मार कर तब मरता है। इस प्रकार रासो की कथा का अन्त एक प्रकार से यहीं हो जाता है किन्तु दिल्ली और कन्नौज पर मुसलमानी अधिकार दिखाये बिना इतिहास की दृष्टि से कथा अधूरी रह जाती। अतः रैनसिंह और जयचन्द से मुसलमानों के युद्ध और उनकी मृत्यु की कथा भी आगे जोड़ दी गयी है। पाश्चात्य नाट्यशास्त्र के अनुसार कार्य की अवस्थाओं में अन्तिम दो—चरम बिन्दु (क्लाइमेक्स) और

दुःखपूर्ण अन्त या नायक का नाश (कैटास्ट्राफी) पृथ्वीराजरासो में बहुत स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ती है। भारतीय नाट्यशास्त्र की दृष्टि से कथानक में कार्य की पाँच अवस्थाओं में अंतिम फलागम है जिसे अधिकारी (नायक) का अभ्युदय या विजय कहा जाता है। भारतीय महाकाव्य में फलागम या महत्कार्य का ही महत्व है, उसमें चरमबिन्दु और फलागम एक में मिले होते हैं। उदाहरण के लिए रामायण में राम-रावण-युद्ध पाश्चात्य दृष्टि से विरोध का चरमबिन्दु है पर भारतीय दृष्टि से रावण-वध फलागम है। ये दोनों घटनाएँ एक में मिली हैं क्योंकि राम-रावण-युद्ध की ही अन्तिम परिणति रावण-वध और सीता की प्राप्ति है जो रामायण का फलागम है। इस प्रकार राम-रावण-युद्ध और रावण-वध ही रामायण का महत्कार्य है। भारतीय नाट्यशास्त्र में पाँच अर्थ-प्रकृतियों में अन्तिम 'कार्य' है जिसका अर्थ है कि कथानक का जो प्रधान साध्य है और जिसकी सिद्धि के लिए कथा के विविध अंगों, वर्णनों, उपकथाओं आदि का आयोजन होता है, वही अन्तिम फल, कार्य या महत्कार्य होता है। इस दृष्टि से देखने पर पृथ्वीराजरासो में महत्कार्य अपने संपूर्ण रूप में नहीं दिखाई पड़ता। यदि अन्तिम युद्ध में पृथ्वीराज की विजय होती और शहाबुद्दीन मारा जाता तब तो उसमें महत्कार्य माना जाता किन्तु यहाँ तो पृथ्वीराज स्वयं पराजित होकर बन्दी बना लिया जाता है और उसकी आँखें निकाल ली जाती हैं। भारतीय साहित्यशास्त्र के अनुसार नायक की पराजय और उसकी दुर्दशा दिखाना उचित नहीं है। अतः रासो की कथा कुछ और बढ़ाई गई है और पृथ्वीराज द्वारा शहाबुद्दीन गोरी का वध कराया गया है। यहाँ रासो के महत्कार्य या फलागम का कुछ आभास मिलता है किन्तु दिल्ली और कन्नौज की पराजय दिखा कर कथा को फिर दुखान्त बना दिया गया है। अस्तु, पृथ्वीराजरासो की परीक्षा भारतीय साहित्यशास्त्र की दृष्टि से करने पर कुछ फल हाथ नहीं लगेगा। वस्तुतः पाश्चात्य दु:खान्त नाटकों या महाकाव्यों की भाँति उसकी भी परीक्षा होनी चाहिये। इस प्रकार हम देखते हैं कि अन्तिम लड़ाई तो रासो की कथा का चरमबिन्दु है और गोरी, चन्द, पृथ्वीराज, जयचन्द, रैनसिंह आदि की मृत्यु तथा उत्तरी भारत पर मुसलमानों का अधिकार उसका दुखपूर्ण अन्त है। ये घटनाएँ इतिहास के काल और स्थान क्रम की दृष्टि से भले ही ठीक न पड़ें किन्तु फिर भी वे भावरूप में सत्य हैं। भारतीय इतिहास की यह बहुत बड़ी घटना या दुर्घटना है। रासो की समाप्ति इसी महती घटना के वर्णन से हुई है। मेरे विचार से महाकाव्य में महत्कार्य का अर्थ कोई ऐसी घटना है जो किसी युग की या किसी महच्चरित्र के जीवन की सबसे महत्वपूर्ण घटना हो और

गये हैं। इस प्रकार यह महाकाव्य जिस महत्कार्य के वर्णन में प्रवृत्त हुआ है उसकी महानता के अनुरूप ही जीवन की व्यापकता और विविधता भी उसमें दिखलाई पड़ती है।

वस्तु व्यापार-वर्णन

विकसनशील महाकाव्य में जीवन के बाह्य रूपों का चित्रण अधिक होता है, मन की विविध दशाओं और विभिन्न परिस्थितियों में अनुभूत सत्यों की अभिव्यक्ति उनमें अधिक नहीं होती है। वे प्रायः घटना प्रधान और वर्णनात्मक होते है। अतः उनमें प्रसंगप्राप्त वस्तुओं और घटनाओं का विस्तृत और ब्योरे-वार वर्णन अपने प्रारंभिक रूप में मिलता है। वस्तु-व्यापार-वर्णन की परिपाटी अलंकृत महाकाव्यों में इस सीमा तक अपनाई गयी कि वहाँ कुछ विशेष वस्तुओं और व्यापारों का वर्णन रूढि रूप में स्वीकार कर लिया गया जैसे संस्कृत साहि-त्यशास्त्र के अनुसार महाकाव्य में संध्या, चन्द्रोदय, रजनी, प्रभात, सूर्योदय, नगर, वन, पर्वत, सागर, कुमारोदय, युद्ध, मन्त्रणा, जल-क्रीडा, पान-गोष्ठी, पुष्पा-वचय, मिलन-विरह आदि का वर्णन अनिवार्य माना गया और परवर्ती काल में महाकाव्य का अर्थ यही समझा जाने लगा कि उसमें कथानक भले ही घटनाहीन और क्षीण हो पर वर्णनों की अधिकता अवश्य होनी चाहिये। विकसनशील महाकाव्य में वर्णन की अधिकता अवश्य होती है पर वह घटनाओं और कथा-प्रवाह के अनुपात में अधिक नहीं होता। महाभारत के भीतर लम्बे वर्णनात्मक अंश है, जो स्वतंत्र ग्रंथ जैसे प्रतीत होते है जैसे भगवद्गीता, किन्तु इतना होते हुए भी महाभारत वर्णनप्रधान नहीं, घटनाप्रधान ही है। पृथ्वीराजरासो में भी वर्णनात्मकता बहुत अधिक है परन्तु उसमें घटनाओं और कथा-प्रवाह का वेग इतना अधिक है कि वे वर्णनात्मक अंश उसकी तुलना में बहुत अधिक नहीं प्रतीत होते। जिस तरह महाभारत में 'यन्न भारते तन्न भारते' की उक्ति चरि-तार्थ करने के लिए ज्ञान, भक्ति, योग, ज्योतिष, राजनीति, धर्मशास्त्र, युद्धास्त्र, हाथी, घोड़ा, सेना, प्राकृतिक दृश्य, नगर-महल आदि सभी विषयों, व्यापारों और वस्तुओं का बहुत अधिक वर्णन हुआ है उसी तरह रासो मे भी इस प्रकार के वर्णनों की अधिकता है। रासोकार ने स्वयं कहा है :—

> उक्ति धर्म विशालस्य, राजनीति नवं रसं
> षट् भाषा पुराणं च कुरानं कथितं मया।

अर्थात् इसमें सूक्तियाँ हैं, धर्मशास्त्र और पुराण की बातें हैं, राजनीति-शास्त्र का वर्णन है, नवो रसों की योजना है, इस्लाम धर्म की बातें हैं। यही

नहीं कला और ज्ञान-विज्ञान की उस समय तक ज्ञात सभी बातें इसमें आ गयी हैं, यह दावा भी ग्रंथ के अन्त में किया गया है —

सूरत्त दान विग्यान मान। नाटक्क गेय विद्या विमान।
चातुरी भेद वचनह विलास। गति गरम नरम रस हास रास।
गति साम दान(दाम?)भर दण्ड भेद। सब, काम धाम त्रिऽवान वेद।
बाचंत कवित हारंत गोप। बर बिनय विद्धि बुम्भय सदोप।
विधि सस्त्र सार रिन वहन भार। गतिमान दान निरवान कार।
चौबरन धरम कारन विवेक। रस भाष भेय विग्यान नेक।
पौरान सकल कथ अथ्य भाय। भारथ्य अथ्थवे वन्नताय।
कलि काव्य रस्स प्राहास रंग। बंधनिय छन्द बुभ्भे सुजंग।
विऽवेक दान विच्चार चार। गति बाम बाम रति रंग भार।
नव सपत कला विच्चार वेद। विग्यान थान चौरासि भेद।
गति पंच अरथ विग्यान मान। उप्पमा जेब मति अग थान।
रितु रस रसानि बेलास गत्ति। मंतन सुमंत आभास अत्ति।

× × ×

पित मात पत्ति परिचरह भेय। राजंग राज राजंत जेय।
परब्रह्म ध्यान उद्धार सार। विधि भगति विस्व तारंग पार।
आधनुह वेद हय गय विनान। ग्रह गत्ति मत्ति जोतिग्ग थान।
कलि सार सार बुझ्झहि विचार। संभलहि भूप रासो सुधार।

(६८—छन्द २२३ से २३१)

तात्पर्य यह कि रासो में ऐसा कुछ भी नहीं है जिसका वर्णन न हुआ हो। यद्यपि रासो का यह दावा बहुत कुछ अत्युक्तिपूर्ण है और महाभारत की तुलना में रासो को रखना ही इस दावे का उद्देश्य है, किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि रासो में विविध विषयों, वस्तुओ और व्यापारों का बड़ा ही विवृत और कहीं कहीं अनावश्यक या अप्रासंगिक वर्णन हुआ है। ये वर्णनात्मक अंश अधिकतर विकसनशील महाकाव्य महाभारत के वर्णनों जैसे है। संस्कृत साहित्यशास्त्र में महाकाव्य के लिये निर्दिष्ट वस्तुओं का रूढिपालन के रूप में वर्णन उसमें अधिक नहीं हुआ है। संस्कृत के परवर्ती शास्त्रीय महाकाव्यों में कवि मूल-कथा को छोड़कर कई सर्गों तक वन, पर्वत, प्रभात, संध्या, रजनी, चन्द्रमा, जलक्रीड़ा आदि का वर्णन करते चले जाते हैं, किन्तु रासो के वर्णन रूढि-निर्वाह की दृष्टि से लिखे गये नहीं प्रतीत होते। वस्तुतः मूल रासो वीरकाव्य रहा होगा और

उसमें युगानुरूप रोमांचक और पौराणिक तत्वों का भी समावेश रहा होगा; अन्य काव्येतर वस्तुओं का वर्णन उसमें बाद का जोड़ा हुआ है। महाभारत के सबध में भी यह कहा जा चुका है कि वह मूलतः वीरकाव्य था और धार्मिक तथा शास्त्रीय ज्ञानभण्डार की बातें उसमें बाद की जोड़ी हुई हैं। रासो में जिन वस्तु-व्यापारों का वर्णन हुआ है वे निम्नलिखित श्रेणियों में विभक्त हो सकते हैं :—

अध्यात्म, राजनीति, धर्म, योगशास्त्र, कामशास्त्र, मंत्र-तंत्र और शकुनशास्त्र, स्वप्न-फल, मानवीय सौन्दर्य, नगर और देश, युद्धास्त्र, सैन्य-सज्जा, युद्ध, विवाह, मंत्रणा, मृगया, दौत्य, संगीत-नृत्य-नाट्य, वन-उपवन-विहार, यात्रा, पशु-पक्षी और फूल-वृक्ष आदि, खाद्य-पदार्थ, तीर्थ-व्रत-माहात्म्य, पूजा-उपासना, ऋतु-वर्णन, यज्ञ-याग, देवता-मुनि, स्वर्ग, पनघट, गढ़-मण्डल, राज दरबार और अन्तःपुर, सामन्त, संयोग-विप्रलम्भ-श्रृङ्गार, उपदेश और सन्देश, सामाजिक और राजकीय रीति रिवाज, शास्त्रार्थ और काव्य-प्रतियोगिता, उद्यानगोष्ठी, वसन्तोत्सव, अदृष्ट-वर्णन, प्रशस्ति और आशीर्वाद।

इससे स्पष्ट है कि वस्तु वर्णन में रासो में महाकाव्य के शास्त्रीय नियमों का अनुसरण नहीं किया गया है। संध्या, प्रभात, चन्द्रोदय और मध्याह्न का वर्णन तो उसमें कहीं स्वतंत्र रूप से है ही नहीं; नदी पर्वत-सागर का भी वर्णन नहीं हुआ है। प्रकृति-चित्रण के रूप में उसमें केवल षड्ऋतुवर्णन या वन और उद्यान का वर्णन ही मिलता है परन्तु वह भी संश्लिष्ट चित्रण नहीं बल्कि अपभ्रंश काव्यों के ढंग का रूढिबद्ध वर्णन है। युद्ध, मंत्रणा, नगर आदि का वर्णन उसमें अवश्य जम कर हुआ है। यही नहीं, सामन्ती युग में दरबारी वातावरण की जो भी प्रमुख बातें और वस्तुएँ होती हैं उनका वर्णन भी रासो में बहुत विषद् रूप में हुआ है। किन्तु इसमें भी वस्तु-परिगणना की प्रवृत्ति ही रूढ़ि के रूप में दिखलाई पड़ती है। यह प्रवृत्ति पूर्ववर्ती संस्कृत साहित्य में उतनी नहीं थी जितनी परवर्ती साहित्य में।

वस्तु-व्यापार वर्णन की दृष्टि से रासो पर महाभारत का प्रभाव तो है ही, साथ ही उसमें तत्कालीन प्रचलित सस्कृत-प्राकृत और विशेष रूप से अपभ्रंश के चरित काव्यों की वर्णन-विधि का, जिसके आधार पर रुद्रट ने अपनी महा-काव्य संबंधी परिभाषा बनायी थी, पूर्ण रूप से अनुसरण किया गया है। इस प्रकार रासो पर वस्तु-व्यापार वर्णन की दृष्टि से दो परम्पराओं का प्रभाव पड़ा है :—

१—विकसनशील महाकाव्य महाभारत की वर्णन-परम्परा।

२ – संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के पौराणिक और रोमाञ्चक शैली के चरित काव्यों की वर्णन-परम्परा।

राजनीतिशास्त्र, योगशास्त्र, धर्मशास्त्र, शकुनशास्त्र, अध्यात्म विद्या आदि का शास्त्रीय वर्णन रासो में महाभारत के ढंग से हुआ है। उदाहरण के लिए कनवज्ज समय (६१ वाँ समय—पृ० १५९०) में पृथ्वीराज के द्वारा कैमास की जगह जैतराव के मंत्री बनाने की बात आने ही कवि को मंत्री के गुण बताने का अवसर हाथ लग गया, अतः उस जगह राजनीतिशास्त्र का लम्बा वर्णन हुआ है। उसी तरह उसी 'समय' में जयचन्द के दरबार में चन्दवरदाई और जयचन्द के बीच राजनीति पर बहस होती है। वैसे तो शकुन-अपशकुन की घटनाओं का वर्णन रासो में जगह-जगह हुआ है परन्तु ६१ वें समय (पृ० १६०१–२) में पृथ्वीराज के पूछने पर चन्दवरदाई शुभ-अशुभ शकुन का २४ छन्दों में बहुत लम्बा और शास्त्रीय विवेचन करता है। महात्म्य वर्णन और स्तोत्र-पाठ लिखने की पद्धति तो महाभारत के बाद भी सभी पौराणिक और धार्मिक काव्यों में मिलती है। रासो में भी इस वर्णन-परिपाटी का अत्यधिक पालन हुआ है। तीर्थ-व्रत, देवी-देवता, मंदिर आदि की चर्चा जहाँ भी आयी है वहीं प्रायः उस स्थान या देवता का माहात्म्य वर्णन और स्तवन मिलता है। इसी प्रकार योगशास्त्र के सम्बन्ध में भी रासो में कई जगह चर्चा आयी है, किन्तु ६७ वें समय के प्रारम्भ में (छन्द ५८ से ७९ तक) योगशास्त्र की बातों का विधिवत वर्णन हुआ है जिसे पढकर ऐसा प्रतीत होता है कि किसी परवर्ती योगमार्गी कवि ने अपने मत के प्रचार के लिए इसमें जोड़ दिया है।

महाभारत की तरह रासो में भी विविध शास्त्रीय और प्राचीन ज्ञान संबंधी विषयों का भाण्डार भरा हुआ है। वंशोत्पत्ति और वंशानुक्रम का वर्णन भी उसी के अंतर्गत आता है। संसार भर के विकसनशील महाकाव्यों की यह प्रधान प्रवृत्ति है जिसके बारे में पहले अध्याय में विचार किया जा चुका है। विकसनशील महाकाव्य दो प्रकार के होते हैं—दरबारी वातावरण और पठित समाज में विकसित होने वाले और दूसरे लोककण्ठ में बस कर विकसित होने वाले। प्राचीन ज्ञान और शास्त्र सम्बन्धी विषयों का ब्योरेवार और पाण्डित्यपूर्ण वर्णन और विवेचन पहले प्रकार के शिष्ट समाज में विकसित महाकाव्यों में ही मिलता है, दूसरे प्रकार के लोकमहाकाव्यों में नहीं। कारण यह है कि ज्यों-ज्यों उनकी लोकप्रियता बढ़ती जाती है और शिष्ट समाज में उनका आदर होने

से विभिन्न स्थानों में उनको लिखित रूप दिया जाने लगता है त्यों-त्यों उनमें अपने-अपने स्वार्थ की दृष्टि से पण्डितवर्ग के लोग या पेशेवर कवि अपने श्रोताओं और पाठकों की आवश्यकता और रुचि के अनुरूप पाण्डित्य और ज्ञान-धर्म की बातें भी जोडते जाते है। महाभारत और रासो दोनों का आकार वर्द्धन और वर्णन-विस्तार इसी प्रक्रिया द्वारा हुआ है।

पूर्ववर्ती संस्कृत-प्राकृत के महाकाव्यों में प्रकृति का आलम्बन या उद्दीपन रूप में बहुत ही सश्लिष्ट और सांगोपांग चित्रण हुआ करता था जिसका प्रारम्भ वाल्मीकि की रामायण से हुआ था। किन्तु परवर्ती काल के कवियों ने अधिकतर रूढ़िपालन के लिए उद्दीपन रूप में प्रकृति का अलंकृत चित्रण किया है और उसमें भी बहुधा उनकी प्रवृत्ति प्राकृतिक वस्तुओं की परिगणना कराने अथवा उपमा, उत्प्रेक्षा, अपह्नुति, रूपक, व्यतिरेक आदि अलंकारों द्वारा चमत्कार उत्पन्न करने की रही है। रासो में यों भी प्रकृति-चित्रण बहुत कम हुआ है और जो है वह भी उद्दीपन रूप में तथा रूढ़िपालन के लिए लिखा गया प्रतीत होता है। पर कहीं-कहीं रासो का प्रकृति-चित्रण अपनी नवीनता के कारण अत्यंत चमत्कारपूर्ण हुआ है। 'शशिव्रता वर्णन प्रस्ताव' (२५ वाँ समय —पृ० ८२९ और ८४९) में युद्ध-वर्णन के बीच में प्रभात वर्णन कुछ विचित्र-सा लगता है किन्तु उस प्रभात को भी कवि युद्ध के रँग में रँग कर चमत्कार उत्पन्न कर देता है। उसके अनुसार प्रभात-काल वीरों को दूसरे ही प्रकार का आनन्द देता है—

> निसि गत बढ्ढै भान वर, भंवर चक्कि अरु सूर।
> मंतहमत्त पयान गति, वर भारथ्थ अँकूर।
>
> (२५–६७४)

इसी तरह ऋतुवर्णन के लिए भी कनवज्ज समय में निराला ही ढंग अपनाया गया है। सदेशरासक में नायिका वियोगदशा में उद्दीपन रूप में छहों ऋतुओं का वर्णन करती है। नेमिनाथचउपई में राजमती की वियोगावस्था का चित्रण बारहमासा काव्य के रूप में उद्दीपन की दृष्टि से हुआ है। किन्तु रासो में षड्ऋतु-वर्णन उद्दीपन रूप में होते हुए भी संयोगावस्था और वियोगावस्था की मनोदशाओं का एक विचित्र सामञ्जस्य उपस्थित करता है जो अन्यत्र बहुत कम मिलता है। पृथ्वीराज कन्नौज जाने के लिए विदा माँगने की बारी से छः रानियों के पास जाता है किन्तु प्रत्येक रानी एक ऋतु तक प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन करके और वियोगावस्था में उसी प्रकृति के कारण मिलने वाले दुःख का भय दिखाकर राजा को भुलावा देकर रोक लेती है और इस तरह एक वर्ष तक पृथ्वीराज की कन्नौज-

यात्रा रुकी रह जाती है। अन्त में पृथ्वीराज परेशान होकर चन्द से पूछता है :—

षट रिति बारहमास गय फिरि आयो रु बसन्त।
सो रिति चन्द बताउ मोहि तिया न भावे कन्त।

षड्ऋतु और बारहमास का नाम इस दोहे में एक साथ लेकर कवि ने यह कहना चाहा है कि उसे बारहमासा काव्यरूप भी मालूम है। इस तरह रासो में षड्ऋतु-वर्णन का बिलकुल नया ढंग निकाला गया है। यह वर्णन उद्दीपन रूप में होते हुए भी सादगी और स्वाभाविकता से युक्त है और रासो के सबसे सुन्दर और मर्मस्पर्शी स्थलों में से है।

परिगणना की प्रवृत्ति—पौराणिक और रोमांचक महाकाव्यों में कवि का ध्यान प्राकृतिक वस्तुओं तथा अन्य वस्तु-व्यापारों की गणना कराने की ओर जितना अधिक दिखलाई पड़ता है, उतना संश्लिष्ट चित्रण की ओर नहीं। यह प्रवृत्ति संस्कृत के पूर्ववर्ती महाकाव्यों में नहीं मिलती और अपभ्रंश के काव्यों में बहुत मिलती है। रासो में इस प्रकार की वर्णन-विधि की अधिकता है। जो भी विषय शुरू होता है, चाहे सामन्तों और दरबार का प्रसंग हो या भोजन का, उद्यान का हो या पशु-पक्षियों का, सबमें संबद्ध वस्तुओं का नाम बहुत ब्योरे के साथ गिनाया गया है। इसमें काव्य-कला की दृष्टि से भले ही दोष दिखलाई पड़े किन्तु अनेक स्थलों में इस पद्धति के कारण तत्कालीन सामाजिक जीवन और सभ्यता पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। उदाहरण के लिए विवाह-वर्णन, भोजन-सामग्री, नाट्य-संगीत-नृत्य, सामन्त, राजमहल, उद्यान, प्रसाधन आदि के वर्णन से सामन्ती वीर-युग की सभ्यता और दरबारी जीवन का यथार्थ परिचय मिल जाता है। अपभ्रंश के चरित काव्यों में भी ऐसे वर्णन बहुत मिलते हैं। स्वयम्भू के 'पउमचरिउ' में उद्यान का वर्णन करते हुए कपूर, लवंग, एला, कंकोल, माधवी, बकुल, चम्पक, प्रियंगु, कर्णिकार, श्रीखण्ड, नारंगी, अश्वत्थ, पद्माक्ष, रुद्राक्ष, द्राक्षा, खजूर, जँभीरी, नीम, हरिताल आदि पचासो पेड़-पौधों और फल फूलों के नाम गिनाये गये है।[1] उसी तरह सदेशरासक में भी (छंद ५५ से ६४ तक) सैकड़ों

१—'रम्य महा जं च पुणणाय णाएहि। कुसुमिय लपा वेल्लि पल्लव णिहाएहिं।
कप्पूर कंकोल एला लवंगेहिं। महु माहवी माहुलिंगी विडंगेहि।
मरियल्ल जीरच्छ-कुंकुम कुंडगेहि। णव तिलय बबुलेहिं चम्पय पियंगेहि।
णारंग णग्गोह आसत्थ रुक्खेहि। कंकेलि पडयक्ख रुद्दक्ख दक्खेहि।
खज्जूरि जम्भीरि घण फणिस लिम्बेहि। हरियाल ढउएहिं वहु पुत्त जीवेहि॥ आदि।
पउमचरिउ-सन्धि ३-कडवक १।

वनस्पतियों की परिगणना की गयी है। इससे पता चलता है कि अपभ्रंश काव्य में परिगणना की रूढ़ि का पर्याप्त प्रचलन था और उसी का प्रभाव पृथ्वीराजरासो तथा हिन्दी के अन्य प्रबन्ध काव्यों पर पड़ा है। रासो में पेड़-पौधों का नाम अनेक स्थलों पर गिनाया गया है। इसका एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा :—

विरछ बेलि डंबर। सुरंग पान अंमरं।
जु केसर कुमुंकुमं। मधुप्प बास त भ्रमं।
अनार दाख पल्लव। सुछत्रपत्ति ढिल्लयं।
श्रीखण्ड तरु वासयं। गुलाब फूल रासयं।
जु चंपकं कदंबयं। खजूरि भूरि अंबयं।
सु अन्ननास जीरयं। सतूतयं। जंभीरयं।
अषोट सेव दामयं। अबाल बेलि स्यामयं।
जुश्रीफल नरंगयं। सबद्द स्वाद होतयं।

(रासो—समयो ४९—छन्द ६-१०)

पशु-पक्षियों की परिगणना जिस ढंग से पुष्पदन्त के महापुराण (९–१९) और जसहरचरिउ (२-२७) में की गयी है वही ढंग रासो में भी जगह-जगह अपनाया गया है। मृगया के प्रसंग में तो ऐसे वर्णन मिलते हैं, भोजन के समय पास रखे जाने वाले जानवरों की सूची भी दी गयी है :—

कुक्कुट वकुल करोंच कपि हिरन हंस सुक मोर।
असन करत नृप रष्षि ढिग सूचक जहर चकोर ॥

(रासो—६६–३३५)

इसी तरह भोजन की सामग्री तथा अन्य साज-समान का वर्णन भी रासो में वैसा ही हुआ है जैसा धनपाल के भविसयत्तकहा (१२–३) में। उन्हें परोसने के समय का वर्णन ठीक वैसा ही है जैसा जायसी के पद्मावत (चित्तौरखण्ड) में मिलता है। एक उदाहरण दिया जा रहा है :—

पूप अनूप परूसि पुरी सुष्ष पुरिमेलि।
ललित लूचई लै चलै ऊचरतो विधि वेलि।

× × × ×

सुते वर घेवर पैसल पागि। लषे चख फेरि गई उर आगि।
जलेबिन जेब कहै कवि कौन। महामधु माठ मिटावन मौन।

(रासो—समय ६३—छन्द ७२–७४)

रासो के ६३वें समय में चोष्य, लेह्य और चर्व्य पदार्थों का वर्णन करीब चालीस छन्दों में बड़े विस्तार से हुआ है। ६६वें समय (छन्द ३३७) में भी इसी प्रकार भोज्य पदार्थों का वर्णन हुआ है।

अपभ्रंश के चरित काव्यों में नाट्य, नृत्य, सगीत और वाद्य-यंत्रों का वर्णन अनेक स्थलों पर मिलता है। विवाह, पुत्रोत्सव, राजदरबार, समवसरण आदि का अवसर उपस्थित होते ही अपभ्रंश कवियो ने वाद्य-यंत्रों, राग-रागिनियों और नृत्य-मुद्राओं का नाम गिनाना प्रारंभ कर दिया है। पुष्पदन्त ने महापुराण की छठी सन्धि में चार लम्बे कडवको (५ से ८ तक) में नाटक, संगीत, वाद्य आदि का पाण्डित्यपूर्ण और शास्त्रीय ढग से विवेचनात्मक वर्णन किया है। रासो में भी कई जगह नाटक, संगीत और नृत्य तथा वेश्याओं और गायकों का वर्णन हुआ है किन्तु ६१वें समय में जयचन्द की सभा में नाटकादि के आयोजन का वर्णन बहुत विस्तार से हुआ है और उसकी तुलना महापुराण के उक्त वर्णन से करने से स्पष्ट हो जाता है कि दसवीं शताब्दी के बाद काव्य में इस प्रकार का गणनाप्रधान वस्तु-वर्णन प्रबन्ध काव्यों की वर्णन-रूढि बन गया था। उपर्युक्त वस्तु-व्यापारो के अतिरिक्त नगर, राजद्वार, महल, उत्सव आदि का वर्णन भी रासो में अपभ्रश काव्यों के समान ही हुआ है जिनके उदाहरण अधिक विस्तार के भय से यहाँ नही दिये जा रहे हैं।

युद्ध-वर्णन—पृथ्वीराजरासो में वर्णन की नवीनता और मौलिकता अवश्य दिखलाई पड़ती है यद्यपि उन विषयों का वर्णन उसमें इतनी बार और इतना अधिक हुआ है कि उसका प्रभाव नष्ट हो जाता है। वे विषय हैं—युद्ध, मृगया, विवाह, मन्त्र तन्त्र की लड़ाई, सामन्तों की स्वामि-भक्ति, राजनीतिक षड्यन्त्र, कवि-भाटों और दूतों का दूतत्व और उनका स्वागत-सत्कार आदि। पिछले अध्याय में कहा जा चुका है कि सामन्ती वीरयुग में युद्ध समाज के एक वर्ग के लिए जीवन की आवश्यकता था और कुछ लोगों के लिये तो वह व्यसन बन गया था। राष्ट्रीय सुरक्षा का उस काल में अभाव था। परिणामस्वरूप आये दिन पड़ोसी राज्यों के बीच तथा विदेशी हमलावरों से युद्ध होते ही रहते थे। लूटपाट भी होती थी। पृथ्वीराजरासो को पढ़ने पर इतिहास के ये सभी भाव-सत्य आँखों के सामने मूर्त हो जाते है। उसके युद्धों में अधिकांश व्यसन-युद्ध ही हैं। पृथ्वीराज विवाह के लिए या यों भी अकारण किसी पर आक्रमण कर देता था। उस पर भी किसी बात का बदला लेने के लिए आक्रमण होते थे। शहाबुद्दीन के आक्रमणों का ताँता कभी टूटता ही नहीं था और आश्चर्य यह कि वह बार बार पकड़ कर छोड़ दिया जाता था। उसके आक्रमण के

समय पृथ्वीराज के किसी न किसी सामन्त को, जो उसे पकड़ने का बीड़ा उठाता था, पकड़ने का अवसर दिया जाता था। परन्तु पकड़ा जाने पर भी हर बार सम्भवतः उसे इसीलिए छोड़ भी दिया जाता था कि गोरी को आक्रमण करने और पृथ्वीराज के सामन्तों को उसे फिर पकड़ने का अवसर मिले। इस प्रकार रासो में युद्ध आवश्यक ही नहीं, सामन्तों-राजाओं के व्यसन के रूप में भी वर्णित हुआ है। उसमें इतने युद्धों का वर्णन हुआ है कि सबको एक साथ स्मरण भी नहीं रखा जा सकता। अतः कवि के लिए भी असम्भव था कि किसी युद्ध का वर्णन पीछे जिस प्रकार हो चुका है, उसकी शब्दावली और ढङ्ग की पुनरावृत्ति को वह आगे न कर सके। रासो में जो युद्धाधिक्य और वर्णनों में पुनरुक्ति है वही उसका दोष है और साथ ही विकसनशील महाकाव्य के रूप में वही उसकी विशेषता भी है। इन युद्ध-वर्णनों पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात हो जाता है कि युद्धों का जैसा जीवंत और यथार्थ वर्णन रासो में हुआ है वैसा महाभारत को छोड़कर पूर्ववर्ती भारतीय महाकाव्य में बहुत कम हुआ है। युद्ध-वर्णन में आक्रमण की तैयारी, युद्ध-प्रयाण, व्यूह-रचना, युद्धास्त्र, हाथी-घोड़ा, युद्ध-भूमि में योद्धाओं और सैनिकों का स्थान-निर्धारण, मार-काट, कबन्ध-नृत्य, योगिनी, काली, भूत-प्रेत आदिका मुण्ड-धारण, देवताओं द्वारा युद्ध देखना अथवा पुष्पवर्षा करना, अप्सराओं द्वारा वीरों को मृत्यूपरान्त वरण करना, युद्ध भूमि से घायलों को उठाना, संध्या को युद्ध बन्द कर देना आदि बातों का उल्लेख ब्योरेवार किया गया है।

मृगया—रासो में युद्ध-वर्णन के बाद मृगया और विवाह-वर्णन का ही स्थान है और ये वर्णन भी बहुत ही यथार्थ ढंग के और जीवन्त हैं। पृथ्वीराज अपने सभी सामतों के साथ पूरी तैयारी करके शिकार खेलने जाता है। बन में हँकावा होता है, बाजे बजते हैं, सभी सामन्त वहाँ अपनी वीरता दिखाते हैं और कन्ह जैसे वीर शेर का मस्तक हाथ से मसक देते हैं। रासो के अनुसार पृथ्वीराज के शिकार का कार्यक्रम लम्बे समय तक चलता था और उसी समय शहाबुद्दीन को आक्रमण करने का भी अवसर मिल जाता था। शिकार में कभी-कभी रानियाँ भी साथ जाती थी, डेरे पड़ते थे, ज्योनार और गोष्ठी होती थी (६३ वाँ समय), दरबार लगता था, मन्त्रणा होती थी, यहाँ तक कि शिकार के बहाने पृथ्वीराज पड़ोसी राज्यो की सीमा में जाकर या तो विवाह करता था या उन पर आक्रमण कर देता था। पृथ्वीराज का इन्द्रावती से ब्याह और भीम चालुक्य पर आक्रमण इसी तरह हुआ था। इस प्रकार युद्ध की तरह

वीरता-प्रदर्शन का अवसर प्रदान करने के कारण रासो में मृगया को भी व्यसन का ही रूप दे दिया गया है।

विवाह और विलास का वर्णन—रासो के ६५ वें समय में उसकी सभी रानियों का नाम गिनाया गया है जिनकी संख्या तेरह है। इन तेरह रानियों में से केवल चार—इंच्छिनी, दाहिमी, इन्द्रावती और हंसावती—के विवाहोत्सव का सविस्तर वर्णन रासो में हुआ है। इनके अतिरिक्त पृथ्वीराज की बहिन पृथाकुमारी के समर सिंह से व्याह का वर्णन भी पूरे एक सर्ग में ११४ छन्दों में हुआ है। संयोगिता, पद्मावती और शशिव्रता के विवाह प्रेमाख्यानक ढङ्ग के है जिनमें युद्ध करके कन्या का हरण हुआ है; अतः हिन्दू धर्म की वैवाहिक रीति-नीति का विस्तार के साथ वर्णन करने का वहाँ अवसर भी न था। रासो में विवाह दो प्रकार से हुए हैं:—प्रेमाख्यानक ढङ्ग के विवाह, जिनमें नायक-नायिका में चित्रदर्शन, गुण-श्रवण आदि द्वारा परस्पर पूर्वानुराग उत्पन्न होता है, सन्देश भेजे जाते है और शिव-मन्दिर में या सरिता-सरोवर के तट पर नायक से नायिका मिलती है, फिर नायक युद्ध करके उसका हरण कर ले जाता है। इस तरह के दो-तीन गन्धर्व विवाहो का वर्णन रासो में हुआ है जो कालिदास के शाकुन्तल का तथा अपभ्रंश और परवर्ती संस्कृत के पौराणिक रोमांचक चरित काव्यों का प्रभाव व्यक्त करता है। ऐसे विवाहों में कथानक सम्बन्धी पूर्वप्रचलित रूढ़ियों का खूब प्रयोग हुआ है। दूसरे ढंग के वे विवाह हैं जिनमें कन्यापक्ष और वरपक्ष की राय से विवाह निश्चित होता है, पुरोहित लगन लेकर जाते हैं, तिलक चढता है और बारात जाती है। उन वर्णनो में बारात की अगवानी, जनवासा, मंगलाचार, ज्योनार, विवाह मण्डप में भाँवरी, सिन्दूरदान, दान-दहेज, विदाई आदि का विवरण विस्तार के साथ दिया गया है। अपभ्रंश के पूर्ववर्ती चरित काव्यों में विवाह का वर्णन तो अवश्य हुआ है किन्तु इतना विवरण उनमें नहीं दिया गया है। दसवी, शताब्दी में रचित दिव्यदृष्टि धाहिल के 'पउमसिरिचरिउ' नामक लघु प्रबन्ध-काव्य में अवश्य विवाहोत्सव का वर्णन कई कडवकों में हुआ है जिनमें विवाह का लग्न-शोधन, विवाह की तैयारी, मण्डप-रचना, निमन्त्रण भेजना, चौक पूरना, स्त्रियों के गीत द्वारचार और विवाह आदि का बहुत ही विशद और काव्यात्मक वर्णन हुआ है[1]।

---

१. पउमसिरिचरिउ—द्वितीयसन्धि—कडवक १६ से २२ तक—सं० श्री मधुसूदन मोदी तथा हरिवल्लभ भायाणी। बम्बई सं० २००५।

रासो में इंच्छिनी-विवाह (१४वाँ समय) और पृथा-विवाह (२१ वाँ समय) का वर्णन पूरे एक-एक अध्याय में हुआ है और इन्द्रावती, पुण्डीर-दाहिमी (१६ वाँ समय) और हंसावती (३६ वाँ समय) के विवाहों का वर्णन भी यद्यपि विस्तार से हुआ है परन्तु उनमें पूरे सर्ग नहीं लगे हैं। सबमें वर्णन-विधि एक जैसी है, छोटी-से छोटी बात को भी कवि बिना कहे नहीं छोड़ना चाहता। इस तरह के विवाह सम्बन्धी विस्तृत वर्णनों से रासो की काव्यात्मकता में तो कोई वृद्धि नहीं हुई है, किन्तु उससे मध्यकालीन हिन्दू विवाह सम्बन्धी रीति-रिवाजों पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है। ये वर्णन यथार्थ भूमि पर आधारित होते हुए भी अतिशयोक्ति पूर्ण हैं।

विलास-वर्णन और तंत्र-मंत्र की लड़ाई—इसी प्रकार रासो में प्रत्येक विवाह के बाद विलास का भी वर्णन किया है। विलास-वर्णन की परम्परा संस्कृत और अपभ्रंश के प्रबन्ध काव्यों में पहले से ही चली आ रही थी। रासो में उसे ही अपनाया गया है। तंत्र-मंत्र की लड़ाई का वर्णन भी उसमें बहुत अधिक हुआ है। 'भोला राय समय' में भीम चालुक्य का मन्त्री अमरसिंह सेवरा पृथ्वीराज के मन्त्री कैमास को एक स्त्री के वश में करके चालुक्यराज का भक्त बना देता है और चन्द आकर अपने मंत्र-बल से उसे मुक्त करता है। उस समय के २८ छन्दों में (छन्द २७७ से ३०५ तक) चन्दवरदाई और अमरसिंह सेवरा के बीच मंत्र-युद्ध का वर्णन हुआ है। उसी तरह 'दुर्गा केदार समय' (५८ वाँ समय) में मंत्र-प्रतियोगिता का विस्तृत वर्णन हुआ है जिसमें मन्त्र बल से घट से ज्वाला उत्पन्न करना, चट्टान को चला देना और उसे द्रवित करके जल बना देना, पानी बरसा देना, छेदवाले घड़े का जमुना तक जाना और जल भर कर लाना आदि अलौकिक और अद्भुत बातों का चमत्कारपूर्ण और रोमांचक वर्णन करीब ६३ छन्दों में हुआ है। मन्त्र-युद्ध की परंपरा सामन्ती वीर-युग की है जब कि बौद्ध, जैन, शैव, शाक्त सभी मतों में तांत्रिकता का जोर बढ़ गया था। तंत्रशास्त्र के आगम ग्रंथ अधिकतर इसी काल में बने। इस युग में जैन और नाथ संप्रदायों का पश्चिमी भारत में प्रभाव भी अधिक था। परवर्ती काल में तांत्रिकों के चमत्कारों के सम्बन्ध में नाना प्रकार की अनुश्रुतियाँ भी प्रचलित हो गयी थीं। अतः रासो में चन्द को शाक्त, तांत्रिक और जोगी के रूप में दिखलाने का कार्य परवर्ती काल के कवियों का प्रतीत होता है क्योंकि १५ वीं शताब्दी के बाद के प्रेमाख्यानक काव्यों में ही इस तरह की तंत्र-मंत्र और यौगिक क्रियाओं की बातें अधिक मिलती हैं। सामन्ती वीरयुग के अपभ्रंश के चरित काव्यों में उनका वर्णन

बहुत कम हुआ है। वहाँ अलौकिक और अतिप्राकृत कार्य प्रायः राक्षस, विद्याधर गन्धर्व आदि द्वारा ही किये जाते हैं।

४—कथानक

विकसनशील महाकाव्य अलंकृत महाकाव्यों की तुलना में बहुधा विशालकाय होते हैं क्योंकि उनका कथानक अलंकृत महाकाव्यों की तरह संघटित और शृंखलित नहीं होता। इसका कारण यह है कि उनकी कथा में विकास-क्रम और घटना-संकलन की कला का अभाव होता है। अलंकृत महाकाव्य ऐसे उद्यान की तरह होते हैं जिसमें माली की रुचि और उसकी कैंची की कला दिखलाई पड़ती है। किन्तु विकसनशील महाकाव्य ऐसे विशाल और सघन वन की तरह होते हैं जिसमें सभी प्रकार के पेड़-पौधे स्वतन्त्र रूप से विकसित होते हैं। इस तरह विकसनशील महाकाव्यों में कसावट, अन्विति और समानुपात कम होता या बिलकुल नहीं होता है। पृथ्वीराजरासो का कथानक ऐसा ही है। उसमे कथानक की वह नाटकीय अन्विति नहीं है जो अलंकृत महाकाव्यों—कुमारसम्भव, शिशुपालवध आदि—में है। वस्तुतः रासो एक चरित काव्य है। चरित काव्यो में नायक की वंश-परंपरा और उसके जन्म से लेकर मृत्यु तक के जीवनवृत्त का वर्णन होता है। रासो में भी अग्नि-कुण्ड से चौहान वंश तथा अन्य क्षत्रिय वंशों की उत्पत्ति, अजमेर के चौहान राजाओं की वंशावली, उनमें से प्रधान राजाओं की कथा, पृथ्वीराज का जन्म, उसके विवाह, युद्ध, मृत्यु आदि का ब्योरेवार वर्णन हुआ है। अरस्तू ने लिखा है कि महाकाव्य में नायक का जीवन-चरित्र इतिहास के रूप में नहीं लिखना चाहिए क्योंकि इतिहास में एक ही समय में घटित होने वाली अनेक घटनाओं का वर्णन होता है पर महाकाव्य में उन घटनाओं में से नायक के जीवन से सम्बन्धित घटनाओं को चुन कर उन्हीं का वर्णन किया जाता है। रासो में वर्णित अधिकांश घटनाओं का संबंध पृथ्वीराज के जीवन से है। वे घटनाएँ इतिहास-संमत है या नहीं, यह अलग बात है। वह राजस्थान का तत्कालीन इतिहास नहीं, बल्कि कवि-कल्पना से उद्भूत और वंशानुवंश विकसित महाकाव्य है। उसमें एक ओर तो इतिहास की अनेकानेक घटनाओं को छोड़ दिया गया है, दूसरी ओर पृथ्वीराज के संबंध में अनेक काल्पनिक घटनाओं को जोड़ कर कथानक को बहुत स्फीत बना दिया गया है।

रासो का कथानक शास्त्रीय महाकाव्यों की तरह नाटकीय संधियों से युक्त और सुसंघटित नहीं है। उसकी कथा का आधार इतिहास है, अतः कथानक अनुत्पाद्य है। किन्तु उसमें अवान्तर और प्रासंगिक कथाओं की भरमार है जिनमें

से अधिकांश उत्पाद्य या काल्पनिक हैं अथवा लोककथाओं-दंतकथाओं पर आधारित है। नाटक की संधियोंसे युक्त सुसंघटित कथानक वह होता है जिसमें पताका और प्रकरी आधिकारिक कथा की सहायिका के रूप में होती है, उनका फल आधिकारिक कथा के कार्य या फल की सिद्धि में योग प्रदान करने वाला होता है। रासो में यह बात कम दिखाई पड़ती है। उसकी अधिकांश अवांतर कथाएँ अपने आप में स्वतन्त्र हैं। वे आधिकारिक कथा को ठेल कर आगे बढ़ाने में बहुत कम योग देती हैं। अतः यह तो स्पष्ट है कि रासो का कथानक बिखरा हुआ है और इसी कारण इस महाकाव्य का आकार इतना विशाल हो गया है। किन्तु यह बात रासो में ही नहीं संसार के अधिकांश विकसनशील महाकाव्यों में पाई जाती हैं। अरस्तू ने महाकाव्य के कथानक की यह विशेषता बताई है कि उसमें विकास-क्रम, उतार चढ़ाव और जीवन्तता होनी चाहिए। रासो के कथानक में शृंखला अवश्य है किन्तु वह बीच-बीच में अवान्तर कथाओं और अनावश्यक वर्णन-विस्तार के कारण टूटी हुई सी प्रतीत होती है। यदि उसमें पृथ्वीराज के जन्म, दिल्ली राज्य की प्राप्ति इंच्छिनी, शशिव्रता, दाहिमी, हसावती आर संयोगितासे उसके विवाह, तथा भीम चालुक्य, जयचन्द और कुछ अन्य राजाओं से उसके युद्ध और अन्त में शहाबुद्दीन के साथ उसके दो-चार युद्धों का वर्णन ही होता तो कथानक निश्चय ही सुसंघटित होता और उसका विकास-क्रम भी स्पष्ट दिखाई पड़ता। किन्तु उसमें इतने अधिक युद्धों, विवाहों, मृगया, यात्र और अन्य प्रकार की घटनाओं तथा कथाओं का वर्णन हुआ है कि आधिकारिक कथा का सूत्र अनेक स्थलों में खो-सा जाता है। फिर भी उसके कथानक में विकासक्रम है जो कथा-प्रवाह की मन्द गति के कारण स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ता। यदि कथानक में कुछ भी विकासक्रम उतार-चढ़ाव न होता तो वह काव्य न होकर इतिहास-पुराण बन गया होता। विकासक्रम में आदि मध्य और अन्त होना चाहिए और कथा की धारा चारों ओर से सिमट कर एकोन्मुख होकर अन्तिम महत्कार्य की ओर प्रवाहित होनी चाहिए। रासो में पृथ्वीराज का जन्म, दिल्ली-दान कथा, इच्छिनी-विवाह, भीम के साथ शत्रुता का प्रारंभ, हुसेन कथा आदि बातें कथानक के आदि भाग में आती हैं। फिर पृथ्वीराज के कुछ युद्ध और मृगया की घटनायें, शशिव्रता-विवाह, जयचन्द के साथ वैर, पद्मावती हरण, संयोगिता-हरण आदि घटनायें उसके मध्य भाग में आती हैं और अंतिम लड़ाई तथा उनके बाद की घटनाएँ अन्त-भाग में आती हैं। इस तरह यदि अवान्तर कथाओं और विवृत वर्णनों को छोड़ कर देखा जाय तो रासो की कथा में विकास-क्रम और उतार-चढ़ाव दिखाई पड़ता है।

किन्तु कथा-प्रवाह का वेग क्षीण होने से ही रासो के कथानक का महत्त्व कम नहीं हो जाता। किसी एक कवि की कृति न होने के कारण उसमें यद्यपि कथानक की सुनिश्चित योजना और कलात्मक तथा समानुपातिक संघटन नहीं है और न घटनाओं का अपेक्षित चुनाव ही हुआ है, फिर भी उसमें सक्रियता और जीवन्तता बहुत अधिक है। उसके कथानक की तुलना किसी नदी की वेगपूर्ण धारा से नहीं बल्कि महानद की मंद गतिवाली धारा से करनी चाहिए। रासोकार ने तो अपने काव्य को समुद्र कहा ही है :—

काव्य समुद्र कवि चन्द कृत मुकत समप्पन ग्यान।
राजनीति बोहिथ सुफल पार उतारन यान॥

अतः समुद्र में जिस तरह जल-धारा का प्रवाह किसी एक दिशा में नहीं होता पर उसका आर-पार और मझधार तो होता ही है, उसी तरह रासो में भी आदि, मध्य और अन्त है। उसमें कथा की एक धारा का वेगयुक्त प्रवाह नहीं बल्कि नाना घटनाओं की उत्ताल जल तरंगों का आवर्त-विवर्त है, महानद की मन्द गति में जो प्रचण्ड शक्ति होती है और सागर की शत-शत तरंगों में जो महाघोष और अनवरुद्ध-अनाहत धूमधाम होती है, वही शक्ति और धूमधाम रासो में भी दिखाई पड़ती है। अतः उसका कथानक शिथिल, असंघटित और असन्तुलित होते हुए भी प्रचण्ड शक्तिवाला और अत्यन्त जीवन्त है। रासो विशुद्ध कथात्मक काव्य नहीं है। इसके विपरीत यह घटना-प्रधान और वर्णनात्मक काव्य है। फलस्वरूप उसकी शक्ति कथा-प्रवाह मे नहीं बल्कि घटनाओं, संघर्षों और वर्णनों में निहित है। ये घटनाएँ एक-दूसरे को इस तरह ठेल कर आगे बढ़ाती हैं कि कथानक भी उन्हीं के साथ अन्तिम कार्य की ओर स्वतः बढ़ता जाता है। महाकाव्य में कथानक सुसंघटित होने से कलात्मक सौष्ठव उत्पन्न होता है, किन्तु उस कलात्मक सौष्ठव के बिना भी महाकाव्य हो सकते हैं और होते हैं। अरस्तू ने इलियड का कथानक सरल और सुसंघटित तथा ओडेसी का कथानक जटिल माना है। उसी तरह भारत में रामायण का कथानक सरल, नियन्त्रित और शृङ्खलित तथा महाभारत का विशृङ्खलित और बिना डौलडौल का है। अंगरेजी के विकसनशील महाकाव्य बियोवूल्फ का कथानक न तो सरल है न जटिल। जटिल कथानक पौराणिक और रोमांचक काव्यों में होता है जिनमें एक कथा के भीतर दूसरी और दूसरी के भीतर तीसरी कथा पिरोयी रहती है। रासो का कथानक न तो इलियड और रामायण के समान सरल और शृंखलित है और न ओडेसी तथा पौराणिक रोमांचक महाकाव्यों के समान जटिल। इसके विपरीत वह बियोवुल्फ के कथानक की भाँति नाना प्रकार के साहसपूर्ण रोमांचक

कार्यों की हलचल और अवान्तर कथाओं के जंगल के भीतर से गुजर कर विकसित हुआ है। उसमें महाभरत के कथानक की जटिलता तो नहीं है पर उसकी विश्रृंखलता अवश्य है। महाभारत के समान ही उसमें भी कार्यान्विति का अभाव है पर सक्रियता की अधिकता है। कार्यान्विति शास्त्रीय महाकाव्यों में ही अधिक होती है। विकसनशील महाकाव्यों तथा पौराणिक-रोमांचकशैली से अत्यधिक प्रभावित होने के कारण रासो के कथानक में कार्यान्विति का अभाव होना स्वाभाविक है।

रासो में कथानक-रूढ़ियाँ—कथानक-रूढ़ियों की दृष्टि से भी रासो का कथानक अपभ्रंश के चरित काव्यों के जैसा ही है। कथा सम्बन्धी अभिप्राय मुख्यरूप से निजन्धरी विश्वासों और सम्भावना पर आधारित होते हैं। अतः रासो जैसे ऐतिहासिक शैली के काव्य में इन रूढ़ियों के उपयोग से यह प्रमाणित होता है कि रासो का कवि इतिहास की घटनाओं के साथ कल्पना का मिश्रण आवश्यक समझता है और वह कथा में चमत्कार और गति उत्पन्न करने के लिये ऐसी अनेक घटनाओं का उपयोग करता है जिनका नायक के जीवन में घटित होना किसी प्रकार भी सम्भव नहीं था। तथ्य और कल्पना के मिश्रण की यह प्रवृत्ति रासो के पूर्ववर्ती संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के ऐतिहासिक चरित काव्यों में किस सीमा तक मिलती है, यह तीसरे अध्याय में दिखाया जा चुका है। रासो में निजन्धरी कथाओं की जिन रूढ़ियों का उपयोग हुआ है उनमें से कुछ तो निजन्धरी विश्वासों पर आधारित हैं और कुछ कवि-कल्पित है। कवि-कल्पित का अर्थ यह नहीं है कि वे रासोकार की अपनी कल्पना की उपज हैं। कवि-कल्पित कथानक-रूढ़ियाँ वे हैं जिनका आधार निजन्धरी विश्वास न होकर किसी भी कवि की कल्पना होती है। बाद में कथा-विस्तार के लिये उपयोगी सिद्ध होने पर अनेक कवियों द्वारा बार-बार प्रयुक्त होकर वे रूढ़ि का रूप धारण कर लेती हैं।

निजन्धरी विश्वासों पर आधारित निम्नलिखित प्रमुख रूढ़ियों का रासो में उपयोग किया गया है :—

१—लिंग परिवर्तन—'कनवज्ज समय' में अत्ताताई की कहानी में इस रूढ़ि का उपयोग हुआ है।

२—सांकेतिक भाषा—कवि चन्द भीमराज चालुक्य से सांकेतिक भाषा में बात करता है। जाली, कुदाली, नसेनी, अंकुश, त्रिशूली आदि वस्तुओं के संकेत से वह भीमराज को अपना अभिप्राय समझाता है।

३—पूर्वजन्म की स्मृति—रासो में 'चन्द द्वारिका गमन' नामक बयालीसवें समय में चित्रकोट या चित्तौर गढ़ की कथा में 'पूर्वजन्म की स्मृति' नामक कथानक रूढ़ि का व्यवहार हुआ है।

४—अतिप्राकृत दृश्य द्वारा लक्ष्मीप्राप्ति का शकुन—यह रूढ़ि भारतीय शकुनशास्त्र और सामान्य लोकविश्वास पर आधारित है। रासो में 'भूमि स्वप्न प्रस्ताव' नामक सत्रहवें समय में पृथ्वीराज को एक विचित्र शकुन द्वारा भूमि और लक्ष्मीप्राप्ति की सूचना मिलती है। शकुन यह है कि वह सर्प के फन के ऊपर एक देवी (खंजन पक्षी) को नृत्य करते देखता है।

५—सर्प, देव, यक्ष आदि द्वारा गड़े धन की रक्षा—पृथ्वीराज को 'खट्टूवन' में प्राप्त होने वाली संपत्ति सर्प और यक्ष द्वारा रक्षित होने के कारण सरलता से नहीं प्राप्त होती।

६—फलादि द्वारा सन्तानोत्पत्ति—अनगपाल की कन्या तथा उसकी सहेलियों की ढुंढा राक्षस द्वारा प्राप्त फल से संतानोत्पत्ति होती है।

७—अतिप्राकृत जन्म—रासो में पृथ्वीराज के पूर्वज माणिकराय की रानी के गर्भ से बालक के स्थान पर एक अण्डाकर अस्थिखण्ड की उत्पत्ति वर्णित है। उस अस्थिखण्ड का विवाह भी होता है और बाद मे उसी से सुन्दर वीर बालक की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार के अतिप्राकृत जन्म की कथायें महाभारत से ही चली आ रही हैं।

८—भविष्यसूचक स्वप्न—चन्द को प्रायः सरस्वती द्वारा स्वप्न में भूत-भविष्य की बातें मालूम होती रहती हैं। साथ ही दिल्ली दान नामक प्रस्ताव में सिंह के प्रतीकात्मक स्वप्न द्वारा भी भविष्य की सूचना देकर कथा को बढ़ाया गया है।

९—ऋषि-मुनि का शाप—वीसलदेव को जानबूझ कर एक सती ब्राह्मणी का सतीत्व नष्ट करने से कारण राक्षस हो जाने का शाप मिलता है और पृथ्वीराज को 'आखेटक-श्राप प्रस्ताव' में एक बाघम्बरधारी तपस्वी द्वारा अज्ञान में हुए अपराध के लिये अन्धे होने का शाप मिलता है।

१०—प्रेम में स्पर्द्धा और यक्षिणी-योगिनी की सहायता—इस रूढ़ि का उपयोग रासो के आदि पर्व में योगिनी द्वारा वीसलदेव के नपुंसक बनाये जाने की कथा में किया गया है।

११—मन्त्र-तन्त्र की लड़ाई—मन्त्र तन्त्र के युद्ध का वर्णन रासो में कई स्थानों पर मिलता है। चन्द स्वयं मन्त्र-तन्त्र का ज्ञाता है और भीमदेव के मन्त्री अमरसिंह सेवरा तथा गजनी दरबार के भट्ट दुर्गाकेदार के साथ उसके मन्त्र-

युद्ध का वर्णन विस्तार के साथ दिया गया है। 'महोबा समय' में आल्हा के साथ भी उसका मन्त्र-युद्ध होता है।

कवि-कल्पना पर आधारित जिन कथानक-रूढ़ियों का रासो में व्यवहार हुआ है उनमें से प्रमुख ये हैं :—

१—शुक सम्बन्धी रूढ़ि—इस रूढ़ि का कथाओं में तीन रूपों में उपयोग किया गया है :—(१) कहानी के श्रोता-वक्ता के रूप में, (२) कथा को गति देने वाले महत्त्वपूर्ण पात्र या सन्देशवाहक के रूप में, (३) कथा के रहस्यों को खोलने वाले अनपराद्ध भेदिया के रूप में। रासो में शुक-शुकी इन तीनों ही रूपों में आये हैं। कहा जा चुका है कि रासो की पूरी कथा शुक-शुकी के संवाद के रूप में कही गयी है। कथा के पात्र के रूप में शुक-शुकी का दो स्थानों पर उपयोग किया गया है—पद्मावती समय में, जहाँ नायक-नायिका को परस्पर आकृष्ट कराने वाला शुक है, और 'शुक समय' में, जहाँ सारिका इंच्छिनी की वियोग-दशा की सूचना देकर संयोगिता के प्रेम में मग्न राजा को इंच्छिनी की ओर आकृष्ट करती है। अपभ्रंश के चरित काव्य करकण्डुचरिउ में भी इस रूढ़ि का उपयोग हुआ है।

२—रूप-गुण-श्रवण जन्य आकर्षण:—इस रूढ़ि का उपयोग रासो में अधिकांश विवाहों के प्रसंग में हुआ है।

३—नायिका का अप्सरा का अवतार होना—रासो में संयोगिता अप्सरा का अवतार है।

इनके अतिरिक्त अन्य कवि-कल्पित कथानक-रूढ़ियों में रासो में निम्नलिखित रूढ़ियाँ भी यत्र-तत्र बिखरी मिलती हैं :—

४—संदेशवाहक हंस-कपोत।

५—भावी प्रिय या प्रिया का स्वप्न में दर्शन।

६—प्रिय या प्रिया की प्राप्ति के लिए शिव-पार्वती का पूजन।

७—पूजा के लिये मन्दिर में गई कन्या का हरण।

८—बारहमासे के माध्यम से विरह-वेदना का वर्णन।

९—उजाड़ नगर का मिलना।

१०—प्यास लगने पर जल की तलाश में जाते समय किसी अद्भुत-अकल्पित घटना का घटित होना।

११—वन में मार्ग भूलना और किसी मुनि, देवता या राक्षस से भेंट।

१२—कबन्ध-युद्ध।

५—महच्चरित्र

यह सिद्धान्त बहुत कुछ सर्वमान्य है कि महाकाव्य का नायक महान अथवा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अवश्य होना चाहिये। संसार के कई प्रसिद्ध महाकाव्यों में यह बात देखी भी जाती है। भारतीय आलंकारिकों में भामह, दण्डी और विश्वास ने यह माना है कि महाकाव्य के नायक को महान, गुणान्वित, सदाश्रम और धीरोदात्त या चतुरोदात्त होना चाहिये। तात्पर्य यह कि वह चाहे दिव्य पुरुष हो या दिव्यादिव्य, किन्तु उसका चरित्र आदर्श होना चाहिये। इस तरह इन आचार्यों ने आदर्श व्यक्ति को ही महान व्यक्ति माना है और इस प्रकार महाकाव्य के नायक को 'आदर्श' चरित्र का एक 'टाइप' बना दिया है। इसके विपरीत रुद्रट ने 'आदर्श' या 'महान' शब्द के घेरे में नायक को नहीं बाँधा है। उनके अनुसार महाकाव्य का नायक, शक्तित्रय (प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति और उत्साहशक्ति) से युक्त, त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) में लीन, समस्त प्रजा में अनुरक्त, विजिगीषु और सर्वगुणसमन्वित राजा होना चाहिये। स्पष्ट है कि ये गुण संसार के अन्य देशों के सभी महाकाव्यों के नायकों में नहीं मिल सकते। बियोबूल्फ और पैरेडाइज लास्ट के नायक धीरोदात्त और आदर्श पुरुष नहीं है। अतः कोई भी व्यक्ति, चाहे वह देवता, ब्राह्मण, क्षत्रिय और राजा हो या न हो, चाहे वह धीरोदात्त और सकल गुणसमन्वित आदर्श और महान पुरुष न भी हो, महाकाव्य का नायक बन सकता है यदि उसमें किसी महदुद्देश्य के लिए अपना सब कुछ बलिदान कर देने की क्षमता है। यदि वह अपनी इस क्षमता और शारीरिक-मानसिक योग्यता के फलस्वरूप महाकाव्य का सबसे महत्वपूर्ण पात्र बन जाता है और कथा उसी का आश्रय लेकर आगे बढ़ती है तो वही महाकाव्य का नायक कहलायेगा। फिर अरस्तू के अनुसार भी चाहे वह आदर्श चरित्र हो या यथार्थ हो अथवा परम्परागत ढंग का हो, इससे उसके नायकत्व में कोई बाधा नहीं उपस्थित होती।

पृथ्वीराजरासो का नायक पृथ्वीराज है किन्तु क्या वह भारतीय आचार्यों के अनुसार महाकाव्योचित नायक है? वह महान योद्धा, क्षत्रिय, राजा और शक्तित्रय से युक्त है, त्रिवर्ग में से अर्थ और काम में लीन भी है, पर वह धर्म-साधक और प्रजानुरक्त नहीं है। अतः क्या वह आदर्श और महान पुरुष है? यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि आदर्श और महान सापेक्ष्य शब्द हैं और प्रत्येक युग में परिस्थिति के अनुसार आदर्श और महान की धारणा और कल्पना भी बदलती रहती है। पृथ्वीराज सामन्ती वीरयुग की दृष्टि से महान नायक है, इसमें संदेह नहीं किया जा सकता। उस युग का महान और योग्य-

तम व्यक्ति वही होता था जो बाहुबल में सबसे आगे बढ़ा होता था और अपनी आन, मर्यादा और ख्याति के लिए प्राणों की चिन्ता न करते हुए विपत्तियों के मुख में घुस कर और शक्तिशाली शत्रुओं को पराजित करके विजय-श्री को वरण करता था, जिसके लिए उसकी वीरता के अतिरिक्त नैतिकता का और कुछ अर्थ नहीं होता था। इस दृष्टि से पृथ्वीराज अपने युग का महान व्यक्ति अवश्य है और जब तक समाज में सामन्ती वीरयुग की प्रवृत्तियाँ वर्तमान रही हैं तब तक वह समाज के लिए आदर्श पुरुष अवश्य बना रहा है या बना रहेगा। किन्तु यदि विकासोन्मुख सामन्त-युग (साम्राज्य-युग) और पूँजीवाद-युग के जीवन-मूल्यों की दृष्टि से देखा जाय तो पृथ्वीराज आदर्श या महान व्यक्ति नहीं प्रतीत होता। न तो उसमें राम जैसी मर्यादा, शील और लोक-हित की भावना है न युधिष्ठिर जैसी धार्मिक और नैतिक आदर्शवादिता या गौतम बुद्ध जैसी समष्टि-चेतना है। अतः पूर्ववर्ती या परवर्ती युगों की नैतिक दृष्टि से पृथ्वीराज का चरित्र आदर्श या महान नहीं माना जा सकता। इसके विपरीत उसके कई कार्य अनैतिक, अधार्मिक और असामाजिक भी कहे जायँगे.—जैसे वेश्या के लिए रात में छिप कर मंत्री कैमास का वध करना, शृंगाहार हाथी के लिए चामुंडराय को क़ैद करना, भोग विलास की अतिशयता और संयोगिता के रूप-जाल में फँस कर राजकाज तथा सगे-सम्बन्धी सबको भुला देना, तेरह तेरह विवाह करना, राजकुमारियों का अपहरण करना आदि। पृथ्वीराजरासो को सामन्ती वीरयुग का प्रतिनिधि महाकाव्य बताते हुए पहले कहा जा चुका है कि उस युग में यदि कोई शारीरिक शक्ति में सर्वश्रेष्ठ था तो उसके भीतर अन्य चाहे जो भी बुराइयाँ हों सब क्षम्य समझी जाती थीं। इस दृष्टि से उपर्युक्त सभी बुराइयों के रहते हुए भी रासो के अनुसार पृथ्वीराज अपने युग के सर्वश्रेष्ट पुरुषों में से था। अतः जिसका सारा जीवन युद्ध-भूमि में या शिकारगाहों में शारीरिक शक्ति और बल-पराक्रम का प्रदर्शन करते हुए वीरतापूर्वक बीता, जिसने शहाबुद्दीन जैसे विदेशी-विधर्मी शत्रु को बीसों बार पराजित करके क्षमा-दान दे दिया, जो अपने सामन्तों को अपना सखा और बन्धु मान कर उनके साथ सदैव उदारता का व्यवहार करता रहता था, वह निस्संदेह महाकाव्य का नायक बनने के उपयुक्त, महान व्यक्तित्व वाला आदर्श वीर था। रासो का जो महदुद्देश्य है, पृथ्वीराज उसको पूरा करने वाला और कथानक की तमाम घटनाओं और व्यापारों का केंद्रविन्दु है; अतः उसकी भूमिका इस महाकाव्य में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है और वह अपनी भूमिका बड़ी योग्यता और सफलता से पूरी करता है। अतएव वह महच्चरित्र है और उसके आश्रय से ही पृथ्वीराजरासो महाकाव्य पद का अधिकारी बन सका है।

रासो में पृथ्वीराज के अतिरिक्त अन्य चरित्र भी कम वीर नहीं है। जिस तरह महाभारत को उज्ज्वल चरित्रों का वन कहा जाता है उसी तरह पृथ्वीराज-रासो को भी वीर चरित्रों का वन कहा जा सकता है। जिस युग में क्षात्र धर्म का आदर्श ही यह था 'बरिस अठारह छत्री जीवे आगे जीवन को धिक्कार' और जिसमें वीरों के लिए युद्ध-भूमि में मरने का अर्थ सीधे स्वर्ग पहुँचना या अप्सराओं द्वारा वरण किया जाना होता था उसमे वीर पुरुषों की क्या कमी होगी ? फलस्वरूप रासो में एक से एक वीर राजा सामन्त और सरदार है जो युद्ध को खेल-तमाशा समझते है, जिनके लिए मरना-मारना अत्यन्त साधारण बात है, यही नहीं युद्धभूमि में लड़ते लड़ते सिर कट जाने पर भी जिनका कबन्ध लड़ता रहता है और बहुतों को मार कर तब गिरता है। इसी प्रकार शौर्य और पराक्रम के साथ साथ ये वीर अपनी शान, मर्यादा, ख्याति और स्वामिभक्ति के लिए भी कठिन से कठिन परीक्षा देने के लिए तैयार रहते हैं। उसमें कान्ह जैसे वीर हैं जो अपने सामने किसी को मूँछ पर ताव देते देख उसका सर उतार लेते हैं किन्तु साथ ही स्वामिभक्त इतने कि इस घटना के बाद पृथ्वीराज की आज्ञा से हमेशा आँखों पर सोने की पट्टी बाँध रहते हैं और जब युद्ध-भूमि में या शिकारगाह में पट्टी खुलती है तो शेर का मस्तक हथेली से मसल देते हैं। उसी तरह चन्दवरदाई भी अपने आश्रयदाता के लिए अन्तिम समय तक सब कुछ करने को तैयार रहता है।

इतना होते हुए भी रासो में वह चरित्र-वैविध्य नहीं है जो महाभारत में दिखाई पड़ता है। एक तो यो भी पृथ्वीराज का चरित्र उसमें विशाल वट की तरह इतना छा गया है कि अन्य किसी भी चरित्र का सम्यक् विकास नही हो पाया है, दूसरे जो चरित्र कुछ उभरे हुए हैं वे भी अपने ढंग के निराले व्यक्तित्व वाले नहीं हैं। प्राय सभी वीर और सामन्त मानो एक ही चारित्रिक साँचे में ढले हुए हैं। महाभारत में कोई महान धनुर्विद है तो कोई महान आचार्य, कोई नीतिज्ञ है तो कोई धर्मराज, कोई सारथ्य-विद्या का पंडित है तो कोई द्यूत-विद्या का। इसी प्रकार उसमें सभी चरित्र अपने अपने ढग से स्वतंत्र रूप से विकसित हुए हैं। रासो के चरित्रो में ऐसी विविधता और निरालापन नहीं है। उसमें दो ही चार चरित्र ऐसे हैं जो अन्य चरित्रों से कुछ भिन्नता रखते हैं। उदाहरण के लिए रावल समर सिंह महान वीर होते हुए भी सफल नीतिज्ञ और धर्मशास्त्र के ज्ञाता हैं, वे युद्ध-भूमि में कृष्ण और भीष्म की तरह धर्म और नीतिशास्त्र के विषय में प्रवचन देते हैं। बड़ी लड़ाई के पहले होने वाली मन्त्रणा-सभा में भी वे अपनी राजनीतिकुशलता का परिचय देते हैं। इसी तरह

चन्दवरदाई भी रासो में अपने ढंग का अकेला चरित्र है। यद्यपि वह भी युद्ध-भूमि में अपना पराक्रम दिखाता है किन्तु दौत्य और मंत्रणा के कार्य में वह दक्ष है और अपनी काव्य-प्रतिभा से विरुदावली पढ़ कर शहाबुद्दीन जैसे व्यक्ति को अपने वश में कर लेता है। जयचन्द और भीम के दरबार में जाकर वह जिस बुद्धिमत्ता और नीतिज्ञता का परिचय देता है वह अन्य किसी चरित्र में नहीं दिखाई पड़ती। जब वह हाहुलीराय हम्मीर को पृथ्वीराज के पक्ष में मिलाने के लिए जाता है तो नीति और धर्म के विषय में उससे बड़ी लम्बी बहस करता है। मंत्र-तन्त्र की गुह्य विद्या में भी वह पंडित है और अमरसिंह सेवरा और भट्ट केदार जैसे मंत्रविद्या में कुशल लोगों को मंत्र-युद्ध में पराजित करता है। रासो में स्त्री पात्रों में किसी भी व्यक्तित्व वैसा महत्त्वपूर्ण नहीं है जैसा महाभारत में द्रौपदी, कुंती, शकुन्तला, सावित्री, गान्धारी आदि और रामायण में सीता, कैकेयी, मन्दोदरी, आदि का है। सामंती वीरयुग की संस्कृति के अनुरूप रासो की सभी स्त्रियाँ भोग-विलास में साधन के रूप में हैं, अतः सभी एक जैसी हैं। प्रेमिका के रूप में शशिव्रता, पद्मावती और संयोगिता का रूप कुछ निखरा अवश्य है किन्तु तभी तक जब तक कि वे पृथ्वीराज के महल में नहीं पहुँच जातीं। वहाँ पहुँचने के बाद फिर उनकी चर्चा ही बन्द हो जाती है। फिर भी संयोगिता रासो को नायिका प्रतीत होती है, पृथ्वीराज उसी में सबसे अधिक अनुरक्त है और उसी के कारण विलासिता में डूबकर वह पराजित भी होता है। इस प्रकार रासो में चरित्रों की विविधता और व्यक्तित्व का वैचित्र्य बिलकुल नहीं दिखाई पड़ता।

विकसनशील महाकाव्यों में बहुधा दिव्य और राक्षस चरित्र भी मानव के साथ उसके क्रियाकलाप में भाग लेते हुए या उसके कार्यों को प्रभावित करते हुँए देखे जाते है। रासो में शिव, इन्द्र, काली, राक्षस, गन्धर्व, बावन वीर, भैरव, अप्सरा आदि अलौकिक-अप्राकृत पात्र आये हैं और अलौकिक तथा अतिमानव शक्ति वाले ऋषि, मुनि आदि भी शाप या वरदान देकर मानव के भाग्य में उलटफेर करते दिखाई पड़ते हैं। अरस्तू ने कहा है कि महाकाव्य में किसी पात्र को कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहिये जो असम्भव हो, और असंभव या अस्वाभाविक हो भी ता उसे इस ढंग से उपस्थित करना चाहिये कि उसकी प्रतीत असभव जैसी न हो। रुद्रट ने भी यही बात कही है कि महाकाव्य में अलौकिक और अतिमानव कार्य मानवों को गन्धर्व, राक्षस, देवता आदि को सहायता से ही करते हुए दिखाना चाहिए। इस दृष्टि से देखने पर रासो को असंभव और अतिमानव कार्यों की अधिकता के लिए

दोषी नहीं ठहराया जा सकता क्योंकि उसमें शाप या वरदान की सहायता से बहुत से कार्य होते है और अनेक घटनायें घटित होती हैं। अतः इस दृष्टि से भी रासो के महाकाव्यत्व में कोई बाधा नही पड़ती।

गरिमामयी उदात्तशैली

दूसरे अध्याय में महाकाव्य की शैली और रूप-शिल्प के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किये जा चुके है उनकी कसौटी पर कसने पर भी रासो खरा उतरता है। उसकी शैली में वह गरिमा और उदात्तता (ग्रेंजर एण्ड मैगनीफिसेन्स) है जिसके बिना कोई काव्य महाकाव्य नहीं माना जा सकता। शैली बाह्य से अधिक आन्तरिक वस्तु है, वह काव्य की आत्मा की कान्ति है। महाकाव्य में उसकी स्थिति जितनी कवि की विराट् चेतना, महद्दुद्देश्य, नायक की महानता और उसके महत्कार्य और कथानक की जीवन्तता आदि बातों पर निर्भर करती है उतनी महाकाव्य के बाह्य या शारीरिक गुणों—अलंकार छन्दविधान, भाषा आदि—के यत्नसाध्य कलात्मक सौष्ठव पर नहीं। रासो विकसनशील महाकाव्य है अत. उसमें अलंकृत महाकाव्यों जैसी साज-सज्जा, काट-छाँट, बनाव-सिंगार और चमक-दमक नहीं है अर्थात् उसकी शैली में कृत्रिम सौन्दर्य के प्रसाधन बहुत कम या नहीं के बराबर हैं। अलंकारों की यत्नसाध्य योजना, भाषा की मँजावट और कसावट, उपयुक्त शब्दों का चयन और उक्ति-वैचित्र्य आदि काव्य की पच्चीकारी और मीनाकारी, जो रीतिबद्ध (क्लासिकल) काव्यों में होती है, उसमें नहीं है। फिर भी उसमें वह सहज ओज और कान्ति है जो महाकाव्य की आत्मा का प्रतिबिम्ब बाहर झलकाती है।

रासो का प्रतिपाद्य विषय पृथ्वीराज का शौर्य, पराक्रम, साहस और असीम उत्साह है। अतः इन बातों के अनुरूप ही उसकी शैली में ओज, उष्ण कांति और शक्ति है। उसमें रामायण, रघुवंश, कुमारसम्भाव आदि महाकाव्यों जैसा मार्दव, माधुर्य और सौकुमार्य नही है बल्कि महाभारत जैसी कठोरता (रगेडनेस) और तीक्ष्णता है। रासो में भी सौन्दर्य है पर जंगल के अनगढ़पन और सहजता का सौन्दर्य है, उद्यान का प्रयत्नसाध्य कृत्रिम सौन्दर्य नहीं, अर्थात् उसकी शैली में सादगी, सरलता और अनलंकृति है। उसमें स्फीति और विस्तार है, थोड़े में अधिक कहने, कम शब्दों में अधिक अर्थ भरने की कला नहीं है। जिस तरह वीर पुरुष की दर्पस्फीत शिराओं में उष्ण रक्त की तीव्र गति होती है, रासो की शैली में भी वैसी ही उष्णता और तीव्रता है जो पाठकों को सहज ही अभिभूत कर लेती है। इस प्रकार शैली की वे सभी विशेषताएँ जो वीर-

रस-प्रधान विकसनशील महाकाव्यों—इलियड, बियोवूल्फ, सांग आफ रोलैण्ड और महाभारत—में पाई जाती हैं, रासो में भी दिखलाई पड़ती हैं।

रासो के रूप-विधान में सौन्दर्य-बोध का वह स्वरूप नहीं दिखाई पड़ता जो संस्कृत रुचि और कलात्मक साधना से उत्पन्न होता है। कथा का सन्तुलित रूप-गठन, घटनाओं का समानुपातिक चुनाव और वस्तु-व्यापारों का प्रसंगानुसार यथोचित वर्णन उसमें नहीं है जिससे उसका रूप बिना डोल-डौलवाला, सामञ्जस्य-हीन और मैत्रीहीन (अनसिमेट्रिकल) है; किन्तु उसके इस अनगढ़पन, विषमता और असामञ्जस्य में भी एक ऐसा ऊर्जस्वित और पौरुषयुक्त सौन्दर्य है जो अपनी उपमा आप ही है। उसमें हिमालय जैसा विषम और विराट् सौन्दर्य है, ताज-महल जैसा सुकोमल और गीतात्मक सौन्दर्य नहीं। इस सौन्दर्य की अभिव्यक्ति उसकी गरिमामयी उदात्तशैली के द्वारा ही हुई है।

ऊपर कहा जा चुका है कि रासो में यत्नसाध्य अलंकारों की योजना नहीं हुई है। स्वाभाविक अलकार तो भाषा की शक्ति या उसके अवयव होते हैं और सामान्य बोलचाल में भी उनका प्रयोग बराबर होता रहता है। पर काव्य की भाषा में, चाहे वह लोककाव्य ही क्यों न हो, उनकी बहुलता होती है। उन्हीं के कारण काव्य की भाषा शैली सामान्य बोलचाल की भाषा-शैली से भिन्न होती है। रासो में जो अलंकार मिलते हैं वे ऐसे ही स्वाभाविक अलंकार हैं जिनके कारण उनकी भाषा की अभिव्यञ्जना-शक्ति बढ़ी है। उसमें ऐसे अलंकार नहीं हैं जिनका लक्ष्य केवल चमत्कार उत्पन्न करना होता है। सहज अलंकारों का भी जब बहुत अधिक और अनावश्यक प्रयोग होने लगता है तो वे भाषा में शक्ति और सौन्दर्य बढ़ाने की जगह उसके सहज प्रवाह में बाधा उत्पन्न करने वाले हो जाते हैं। रासो में अनुप्रास, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, उदाहरण आदि स्वाभाविक अलंकार तो बहुत मिलते हैं किन्तु कहीं भी उनका एक साथ इतना अधिक प्रयोग नहीं हुआ है जिससे यह प्रतीत हो कि कवि अपनी कला-चातुरी का जानबूझ कर प्रदर्शन कर रहा है। किरातार्जुनीय और शिशुपालवध में कहीं-कहीं अनुप्रास, यमक या श्लेष का धारा-प्रवाह प्रयोग हुआ है। इस तरह की कृत्रिम अलंकृति रासो में नहीं दिखाई पड़ती। फिर भी रासो की सादगी और अलंकृति लोकमहाकाव्यों या प्रारंभिक वीरयुग के विकसनशील महाकाव्यों जैसी नहीं है। सामन्ती वीरयुग के दरबारी वातावरण में विकसित होने के कारण उसमें तत्कालीन साहित्य में प्रयुक्त परम्परागत अलंकारों को ग्रहण किया गया है। इस कारण उसमें उत्प्रेक्षाओं और सांगरूपकों की अधिकता है। विकसन-शील महाकाव्यों में उपमाएँ बहुधा वन्य जन्तुओं और पशुओं से दी जाती हैं;

रासो में कई जगह युद्ध-वर्णन में वीरों के भिडन्त की उपमा वृषभों या सिंहों के युद्ध से दी गयी है। इसके अतिरिक्त उसमें बहुत से उपमान ऐसे हैं जो बिलकुल नये, सामान्य दैनन्दिन जीवन और आसपास के वातावरण से गृहीत हैं। रासो की वर्णन-विधि में एक विशेषता यह भी दिखाई पड़ती है कि उसमें किसी बात पर अधिक जोर देने या उसे अधिक स्पष्ट करने के लिए किसी शब्द या वाक्य-खण्ड की आवृत्ति कई बार की गयी है। इसे कुछ आलंकारिकों ने आवृत्ति दीपक नाम दिया है और कुछ लोग इसे यमक और अनुप्रास के अन्तर्गत मानते हैं। पर वस्तुतः इस प्रकार की आवृत्ति को भाषण-कला (रेटारिक) का एक अंग मानना चाहिए; उसे अलंकार मानना स्वभावोक्ति को अलंकार मानने जैसा ही है। अपभ्रंश के काव्यों में आवृत्ति की यह पद्धति बहुत अधिक दिखलाई पड़ती है और इस परम्परागत पद्धति का अनुसरण रासो में तथा हिन्दी के अन्य परवर्ती काव्यों में बहुत अधिक हुआ है। तुलना के लिए पउमसिरिचरिउ और रासो के एक-एक छन्द दिये जा रहे हैं :—

सो धम्मु सारु जहिं जीव-रक्ख। सो धम्मु सारु जहिं नियम-संख ॥
सो धम्मु सारु जहि सच्च-वाय। सो धम्मु सारु जहिं नत्थि माय ॥
सो धम्मु न जहिं पर-दव्व-हरणु। सो धम्मु न जहि पर पीड-करणु ॥
सो धम्मु न जहिं कामिणि-पसंगु। सो धम्मु न जहि चारित्त-भगु ॥

पउमसिरिचरिउ-१-८

चिर जीवहु श्रोतान काम मन वंछित पूरय।
चिर जीवहु श्रोतान दुष्ष आपद भय चूरय।
चिर जीवहु श्रोतान पुत्र परिवार सहेतौ।
चिर जीवहु श्रोतान दान कबियजन देतौ।

रासो–६८–२४४

रासो की भाषा में वह सौन्दर्य और परिष्कार नहीं है जो किसी बहुपठित, विद्वान कवि की भाषा में उसकी सुष्ठु पद-योजना, सुनियोजित शब्द-चयन, शब्द-शक्तियों के समुचित उपयोग और गुण-रीति-वृत्ति आदि के यथोचित व्यवहार से उत्पन्न होता है। उसकी भाषा मिश्रित है जिसमें संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और लोकभाषाओं—डिंगल, पिंगल (ब्रजभाषा) पंजाबी तथा विदेशी भाषाओं–अरबी, फारसी, तुर्की के शब्दों और व्याकरण संबंधी प्रयोगों का विचित्र सम्मिलन हुआ है। अब तो यह बात अधिकांश विद्वानों को मान्य हो गयी है कि मूल रासो की भाषा अवहट्ट या प्राचीन राजस्थानी थी जिसका रूप सैकड़ों

वर्षों में विकृत हो गया है और परवर्ती कवियों ने अपने काल में प्रयुक्त भाषाओं के शब्दों और रूपों को उसमें मनमाने ढग से भरा है। अतः रासो की भाषा में एकरूपता और मँजावट नही है जो उसकी शैली का बहुत बड़ा दोष है। फिर भी उसकी भाषा की एक बड़ी विशेषता यह है कि उसमें प्रसंगानुकूल 'गुण' मिलते हैं। वीर रस के प्रसंग में ओज गुण और शृंगार के प्रसग में माधुर्य गुण का समावेश उसकी शैली में आकर्षण उत्पन्न करता है। रीति की दृष्टि से उसमें लाटी शैली का प्राधान्य है क्योंकि उसकी भाषा में ल-ट-ड आदि कर्कश वर्णों का अत्यधिक प्रयोग हुआ है और इससे रासो की शैली उसके प्रतिपाद्य विषय के अनुरूप और वीर रस के लिए सर्वथा उपयुक्त बन गयी है। अनुस्वारों और संयुक्त वर्णों का अधिक प्रयोग अपभ्रंश की परम्परा की देन है जो रासो ही नही, डिंगल के परवर्ती काव्यों यहाँ तक कि अवधी में तुलसी के मानस में भी दिखलाई पड़ता है। अतः यह आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की एक विशेष शैली प्रतीत होती है जिसका मूल उस अपभ्रंश में है। अनुस्वारान्त और संयुक्तवर्ण बहुल शब्दों के अधिक प्रयोग के कारण भी रासो की शैली अधिक विषयानुकूल और रसानुरूप हो गयी है। इन सब बातों से रासो में शैली की वह गरिमा, उदात्तता और असाधरणता दिखाई पड़ती है जो विकसनशील महाकाव्यों में ही विशेष रूप से देखी जाती है।

रासो में प्रबन्ध-रूढ़ियाँ—संस्कृत के आलंकारिकों ने महाकाव्य के जो लक्षण बताये हैं उनमें से कुछ महाकाव्य के बाह्य रूप से सम्बन्धित हैं जो अधिकांश महाकाव्यों में रूढ़ि रूप में मिलते हैं। उन लक्षणों का विवेचन पिछले अध्यायों में प्रसंगानुसार किया जा चुका है। उनके अतिरिक्त कुछ ऐसी भी प्रबंध-रूढ़ियाँ हैं जो लक्षण-ग्रन्थों में तो नहीं दी गयी हैं किन्तु अनेक प्रबन्ध काव्यों में मिलती हैं। वे सभी ये हैं:—

१—सर्गसम्बन्धी नियम, २—मंगलाचरण और आशीर्वाद, ३—सम्वादरूप में कथारम्भ, ४—वस्तुनिर्देश, भूमिका और विषयानुक्रमणिका, ५—दुर्जन-निन्दा, सज्जन-प्रशंसा, ६—पूर्व कवि-प्रशंसा, ७—कवि का विनम्रता-प्रकाश, ८—नायक की प्रशंसा और उसके नगर का वर्णन, ९—नायक के वंश की उत्पत्ति और पूर्वजों की वंशावली, १०—ग्रंथारम्भ और ग्रन्थान्त अथवा सर्गान्त में रचनाकाल, स्थान, आश्रयदाता आदि का वर्णन, कवि का आत्मनिवेदन, या आत्म-परिचय, ११—नाममुद्रा, १२—ग्रन्थान्त मे ग्रन्थ का महत्व-कथन, १३—छन्द सम्बन्धी रूढ़ियाँ।

पृथ्वीराजरासो में ये सभी रूढ़ियाँ वर्तमान हैं। प्रारम्भिक वीरयुग के विकसनशील महाकाव्यों में इनमें से अधिकांश रूढ़ियाँ नहीं होती है। रासो में वे इसलिए है कि यह काव्य सामन्ती वीरयुग के पठित समाज में और अलंकृत महाकाव्यों के प्रभाव में विकसित हुआ है। अतः उस युग मे संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के महाकाव्यों, विशेषकर अपभ्रंश के चरित काव्यों, में जो प्रबन्ध-रूढ़ियाँ प्रचलित थीं उनको रासो ही नहीं परवर्ती काल के अन्य महाकाव्यों में भी बहुत कुछ अपना लिया गया है।

रासो अध्यायों में अवश्य विभक्त है जिनका नाम 'समय' या 'प्रस्ताव' रखा गया है पर कहीं-कही उनका 'पर्व' और 'खण्ड' नाम भी है, जैसे—आदि पर्व, कनवज्ज खण्ड, महोबा खण्ड आदि। 'पर्व' तो महाभारत का अनुकरण है और 'खण्ड' रामायण और स्वयंभू के पउमचरिउ के काण्डों का समानार्थी है अथवा परवर्ती प्रेमाख्यानक काव्यों के 'खण्ड' नाम का अनुकरण है। कुल समयों की संख्या ६९ है जिसमें से कुछ बहुत बड़े और कुछ बहुत छोटे हैं। 'विवाह समय' केवल दो पृष्ठों का है। संस्कृत में हरविजय ५० सर्गों का है और प्राकृत के पउमचरिय में ११८ अध्याय हैं। अपभ्रंश के पउमचरिउ में ९०, रिट्ठणेमिचरिउ में ११२ और महापुराण में १०२ सर्ग हैं। अतः संख्या की दृष्टि से रासो में ६९ समयों का होना कोई नई बात नहीं है। इन सर्गों में से कुछ का अतिदीर्घ और कुछ का अतिस्वल्प होना यह सिद्ध करता है कि रासो एक हाथ की रचना नहीं है जिससे उसमें नाटक की संधियों के अनुरूप सर्गों के विधान और उनमें कथानक का समानुपातिक विभाजन नहीं हो सका है। रासो में सर्गोपादेय कथा के अनुसार सर्गों का भी नाम रखा गया है जैसे 'शशिव्रता वर्णन प्रस्ताव' या 'पंगयज्ञ विध्वंस समय'।

मंगलाचरण के रूप में आदिपर्व या प्रथम समय में बहुत से छन्द हैं जिनमें सभी देवी-देवताओं, जैसे आदिदेव, इन्द्र, सरस्वती, गणेश, शंकर आदि की स्तुति की गयी है और धर्म, कर्म, मुक्ति का भी स्तवन हुआ है; साथ ही ईश्वर के ऐश्वर्य का वर्णन और पुराणों की अनुक्रमणिका आदि भी मंगलाचरण के रूप में ही रखे गये हैं। दूसरे समय—'दसम'—को भी मगलाचरण के ही अन्तर्गत मानना चाहिए। लघु रूपान्तर वाली प्रतियों में 'दशावतार वर्णन' आदि पर्व में ही मिलता है। इस प्रकार धार्मिक-पौराणिक ग्रन्थों के समान इसमे मंगलाचरण वाला अंश बहुत बड़ा है। जैनों द्वारा लिखे प्रबन्ध काव्यों में इसी प्रकार शलाकापुरुषों का स्तवन बहुत विस्तार के साथ लिखने की रूढ़ि थी जो बाद में

रामचरितमानस में मिलती है। आशीर्वचन रासो में ग्रंथान्त (६८-२४४) में है जिसमें श्रोताओं और पाठकों को कवि ने आशीर्वाद दिया है।

संवादरूप में कथा लिखने की रूढ़ि महाभारत, रामायण, पुराण तथा अपभ्रंश के चरित काव्यों में बहुत अधिक मिलती है। उनमें वक्ता-श्रोता के बीच प्रश्नोत्तर के रूप में कथारंभ होता है। रासो में भी कथा का प्रारंभ इसी रूप में हुआ है। मंगलाचरण और पूर्व कवि-प्रशंसा के बाद चन्द ने अपनी पत्नी की कुछ शंकाओं का उत्तर दिया और शब्द ब्रह्म का स्मरण किया। इसके बाद कवि-पत्नी ने पृथ्वीराज की कथा सुनने की इच्छा प्रकट की :—

उचिष्ट चन्द छन्दह वयन सुनत सु जंपिय नारि।
तनु पवित्र पावन कविय उकति अनूठ उधारि। (१-११)

× × × ×

अवतार भूप प्रथिराज पहुँ राजसुख तिम सन लहहि।
धीराधिवीर सामन्त सब तिन सुगल्ह अच्छी कहहि ॥ (१-१४)

इसके बाद चन्द ने चौहान वश की उत्पत्ति तथा पृथ्वीराज के जन्म और शिक्षा-दीक्षा की कथा सुनाई। पहले समय के अन्त में चन्द की स्त्री ने फिर प्रश्न किया :—

समय इक निसि चन्दं बाम वत्त वद्दि रस पाई।
दिल्ली ईस गुनेयं कित्ति कहो आदि अन्ताई॥ (१-७६१)

और फिर प्रथम अध्याय के अन्त तक पति-पत्नी के बीच प्रश्नोत्तर होता है; किंतु इसके बाद ग्रंथ की समाप्ति तक चन्द और उसकी पत्नी के बीच संवादरूप में कथा कही जाने का उल्लेख नहीं मिलता। इससे यह प्रतीत होता है कि चन्द और उसकी पत्नी के संवाद के रूप में लिखित प्रथम 'समयो' का अधिकांश परवर्ती प्रक्षेप है और संभव है कि जल्हन ने अपनी माता को अमर बनाने की दृष्टि से यह संवाद-योजना की हो। अनुमानतः मूल रासो में कथा शुक-शुकी के संवाद के रूप में कही गयी होगी। प्रथम समय के बाद कई स्थलों पर शुक-शुकी संवाद भी आया है :—

सुकी कहै सुक संभरौ कहौ कथा पति प्रान।
पृथु भोरा भीमंग पहु किय हुअ वैर वितान। (५-१)

इसी प्रकार बारहवें, चौदहवें, पचीसवें, सैंतीसवें पैंतालीसवें और छियालिसवें समय में शुक-शुकी का संवाद आया है। कवि और उसकी पत्नी तथा शुक-सारिका के बीच संवादरूप में कथा कहने की प्रथा पहले से चली ही आ रही थी, रासो में, उन दोनों प्रथाओं को अपना लिया गया। यह निश्चित

रूप से कहना अत्यन्त कठिन है कि मूल कथा में शुक-शुकी का संवाद था या कवि और उसकी पत्नी का। शुक-शुकी के संवाद की अधिकता और चन्द और उसकी पत्नी के संवाद की अस्वाभाविकता देखकर तो डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह अनुमान सही प्रतीत होता है कि 'रासो के वर्तमान रूप को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि मूल रासो में भी शुक और शुको के सवाद की ऐसी ही योजना रही होगी।'[1]

वस्तु-निर्देश और भूमिका में कवि अपने प्रतिपाद्य विषय की व्याख्या करते हैं। रासो में आदि पर्व में ७९ से ८४ और ७३१ से ७८३ तक के छन्दों में कवि ने अपने प्रतिपाद्य विषय -- पृथ्वीराज के चरित — का उल्लेख करते हुए रासो के गुण, महत्त्व, गूढ़त्व, श्लोक-संख्या, तत्त्व-ज्ञान और विषयानु-क्रमणिका का ब्योरेवार वर्णन किया है। जिस तरह महाभारत में प्रारंभ में ही पूरे ग्रथ की अनुक्रमणिका दी गयी है उसी तरह रासो में भी पूरी कथा का सार ब्योरेवार तो नहीं किन्तु संक्षेप में ही पहले समय के तीन छंदों (९२, ९३, ९४) में दे दिया गया है। वस्तु-निर्देश और भूमिका में रासो ही नहीं हिन्दी के अन्य महाकाव्यों में भी अपभ्रंश की परम्परा का पूरा अनुसरण किया गया है। स्वयंभू ने अपने काव्य रूपी कमल की विशेषता इस रूपक में बताई है :—

दीहर समासणालं सद्ददलं अत्थ केसरुग्घवियं।
बुह-महुयर-पीय-रसं सयम्भु कव्वुप्पल जयउ॥
(पउमचरिउ-प्रारंभ-छंद २)

काव्य समुद्र कवि चन्द कृत मुगति समप्पन ग्यान।
राजनीति वोहिथ सुफल पार उतारन यान। (रासो १-८०)

इसी तरह चन्द ने अपने काव्य को समुद्र कहा है :—

जिस तरह स्वयम्भू ने प्रथम सन्धि के दूसरे कडवक में राम-कथा की तुलना नदी से की है और तुलसी ने सरोवर से, उसी तरह रासोकार ने भी रासो की कथा की तुलना एक ऐसे राजसी सरोवर से को है जिसके घाट पक्के हों और जिसका निर्माण स्वय विश्वकर्मा ने किया हो :—

चरन नोम अच्छिर सुरङ्ग पाट लहु गुरु बिधि मडिय।
सुर विकास जारी सु मुष उक्ति रस गौरवन छंडिय।
जुगति छोह विस्तारिय सीढियन घाट सु बद्दिय।
महि मण्डन मेधान याहि मण्डन जस बद्दिय।
घन तर्क उतर्क वितर्क जति चित्र रंग करि अनुसरिय।

१—हिन्दी साहित्य का आदिकाल,—पृ० ६१, पटना १९५२।

विश्वकर्म कवि निर्मइय रसियं सरस उच्चरिय ॥ (रासो १·८४)

काव्य को पढ़ने का अधिकारी कौन है, यह लिखने की परम्परा भी हिन्दी प्रबन्ध काव्यों में अपभ्रंश से होकर ही आयी हैं। संदेशरासक में प्रथम प्रक्रम के अन्तिम चार छन्दों (२०, २१, २२ और २३) में अब्दुल रहमान ने यह बताया है कि उसका रासक पढने-सुनने का अधिकारी कौन है। उसी परंपरा में रासो की उक्तियाँ भी आती हैं :—

कुमति मति दरसत तिहि विधि बिना न श्रब्बान
तिहि रासो तु पवित्त गुन सरसो ग्रन्त रसान। (१–८९)
अरथं ढंकनि सहसा उघारे वनरिथ एकलया
मझ्झं मझ्झं प्रमानं चतुर स्त्री हारयं जेम। (१–९१)

आत्मलघुता-वर्णन, सज्जन-दुर्जन-चिन्ता और पूर्व कवि-प्रशंसा की रूढ़ि का निर्वाह भी रासो में अपभ्रंश और परवर्ती संस्कृत के काव्यों के अनुसार ही हुआ है। प्रारंभ में व्यास, शुकदेव, श्रीहर्ष, कालिदास, दण्डमाली और जयदेव की अभ्यर्थना की गयी है और अपने को पूर्व कवियों का उच्छिष्ट कथन करने वाला कहकर अपनी लघुता का प्रदर्शन किया गया है :—

गुरं सब्ब कव्वी लहू चन्द कव्वी। जिने दर्सियं देवि सा अंग हव्वी।
कवी किति कित्ती उकत्ती सुदिक्खी। तिनैं की उचिष्टी कवी चंद भक्खी।
(१–१०)

रासो में सज्जन-दुर्जन-चिन्ता विषयक केवल दो दोहे (१–४१, ४२) हैं। नायक की प्रशंसा और उसके पूर्वजों की वंशावली और कीर्तिकथन ऐतिहासिक शैली के नवसाहसांकचरित, विक्रमांकदेवचरित, पृथ्वीराजविजय, हम्मीर महाकाव्य, सुर्जनचरित आदि चरित काव्यों में विशद रूप में मिलता है। पौराणिक शैली के कुछ महाकाव्यों—जैसे पउमचरिउ—में भी इस रूढ़ि का पालन हुआ है। विकसनशील महाकाव्यों—महाभारत-रामायण—में भी वंशानुक्रम और नायक का गुण-वर्णन आदि में ही मिलता है। रासो के प्रथम समय में पृथ्वीराज के पूर्वजों का वर्णन, चौहानवंश तथा क्षत्रियों के ३६ कुलों की उत्पत्ति और पृथ्वीराज के जन्म का वर्णन बड़े विस्तार से हुआ है। किन्तु रुद्रट की परिभाषा के अनुसार प्रारंभ में नगरी-वर्णन के नियम का पालन रासो में नहीं हुआ है।

रचना-काल, आश्रयदाता का परिचय और ग्रन्थ-रचना का कारण लिखने की प्रवृत्ति भी रासो के पूर्ववर्ती अनेक संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंशकाव्यों में दिखलाई पड़ती है। रासो में रचना-काल का उल्लेख तो नहीं है किन्तु प्रसंगवश

यह अवश्य कहा गया है कि पृथ्वीराज के पकड़े जाने के बाद दिल्ली लौट कर देवी के आशीर्वाद से चन्द ने ७५ दिनों में रासो की रचना की; परन्तु यहाँ भी तिथि नहीं दी गयी है। आश्रयदाता का उल्लेख तो कवि ने प्रथम समय में ही किया है और कहा है कि मैं चौहान पृथ्वीराज के अपने प्रति किये गये पूर्व उपकारों से उऋण होने के लिए इस काव्य की रचना कर रहा हूँ (१-७६८)। उसी तरह दूसरे समय के अन्त में भी चौहान के प्रति अपनी कृतज्ञता का कथन कवि ने किया है (२-५८५-८६)।

प्राचीन काव्यों में कविता के भीतर कवि का नाम रखने की प्रथा नहीं मिलती, उनमें सर्गों के अन्त में वर्णित विषय और सर्ग का नाम तथा कवि का उसके विशेषणों के साथ नाम रहता था। परवर्ती काव्यों, विशेषकर अपभ्रंश के काव्यों में कवि या तो अपनी कविता को चोरी से बचाने के लिए कोई विशेष शब्द, मुद्रा के रूप में, प्रत्येक सर्ग के अन्तिम छन्द में रखता था या अपना नाम ही उसमें जोड देता था। इस तरह काव्यों में सर्गान्त में अंक और नाममुद्रा देने की प्रथा थी। उदाहरणार्थ स्वयंभू के पउमचरिउ में सर्गान्त में इस प्रकार के नाम-मुद्रायुक्त छन्द मिलते हैं :—विज्जाहर कीलएं थिय थिय लीलए पुरइँ 'सइंभु' ज्जन्ति थिय (२०-१२)। इसी तरह धाहिल ने सर्वत्र सर्गान्त में अपना विशेषण दिव्यदृष्टि जोड़ा है[1]। पुष्पदंत, कनकामर और धनपाल ने भी अपनी 'नाम-मुद्रा' का उपयोग सर्गान्त के छन्दों में किया है[2]। रासो में कुछ समयों के अन्त में तो कवि ने अपना नाम अवश्य दिया है जैसे—

१—सुपन सुफल दिल्ली कथा कहो चन्द बरदाय।
अब आगे करि उच्चरो पिथ्थ अँकुर गुन चाय। (३-५८)
२- षट्ट सहस्र अरि पवग कवि चन्दह कह कित्यो। (४-३३)
३—जैं जै जै कवि चन्द वहि चन्द सुर वष्षान। (१०-३६)

१—'जिणु दिव्वदिट्ठि मणि झायइ, कंति पउत्थइ पउमसिरि।
(पउमसिरिचरिउ-संधि ३-कडवक १०-छन्द १३६)

२—(१) भरइ पुप्फदन्तुज्जलिय अण्ण ण तियमइ मइ गरुयारी।
(पुष्पदन्त—महापुराण २२-२१)

(२) सिरि पुप्फयंत जिणवर वयणु मूढु लोउ णायण्णइ।
(पुष्पदन्त--जसहरचरिउ—१-४१)

(३) कणयामरसिवमाणिणि वरहि सो होइ णिरुत्तउ ताहे वरु।
(कनकामर-करकंडुचरिउ-६-२४)

इसी प्रकार समय संख्या १२, १३, २५, २८ आदि के अन्तिम छन्दों में चन्द या चन्द वरदाई 'नाम मुद्रा' आयी है। शेष समयों में से इंच्छिनी विवाह आदि कुछ समयों में अन्तिम छन्द से कुछ पहले के छन्दों में नाम-मुद्रा आयी है।

छन्द-परिवर्तन—महाकाव्य का लक्षण बताते हुए आलंकारिकों ने कहा है कि एक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग होना चाहिए पर सर्गान्त में भिन्न छन्द होना चाहिये। लेकिन विश्वनाथ कविराज ने यह भी कहा है कि किसी-किसी महाकाव्य में नाना छन्दों वाले सर्ग भी देखे जाते हैं तथा अपभ्रंश के महाकाव्यों में भी एक ही सर्ग में विविध छन्दों का प्रयोग होता है। अपभ्रंश के चरितकाव्य कडवकबद्ध होते हैं किन्तु उनमें भी छन्द सबंधी वैसी एकरूपता नहीं होती जैसी दोहा-चौपाई वाले प्रेमाख्यानक काव्यों—पद्मावत आदि—में है। रासो की रचना अपभ्रंश काव्यों की परम्परा के अनुसार अवश्य हुई है, पर छन्दों के प्रयोग में उसमें परवर्ती अपभ्रंश के लघु रासक काव्यो का अनुसरण किया गया है, जिनमें विशेष रूप से छप्पय, रासक या रासा, चउपई, चर्चरी आदि भिन्न भिन्न छन्दों का प्रयोग मिलता है। रासो के पहले 'समय' के निम्न-लिखित दोहें के आधार पर पंडित मथुराप्रसाद दीक्षित ने यह अनुमान किया है कि मूल रासो में इतने ही छन्द रहे होगे :—

छन्द प्रबन्ध कवित्त जति साटक गाह दुअत्थ।
लहु गुरु मंडित खंडि इहि पिंगल अमर भरत्थ।

असली पृथ्वीराज रासो (आदि पर्व २७)

इसका अर्थ पं० मथुराप्रसाद दीक्षित ने यह किया है कि "छन्द अर्थात् एक ही छन्द के रसावला, पद्धरी, नाराच, लघुनाराच इत्यादि छन्दों को, प्रबंध पृथ्वीराज जी के चरित्र संगठन को, कवित्त—उत्प्रेक्षा, रूपकादि कवि कल्पना को, यति (जति विराम तथा साटक वर्णवृत्त शार्दूल विक्रीड़ित आदि छन्दों को तथा गाथा, आर्यागीति उपगीति आदि तथा द्वयर्थ श्लेषात्मक वर्णन को इस रासो में स्थान है[1]।" किन्तु यह जबर्दस्ती किया हुआ अर्थ प्रतीत होता है। इसका सीधा अर्थ यही है कि रासो छन्दोबद्ध प्रबन्धकाव्य है जिसमें कवित्त (छप्पय) सट्टक, गाथा और दोहा ये चार छन्द प्रधान हैं। परन्तु वर्तमान रासो में करीब ७२ प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ है जिनमें ३२ मात्रावृत्त, ३० वर्णवृत्त, ६

१—असली पृथ्वीराजरासो (प्रथम समय)—संपादक और टीकाकार-पं० मथुराप्रसाद दीक्षित, बनारस १९५२, पृ० १४।

मिश्रवृत्त के छन्द हैं और ४ वचनिका आदि फुटकर छन्द हैं[1]। अतः इनमें से कितने मूल रासो के छन्द हैं और कितने परवर्ती, इसका पता लगाना बहुत कठिन है। उपर्युक्त दोहे में जिन छन्दों का नाम लिया गया है उनमें लिखे गये रासो के सभी पद्य मूल रासो के ही है, यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि दोहा और छप्पय अपभ्रंश की तरह हिंदी के भी अति प्रिय छन्द हैं और परवर्ती क्षेपककारों ने उन छन्दों में बडी आसानी से पद्य रचना करके रासो में मिला दिया होगा। जो हो, हमारा उद्देश्य मूल रासो के छन्दों का पता लगाना नहीं है बल्कि यह देखना है कि अपभ्रंश की महाकाव्य-परम्परा के अनुसार उसमें छन्दों का प्रयोग हुआ है या नहीं। उपर्युक्त दोहे में जिन छन्दों का नाम लिया गया है अपभ्रंश के प्रबन्ध काव्यों में उनका प्रयोग बहुत अधिक हुआ है इनके अतिरिक्त रासो में प्रयुक्त अन्य छन्द, गाथा, पद्धरी (पद्धडिया या पंज्झटिका) अरिल्ल, रासा या रासक, सोरठा, दुमिला या दुर्मिल, रोला, कुंडलिया, कविता या छप्पय, चौपाई, साटक, भुजंगी, मोतीदाम, त्रोटक, नाराच आदि भी अपभ्रंश के कडवकबद्ध चरितकाव्यों तथा रासक या रासा जैसे लघु प्रबन्धकाव्यों में अत्यधिक व्यवहृत छन्द रहे हैं। अतः छन्द-प्रयोग की दृष्टि से भी रासो अपभ्रंश की ही काव्य-परम्परा में आता है। एक और दृष्टि से रासो की अपभ्रंश के चरितकाव्यों से समानता दिखाई पड़ती है। संस्कृत के महाकाव्यों में छन्दों का नाम नहीं दिया रहता है। किन्तु अपभ्रंश काव्यों में छन्दों का नाम बहुधा दिया रहता है। उनमें छन्द-नाम या तो छन्द के बाहर लिखा रहता है या छन्द के भीतर ही उसका उल्लेख किया जाता है, जैसे—

दुबई—चउविह गोउराइं चउदारइ णयरइ भूमि भूसणे।

महापुराण ५-२१-१

रासो में भी इसी तरह छन्दों के नाम उनके पहले दिये हुए हैं। शायद ही ऐसा कोई पद्य उसमें हो जिसके पहले छन्द का नाम न हो। अपभ्रंश में छन्द के भीतर उनका नाम देने को उदाहरण ये हैं—

भुजंगो वुहारंजणो णाम छन्दो चिरं नन्दओ गिहवरो दाणइंदो।

—भविसयत्तकहा—१२—३

दिवायर चन्दणिवारियधामु। सुछंदइं गंथिउ गोत्तियदामु।

—करकण्डु चरित्र—१—९—९

१—चन्द वरदायी और उनका काव्य, ले० डा० विपिनविहारी त्रिवेदी, प्रयाग १९५२, पृ० २१५—१७।

७—प्रभावान्विति और रसवत्ता

नाटकों के समान महाकाव्य में भी पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के अनुसार तीव्र प्रभावान्विति और भारतीय साहित्यशास्त्र के अनुसार गंभीर रसव्यंजना आवश्यक मानी गयी है। यहाँ यह प्रश्न विचारणीय है कि रासो में पश्चात्य ढंग की प्रभावान्विति है या भारतीय ढंग की रसव्यंजना। यह पहले ही कहा जा चुका है कि उसके कथानक में नाटक जैसी काल और घटना की अन्विति नहीं है किंतु उसकी कथा में विकास-क्रम अवश्य दिखाई पड़ता है। रासो के कथानक में पाश्चात्य ढंग की कार्य की पाँचों अवस्थायें मिलती हैं। आदि पर्व से ६५ वें समय तक तो उसमें आरम्भ और विकास की अवस्थायें हैं जिनमें कथा बहुत ही मन्द गति से आगे बढ़ती है, किन्तु ६६ वें समय में उसकी गति बहुत तीव्र हो जाती है और कार्य की अन्तिम तीन अवस्थायें उसी में दिखलाई पड़ती हैं। वहाँ पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन का युद्ध चरमबिन्दु है। पृथ्वीराज की पराजय से उसके नेत्रहीन बनाये जाने तक की कथा में निगति की अवस्था है और चन्द और पृथ्वीराज की मृत्यु और दिल्ली-कन्नौज पर मुस्लिम अधिकार की कथा में नाश या अवसान नामक कार्यावस्था दिखलाई पड़ती है। इस तरह रासो पाश्चात्य ढंग का दुःखान्त महाकाव्य है जिसके फलस्वरूप उसमें पाश्चात्य दुःखान्त नाटकों जैसी तीव्र प्रभावान्विति है। उसका प्रभाव महाभारत के समान ही पाठकों के हृदय पर बड़े वेग और तीव्रता से पड़ता है जिसमें गम्भीरता और स्थायित्व की मात्रा बहुत अधिक होती है। पाश्चात्य महाकाव्यों में यथार्थ चित्रण अधिक होता है और उनके नायकों का बहुधा पराभव, पतन और नाश होता है किंतु हर दशा में पाठकों की सहानुभूति उस पराजित नायक के प्रति ही होती है, विजयी प्रतिनायक के प्रति नहीं। उसमें पराजित नायक के प्रति सहानुभूति और सद्भावना उत्पन्न की जाती है और उसकी पराज्य के लिए परिस्थितियों या अलौकिक शक्तियों को दोषी ठहराया जाता है। ऐसे नाटकों या महाकाव्यों का समग्र प्रभाव बहुत ही गहरा होता है, उसमें अन्विति होती है जो पाठक के हृदय को झकझोर देती है और वह विरोधी परिस्थितियों के विरुद्ध विद्रोह करने को उद्यत हो जाता है। रासो में भी इसी प्रकार की तीव्र प्रभावान्विति है। पाठक भारतीय राष्ट्र के प्रतीक पृथ्वीराज की पराजय और मृत्यु की घटना का वर्णन पढ़कर उसे तो सहानुभूति और श्रद्धा का पात्र मान लेता है और सामन्ती समाज की वस्तुओं, देशद्रोही व्यक्तियों और अनुदार तथा अनैतिक विदेशी आक्रमणकारियों के विरुद्ध विरोध और विद्रोह की भावना से भर उठता है। इस तरह रासो को पढ़कर निराशा और दुख की भावना नहीं

जाग्रत होती बल्कि कर्मण्यता, राष्ट्रीयता, और आशावादिता का स्फुरण होता है। इसी का नाम प्रभावान्विति है। रासो में वह तीव्र, गंभीर और स्थायी रूप में दिखलाई पडती है।

भारतीय साहित्यशास्त्र के अनुसार कार्य की पाँच अवस्थायें ये हैं, आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम। रासो में इनमें से अन्तिम दो-नियताप्ति और फलागम नहीं हैं। कनवज-कथा ६१ वां समय) में जयचन्द की पराजय के बाद ऐसा प्रतीत होता है कि पृथ्वीराज ने मानो दिग्विजय कर ली और किसी भी शत्रु को वह सहज ही पराजित कर सकता है, अतः उसका अभ्युदय और उसके द्वारा फल की प्राप्ति—देशी-विदेशी शत्रुओं का नाश और भारत में सशक्त केंद्रीय राजसत्ता की स्थापना–अब निश्चित है। यह प्राप्त्याशा की अवस्था है। किन्तु अन्तिम युद्ध के पूर्व पृथ्वीराज की विलासिता और अनुत्तरदायित्व, हाहुली हम्मीर का पृथ्वीराज का साथ न देना, युद्ध में पृथ्वीराज के सामन्तों का एक एक कर मारा जाना, ये घटनायें पूर्व सूचना देती हैं कि इस बार के युद्ध में पृथ्वीराज की पराजय होगी। अत: यहाँ नियताप्ति की कार्यावस्था नहीं है क्योंकि विजय की आशा कम होती जाती है। पृथ्वीराज की पराजय और उसको बन्दी बना कर गजनी ले जाये जाने और नेत्रहीन बनाये जाने की घटनाएँ अन्तिम रूप से सिद्ध कर देती है कि फलागम नहीं होगा। अन्त में गोरी, पृथ्वीराज और चन्द तीनों की मृत्यु से शोक नामक स्थायी भाव का उदय होता है जो रैनसिंह और जयचन्द की मृत्यु और दिल्ली-कन्नौज के पराधीन बन जाने की घटनाओं से पुष्ट होकर पूर्ण रूप से करुण रस में बदल जाता है। इस प्रकार रासो में प्रारम्भ से वीर रस की जो धारा प्रवाहित हुई है वह अन्त में जाकर करुण रस में पर्यवसित हुई है। अतः स्थूल दृष्टि से देखने पर तो रासो को वीर रस का काव्य नहीं माना जा सकता क्योंकि उसका अन्त करुण रस में हुआ है। किन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से समग्र प्रभाव को ध्यान में रख कर देखा जाय तो वह वीर रस प्रधान महाकाव्य ही ज्ञात होता है। वीर रस ही पूरे महाकाव्य में अंगी रूप में व्याप्त है और शृङ्गार, करुण, शान्त आदि उसमें अंग रूप में स्थान-स्थान पर दिखाई पडते हैं। अतः अन्तिम कुछ दृश्यों के कारण उसमें कुछ व्याघात भले ही पड़ जाय पर उसकी गहराई कम नहीं होती। यदि शास्त्रीय दृष्टि से उसे वीर रस का काव्य मानने में आपत्ति हो तो भी इस सत्य को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि वह वीर काव्य (हिरोइक एपिक) है जिसमें एक महान वीर की जन्म से मरण पर्यन्त की जीवन-कथा लिखी गयी है। वीर के रूप में रासो के नायक का जीवन आदर्श है। उसके

पराक्रम और युद्धों की कथा पाठकों में अदम्य उत्साह और साहस की भावना भरती है और वीर रस का संचार करती है। अतः अपने समग्र प्रभाव के कारण रासो सभी रसों से युक्त होते हुए भी वीर रस प्रधान महाकाव्य ही माना जायगा। अपने वीर रसात्मक प्रभाव का उल्लेख रासो स्वयं करता है जो उसमें वीर रस की प्रधानता का सबल प्रमाण है :—

पृथीराज गुन सुनत होय आनन्द सकल मन।
पृथीराज गुन सुनत करय संग्राम स्यार रन।
पृथीराज गुन सुनत कपन कपटय ते खुल्लय।
पृथीराज गुन सुनत हरषि गुंगौ सिर डुल्लय।
रासो रसाल नव रस सरस आजानौ जानप लहै।
निसटौ गरिष्ट साहस करे सुनहु सत्ति सरसति कहै ॥६८-२४०

८—जीवनी शक्ति और प्राणवत्ता

एक सर्वमान्य धारणा, जिसको मूलतः स्वीकार करते हुए भी आचार्यों ने महाकाव्य के लक्षणों में स्थान नहीं दिया है, यह है कि महाकाव्य में अमरत्व का गुण होना चाहिये। अमर महाकाव्य वही होता है जो अपने युग की पूर्ण अभिव्यक्ति होता हुआ भी काल के कन्धों पर चढ़ कर युग युग की सीमाओं को पार करता जाता है। गणित में तीन आयाम (डाइमेन्सन्स) लम्बाई, चौडाई और ऊँचाई या गहराई—तो पहले ही से मान्य थे, आइनस्टाइन ने चौथा आयाम भी सिद्ध कर दिया है। यह चौथा आयाम काल है। अमर महाकाव्य उसे मानना चाहिये जिसमें इन चारों आयामों का पूर्ण विस्तार हो। लम्बाई चौड़ाई देश या स्थान के उपलक्षण हैं। जिस महाकाव्य में देश सबंधी जितनी ही व्याप्ति होगी; जो स्थान, देश, जाति, धर्म, राष्ट्र और अन्य प्रकार की भौगोलिक और सामाजिक सीमाओं का अतिक्रमण करके जितने ही व्यापक क्षेत्र में प्रसिद्धि पायेगा उसमें अमरता के उतने ही अधिक तत्त्व होंगे। उसी तरह काव्य में ऊँचाई और गहराई का अर्थ महत्व, गंभीरता, गुरुत्व और विराटता है। जिस महाकाव्य की शैली जितनी ही अधिक गरिमामयी और उदात्त होगी, उसमें जितना अधिक गुरुत्व और गाम्भीर्य होगा, उसका नायक जितना महान होगा और उसमें जितने ही महान उद्देश्य और महत्कार्य की अभिव्यक्ति होगी, वह उतना ही अधिक देश-काल की सीमाओं का अतिक्रमण करके अमरत्व का अधिकारी होगा। काल जितना ही निष्ठुर है, उतना ही न्यायी भी है। वह अपने कन्धों पर उन्हीं काव्यों का बोझ ढोना पसन्द करता है जिनमें उसके कन्धे पर चढ़ने की क्षमता और शक्ति होती है। जिनमें ऐसी

जीवन्तता और योग्यता का अभाव होता है उनको काल शव-तुल्य समझ कर विस्मृति की अंधेरी गुफाओं में दफना देता है। इस तरह अमर महाकाव्य देश और काल की सीमाओं को अस्वीकार करके अपनी जीवनी शक्ति और प्राणवत्ता के बल पर युग-युग तक जीवित रहते और प्रत्येक युग को जीवन संदेश, प्रेरणा और शक्ति प्रदान करते रहते हैं। अब यहाँ विचारणीय प्रश्न है कि क्या रासो में वह अक्षुण्ण जीवनी शक्ति और सशक्त प्राणवत्ता है जिसके कारण उसे अमर महाकाव्य माना जाय।

रासो में जीवनी शक्ति और प्राणवत्ता है, इसे तो उसके बडे से बड़े विरोधी भी अस्वीकार नहीं कर सकते। यदि मूल रासो में ही वह शक्ति न होती तो उसे इतनी लोकप्रियता क्यों मिलती कि अनेकानेक कवि अपनी रचनायें उसमें जोड़ते जाते और फिर भी अपना नाम उसमें न देते। वस्तुतः रासो में क्षेपकों को हजम करने की वैसी ही शक्ति है जैसे गंगा में अनगिनत नदी-नालों का अच्छा-बुरा जल ग्रहण कर आत्मसात् कर लेने की शक्ति है। यही उसकी जीवनी शक्ति का प्रमाण है। विकसनशील महाकाव्यों के विकास का प्रधान कारण उनकी जीवनी शक्ति ही है। अतः रासो में वह जीवनी शक्ति, सीमित मात्रा में ही सही, है जो इलियड, ओडेसी, बियोवूल्फ, नेबुलिंगनलीड, साँग आवाद रोलाँ और रामायण-महाभारत में है। इलियड-ओडेसी और रामायण-महाभारत मानव-इतिहास के आदि काल के समाज का चित्रण करते हुए भी इतने जीवन्त, सशक्त और प्राणवान है कि हजारों वर्षों की जीवनयात्रा में उन्होंने काल को ही जीता है, स्वयं काल से नहीं पराजित हुए है। फलतः वे विश्व-महाकाव्य हैं। वे मानवता के आदि पथ-प्रदर्शक, प्रेरणास्रोत और जाज्वल्यमान प्रकाश-स्तम्भ हैं जो आज भी काल-सागर के तट पर अडिग खड़े हैं, उनको चुनौती देनेवाला कोई पाँचवाँ महाकाव्य आजतक सामने नहीं आया। अतः उनकी अमरता की तुलना में रासो को रखने का प्रश्न ही नहीं उठता। फिर भी उसमें वैसी सशक्तता और प्राणवत्ता है जो बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में विकसित और रचित संसार के कुछ प्रसिद्ध महाकाव्यों—फारस के शाहनामा, इङ्गलैंड के बियोवूल्फ, जर्मनी के नेबुलिंगननलीड, और फ्रांस के सांग आव द रोलां आदि—में है। ये सभी महाकाव्य सामन्ती वीरयुग की देन है और उनमें अपने अपने देश और युग का जीता-जागता चित्र उपस्थित किया गया है। रासो भी उसी युग और वातावरण का महाकाव्य है। इन सभी महाकाव्यों में विषय-वस्तु, रूप-विधान और शैली को आश्चर्य-जनक समता दिखाई पड़ती है। उसी तरह जीवनी शक्ति और प्राणवत्ता में भी

इन सबमें बहुत कुछ समानता है। उपर्युक्त महाकाव्यों की तरह रासो भी वीर-गाथात्मक काव्य है और उसमें भी ऐतिहासिक, पौराणिक और रोमांचक शैली का विचित्र सम्मिश्रण हुआ है जिसके फलस्वरूप उसमें ऐतिहासिक तथ्यों के साथ, धर्म और श्रृङ्गार की प्रवृत्तियों तथा आश्चर्य और रहस्य के तत्वों का समावेश हुआ है। सारे संसार में इन प्रवृत्तियों और तत्वों का मध्यकाल के सामाजिक जीवन में महत्वपूर्ण स्थान रहा है; अतः प्रधानतया इन प्रवृत्तियों के कारण ही तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी से लेकर १८ वीं शताब्दी तक रासो और उसी तरह के योरोपीय रोमाचक-पौराणिक महाकाव्यों को बहुत सम्मान प्राप्त होता रहा। समाज की प्रमुख प्रवृत्तियों की यथार्थ अभिव्यक्ति करने के कारण ही उनकी जीवनी शक्ति का ह्रास नहीं हुआ।

रासो में सामन्ती व्यक्तिवाद तो है, किन्तु सामन्ती वीरयुग का सामाजिक संगठन भी उसमें अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ चित्रित हुआ है। यह सामाजिक शक्ति और वीरता की अदम्य भावना ही रासो की प्राणवत्ता है जो परवर्ती युगों को भी शक्ति और प्रेरणा देती रही है। परवर्ती युगों के लिए रासो में चित्रित पृथ्वीराज का चरित्र आदर्श वीर का चरित्र रहा और समाज उससे प्रभाव और शक्ति ग्रहण करता रहा है। अंग्रेजों के आने के बाद परिस्थितियाँ बहुत कुछ बदल गयी। किन्तु फिर भी जब तक मानव में स्वाभिमान, देश-प्रेम, मान-मर्यादा और धर्म-श्रृगार की भावनायें रहेंगी तब तक पृथ्वीराज का चरित्र उसे उत्साह और प्रेरणा प्रदान करता रहेगा और पृथ्वीराजरासो को पढ़ कर वह आनन्द प्राप्त करता रहेगा। रासो भारतीय राष्ट्र के स्वतन्त्रता के संघर्ष के प्रारम्भिक स्वरूप का काव्यात्मक इतिहास है, अतः राष्ट्रीय चेतना के उत्तरोत्तर विकास और वृद्धि के साथ रासो का महत्व और सम्मान भी बढ़ता ही जायगा। तिथियों, शिलालेखों और पुरानी पोथियों में लिखी बातों को इतिहास मानने वाले विद्वान भले ही उसे अनैतिहासिक और जाली कहते रहें, किन्तु भावात्मक सत्य में विश्वास करने वाली सामान्य जनता का हृदय रासो में सदा से रसमग्न होता रहा है और आगे भी होता रहेगा। युग-युग की उसी असख्य जनता के हृदय की भावुकता और विश्वासों की अक्षय शक्ति ही रासो की जीवनी शक्ति है। उसमें जब तक वह जीवनी शक्ति बनी रहेगी, यह महाकाव्य अमर रहेगा।

छठा अध्याय

विकसनशील लोकमहाकाव्य—आल्हखण्ड

विकसनशील लोकमहाकाव्य लोकगाथाओं के चक्रों से विकसित होते हैं। लोकगाथाओं की उत्पत्ति, विकास और उनके चक्रों के निर्माण के सम्बन्ध में प्रथम अध्याय में विचार किया जा चुका है। हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्रों में वर्तमान समय में लोक-प्रचलित गाथाचक्रों में आल्हा, लोरिकायन, राजा भरथरी, गोपीचन्द, विजयमल, सोरठी, बिहुला-विसहरी, शोभनायक बनजारा और कुँवर सिंह विशेष प्रसिद्ध हैं। इन गाथाओं के लिए गीत, पँवारा, गाथा आदि शब्दों का प्रयोग भी किया जाता है। ये गाथायें सैकड़ों वर्षों से हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्रों में कण्ठानुकण्ठ रक्षित और विकसित होती आ रही हैं। इनमें से ऐतिहासिक आधार या पृष्ठभूमि वाली गाथाएँ ये हैं :—आल्हखण्ड, राजा गोपीचन्द, राजा भरथरी और कुँवर सिंह। ऐतिहासिक आधार से तात्पर्य यह है कि इनके पात्रों तथा स्थानों के नाम आदि तो ऐतिहासिक हैं पर घटनाएँ अधिकतर अनुश्रुतियों पर आधारित हैं। फिर भी सामान्य ग्रामीण जनता उन्हें इतिहास के रूप में ही सत्य मान कर उनसे शक्ति, प्रेरणा और उत्साह प्राप्त करती रहती है। इस दृष्टि से आल्हा या आल्हखण्ड सर्वाधिक प्रेरणादायक और शक्तिशाली गाथाचक्र है जिसके पात्रों और घटनाओं को उत्तर भारत की सामान्य जनता ऐतिहासिक सत्य के रूप में सैकड़ों वर्षों से स्वीकार करती आयी है। उसमें अनेक काल्पनिक गाथाएँ मिलती रही हैं और आज उन सबका एक गाथाचक्र बन चुका है। उसका स्वरूप अब बहुत कुछ स्थिर हो गया है, अतः उसे विकसनशील लोकमहाकाव्य भी कह सकते हैं।

पिछले अध्याय मे कहा जा चुका है कि विकसनशील महाकाव्य तीन प्रकार के होते हैं। हिन्दी में ढोला मारू रा दूहा और आल्हखण्ड तीसरे प्रकार के विकसनशील काव्य हैं जो सम्भवतः मूल रूप में विशिष्ट कवियों द्वारा रचे गये थे, पर अपनी विशेषताओं और लोकप्रियता के कारण वे लोक-सम्पति बन गये। इनमें से आल्हखण्ड विकास की उस अवस्था में पहुँच चुका है जिसे विकसनशील लोकमहाकाव्य की संज्ञा दी जाती है। इस सम्बन्ध में ग्रियर्सन ने लिखा है कि 'वर्तमान समय में अन्य कोई महाकाव्य ऐसा नहीं है जो आल्हखण्ड के समान

लोकव्याप्त हो। यह महाकाव्य समस्त उत्तर भारत के पेशेवर अल्हैतों द्वारा गाया जाता है[1]।

पहले कहा जा चुका है कि सामन्ती वीरयुग की प्रधान प्रवृत्ति वीरता की थी और राजा और सामन्त अपने दरबारों में पेशेवर कवियों—चारण, भाट, ढाढ़ी आदि—को रखते थे जो अपने आश्रयदाताओं की वीरता, दान, विवाह आदि से सम्बन्धित प्रशस्ति-काव्य रचा करते थे। राजस्थान में राजकीय पुस्तकालयों में प्रशस्ति-काव्यों के अतिरिक्त अनगिनत ख्यात, बात और पीढ़ियावली नामक ऐतिहासिक, अर्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ मिलते हैं जो दरबारी कवियों द्वारा रचित हैं। ग्रियर्सन के अनुसार दरबारी वातावरण में रचित काव्यों और ख्यात-बात आदि ग्रन्थों के रचयिता शिक्षित कवि होते थे जो काव्यशास्त्र और छन्दादि के परम्परागत नियमों से परिचित होते थे। अतः उनकी कृतियाँ लिखित रूप में होती थीं और अत्यन्त सावधानी से उनका संरक्षण होता था, जिसके फलस्वरूप उनमें से अनेक ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियाँ आज भी उपलब्ध हैं। पृथ्वीराज-रासो इसी प्रकार का दरबारी वातावरण में दरबारी कवि द्वारा लिखित काव्य है और राजदरबारों में ही उसका संरक्षण और विकास हुआ है। अतः वह विकसनशील होते हुए भी लोकमहाकाव्य नहीं है। किन्तु आल्हखण्ड रासो से भिन्न प्रकार का महाकाव्य है। इसकी कोई भी प्राचीन हस्तलिखित प्रति नहीं मिलती, न इस काव्य में उसके कर्ता के नाम का ही कहीं निर्देश हुआ है। इस काव्य में शास्त्रीय महाकाव्य की रूढ़ियों का पालन भी नहीं हुआ है और न उसमें दरबारी वातावरण में रचित काव्यों जैसा अलंकृत रूपविधान, प्रबन्धकौशल और काव्यसौष्ठव ही दिखलाई पड़ता है। ग्रियर्सन का कहना है कि "यह शिक्षित लोगों का नहीं, बल्कि अपढ़ पेशेवर अल्हैतों की सम्पत्ति है जो समूचे उत्तरी भारत में दिल्ली से बिहार तक बिखरे मिलते हैं। इन लोगों का पेशा ही आल्हा गाकर जीविकोपार्जन करना है। इसी प्रकार पीढ़ी-दर-पीढ़ी आल्हखण्ड का विकास, संरक्षण और प्रचार होता आया है। परिणामस्वरूप स्थान-भेद के अनुसार आल्हखण्ड के कई पाठ और रूपान्तर मिलते हैं और कालान्तर में उसकी भाषा भी मूल काव्य की भाषा से बिलकुल बदली हुई

1—"I do not suppose that any epic poem is at the present day so popular as that of Alha and Udal which is sung by itinerant bards all over northern India"

Linguistic Survey of India—Vol IX,—part I, by Sir George Grierson, p. 495.

दिखलाई पड़ती है[1] ।" इस प्रकार आल्हखण्ड ऐसा काव्य है जिसकी रचना मूल रूप में सम्भवतः तेरहवीं शताब्दी में दरबारी वातावरण में महोबा के राजा परमर्दिदेव के आश्रित भाट जगनिक द्वारा हुई थी जिसे अनुश्रुति परमर्दि या परमाल का भाँजा बताती है[2] । इस काव्य के नायक आल्हा-ऊदल इतने प्रसिद्ध हुए कि उनका व्यक्तित्व निजन्धरी बन गया और उनके पराक्रम का वर्णन करने वाला यह काव्य भी लोक-कवियों और लोक-गायकों के कण्ठ में बस कर विकसित होने लगा । धीरे-धीरे उसने लोक-गाथा का रूप धारण कर लिया । अपने विकास की अन्तिम अवस्था में यह लोकगाथा ५२ लड़ाइयों का कथात्मक लोक-महाकाव्य बन गयी है ।

आल्हखण्ड का काव्य-रूप

अनेक विद्वान आल्हखण्ड को लोकगाथा या वीरगति (बैलेड) मानते हैं । डा० रामकुमार वर्मा इसे गीतकाव्य कहते हुए लिखते हैं कि "जगनिक (सं० १२३०) का यह वीररस-प्रधान एक गीतिकाव्य माना जाता है[3] ।" गीतिकाव्य से डा० वर्मा का क्या अभिप्राय है, यह उन्होंने स्पष्ट नहीं किया है । किन्तु गीतिकाव्य का अभिप्राय यदि अंग्रेजी का लीरिक (प्रगीत मुक्तक) हो तो आल्हखण्ड गीतिकाव्य नहीं है क्योंकि उसमें प्रबन्धत्व और विस्तार है । यदि गीतिकाव्य से उनका अभिप्राय अंग्रेजी का 'बैलेड' हो तो उसे लोकगाथा कहना चाहिए । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'बैलेड' के लिए वीरगीत

---

1 "It is the property, not of educated men, but of illiterate minstrels who are found scattered over northern India from. . . make it their professin to recite the Alha Khand . . ...and the language has changed as time elaps d."
The lay of Alha,—A saga of Rajput Chivalrytas sung by minstrels of Norther India—Translated by W waterfield,—Introduction by Sir G Grierson, p, 9—10.

2 "The very name of its author is unknown except for a tradition of little value that it was compossd by Jagnaik sister's son of Parmal . . It now prasents the singular appearance of a poem composed in the twelfth century... ...." Ibid. p. 9, 10.

३—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—ले० डा० रामकुमार वर्मा, प्रयाग, सन् १६३८, पृ० १०३ ।

शब्द का प्रयोग करते और आल्हखण्ड को अनेक वीरगीतों का समुचय मानते हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि इन गीतों के समुच्चय को सर्वसाधारण आल्हखण्ड कहते हैं जिससे अनुमान होता है कि आल्हा सम्बन्धी ये वीरगीत जगनिक के रचे उस बड़े काव्य के एक खण्ड के अन्तर्गत थे जो चन्देलों की वीरता के वर्णन में लिखा गया होगा[1]। वीरगीतों के समुच्चय से शुक्लजी का अभिप्राय सम्भवतः गाथाचक्र (बैलेड साइकिल) से है। बैलेड का हिन्दी अनुवाद 'वीरगति' सही नहीं है। इसीलिए हमने सर्वत्र बैलेड के लिए 'लोकगाथा' और 'बैलेड साइकिल' के लिए 'गाथा-चक्र' शब्द का व्यवहार किया है। इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका के अनुसार इङ्गलैण्ड में बैलेड उस काव्यरूप का नाम है जिसमें सीधे-सादे छन्दों में कोई भी सीधी-सरल कथा कही गयी हो[2]। प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान डब्ल्यू० पी० केर के अनुसार इंगलैंड में बैलेड वह कथात्मक गेय काव्य है जो या तो लोक में ही उत्पन्न और विकसित होता है या लोककाव्य के सामान्य रूप-विधान को लेकर किसी विशिष्ट कवि द्वारा रचा जाता है, जिसमें गीतात्मकता और कथात्मकता दोनों ही होती है और जिसका प्रचार जन-साधरण में मौखिक रूप से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में होता रहता है[3]। इस दृष्टि से लोकगाथा का वीरगीत होना जरूरी नहीं है क्योंकि लोकगाथाएँ धार्मिक, उपदेशात्मक, प्रेमाख्यानक आदि अनेक प्रकार की होती हैं, वे सदा वीर-भावना वाली ही नहीं होतीं। पहले अध्याय में हम लोकगाथा की जिन विशेषताओं पर विचार कर आये है उनके अनुसार आल्हखण्ड में लोकगाथा के निम्नलिखित तत्त्व मिलते हैं :—

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास—ले० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आठवाँ सस्करण सं० २००६, पृ० ५२।

2—"In England the term has usually been applied to simple tale told in simple verse .. .. .."
Encyclopaedia Britanica—11th Edition, (Ballad), p. 264—65.

3—"Ballad is here taken as meaning a lyrical narrative poem (all ballads are lyrical ballads) either popular in its origin or using the common form of popular poetry and fitted for oral circulation through the whole of a community...It is not a narrative poem only, it is narrative poem lyrical in form or a lyrical poem with a narrative body in it And it is a lyrical narrative not of a ambitious kind like pindar but simple and adopted for simple audiences and for oral tradition from one generation to another" Form and style in poetry—W. P. Ker, p. 3.

१—आल्हखण्ड लोक के बीच मौखिक रूप में समस्त उत्तर भारत में प्रचलित है। वह शिष्ट वर्ग द्वारा शिष्ट साहित्य के भीतर मान्य नहीं है परन्तु सामान्य जनता में उसका बहुत आदर और महत्त्व है।

२—उसकी कोई प्राचीन हस्तलिखित प्रति नहीं मिलती और न उसका कोई निश्चित पाठ या रूप ही है। स्थान-भेद से उसके अनेक रूपान्तर मिलते हैं।

३—वह गेय गाथा है। उसका ढोलक पर गान होता है।

४—उसमें चमत्कार-प्रदर्शन, पाण्डित्य-प्रदर्शन और अलंकृति का अभाव है।

५—उसका प्रधान उद्देश्य मनोरंजन है, धर्म-प्रचार, नैतिक उपदेश, चरित्र-सुधार, राष्ट्रीयता आदि उसके उद्देश्य रूप में नहीं दिखाई पड़ते। फिर भी वीर-भावना को जाग्रत और पुष्ट करना उसका अप्रत्यक्ष लक्ष्य अवश्य है।

६—अपने वर्तमान रूप में वह एक हाथ की नहीं बल्कि पूरे समाज की रचना है। उसी तरह वह किसी एक काल की रचना नहीं है बल्कि सैकड़ों वर्षों में मौखिक रूप में आशु काव्य-प्रतिभा द्वारा उसका रूप विकसित हुआ है।

किन्तु जहाँ तक लोकगाथा के उपर्युक्त अन्तिम लक्षण का संबंध है, आल्हखण्ड लोकगाथाओं का अपवाद प्रतीत होता है। कारण यह है कि उसके सम्बन्ध में यह अनुश्रुति चली आती है कि उसका रचयिता जगनिक नामक भाट था। इस संबंध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है, "ऐसा प्रसिद्ध है कि कालिंजर के राजा परमाल के यहाँ जगनिक नाम के एक भाट थे जिन्होंने महोबे के दो देश-प्रसिद्ध वीरों—आल्हा और ऊदल (उदयसिंह)—के वीर चरित का विस्तृत वर्णन एक वीरगाथात्मक काव्य के रूप में लिखा था जो इतना सर्वप्रिय हुआ कि उसके वीरगीतों का प्रचार क्रमशः सारे उत्तरीय भारत में—विशेषतः उन प्रदेशों में जो कन्नौज साम्राज्य के अन्तर्गत थे, हो गया। जगनिक के काव्य का आज कहीं पता नहीं है। पर उसके आधार पर प्रचलित गीत हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तों के गाँव गाँव में सुनाई पड़ते हैं। ये गीत 'आल्हा' के नाम से प्रसिद्ध हैं और बरसात में गाये जाते हैं।"[1] जार्ज ग्रियर्सन जगनिक को भाट नहीं, बल्कि परमाल का भाँजा बताते हैं[2]। ग्रियर्सन का यह मत आल्हखण्ड के साक्ष्य पर आधारित है, क्योंकि उसमें जगनिक या जगनायक एक पात्र है जो परमाल का भाँजा है

१—हिंदी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आठवाँ संस्करण, सं० २००६, पृ० ५१।

२—द ले आव आल्हा—इन्ट्रोडक्शन बाई सर जार्ज ग्रियर्सन, पृ० ६।

और जो हरनागर नामक घोड़े पर सवार होकर आल्हा को मनाने के लिए मल्हना देवी का संदेश लेकर कन्नौज जाता है—

हरनागर घोड़े के ऊपर भैंने चढ़ा चन्देले क्यार।
(आल्हा का विवाह)

× × ×

यहै विचारत मल्हना रानी तुरतै बोलि लीन प्रतिहार।
तुरत बुलावा जगनायक का भैंने जौन चन्देले क्यार॥
(आल्हा मनावन)

आल्हखण्ड में जगनिक या जगनायक पात्र के रूप में तो अवश्य है, जैसे महाभारत में व्यास, रामायण में वाल्मीकि और रासो में चन्द बरदाई हैं। किन्तु महाभारत, रामायण और रासो में व्यास, वाल्मीकि और चन्द उन उन ग्रंथों के रचयिता भी कहे गये हैं। इसके विपरीत आल्हखण्ड में कहीं भी यह उल्लेख नहीं है कि इस काव्य का रचयिता भी वही जगनायक या जगनिक है जो इस काव्य का पात्र है। अनुश्रुति के अनुसार आल्हखण्ड का पात्र जगनिक परमाल का भाट था, भांजा नहीं। रासो के 'महोबा समय' तथा परवर्ती काव्य 'महोबा खण्ड' में भी जगनिक को भाट ही कहा गया है—

गहरवार गोयन्द भाट जगनिक ढिग बुल्लिय।
—महोबा समय—छन्द १२७।

जगनक भट्ट अबै घर जावहु। नगर महोबा लगे अभावहु।
—महोबा समय छन्द १८९।

संभवतः यही सत्य भी है। सामन्ती वीरयुग में राजाओं के दरबारी कवि चारण-भाट ही अधिक होते थे और वे युद्ध-भूमि में रण-कौशल का प्रदर्शन करने के अतिरिक्त दौत्य कार्य भी करते थे। आल्हखण्ड में जगनिक ये दोनों कार्य करता है। संभवतः उसकी वीरता को ध्यान में रख कर ही परवर्ती अल्हैतों ने उसका गौरव बढ़ाने के लिए उसे परमाल का भांजा कह दिया। अत. अनुश्रुति की बात ही अधिक संभव प्रतीत होती है। फिर भी इस संबध में निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि आल्हखण्ड के मूल रूप का रचयिता जगनिक ही था और यदि जगनिक ही था तो उसका जीवनवृत्त और रचना-काल क्या है? फिर भी आल्ह-खण्ड का रचयिता जगनिक माना जाता है, इतना यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि आल्हखण्ड लोकगाथात्मक काव्य होते हुए भी विशुद्ध लोकगाथा नहीं है क्योंकि विशुद्ध लोकगाथा के कर्ता का बिलकुल पता नहीं होता। अतः यह पूर्व-

कथित अनुमान अधिक उचित प्रतीत होता है कि आल्हखण्ड मूलतः किसी विशिष्ट कवि की रचना अवश्य है जो दरबारी वातावरण में सम्भवतः चन्देलों के प्रशस्ति-काव्य के रूप में लिखा गया था; परन्तु बाद में वह इतना लोकप्रिय हुआ कि अपना मूल रूप खोकर लोकगाथा बन गया। इस तरह वह अनेक युगों के अनगिनत आशु कवियों और गायकों की कृति है।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि यद्यपि आल्हखण्ड में लोकगाथा के अनेक तत्व हैं फिर भी वह लोकगाथा से आगे बढ़ा हुआ काव्यरूप है। आचार्य शुक्ल जी के मतानुसार वह लोकगाथाओं का समुच्चय या चक्र है। किन्तु वस्तुतः आल्ह-खण्ड लोकगाथा-चक्र से भी आगे बढा हुआ विकसनशील लोकमहाकाव्य है। किसी लोकप्रिय गाथा के प्रमुख पात्रों के जीवन से सम्बन्धित अनेक गाथाएँ विकसित होकर परस्पर जुड जाती हैं तो उनके समिलित स्वरूप को गाथा-चक्र कहा जाता है। उसी तरह कोई गाथाचक्र बहुत दिनों तक गाये जाते रहने से घिस-घिसा कर जब ऐसा रूप धारण कर लेता है कि उसके कथानक मे एकसूत्रता और अन्विति आ जाती है तो उसे लोकमहाकाव्य की संज्ञा दी जाती हे। निरन्तर विकास करते रहने से ही गाथा का रूपान्तर गाथाचक्र में और गाथाचक्र का रूपान्तर विकसनशील लोकमहाकाव्य में हो जाता है। इसी से डा० ग्रियर्सन ने सन् १८८५ में ही अपने एक लेख में आल्हखण्ड को लोकमहाकाव्य कहा था[1]।

आल्हखण्ड की प्राचीनता

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जगनिक के मूल ग्रन्थ का नाम 'परमालरासो' माना है। किन्तु "परमालरासो" का उल्लेख प्राचीन साहित्य में कहीं नहीं मिलता। "परमालरासो" के सम्बन्ध में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि "इस काल में पृथ्वीराजरासो के समान ही जगनिक लिखित परमाल रासो नामक एक ग्रन्थ का नाम मिलता है। कहते हैं कि कालिंजर के राजा परमाल (परमर्दिदेव) के यहाँ जगनिक नाम के एक भाट थे, जिन्होंने महोबे के दो देश प्रसिद्ध वीरों—आल्हा और ऊदल—के चरित्र का एक वीरकाव्य लिखा था[2]।" द्विवेदी जी ने 'आल्हा' या आल्हखण्ड के मूल रूप का नाम

1. ' Round the history of famous Bundelkhand heroes Alha and Uudal, an enormous cycle of folk epics has collected" The song of Alha's Marriage—A Bhojpuri Epic—by G. A. Grierson in Indian Autiquary—August, 1885, p. 299

२—हिन्दी साहित्य—ले० डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रथम संस्करण, १९५२ ई० पृ० ६५।

'परमालरासो' सम्भवतः शुक्ल जी के उल्लेख के आधार पर ही स्वीकार किया है क्योंकि शुक्ल जी के हिन्दी साहित्य के इतिहास के अतिरिक्त अन्यत्र शायद आल्ह-खण्ड का 'परमालरासो' नाम नहीं मिलता। प० भगीरथप्रसाद दीक्षित और डा० उदयनाराण तिवारी ने 'वीरकाव्यसंग्रह' की भूमिका में लिखा है कि "पृथ्वी-राजरासो में एक महोबा-खण्ड है। वह परमालरासो के नाम से भी प्रसिद्ध है।··· आल्हखण्ड की अपेक्षा परमालरासो में जगनिक का अच्छा वर्णन है।[1]" इससे यह पता चलता है कि 'वीरकाव्यसंग्रह' के सम्पादक-द्वय आल्हखण्ड का नाम 'परमालरासो' सही नहीं मानते। उनके अनुसार रासो का 'महोबा समय' ही परमालरासो है। निष्कर्ष यह कि यह बात सर्वथा प्रमाण रहित है कि परमाल के दरबारी भाट जगनिक ने परमालरासो नामक किसी ग्रन्थ की रचना की थी। अतः आल्हखण्ड के मूल रूप के रचना-काल, नाम और स्वरूप आदि के सम्बन्ध में विद्वानों के मत अनुमान पर ही आधारित हैं।

वस्तुतः हमारे पास अनुश्रुति के अतिरिक्त यह मानने का कोई प्रामाणिक आधार नही है कि आल्हखण्ड की रचना विक्रमीय तेरहवी शताब्दी के प्रारम्भ में हुई। आल्हखण्ड में परमाल और उसके सामन्त-सरदारों—आल्हा, ऊदल, मलखान, ताल्हन आदि—का वर्णन होने से ही यह नहीं सिद्ध हो जाता कि यह काव्य परमाल के समय में या उसके आसपास ही लिखा गया होगा। आल्ह-खण्ड की प्राचीन हस्तलिखित प्रति न मिलने से यह जानने का कोई उपाय नहीं है कि उसका मूल रूप कैसा था और कब लिखा गया था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का तो कहना है कि 'यदि यह ग्रथ साहित्यिक प्रबन्ध-पद्धति पर लिखा गया होता तो कहीं न कहीं राजकीय पुस्तकालयों में इसकी कोई प्रति रक्षित मिलती। पर यह गाने के लिए रचा गया था। इससे पंडितों और विद्वानों के हाथ इसकी रक्षा की ओर नहीं बढ़े[2]।' इस संबंध में मेरा निवेदन यह है कि आल्हखण्ड की प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ भले ही न मिलें और उसका उल्लेख और उद्धरण भी प्राचीन साहित्य में भले ही उपलब्ध न हो, परन्तु यह ग्रंथ अपने मूल रूप में बहुत पहले का लिखा हुआ है, इसका पता स्वयं आल्हखण्ड के मूल स्वर और वीरयुगीन भावना से ही चल जाता है। वस्तुतः आल्हखण्ड

१—वीरकाव्यसंग्रह; संपादक=प० भगीरथप्रसाद दीक्षित और प० उदय नरायण तिवारी; प्रयाग, सं० १९९७, पृ० ३८–३९।

२—हिन्दी साहित्य का इतिहास—ले० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आठवाँ संस्करण, पृ० ५१।

उत्तर-मध्य काल और आधुनिक काल की रचना किसी भी तरह हो नहीं सकता। उसमें व्यक्त भावनायें, उसके चरित्र और घटनाएँ स्वतः इस बात का प्रमाण है कि उसकी रचना सामन्ती वीरयुग में हुई होगी। उसमें सामन्ती वीरयुग की संस्कृति और प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति किस रूप में हुई है, इस संबंध में आगे विशेषरूप से विचार किया जायगा। यहाँ इतना ही कहना अभिप्रेत है कि आल्हखण्ड की रचना तेरहवीं शताब्दी के आसपास अवश्य हुई होगी और उसका मूल रूप लोकगाथा का नहीं बल्कि साहित्यिक प्रबन्धकाव्य का रहा होगा। हमारे इस मत का आधार निम्नलिखित बातें हैं:—

१—आल्हखण्ड कई सौ वर्षों से लोकगाथा के रूप में समस्त हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्रों में गाया जाता रहा है और रामायण-महाभारत के बाद उन क्षेत्रों में यही काव्य सबसे अधिक लोकप्रिय रहा है। सच पूछा जाय तो तुलसीकृत रामचरितमानस से भी अधिक उसका प्रचार सामान्य जनता में रहा है और आज भी है। इसकी लोकप्रियता देखकर ही सर्वप्रथम फर्रुखाबाद के कलक्टर चार्ल्स इलियटने सन् १८६५ मे तीन चार आल्हा गाने वालों को बुलाकर उनकी स्मरण शक्ति के सहारे इसे लिपिबद्ध कराया और उन्हीं की प्रेरणा से यह काव्य सर्वप्रथम फतेहगढ़ से श्री ठाकुरदास द्वारा मुद्रित और प्रकाशित हुआ। इसके पहले की आल्हखण्ड की कोई हस्तलिखित प्रति नहीं मिलती। उसी समय के आसपास ग्रियर्सन ने बिहार में और विनसेण्ट स्मिथ ने बुन्देलखण्ड में आल्हखण्ड के रूपान्तरों का संग्रह किया। ग्रियर्सन ने भोजपुरी प्रदेश में गाये जाने वाले आल्हा के रूपान्तर का अध्ययन किया और उसके एक खण्ड का अंग्रेजी गद्यानुवाद सन् १८८५ में इंडियन ऐण्टीक्वेरी में प्रकाशित कराया[1]। चार्ल्स इलियट ने ही पश्चिमोत्तर प्रान्त (वर्तमान उत्तर प्रदेश) के एकाउण्टेण्ट जेनरल श्री डब्ल्यू वाटरफील्ड का ध्यान अपने आल्हखण्ड के संग्रह की ओर आकर्षित किया जिसके फलस्वरूप वाटरफील्ड ने उसके कुछ भागों का अंग्रेजी के बैलेड छन्द में अनुवाद किया और १८७५–७६ ई० में कलकत्ता रिव्यू में प्रकाशित कराया[2]। बाद में सर जार्ज ग्रियर्सन ने इलियट द्वारा अनूदित आल्हखण्ड के भागों को अपनी भूमिका और शेष भागों के गद्यानुवाद के साथ सन् १९२३ में आक्सफोर्ड से 'द ले आव आल्हा' नाम से प्रकाशित कराया। इस तरह आल्हखण्ड के संग्रह,

1. The song of Alaha's marriage—a Bhojpuri epic, by G A Grierson, Indian Antiquary—Vol.XIV, 1885, p. 209, 255.

2. The nine lakh chain or the maro feud—by W waterfield, Calcutta Review—Vol. XII to XIII. 1875—76.

लेखन, प्रकाशन और अनुवाद का कार्य १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रारम्भ हुआ। उस समय (सन् १८६५) तक आल्हखण्ड में २३ लड़ाइयों का वर्णन था जिनकी संख्या अन्य छोटी लड़ाइयों को भी गिन लेने पर बढ़ कर ५२ हो जाती है। सारांश यह कि आल्हखण्ड का वर्तमान रूप १९वीं शताब्दी के मध्य-भाग में निर्मित हो चुका था और मुद्रण-प्रकाशन होने के बाद तो उसका विकास बहुत कुछ रुक सा गया। यह काव्य इतने बड़े भूभाग में लोककण्ठ में व्याप्त है कि यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि लोकगाथा रूप में इसका प्रचार, प्रसार और विकास कम से कम चार सौ वर्षों में हुआ होगा। इस आधार पर कहा जा सकता है कि सन् १८६५ के ४०० वर्ष पूर्व अर्थात् सन् १४०० ई० तक आल्हखण्ड के मूल रूप की रचना अवश्य हो चुकी होगी।

२—यद्यपि आज आल्हखण्ड प्रकाशित रूप में बाजारों, मेलों और सड़कों पर बिकता दिखाई पड़ता है किन्तु आज भी उसका मौखिक रूप में ही प्रचार अधिक है। कोई भी अल्हैत प्रकाशित ग्रंथ को सामने रख कर गान या पाठ नहीं करता। इससे यह तो स्वयं सिद्ध है कि आल्हखण्ड सच्चे अर्थ में लोक-गाथाओं का चक्र है किन्तु कई कारणों से ऐसा प्रतीत होता है कि उसका यह रूप प्रारम्भ से ही नहीं था। इसीलिए यह पहले ही कहा जा चुका है कि शुक्ल जी का यह मत सही नहीं प्रतीत होता कि "जगनिक का यह काव्य गाने के लिए ही रचा गया था। इससे पंडितों और विद्वानों के हाथ इसकी रक्षा की ओर नहीं बढ़े जनता ही के बीच इसकी गूँज बनी रही, पर यह गूँज मात्र है, मूल शब्द नहीं[1]।" उन्होंने लिखा है, "ये वीरगाथाएँ दो रूपों में मिलती हैं, प्रबन्धकाव्य के साहित्यिक रूप में और वीरगीतों (बैलेड्स) के रूप में साहि-त्यिक प्रबन्ध के रूप में जो सबसे प्राचीन ग्रंथ उपलब्ध है, वह है पृथ्वीराज-रासो। वीरगीत के रूप में हमें सबसे पुरानी पुस्तक वीसलदेव रासो मिलती है······जो रचना कई सौ वर्षों से लोगों में बराबर गायी जाती रही हो, उसकी भाषा अपने मूल रूप में नहीं रह सकती। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण आल्हा है जिसके गाने वाले प्रायः समस्त उत्तरीय भारत में पाये जाते हैं[2]।" इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शुक्ल जी के मतानुसार लोकगाथाएँ भी लिखी जाती हैं और गाने के लिए लिखी जाती हैं अर्थात् लोग उन्हें पढ़ कर सीखते और फिर

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास—ले० रामचन्द्र शुक्ल, आठवां संस्करण पृ० ५१।

२—वही, पृ० ३२।

गाते है। वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। लोकगाथा का सदैव सामूहिक या सामाजिक रूप में लोक-कण्ठ में विकास होता है, उसकी रचना नहीं होती। यदि शुक्ल जी यह मानते हैं कि जगनिक ने उसकी रचना तेरहवीं शताब्दी में की तो उन्हें यह भी मानना होगा कि उसके मूल रूप की रचना साहित्यिक प्रबन्ध काव्य के रूप में हुई होगी और यदि वे यह कहते हैं कि आल्हखण्ड लोकगाथा के रूप में प्रारंभ से ही विकसित हुआ तब उसे जगनिक का या किसी एक कवि का लिखा नहीं माना जा सकता। दोनों विरोधी बातें हैं जो एक ही साथ नहीं हो सकतीं।

पाश्चात्य देशों में नृतत्त्वशास्त्र, समाजशास्त्र तथा साहित्य के विद्वानों ने लोकगाथाओं का संकलन, अध्ययन और विवेचन करके यह पता लगाया है कि लोकगाथाओं के तीन मूल स्रोत है :—(१) प्राचीन पौराणिक, ऐतिहासिक और निजन्धरी आख्यान, (२) समसामयिक ऐतिहासिक घटना या महत्त्वपूर्ण पुरुष का निजन्धरी चरित, (३) कोई भी साहित्यिक प्रबन्ध काव्य जो बहुत लोकप्रिय हो। प्रथम दो स्रोतों से उद्भूत लोकगाथाओं का कोई कवि नहीं होता अर्थात् उनका विकास प्रारम्भ से ही समाज के सामूहिक योग द्वारा होता है किन्तु तीसरे प्रकार की लोकगाथाएँ प्रारम्भ में साहित्यिक प्रबन्ध काव्य के रूप में किसी कवि द्वारा रचित होती हैं। इंगलैंड के प्रसिद्ध लोकगाथाविद् श्री कोर्टहोप का तो कहना है कि प्रत्येक लोकगाथा किसी न किसी पूर्ववर्ती प्रबन्ध काव्य (नैरेटिव पोइट्री) या गद्याख्यायिका (नैरेटिव प्रोज) से ली गयी या उसका रूपान्तर होती है।[1] अंग्रेजी के प्रसिद्ध आलोचक और प्राचीन साहित्यवेत्ता प्रोफेसर डबल्यू० पी० केर इस मत को पूर्णतया नहीं स्वीकार करते। उनके मतानुसार बैलेड का विकास सामान्य जनता या लोक द्वारा होता है और इस काव्यरूप में लोकतत्व की प्रधानता रहती है, अतः किसी धार्मिक, पौराणिक, ऐतिहासिक या निजन्धरी घटना का लोक आख्यानक रूप गेय बन कर लोकगाथा के रूप में विकसित हो जाता है। यही बात किसी समसामयिक वीर या प्रसिद्ध व्यक्ति के संबध में भी होती है। उसका जीवन चरित निजन्धरी ऊँचाई तक पहुँच कर सामूहिक प्रयत्न से लोकगाथा का रूप धारण कर लेता है। हिन्दी में विहुला-विषहरी, गोपीचन्द, राजा भरथरी, लोरिकायन आदि लोकगाथायें उपर्युक्त दोनों श्रेणियों में आती हैं। इस प्रकार की गाथाएँ कभी कभी गाथाचक्र बनकर साहित्यिक प्रबन्धकाव्य या महाकाव्य का

१—फार्म एण्ड स्टाइल इन पोइट्री—बाई डबल्यू० पी० केर, पृ० ३३।

रूप धारण कर लेती हैं। श्री केर के मतानुसार श्री कोर्टहोप का उपर्युक्त कथन इसी अंश तक सही है कि पूर्ववर्ती साहित्यिक प्रबन्धकाव्यों और कथाआख्यायिका का भी लोकप्रियता के कारण कालान्तर में लोकगाथा में रूपान्तर हो जाता है और उन मूल काव्यों का लोप हो जाता है। वे कहते हैं, "दूसरी ओर कुछ लोकगाथायें ऐसी होती हैं जो निश्चय ही आख्यानक साहित्य का रूपान्तर होती हैं। इनमें से कुछ तो स्मृति में रखने योग्य होती हैं और कुछ इस योग्य नहीं होतीं। जो स्मरण शक्ति में सुरक्षित रखने योग्य नहीं होती उन्हें लोकगाथा नहीं कहा जा सकता। जो स्मरणीय होती हैं वे ही लोकगाथा कही जाने योग्य हैं, वे आख्यानक काव्य मात्र नहीं होतीं। "जब कोई ग्रंथ (प्रबन्धकाव्य) लोकगाथा में रूपान्तरित हो जाता है तो उसका सर्वथा नवीन रूप हो जाता है और बहुधा यह नया रूप ऐसा होता है जिसकी उसके मूल काव्य से तुलना करना ही व्यर्थ होता है, केवल उनकी कथा और विषयवस्तु की तुलना की जा सकती है[1]।'

लोकगाथा के उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी काव्य-ग्रंथ का कालान्तर में लोकगाथा बन जाना भी संभव है, यद्यपि अधिकतर लोकगाथाओं का स्वतंत्र विकास ही होता है। इसी सिद्धांत के आधार पर हमने ऊपर कहा है कि यद्यपि आल्हखंड आज एक गाथाचक्र या विकसनशील लोक महाकाव्य के रूप में दिखाई पड़ता है किन्तु वह अन्य लोकगाथाओं से भिन्न कोटि का है। यह भिन्नता इसी बात में है कि उसके कर्ता जगनिक कवि का नाम मिलता है और उसका मूल स्वर सामंती वीरयुग का है। इससे यह अनुमान होता है कि आल्हखंड सामन्ती वीरयुग में रचित किसी पूर्ववर्ती प्रबन्धकाव्य का लोकगाथात्मक रूपान्तर है। उसके मूल रूप के लोकप्रिय होने में कम से कम सौ-दो सौ वर्ष अवश्य लगे होंगे अर्थात् रचना के कम से

1—"There are some poems on the other hand which are certainly translormation of older narratives into something like ballad form some ballads are derived from older narrative literature, of these some are worth remembering and othrs not Teose that are worth remembering are worth it as ballads and not as mere narrative poems when a book is turned into a ballad the result is something new and after something which it is futile to compare with its original, except for the material in it."—Ibid, P, 34,

कम दो सौ वर्ष बाद ही मूल काव्य आल्हखण्ड नामक लोकगाथा के रूप में आया होगा। इस लोकगाथा का चक्र बनने और सुदूरवर्ती प्रान्तों में उसका प्रचार-प्रसार होने में भी तीन-चार सौ वर्ष अवश्य लगे होंगे। इस तरह आल्हखण्ड के मूल रूप की, जो संभवतः सामंती दरबारी वातावरण में निर्मित एक प्रबन्धकाव्य था, रचना का काल इसके संग्रह-काल (सन् १८६५) से छः सौ वर्ष पूर्व अर्थात् तेरहवीं शताब्दी माना जा सकता है। अतः शुक्ल जी का यह कथन तो सही है कि आल्हखण्ड के मूल रूप की रचना जगनिक या अन्य किसी कवि द्वारा वीरगाथा-काव्य के रूप में वीर काल या हिन्दी साहित्य के आदिकाल में हुई थी, किन्तु उनका यह मत कि आल्हखण्ड प्रारभ से ही लोकगाथा के रूप में रहा है, उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार सही नहीं प्रतीत होता।

२—आल्हखण्ड की प्राचीनता का एक सबसे बडा प्रमाण यह है कि उसी का एक रूपान्तर पृथ्वीराजरासो का महोबा खण्ड है। पिछले अध्याय में कहा जा चुका है कि रासो का बृहत् रूपान्तर सतरहवीं शताब्दी तक निर्मित हो चुका था। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का भी यही मत है कि रासो का वर्तमान रूप अधिक से अधिक १७वीं शताब्दी के मध्य में प्राप्त हुआ होगा।[1] इस बृहत् रूपान्तर में ही महोबा खण्ड प्राप्त होता है। अतः यदि महोबाखण्ड आल्हखण्ड का ही साहित्यिक रूपान्तर हो और चन्द की रचना कह कर क्षेपककारों ने उसे पृथ्वीराजरासो में मिला दिया हो तो यह निश्चित है कि रासो के बृहत् रूपान्तर के निर्माण के समय अर्थात् १७ वीं शताब्दी तक आल्हखंड का कोई न कोई रूप अवश्य निर्मित हो चुका था। किन्तु यह प्रश्न अवश्य विवादास्पद है कि रासो का महोबा समय जो निश्चय ही बारहवीं तेरहवीं शताब्दी का नहीं है, वस्तुतः आल्हखंड का साहित्यिक रूपान्तर है या स्वयं आल्हखंड महोबा खंड का लोकगाथा में रूपान्तर है अथवा दोनों ही का स्वतन्त्र रूप से रचना या विकास हुआ है। आल्हखंड के अनुवादक श्री वाटरफील्ड का मत है कि "निस्संदेह आल्हखंड, जैसा कि इसके नाम से ही पता चलता है, दिल्ली के राजा पृथ्वीराज के पराक्रम से सम्बन्धित १२ वीं शताब्दी के कवि चन्दबरदाई के महान् हिन्दी महाकाव्य पृथ्वीराज रासो का एक भाग (खंड) था।······ हिन्दी के विद्वानों को इस बात का निर्णय करना चाहिए कि आल्हखंड के मूल रूप का कितना अंश वर्तमान गायकों (अल्हैतों) द्वारा

१—हिंदी साहित्य; डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, आगरा, १९५२, पृ० ६०।

गावे जाने वाले आल्हखण्ड में दिखाई पड़ाता है[1]। सर जार्ज ग्रियर्सन वाटरफील्ड के इस मत को नहीं मानते। उनका कहना है कि "मैंने दोनों काव्यों को मिला कर देखा है और मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि ये दोनों स्वतंत्र काव्य-ग्रन्थ हैं। चन्द के महोबा समय की कथा दिल्ली दरबार का पक्ष लेकर लिखी गयी है और आल्हखण्ड में कन्नौज और महोबा का पक्ष लिया गया है[2]। इस तरह ग्रियर्सन यह मानते हैं कि न तो आल्हखण्ड महोबा समय का लोकगाथा में रूपान्तर है और न महोबा समय आल्हखण्ड का साहित्यिक रूपान्तर है; इसके विपरीत दोनों ही स्वतन्त्र रचनाएँ हैं। रासो के अधिकारी विद्वानों में बहुतों ने इस बात को स्वीकार किया है कि महोबा समय मूल रासो में नहीं था, वह परवर्ती क्षेपक है जो चन्दबरदाई का नाम देकर १७वी-१८ वी शताब्दी का लिखा प्रतीत होता है। उसमें आल्हा, ऊदल, जगनिक, परमाल आदि का विशद वर्णन और आल्हा ऊदल की वीरता की अधिक प्रशंसा की गयी है। इससे यह लक्षित होता है कि या तो महोबा समय पर किसी ऐसे काव्य का बहुत प्रभाव है जिसमें आल्हा ऊदल की बहुत प्रशंसा थी या वह चन्देलों के पक्ष में लिखे गये उस काव्य का या आल्हा ऊदल से सम्बधित लोकगाथा का कथानक में थोड़े से परिवर्तनों के साथ, साहित्यिक रूपान्तर है। रासो में अनेक लोकगाथाओं लोककथाओं और निजन्धरी आख्यानों के रूपान्तर अवान्तर और प्रासंगिक कथाओं के रूप में मिलते हैं। अतः यह असम्भव नहीं है कि परमाल और पृथ्वीराज से युद्ध की ऐतिहासिक घटना से सम्बन्धित किसी बुन्देलखण्डी प्रबन्ध काव्य या उसके आधार पर निर्मित अल्हखण्ड नामक लोकगाथा का ही रूपान्तर करके महोबा समय की रचना हुई हो। यह कार्य १७ वीं शताब्दी के बीच में कभी निर्मित हुआ होगा। महोबा समय के रूप में उसका रूपान्तर होने से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय तक पश्चिमी उत्तर प्रदेश और राजस्थान तक उसकी ख्याति पहुँच गयी होगी अथवा प्रचार हो गया होगा। अतः उसकी रचना उसके दो तीन सौ वर्ष पूर्व अवश्य हो चुकी होगी।

आल्हखण्ड की ऐतिहासिकता

यद्यपि आल्हखण्ड अपने वर्तमान रूप में ऐतिहासिक काव्य नहीं है, पर सामान्य जनता उसे इतिहास के रूप में ही स्वीकार करती है। उसके प्रधान

१—द ले आव आल्हा—विलियम वाटरफील्ड, इन्ट्रोडक्शन—आक्सफोर्ड, १९२३, पृ० ११। २—वही, पृष्ठ ११।

पात्रों में से कुछ तो ऐसे हैं जिनका इतिहास में उल्लेख मिलता है, कुछ ऐसे हैं जिनके नाम से संबद्ध कुछ मंदिर, भवन या स्थान आज तक उनकी याद दिलाते हैं और शेष पात्र बिलकुल काल्पनिक हैं। ऐतिहासिक काव्यों के संबंध में पिछले अध्यायों में विस्तार के साथ विचार किया जा चुका है और कहा जा चुका है कि इस देश में काव्य में इतिहास और कल्पना का मिश्रण करने की प्रथा बहुत पहले से रही है। सामान्य जनता तो निजन्धरी और कल्पित पात्रों तथा घटनाओं को भी ऐतिहासिक सत्य मानती ही है, ऐतिहासिक शैली के काव्यों और ऐतिहासिक लोकगाथाओं में इतिहास के साथ इस प्रकार कल्पना का मिश्रण होना बिलकुल स्वाभाविक है।

फिर भी आल्हखण्ड में ऐतिहासिकता का आभास अवश्य मिलता है। उसके तथ्य भले ही ऐतिहासिक न हों किन्तु उसका मूलाधार और पृष्ठभूमि अवश्य ऐतिहासिक हैं। यद्यपि आल्हखण्ड के नायक आल्हा और ऊदल हैं, पर उनके ऊपर महोबा के राजा परमाल या परमर्दि देव का ही शासन है, अतः एक प्रकार से इस काव्य के सर्वप्रधान पात्र या पात्रों में सर्वमान्य परमर्दिदेव ही हैं। दूसरे, प्रकारान्तर से चन्देल वंश और महोबा राज्य का गुणगान भी इसमें सबसे अधिक हुआ है। महोबा ऐतिहासिक स्थान है, सैकड़ों वर्षों तक वह बुन्देलखण्ड के चन्देलों की राजधानी थी। अतः महोबा को केन्द्रस्थल और परमर्दि को केंद्रीय पात्र मानकर निर्मित या विकसित काव्य का मूल आधार ऐतिहासिक है, इसमें संदेह नहीं किया जा सकता। इस काव्य में बारहवीं शताब्दी के उत्तर भारत के तीन बड़े राजाओं के पारस्परिक संबंधों, मित्रता, विवाह, युद्ध आदि का प्रधान रूप से वर्णन हुआ है। ये तीनों ही इतिहास प्रसिद्ध राजा थे। अजमेर और दिल्ली के पृथ्वीराज चौहान, काशी-कन्नौज के जयचन्द गहरवार और महोबा-कालिंजर के परमाल या परमर्दिदेव ऐतिहासिक पुरुष हैं। इनमें से जयचन्द का राज्य सबसे बड़ा और शक्तिशाली था। उसका राज्य पूर्व में काशी और पश्चिम में दिल्ली के पास तक था। अजमेर के चौहानों से जयचन्द का राज्य-विस्तार के प्रश्न को लेकर वैमनस्य था। महोबे का चन्देल वंश नवीं से ग्यारहवीं शताब्दी तक बहुत ही शक्ति संपन्न था। चन्देल वंश के अतिप्रसिद्ध राजा धंगराज के बनारस से प्राप्त हुए लेख से ज्ञात होता है कि इस वंश के आदि पुरुष नन्नुक ने सन् ८३१ में जेजाकभुक्ति (बुन्देलखण्ड) से परिहारों को भगाकर अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित किया था[1]।

१—इण्डियन ऐण्टिक्वैरी—भाग १, पृ० १३९।

इसकी राजधानी खजुराहो थी। उसके बाद इस वंश में राहिल (संवत् ८६० से ९१०) बहुत पराक्रमी राजा हुआ जिसने महोबा को अपनी राजधानी बनाया। महोबा के निकट राहिल्य सागर अब भी उसकी कीर्ति के चिह्न के रूप में वर्तमान है। राहिल के पराक्रम का वर्णन रासो में भी मिलता है। मदन वर्मा का पौत्र परमर्दि इसी चन्देल वंश का राजा था। जिसने ११६५ से १२०३ ई० तक राज्य किया। यही परमर्दि या परमाल आल्हा खण्ड का केंद्रीय पात्र है।

परमर्दि के बारे में इतिहास में अधिक बातें नहीं मिलती, डा० ईश्वरीप्रसाद का कहना है कि 'परमर्दि के सिंहासन पर आते ही चन्देलों और दिल्ली के चौहानों में बड़े घोर और लम्बे युद्ध छिड़ गये और सन् ११८२ में पृथ्वीराज ने उसे बिलकुल हरा दिया और उसके राज्यान्तर्गत सुदूरस्थ मदनपुर तक उसे खदेड़ता गया[1]।' आल्हखण्ड और महोबा समय के अनुसार तो परमाल इसी युद्ध के बाद मर गया था पर श्री विन्सेण्ट स्मिथ का कथन है कि परमाल चन्देल ११८२ के युद्ध में पराजित अवश्य हुआ था लेकिन उस समय मारा नहीं गया था। २० वर्ष बाद सन् १२०३ में कुतुबुद्दीन ऐबक ने जब कालिंजर पर हमला किया था तो परमाल ने उसका डट कर सामना किया और उसी समय मारा भी गया था और उसके मरने के बाद भी चन्देलों का छोटा सा राज्य बुन्देलखण्ड में बहुत दिनों तक रहा[2]। स्मिथ के मत से छपी प्रशस्तियों मे परमर्द्दिद का नाम कहीं नहीं मिलता न उसके नाम का कोई सिक्का ही मिला है किन्तु कनिंघम के अनुसार उसके सन् ११६७ और १०९३ के बीच के तीन लेख मिले हैं। कीलहार्न ने परमर्द्दिद के नाम के सात लेख बताये हैं जो सन् ११५७ से १२०१ के बीच के लिखे हैं[3]। 'वीरकाव्यसंग्रह' के संपादकों के अनुसार परमाल के समय का एक लेख बटेश्वर के विष्णु मंदिर में भी मिला है जिसे उसके मन्त्री सल्लक्षण ने खुदवाया था[4]। पं० गोरे लाल तिवारी ने लिखा है कि परमाल के समय के शिलालेख मदनपुर, अजयगढ़, खजुराहो, और महोबा में मिले हैं,

---

१—मध्ययुग का संक्षिप्त इतिहास—ले० डा० ईश्वरीप्रसाद, प्रयाग १९५२, पृ० २०-२१

२—हिस्ट्री आव बुन्देलखण्ड—बाई विन्सेण्ट स्मिथ, कलकत्ता रिव्यू, १८८१, पृ० २२।

३—हिन्दू भारत का अन्त—ले० सी०वी० वैद्य, सं० १९८५ पृ० २८२।

४—वीरकाव्यसंग्रह, भूमिका, संपादक—भगीरथप्रसाद दीक्षित और उदयनारायण तिवारी, पृ० ३७।

कालिंजर के नीलकण्ठ के मंदिर में उनके नाम का एक शिलालेख है जिसमें ये पंक्तियाँ आती हैं[1]।

अद्य श्रीपरमर्द्दिपार्थिवयशोराशेर्विकाशोदयाद्
वीजोच्छ्वासविदीर्णदाडिममिव ब्रह्माण्डमालोक्यते।

मदनपुर में पृथ्वीराज के सं० १२३९ के लिखवाये तोन लेख प्राप्त हुए हैं जिनसे यह प्रमाणित होता है कि सं० १२३९ में उसका परमाल से युद्ध हुआ था[2]।

उपर्युक्त लेखो से यह सिद्ध होता है कि आल्हखण्ड के अन्तिम युद्ध की घटना जो इस काव्य की सबसे प्रमुख और महत्त्वपूर्ण घटना है, ऐतिहासिक सत्य है। किन्तु परमाल के जीवन के बारे में इतिहास इससे कुछ अधिक नही बताता है। श्री चिन्तामणि वैद्यने उपर्युक्त लेखों के आधार पर यह लिखा है कि परमर्द्दि बड़ा दानी था और विद्वानों का बहुत संमान करता था[3]। परमाल का वृत्तान्त इतिहास में भले ही कम मिले किंतु लोक-स्मृति में उसके जीवनवृत्त की बहुत सी बातें सुरक्षित हैं। बुन्देलखण्ड की जनता चन्देलों में सबसे अधिक परमाल को ही जानती है और यह जानकारी बहुत आल्हखण्ड से होती है। किन्तु परमाल का जो वृत्तान्त महोबा समय और आल्हखंड में मिलता है वह वस्तुतः निजन्धरी है, ऐतिहासिक नहीं। प्राचीन साहित्य में भी कुछ जगहों पर परमर्द्दि का उल्लेख मिलता है। पुरातन प्रबन्धसंग्रह के जयचन्द प्रबन्ध में एक कथा दी गयी है जिसमें लिखा है कि परमद्दि के 'कोपकालाग्निरुद्र' 'अबन्ध्यकोप प्रसाद' 'रायद्रह बोल' आदि अनेक विरुद धारण करने के कारण रुष्ट होकर जयचन्द ने उस पर आक्रमण कर दिया और वर्ष भर तक घेरा डाले पड़ा रहा। अन्त में परमर्द्दि के महामात्य मल्लदेव के एक श्लोक के प्रभाव से जयचन्द के मंत्री विद्याधर ने अपनी सेना पीछे हटा ली[4]। इसी प्रकार प्रबन्धचिन्तामणि में भी जगद्देव क्षत्रिय की कथा में कहा गया है कि परमर्द्दिदेव वीरों का इतना संमान करते थे कि उन्होंने जगद्देव नामक एक वीर क्षत्रिय को दूसरे राजा के दरबार से बुलवा

१— बुन्देलखण्ड का संक्षिप्त इतिहास—ले० पं० गोरेलाल तिवारी, काशी-सं० १९९० पृ० ५२।

२—वही, पृ० ६८।

३—हिन्दू भारत का अन्त—ले० सी० वी० वैद्य, पृ० २८३।

४—पुरातन प्रबन्धसंग्रह, जयचन्द-नृपवृत्तम्, संपादक-मुनिजिनविजय, कलकत्ता १९३७, पृ० ९०।

कर सम्मान प्रदान किया और एक प्रान्त का अधिकारी बना दिया। जिस समय जगद्देव परमाल की सभा में पहले पहुंच गया, वहाँ एक वेश्या नंगी होकर पुष्पचयन नृत्य कर रही थी। जगदेव को देखकर वह चादर ओढ़ कर बैठ गयी। कारण पूछे जाने पर उसने बताया कि 'संसार के एकमात्र पुरुष श्री जगदेव अब यहाँ विद्यमान हैं, इसलिए उनके सामने बिना वस्त्र के नाचने में मैं लजाती हूँ। स्त्रियाँ स्त्रियों के सामने ही यथेष्ट चेष्टा कर सकती हैं।' इसी प्रबन्ध में कुछ बातें और भी कही गयी हैं:-१-परमर्दि की रानी ने जगद्देव को अपना भाई मान लिया था, २—राजा परमर्दि जगत में एक उदाहरणभूत परम ऐश्वर्य का अनुभव करता हुआ दिन रात अपने ओज का प्रकाश करने वाला छुरिका-अभ्यास करता था और भोजन के अवसर पर नित्य एक रसोइये का संहार करने के कारण उसका विरुद कोपकालानल था, ३—उसका सपादलक्ष के राजा पृथ्वीराज के साथ युद्ध हुआ जिसमें हारने पर भाग कर वह अपनी राजधानी में चला गया। ४—परमर्दिदेव एक स्वतन्त्र साम्राज्य का अधिपति था और कवि लोग उसकी प्रशंसा में कविता लिखते थे। उसने अनेक प्रकार की स्तुतियों से स्तूयमान होकर बहुत दिनों तक साम्राज्य-सुख का अनुभव किया।[1]

उपर्युक्त कथाओं से स्पष्ट है कि प्रबन्धचिन्तामणि और पुरातन प्रबन्धसंग्रह के प्रबन्धों के रचना-काल तक परमर्दि के जीवन और कीर्ति से सम्बन्धित बातें दूर दूर तक फैल चुकी थीं। प्रबन्धचिन्तामणि की रचना मेरुतुङ्ग ने सं० १३६१ में की थी और पुरातन प्रबन्धसंग्रह में जिस 'जी' (G) संज्ञक मूलप्रति से उक्त जगद्देव-प्रबन्ध लिया गया है उसकी प्रतिलिपि फीरोजशाह के राज्यकाल में सं० १४०७ के बाद की गयी थी[2]। डा० बूलहर, प्रो० पीटर्सन, प्रो० सी० एच० टानी और फार्बस प्रभृति विद्वान प्रबन्धचिन्तामणि को ऐतिहासिक ग्रंथ मानते थे। किन्तु वस्तुतः प्रबन्धचिन्तामणि और पुरातन प्रबन्धसंग्रह के प्रबन्धों की सभी बातें ऐतिहासिक नहीं हैं। उनमें सुनी सुनाई बातों का संग्रह ही अधिक है जैसा मेरुतुंग ने स्वयं अपनी अन्तिम प्रशस्ति में कहा है :—

यथाश्रुतं संकलितः प्रबन्धैर्ग्रन्थो मया मन्दधियापि यत्नात्।
मात्सर्यमुत्सार्य सुधीभिरेष प्रज्ञाधुरैरुन्नतिमेव नेयः॥

ग्रन्थकारस्य प्रशस्तिः —३
(प्रबन्धचिन्तामणि—१२५)

१—प्रबन्धचिन्तामणि, सम्पादक—मुनि जिनविजय, शान्तिनिकेतन सं० १९८९, पृ० ११४-१६

२—पुरातन प्रबन्धसंग्रह-प्रास्ताविक वक्तव्य-संपादक मुनि जिनविजय, पृ० १८।

इसी तरह पुरातन प्रबन्ध संग्रह के 'जी' संज्ञक प्रबन्धों के सम्बन्ध में मुनि जिनविजय जी ने लिखा है, "यह एक प्रकार का पुरानी कथा वार्ता विषयक संक्षिप्त टिप्पणी का प्रकीर्ण संग्रह मात्र है जो किसी विद्वान ने अन्यान्य ग्रंथों में पढकर या अन्य जनों के मुख से सुन कर निज की स्मृति के लिए लिख लिया है[1]। इस तरह ये प्रबन्ध यद्यपि अनुश्रुति पर अधिक आधारित हैं पर उनमें बहुत सी बातें इतिहास संमत अवश्य हैं। परमर्दिदेव से संबंधित जो बातें उनमें कही गयी हैं उनमें भी ऐतिहासिकता अवश्य होनी चाहिए यद्यपि उनमें कुछ बातें अनुश्रुति मूलक ही अधिक हैं। उपर्युक्त विवेचन के फलस्वरूप हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं:--

१ — परमर्दि ऐतिहासिक व्यक्ति है जिसने दीर्घकाल तक शासन किया था।

२—वह जयचन्द का करदाता सामन्त नहीं बल्कि स्वतन्त्र साम्राज्य का अधिपति था। 'कोपकालाग्निरुद्र', 'अबन्ध्यकोपप्रसाद' आदि उसकी अनेक उपाधियाँ थीं।

३—जयचन्द ने उस पर एक बार आक्रमण किया था किन्तु बाद में उनसे उसका मैत्री सम्बन्ध स्थापित हो गया था।

४—वह सम्भवत. अधिक वीर नहीं था, इसके विपरीत वह विलासी और कायर था, उसके दरबार में वेश्यायें नग्न होकर नृत्य करती थीं।

५—वह वीरों का सम्मान करता था और दूसरे राजाओं के वीर सामन्तों को बुलाकर अपने यहाँ रखता था। संभवतः इसका कारण यह था कि वह स्वयं युद्ध से डरता और इसीलिए अपने सामन्त वीरों का ही भरोसा करता था।

६—वह काव्यप्रेमी था, उसका महामात्य मल्लदेव स्वयं कवि था। कवि लोग उनको प्रशंसा में प्रशस्ति काव्य लिखते थे और इस तरह काव्य स्तुतियों से 'स्तूयमान होकर उसने चिरकाल तक सुखपूर्वक शासन किया।

७—उसकी पत्नी भी शासन कार्य में अवश्य हाथ बँटाती थी और वीरों से वह स्वयं भाई-भतीजे का-सा व्यवहार करती थी।

८— परमर्दि बहुत क्रोधी, क्रूर और ईर्ष्यालु था, जगद्देव से उसकी वीरता के कारण ईर्ष्या करता था और रसोइयों की संभवतः विष देने के भय से हत्या करता था।

९ — पृथ्वीराज से उसका युद्ध हुआ था जिसमें वह पराजित होकर भाग गया और अपनी राजधानी कालिंजर में जाकर छिपा था।

१—पुरातन प्रबन्धसंग्रह, प्रास्ताविक वक्तव्य, पृ० १६।

१०—शिलालेखों से इस बात की पुष्टि होती है कि पृथ्वीराज से उसका युद्ध सन् ११८२ में हुआ था जिसमें वह पराजित हुआ था पर उसके बाद भी कालिंजर में वह शासन करता रहा और सन् १२०३ में कालिंजर पर मुसलमानी आक्रमण के समय उसकी मृत्यु हुई थी।

आल्हखण्ड में वर्णित घटनाओं और बातों को उपर्युक्त तथ्यों से मिलाकर देखने से पता चलता है कि आल्हखण्ड की बहुत-सी बातें उपर्युक्त बातों से मिलती हैं। यदि प्रबन्धचिन्तामणि और पुरातन प्रबंधसंग्रह की बातों को ऐतिहासिक तथ्य माना जाय तो आल्हखड की अनेक बातें ऐतिहासिक हैं। उपर्युक्त दोनों प्रबन्ध ग्रंथों की रचना परमाल की मृत्यु के १००-१५० वर्ष के भीतर ही हुई थी, अतः उनमें अनुश्रुति होते हुए भी ऐतिहासिकता अधिक होनी चाहिए।

इतिहास और प्राचीन साहित्य के साक्ष्य के आधार पर तो आल्हखण्ड में केवल उपर्युक्त बातें ही ऐतिहासिक मालूम पड़ती हैं। शेष बातें या तो परवर्ती काल की निजन्धरी कथाओं और अनुश्रुति की देन हैं या अल्हैतों की कल्पना की उपज हैं। वस्तुतः इस काव्य को इतिहास की दृष्टि से देखना भी नहीं चाहिए क्योंकि जब इसका लिखित रूप कभी था ही नहीं तो इतिहास के तथ्यों का उसमें सुरक्षित रहना भी सम्भव नहीं था। यही कारण है कि उसमें अनैतिहासिक तत्त्वों की भरमार है। इस सम्बन्ध में ग्रियर्सन का यह कथन सर्वथा सत्य है, "यह बात ध्यान में रखने की है कि आल्हखण्ड में जो कुछ भी कहा गया है वह इतिहास नहीं बल्कि निजन्धरी आख्यान हैं, और वह निजन्धरी आख्यान मात्र नहीं हैं बल्कि उसमें बहुधा परस्पर विरोधी बातें भी कही गयी हैं। उसमें प्रमुख पात्र तो ऐतिहासिक हैं किन्तु उनके साहस और पराक्रम के कार्य, जो आल्हखण्ड में वर्णित हैं, ऐतिहासिक सत्य नहीं हैं"[1]। आल्हखण्ड में अन्तिम युद्ध में परमाल के सभी सेनापति मार डाले जाते हैं, आल्हा और ऊदल कजरी बन में चले जाते हैं और परमाल अपना राज छोड़ कर गया की ओर भाग जाता है जहाँ उसकी मृत्यु हो जाती है। किन्तु इतिहास के अनुसार परमाल इस युद्ध के बाद भी जीवित रहा और सन् १२०३ में कालिंजर पर कुतुबुद्दीन के आक्रमण के समय उसकी मृत्यु हुई और उसके बाद उसका पुत्र त्रैलोक्य वर्मा कई वर्षों तक बुन्देलखण्ड में राज्य करता रहा। सन् ११८२ और सन् १२०३ के बीच के परमर्दि के कई लेख भी मिले हैं

१—लिंग्विस्टिक सर्वे आव इण्डिया, भाग ६, पार्ट फर्स्ट—जार्ज ग्रियर्सन, पृ० ४६५।

जिनसे उसका जीवित रहना प्रमाणित होता है। इसी तरह इतिहास में परमर्दि की जो वंशावली मिलती है उससे आल्हखण्ड की वंशावली बिलकुल भिन्न है[1]। इस प्रकार आल्हखण्ड में अधिकांश बातें ऐसी हैं जो इतिहास के विरुद्ध जाती हैं। उसके अनुसार परमर्दि की राजधानी पहले चन्देरी में थी और महोबा का राजा वासुदेव नामक परिहार था जिसकी पुत्री मल्हना से विवाह करने के बाद उन्होंने महोबा पर बलपूर्वक अधिकार कर लिया। किन्तु इतिहास के अनुसार चन्देलों की राजधानी चन्देरी में कभी नहीं थी और महोबा परमाल के बहुत पहले से उनकी राजधानी थी, कीर्तिवर्मा, और मदनवर्मा के बनवाये अनेक तालाब और भवन वहाँ अब भी हैं। आल्हखण्ड के अनुसार परमाल का पुत्र ब्रह्मा था और उसका विवाह पृथ्वीराज की पुत्री बेला से हुआ था। इतिहास के अनुसार परमाल का पुत्र त्रैलोक्य वर्मा था, पृथ्वीराज के न कोई बेला नामक पुत्री थी और न उसका परमाल के पुत्र से विवाह ही हुआ था। आल्हखण्ड में परमाल को सारे भारत की विजय करने वाला भी कहा गया है जो बिलकुल अनैतिहासिक बात है। इसी तरह उसमें जयचन्द के पिता, भाई और भतीजे तथा पृथ्वीराज के पुत्रों के जो नाम दिये गये हैं वे इतिहास की दृष्टि से सही नहीं हैं। आल्हखण्ड में जिन प्रमुख २३ युद्धों का वर्णन है उनमें से एक या दो को छोड़कर शेष ऐतिहासिक नहीं हैं, वे सब मनगढ़न्त और लोक कल्पना की उपज हैं। उसमें वर्णित पात्रों और स्थानों में कुछ तो ऐतिहासिक हैं किन्तु अन्य पात्र और स्थान कल्पित ही हैं। पात्रों में परमाल, पृथ्वीराज और जयचन्द तो इतिहास प्रसिद्ध हैं किन्तु शेष में से आल्हा, ऊदल, चौंड़ा, मलखान, सुलखान, चौंड़ा (चामुण्ड) जैसे कुछ पात्र इतिहास में ज्ञात न होते हुए भी ऐतिहासिक प्रतीत होते हैं। कहा जाता है कि आल्हा का बनवाया हुआ शारदा देवी का मन्दिर मैहर से तीन मील पश्चिम एक पहाड़ी की चोटी पर आज भी वर्तमान हैं। यह बनाफर वंश की इष्ट देवी कही जाती हैं। मदनपुर के एक मन्दिर में एक शिलालेख है जिसमें आल्हा का उल्लेख है। वह लेख यह है :—

ओं सं० १२३९ श्रावण बदी १, विकारपथ के महाराज पुत्र श्री आल्हन देव आदित्य मासं प्रतिदत्त…"

बटेश्वर के मन्दिर के लेख से सुलक्षण (सुलखान)[2] का होना भी सिद्ध

१—आल्हा (आल्हा की कथा) ले० चतुर्वेदी द्वारिका प्रसाद शर्मा, प्रयाग १००, पृ० १।

२—पृथ्वीराजरासो और आल्हखण्ड—ले० गौरीशंकर द्विवेदी शेखर, संगम-प्रयाग,

होता है जो आल्हखण्ड में मलखान का भाई कहा गया है। इसी तरह चौंडा, लाखनराना, जगनिक आदि कुछ पात्र अर्द्ध ऐतिहासिक व्यक्तित्व प्रतीत होते हैं। स्थानों में महोबा, कालिंजर, कन्नौज, दिल्ली, सिरसा, उरई, कालपी, जाजामऊ, विठूर, चन्देरी, मांडौगढ़, गोरखपुर, दसपुरवा, बनारस, आजमगढ़ आदि तो प्राचीन नगर अवश्य हैं किन्तु उनमें आल्हखण्ड की कोई ऐतिहासिक घटना घटित हुई या यों ही उनका नाम कथा में जोड़ दिया गया है, निश्चित रूप से इस सबंध में कुछ नहीं कहा जा सकता। शेष स्थान जैसे नैनागढ़, पथरीगढ़, विरिया, गाँजर, बंगाल का बूँदी आदि कल्पित हैं। बलख बुखारा और कामरू-कमच्छा प्राचीन स्थान होते हुए भी मध्यदेश से इतनी दूरी पर स्थित हैं कि उनका आल्हखण्ड में घटनास्थल बनना स्पष्ट ही कल्पना की देन है। वस्तुतः बलख-बुखारा और कामरू-कमच्छा का नाम १५ वीं शताब्दी के बाद के लोककथात्मक प्रेमाख्यानक काव्यों में रूढ़िरूप में गृहीत होने लगा जैसे अपभ्रंश काव्यों में सिंहल का नाम आता है। आल्हखण्ड में सिंहल के साथ उपर्युक्त नामों का आना यह सिद्ध करता है ये कथाएँ १५ वीं शताब्दी के बाद आल्हखण्ड में जुड़ी हैं।

आल्हखण्ड के विकास की अवस्थाएँ

जैसा पहले कहा जा चुका है, मूल आल्हखण्ड की रचना परमाल या उसके वंशज के किसी दरबारी कवि द्वारा- चाहे उसका नाम जगनिक हो या और कुछ—साहित्यिक प्रबन्धकाव्य के रूप में सामन्ती वीरयुग में ही हुई होगी। उसके बाद से उस काव्य को अपना वर्तमान रूप प्राप्त करने तक किन किन अवस्थाओं से होकर गुजरना पड़ा होगा, इसका पता लगाना अत्यंत कठिन है। अनुमानतः उसके विकास की ये चार अवस्थायें रही हैं :—

१—आल्हखण्ड का मूलरूप—इस अवस्था में इस काव्य का क्या रूप था, यह जानने का कोई उपाय नहीं है। यह अवश्य प्रमाणित किया जा चुका है कि जैसे रासो अपने मूल रूप में एक लघु साहित्यिक प्रबन्धकाव्य था और धीरे धीरे उसने बृहत् आकार धारण कर लिया; आल्हखण्ड भी उसी तरह प्रारंभ में एक लघु काव्य रहा होगा। यह एक अनुमानित स्थापना है अतः इसके सम्बन्ध में अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि विकास की पहली अवस्था में आल्हखण्ड बुन्देलखण्ड में लोकप्रिय साहित्यिक प्रबन्धकाव्य रहा होगा, दरबारी चारण-भाटों ने उसे पहले कंठस्थ किया होगा और बाद में वह लोक में मौखिक रूप में प्रचलित हुआ होगा।

२—लोकगाथा में रूपान्तर—विकास की दूसरी अवस्था में आल्हखण्ड का साहित्यिक प्रबन्धकाव्य से लोकगाथा में रूपान्तर हो गया। संभवतः १४०० ई० के बाद जब उत्तर भारत में राजपूत राजाओं की शक्ति क्षीण हो गयी और राजदरबारों में साहित्य को संरक्षण मिलने का अवसर नहीं रह गया तो साहित्य-धारा लोकोन्मुख हुई। फलतः भक्त और सन्त कवियों का उदय हुआ और पूर्ववर्ती वीरगाथात्मक साहित्यिक रचनाओं में जो अधिक शक्तिशाली थीं, उन्हें लोककठ में आश्रय मिला। अत्यंत अराजकतापूर्ण राजनीतिक परिस्थितियों· वाले मध्यदेश में आदिकालीन लोकभाषा के काव्यो की हस्तलिखित प्रतियों के न मिलने का यही रहस्य है। अतः भक्तिकाल में एक ओर तो भक्तिपरक काव्य की रचना लोकोन्मुख और धर्माश्रित कवियों द्वारा होती रही, दूसरो ओर सामान्य जनता अपनी वीरता की भावना को तुष्टि वीरभावना से युक्त लोक-गाथाओं द्वारा करती रही। इस तरह १४०० ई० से १६०० ई० के बीच आल्हखण्ड अपने मूल साहित्यिक रूप से लोकगाथा में रूपान्तरित हुआ। यह स्थापना भी अनुमान पर ही आधारित है, इसका कोई प्राचीन उल्लेख नहीं मिलता कि उस काल में लोकगाथा के रूप में आल्हखण्ड का प्रचार था ही। आल्हखण्ड के कुछ पात्रों और घटनाओं का उल्लेख पुरातन प्रबन्धसंग्रह और प्रबन्धचिन्तामणि में हुआ है, इसी से अनुमान होता है कि लोकगाथा या अनुश्रुति रूप में वे बातें उस काल में प्रचलित थीं जिन्हें उपयुक्त प्रबन्धों में ले लिया गया है।

यह कहना तो अत्यंत कठिन है कि आल्हखण्ड का जो तत्कालीन प्रचलित रूप था, उसमें वर्तमान आल्हखण्ड का कितना अंश था, किन्तु इसमें कोई संदेह नही की वर्तमान आल्हखण्ड की बहुत सी कथायें और घटनायें उसमें नहीं रही होंगी। उसमें पृथ्वीराज और परमाल के युद्ध की घटना का ही वर्णन रहा होगा। अतः उसका आकार बड़ा नहीं होगा। ऐसा मानने के दो कारण हैं; एक तो यह कि वर्तमान आल्हखण्ड में बहुत से ऐसे स्थानों और ऐसी बातों का वर्णन है जिनका अस्तित्व चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी के पहले था ही नहीं। उदाहरणार्थ, मांडौ के किले का निर्माण अलाउद्दीन खिलजी के समय में हुआ था[1] और उसकी विशेष ख्याति १५ वीं शताब्दी में मांडू के नवाबों के समय में हुई थी। अतः मांडोगढ़ की लड़ाई की कथा सन् १३०० से १५०० ई० के बीच की जोड़ी हुई है। इसी तरह सैयद और मीर ताल्हन को बनारस का

१—वीरकाव्यसंग्रह, भूमिका, सं० डा० उदयनारायण तिवारी और भगीरथप्रसाद दीक्षित, पृ० ४०।

रहने वाला मुगल कहा गया है। मुगल सबसे पहले तैमूरलंग के साथ १३९९ ई० में भारत में आये, और बनारस तक तो बाबर के आने के बाद ही पहुँचे होंगे। अतः बनाफर वंश के दस्सराज और मीर तावहन के झगड़े और परमाल के यहाँ उनके नौकरी पाने की कथा भी १४०० से १५५० ई० के बीच या उससे भी बाद की जोड़ी प्रतीत होती है। आल्हखण्ड के प्रारंभ में ही संयोगिताहरण की कथा दी गयी है। यह कथा स्पष्ट ही १५ वीं-१६ वीं शताब्दी की अनुश्रुति और पृथ्वीराजरासो की कथा से ली गयी प्रतीत होती है। उसी तरह आल्हा निकासी के बाद जयचन्द की ओर से आल्हा-ऊदल के समस्त उत्तर-पूर्वी भारत के राजाओं की विजय और विभिन्न युद्धों का जो विस्तृत वर्णन वर्तमान आल्हखण्ड में मिलता है, वह बहुत परवर्ती है क्योंकि वह बिलकुल काल्पनिक है, ऐतिहासिकता उसमें रत्तमात्र भी नहीं है। इस प्रकार चौदहवीं से सोलहवीं शताब्दी के बीच आल्हखंड का एक अर्द्धऐतिहासिक और निजन्धरी लोकगाथा के रूप में विकास और समस्त उत्तर भारत में प्रचार हुआ, यह अनुमान निराधार नहीं प्रतीत होता।

३—विकास की तीसरी अवस्था-साहित्यिक रूपान्तर (१६०० से १८००ई०)

महोबा समयो—विकास की तीसरी अवस्था में आल्हखंड का लोकगाथा से फिर साहित्यिक प्रबन्धकाव्य में रूपान्तर हुआ। यह रूपान्तर पृथ्वीराजरासो का महोबा समयो और परमालरासो नाम से प्रचलित एक अन्य महोबाखंड है। इस सम्बन्ध में पहले ही कहा जा चुका है कि महोबाखंड की रचना १७६० ई० तक हो चुकी थी क्योंकि उसी बीच रासो की बृहत् वाचना का रूप निर्मित हुआ। अमरसिंह के समय में जब रासो के बिखरे अंशों का संग्रह किया जाने लगा तो राजस्थान के भाँटों में आल्हखंड की विख्यात लोकगाथा के आधार पर पृथ्वीराज और परमाल के युद्ध का जो वर्णन मौखिक रूप से प्रचलित था उसे भी संगृहीत कर लिया गया होगा। 'महोबा समय' के संबंध में पृथ्वीराज रासो के सपादक श्री मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या ने लिखा है, 'इस समय की घटना का सम्बन्ध तो पृथ्वीराज के जीवनचरित से अवश्य है पर अनेक कवियों ने इस कथा के वर्णन में अपनी कवित्वशक्ति दिखाई है पर नाम अपना न देकर चन्द वरदाई का ही दिया है। इसलिए इस 'समय' के चन्द की रचना होने में संदेह है। अतएव यह अन्त में दिया जाता है[१]।' इसमें पंड्या जी ने यह नहीं बताया है कि किस काल में महोबा समय की रचना हुई पर इतना

१—पृथ्वीराजरासो (प्रकाशित तीसरा भाग)—संपादक, मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या आदि, नागरीप्रचारिणी सभा, सन् १९१२, पृ० २५०७।

उन्होंने भी माना है कि वह परवर्ती रचना है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि चार्ल्स इलियट आल्हखंड को महोबा समय का ही पूर्वी रूपान्तर मानते हैं और ग्रियर्सन दोनों को स्वतंत्र रचना मानते हैं। परन्तु सच यही प्रतीत होता है कि महोबा समय ही आल्हखड का साहित्यिक रूपान्तर है। इस कथन के समर्थन में पंड्या जी का यह कथन उल्लेख्य है, "महोबा युद्ध-समय की घटना कदापि सदिग्ध नहीं हो सकती, सदिग्ध है इस 'समय' की कविता। रासो के अन्य समयों से इस समय की कविता बिलकुल भिन्न है। आल्हा-ऊदल का पराक्रम और चंदेलों की प्रभुता दिखाने के लिए इस समय पर किसी बुन्देलखंडी कवि ने विशेष कृपा की है[1]।"

इस कथन से हमारा इतना ही विरोध है कि यह किसी बुन्देलखडी कवि की नहीं बल्कि किसी राजस्थानी कवि की कृपा है। बुन्देलखंडी कवि की कृपा होती तो महोबा समय में पृथ्वीराज का पक्ष नहीं लिया गया होता और न उसका इतना पराक्रम ही दिखाया गया होता। अतः वस्तुतः किसी राजस्थानी चारण या भाँट द्वारा ही आल्हखंड की तत्कालीन लोकगाथा का पृथ्वीराज के पक्ष में साहित्यिक रूपान्तर हुआ। मूल रासो में महोबा के युद्ध का उल्लेख मात्र था। इस सम्बन्ध में श्री मूलराज जैन ने लिखा है, 'लघुवाचना में महोबा वाली घटना का उल्लेख मात्र ही है, परन्तु बृहत् वाचना में यह एक पूर्ण 'समय' लेती है और इसे कई खंडों वाले ग्रंथ का आकार मिला, जिसके रचयिता के रूप में चन्दवरदाई का ही नाम लिया जाता है। संभव है कि इसमें चन्द का एक भी शब्द न हो क्योंकि इसकी भाषा बहुत अर्वाचीन है[2]।' श्री जैन ने लघु वाचना से महोबा (कालिंजर) वाली घटना से सम्बन्धित जो छन्द उद्धृत किया है वह यह है :—

आरन्नी अजमेरि धुम्मि धवनी कंमंडि नंडोवरं।
भोरा रा मुर मुंड दंड दवनों अग्गी चविष्टं करं॥
रत्यं भं थिर थंभ सीस अहरं नि जल जुष्टं कालिंजर।
क्रिप्पानं चहुंवान जान धवयो धर्नोपि गोरी धरा॥

—रासो--लघुवाचना-समय ६, पद्य ५६।

इससे इतना तो स्पष्ट है कि मूल पृथ्वीराजरासो में पृथ्वीराज और परमाल के युद्ध का वर्णन विस्तार के साथ अलग 'समय' के रूप में नहीं था,

---

१—पृथ्वीराजरासो (प्रकाशित तीसरा भाग) नागरी प्रचारिणी सभा, पाद टिप्पणी, पृ० ४५७।

२—पृथ्वीराजरासो की विविध वाचनाएँ—लेखक श्री मूलराज जैन, प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० १३२।

बाद में जब बुन्देलखण्ड और अन्य प्रान्तों में आल्हखण्ड का लोकगाथा के रूप में या उक्त घटना का अनुश्रुति के रूप में बहुत अधिक प्रचार हुआ तो रासो को कण्ठस्थ करने वाले चारण-भाट कवियों ने अपनी ओर से उक्त युद्ध का विस्तार के साथ काव्यात्मक वर्णन लिख कर चन्द के नाम से प्रचलित कर दिया। प्रकाशित रासो में ६९ वें समय के रूप में जो 'महोबा समयो' दिया हुआ है उसके बारे में रासो के सम्पादकों ने यह नहीं लिखा है कि उन्होंने उसे किस हस्तलिखित प्रति से लिया है। पं० मोतीलाल मनोरिया के सम्पादकत्व में प्रकाशित 'राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज' (प्रथम भाग) में रासो की जिन ९ हस्तलिखित प्रतियों का विवरण दिया गया है, उनमें किसी में भी 'महोबा समयो' नहीं है, केवल प्रति नं० ३ के विषय में लिखा है कि '१२१ वें पन्ने के दूसरे पृष्ठ पर 'पद्मावती विवाह सम्यो' समाप्त होता है। इसके बाद ११ पन्ने (१२१–१३१) कोरे हैं। प्रति के अन्तिम पृष्ठ पर इसके प्रस्तावों को क्रमवार नामावली दी हुई है। इसमें इन पन्नों पर महोबा सम्यो का होना सूचित किया गया है। इससे स्पष्ट है कि ये पन्ने 'महोबा सम्यो' के लिए खाली रखे गये थे पर उक्त सम्यो के उपलब्ध न होने से अथवा अन्य किसी कारण से उसका लिखना शेष रह गया है। उस प्रति में भी उपरोक्त प्रति नं० २ के क्रमानुसार ६९ प्रस्ताव हैं[1]।" इससे यह स्पष्ट है कि बृहत् रूपान्तर की भी सभी प्रतियों में महोबासमय नहीं मिलता। उपर्युक्त प्रति नं० २ का लिपिकाल सं० १८६१ है जिससे यह सिद्ध होता है कि सं० १८६१ तक चारण भाटों के बीच 'महोबासमय' का भी प्रचार था और वह पृथ्वीराजरासो के अन्तर्गत ही माना जाता था किन्तु जिस आदर्श प्रति से उपर्युक्त प्रति की प्रतिलिपि हुई होगी उसमें वह नहीं था। ओरियण्टल कालेज लाइब्रेरी, लाहौर में भी महोबासमय की एक फुटकर प्रति है। चन्द के वंशधर श्री नानूराम जी के पास रासो की जो दो प्रतियाँ थीं उन्हीं में से एक से उन्होंने महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री को 'महोबासमय' लिखाया था[2]। इन सब विवरणों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यद्यपि महोबा के युद्ध को घटना ऐतिहासिक सम्बन्धी सत्य है किन्तु रासो की पुरानी प्रतियों में समय

१—राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज—सं० मोतीलाल मनोरिया, उदयपुर, १९४२, पृ० ६१।

२—पृथ्वीराजरासो और उसकी हस्तलिखित प्रतियाँ - ले० श्री अगरचन्द नाहटा, राजस्थानी, अक्तूबर, १९३९, पृ० ४१।

का न मिलना और प्रकाशित रासो की भाषा का बहुत परवर्ती होना यह सिद्ध करता है कि महोबासमय परवर्ती काल, सम्भवतः १७वीं–१८वी शताब्दी, की रचना है और चारण-भाटों में ही उसका प्रचार था, रासो की हस्तलिखित प्रतियों में उसे बाद में सं० १८०० के आसपास स्थान मिलने लगा।

इस प्रकार महोबासमय सोलहवी से अठारहवीं शताब्दी के बीच में विकसित आल्हखण्ड का लघु साहित्यिक रूपान्तर है। इसकी भाषा ब्रजभाषाप्रधान है और इसमें आल्हा-ऊदल का उत्कर्ष पृथ्वीराज से अधिक नहीं दिखाया गया है, यद्यपि प्रधानतया उन्हीं का वर्णन इस 'समय' में हुआ है। इससे यह भी स्पष्ट है कि प्रकाशित रासो वाले 'महोबासमय' की रचना राजस्थान में पृथ्वीराज चौहान के पक्षधर कवि या कवियों द्वारा हुई होगी क्योंकि उसमें पृथ्वीराज के सम्मान पर आघात करने वाली कोई बात नहीं कही गयी है। अतः 'महोबा समय' आल्हखण्ड नामक लोकगाथा का या तो संक्षिप्त साहित्यिक रूप है या उसके रूपान्तर के समय आल्हखण्ड का अधिक विस्तार नहीं रहा होगा। ऐसा मानने का कारण यह है कि 'महोबासमय' में केवल ८२८ ही छन्द हैं और कथानक में आल्हखण्ड की कथा की मुख्य घटनाएँ—सिरसा की लड़ाई, आल्हा का रूठना और मनाया जाना, उसकी वापसी और फिर महोबा का अन्तिम युद्ध, परमाल का पलायन और आल्हा का कजरी वन में चला जाना आदि—ही ली गयी हैं, अन्य युद्ध जो विवाहों और जयचन्द की कर-वसूली से सम्बन्धित हैं, उसमें नहीं हैं। अतः वह अल्हखण्ड का लघु साहित्यिक रूपान्तर है। इसे आल्हखण्ड की पश्चिमी या राजस्थानी वाचना भी कह सकते हैं। ग्रियर्सन ने आल्हखण्ड के तीन रूपान्तर माने हैं और 'महोबासमय' को उसकी पश्चिमी वाचना भी कहा है[1]।

बृहत् साहित्यिक रूपान्तर—परमालरासो (महोबाखण्ड)—काशी नागरी-प्रचारिणी सभा से 'परमालरासो' नामक एक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। उसकी भूमिका में ग्रन्थ के सम्पादक बाबू श्यामसुन्दर दास ने लिखा है कि 'मैंने एशियाटिक सुसाइटी, बंगाल के पुस्तकालय में रक्षित हिन्दी की हस्तलिखित पुस्तकों की जाँच की।...इन सब प्रतियों की जाँच करते-करते मुझे एक पुस्तक पृथ्वीराजरासो के नाम से मिली। यह दो जिल्दों में बँधी हुई थी। एक जिल्द का नाम 'महोबाखण्ड' और दूसरी का 'कन्नवजखण्ड' था। दोनो खण्ड संवत् १९२५ के लिखे हुए थे।...पीछे से 'महोबाखण्ड' की एक प्रति छत्रपुर

1—The song of Alhas marriage—A Bhojpuri Epic, by G. A. Grierson Indian Antiquary. August 1885, P. 209.

निवासी बाबू जगन्नाथप्रसाद जी से मुझे प्राप्त हुई। यह प्रति संवत् १८४९ (अंक वेद बसु इन्दु पुनि) की लिखी हुई है।...दोनों के मिलान करने पर यह प्रगट हुआ कि दोनों एक ही मूल ग्रन्थ की प्रतियाँ थीं, यद्यपि कहीं-कहीं पाठभेद था। दोनों ग्रन्थों का नाम पृथ्वीराजरासो दिया हुआ था और कर्ता का नाम चन्द वरदाई था। परन्तु पृथ्वीराजरासो के नाम से जो ग्रन्थ ६ खण्डों में काशी नागरीप्रचारिणी सभा ने प्रकाशित किया है उसमें और इसमें आकाश-पाताल का अन्तर है। महोबाखण्ड में पृथ्वीराज चौहान और परमर्दि (परमाल) के बीच में जो भयानक युद्ध हुआ था उसका सविस्तार वर्णन है[1]।" इस ग्रन्थ को उन्होंने 'परमालरासो' नाम से काशी नागरीप्रचारिणी सभा से प्रकाशित कराया। इस नाम के लिए उन्होंने यह तर्क दिया है, "यद्यपि इस ग्रंथ का नाम मूल प्रतियों में 'पृथ्वीराजरासो' दिया हुआ है, पर इस नाम से इसे प्रकाशित करना लोगों को भ्रम में डालना होता। अतएव मैंने इसे 'परमालरासो' यह नाम देने का साहस किया है[2]।' किन्तु जिस भ्रम को मिटाने के लिए बाबू साहब ने नाम बदला वह इस नाम से नये रूप में उत्पन्न हो जाता है। वस्तुतः इस ग्रंथ का नाम 'महोबाखण्ड' ही रहने देना उचित होता और यदि बदलना आवश्यक था तो 'आल्हारासो' नाम अधिक उचित था क्योंकि इसका नायक परमाल नहीं बल्कि आल्हा है और इस नाम से यह भी स्पष्ट हो जाता कि यह आल्हाखण्ड का साहित्यिक रूपान्तर है। जिस तरह 'पृथ्वीराजरासो' नाम से चन्द के रासो का भ्रम हो सकता था, उसी तरह 'परमालरासो' से जगनिक के मूल ग्रंथ का भ्रम हो सकता है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने भी जगनिक के मूल ग्रंथ का नाम यही अनुमान किया है।

बाबू साहब ने अन्यत्र इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में बिलकुल सही कहा है कि "इसके प्रत्येक समय के अन्त में कर्ता की जगह चन्द वरदाई का नाम दिया है, पर विशेष जाँच करने पर यह ग्रंथ न तो पृथ्वीराजरासो ही ठहरा और न कर्ता चन्द वरदाई सिद्ध हुआ।...जिस बात का वर्णन चन्द के वर्तमान क्षेपक-पूर्ण रासो में एक दो समयों में आ गया है उसे इस प्रति में (ए० सो० वाली) दो बड़े-बड़े खण्डों में समाप्त किया गया है और सारी कीर्ति चन्द के सिर मढ़ दी गयी है[3]।" पहले कहा जा चुका है कि रासो के सम्पादकों ने यह नहीं

१—परमालरासो—भूमिका—श्यामसुंदरदास, काशी, पृ० १—२।

२—वही, पृ० ४।

३—खोज रिपोर्ट, ना० प्र० पत्रिका, भाग १, पृ० १४०।

बताया है कि उन्होंने रासो की किस मूल प्रति से लेकर महोबा समय को प्रकाशित रासो में दिया है और मूल प्रति का लिपिकाल क्या है ? पर उनका अनुमान है और वह सही प्रतीत होता है, कि वह १६ वीं–१७ वीं शताब्दी में विकसित हुआ होगा। किन्तु परमालरासो नामक जिस 'महोबाखण्ड' पर यहाँ विचार किया जा रहा है, वह उक्त 'महोबासमय' के बहुत बाद की रचना है। 'महोबासमय' और 'महोबाखण्ड' दोनों को मिलाकर देखने पर हम इस निष्क र्ष पर पहुँचते हैं कि दूसरा ग्रन्थ पहले ग्रन्थ का विकसित रूप या बृहत् रूपान्तर है और यह रूपान्तर राजस्थान में नहीं बुन्देलखण्ड में हुआ था। इसके ये प्रमाण हैं :—

१—महोबाखण्ड (परमालरासो) महोबासमय से कम से कम सौ वर्ष बाद की रचना है। यह मानने का कारण यह है कि प्रायः समूचा 'महोबासमय' प्रकाशित परमालरासो नामक ग्रन्थ में छिटफुट रूप से समाया हुआ है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि क्षेपककारों ने जानबूझकर अपने छन्द इसमें मिलाये हैं क्योंकि क्षेपक मूल ग्रन्थ से अधिक नहीं, कम ही होते हैं। किन्तु यहाँ तो उलटी बात दिखाई देती है। मूल 'महोबासमय' में कुल ८२८ छन्द हैं, साथ ही उसमें एक समय या अध्याय में ही पूरी कथा कह दी गयी है। इसके विपरीत महोबाखण्ड एक स्वतन्त्र प्रबन्ध काव्य है जिसमें ३६ खण्ड (अध्याय) हैं और उसकी छन्द-संख्या कुल मिलाकर ५४१५ है। इन प्रायः साढ़े पाँच हजार छन्दों में महोबासमय के ८२८ छन्द इस तरह बिखरे हैं कि मुझे उन्हें खोजने में बड़ी कठिनाई उठानी पड़ी। फिर भी विशेषता यह है कि मूल महोबासमय के बहुत थोड़े छन्द इसमें छूटे हुए हैं। प्रारम्भ के दो खण्ड तो बिलकुल नये हैं जिनमें महोबासमय का एक भी छन्द नहीं है। इन खण्डों में दिल्लीकीलो कथा तथा चन्देल वंश की उत्पत्ति और वंश-विस्तार की कथा दी गयी है। महोबासमय में इन बातों के लिए अवकाश नहीं था क्योंकि वह रासो के एक सर्ग या खंड के रूप में विकसित हुआ था। तीसरे खंड में प्रधान कथा शुरू होती है। इसमें ११५ छन्द हैं जिनमें ५५ महोबा समय के हैं। इसी तरह महोबाखंड के प्रारम्भ के बारह सर्गों के १२३७ छन्दों में 'महोबासमय' के प्रारम्भ के २०० छन्द आ गये हैं। इन छन्दों के बीच-बीच में बहुत अधिक छन्द भर दिए गये हैं और उनमें परस्पर कितनी अधिक दूरी हो गयी है, यह एक ही उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा कि 'महोबासमय' का १५६ वाँ छन्द 'परमालरासो' (महोबाखंड) के पृष्ठ १२३ पर है तो छन्द १५७–१५८ पृष्ठ १३१ पर हैं और फिर सैकड़ों पृष्ठों के बाद २२९ वें पृष्ठ पर १५९ वाँ छन्द

है। इन दोनों ग्रंथों के तुलनात्मक अध्ययन से दोनों ही परिणाम निकल सकते हैं, १—या तो 'महोबासमय' महोबाखण्ड का संक्षिप्त संस्करण है, २—अथवा 'महोबाखण्ड' महोबासमय का स्फीत और वृहत् संस्करण है। पहला निष्कर्ष इसलिए सही नहीं है कि महोबासमय १७ वी शताब्दी तक निर्मित हो चुका था और महोबाखण्ड, जैसा उसकी प्रतियों के लिपिकाल से मालूम पड़ता है, १८ वीं-१९ वीं शताब्दी की रचना है। अतः दूसरा निष्कर्ष ही अधिक तर्क-पूर्ण है। 'महोबाखण्ड' में 'महोबा समय' के छन्दों का बहुत अधिक पाठान्तर हो गया है। लेखककार इतना पाठान्तर नहीं करते। अतः मौखिक परम्परा में विकसित होने के कारण ही ऐसा हुआ है। मूल ग्रन्थ (महोबासमय) के छन्द कण्ठस्थ रूप में होने के कारण पाठान्तरित होते गये और ज्यों ज्यों कथा बढ़ती गयी त्यों त्यों उन छन्दों के बीच की दूरी भी बढ़ती गयी।

२—दूसरी बात इस ग्रन्थ में ध्यान देने की यह है कि इसका विकास राजस्थान में नहीं बल्कि बुन्देलखण्ड में हुआ प्रतीत होता है। महोबाखण्ड की जो प्रति बाबू साहब को छत्रपुर (बुन्देलखण्ड) मे प्राप्त हुई थी वह सं० १८५० में लिपिबद्ध हुई थी। बहुत सम्भव है कि बंगाल की एशियाटिक सोसा-इटी वाली सं० १६२५ की लिखी 'महोबाखण्ड' और 'कनवज्जखण्ड' वाली प्रति भी बुन्देलखण्ड से ही प्राप्त हुई हो क्योंकि बाबू साहब के अनुसार महोबाखण्ड की उपर्युक्त दोनों प्रतियाँ एक ही मूल ग्रंथ की प्रतिलिपि थीं। महोबाखण्ड की एक और प्रति श्री गौरीशंकर द्विवेदी 'शंकर' को बुन्देलखण्ड में ही प्राप्त हुई है जिसे लाला जानकीदास ने सं० १९१८ में टीकमगढ़ में लिखा था।

उसे बुन्देलखण्ड में विकसित मानने का दूसरा कारण यह है कि उसमें यद्यपि रासो की भाषा का अनुकरण किया गया है किन्तु बुन्देलखण्डी भाषा ही अधिक प्रयुक्त हुई है। यह बात उसकी वचनिकाओं के गद्य में और भी स्पष्ट दिखाई पड़ती है। पद्यांश की भाषा मिश्रित है। इसका कारण संभवतः यह है कि महोबाखण्ड का विकास रासो की तरह चारण-भाटों या उन्हीं की तरह की कवि-पेशा वाली किन्हीं जातियों द्वारा हुआ प्रतीत होता है। उन्होंने रासो का अनुकरण करके भाषा में डिंगल का रंग भरने का प्रयत्न किया है, साथ ही रासो के महोबासमय के ८२८ छन्दों के आधार पर ही इस ग्रंथ को बढ़ाया है। रासो के महोबासमय की भाषा यद्यपि ब्रजभाषा-प्रधान है फिर भी

१—पृथ्वीराजरासो और आल्हखण्ड—ले० श्री गौरीशंकर द्विवेदी 'शंकर', संगम साप्ताहिक, प्रयाग।

उसमें पुरानापन है । महोबाखण्ड में 'महोबासमय' के छन्द और उसके अनुकरण में लिखे गये छन्द तो महोबासमय वाली भाषा में हैं, शेष छन्दों की भाषा में ब्रजभाषा और बुन्देलखण्डी का मिश्रण है । बुन्देलखण्डी ब्रजभाषा-क्षेत्र के निकट ही है, अतः वहाँ के कवियों की कविता में परंपरागत काव्य भाषा— ब्रजभाषा—का अधिक होना स्वाभाविक है । अतः महोबाखण्ड की भाषा को ही ध्यान में रखकर बाबू श्यामसुंदर दास ने उसे बुन्देलखण्ड की रचना माना है । उन्होंने लिखा है, "इस ग्रंथ की भाषा भी प्राचीन नहीं है, जैसी कि पृथ्वीराजरासो में अधिक अंश में प्रायः मिलती है । फिर शब्दों की बनावट तथा उनके रूप इस बात का प्रमाण देते हैं कि यह अजमेर या दिल्ली में बना प्राचीन ग्रंथ नहीं है । मेरा अनुमान है कि किसी बुन्देलखण्डी कवि ने इस ग्रन्थ की रचना वैक्रमीय सत्रहवीं या अठारहवीं शताब्दी में की है । उसने इस ग्रंथ के लिखने में आधार पृथ्वीराजरासो को माना हो और सभव है कि घटनाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन किंवदन्तियों के आधार पर किया हो या 'आल्हा' नामक ग्रन्थ के आधार पर अथवा जगनिक राय के लिखे किसी ग्रन्थ के आधार पर किया हो ।"[१] इस तरह भाषा की दृष्टि से बाबू साहब का यह मत सही प्रतीत होता है कि महोबाखण्ड १७ वी-१८ वो शताब्दी में बुन्देलखण्ड में लिखा गया होगा ।

किन्तु बाबू साहब का यह अनुमान सही नहीं प्रतीत होता कि इस ग्रन्थ की रचना किसी एक कवि ने की है । जैसा ऊपर कहा जा चुका है, महोबा खण्ड महोबासमय का चारण-भाटों की मौखिक परंपरा में विकसित रूप प्रतीत होता है । मौखिक परंपरा द्वारा यह विकास बुन्देलखण्ड में ही हुआ होगा, और १७ वीं शताब्दी के बाद हुआ होगा । ऐसा मानने का कारण यह है कि महोबाखण्ड में आल्हखण्ड की बहुत सी बातें आ गयी हैं । वस्तुतः आल्हखण्ड अपढ़ सामान्य जनता में प्रचलित रहा है और महोबासमय और महोबाखण्ड का विकास काव्य विशेषज्ञ जातियों—चारण-भाटादि—के बीच लम्बे काल में हुआ है । समूचे ग्रन्थ में चन्दवरदाई का नाम बार बार कवि रूप में आया है । मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो कवि स्वयं अपने नाम का प्रयोग इतना अधिक नहीं करता, चारण-भाटों में यही परंपरा थी कि पुरस्कार पाने के लिए अपनी रचना में भी चन्द या अन्य प्रसिद्ध कवियों का नाम जोड़ देते थे । महोबाखण्ड में भी यही बात हुई है । एक स्थान पर यह बात स्पष्ट कह भी दी गयी

१—परमालरासो, भूमिका,—संपादक—बाबू श्यामसुन्दरदास, पृ० ३ ।

है कि इस कथा को कविराज लोग गाते हैं। उस छन्द की प्रारंभ की दो पंक्तियाँ ये हैं :—

सत सावंत कब ग्रथ्थ कथ्थ कविराजन गायव
सहस उत्त लगि वीर अंग भूतल नहीं आयव।

—खंड ३६, छन्द १६।

बुन्देलखंड में १७वीं-१८वीं शताब्दी में दरबारी वातावरण में अनुश्रुति के रूप में चन्देलों और बनाफरों की जो वंशपरम्परा प्रचलित थी, महोबाखंड के प्रारम्भ के दो खंडों में उसका पाया जाना यही प्रमाणित करता है कि इस काव्य का विकास बुन्देलखंड में ही हुआ होगा। आल्हखंड में यह वंशपरम्परा नहीं मिलती न वह रासो के महोबासमय में ही है, अतः यह दरबारी वातावरण की आनुश्रुतिक परंपरा की देन है। किन्तु बेला का विवाह, जयचन्द की ओर से आल्हा-ऊदल के युद्ध, योगी रूप में ऊदल का पृथ्वीराज की सेना से युद्ध, ताल्हन खाँ, लाखन सिंह, जगनिक, ब्रह्माजित के युद्ध और वध आदि की कथा आल्ह-खंड की कथा से मिलती हैं। इसी कारण यह अनुमान अधिक सही प्रतीत होता है कि १७ वीं १८ वीं शताब्दी से जब आल्हखंड की लोकगाथा में बहुत सी कथाएँ जुड़ गयी तो चारणों-भाटोंने भी रासो के महोबासमय का विस्तार करना शुरू किया और आल्हखंड की तब तक की प्रचलित कथाओं को उसमें जोड़ लिया। वस्तुतः महोबाखंड 'महोबासमय' का विकसित रूप है और उसके अंतिम खंड के अन्तिम दोहे में ग्रंथ का नाम महोबासमय दिया भी है:-

नौहू रस जाने कहे
पुन्य पुंज अवगाह।
समय महोबा भ्रमण करि
जो क्षत्रिय ध्रम चाहि ॥ १५२

साथ ही वह आल्हखंड का १७ वीं १८ वीं शताब्दी का बृहत् साहित्यिक रूपान्तर है क्योंकि इसमें महोबासमय के प्रायः सभी पद्य मिल जाते हैं, भाषा और छन्द भी उसी की तरह के हैं और आल्हखंड की बहुत सी कथाएँ और घटनायें भी इसमें प्राप्त हो जाती हैं।

उपर्युक्त विवेचन के फलस्वरूप हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सं० १८४१ तक, जब कि आल्हखंड का बृहत् साहित्यिक रूपान्तर 'महोबाखंड' लिपिबद्ध हुआ, आल्हखंड के कथानक में पर्याप्त विकास हो चुका था। महोबा समय को यदि आल्हखंड का पूर्ववर्ती साहित्यिक रूपान्तर मानकर उसका विकास

काल सतरहवीं शताब्दी स्वीकार करें तो अनुमान कर सकते हैं कि करीब डेढ़ सौ वर्षों (सं० १७०० से १८४९) में आल्हखंड लोकगाथा से गाथाचक्र बन गया होगा जिसका साहित्यिक रूपान्तर बुन्देलखंड में 'महोबाखंड' नाम से हुआ। इस प्रकार बुन्देलखंडी 'महोबाखंड' का ही पूर्ववर्ती रूप रासो का 'महोबासमय' और परवर्ती रूप वर्तमान आल्हखंड है। महोबा खंड की इन दोनों रूपों से तुलना करने पर कथानक संबंधी निम्नलिखित भेद दिखलाई पड़ते हैं :—

१—'महोबाखण्ड' में चन्देल वंश और बनाफर वंश की उत्पत्ति की कथा बड़े विस्तार से दी गयी है पर यह वंशावली महोबासमय और आल्ह-खण्ड में नहीं है।

२—महोबाखण्ड की तीनों हस्तलिखित प्रतियों में पृथ्वीराज और परमाल के युद्ध का संवत दिया है जो महोबासमय और आल्हखण्ड में नहीं है[1]। पं० गौरीशंकर द्विवेदी वाली प्रति में वह दोहा कुछ भिन्न प्रकार से है[2] पर दोनों ही संवतों में १०० वर्ष जोड़ने से सं० १२३९ निकल आता है[3]।

३—महोबाखण्ड का नायक आल्हा या आल्हन देव है। इसके विपरीत महोबासमय में नायक पृथ्वीराज और आल्हखण्ड का नायक पूरा बनाफर वंश है। कुछ लोग ऊदल को भी आल्हखण्ड का नायक मानते हैं क्योंकि महोबा-खण्ड में आल्हा अतिमानवीय शक्तिवाला और अजेय वीर चित्रित किया गया है पर आल्हखण्ड में वह सोच विचार कर कदम रखने वाला, धीरप्रशान्त वीर है और कभी कभी कायरता की सीमा तक भी पहुँच जाता है। पर ऊदल में यह बात नहीं दिखाई देती।

४—महोबाखंड की कथा का अन्त महोबासमय और आल्हखंड दोनों ही से भिन्न प्रकार का है। 'महोबासमय' में आल्हा अत्ताताई द्वारा घायल होकर मूर्छित हो जाता है, पृथ्वीराज ब्रह्मा का सिर काट लेता है और चन्देल सेना भाग खड़ी होती है। होश में आने पर आल्हा अत्ताताई का सिर काट लेता, चन्द से मंत्र-युद्ध करता और अन्त में गोरखनाथ के कहने पर उनके साथ कजरी वन चला जाता है। उधर परमाल कालिंजर में किले का फाटक

१—परमाल रासो, खण्ड ३, दोहा ११२, पृ० ६०।

२—ग्यारह सौ चालीस इक जुद्ध अतुल भर होय।
कातिक सुदि बुध चौदसी सम्हर सम्हर सोय।

३—परमालरासो—भूमिका, बाबू श्यामसुन्दरदास।

बन्द कर छिप जाता है और चामुंड राय वहाँ पहुँच कर भागते हुए परमाल को पकड़ कर पृथ्वीराज के पास ले जाता है। कालिंजर और महोबे की लूट होती है और पृथ्वीराज पज्जून राय को महोबे का थानापति बनाता और परमाल को बाँधकर दिल्ली ले जाता है। इस प्रकार का अन्त महोबासमय के नायक पृथ्वीराज के पक्ष के अनुकूल है। 'महोबाखड' का अन्त परमाल के पक्ष में है। उसमें २४ वें खंड में आल्हा पृथ्वीराज को घायल कर देता है। खबर फैल जाती है कि चौहान हार गये। कालिंजर में खुशियाँ मनायी जाती हैं। चन्द और आल्हा में मन्त्रयुद्ध होता है, आल्हा पृथ्वीराज और चन्द को मारने ही वाला है कि गोरखनाथ उन्हें न मारने की आकाशवाणी करते हैं और स्वयं आकाश से उतर कर आल्हा को समझा-बुझा कर 'कदलीवन' में ले जाते हैं। यह खबर पाकर परमाल किले से भाग रहे थे कि माहिल ने सूचना दे दी और चामुंड ने आकर उसे बाँध लिया। इसी बीच आल्हा के पुत्र इन्दल ने आकर परमाल को छुड़ाया। किन्तु महोबा पृथ्वीराज के अधिकार में चला गया। परमाल ने लज्जित होकर गजाधर के मन्दिर में योगबल से प्राण त्याग कर दिया और रानी मल्हना सती हो गयी। अन्त में इन्दल ने जयचन्द की सैन्य-सहायता से पजनू राय को महोबे से भगाकर परमाल के दूसरे पुत्र समरजीत को गद्दी पर बैठाया। इस प्रकार का अन्त दिखाकर 'महोबाखड' में चन्देल वंश की मान-रक्षा की गयी है। अतः यह निश्चय ही बुन्देलखड के चारण-भाटों की प्रशस्ति-भावना से प्रेरित रूपान्तर है। इसके विपरीत वर्तमान आल्हखण्ड का अन्त अत्यन्त दुखात्मक है। उसमें परमाल, पृथ्वीराज, आल्हा, इन्दल और चन्द को छोड़ कर अन्य सभी व्यक्ति मारे जाते हैं, कलियुग के भय से आल्हा और इन्दल कजरी वन चले जाते हैं, परमाल तेरह उपवास करके प्राण त्याग देते हैं और मल्हना आदि रानियाँ सती हो जाती हैं। इस प्रकार आल्हखण्ड का अन्त महोबा-समय और महोबाखण्ड दोनों ही से भिन्न प्रकार का है।

४—विकास की चौथी अवस्था—

इस अवस्था में आल्हखण्ड लोकगाथा से एक बृहत् गाथाचक्र और फिर अर्द्ध विकसित लोकमहाकाव्य के रूप में परिवर्तित हो गया। साथ ही इस अवस्था में पहुँच कर स्थानभेद के अनुसार इस गाथाचक्र के अनेक रूपान्तर (वाचनायें) भी हो गये। चार्ल्स ईलियट ने फरुखाबाद में जब सन् १८६५ में इसका संग्रह और लेखन कराया उस समय यह अपनी वर्तमान अवस्था प्राप्त कर चुका था। वर्तमान आल्हखण्ड में प्रधानतया तेईस लड़ाइयों का वर्णन है और इसे ही असली आल्हखण्ड कहा जाता है। किन्तु इन प्रधान युद्धों से

संबद्ध अन्य छोटे-छोटे युद्धों को जोड़ लेने पर युद्धों की संख्या बावन हो गयी है। तेईस युद्धों वाले आल्ह खण्ड को असली आल्हा कहने की परम्परा ही यह स्पष्ट कर देती है कि शेष उन्तीस युद्धों की कथा बाद की जोड़ी हुई है। आल्हा-ऊदल ने जयचन्द की ओर से जो लड़ाइयाँ कर वसूल करने के सिलसिले में लड़ीं, 'महोबाखण्ड' के दसवें अध्याय में उनका संक्षेप में वर्णन है। उसमें गाँजरगढ, साँपागढ़, विजहट आदि के युद्धों का वर्णन एक ही साथ हुआ है। किन्तु बावन लड़ाइयो वाले आल्हखण्ड में उनका वर्णन अलग-अलग किया गया है, साथ ही कामरूप, बंगाल, कटक आदि की लड़ाइयाँ भी, जिनका महोबा-खण्ड में उल्लेख नहीं है, आल्हखण्ड में मिलती हैं। इस तरह महोबाखण्ड के विकास के समय आल्हखण्ड का जो रूप रहा होगा, वह बाद के दो सौ वर्षों में बहुत बदल गया है। महोबाखण्ड में अध्यायो की जो सूचना दी गयी है उससे पता चलता है कि उसमें मुख्यत इन युद्धों का वर्णन है १—सिरसा में मलखान और पृथ्वीराज का युद्ध, २—यवनों के साथ आल्हा का युद्ध, ३—आल्हा की महिषवती के गोंड राजा पर विजय, ४—आल्हा का कन्नौज जाते समय माहिल के नगर पर आक्रमण और जयचन्द की सेना से युद्ध, ५—जयचन्द की ओर से आल्हा-ऊदल का गाँजर, साँपागढ़, विजहट, कुइहर और बंगाल का युद्ध, ६—कीरतसागर पर कजरी के समय की लड़ाई और आल्हा ऊदल का योगी वेश में आकर युद्ध करना, ७—अन्तिम युद्ध और पृथ्वीराज की विजय।

महोबाखण्ड में ये सभी युद्ध राज्य-विस्तार या कर वसूल करने के निमित्त लड़े गये हैं। आल्हखण्ड में इन सात युद्धों की जगह पहले तेईस और बाद में बावन युद्धों की योजना हो गई और युद्धों का कारण भी अधिकतर विवाह और सती होने की घटनायें थीं। यही नहीं, उसमें परमाल के मल्हना से विवाह और पृथ्वीराज के संयोगिता से विवाह और तत्संबंधी युद्धों का वर्णन भी जोड़ दिया गया। इस तरह आल्हखण्ड में जिन असली २३ युद्धों का वर्णन है, वे सर जार्ज ग्रियर्सन और ईलियट के अनूदित 'आल्हा-गीत' के अनुसार ये हैं :—१—'महोबे की पहली लड़ाई (परमाल का महोबे में विवाह), २—संयोगिता स्वयंवर, ३—महोबे की दूसरी लड़ाई, ४—माड़ौगढ की लड़ाई, ५—आल्हा का विवाह (नैनागढ़ की लड़ाई), ६—सिरसा की पहली लड़ाई, ७—मलखान का ब्याह (पथरीगढ़-जूनागढ़ की लड़ाई), ८—चन्द्रावली की चौथी (बौरीगढ़ की लड़ाई), ९—ब्रह्मा का बेला से विवाह (दिल्ली की लड़ाई) १०—ऊदल का विवाह (नरवरगढ़ की लड़ाई), ११—इन्दल का हरण और ब्याह

(बलख-बुखारे की लड़ाई), १२—ऊदल-हरण (सोनमा और नटी का युद्ध और आल्हा निकासी), १३—लाखन सिंह का विवाह (बूंदी-कामरूप की लड़ाई), १४—गाँजर की लड़ाई, १५—सिरसा की दूसरी लड़ाई, १६—कीरत सागर पर भुजरियों की लड़ाई, १७—आल्हा मनौआ, १८—बेतवा नदी की लड़ाई, १९—बेला के गौने की लड़ाई, २०—बेला के गौने की दूसरी लड़ाई, २१—बेला और ताहर की लड़ाई, २२—चन्दन बाग और चन्दन खम्भ की लड़ाई, २३—बेला के सती होने की लड़ाई।

यदि महोबाखड और वर्तमान आल्हखंड के कथानकों की तुलना की जाय तो दोनों में बहुत अन्तर दिखाई पड़ता है। इस अन्तर का कारण यही है कि महोबाखंड को लिपिबद्ध किये जाने के बाद से आल्हखड के लिपिबद्ध किये जाने तक और उसके बाद भी आल्हखंड में निरन्तर विकास होता रहा। यही उसकी चतुर्थ अवस्था का विकास है। महोबाखड में संयोगिता-स्वयंबर और परमाल के विवाह तथा महोबे की पहली लड़ाई की कथा नहीं है पर वर्तमान आल्हखड इन्हीं से प्रारम्भ होता है। आल्हखड में वर्णित निम्न-लिखित बातें महोबाखंड के कथानक में नहीं हैं जो निश्चित रूप से महोबा-खंड के विकास के बाद आल्हखड में जुड़ी होंगी :—संयोगिता-स्वयंबर, परमाल का विवाह, दस्सराज-वच्छराज का ताल्हन के साथ कन्नौज जाते हुए महोबा में रुकना, नौलखाहार के लिए करिया का महोबे पर आक्रमण, बनाफरों और ताल्हन द्वारा महोबे की रक्षा और उनका चन्देलों की सेवा में रहना, दस्सराज-वच्छराज का विवाह, आल्हा-ऊदल आदि का जन्म, महोबे पर करिया का दूसरा आक्रमण, दसपुरवा की लूट और दस्सराज-वच्छराज का मारा जाना, सिरसा की पहली लड़ाई, माड़ोगढ़, पथरीगढ़, नैनागढ़ आदि के अधिकांश युद्ध, बेला के सती होने से संबंधित युद्ध। परमाल और पृथ्वीराज के बीच वैमनस्य होने का कारण दोनों ग्रंथों में भिन्न रूप में दिया हुआ है। महोबा-खंड में वह कारण पृथ्वीराज के घायल सैनिकों का परमाल द्वारा मरवाया जाना है और आल्हखंड में आल्हा के घोड़े और हाथी का पृथ्वीराज द्वारा माँगना और आल्हा का न देना है। दोनों का अन्त भिन्न भिन्न है, यह पहले ही कहा जा चुका है। शेष बातें बहुत कुछ एक जैसी हैं। महोबाखड की कथा में प्रबन्धत्व के गुण अधिक हैं क्योंकि वह आल्हखंड का साहित्यिक रूपान्तर है। साहित्यिक प्रबन्धकाव्यों की भांति उसमें प्रारम्भ में देवताओं की स्तुति और पूर्व कवियों की प्रशंसा की गयी है और उसके बाद ही पृथ्वीराजरासो की महाभारत से तुलना करते हुए उसे एक लाख श्लोक प्रमाण वाला ग्रंथ बताया गया

है[1]। फिर परम्परागत पौराणिक शैली में अनंगपाल और व्यास के संवाद के रूप में भूमिका में दिल्ली-किल्ली-कथा और चंदेल वंश की उत्पत्ति की कथा कही गयी है। उसमें प्रधान या आधिकारिक कथा का प्रारंभ तीसरे खंड (आल्हन संयोगखण्ड) से होता है। इसके बाद कथानक के बीच में पौराणिक काव्यों की भाँति अनेक अवान्तर और प्रासंगिक कथाएँ रखी गयी हैं जैसे राजा रूप-ब्रह्म आख्यान वर्णन, आखेटक-शाप, शिव-भविष्य-कथन, आल्हा-वरदान आदि। ये सब कथाएँ वर्तमान आल्हखंड में नहीं हैं। महोबाखंड में आधिकारिक कथा को कई अध्यायों या खंडों में बाँटा गया है और सभी खंडों में एक ही कथा शृङ्खलित रूप से चलती है। उसमें वर्णनात्मकता अधिक होने से किसी छोटी घटना या प्रसंग को लेकर भी एक अलग खंड बन गया है जैसे जगनिक राय-बधखंड, परमाल-पलायनखड, अन्तःपुर-मंत्रायणखड आदि। इसी पद्धति से कथानक लम्बा न होते हुए भी महोबाखंड एक बृहत्काय प्रबन्धकाव्य बन गया है। आल्हखंड में कथात्मकता अधिक है, वर्णनात्मकता कम और उसमें कथानक भी बहुत लम्बा है, किन्तु प्रबन्धत्व का अभाव है क्योंकि उसका प्रत्येक अध्याय स्वतंत्र सा लगता है, यद्यपि प्रधान पात्र सब में एक ही हैं।

आल्हखण्ड के कथानक में अर्वाचीनता—इन भेदों को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि १८ वीं शताब्दी तक या तो आल्हखंड नामक लोकगाथा का कथानक अधिक लम्बा, विखरा और खंडित नहीं था क्योंकि उसके साहित्यिक रूपान्तर महोबा खड-में प्रबन्धत्व के ये गुण दिखाई पड़ते हैं, अथवा उसका स्वरूप यदि वर्तमान आल्हखड के ही ढग का था तो महोबाखंड उसका यथावत् साहित्यिक रूपान्तर नहीं है। यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि साहित्यिक रूपान्तर होने की प्रक्रिया में प्रबन्धत्व का अधिक आ जाना आवश्यक है। आल्हखड गाया जाता रहा है, अतः उसमें एक बार में गाने लायक कथावस्तु को एक एक लडाई में बाँधा गया है। उसमें लड़ाई ही वस्तुतः सर्ग या अध्याय का पर्यायवाची शब्द है और कहीं उसे लड़ाई, कहीं मार और कहीं गाथा या गाथ कहा जाता है। दूसरी बात जो दोनों काव्यों की तुलना से स्पष्ट होती है, यह है कि 'महोबाखड' का समग्र प्रभाव वैसा ही पड़ता है

१—भारत किय भुवलोक महं गनतिय लक्ख प्रमान।
चाहुवान जन चंद कवि, किन्हिय ताहि समान। (दिन्नव ताहि प्रयान-पाठान्त)—परमालरासो—खण्ड १—छन्द ४।

जैसा आल्हखण्ड का, अर्थात् दोनों का मूल स्वर एक ही है। महोबाखण्ड की मुख्य कथा आल्हखण्ड में प्रायः पूरी की पूरी आ गयी है, इससे यह पता चलता है कि महोबाखण्ड तत्कालीन प्रचलित आल्हखण्ड का रूपान्तर अवश्य है। दोनों के कथानक में इतना अन्तर इसलिए आ गया है कि तब से अब तक आल्हखण्ड निरन्तर विकसित होता आया है। महोबाखण्ड के रचनाकाल में प्रचलित आल्हखण्ड में भी इतना अधिक विकास हो गया था कि इतिहास की बातें बहुत कुछ भुला दी गयी थीं। महोबाखण्ड में ताल्हन-सी और ताल्हन-सी जयचन्द के दो सरदार हैं जो आल्हा-ऊदल के साथ परमाल की ओर से लड़ने आते हैं, पर 'महोबाखण्ड' में वही ताल्हन-सी ताल्हन सैयद बन गया है जो अनेक मुसलमान सैनिकों के साथ जयचन्द की सेवा में रहता है। वर्तमान आल्हखण्ड में वही ताल्हन सैयद बनारस का रहने वाला मियाँ ताल्हन बन गया है जिसके नौ पुत्र हैं। विकास की इस प्रगति के सबंध में वाटरफील्ड ने अपने अनुवाद की भूमिका में लिखा है कि 'जो हिन्दी के विद्वान हैं उन्हें इस बात का निर्णय करना चाहिये कि वर्तमान आल्हखण्ड में मूल आल्हखण्ड का कितना अंश अवशिष्ट है क्योंकि गायक-कवियों ने धीरे-धीरे उसकी भाषा को बदल कर आधुनिक बना दिया है और अपनी ओर से उसमें बहुत सी बातें बढ़ा दी हैं। यदि इस काव्य की तुलना होमर के इलियड-ओडेसी से की जाय तो शायद इस बात पर प्रकाश पड़े कि पिसिट्रेटस के समय तक होमर के मूल काव्यों में गाने वालों ने कितना अंश जोड़ दिया था। किन्तु यूनानी भाषा और छन्द दोनों ऐसे थे कि उनमें रचित काव्य में अधिक परिवर्तन होना सभव नहीं था। इसके विपरीत हिन्दी में व्याकरण सरल और छन्द और तुक के नियम शिथिल होने के कारण स्पेनिश लोकगाथाओं की तरह भाषा और शब्दों के परिवर्तन की सम्भावना अधिक है। यही कारण है कि उक्त यूनानी काव्यों में इतना अधिक परिवर्तन नहीं हुआ है जितना आल्हखण्ड की गाथा में। यहाँ तो मुसलमानों के आक्रमण के पूर्व ही मुसलमान सामन्त-सरदार और सैनिक इन राजाओं की ओर से युद्ध में लड़ते हुए दिखाये गये हैं। यही नहीं, बल्कि आल्हखण्ड में युद्धों में तलवार, तीर, भाला आदि के साथ-साथ तोप, बन्दूक और पिस्तौल आदि अति आधुनिक हथियारों का प्रयोग भी दिखाया गया है। और वर्तमान शताब्दी (उन्नीसवीं शताब्दी) में सेना में प्रयुक्त होने वाले अफसरों के पद और सफरमैना (सैपर्स-माइनर्स) जैसे शब्द भी घुसा दिये गये हैं[1]।' इससे स्पष्ट है कि आल्हखण्ड की भाषा, शब्दावली तथा कथानक

1. The lay of Alha, Introduction, by W Waterfield, p. 11.

में उन्नीसवीं शताब्दी तक निरन्तर परिवर्तन होता रहा है। यदि छिपे हुए आल्ह-खण्ड को पढ़ने के बाद अल्हैतों से आल्हा सुना जाय तो मालूम होगा कि उसमें आज भी कुछ-न-कुछ परिवर्तन और विकास होता जा रहा है। उसके विभिन्न रूपान्तरों को मिलाकर देखने से भी यह बात स्पष्ट हो जाती है। उदाहरणार्थ खड़ी बोली वाले रूपान्तर में सात-आठ कथाएँ मिलती हैं जो अन्य रूपान्तरों में नहीं हैं और सम्भवतः इस युग में जोडी हुई हैं।

वर्तमान आल्हखण्ड के विविध रूपान्तर

विगत कुछ शताब्दियों में आल्हखण्ड का इतना प्रचार हुआ है कि आज वह हिन्दी के अन्तर्गत मानी जाने वाली सभी बोलियो में रूपान्तरित होकर गाया जाता है। ग्रियर्सन ने मोटे तौर पर उसके दो रूपान्तर (रिसेन्सन्स) माने हैं १—हिन्दी या पश्चिमी रूपान्तर, २—बिहारी या पूर्वी रूपान्तर[1]। उनके अनुसार पश्चिमी रूपान्तर के तीन पाठ या वाचना (वर्शन्स) हैं १—महोबासमय और महोबा खण्ड जो भ्रमवश चन्दकृत माने जाते हैं, २—आधुनिक हिन्दी वाला पाठ जिसे सबसे पहले चौधरी घासीराम ने सम्पादित करके ज्ञानसागर प्रेस मेरठ से छपवाया था, ३—कन्नौजी पाठ–जिसका संग्रह ईलियट ने फरुखाबाद में कराया था और जो सर्व-प्रथम फतेहगढ़ से प्रकाशित हुआ था और जिसका अंग्रेजी अनुवाद वाटरफील्ड ने किया था। पूर्वी रूपान्तर का एक पाठ भोजपुरी भाषा में है जिसके एक भाग का संग्रह और अनुवाद स्वयं ग्रियर्सन ने किया था और भूमिका के साथ इंडियन ऐण्टिक्वेरी के चौदहवें खण्ड (अगस्त सन् १८८५) में छपवाया था। आल्हखण्ड का एक बुन्देली पाठ भी है जिसके कुछ अंशों का संग्रह विन्सेण्ट स्मिथ ने कराया था और जिसका एक अश ग्रियर्सन ने 'लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया' (खण्ड ९, भाग १) में छपाया है। सम्भवतः ग्रियर्सन को इस बात का पता नहीं था कि आल्हखण्ड का एक खड़ी बोली वाला रूपान्तर भी है। इस तरह उसके तीन रूपान्तर हो जाते हैं :—१—पश्चिमी, २—मध्यवर्ती, ३—पूर्वी। पश्चिमी रूपान्तर खडीबोली में और राजस्थानी मिश्रित ब्रज में है जो 'महोबासमय' में दिखलाई पड़ता है। मध्यवर्ती रूपान्तर के कई पाठ है जैसे कन्नौजी, बुन्देली, बैसवारी, अवधी। पूर्वी रूपान्तर भोजपुरी और मगही दोनों बोलियों में है। इनमें से केवल भोजपुरी पाठ का ग्रियर्सन को पता था। इन तीनों रूपान्तरों में

1. The song of Alha's Marriage, A Bhojpuri Epic—edited & translated by G. A. Grierson, Indian Antiquary, Vol. XIV August 1885, p 209.

युद्धों की संख्या कथानक के विकास और विस्तार तथा पात्रों और स्थानों के नामों में एक दूसरे से भिन्नता दिखाई पड़ती है। मध्यवर्ती रूपान्तर विभिन्न बोलियों में पाठभेद होते हुए भी कथानक आदि में सर्वत्र एक सा है। किन्तु खड़ी बोली और भोजपुरी रूपान्तर उससे बहुत भिन्न हैं। भोजपुरी रूपान्तर में कथानक छोटे हैं तो खड़ीबोली में बहुत लम्बे। भोजपुरी में लड़ाइयों की संख्या भी अधिक नहीं है किन्तु खड़ी बोली वाले रूपान्तर में अनेक नये विवाहों और युद्धों की कथा गढ़ ली गई है[1]। पूर्वी और मध्यवर्ती रूपान्तरों का भेद इसीसे स्पष्ट हो जायगा कि आल्हा के विवाह की कथा में दोनों रूपान्तरों में नैनागढ़ के राजा का नाम भिन्न भिन्न है। मध्यवर्ती रूपान्तर में उसका नाम नैपाली है और सोना उसकी पुत्री तथा जोगा, भोगा और विजय उसके पुत्र हैं। पूर्वी रूपान्तर में राजा का नाम इन्दरमन है और सोना उसकी बहन है। पूर्वी रूपान्तर में इन्दरमन ने सोना से विवाह के लिए गये पचासों राजाओं को कैद कर रखा है। मध्यवर्ती रूपान्तर में सोना के संदेश पर ऊदल आल्हा का विवाह करने जाता है; पूर्वी रूपान्तर में वह बिना बुलाये और पहले अकेले जाता है। मध्यवर्ती रूपान्तर के अनुसार नैपाली राजा के पास अमर ढोल था, पूर्वी रूपान्तर में अमर ढोल की चर्चा ही नहीं है, पूर्वी रूपान्तर में सोना स्वयं अपने भाई से लड़ती और उसका सिर काट लेती है, मध्यवर्ती रूपान्तर में यह बात नहीं है। इसी प्रकार का थोड़ा-बहुत अन्तर मध्यवर्ती और पश्चिमी रूपान्तरों में भी मिलता है।

आल्हखण्ड का महाकाव्यत्व

आल्हखण्ड के सम्बन्ध में अब तक जो विचार किया गया है उससे यह स्पष्ट है कि वह एक विकसनशील लोकमहाकाव्य है क्योंकि उसकी मूलकथा में अनेकानेक अर्द्ध-ऐतिहासिक और कल्पित कथाएँ जुड़ती रही हैं जिनके फलस्वरूप वह गाथा से गाथाचक्र और फिर गाथाचक्र से विकसित होता हुआ लोकमहाकाव्य के रूप में बदल गया है। उसे लोकमहाकाव्य कहने का कारण यह है कि विकसनशील होते हुए भी महाभारत, रामायण और पृथ्वीराजरासो जैसा महाकाव्य नहीं है। महाभारत, रासो आदि साहित्यिक विकसनशील काव्य हैं क्योंकि उनका विकास शिष्ट शिक्षित वर्गों के बीच हुआ है और आल्हखण्ड अशिक्षित और सामान्य जनता के बीच विकसित हुआ है। अनेक कारणों से आल्हखण्ड समूचे समाज द्वारा कभी मान्य नहीं हुआ। शिष्ट नागरिक समाज

१—आल्हखण्ड, प्रकाशक—मटरूलाल अत्तार, बाजार शाहघासा, मेरठ।

उसे ग्रामीण काव्य मान कर उसकी उपेक्षा करता रहा। फलतः आल्हखंड अशिक्षित ग्रामीण समाज के असाहित्यिक वातावरण में जनगायकों द्वारा मौखिक रूप से संरक्षित और विकसित होता आया है। उसमें महाकाव्य के गुण वर्तमान हैं या नहीं, इस संबंध में विचार करने के पूर्व इतना कह देना आवश्यक है कि अनेक विद्वानों ने आल्हखंड को महाकाव्य माना है। श्री जयशंकर प्रसाद ने तो आल्हखंड और रासो दोनों को विकसनशील (संकलनात्मक) पौराणिक महाकाव्यों की परम्परा में माना है। उन्होने लिखा है, 'हिन्दी में संकलनात्मक महाकाव्यों का आरम्भ भी पुराणों के अनुसार वीरगाथा से होता है। रासो और आल्हा, ये दोनो ही पौराणिक काव्य, महाभारत की परम्परा में हैं[1]।" ग्रियर्सन ने तो आल्हखड की एक गाथा (एक खड) को ही एक महाकाव्य कहा है[2]। पर सभवतः 'आल्हा का विवाह' को महाकाव्य कहते समय महाकाव्य की महत्ता और मर्यादा की ओर ग्रियर्सन का ध्यान नही था क्योंकि वह स्वय महाकाव्य नही, एक बडे महाकाव्य का छोटा अंश मात्र है। जो २३ अथवा ५२ लड़ाइयाँ हैं उनमें अधिकांश एक दूसरे से असबद्ध सी हैं। फिर भी सबका सम्मिलित और समन्वित प्रभाव महाकाव्य जैसा ही पड़ता है। जिस तरह अंगरेजी में बियोवूल्फ लोकमहाकाव्य के रूप में मान्य है, उसी तरह आल्हखण्ड को भी समन्वित प्रभाव और उसमें अन्तर्निहित महत्ता के कारण लोकमहाकाव्य मानना सर्वथा उचित है।

१—उद्देश्य और प्रेरणा शक्ति

महाकाव्य का प्रधान लक्षण उसकी महत्प्रेरणा और महदुद्देश्य होता है। आल्हखण्ड में विकसनशील लोकमहाकाव्य होने के कारण, उद्देश्य का वह रूप नहीं दिखलाई पडता जो अलंकृत महाकाव्यों में होता है। उसका विकास लोकगाथा से हुआ है, अतः जिस तरह लोकगाथाओं में मनोरंजन के अतिरिक्त कोई अन्य प्रत्यक्ष उद्देश्य नहीं होता उसी तरह आल्हखण्ड का उद्देश्य भी प्रत्यक्षतः तो मनोरञ्जन ही है। वर्षा ऋतु में बादलों की मन्द ध्वनि के साथ जब ढोलक पर अल्हैतों की थाप पडती है तो सारा ग्रामीण समाज इस वीरकाव्य का रसास्वादन करने के लिए एकत्र हो जाता है। सम्भवतः वर्षा के

१—काव्य-कला तथा अन्य निबन्ध—जयशंकरप्रसाद, प्रयाग, सं० २००५, तृतीय सस्करण, पृ० ११४।

२—द साग आव आल्हाज मैरेज, ए भोजपुरी एपिक, ग्रियर्सन, इण्डियन ऐण्टीक्वैरी, भाग, १४, पृ० २०६।

कारण अवकाश के समय का उपयोग करने के लिये आल्हा का वर्षा ऋतु में गान करने की परिपाटी है। धार्मिक उपदेश सुनने या अन्य किसी प्रकार का लाभ उठाने के लिये लोग आल्हा सुनने नहीं जाते। फिर भी यह प्रवाद प्रचलित है कि जहाँ लगातार कुछ दिनों तक महाभारत की कथा और आल्हा का गान होता है वहाँ लड़ाई-झगड़ा अवश्य हो जाता है । इस प्रवाद के मूल में मनोवैज्ञानिक सत्य यह है कि आल्हा में वीरता की भावना इस सीमा तक है और वह श्रोताओं को इतना अधिक प्रभावित करता है कि उसका प्रभाव वीरतामूलक कार्यों, मार-पीट आदि, के रूप में प्रकट होता है। कहा जाता है कि प्रथम महायुद्ध के समय भारतीय सैनिकों के बीच सरकार की ओर से आल्हा गवाया जाता था और उससे उनमें उत्साह की उमंग और वीरता का जोश लहरें लेने लगता था । इससे यह तो स्वतःसिद्ध है कि आल्हखण्ड में वीरता की भावना कूट कूट कर भरी है और उससे वीरोचित कार्यों के लिये अदम्य प्रेरणा प्राप्त होती है। अतः उसमें प्रत्यक्षतः कोई उद्देश्य भले ही न दिखाई पड़े किन्तु परंपरा रूप से वीरता की भावना को प्रबुद्ध और पुष्ट करना ही उसका लक्ष्य है। इस महदुद्देश्य की सिद्धि के लिए ही आल्हखण्ड की प्रत्येक गाथा का विधान हुआ है।

वीरता की भावना सापेक्ष्य होती है अर्थात् प्रत्येक युग में उसके स्वरूप और व्यवहार-विधि में परिवर्तन होता रहता है । आल्हखण्ड में आल्हा-ऊदल तथा अन्य वीरों के युद्धों का जो वर्णन मिलता है वह प्रमुखतः सामन्ती वीरयुग की वस्तु है। उस युग में वैयक्तिक वीरता, मान-मर्यादा और शारीरिक शक्ति के प्रदर्शन का ही सर्वाधिक महत्व था। समूचे आल्हखण्ड में अधिकांशतः इन्हीं बातों का वर्णन और चित्रण हुआ है । अतः यह तो स्पष्ट है कि उसमें सामन्ती वीरयुग की वीर भावना ही निहित है और उसी का उद्रेक करना उसका उद्देश्य है । अनेक युग-परिवर्तनों के बाद भी आल्हखण्ड की लोकप्रियता न केवल बनी रही बल्कि उसका दूर-दूर तक बहुत अधिक प्रचार भी हुआ, यही इस बात का प्रमाण है कि उसका उद्देश्य किसी एक युग के लिये ही उपयोगी नहीं था, उसमें अवश्य कोई ऐसी शक्ति है जो परवर्ती युगों की सामान्य भारतीय जनता को प्रेरित और आकृष्ट करती रही है। वह शक्ति है मानव मात्र के हृदय में निहित वीरपूजा की प्रवृत्ति। यही प्रवृत्ति आल्हखण्ड की अदम्य प्रेरणा-शक्ति है। यह शक्ति किसी विशेष कवि की काव्य प्रतिभा से उद्भूत नहीं है बल्कि वह युग युग की सामान्य भारतीय जनता के सामूहिक हृदय की देन है। सारे समाज के हृदय में निहित वीरपूजा की अदम्य भावना

ही मानों पुंजीभूत रूप धारण करके इस वीरकाव्य में प्रकट हो गयी है। यही उसकी लोकप्रियता और प्रभविष्णुता का कारण है। वीरपूजा की प्रवृत्ति प्रत्येक युग के समाज में किसी न किसी रूप में वर्तमान रहती है कभी उसका स्वरूप वैयक्तिक होता है, कभी जातीय और कभी राष्ट्रीय। सामन्ती वीरयुग की वीरता वैयक्तिक होती थी, अतः इस युग की वीरपूजा की प्रवृत्ति का स्वरूप भी वैयक्तिक होता था अर्थात् जो कोई भी अतिशय शारीरिक शक्ति और पराक्रम का प्रदर्शन करता था वह उस युग में आदर और गौरव का अधिकारी माना जाता था और समस्त समाज उसे राजाओं, विद्वानों और सन्तों से भी अधिक सम्मान प्रदान करता था। ऐसे युग में वीरों का जीवन-चरित्र बहुत शीघ्र निजन्धरी स्वरूप धारण कर लेता था और उनके सम्बन्ध में नाना प्रकार की अतिशयोक्ति पूर्ण आनुश्रुतिक कथाएँ प्रचलित हो जाती थीं। इस प्रकार वीरपूजा की प्रवृत्ति सामान्य जनता की अत्यन्त शक्तिशाली और महत्वपूर्ण प्रवृत्ति है और उस प्रवृत्ति की अत्यन्त सफल अभिव्यक्ति आल्हखण्ड में हुई है। वस्तुत वीरपूजा की प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करने वाला यह सर्वश्रेष्ठ लोककाव्य है, वह न तो रासो की तरह का जातीय काव्य है, न रामचरित मानस की तरह राष्ट्रीय और सांस्कृतिक काव्य। इसके विपरीत वह विशुद्ध वैयक्तिक वीरता, स्वाभिमान, दर्प और साहसपूर्ण कार्यों का काव्य है जिसमें समस्त जीवन के केन्द्र में बाहुबल को ही प्रतिष्ठित किया गया है। उसमें न तो नैतिक, धार्मिक और राष्ट्रीय मूल्यों के लिए कोई आग्रह है, न पद्मावत की तरह आध्यात्मिक मूल्यों की ही प्रतिष्ठा की गयी है। उसका उद्देश्य मनोरंजन करना और उसी के माध्यम से वीरपूजा की प्रवृत्ति को जाग्रत करना और वीरभावना का संचार करना है। यह उद्देश्य अपनी सीमाओं और सकीर्णताओं के होते हुए भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। अतः अपने इस उद्देश्य की महत्ता और अपनी सहज-सरल प्रेरणा-शक्ति की तीव्रता और व्यापकता के कारण आल्हखण्ड महाकाव्य पद का अवश्य अधिकारी है।

२—गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्त्व

सामान्यतया गुरुत्व और गाम्भीर्य का अर्थ पाडित्य, व्यापक ज्ञान तथा दार्शनिक ऊहापोह समझा जाता है। यदि यह धारणा सही हो तब तो ग्रामीण अशिक्षित जनता के जीवन को गुरुत्व और गाम्भीर्य से शून्य ही मानना पड़ेगा। परन्तु गुरुत्व और गाम्भीर्य की माप विद्या और दार्शनिक ज्ञान से ही नहीं, हृदय तत्त्व की ऊँचाई, व्यापकता और गहराई से भी होनी चाहिये। आल्ह-

खण्ड में लोक-हृदय की एक प्रधान प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति हुई है वह प्रवृत्ति वीरता और साहस की है। किन्तु इस अभिव्यक्ति में गहराई, ऊँचाई और व्यापकता का अभाव नहीं है। शिष्ट नागरिक जन, जो उच्चवर्गीय साहित्य के अभ्यासी होते हैं, लोककाव्य की इसी कारण उपेक्षा और अनादर करते तथा उस पर भद्देसपन और ग्राम्यता का आरोप करते हैं कि उसमें पाण्डित्यप्रदर्शन, शब्द कौशल, कृत्रिम जीवन-विधियों और आडम्बर का घटाटोप नहीं है। ये बातें वस्तुतः ऊपरी हैं। यदि किसी काव्य में हृदय तत्व की गहराई, ऊँचाई और व्यापकता न हो और उपर्युक्त अन्य बातें हो तो भी वह महाकाव्य नहीं माना जा सकता। आल्हखण्ड में प्रधानतया युद्धों और विवाहों का वर्णन है। युद्ध और योद्धा हर युग में होते आये हे किन्तु लोक-चित्त पर आल्हा-ऊदल आदि वीरों की जैसी अमिट छाप पड़ गयी है वैसी बड़े बड़े वीरों-महाराणा-प्रताप, शिवाजी और लक्ष्मीबाई आदि-की भी नहीं पडी। इसका कारण यह है कि आल्हखण्ड के वीरों में जिस वीरता की प्रतिष्ठा हुई है वह असामान्य और अतिमानवीय है। साहस, शारीरिक शक्ति, जन्म भूमि का प्रेम, परिवार-प्रेम, राज भक्ति, जातीय सम्मान की भावना, आत्माभिमान आदि जिन गुणों के वे आश्रय है वे उनमें चरम मात्रा में दिखाये गये हे। उपर्युक्त गुणों की अभि-व्यक्ति आल्हखण्ड के पात्रों में इस सीमा तक हुई है कि वे सामान्य जन से बहुत ऊपर उठे दिखाई देते हैं। हम अपने ज्ञान और आडम्बरपूर्ण जीवन को अलग हटा कर आश्चर्य और कुतूहल से उनके असाधारण व्यक्तित्व निर्भय साहस, मृत्यु की सहज उपेक्षा और चमत्कारपूर्ण कार्यों को अपनी मनं दृष्टि से देखते रह जाते है। ऐसे महान वीर और विचित्र साहसी पात्र पृथ्वीराजरासो को छोड़ कर संभवतः हिन्दी के अन्य किसी वीरकाव्य में नहीं दिखाई पड़ेगे। अतः उनकी इसी महत्ता, ने आल्हखण्ड को गुरुत्व प्रदान किया है। उनके हृदय में उत्साह का जो समुद्र लहराता है उसी का गाम्भीर्य आल्हखण्ड का गाम्भीर्य है और उन वीर चरित्रों की जीवन्तता और कर्मशीलता से ही आल्ह-खण्ड में महत्त्व की प्रतिष्ठा हुई है।

यह सही है कि आल्हखण्ड में विचारोत्तेजना की सामग्री बिलकुल नहीं है न उसके पात्रों का चरित्र ही आदर्श चरित्र है। अलंकृत महाकाव्यों में गहराई और गुरुत्व का कारण उनका विचारवैभव और आदर्श चरित्रों की प्रतिष्ठा होती हैं। किन्तु आल्हखण्ड में इन्हें खोजने की चेष्टा नहीं करनी चाहिये। कारण, वह सच्चे अर्थ में विकसनशील लोककाव्य है। इसी कारण उसमें निराभरण सहजता, सादगी और अनलंकृति है। अलकृत महाकाव्यों की

तरह की थोड़े में अधिक कहने, कम शब्दों में अधिक अर्थ भरने की प्रवृत्ति उसमें नहीं दिखाई पड़ती और न उसमें शास्त्रीय, धार्मिक और दार्शनिक विषयों का ही वर्णन हुआ है। साथ ही उसमें अलंकृत महाकाव्यों की तरह आदर्श चरित्रों की प्रतिष्ठा भी नहीं की गई है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ है कि उसमें अपने प्रतिपाद्य विषय—वीरता का चित्रात्मक वर्णन–को पूर्णरूप से स्पष्ट करने का बहुत अधिक अवसर मिला है। विषय की एकनिष्ठता के कारण उसमें घटना-प्रवाह की क्षिप्रता और भावनाओं की तीव्रता बहुत अधिक दिखलाई पड़ती है। आल्हखण्ड की प्रभविष्णुता और सफलता का यही रहस्य है। इस प्रकार इस काव्य में तीव्रता और गहराई ही प्रधान वस्तु हैं। यद्यपि बौद्धिक विवेचन और पाण्डित्य प्रदर्शन का प्रयत्न उसमें कहीं नहीं दिखलाई पड़ता फिर भी भावनाओं की तीव्रता और गहराई के कारण उसमें गुरुत्व और महत्व की प्रतिष्ठा हो गयी है जो सच्चे महाकाव्य का एक प्रमुख लक्षण है।

३—महत्कार्य और समग्र युग-जीवन का चित्रण

यद्यपि किसी महत्कार्य की सिद्धि और युग विशेष के समग्र जीवन का पूर्ण चित्रण भी महाकाव्य का एक आवश्यक लक्षण है पर यह लक्षण लोकमहाकाव्य पर उतना नहीं लागू होता जितना अलंकृत महाकाव्यों या साहित्यिक विकसनशील महाकाव्यों पर। पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं कि रासो में ये बातें पूर्णतः मिलती हैं। आल्हखण्ड में उपर्युक्त दोनों तत्त्वों का आंशिक रूप ही दिखलाई पड़ता है। रासो की तरह उसमें भी महत्कार्य की सिद्धि नहीं हुई है अर्थात् उसके नायक को फल की प्राप्ति नहीं होती है। यह एक दुःखान्त महाकाव्य है जिसका अन्त महाध्वंस में हुआ है, जिसमें पृथ्वीराज, चन्द्र, आल्हा और इंदल को छोड़ अन्य सभी प्रधान पात्रों की मृत्यु हो जाती है। आल्हाखण्ड में आल्हा को अमर कहा गया है और अन्तिम युद्ध में यद्यपि पृथ्वीराज की विजय होती है पर आल्हा मारा नहीं जाता, वह अमरनाथ के साथ कजरी वन में चला जाता है। इस तरह इसमें भी नायक की, यदि आल्हा को नायक मानें तो, मृत्यु नहीं होती। अतः रासो की तरह आल्हखण्ड भी दुखान्त और सुखान्त दोनों ही है, क्योंकि उसमें नायक के पक्ष की पराजय होती है, ऊदल मारा जाता है, फिर भी आल्हा की वीरता पर आँच नहीं आती और न उसकी मृत्यु ही होती है। इसलिये भारतीय काव्यशास्त्र की दृष्टि से इसमें महत्कार्य की सिद्धि पूर्णतया नहीं होती है किन्तु पाश्चात्य काव्यशास्त्र की दृष्टि से दुखान्त होने के कारण उसमें प्रभावान्विति और गहराई पूर्णतः दिखलाई पड़ती है और इसे ही इस काव्य का महत्कार्य मानना चाहिये।

किन्तु साधारणतः महत्कार्य का अर्थ कोई ऐसी महती घटना है जिसका सम्पूर्ण युग-जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा हो। ऐसी महत्त्वपूर्ण घटना को चरम-बिन्दु में प्रतिष्ठित करने वाला काव्य ही महाकाव्य कहा जा सकता है। १२ वीं शताब्दी में मुसलमानों की विजय का एक प्रधान कारण यह था कि उत्तर भारत के राजाओं में निरन्तर युद्ध होता रहता था। इतिहास इस बात का साक्षी है कि पृथ्वीराज और परमाल के बीच सं० १२३९ में भयंकर युद्ध हुआ था जिसमें परमाल बुरी तरह पराजित हुआ और उसके बाद उसकी शक्ति एक दम क्षीण हो गयी। यदि आल्हा, ऊदल, मलखान, लाखन आदि वीर वस्तुतः ऐतिहासिक व्यक्ति हों और वे उसी युद्ध में मारे गये हों तो सचमुच यह देश की एक बहुत महत्वपूर्ण और दुर्भाग्यपूर्ण दुर्घटना थी। परमाल के ही पूर्वज धंग ने कन्नौज के परिहार और पञ्जाब के शाही राजाओं के साथ संघ बनाकर महमूद गजनवी का डट कर मुकाबला किया था। यदि बारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में उत्तर भारत के तीन विशाल साम्राज्यों—अजमेर, कन्नौज, महोबा—की इसी प्रकार की संघ-शक्ति होती तो बहुत संभव है कि मुसलमानों की विजय न होती और न भारत में मुसलमानी शासन ही स्थापित हो पाता। अतः पृथ्वीराज और परमाल का युद्ध उस युग की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना थी और आल्हखण्ड के अन्त में उसी घटना का वर्णन किया गया है। निस्सन्देह यह घटना महाकाव्य का वर्ण्य विषय बनने के उपयुक्त है और आल्हखण्ड की कथायें और लड़ाइयाँ उसी घटना की भूमिका या पृष्ठभूमि के रूप में वर्णित हुई हैं।

किसी भी घटना का महाकाव्य का महत्कार्य बनना उस घटना की ऐतिहासिकता या महत्त्व पर उतना निर्भर नहीं करता जितना कवि की कल्पना शक्ति और वर्ण्य घटना की पृष्ठभूमि की व्यापकता पर निर्भर करता है। प्रत्येक महाकाव्य में जो अन्तिम महती घटना होती है उसके पूर्व पृष्ठभूमि के रूप में दाम्पत्य जीवन, पारिवारिक जीवन, राजनीति, धर्म, मनोरंजन, युद्ध आदि से सम्बन्धित विविध प्रकार के कार्यों की शृङ्खला जुड़ी रहती है। अन्तिम महत्कार्य तो उसी कार्य-कारण-शृङ्खला की चरम परिणति होता है। अस्तु, रासो में जिस तरह अन्य सभी युद्ध और विवाह अन्तिम विवाह और अन्तिम युद्ध की पूर्व-पीठिका हैं, उसी तरह आल्हखण्ड में बेला के गौना और उससे सम्बन्धित युद्धों के लिए ही अन्य सभी विवाहों और युद्धों की आयोजना पूर्वपीठिका के रूप में की गयी है। जिन लोगों द्वारा आल्हखण्ड का विकास हुआ उनकी कल्पनाशक्ति बहुत तीव्र थी, इसमें कोई सन्देह नहीं क्योंकि अन्तिम महान

युद्ध का वर्णन करने के पूर्व उन्होंने इस काव्य के पात्रों का शौर्य, पराक्रम तथा अन्य चारित्रिक विशेषताएँ प्रदर्शित करने के लिए युद्धों और विवाहों की लम्बी शृङ्खला की योजना की है। इस तरह आल्हखण्ड का चित्रपट बहुत विशाल हो गया है। उसमें कथा का प्रधानघटना-स्थल यद्यपि मध्यदेश है जिसके केन्द्रीय नगर महोबा, कन्नौज और दिल्ली हैं पर विविध युद्धों और विवाहों के प्रसंग में कामरूप और बंगाल से लेकर बलख-बुखारा तक और हिमालय से लेकर गुजरात तक के भूभाग को काव्य का कार्यक्षेत्र बनाया गया है। उसके पात्रों में राजा, राजकुमार, सामन्त, सरदार, सेनापति, मंत्री, सैनिक, नौकर, भाँट, वेश्या, रानी, दासी, पण्डित, नाई, धोबी, योगी, सन्त, माली-मालिन आदि सभी प्रकार के और सभी वर्गों के लोग है पर वे सभी सामन्ती वातावरण के पुर्जों के रूप में दिखलाई पड़ते हैं। इस तरह सामन्ती वीरयुग के दरबारी जीवन का बहुत ही सच्चा और वैविध्यपूर्ण चित्रण इस काव्य में हुआ है। किन्तु समाज के निम्न वर्गों—किसान, गरीब, नौकर-चाकर आदि के दैनन्दिन जीवन और उनकी भावनाओं की उसमें कोई चर्चा नहीं मिलती। उसका वर्ण्य-विषय (थीम) युद्ध और विवाह है पर सामन्ती युग के रीति-रिवाजों, विश्वासों और धर्म-कर्म का प्रासंगिक वर्णन भी उसमें यत्र-तत्र हुआ है। अतः यद्यपि उसमें कार्य-क्षेत्र की व्यापकता, घटनाओं की, विवृत्ति, और चित्रपट की विशालता है फिर भी जीवन का वैसा वैविध्यपूर्ण नाना पक्षात्मक स्वरूप नहीं चित्रित हुआ जैसा रासो जैसे साहित्यिक विकसनशील महाकाव्य और पद्मावत और मानस जैसे अलंकृत महाकाव्यों में हुआ है। इसीलिए यह पहले ही कहा जा चुका है कि आल्हखड में समग्र युग जीवन का वैविध्यपूर्ण चित्रण अलंकृत महाकाव्यों जैसा नहीं हुआ है।

किन्तु यदि सामन्ती वीरयुग की प्रधान प्रवृत्तियों--वीरता, प्रेम और धर्म भावना- की दृष्टि से देखा जाय तो आल्हखंड में वह युग अपने सच्चे रूप में चित्रित दिखाई पड़ता है। महाकाव्य के लक्षणों में आलंकारिकों ने यह कहा है कि उसमें युद्ध, विवाह, पुत्रोदय, मंत्रणा, राजकाज, जलक्रीडा, पुष्पावचय, पानगोष्ठी, विजय पराजय, यज्ञ, मृगया, युद्ध प्रयाण, सभोग और विप्रलभ आदि कार्यों तथा नगर, शैल, वन, सिन्धु, सरिता, प्रभात; रात्रि, चन्द्रोदय, सूर्योदय आदि प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन होना चाहिये। इस कथन का तात्पर्य यही है कि महाकाव्य में समग्र जीवन का वैविध्यपूर्ण चित्रण होना चाहिये। आल्ह-खंड में प्रकृति चित्रण तो बिलकुल नहीं हुआ है, संभोग और विप्रलंभ शृङ्गार तथा जलक्रीड़ा पुष्पावचय आदि विलासिता पूर्ण कार्यों का वर्णन भी उसमें नही हुआ

है। किन्तु सामन्ती वीरयुग के दरबारी जीवन की अन्य प्रधान बातों का उसमें बहुत अधिक वर्णन हुआ है। उदाहरणार्थ उसमें निम्नलिखित बातें प्रमुख रूप से वर्णित हुई हैं :—युद्ध की तैयारी, युद्ध-प्रयाण, युद्ध, दौत्य, मंत्रणा, मृगया, विवाह से सम्बन्धित विविध प्रकार के कार्य जैसे टीका भेजना, बलपूर्वक विवाह करना, ऐपन बारी भेजना, गौना और चौथ की प्रथा आदि, सती होने की क्रिया, योगी और उनके कार्य, कजरी का त्यौहार, चुगली करना, धोखा देना वचन देकर उसे न पूरा करना, योगी के वेश में नगरप्रवेश और युद्ध, वेश्या-नृत्य और योगी नृत्य, मन्त्र-तन्त्र का प्रदर्शन, मन्त्रयुद्ध आदि।

युद्ध और विवाह—आल्हखण्ड के युद्धों के स्वरूप और उनके कारणों पर विचार करने पर पता चलता है कि वो युद्ध प्रमुखतः इन कारणों से लड़े गये हैं। (१) विवाह के सम्बन्ध में, (२) प्रतिशोध की भावना से, (३) लूटने के लिए (४) गौना और चौथ के सम्बन्ध में (५) कर वसूल करने के लिए (६) सती की चिता में आग देने के प्रश्न को लेकर (७) ऐपन बारी के समय, (८) दूसरे का राज्य हड़पने के लिए, (९) किसी का हरण हो जाने पर। ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर इनमें से अधिकांश कारण अतिशयोक्तिपूर्ण या काल्पनिक प्रतीत होते हैं। आल्हखण्ड के अधिकांश युद्धों की कल्पना संभावना के आधार पर की गयी है। यह ठीक है कि सामन्ती वीरयुग में स्त्री भी युद्ध का कारण बन जाती थी अथवा युद्ध के बाद कोई राजा अपने शत्रु से अपनी पुत्री का विवाह करके सन्धि कर लेता था किन्तु सभी विवाहों, यहाँ तक कि गौना और चौथ के समय भी युद्ध होने की बात अतिशयोक्तिपूर्ण है और इस प्रकार के जितने युद्धों का वर्णन आल्हखण्ड में हुआ है उन सबमें विवाह, गौना, चौथ आदि निमित्त मात्र हैं, वस्तुतः युद्ध की अधिकता दिखाना और वीरों का पराक्रम और शारीरिक शक्ति का प्रदर्शन करना ही प्रधान उद्देश्य है। इस तरह वीरता के कार्यों को बहुत अधिक बढ़ा चढ़ा कर वर्णन करने की प्रवृत्ति के कारण ही आल्हखण्ड में इतने अधिक युद्धों का विधान हुआ है। उसमें ऐपनबारी की प्रथा भी दिखलाई गई है जिसमें वर-पक्ष का नाऊ ऐपनबारी लेकर जाता और नेग में कन्या पक्ष वालों से अकेले युद्ध करता है। प्रत्येक विवाह के अवसर पर आल्हा के पक्ष का रुपना बारी यह काम करता दिखाया गया है। दिल्ली का दूसरा युद्ध और बंगाले का दूसरा युद्ध गौने के अवसर पर हुए, बौरीगढ़ की लड़ाई चन्द्रावली की चौथ के सम्बन्ध में हुई। महोबे और दशपुरवा पर करिया ने दो बार केवल नौलखाहार लूटने के लिए आक्रमण किया था। सिरसा-युद्ध राज्य-विस्तार के लिए

और गांजर आदि के युद्ध कर वसूल करने के सम्बन्ध में हुए। आल्हा, ऊदल और मलखान ने दस्सराज और बच्छराज की हत्या का बदला लेने के लिए माड़ोगढ़ और पथरीगढ़ की विजय की थी। उसी तरह इन्दलहरण और ऊदलहरण के प्रसंग में भी युद्ध हुए।

इस प्रकार आल्हखंड युद्धों और विवाहों का काव्य है, पर विवाह तो उसमें युद्ध का निमित्त मात्र है। आल्हखंड से तो ऐसा मालूम पड़ता है कि वीरता के मद में मस्त सामन्ती वीरयुग के वीरों के सामाजिक कृत्य विवाह आदि और धार्मिक कार्य गंगास्नान, कजरी आदि भी बिना युद्ध के पूर्ण नहीं माने जाते थे। यही कारण है कि उसमें विवाह तो गौण है, युद्ध ही प्रधान हो गये हैं। विवाह, शृङ्गारिक वर्णन और विलासित आदि का इस काव्य में स्वतंत्र रूप से कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है। राजाओं के विवाह टीका भेज कर होते थे पर आल्हखण्ड में यह पहले ही मान लिया जाता है कि किसी राजा का टीका स्वीकार करने का अर्थ है उस राजा से भयंकर युद्ध। इसीलिए जो अत्यंत वीर हैं वे ही किसी का टीका स्वीकार करते हैं। इस प्रथा के फलस्वरूप राजकुमारियाँ बहुत सयानी हो जाती हैं पर उनका विवाह नहीं हो पाता और उनकी सखियाँ उन पर व्यंग्य करती हैं। रूप-गुण-श्रवणजन्य प्रेम की चर्चा भी कुछ विवाहों के प्रसंग में हुई है और सुग्गों से सन्देश भी भेजे जाते हैं पर प्रेम की मार्मिक अभिव्यक्ति कहीं भी नहीं हुई है। उसी तरह संयोग और विप्रलम्भ शृङ्गार की अभिव्यंजना कहीं कहीं नाम मात्र को मिल जाती है। आल्हा का विवाह शीर्षक अध्याय में नैनागढ़ की राजकुमारी सयानी हो गयी है और सखियों से आल्हा के रूप-गुण की प्रशंसा सुनकर आसक्त होती और हीरामन सुग्गा से ऊदल के पास स्वयं अपने विवाह का टीका भेजती है। उसी तरह 'इन्दल का तीसरा व्याह' नामक अध्याय में सिंहल की राजकुमारी लेखावती इन्दल का रूप-गुण सुन कर उससे विवाह करने को लालायित हो उठी और रात में उड़नखटोले से रिजगिरी पहुँच कर इन्दल के शयनागार में गयी, उसके साथ चौपड़ खेला और उससे विवाह किया। उसके चले जाने पर इन्दल विरह-कातर हो गया। जब उसने अपनी बातें घर वालों को बताईं तो उस पर पहरा बैठा दिया गया पर वह किसी तरह निकल भागा और गुरु अमरनाथ की सहायता से योगी बन कर सिंहल पहुँचा। माडौ की राजकुमारी विजैसिन और नरवरगढ़ की राजकुमारी फुलवा के साथ ऊदल के प्रेम की कथा भी कुछ विस्तार से दी गयी है। इस तरह प्रेम के विरह-मिलन-जन्य आनन्द और वेदना का वर्णन भी यत्रतत्र इस काव्य में हुआ है पर वह बहुत मार्मिक और विशद

नहीं है। विवाह से संबधित रीति-रिवाजों जैसे टीका भेजना, तेल-हल्दी लगाना, बारात, ज्यौनार, दान-दहेज, विदाई, परछन आदि का भी यथास्थान वर्णन हुआ है।

युद्ध, विवाह और प्रेम-व्यापार के अतिरिक्त जीवन के अन्य पक्षों और स्वरूपों का उद्घाटन आल्हखण्ड में बहुत कम हुआ है। चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद ने लिखा है, 'यदि इस काव्य के कथानक ही को एक बार आद्यन्त मन लगाकर पढ़ने का कष्ट उठावें तो इस काव्य का केवल ऐतिहासिक महत्व ही नहीं, प्रत्युत १२ वीं शताब्दी के भारतवासियों की राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक प्रवृत्तियों की जानकारी सहज ही में प्राप्त कर सकेंगे। तभी इस काव्य की उपादेयता और इसका महत्व भी अपने आप प्रतीत हो जायगा[1]।' चतुर्वेदी जी का यह कथन सर्वांशतः सत्य नहीं है कि इस काव्य में १२वीं शताब्दी के भारत का पूर्ण प्रतिबिम्ब दिखलाई पड़ता है, क्योंकि उसमें बहुत-सी बातें बहुत बाद की जुड़ी हुई हैं। आल्हखण्ड से भारतवासियों के राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक प्रवृत्तियों का परिचय भी उसी प्रकार पूर्णता से नहीं प्राप्त होता जैसा रासो, पद्मावत या मानस से होता है। फिर भी इस कथन में इतना सत्य अवश्य है कि आल्हखण्ड में जीवन के अन्य पक्षों की बिलकुल उपेक्षा नहीं की गयी है यद्यपि लोकगाथाओं की प्रवृत्ति के अनुसार उसमें जीवन के एक पक्ष को ही बड़ी गहराई और तीव्रता के साथ देखा गया है।

४–कथानक की योजना

आल्हखण्ड के कथानक का ढाँचा पृथ्वीराजरासो के कथानक से मिलता-जुलता है। दोनों ही काव्यों में कथानक शिथिल, विशृंखलित और खण्डों में विभक्त है पर दोनों में एक बहुत बड़ा अन्तर यह है कि रासो वर्णनात्मक काव्य है और आल्हखण्ड कथात्मक। यद्यपि दोनों विकसनशील हैं पर एक का विकास दरबारी जीवन के शिष्ट नागर वातावरण में हुआ है और दूसरे का लोकजीवन के आडम्बरशून्य वातावरण में। लोकरुचि कथा-प्रवाह और भाव-धारा में रमती है, वस्तु-वर्णन और परिगणना द्वारा ज्ञान-प्रदर्शन से वह दूर भागती है। साथ ही मौखिक परम्परा में बहुत लम्बे कथानक का विकास सम्भव नहीं है, वहाँ तो ऐसे ही काव्यों का विकास सम्भव है जो या तो एक-दो रात में गाये जा सकें या जिनके कई खण्ड हों और वे खण्ड बहुत

१—चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद, आल्हा (आल्हा की कथा) भूमिका, प्रयाग, सन् १९४०, पृ० ३।

कुछ स्वतन्त्र हों। हाँ यदि प्रधान पात्र उन सभी खण्डों में आवें तो रुचि और बढ़ जाती है क्योंकि नई कथा में पुराने पात्रों के शील-निरूपण और कार्य-चमत्कार सुनने को मिलता है। यही कारण है कि आल्हखण्ड में कहीं २३ कहीं ३२ और कहीं ५२ लड़ाइयों का जो वर्णन मिलता है उन सबका इस काव्य में एक प्रकार से सम्बन्धित फिर भी स्वतन्त्र स्थान है। ५२ लड़ाइयों में संयोगिता-हरण और परमाल के ब्याह से सम्बन्धित युद्धों को छोड़कर अन्य सब में आल्हा-ऊदल तथा अन्य बनाफर वीरो का कार्य ही महत्वपूर्ण है। इस प्रकार आल्हखण्ड एक गाथाचक्र है जिसमें एक परिवार के कुछ व्यक्तियों—आल्हा, ऊदल, इन्दल, मलखान को प्रधान पात्र बनाकर तथा अन्य वीरों—सैयद ताल्हन, लाखनि राना, ढेबा जगनिक, रुपना बारी आदि—को उनका सहायक बनाकर अनेक गाथाएँ जोड़ी गयी हैं। गाथाचक्र का अभिप्राय ही है कि उसमें कुछ पात्र तो सब गाथाओं में आवें और अन्य पात्र प्रत्येक गाथा से भिन्न-भिन्न हो। इस दृष्टि से पृथ्वीराज रासो में गाथाचक्र के कुछ लक्षण दिखलाई पड़ते हैं। आल्हखण्ड में यद्यपि कथानक का विकासक्रम, उसका प्रारम्भ, मध्य और अन्त स्पष्ट नहीं, दिखलाई पड़ता अर्थात् उसकी कथा आदि से अन्त तक धारा प्रवाह के रूप में नहीं खण्डित और विशृंखलित रूप में है परन्तु कुछ पात्रों के ही जीवन से सम्बद्ध सभी कथाएँ हैं और उनमें भी ऊदल ही सबसे बड़ा योद्धा है जो सर्वत्र अपना पराक्रम दिखाता है। अतः कथानक का एक क्षीण सूत्र सभी गाथाओं को एक में ग्रथित करता है। महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों के अनुसार कथानक नाटक की सभी सन्धियों से युक्त होना चाहिए। यह बात आल्हखण्ड के कथानक में नहीं है। किन्तु यह बात भी ध्यान में रखने की है कि शास्त्रीय नियम महाभारत की तरह ही इस लोकमहाकाव्य की विषय-वस्तु और रूप-विन्यास को भी बाँधने में असमर्थ है। संभवतः इसीलिए विश्वनाथ कविराज ने महाभारत को आर्ष महाकाव्य कहा है[1]। संभवतः महाभारत और रघुवंश को ही ध्यान में रखकर विश्वनाथ कविराज ने यह भी कहा है कि किसी-किसी महाकाव्य में एक वंश के अनेक कुलीन राजा भी नायक के रूप में होते हैं। इस लक्षण के अनुसार आल्हखण्ड में आल्हा, ऊदल, मलखान आदि बनाफरवंशी वीर, जो प्रायः सभी गाथाओं में प्रधान पात्र के रूप में हैं, नायक के रूप में माने जा सकते हैं। अतः उनके जीवन से सबंधित बिखरी हुई कथाएँ भी एक कथा के रूप में मानी जायँगी।

१—विश्वनाथ कविराज, 'अस्मिन्नार्षे पुनः सर्गा भवन्त्याख्यानसञ्ज्ञकाः ॥'
साहित्यदर्पण—परिच्छेद ६–श्लोक ३२५।

आल्हखण्ड के कथानक का इस प्रकार का ढाँचा सम्भवतः लोककथाओं के प्रभाव के कारण है। पहले अध्याय में बताया जा चुका है कि लोककथा ने साहित्यिक महाकाव्यों और कथा आख्यायिका के स्वरूप को बहुत अधिक प्रभावित किया है। पञ्चतन्त्र और जैन बौद्ध कथा-ग्रन्थों की कथाएँ इसी प्रकार बहुत क्षीण सूत्र से एक-दूसरे से सम्बद्ध मिलती हैं। कथासरित्सागर और कादम्बरी में भी मूल कथा के भीतर कथाएँ और उन कथाओं के भीतर फिर दूसरी कथाएँ पिरोई मिलती हैं। कुछ आख्यायिकायें ऐसी भी होती हैं जिनमें कई कथाएँ स्वतन्त्र रूप से अलग-अलग होती हैं पर कुछ पात्रों के सबमें होने के कारण अथवा कहनेवाला एक होने के कारण अथवा कई कहने वाले एक साथ होने के कारण सभी कथाएँ मिलकर एक लम्बी कथा का रूप धारण करती हैं और सबका सम्मिलित प्रभाव एक होता है। वेताल पञ्चविंशति, दशकुमार-चरित, पञ्चमीकहा आदि कथा ग्रन्थ इसी प्रकार के हैं। प्रबन्धत्व का यह विश्रृं-खलित स्वरूप कथा-आख्यायिका में लोककथा से ही आया है। लोकगाथाएँ लोककथाओं के अधिक निकट सम्पर्क में रहती हैं, अतः उन पर इस शैली का प्रभाव पड़ना अत्यन्त स्वाभाविक है। आल्हखण्ड लोकगाथा से गाथाचक्र में विकसित हुआ है, अतः सहज रूप से उसमें कथानक की योजना उक्त शैली में हुई है।

महाकाव्य में कथानक का विस्तार प्रायः लम्बा होता है क्योंकि उनमें बहुधा पात्रों के समूचे जीवन की कथा दी गयी रहती है। इसीलिए आचार्यों ने महाकाव्य का यह लक्षण माना था कि उसमें न बहुत लम्बे न बहुत छोटे कम से कम आठ सर्ग होने चाहिए। आल्हखण्ड की लड़ाइयों को यदि अलग अलग सर्ग माना जाय तो २३ या ३२ अथवा ४२ सर्गों का महाकाव्य कहा जायगा। उसमें आल्हा-ऊदल के पिता-माता की संक्षिप्त जीवन-कथा और परमाल के ब्याह के बाद आल्हा, ऊदल, मलखान, ब्रह्मा आदि के जन्म से लेकर ऊदल, मलखान, ब्रह्मा आदि की मृत्यु तक का जीवन-वृत्त, जो प्रधानतया युद्ध और विवाह की घटनाओं से भरा हुआ है, दिया गया है। निरन्तर विकसित होते रहने के कारण आल्हा-ऊदल की जीवनकथा के अति-रिक्त अन्य अनेक अनपेक्षित कथाएँ भी इसमें जुड़ गयी हैं जिससे कथानक बहुत लम्बा हो गया है। आधिकारिक कथा में परमाल का ब्याह, महोबे की दूसरी लड़ाई, माड़ौ की लड़ाई, सिरसा की लड़ाई, जूनागढ़ की लड़ाई, आल्हा का विवाह, आल्हा का निष्कासन, बेतवा-तट की लड़ाई, आल्हा-मनौआ और दिल्ली की लड़ाई की घटनाएँ ही आती हैं। शेष कथाएँ प्रासंगिक रूप से

आयी है और इन्दल के तीन ब्याहों, संयोगिता-स्वयंवर आदि की कथाएँ मूल कथा से अत्यल्प सम्बन्ध रखती हैं। पता नही संयोगिता-स्वयंवर की कथा इसमें क्यों और किसलिए घुस आयी है क्योंकि उसका आल्हा-ऊदल से कोई भी सम्बन्ध नहीं दिखाई पड़ता। अनगिनत गायकों द्वारा विकसित होने के कारण ही आल्हखण्ड के कथानक में कलात्मक विकासक्रम, सुनियोजित शृंखला-बद्धता और आवश्यक-अनावश्यक कथावस्तु का चुनाव आदि गुण नहीं दिखाई पड़ते और इस तरह कथानक बिना डीलडौल का, संयमहीन और असन्तुलित हो गया है। लेकिन लोकमहाकाव्य होने से उसके ये दोष दोष नही माने जा सकते।

आल्हखण्ड मे कथानकरूढ़ियाँ—आल्हखण्ड की कथावस्तु में इतना अधिक विस्तार होने का एक यह भी कारण है कि उसमें कथानकरूढ़ियों की भरमार है। ये कथानकरूढ़ियाँ कविकल्पित नहीं बल्कि लोककथाओं से ली गयी हैं। कथानकरूढ़ियों का उपयोग ही इसलिए किया जाता है कि उनसे कथा आगे बढ़े। यथार्थ जीवन से जब कथावस्तु ग्रहण की जाती है तो वहाँ कथानक रूढ़ियों की उतनी आवश्यकता नहीं होती किन्तु जब कथा को रोमांचक, चमत्कार-पूर्ण और विस्तृत बनाना होता है तो काल्पनिक, अलौकिक और सम्भावना पर आधारित विश्वासों और रूढ़ियों को जबर्दस्ती घुसाकर कथानक को आगे बढ़ा दिया जाता है। ये रूढ़ियाँ सभी देशों की लोककथाओं में बहुत कुछ एक जैसी होती हैं। आल्हखण्ड की कोई भी गाथा ऐसी नहीं है जिसमें एक दो या इससे भी अधिक कथानकरूढ़ियों का सहारा नहीं लिया गया है। उसमें प्रयुक्त कुछ कथानक-रूढ़ियाँ ये हैं :—

जादू की लड़ाई—आल्हखण्ड की अनेक गाथाओं में तन्त्र मंत्र के युद्धों का वर्णन किया गया है। अनेक राजा मन्त्र-तन्त्र के जानकार है और जब युद्ध में हारने लगते हैं तो जादू की शक्ति का सहारा लेते हैं। माड़ौ-युद्ध, इन्दल-हरण और ऊदल-हरण में यह बात विशेष रूप से मिलती है। आल्हखण्ड की अनेक स्त्रियाँ जैसे सोना, बिजैसिन, लेखावती, श्यामा भक्तिन, केसर, हिरिया मालिन आदि जादूगरी के अद्भुत करामात करती है, किसी को आदमी से सुग्गा या भेड़ा बना देना या पूरी सेना को पत्थर बना देना उनके बाँयें हाथ का खेल है। इन्दल मन्त्र-शक्ति से उजड़े बाग को हरा कर देता है।

२—चामत्कारिक वस्तुएँ—जादू की चामत्कारिक वस्तुओं अथवा अलौकिक शक्ति वाली स्वर्गीय वस्तुओं का उपयोग भी आल्हखण्ड में कथा को आगे बढ़ाने के लिए बहुत अधिक हुआ है। नैनागढ़ के अमर ढोल में यह शक्ति

थी कि उसके बजते ही मृतक जी उठते थे। उसी तरह पथरीगढ़ का अगिनिया घोड़ा, नरवरगढ़ का अजीता बान, शनिश्चर शैल और काठ का घोड़ा, मन्त्र शक्ति से अभिहित थे। गुरु अमरनाथ ने इन्दल को उड़ाऊँ, जादू का सोंटा और जादू की वशी दी थी जिनके सहारे उसने सिंहल में विजय प्राप्त की थी।

३—पूर्व जन्म की स्मृति—यह कथानकरूढ़ि अधिकतर जैन कथाओं में मिलती है। आल्हाखण्ड में माड़ौगढ़ की राजकुमारी विजैसिन ऊदल पर मुग्ध हो गयी थी और उसने अपने महल का भेद बता कर आल्हा-ऊदल को विजयी बनाया था पर मलखान ने उसे तलवार के घाट उतार दिया था। वही नरवर गढ़ में फुलवा के रूप में पैदा हुई थी। ऊदल जब अरबी घोड़े खरीदने काबुल जा रहा था तो राह में नरवरगढ़ में रुक गया और हिरिया मालिन की सहायता से महल में गया था, वहाँ फुलवा ने पूर्व जन्म की स्मृति के कारण ऊदल को पहचाना और माड़ौगढ़ की बहुत सी बातों की याद भी दिलाई।

४—रूप-गुण-श्रवण जन्य प्रेम—यह रूढ़ि अधिकांश गाथाओं में आयी है। सोना आल्हा को और लेखावती इन्दल को उनके रूप गुण की प्रशंसा सुनकर प्रेम करने लगती हैं। उसी तरह ऊदल फुलवा की प्रशंसा सुनकर प्रेम-विह्वल हो जाता है।

५—पशु-पक्षी से सन्देश—सोना हारीमन सुग्गा से ऊदल के पास यह संदेश भेजती है कि मैं यदि विवाह करूँगी तो आल्हा से। वह सुग्गा महोबा जाकर ऊदल से सब बातें बताता और पत्र देता है।

६—रूप-परिवर्तन (चेंज आव शेप)—यह रूढ़ि भी आल्हखण्ड में बहुत प्रयुक्त हुई है। मन्त्र के बल से विजैसिन ऊदल को भेड़ा और चित्ररेखा को मालिन केसर इन्दल को सुग्गा बना लेती है। उसी तरह इन्दल के दूसरे ब्याह के समय ज्वाला सिंह आल्हा की समूची सेना को पत्थर बना देता है।

७ वेश बदल कर महल मे प्रवेश—आल्हा, ऊदल, मलखान आदि का योगी का वेश बनाकर शत्रु के नगर में प्रवेश करने की बात तो कई जगह आयी हैं, पर ऊदल योगी वेश बनाकर विजैसिन से सतखण्डे पर मिलता भी है। वह नरवरगढ में मालिन का वेश बनाकर महल में जाकर फुलवा से मिला था। इन्दल भी सिंहल में यही काम करता है।

साहसिक कार्य करने के लिए बीड़ा उठाना—मध्यकालीन दरबारों में कोई साहसपूर्ण कार्य करने के लिये बीड़ा उठाने या ढोल बजाने की प्रथा थी

या नहीं, इसका तो पता नहीं है, पर तत्कालीन प्रबन्धकाव्यों और कथाओं में यह बात रूढ़ि के रूप में अपनाई गयी है। हर कठिन काम के लिए आल्हखण्ड में बीड़ा उठाया जाता है और प्रायः ऊदल ही बीड़ा उठाता है। नरवरगढ़ की लड़ाई शीर्षक अध्याय में अरबी घोड़ा खरीदने कौन जाय, इसके लिये बीड़ा और ढोल रखवाया जाता है। सोना के विवाह के लिए स्वयंवर रच कर उसके पिता नेपाली ने भी ढोल रखवा दिया था और घोषणा की थी कि जो इस ढोल को पहले बजावेगा उसी से सोना का विवाह होगा।

इसी प्रकार और कथानकरूढ़ियाँ भी आल्हखण्ड में यत्र तत्र मिलती हैं जैसे, विशेष स्थान में प्राण बसना (मलखान के तलवे में), भविष्यसूचक स्वप्न (नैपाली राजा को देवी का स्वप्न), शकुन विचार, मुनि का वरदान आदि। सब पर विचार करने का अवकाश यहाँ नहीं है। कथानकरूढ़ियों का अधिक होना यह सिद्ध करता है कि आल्हखण्ड में अनैतिहासिक और कल्पित घटनाओं का समावेश अधिक हुआ है और उसका प्रधान लक्ष्य ऐतिहासिक इतिवृत्ति-कथन नहीं, बल्कि अलौकिक और रोमांचक कथावस्तु द्वारा मनोरंजन करना और साथ ही वीरता की भावना का संचार करना है।

५—महत्त्वपूर्ण नायक तथा अन्य चरित्र

वर्तमान आल्हखण्ड के पात्रों में सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका ऊदल की है पर काव्य का नाम आल्हखण्ड होने से यह अनुमान होता है कि इस काव्य का नायक पहले आल्हा रहा होगा और बाद में ऊदल के चरित्र को प्रधानता दे दी गयी होगी। अन्यथा इस काव्य का नाम ऊदलखण्ड होना चाहिये। इस संबन्ध में पहले ही कहा जा चुका है कि बहुत सम्भावना इसी बात की है कि इस काव्य का नाम और रूप पहले बिलकुल भिन्न रहा होगा और उसका नायक भी सम्भवः परमाल रहा होगा, पर कालान्तर में नायक की जगह आल्हा ने ले ली और उसके नाम पर जो एक खण्ड था उसी का नाम पूरे काव्य का बोधक हो गया। फिर लोकरुचि के परिवर्तन के साथ आल्हा का चरित्र सम्भवतः अधिक रोमाँचक न होने से, क्रमशः आल्हा की जगह ऊदल इस काव्य का सबसे महत्त्वपूर्ण पात्र बन गया क्योंकि वह वीरता और साहस के कार्य करने के साथ स्त्री, योगी आदि का वेश धारण करके 'रोमाँस' भी करता दिखाया गया है। आल्हा से यह काम नहीं कराया जा सकता था। इस तरह प्रारम्भ में संभवतः मूल आल्हखण्ड का नायक परमाल या परमर्दि था, बाद में नायक पद आल्हा को मिला और उसी के नाम पर पूरा काव्य आल्हखण्ड

कहलाने लगा। परवर्ती काल में जब श्रृङ्गारिक प्रवृत्तियों का जोर बढ़ा तो उस पद पर ऊदल को आसीन किया गया।

पर यदि ध्यान से देखा जाय तो वर्तमान आल्हखण्ड का कोई एक नायक नहीं है, बल्कि आल्हा, ऊदल, मलखान, इन्दल, ये चार व्यक्ति संमिलित रूप से नायक हैं। जिस तरह महाभारत में पाँच पाण्डव नायक हैं और अन्य पात्र या तो उनके सहायक हैं या प्रतिपक्षी, उसी तरह आल्हखण्ड में बनाफर वंश के उपर्युक्त चारो व्यक्ति नायक हैं और ब्रह्मा, ढेबा, लाखन, सैयद ताला उनके सहायक हैं। महाभारत में जिस तरह कृष्ण आदि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सहायक हैं और दुर्योधन भीष्म, द्रोणाचार्य, कर्ण आदि उतने ही अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतिनायक हैं, उसी तरह आल्हखड में भी ब्रह्मा, लाखन, ढेबा आदि सहायक होते हुए भी महत्त्वपूर्ण पात्र हैं और उसी तरह पृथ्वीराज, धाँधू, चौंड़ा, पारथ आदि प्रतिनायक भी नायकों के समान ही महत्त्वपूर्ण भूमिका में उपस्थित किये गये हैं। आलंकारिकों के अनुसार आधिकारिक कथा के कार्य का फल प्राप्त करने का अधिकारी नायक होता है और अन्य पात्र सहायक माने जाते हैं। इस दृष्टि से आल्हखण्ड में मेरुदण्ड के रूप में कथाशरीर को खड़ा करने वाले और पाठकों-श्रोताओं की सहानुभूति और प्रशंसा के अधिकारी बनाफर वंश के उपर्युक्त चारों वीर ही हैं, भले ही अन्तिम युद्ध में उनकी विजय नहीं होती। प्रासंगिक कथाओं में भी प्रधान भूमिका आल्हा-ऊदल की ही है। अतः पूरे काव्य में शक्तिशाली बनाफर वंश विशाल वट वृक्ष की तरह अन्य पात्रों पर, यहाँ तक कि अपने आश्रयदाता चन्देलवंश और राठौर (गहड़वार) वंश के वीरों—परमाल, ब्रह्मा, जयचन्द और लाखन—के ऊपर छाया हुआ दिखाई पड़ता है। परमाल में इतनी हिम्मत नहीं कि ऊदल या मलखान कोई काम करना चाहें तो वह उन्हें रोक ले। जयचन्द की सेना को पराजित करके आल्हा-ऊदल कन्नौज में पहुँचते और उन्हें भयभीत करके बलपूर्वक सामन्त बन जाते हैं। जयचन्द के अनेक अधीनस्थ राजाओं ने बारह वर्ष से कर नहीं दिया था। आल्हा-ऊदल कन्नौज पहुँचने के बाद उन राजाओं को परास्त करते और जयचन्द का साम्राज्य सुदृढ़ बनाते हैं। यद्यपि ये बनाफर सामन्त और योद्धा सरदार ही हैं, स्वतन्त्र राजा नहीं, पर आल्हखण्ड में वे सारे भारत की दिग्विजय करते हैं। यद्यपि सभी राजा बनाफरों को ओछी जाति का कहकर उनका अपमान करते हैं पर उनसे पराजित होकर उनका लोहा मान लेते हैं। ये बनाफर वीर जिस राजा की पुत्री से चाहते हैं, बाहुबल से विवाह करते और अपनी मर्यादा ऊँची बनाते हैं। इस तरह बनाफर

वंश के ये चारों वीर अपने पराक्रम, साहसपूर्ण कार्य, दुर्दम्य वीरता और अलौकिक शक्ति के कारण आल्हखण्ड के सबसे महत्त्वपूर्ण पात्र हैं। फलतः वे ही इस काव्य के नायक हैं।

'महाकाव्य का स्वरूप' शीर्षक अध्याय में कहा जा चुका है कि आलंकारिको द्वारा निर्दिष्ट यह लक्षण कि महाकाव्य का नायक धीरोदात्त होना चाहिए, सभी प्रकार के महाकाव्यों पर नहीं लागू होता। धीरोदात्त से उनका तात्पर्य आदर्श चरित से है, पर अनेक महाकाव्यों में नायक आदर्श चरित्र वाले नहीं हैं। अतः हमने महाकाव्य के नायक का यह लक्षण निर्धारित किया है कि पूरे काव्य में उसकी भूमिका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होनी चाहिए और सहृदयों की सहानुभूति या प्रशंसा उसी को प्राप्त होनी चाहिए। आल्हखण्ड के नायक यद्यपि आदर्श चरित्र वाले नही हैं पर उनके जीवन-वृत्त को इस ढग से उपस्थित किया गया है कि पाठकों-श्रोताओं का हृदय वे आद्यन्त आकर्षित करते और उनकी सहानुभूति और प्रशंसा प्राप्त करते है। आदर्श चरित्र वाले पात्र न होते हुए भी वे इतने शक्तिशाली, आत्माभिमानी, पराक्रमी और साहसी हैं कि उनका एकमात्र यही गुण उन्हें नायक बनाने के लिए पर्याप्त है। सामन्ती वीरयुग में शारीरिक शक्ति और येनकेनप्रकारेण विजय प्राप्त करने वाला योद्धा ही समाज में सम्मान और अधिकार पाता था। उसके लिए अन्य नैतिक मूल्यों का कोई महत्त्व न था। इस दृष्टि से आल्हखण्ड के नायक सामन्ती वीरयुग की उपर्युक्त प्रवृत्ति का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं। वे झूठ बोलते हैं, धोखा देते है, छिपकर महलों में प्रवेश करते हैं, लूटपाट तथा अन्य बहुतेरे नृशंस कार्य करते हैं, यहाँ तक कि औरतों को मारते-पीटते भी हैं। पर वे युद्ध भूमि में कभी पीठ नहीं दिखाते, दुश्मन पर पहला वार नहीं करते, बड़े बड़े वारों को कुछ नहीं समझते और भयंकर से भयंकर परिस्थितियों का मर्दानगी से सामना करते हैं। वे साहस के मूर्तिमान स्वरूप हैं और अन्तिम युद्ध को छोड़ अन्य सभी युद्धों में निरन्तर विजय प्राप्त करते हैं। इस तरह वीरता की भावना उनमें इस सीमा तक दिखलाई गयी है कि उनके दुर्गुण उसी की ओट में छिप जाते हैं। अतः आदर्श चरित्र न होते हुए भी वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पात्र हैं। सामन्ती वीरयुगीन समाज की दृष्टि से वे ही आदर्श चरित्र भी कहे जायेंगे क्योंकि वे अत्यन्त शक्तिशाली, अलौकिक वीर और विजयी तो हैं ही, साथ ही राजभक्ति और देश भक्ति की भावना भी उनमें पूर्णतः भरी है। वे परमाल के लिए सब कुछ करते हैं पर उन्हीं की आज्ञा पर देश छोड़ कर कन्नौज चले जाते हैं। जयचन्द का नमक अदा करने के लिए वे भयंकर युद्ध करते हैं। महोबा पर पृथ्वीराज के

आक्रमण की खबर सुन कर वे छिपे तौर पर योगी का वेश बनाकर र.दोबे की रक्षा के लिये पहुँचते और कीरतसागर पर युद्ध करते हैं। प्रतिशोध के तो वे प्रज्वलित अगार हैं, बाप की मृत्यु का बदला लेने के लिये माडौगढ का विध्वंस करते हैं, पथरीगढ को जीतते हैं और अपने पक्ष के एक व्यक्ति का भी हरण या अनिष्ट होने पर कठिन से कठिन कार्य करने को तत्पर रहते हैं। उनका समूचा जीवन असाधारण साहसिक कार्यों से भरा हुआ है। सामन्ती वीरयुग की प्रवृत्ति के अनुरूप उनकी वीरता वैयक्तिक है। वे द्वन्द्व युद्ध करने के लिये ललकारते, वैयक्तिक पराक्रम का प्रदर्शन करते और बड़े गर्व के साथ अपने मुँह से अपनी प्रशसा करते या डीग हाँकते हैं। इलियड, ओडसी, महाभारत और रासो सभी वीरयुगीन विकसनशील काव्यों के वीरों में आत्म-प्रशंसा की प्रवृत्ति पाई जाती है। वीरयुग के सामंत और योद्धा अपने अस्त्र-शस्त्रों और हाथी-घोड़ों को सबसे अधिक मूल्यवान मानते और उनके लिए युद्ध करने को भी तैयार रहते थे। इलियड और महाभारत में भी यह बात दिखाई पडती है। इस प्रकार सामंती वीरों की सभी विशेषतायें बनाफर वंश के वीरों में पूर्णरूप में व्यक्त हुई है।

आल्हखण्ड में यद्यपि महाभारत की तरह विविध प्रकार के चरित्रों की भरमार नहीं दिखाई पडती फिर भी उसमें रासो की तरह चरित्र वैविध्य का एकदम अभाव नहीं है। उसमें अधिकतर पात्र वीर और निर्भीक हैं और बहुत कुछ एक ही 'टाइप' के हैं अर्थात् वीरता के अतिरिक्त उनके जीवन के अन्य पक्षों पर प्रकाश नहीं डाला गया है। स्त्रियों से उनका संपर्क तो दिखाया गया है पर उनका जीवन विलासितापूर्ण कहीं नहीं दिखाया गया है। केवल ऊदल और इन्दल के जीवन में स्त्रियों के प्रति लालसा और रसिकता मिलती है, फिर भी वे धर्म-पथ से कहीं विचलित नहीं होते। इतना होते हुये भी आल्हखण्ड के वीरों के चरित्र कुछ भिन्नता लिए हुए अवश्य है। आल्हा और ब्रह्मा अन्य वीरों की अपेक्षा अधिक विवेकयुक्त, धीर और शान्त हैं। इसके विपरीत ऊदल और मलखान उद्धत, चंचल, क्रोधी और अदूरदर्शी हैं। लाखन सच्चे और विश्वासपात्र मित्र के रूप मे और सैयदताला अत्यन्त विश्वस्त अभिभावक और सच्चे स्वामिभक्त सैनिक के रूप में चित्रित किये गये हैं। अन्य पात्रों में परमाल और माहिल निराले व्यक्तित्व वाले हैं। परमाल ने सारे देश की दिग्विजय करने के बाद कीरतसागर में अपनी तलवार पखार कर रख दी थी और अमरनाथ गुरु की आज्ञा से तलवार न उठाने का व्रत ले लिया था। पर वे कहीं मानसिक वीरता का भी प्रदर्शन नहीं करते, इसके विपरीत उनका चरित्र

कायरतापूर्ण अधिक है। अपनी रक्षा के लिए वे शत्रु की अपमानजनक शर्तें भी मानने को तैयार हो जाते हैं । युद्ध का भय उन्हें सदा सताता रहता है पर उनके सरदार उनकी एक नहीं सुनते। इस तरह वे एक कायर और निर्वीर्य राजा के रूप में दिखाई पड़ते हैं। वस्तुतः उनके शासन का कार्य उनकी पत्नी मल्हना द्वारा ही चलाया जाता है और उनके सामन्त-सरदार जो चाहते हैं, परमाल को विवश होकर वही करना पड़ता है । माहिल अपने ढंग का अकेला पात्र है। वह धोखा देने, झूठ बोलने, चुगली करने और राजाओं को परस्पर लड़ाने के लिए देश भर में प्रसिद्ध है। सभी इस बात को जानते हैं पर सभी उसके बहकावे में आते रहते हैं। आल्हखण्ड के अनेक युद्धों का मूल कारण माहिल ही है। हर राजा के यहाँ वह अपनी लिल्ली घोड़ी पर सवार होकर पहुँच जाता है पर युद्धभूमि में कहीं नहीं दिखाई पड़ता। ग्रामीण समाज में माहिले का चरित्र इतना सर्वविदित है कि सभी चुगलखोरों को माहिल कह कर पुकारा जाता है। इसीसे आल्हखण्ड में माहिल के चरित्र का निरालापन स्पष्ट हो जाता है।

अन्य छोटे मोटे पात्रों में चरित्र की कोई विशिष्टता नहीं दिखाई पड़ती। रुपना बारी और धनुआ तेली जैसे व्यक्ति भी उत्कृष्ट वीरता का प्रदर्शन करते दिखाये गये हैं पर उनके जीवन के अन्य किसी पक्ष का उद्‌घाटन नहीं किया गया है। आल्हखण्ड के स्त्री पात्रों में अवश्य चरित्र की विविधता और विशिष्टता दिखाई पड़ती है। उसमें मल्हना ऐसी रानी है जो बड़ी कुशलता से राज-काज के कामों में अपने पति का हाथ बँटाती, उसे नेक सलाह देती और देश की रक्षा के लिए आल्हा-ऊदल को कन्नौज से बुलवाती है । आल्हा-ऊदल परमाल का उतना समान नहीं करते जितना मल्हना का। उसी तरह आल्हा की माँ देवल देवी एक आदर्श माता और वीर क्षत्राणी के रूप में चित्रित की गयी है। वह अपने पुत्रों पर शासन करती है, वे उसकी बात टालने का साहस नहीं करते और न उसकी आज्ञा के बिना कोई काम ही करते हैं। उसमें स्वामिभक्ति और देशभक्ति की भावना इतनी अधिक है कि यद्यपि परमाल ने उसके पुत्रों को देशनिकाला दे दिया था पर जगनिक द्वारा जब उसे मल्हना का संदेश मिलता है कि पृथ्वीराज ने महोबा पर आक्रमण कर दिया है तो सब अपमान भूल कर अपने पुत्रों को महोबा चलने के लिए विवश करती है। वह वीर क्षत्राणी भी है और जब आल्हा-ऊदल अपने बाप के खून का बदला लेने के लिए माड़ौगढ़ पर आक्रमण करते हैं तो वह भी उनके साथ युद्ध भूमि मे जाती और अपने पक्ष वालों को उचित सलाह देती रहती है। अन्य स्त्री-पात्रों में

सोना और बेला का चरित्र औरों की अपेक्षा अधिक उभरा हुआ है। वैसे तो आल्हखण्ड में सभी राजकुमारियाँ अपने बाप-भाई का विरोध और भावी पतियों या प्रेमियों की सहायता करती हुई दिखाई गयी हैं परन्तु सोना और बेला तो अपने पतियों के कहने से अपने भाइयों से युद्ध करती और उनका सिर तक काट लेती हैं। बेला का पातिव्रत धर्म अत्यंत उत्कृष्ट कोटि का है। वह ब्रह्मा के घायल होने पर महोवे जाती, अपनी सास का दर्शन करती, नगर मन्दिर आदि देखती, फिर दिल्ली लौटकर अपने भाई का सिर काटकर ब्रह्मा के पास ले जाती है और अन्त में उसीके साथ सती हो जाती है। आल्हखण्ड की स्त्रियों में विलासिता, भय और शृंगार-प्रियता कहीं नहीं दिखाई पड़ती। इसके विपरीत वे अत्यन्त बुद्धिमती, कार्यकुशला और साहसी दिखाई गई हैं। उनमें से अधिकतर तन्त्र-मन्त्र जानने वाली भी हैं और युद्धभूमि में या पुरुषों का हरण करने के लिए उस विद्या का प्रयोग करती हैं। सोना, लेखा, विजैसिन आदि इसी तरह की जादू जानने वाली राजकुमारियाँ हैं।

६—शैली

आल्हखण्ड की शैली सरल और अनलंकृत है। उसका विकास नगर और दरबारी वातावरण के बीच नहीं हुआ है। अतः विकसनशील लोकमहाकाव्य की शैली की सभी विशेषताएँ उसमें प्राप्त होती हैं। उस पर अलंकृत महाकाव्यों की शैली का कोई प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता है। शब्दचयन, अलंकार-विधान, उक्ति-चमत्कार, कम शब्दों में अधिक अर्थ भरने की प्रवृत्ति, प्रसगगर्भत्व तथा अन्य काव्यरूढ़ियों और काव्य-कौशल का दर्शन उसमें बिलकुल नहीं होता। तात्पर्य यह कि अलंकृत महाकाव्यों में अथवा दरबारी वातावरण में विकसित साहित्यिक विकसनशील महाकाव्यों में जो साज-सज्जा, कृत्रिम सौन्दर्य और भाषा शैली का निखार होता है वह इसमें बिलकुल नहीं है। उसकी भाषा लोक-भाषा है जो स्थान-भेद के अनुसार भिन्न-भिन्न रूपांतरों में भिन्न भिन्न है। उसमें संयम और उपयुक्त शब्दों के चयन की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया है और न ऐसा होना संभव ही था क्योंकि आल्हखण्ड का लिखित रूप नहीं था और जितने गाने वाले होते है सभी अपनी अपनी भाषा और शब्दावली का प्रयोग करते हैं। वे शिक्षित तथा सुसंस्कृत कवि नहीं होते पर काव्य-प्रतिभा उनमें अवश्य होती है जिससे वे पंक्तियाँ जोड़ते चले जाते हैं। इस तरह आल्ह-खण्ड के पाठों में एकरूपता नहीं है, न उसमें पराम्परागत काव्य-भाषा और सुसंस्कृत शब्दावली का प्रयोग ही मिलता है। आजकल आल्हखण्ड के जितने

छपे रूप मिलते हैं सबके पाठ, भाषा और शब्दावली भिन्न भिन्न है। अतः उसमें काव्य की शास्त्र-संमत विशेषताओं को खोजना ही व्यर्थ है।

किन्तु इसका यह अर्थ नही कि आल्हखण्ड में कोई शैली ही नहीं है। उसकी शैली लोकगाथाओं की शैली है जिनमें सीधे और सरल ढंग से अत्यन्त सफाई के साथ कथा कहने की प्रवृत्ति होती है। लोकगाथाओं में बहुधा रोमांचक शैली का प्रयोग होता है। उनमें कथा का विषय चाहे प्रेम हो या वीरता, देवी-देवताओं की उपासना हो या केवल मनोरंजनार्थ आश्चर्य और कुतूहल की अभिव्यंजना, हर दशा में कथा की शैली सरल, सुबोध, अनलंकृत और सादगी लिए हुए होती है। उसमें कथा कहना ही प्रधान उद्देश्य होता है जिससे आद्यन्त पाठकों और श्रोताओं की वृत्ति कथा-वस्तु में रमी रहती है और 'आगे क्या हुआ' की जिज्ञासा अन्त तक बनी रहती है। लोककथा के इस तत्व के कारण लोकगाथाओं की तरह लोकमहाकाव्यों में भी कथात्मक और रोमांचक शैली ही प्रधान होती है। इसी तत्त्व के कारण आल्हखण्ड को कथात्मक और रोमांचक शैली का महाकाव्य कहा जा सकता है। उसमें कथा का प्रारंभ सीधे ढंग से हुआ है, भूमिका नही बाँधी गयी है न कथा का प्रारम्भ उस तरह बीच से हुआ है जैसा अलंकृत प्रबन्धकाव्यों या आधुनिक कलात्मक कहानियों में होता है। परमाल के विवाह और आल्हा ऊदल के पिता की कथा से आल्हखण्ड का प्रारंभ होता है और फिर आल्हा-ऊदल आदि नायकों के जन्म और जीवन के विविध कार्यों का वर्णन किया गया है। बीच बीच में विविध प्रकार के वस्तु-वर्णन और उपकथाओं का विधान नहीं किया गया है क्योंकि उससे कथा उलझनपूर्ण और जटिल बन जाती। अरस्तू ने कहा है कि किसी महाकाव्य का कथानक सरल होता है और किसी का जटिल। इस सिद्धान्त के अनुसार आल्हखण्ड का कथानक सरल है, फलतः इसकी शैली भी स्वाभाविक और सरल है। रोमांचक शैली से तात्पर्य यह है कि उसमें काल्पनिक, अलौकिक, अतिमानवीय और सम्भावना पर आधारित घटनाओं का वर्णन अधिक होता है। आल्हखण्ड में ये सभी बातें पायी जाती हैं। उसके पात्र निजन्धरी व्यक्तित्व वाले हैं। उनमें अतिमानवीय और अलौकिक शक्तियों की प्रतिष्ठा की गयी है। उनके कार्य संभावना पर आधारित हैं और उनका वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण है। रोमांचक शैली के महाकाव्यों के ये ही प्रधान लक्षण हैं।

वस्तुतः रोमांचक शैली कथा-आख्यायिका और लोकगाथाओं में ही प्रधान रूप से होती है और महाकाव्य में उसका प्रवेश उसी दिशा से होता है। परन्तु

किसी किसी रोमांचक कथात्मक काव्य में भी शैली इतनी उदात्त और गंभीर हो जाती है कि वह महाकाव्य की कोटि में स्वीकार कर लिया जाता है। आल्ह-खण्ड मूलतः कथात्मक काव्य है पर शैली की उदात्तता के कारण ही उसे लोकमहाकाव्य माना जाता है। उसकी शैली की उदात्तता का प्रधान कारण उसका ओजगुण है। आल्हखण्ड का ओजगुण उसमें विशेष प्रकार की भाषा और संयुक्तवर्ण-प्रधान शब्दों की योजना से नहीं उत्पन्न हुआ है। वह बाह्य नहीं, आन्तरिक है अर्थात् उसमें आद्यन्त जिस वीर रस का प्रसार हुआ है उसी की उष्ण कान्ति आल्हखण्ड की ओजपूर्ण शैली के रूप में दिखाई पड़ती है। यही कारण है कि निष्प्राण और अशक्त व्यक्तियों और मुमूर्षु काया में भी आल्हखण्ड के गीत कुछ देर के लिए प्राण-सचार कर देते हैं। अल्हैत जब गाने लगते हैं तो श्रोताओं की नसों में उष्ण रक्त का संचार होने लगता है और अंग-अंग फड़कने लगता है। किसी काव्य के ओजपूर्ण होने का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है।

पुनरुक्ति की अधिकता—प्रायः सभी लोकगाथाओं और विकसनशील लोकमहाकाव्यों में कुछ विशेष स्थलों पर एक ही प्रकार की पदावली और कभी-कभी एक ही वाक्यों को बार बार दुहराने की प्रवृत्ति मिलती है। यह प्रवृत्ति आल्हखण्ड में बहुत अधिक दिखलाई पड़ती है। राजदरबार, युद्ध, द्वन्द्व-युद्ध के समय के सवाद, युद्ध में सैनिकों के प्रोत्साहन आदि का वर्णन वर्णन सर्वत्र समान शब्दावली और वाक्यावली में किया गया है। प्रत्येक युद्ध वर्णन में निम्नलिखित पंक्तियाँ अनिवार्य रूप से मिलती हैं:—

> अररर अररर गोला छूटे, गोली मघा बूंद झर लाय।
> सन सन सन सन गोली छूटे, सर सर तीर रहे सन्नाय।
> गोला लागे जेहि हाथी के, मानो चोर सेध दै जाय।
> गोला लागै जौन ऊँट के रण मे गिरे चकत्ता खाय।
> जेहि घोड़ा के गोला लागे सो असवार सहित गिरि जाय।
> एक पहरि भर गोला बरसो, तोपै लाल वरन हुइ जायं।
>
> × × ×
>
> चलै जुनुब्बी और गुजराती ऊना चलै विलायत क्यार।
> खट खट खट खट तेगा बाजे, बोले छपक छपक तलवार।
> पैदल के संग पैदल भिरिगै और असवारन से असवार।
> हौदा के संग हौदा भिरिगै, हाथिन अड़ौ दाँत से दाँत।

तेगा चमकै वर्दवान के कटि कटि गिरे सुघरुआ ज्वान।
सात कोस ला चले सिरोही चारों ओर होय घमसान।

इसी तरह युद्ध में एक योद्धा दूसरे योद्धा को द्वन्द्व-युद्ध के लिए ललकारते हुए सर्वत्र निम्नलिखित पंक्तियों को ही दुहराता है:—

दस दस रुपिया के नौकर है, नाहक डरिहो मूड़ कटाय।
हम तुम खेलै समरभूमि मे, दुइ मे एक आंकु रहि जाय।
यह मन भाइ गई राजा के तुरते हाथी दियो बढ़ाय॥

सेनापति और राजा अपने सैनिकों को प्रोत्साहित करने के लिए ये पंक्तियाँ अवश्य दुहराते हैं :—

नौकर चाकर तुम नाही हो, तुम सब भैया लगो हमार।
भागि न जैयो कोइ मोहरा ते रखियो धर्म महोबे क्यार।

पुनरुक्ति की यह पद्धति आल्हखण्ड का दोष नहीं है बल्कि यह उसकी प्रधान शक्ति है। गाने वाले आगे सोचने के लिए इस प्रकार की पंक्तियों को दुहरा कर कुछ अवकाश पाते हैं और श्रोताओं को ये पंक्तियाँ वर्ण्य-विषय की ओर अधिक तीव्रता से खींच कर ले जाती हैं। आल्हखण्ड यदि पढ़ने के लिए, लिखित रूप में होता तो यह अवश्य एक दोष माना जाता।

अलंकारों का अभाव—वस्तु वर्णन में बहुधा सीधे सीधे कहने की प्रणाली ही अपनायी गयी है पर कहीं कहीं उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, भ्रान्तिमान आदि अलंकारों का भी सहारा लिया गया है। यह अवश्य है कि इन अलंकारों में अप्रस्तुत अपने आसपास के वातावरण से ही लिये गये है। पशु-पक्षियों से अप्रस्तुत अधिक लिये गये हैं। सभी विकसनशील महाकाव्यों–विशेषकर लोकमहाकाव्यों में वन्य पशुओं से उपमान ग्रहण करने की यह प्रवृत्ति पाई जाती है। जैसे पहले कहा जा चुका है, सामान्यतया आल्हखण्ड में अलंकृत वर्णनों का अभाव है। जहाँ बहुत ज़ोरदार वर्णन है वहाँ भी अलकारों का सहारा बहुत कम लिया गया है और जो थोड़े से अलंकार मिलते भी हैं, उनमें शिष्ट साहित्य में व्यवहृत परम्पराभुक्त उपमानों को छुआ तक नहीं गया है। इसके विपरीत सामान्य जनता नित्यप्रति की बातचीत में जिन उपमानों का सहारा लेती है, उन्हें ही आल्हखण्ड में अधिक अपनाया गया है। उदाहरणार्थ—

जैसे पान तमोली कतरे, जैसे खेती लुने किसान।
तैसे महोबिया दल को कतरें क्षत्रिन काटि करे खरिहान।

जैसे बाज कुट्टी पर टूटे, जैसे सिंह दबोचे गाय।
ऐसे ऊदिन हौदा टूटे, कमला बहुत गयो घबराय।
(गाँजर की लड़ाई)

× × ×

गोला ओला के सम बरसें, गोली मघा बूंद झर लाय।

× × ×

बिसे बिसे पर हाथी डारे–छोटे पर्वत की अनुहार।

× × ×

गज भर छाती पृथीराज की अरु नैनन में बरै मसास।
सजि के पृथीराज ठाढ़े भै, मानहु इन्द्र अखाड़े जाय।
(सिरसा का समर)

जेहि हाथी का गोला लागे, मानो चोर सेंध दे जाय।

प्रबन्ध-रूढ़ियों का अभाव—साहित्यिक प्रबन्धकाव्यों में शैली से संबंधित जो नियम रूढिरूप मे अपनाये जाते रहे हैं उनमें से एक को छोड़कर अन्य किसी का पालन आल्हखण्ड में नहीं किया गया है। उसमें प्रत्येक लड़ाई के प्रारंभ मे अल्हैत किसी न किसी देवी-देवता की स्तुति करते हैं और इस पद्धति को सुमिरन या सुमिरनी कहा जाता है। लोरिकायन, बिरहा आदि कुछ लोकगाथाओं और लोकगीतों में भी सुमिरन की पद्धति प्रचलित है। अतः यह कहना कठिन है कि सुमिरन की यह पद्धति आल्हखण्ड में लोकगाथाओं-लोकगीतों से ली गयी है या यह साहित्यिक प्रबन्धकाव्यों का प्रभाव है। साहित्यिक प्रबन्धकाव्यों में देवता-स्तुति के बाद सज्जन दुर्जन चिन्ता, पूर्व कवि-प्रशंसा, आत्मलघुता-वर्णन आदि की जो रूढ़ि प्रचलित है वह आल्हखण्ड में कहीं नहीं दिखाई पड़ती। इससे यही प्रतीत होता है कि सुमिरन की पद्धति साहित्यिक प्रबन्धकाव्यों से नहीं बल्कि लोकगाथाओं से ली गयी है। कवि की नामसुद्रा और अन्तिम प्रशस्ति, आश्रयदाता की प्रशंसा आदि का भी उसमें विधान नहीं हुआ है। इस प्रकार शैली की दृष्टि से आल्हखण्ड विशुद्ध लोककाव्य सिद्ध होता है।

७—प्रभावान्विति और रसवत्ता

दूसरे शीर्षक अध्याय में कहा जा चुका है कि अरस्तू ने महाकाव्य में प्रभान्विति और भावव्यंजना को ही अधिक महत्वपूर्ण माना है और

श्रम-साध्य अलंकृति को महाकाव्य के दोषों को छिपाने का साधन मात्र कहा है। इस दृष्टि से आल्हखण्ड में अलंकृति का अभाव दोष नही माना जायगा क्योंकि महाकाव्य के प्रधान तत्त्व-प्रभावान्विति और रसवत्ता-उसमें पूर्ण मात्रा में वर्तमान हैं। उसमे भावव्यंजना की वह शैली नहीं अपनायी गयी है जो अलंकृत महाकाव्यो में होती है। अलंकृत महाकाव्यों में भावों का सूक्ष्म विवेचन, अध्ययन और उद्घाटन किया जाता है अर्थात् उनमें भावों की गहराई और वस्तुओं का सूक्ष्म निरीक्षण होता है। इसके विपरीत आल्हखण्ड में अशिक्षित और ग्रामीण जनता के हृदय के सरल और सहज भावो को सीधे ढंग से किन्तु बहुत ही तीव्रता और शक्ति से समन्वित बना कर अभिव्यक्त किया गया है। उसमें उत्साह और रति भावों को ही प्रमुख रूप से अभिव्यक्ति हुई है और उनके विभिन्न अनुभावों और सचारी भावो के उद्घाटन या चित्रण का उसमें कही भी सचेष्ट प्रयत्न नहीं हुआ है। किन्तु साथ ही उसमें उन भावों को इतना सशक्त और तीव्र गति वाला बना दिया गया है कि सूक्ष्मता और गहराई का अभाव खटकता नही है। आल्हखण्ड लोकमहाकाव्य है, अतः उसमें सामन्ती वीरयुगीन सामान्य जनता के प्रमुख भावों की सच्चाई के साथ अभिव्यक्ति हुई है। जिस तरह प्राचीन विकसनशील महाकाव्यो में बर्बरयुगीन समाज के हृदय की सशक्त भावनाये तीव्र गति से अभिव्यक्त हुई हैं, उसी तरह आल्हखण्ड में सामन्ती वीरयुग की ऐसी भावनाएँ जिनमें संस्कार और साज-सँवार का अभाव है, सहज और स्वाभाविक रूप में अभिव्यक्त हुई हैं। उसमें वीरता की भावना विवेक और दूरदर्शिता का अंकुश नही मानती, वह मँजी-निखरी और सभ्यता के आवरण में लिपटी भी नही है। प्रेम की भावना भी उसमें इसी प्रकार सहज रूप में अभिव्यक्त हुई है। इसी तरह आल्हखण्ड में क्रोध, उत्साह, घृणा, भय, प्रतिशोध, रति आदि भाव सरल किन्तु सशक्त रूप में अभिव्यक्त हुए है।

इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ है कि आल्हखण्ड में अत्यधिक प्रभविष्णुता आ गयी है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि इस काव्य में वीर-भावनाओं को उत्तेजित करने की कितनी अधिक क्षमता है। उसकी इस क्षमता का प्रभाव आल्हा सुनने वालों पर सीधे रूप में तत्काल दिखाई पड़ता है। आल्हखण्ड में प्रत्येक गीत या लड़ाई (अध्याय) में अलग अलग तो यह प्रभविष्णुता पूर्ण मात्रा में दिखलाई ही पड़ती है समूचे काव्य का प्रभाव भी इसी प्रकार तीव्र और उत्तेजक है। आल्हखण्ड का कथानक विशृंखलित और स्वतंत्र खण्डों में विभक्त है, अतः यह शंका हो सकती है कि उसका

समग्र प्रभाव उतना तीव्र और समन्वित नहीं हो सकता। परन्तु वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। यदि लगातार कई दिनों तक बैठ कर किसी अल्हैत से पूरा आल्हखण्ड सुना जाय अथवा छपा हुआ आल्हखण्ड आद्यन्त पढ़ा जाय तो समग्र प्रभाव उतना ही समन्वित रूप में और तीव्र गति से पड़ता है जितना किसी शृंखलित कथानक वाले अलंकृत महाकाव्य का होता है। आल्हखण्ड की प्रभावान्विति उसके कथानक की शृंखलित योजना या पात्रों के आदर्श चरित्र के कारण नहीं है बल्कि उसकी ओजपूर्ण सशक्त शैली तथा तीव्र गति वाली सक्रियता के कारण है। इस काव्य में प्रारम्भ से ही अत्यत प्रचण्ड वेग से शारीरिक शक्ति का जो प्रवाह फूटता है वह अन्त तक तीव्रतर होता गया है, परन्तु वह अन्त में भयंकर युद्ध में सर्वनाश की चट्टान से टकरा जाता है। श्रोताओं के हृदय को जो वीर समूचे काव्य में अपने आश्चर्यजनक कार्यों से प्रभावित करते हैं, वे अन्तिम युद्ध में पराजित होते, मारे जाते या कजुरी बन में चले जाते हैं। फिर भी श्रोताओं के हृदय पर उनका अधिकार बना रहता है, उनके वीरतापूर्ण कार्यों और साहस की गहरी छाप उन पर अंकित हो जाती है। इस तरह काव्य के नायक यद्यपि विजय का फल नहीं प्राप्त करते पर श्रोताओं और सहृदयों की सहानुभूति और प्रशंसा अवश्य प्राप्त करते हैं। पूरे काव्य का यही समन्वित प्रभाव है। यह प्रभाव इतनी तीव्रता और गहराई से पड़ता है कि आल्हखण्ड के वीरों के कार्यों और उनकी वीरता को भूलना असंभव हो जाता है। जिस तरह महाभारत रामायण के नायक अपना अमिट प्रभाव पाठकों पर छोड़ कर निजन्धरी व्यक्तित्व बन गये हैं उसी तरह आल्हखण्ड के नायकों को निजन्धरी ऊँचाई तक ले जाने में आल्हखण्ड की प्रभावान्विति का बहुत अधिक हाथ है। आद्यन्त व्याप्त सक्रियता, शक्ति साहस और जीवन्तता के कारण आल्हखण्ड का प्रभाव अत्यत समन्वित तीव्र और स्थायी रूप में पड़ता है और यह उसके महाकाव्यत्व का एक महत्त्वपूर्ण प्रमाण है।

भारतीय आचार्यों के अनुसार काव्य की आत्मा रस है। प्रभावान्विति को वे नहीं स्वीकार करते। आलंकारिकों के अनुसार महाकाव्य में शृंगार, वीर और शान्त में से कोई एक रस प्रधान होना चाहिए और अन्य रस अंग या सहायक रूप में हो सकते हैं। रासो की तरह आल्हखण्ड भी एक शक्तिशाली वीरकाव्य है और उसी की तरह वह दुःखान्त भी है। अतः भारतीय अलंकारशास्त्र के अनुसार फलागम की दृष्टि से उसे करुण रस का महाकाव्य माना जायगा क्योंकि उसका अन्त नायकों की पराजय, मृत्यु अथवा युद्ध-त्याग से होता है किन्तु

यह स्थूल दृष्टि ही कही जायगी क्योंकि समूचे काव्य में वीर रस आद्यन्त व्याप्त है, अतः करुण रस में पर्यवसान होने से ही वह करुण रस का नहीं हो सकता। वस्तुतः आल्हखण्ड के प्रधान रस का निर्णय उसके समग्र प्रभाव की दृष्टि से ही होना चाहिए। उसका समग्र प्रभाव वीर रस का सचार करने वाला है। नायकों की मृत्यु के बाद भी वह प्रभाव बना रहता है। अतः आल्हखण्ड को वीर रस प्रधान महाकाव्य मानना ही समीचीन है यद्यपि भारतीय दृष्टि से यह रस-परिपाक दुःखान्त होने के कारण पूर्ण और निर्दोष नहीं है। इस प्रकार इस काव्य में प्रधान रस वीर रस है और शृंगार, करुण रौद्र भयानक और अद्भुत रसो की यथास्थान सहायक रूप में योजना हुई है। वीर रस के बाद इस काव्य में दूसरा महत्वपूर्ण स्थान शृंगार रस का है। किन्तु आल्हखंड का शृंगार रस विलासितापूर्ण और दरबारी वातावरण के बीच लिखे जाने वाले अलकृत काव्यों जैसा रीतिबद्ध नहीं है। उसमें रतिभाव के स्वस्थ और स्वाभाविक रूप का चित्रण हुआ है। वस्तुतः आल्हखण्ड में रतिभाव या अन्य किसी भी भाव का कोई स्वतंत्र मूल्य नहीं है, ये सभी भाव वीर रस के सहायक या निमित्त बन कर आये हैं। इन सभी स्थायी भावों के ऊपर उत्साह का भाव ऐसे विशाल वट वृक्ष की तरह छाया हुआ है जिसके नीचे अन्य पौधों को पनपने और बढ़ने का अवसर नही प्राप्त होता। इस प्रकार समग्र प्रभाव की अन्विति, तीव्रता और स्थायित्व के साथ साथ आल्ह-खंड मे वीर रस की निष्पत्ति भी एकनिष्ठ और गंभीर रूप मे हुई है। इस दृष्टि से आल्हखण्ड अपने ढंग का हिन्दी का अन्यतम महाकाव्य है।

जीवनी शक्ति और प्राणवत्ता

किसी सच्चे महाकाव्य की वास्तविक पहचान उसकी अक्षुण्ण और अनवरुद्ध जीवनी शक्ति तथा सशक्त प्राणवत्ता से ही हो सकती है। जीवनी शक्ति और प्राणवत्ता का अभिप्राय 'महाकाव्य का स्वरूप' शीर्षक अध्याय में बताया जा चुका है। आल्हखण्ड में वह अनवरुद्ध जीवनी शक्ति वर्तमान है, इसका सबसे बड़ा प्रमाण तो यही है कि गत पाँच छः सौ वर्षों से नाना सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तनों और ऐतिहासिक हलचलों के बीच से वह अनवरुद्ध गति से अपना पथ बनाता और विकसित होता हुआ हमारे पास तक पहुँच सका है। विकसनशील महाकाव्यों में विकास करने की जो क्षमता होती है वही उनकी जीवनी शक्ति है। यदि वे मृत या जड़ीभूत होते तो उनमें विकाश होता ही नहीं या यदि कुछ विकास होता भी तो आगे चलकर रुक जाता। इस दृष्टि से आल्हखण्ड

अत्यंत सजीव (आरगेनिक) महाकाव्य है क्योंकि उसके विकास का क्रम आज भी जारी है। पहले कहा जा चुका है कि आल्हखण्ड का मूल रूप बुन्देलखण्ड में तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में निर्मित हुआ होगा। तब से उसके रूप में अनेक परिवर्तन हो चुके हैं, उसकी कलेवर-वृद्धि हो चुकी है और भौगोलिक सीमाओं का अतिक्रमण करके उसका प्रसार-प्रचार समस्त उत्तरी भारत में हो गया है। यही नहीं, अंग्रेजी में उसका अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है और इस तरह इस लोक महाकाव्य की ख्याति विदेशों तक पहुँच चुकी है। अतः उसमें कुछ ऐसे महानता और जीवन्तता के तत्व हैं जिनके कारण उसको इतनी लोकप्रियता और ख्याति मिल सकी है। उसमें वीर रस की इतनी गहरी और तीव्र व्यञ्जना हुई है तथा उसके चरित्रों को वीरता और आत्मोत्सर्ग की उस ऊँची भूमिका पर स्थापित किया गया है जिसके कारण देश और काल की सीमा पार कर समाज की अजस्र जीवनी धारा से आल्हखण्ड की रस-धारा मिल कर एक हो गयी है। इस प्रकार लोक-जीवन, विशेष रूप से सामान्य जन-जीवन, की असीम शक्ति ही आल्हखण्ड की अक्षुण्ण जीवनी शक्ति हो गयी है। आज तक वह अपढ़ ग्रामीण जनता के कंठ में ही सुरक्षित रहा है।

अनवरुद्ध जीवनी शक्ति के अतिरिक्त आल्हखण्ड में वह सशक्त प्राणवत्ता भी है जो किसी महाकाव्य को अमरता प्रदान करती है। अनेक लोककथाएँ और लोकगाथाएँ जीवनी शक्ति से युक्त तो होती हैं पर उनमें वह प्राणवत्ता नहीं होती जो हजारों लाखों व्यक्तियों के जीवन को बल और प्रेरणा प्रदान कर सके। गीतिकाव्य और खण्डकाव्य के संबंध में भी यही बात लागू होती है। आल्हखण्ड में वह प्राणमयता, ओजस्विता और अदम्य वेग है जिससे श्रोताओं की सूखी नसों में उष्ण रक्त का संचार होता है, उनमें साहस, उमंग, उल्लास और सक्रियता उत्पन्न होती है। इस तरह आल्हखण्ड एक ओर तो समाज के अजस्र जीवन स्रोत से शक्ति ग्रहण करता है और दूसरी ओर समाज को उतनी ही शक्ति और प्रेरणा भी प्रदान करता है। वस्तुतः वह समस्त समाज की रचना है, उसके मूल कवि का नाम उसके काव्य में ही लुप्त हो गया है, जिसके परिणामस्वरूप यह काव्य भारत के एक बहुत बड़े भूभाग में सामान्य जनता का जातीय काव्य बन गया है। सामान्य जनता में रामायण-महाभारत के बाद जातीय काव्य के रूप में तुलसी के रामचरितमानस और जगनिक के आल्हखण्ड का ही स्थान है। जातीय काव्य से यहाँ तात्पर्य यह है कि समूचे समाज ने इसे अपनाया है, वह युगों से उससे शक्ति और प्रेरणा ग्रहण करता आ रहा है। सामाजिक जीवन की उद्दाम जिजीविषा, प्रचण्ड वेग और अखण्ड प्रवाह

आल्हखण्ड में प्रचुर परिमाण में वर्तमान है और ये ही बातें इस लोकमहाकाव्य की सशक्त प्राणवत्ता को व्यक्त करती है। अतः जब तक जीवन है और जीवन में वीरता और शक्ति-पूजा का महत्त्व है तब तक आल्हखण्ड की ये पंक्तियाँ भी निरन्तर गूँजती और मुर्दों में प्राण फूँकती रहेंगी :—

सदा तोरैया ना बन फूलै, यारो सदा न सावन होय।
स्वर्ग मड़ैया सब काहू को, यारो सदा न जीवे कोय।
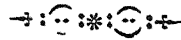
सातवाँ अध्याय

रोमांचक महाकाव्य—पद्मावत

मलिक मुहम्मद जायसी कृत 'पद्मावत' हिन्दी का एकमात्र रोमाँचक महाकाव्य है। 'महाकाव्य का स्वरूप' और 'भारतीय महाकाव्य का रूप विकास' शीर्षक अध्यायों में रोमाञ्चक महाकाव्य के लक्षणों और उसकी परम्परा के सम्बन्ध में विस्तार के साथ विचार किया जा चुका है। इस परम्परा में पद्मावत का क्या स्थान है और उसमें रोमाँचक महाकाव्य के लक्षण किस सीमा तक मिलते हैं, यहाँ पहले इन्हीं बातों के सम्बन्ध में विचार किया जायगा।

पद्मावत का काव्यरूप

पद्मावत के काव्यरूप के सम्बन्ध में सामान्यतया तीन धारणायें प्रचलित हैं:—(१) वह एक प्रेमाख्यानक प्रबन्धकाव्य है, (२) वह एक पद्यबद्ध कथा-काव्य है, (३) वह एक महाकाव्य है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने पद्मावत को कहीं भी महाकाव्य या कथा आख्यायिका की संज्ञा नहीं दी है। उन्होंने इसे सर्वत्र एक प्रबंधकाव्य के रूप में ही स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में उन्होने लिखा है कि "पद्मावत हिन्दी के सर्वोत्तम प्रबन्धकाव्यों में है। ठेठ अवधी भाषा के माधुर्य और भावों की गंभीरता की दृष्टि से यह काव्य निराला है।"[1] हो सकता है कि संस्कृत के आलंकारिकों द्वारा निर्दिष्ट महाकाव्य के कुछ लक्षणों का अभाव देख कर शुक्ल जी ने पद्मावत को महाकाव्य कहना उचित न समझा हो। किन्तु उन्होंने स्पष्ट रूप से इसे कथा-आख्यायिका से भिन्न प्रकार का काव्य माना है। उन्होंने जायसी-ग्रंथावली की भूमिका में पद्मावत की प्रबन्ध कल्पना पर विचार करते हुए लिखा है कि "प्रबन्धकाव्य में मानव-जीवन का पूर्ण दृश्य होता है। उसमें घटनाओं की संबद्ध शृङ्खला और स्वभाविक क्रम के ठीक ठीक निर्वाह के साथ साथ हृदय को स्पर्श करने वाले—उसे नाना भावों का रसात्मक अनुभव कराने वाले- प्रसंगों का समावेश

१—जायसी-ग्रन्थावली, (प्रथम संस्करण का वक्तव्य)-ले० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, काशी, सं० २००८, पंचम संस्करण।

होना चाहिए। इतिवृत्त मात्र के निर्वाह से रसानुभव नहीं कराया जा सकता।"[1]

काव्य और कथा-आख्यायिका में अन्तर— शुक्ल जी के उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह है कि कथा-आख्यायिका में इतिवृत्त या घटना-प्रवाह ही प्रधान वस्तु होती है, उसमें वस्तु-वर्णन और भाव व्यंजना के विस्तार के लिए अधिक अवकाश नहीं रहता। इसके विपरीत प्रबन्धकाव्य में विभावन व्यापार तथा अनुभावों और संचारियों की सम्यक् योजना द्वारा रस की निष्पत्ति होती है। कथा-आख्यायिका की तरह मनोरंजन द्वारा स्थूल कोटि का आनन्द प्रदान करना उसका उद्देश्य नहीं होता। किन्तु यहाँ एक बात ध्यान देने की है कि संस्कृत साहित्य के आचार्यों ने कथा-आख्यायिका में भी रसवत्ता का होना आवश्यक माना है और उनके अनुसार काव्य और कथा-आख्यायिका का भेद कुछ दूसरे ही प्रकार का है। नाना भावों का रसात्मक अनुभव कराने वाला ग्रंथ तो 'कादम्बरी' भी है पर उसे कथा ही कहा गया है, प्रबन्धकाव्य या महाकाव्य नहीं। दण्डी और विश्वनाथ ने तो स्पष्ट कहा है कि कथा आख्यायिका गद्यबद्ध होती है, यद्यपि उसमें बीच में छन्द भी होते हैं[2]। रुद्रट तथा हेमचन्द्र के अनुसार संस्कृतेतर भाषाओं में पद्यबद्ध कथा-आख्यायिकाएँ भी होती हैं[3]। भामह ने कथा आख्यायिका का यह लक्षण भी बताया था कि उसमें कन्या-हरण, संग्राम विप्रलम्भ शृङ्गार और नायक के अभ्युदय से समन्वित कथा होती है। दण्डी ने इसका विरोध करते हुए लिखा है कि ये बातें तो सर्गबन्ध काव्यों अर्थात् प्रबन्धकाव्यों में भी पायी जाती हैं, अतः इनका होना आख्यायिका का कोई विशिष्ट लक्षण नहीं है[4]। कथा-आख्यायिका के संबंध में भामह की बातों

१—जायसी-ग्रन्थावली, प्रथमसंस्करण का वक्तव्य, पृ० ६८।

२—(क) अपादः पदसन्तानो गद्यमाख्यायिकाकथा—काव्यादर्श, १--२३।

(ख) कथाया सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितं।—विश्वनाथ-'साहित्य-दर्पण', १--१२६।

३—(क) इति संस्कृतेन कुर्यात् कथामगद्येन चान्येन।...

—रुद्रट-काव्यालंकार, १६—२३।

(ख) धीरशान्तनायकागद्येन पद्येन वा सर्वभाषा कथा।—हेमचन्द्र—काव्यानुशासन,—अध्याय ८।

४—कन्याहरणसंग्रामविप्रलम्भोदयादयः।

सर्गबन्धसमा एव नैते वैशेषिका गुणाः।—दण्डी-काव्यादर्श, १—२९।

का खण्डन करते हुए भी दण्डी ने स्वयं कथादि के विशिष्ट लक्षण नहीं बताये हैं। रुद्रट ने महाकाव्य का लक्षण बताने के बाद कथा-आख्यायिका की परिभाषा देते हुए कहा है कि महाकथा में प्रारम्भ में श्लोकों में अभीष्ट देवता तथा गुरु की स्तुति करने के बाद कवि को संक्षेप में अपने कुल का परिचय और कथा लिखने का उद्देश्य बताना चाहिए। फिर लघु अक्षर वाले अनुप्रास युक्त गद्य में कथा-शरीर की रचना होनी चाहिये जिसमें नगर वर्णन प्रभृति बातें होनी चाहिए और आदि में एक कथान्तर होना चाहिए जिसके द्वारा प्रधान कथा का प्रवेश कराया जाय। कथा सकल शृङ्गार और कन्या प्राप्ति के फल से युक्त होनी चाहिए[1]। किन्तु रुद्रट की परिभाषा उनकी महाकाव्य की परिभाषा से मूल बातों में कोई अधिक भिन्नता नहीं रखती। इसीलिए 'महाकाव्य का स्वरूप' शीर्षक अध्याय में हम कह चुके हैं कि रुद्रट के सामने महाकाव्य के आदर्श स्वरूप जो ग्रन्थ थे उनमें कथा-आख्यायिका के लक्षण भी मिलते रहे होंगे। आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट कथा-आख्यायिका के लक्षणों के उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है:—

१—कथा-आख्यायिका संस्कृत में गद्यबद्ध होती है पर प्राकृतापभ्रंश आदि में पद्यबद्ध भी होती है।

२—कथा-आख्यायिका में कन्याहरण, संग्राम, विप्रलम्भ, नायक का उदय आदि से समन्वित सरस और रोमांचक (अद्भुत) कथानक होता है और उसमें प्रारम्भ में महाकाव्य से मिलती जुलती रूढ़ियाँ—मंगलाचरण, गुरु वन्दना, कवि-परिचय तथा कथान्तर आदि होता है।

उपर्युक्त लक्षणों की दृष्टि से देखने पर पद्मावत में कथा-आख्यायिका के कुछ लक्षण तो मिलते हैं किन्तु अनेक लक्षण नहीं भी मिलते। कहा जा सकता

१—श्लोकैर्महाकथायामिष्टान् देवान् गुरून्नमस्कृत्य।
संक्षेपेण निजं कुलमभिदध्यात्स्वं च कर्तृतया॥
सानुप्रासेन ततो लघ्वक्षरेण गद्येन
रचयेत कथाशरीरं पुरेव पुरवर्णकप्रभृतीन्।
आदौ कथान्तरं वा तस्या न्यस्येत्प्रपञ्चितं सम्यक्।
लघु तावत् सन्धानं प्रक्रान्तं कथावताराय।
कन्यालाभफला वा सम्यग् विन्यस्य सकलशृंगारम्।
इति संस्कृतेन कुर्यात् कथामगद्येन चान्येन॥
—रुद्रट-काव्यालंकार, १६-२० से २० २३ तक।

है कि उसमें भी आदि में निर्गुण ब्रह्म तथा इष्टदेव पैगम्बर की स्तुति और अपने गुरु, मित्र बादशाह तथा स्थान आदि का वर्णन है और उसका कथानक सकल श्रृङ्गार और कन्या फल से समन्वित तथा संग्राम, विप्रलम्भ आदि से युक्त होने से सरस और रोमांचक है, अतः वह संस्कृत के ग्रंथ वृहत्कथामंजरी, कथा-सरित्सागर तथा प्राकृत की लीलवई कहा की तरह का पथबद्ध कथा ग्रंथ है। किन्तु उसमें आदि में वैसा कथान्तर नहीं है जैसा कथासरित्सागर आदि कथा-ग्रंथों में प्रारम्भ में प्रधान कथा को प्रस्तावित करने के लिए मिलता है। उसका प्रारंभ पौराणिक काव्यों की तरह वक्ता-श्रोता के प्रश्नोत्तर के रूप में भी नहीं हुआ है और न भृंग-भृगी, शुक शुकी या कवि और कवि-पत्नी की बात-चीत के रूप में ही पूरी कथा कही गयी है। पद्मावत का 'कार्य' या उद्देश्य भी कन्या-फल-प्राप्ति नहीं है और न रोमांचक कथाओं जैसा वह सुखान्त ही है। कन्या-फल-प्राप्ति के बाद उसमें भीषण संघर्ष और नायक का नाश दिखाकर कथानक को पूर्ण दुःखान्त बना दिया गया है। पद्मावत का उद्देश्य कथा-आख्यायिका की तरह कथा संबंधी चमत्कार उत्पन्न करके पाठकों का मनोरंजन करना नहीं है। इसी से उसका कथानक वैसा जटिल और घुमावदार नहीं है जैसा संस्कृत-प्राकृत आदि भाषाओं की कथा अख्यायिकाओं में होता है।

वस्तुतः पुराने आचार्यों ने काव्य और कथा-अख्यायिका का जो अन्तर बताया है वह न तो बहुत स्पष्ट और स्थिर है और न उनके बनाये नियमों को कवियों ने सदैव स्वीकार ही किया है। तीसरे अध्याय में कहा जा चुका है कि अपभ्रंश तक पहुँचते पहुँचते महाकाव्य और कथा-आख्यायिका का भेद बहुत कुछ भुला सा दिया गया और चरितकाव्य के रूप में संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश में उस काल की जो काव्य कृतियाँ मिलती हैं उनमें महाकाव्य और कथा-आख्या-यिका दोनों के लक्षणों का समन्वय हो गया है। संभवतः नवीं शताब्दी के पूर्व से ही इस प्रकार के काव्य लिखे जाने लगे थे और ऐसे ही महाकाव्यों को सामने रखकर रुद्रट ने महाकाव्य को ऐसी व्यापक परिभाषा बनाई थी जिसमें शास्त्रीय महाकाव्यों के साथ साथ विकसनशील महाकाव्य तथा पौराणिक, ऐतिहासिक और रोमांचक शैली के महाकाव्य भी समेट लिए जा सकते है। दूसरे अध्याय में हमने कथा-अख्यायिका (रोमान्स) और महाकाव्य (एपिक) का जो भेद बताया है वह आलंकारिकों द्वारा बताये अन्तर से भिन्न प्रकार का है। आलंकारिकों ने केवल कुछ ऊपरी बातों में ही दोनों काव्यरूपों में भिन्नता देखी है। किन्तु वस्तुतः दोनों की अन्तरात्मा में भेद हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने काव्य और कथा का जो भेद बताया है उसका सम्बन्ध दोनों

काव्यरूपों की अन्तरात्मा से अवश्य है किन्तु शुक्ल जी ने कथा-आख्यायिका में केवल इतिवृत्तात्मक कथाओं—हितोपदेश, कथासरित्सागर, सिंहासनबत्तीसी, वैताल पच्चीसी आदि—को ही माना है और इसीलिए लिखा है कि ये "कहानियाँ इतिवृत्ति रूप में ही हैं' इसीलिए उन्हें कोई काव्य नहीं कहता। ऐसी कहानियों से भी श्रोता या पाठक का मनोरंजन होता है पर वह काव्य के मनोरंजन से भिन्न होता है।"[1] शुक्ल जी ने कथा-आख्यायिका का विश्लेषण करते हुए कादंबरी, हर्षचरित, वासवदत्ता, दशकुमारचरित आदि कथा-आख्यायिकाओं को ध्यान में नहीं रखा। ये कथा आख्यायिका होते हुए भी पूर्ण रसात्मक काव्य हैं। अतः पद्मावत का काव्यरूप निश्चित करने के लिए हम उसकी परीक्षा दूसरे अध्याय में स्थिर किये गये अपने मानदण्ड से करेंगे।

पद्मावत—रोमांचक महाकाव्य

(१) भारत में तथा यूरोप में भी मध्यकाल के प्रारम्भ से ही महाकाव्य के पुराने शास्त्रीय नियमों की उपेक्षा करके उसमें कथा आख्यायिका के रोमांचक तत्त्वों का समावेश किया जाने लगा। रोमांचक कथा-आख्यायिका में रसवत्ता हो या केवल मनोरंजन की शक्ति, हर दशा में उसमें भावुकता और कल्पना का रंग बहुत गहरा होता है। इसके विपरीत शास्त्रीय महाकाव्यों में बौद्धिक ऊँचाई, दार्शनिक गंभीरता और पांडित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति अधिक होती है। रोमांचक महाकाव्यों में इन दोनों प्रवृत्तियों का समन्वय होता है। पद्मावत में भावुकता और काल्पनिकता से पूर्ण रोमांचकता अवश्य है पर उसका अतिरेक नहीं हुआ है क्योंकि रोमांचक प्रवृत्ति से कहीं अधिक गहरा रंग उसमें आध्यात्मिकता और रहस्यवाद का है। अतः पद्मावत को कथा आख्यायिका नहीं माना जा सकता।

(२) कथा आख्यायिका में रोमांचक तत्त्वों और साहसिक कार्यों जैसे युद्ध, बलपूर्वक विवाह, कन्याहरण, भयंकर यात्रा, मार्ग की दुरूह कठिनाइयाँ; देव, असुर, गन्धर्व, यक्ष आदि के अलौकिक कार्य आदि का बहुत अधिक विस्तार होता है। शास्त्रीय महाकाव्यों में इन तत्त्वों का प्रायः अभाव होता है। पौराणिक और ऐतिहासिक शैली के महाकाव्यों में भी ये तत्त्व बहुत अधिक नहीं होते। रोमांचक शैली के महाकाव्यों में इनकी मात्रा अवश्य कुछ अधिक होती है परन्तु उनमें आदर्श चरित्रों की योजना, बौद्धिक ऊँचाई तथा मर्मस्पर्शी

१—जायसी-ग्रन्थावली, (पंचम संस्करण) ले० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल वक्तव्य, पृ० ७० ।

और रसात्मक वस्तु-वर्णन और भाव-व्यंजना के कारण रोमांचक तत्त्वों का संयमन होता चलता है। पद्मावत में रोमांचक तत्त्व और साहसिक कार्य अवश्य हैं परन्तु उनकी मात्रा इतनी अधिक नहीं हैं कि उसे कथा-आख्यायिका कहा जा सके। उसके पूर्वार्द्ध में साहसिक कार्यों की अवश्य अधिकता है और इसका कारण संभवतः यही है कि उसका मूल उत्स एक अत्यन्त प्रचलित लोक-कथा 'रानी पद्मिनी और हीरामन सुग्गा की कहानी' है। लोककथाओं में ऐसे तत्त्वों की अधिकता होती ही है। किन्तु उसके उत्तरार्द्ध में रोमांचक तत्त्व नहीं हैं। पूरे काव्य में रसात्मक वर्णनों और अध्यात्मिक संकेतों की भी अधिकता है जिससे रोमांचक तत्त्व अपने आप दब गये हैं। इस दृष्टि से भी पद्मावत कथा-आख्यायिका की कोटि में नहीं, बल्कि रोमांचक महाकाव्य की कोटि में आता है।

(३) कथा-आख्यायिका का कथानक अधिक प्रवाह युक्त, इतिवृत्तात्मक और आकर्षक होता है किन्तु साथ ही वह यथार्थ जीवन पर आधारित नहीं होता। इसमें कल्पना-प्रसून असंभव कार्यों और अलौकिक, अतिमानवीय तथा अतिप्राकृत तत्त्वों और पात्रों की अधिकता होती है। परिणामस्वरूप उसमें काल्पनिक कथा का चमत्कार और असंभव या अविश्वसनीय घटनाओं की भरमार होती है। इसके विपरीत महाकाव्य का कथानक बहुत अंशों में यथार्थ जीवन पर आधारित होता है। उसमें यथार्थ जीवन-व्यापारों और परिस्थितियों के बीच पात्रों को रखकर उनके चरित्र-चित्रण और मानसिक क्रिया-प्रतिक्रिया का प्रदर्शन करने की प्रवृत्ति प्रमुख होती है। घटनाओं के तीव्र प्रवाह में पाठकों-श्रोताओं को बहा ले जाना उनका लक्ष्य नहीं होता। इस तरह महाकाव्य सोद्देश्य होता है। वह कुछ महत्त्वपूर्ण संदेश देता है तथा पाठकों के जीवन को प्रभावित करता, उसका उन्नयन या पथप्रदर्शन करता है। इसके विपरीत कथा-आख्यायिका का उद्देश्य प्रायः विशुद्ध मनोरंजन और कभी कभी नीति या धर्म का उपदेश देना या उदाहरण उपस्थित करना होता है। नीति-कथाएँ और धर्मकथाएँ इतिवृत्तात्मक और उपदेशात्मक होती हैं। उनमें यथार्थ जीवन की परिस्थितियों और मनोदशाओं के चित्रण द्वारा उच्च रस-स्थिति तक पहुँचाने की शक्ति नहीं होती। इस दृष्टि से विचार करने पर भी पद्मावत को कथा-आख्यायिका, नीति कथा और धर्मकथा की कोटि में नहीं बल्कि महाकाव्य की कोटि में ही रखा जा सकता है। इसकी कथा का नायक ऐतिहासिक पुरुष है और उसका अलाउद्दीन से युद्ध तथा उसकी रानियों का जौहर करना भी ऐतिहासिक सत्य है। पद्मावत के पूर्वार्द्ध की घटनाएँ

अवश्य काल्पनिक हैं पर उसमें विविध मनोदशाओं का वर्णन यथार्थ लोक-जीवन के आधार पर हुआ है। योगी होकर घर छोड़ देने और पत्नी तथा माता के करुण क्रंदन को उपेक्षा कर वन में निकल जाने की घटना इस देश के लिए नई या असम्भव नहीं है। भर्तृहरि और गोपीचन्द की कथाएँ इसका प्रमाण हैं। पद्मावत के उत्तरार्द्ध की घटनाएँ तो पूर्णतया यथार्थ जीवन—राज-दरबार, मन्त्रणा, युद्ध, सन्धि, छल-कपट आदि से सम्बन्धित हैं और उनका वर्णन भी विस्तार के साथ और मर्मस्पर्शी ढङ्ग से हुआ है, कथा-आख्यायिका की तरह केवल उनका उल्लेख या संकेत नहीं किया गया है।

(४) प्रबन्धकाव्य के लिए कथानक में कार्यान्विति का होना आवश्यक माना गया है अर्थात् उसमें नाटक की सन्धियों की योजना होनी चाहिए जिससे घटनाओं का विकास-क्रम और कथा की शृंखला बनी रहे। इसके विपरीत कथा-आख्या-यिका आदि में कथानक की ऐसी शृंखलित योजना नहीं मिलती। उनमें अलंकृत काव्यों की तरह कसावट और थोड़े में अधिक कहने की प्रवृत्ति नहीं होती। महाकाव्य और कथा आख्यायिका को अलग करने वाली यही सबसे महत्वपूर्ण कसौटी है। कथा-आख्यायिका का कथानक स्फीतियुक्त, उलझा हुआ और जटिल होता है। प्रायः उसका प्रारम्भ ही कथान्तर से होता है और फिर उसमें कथा के भीतर कथा और उस अन्तर्गत कथा में भी गर्भ कथाएँ इस तरह भरी रहती हैं जैसे प्याज में छिलके पर छिलके होते हैं। कुछ कथाएँ ऐसी भी होती हैं जिनमें अनेक कथाएँ किसी एक सूत्र से परस्पर बाँध दी गयी रहती हैं यद्यपि उन सबका अस्तित्व अलग अलग ही रहता है। ऐसी कथाओं में वह नाटकीय अन्विति नहीं हो सकती जो अलंकृत प्रबन्धकाव्यों में होती है। पद्मावत में यह कार्यान्विति, जिसे पं० रामचन्द्र शुक्ल ने प्रबन्ध-कल्पना कहा है, पूर्ण रूप में दिखाई पड़ती है। नाटकीय सन्धियों की योजना के लिए ही प्रबन्धकाव्य सर्गों में विभक्त होते हैं। पद्मावत सर्गों में विभक्त नहीं है, फिर भी उसके कथानक में ऐसे स्थल हैं जहाँ सन्धियाँ स्पष्ट दिखलाई पड़ती हैं। इस सम्बन्ध में पद्मावत के कथानक की विवेचना करते समय विशेष रूप से विचार किया जायगा।

(५) नायक तथा अन्य चरित्रों के स्वरूप की दृष्टि से भी काव्य और कथा-आख्यायिका में स्पष्ट अन्तर दिखाई पड़ता है। भामह ने कथा-आख्यायिका का यह लक्षण बताया है कि उसमें कन्याहरण, संग्राम, विप्रलम्भ आदि का वर्णन होता है। इसका आशय यही है कि कथाओं में विवाह और उसके लिए युद्ध तथा प्रेम के संयोग और वियोग पक्ष के वर्णन पर अधिक ध्यान दिया गया

रहता है। परिणामस्वरूप उसके नायक प्रायः धीरललित होते हैं और उनका जीवन यथार्थ पर आधारित नहीं होता। वे बहुधा निजन्धरी व्यक्तित्व के होते है या कथाकार द्वारा निजन्धरी ऊँचाई तक पहुँचा दिये जाते हैं। भारतीय कथाओं में विक्रमादित्य, दुष्यन्त, नल, उदयन, सातवाहन आदि ऐसे ही चरित्र हैं। उनके जीवन में ऐकान्तिकता अधिक है और वैविध्यपूर्ण व्यापारों तथा प्रेमेतर मनोदशाओं से उनका अधिक लगाव नहीं दिखाई पड़ता। युद्ध, साहस और वीरता के कार्यों का वर्णन कथा-आख्यायिका में भी होता है पर वैसा नहीं जैसा अलंकृत काव्यों में होता है। कथाकार युद्ध और वीरता को प्रेम और शृंगार का साधन मात्र समझता है जिससे उसका मन इन बातों के विशद वर्णन में नहीं रमता। ऐसे कार्यों का वह उल्लेख या संकेत करके आगे बढ़ जाता है। कुछ अपवादों को छोड़ कर प्रायः सभी कथा आख्यायिकाओं में यही बात पायी जाती है। इसलिये रुद्रट ने कथा का कार्य या फल कन्या-लाभ माना है। कादम्बरी, लीलावइ कहा आदि कथाओं मे यह बात देखी जा सकती है। काव्यों में कन्या लाभ प्रायः साधन होता है, उसमें लक्ष्य या उद्देश्य प्रायः नायक की विजय और अभ्युदय दिखाकर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में से किसी एक या कई फलों की प्राप्ति होता है। धर्मकथा और नीति-कथा में सदसत् कर्मों का परिणाम दिखाकर उपदेश देना ही प्रमुख उद्देश्य होता है। अतः इनके नायक या चरित्र अधिकतर कृत्रिम और कथाकार के हाथ के कठपुतले प्रतीत होते हैं, यथार्थ और जीवन्त व्यक्तित्व वाले नहीं। पद्मावत के चरित्रो में नायक रतनसेन का जीवन यद्यपि बहुत अधिक व्यापक और वैविध्यपूर्ण कार्यकलाप से युक्त नहीं है पर उसमे कर्तव्य भावना, प्रेम-भावना और वीर-भावना का समायोग दिखाई पडता है। साथ ही प्रेम के क्षेत्र में वह आदर्श चरित्र के रूप में भी दिखाई पड़ती है। अतः कुल मिलाकर वह धीरोदात्त नायक अधिक प्रतीत होते हैं, धीरललित नहीं।

पद्मावत—एक चरितकाव्य

तीसरे और चौथे अध्यायों में भारतीय महाकाव्य की परम्परा और हिन्दी पर उसके प्रभाव के सम्बन्ध में विचार करते हुए हम देख चुके हैं कि आठवीं शताब्दी के बाद संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में पौराणिक, ऐतिहासिक और रोमांचक शैली के प्रबन्धकाव्य लिखे जाने लगे जो आज अधिकांशतः चरितकाव्य के नाम से ज्ञात हैं। हिंदी में जो प्रेमाख्यानक काव्य लिखे गये वे अधिकतर अपभ्रंश के रोमांचक चरितकाव्यों की परम्परा की ही देन है। पद्मावत में भी संस्कृत की शास्त्रीय शैली के महाकाव्यों की रूढ़ियों और शैली का अनुसरण

नहीं किया गया है। इसके विपरीत उसमें रोमांचक शैली के चरितकाव्यों की अनेक विशेषताएँ दिखलाई पड़ती हैं जिससे उसे चरितकाव्य मानना ही उपयुक्त है। वे विशेषताएँ ये हैं :—

(१) पद्मावत मे प्रबन्धकाव्य, कथा-आख्यायिका और धर्मकथा तीनों ही के तत्त्वों का समन्वय हुआ है। पहले बताया जा चुका है कि यद्यपि पद्मावत कथा आख्यायिका नहीं है पर उसमें कथा के अनेक गुण मिलते हैं। उपदेशात्मक वर्णनों सैद्धांतिक विवेचनों और धार्मिक दृष्टिकोण के कारण उसमें धर्मकथा के कुछ तत्त्व भी दिखलाई पड़ते हैं। इस तरह प्रबन्धकाव्य के भीतर कथा-आख्यायिका और धर्मकथा के तत्त्व मिल जाने से पद्मावत का काव्यरूप चरित-काव्य जैसा है।

(२) चरितकाव्यों के समान ही उसमें अलौकिक और अतिमानवीय शक्तियों तथा साहसिक कार्यों की योजना अधिक हुई है।

(३) चरितकाव्यों की अनेक कथानकरूढ़ियाँ भी इसमें प्रयुक्त हुई हैं जिनके कारण कथानक एक विशेष साँचे में ढला दिखाई पड़ता है।

(४) उसमें प्रेम, वीरता और वैराग्य तीनों का सुन्दर समन्वय हुआ है। इस दृष्टि से पद्मावत अपभ्रंश के चरितकाव्य सुदंसणचरिउ, भविसयतकहा तथा जम्बूस्वामीचरित से अधिक समता रखता है। उसमें वीरता और धर्म-भावना का स्थान गौण है और प्रेम भावना को ही प्रमुख स्थान मिला है। यह बात सभी रोमांचक चरितकाव्यों में दिखलाई पड़ती है।

(५) पद्मावत का नायक चरितकाव्यों के नायकों की भाँति ही सामान्य मानव है पर उसे कवि ने अपने शुभ-अशुभ कर्मों के फल का भोग करते हुए नहीं दिखाया है और न उसका लक्ष्य कथा को किसी आदर्श परिणाम पर पहुँचाना ही है। फिर भी उसका नायक अपने ढंग से प्रेम के क्षेत्र में अद्भुत आदर्श की स्थापना करता है। जैन चरितकाव्यों में 'कर्मफल' की प्रधानता है तो पद्मावत में सूफी मत के अनुरूप आध्यात्मिक प्रेम और उसके आदर्श की स्थापना।

(६) इसकी शैली चरितकाव्यों जैसी जीवन-चरित की शैली है अर्थात् उसमें नायक-नायिका के सम्पूर्ण जीवन की घटनाएँ ली गयी हैं, यद्यपि उसमें घटनाओं का उचित चुनाव भी हुआ है।

(७) चरितकाव्यों की अधिकांश प्रबन्धरूढ़ियाँ तथा कड़वकबद्ध छन्द-योजना पद्मावत में भी मिलती हैं। इन बातों के सम्बन्ध में आगे विशेष रूप से विचार किया जायगा।

अन्य प्रभाव—यह तो सही है कि 'पद्मावत' तथा हिन्दी के अन्य चरित-काव्य मूलतः अपभ्रंश के चरितकाव्यों की परम्परा में आते हैं किन्तु साथ ही यह बात भी ध्यान में रखने की है कि अपभ्रंश के चरितकाव्यों का युग प्रधान रूप से ईसवी आठवीं से तेरहवीं शताब्दी तक का है और हिन्दी के प्रबन्ध-काव्यों का युग तेरहवीं शताब्दी के बाद का है जब कि इस देश में मुसलिम शासन स्थापित हो गया था और यहाँ की जनता का मुसलिम संस्कृति और विचारधारा के साथ संपर्क हो गया था। इस प्रकार व्यापक राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक परिवर्तन हो जाने के बाद अपभ्रंश के चरितकाव्यों की परम्परा हिन्दी में यथावत् नही गृहीत हो सकती थी। अतः हिन्दी में जो प्रेमाख्यानक काव्य लिखे गये उन पर अपभ्रंश के चरितकाव्यों की परम्परा के अतिरिक्त अन्य प्रकार का प्रभाव भी पड़ा है। पद्मावत प्रेमाख्यानक काव्यों में सर्वश्रेष्ठ और महाकाव्य पद का अधिकारी है। अत. उसके रूप निर्माण में जिन अन्य स्रोतों का प्रभाव रहा है उनकी विवेचना करना आवश्यक है। पद्मावत पर अपभ्रंश के चरितकाव्यों के अतिरिक्त निम्नलिखित काव्य-परम्पराओं का भी प्रभाव पड़ा है :—

(१) पद्मावत से पूर्व के हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्यों की परम्परा।
(२) लोककथाओं और लोकगाथाओं की परम्परा।
(३) फारसी के रोमांचक मसनवियों की परम्परा।

पद्मावत के पूर्ववर्ती हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य—चौथे अध्याय में कहा जा चुका है कि हिन्दी साहित्य के आदिकाल की प्रमुख प्रवृत्तियाँ वीरता, प्रेम और धर्म की थीं। प्रेम की प्रवृत्ति आदिकालीन वीर-काव्यों में भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है किन्तु उसका स्पष्ट रूप लोकगाथात्मक प्रेमाख्यानक काव्यों—ढोलामारू रा दूहा, वीसलदेवरास, सदयवत्स-सावलिंगा (सारंगा-सदावृक्ष) में दिखाई पड़ता है। अवहट्ट या परवर्ती अपभ्रंश के कुछ काव्य, जैसे नेमिनाथचउपई, संदेशरासक आदि, भी प्रेमाख्यानक काव्य ही हैं यद्यपि उनमें कथासूत्र बहुत क्षीण है, वर्णनात्मकता ही प्रधान है। अतः उन्हें शृंगार रस का खण्डकाव्य कहा जा सकता है। जायसी के पूर्व तथा उनके कुछ पीछे के कवियों द्वारा लिखित कई प्रेमाख्यानक काव्य हैं जिनमें से कुछ उपलब्ध हैं और अन्य अनुपलब्ध। उपलब्ध प्रेमाख्यानक काव्य ये हैं:-साधान का मैना-सत[१] मुल्ला

---

१ द्रष्टव्य—(क) डा० माताप्रसाद गुप्त का निबन्ध–साधन का मैना-सत, अवन्तिका, जुलाई, सन् १९५४, पृ० ७८।

दाऊद का चन्दायन या नूरकचन्दा[1] (सन् १३७४ ई०) दामो कृत लक्ष्मणसेन-पद्मावती (सन् १४५९)[2] नारायणदास (रतनरंग) का छिताई वार्ता या छिताईचरित[3] कुतुबन की मृगावती (सन् १५०३ ई०)[4] ईश्वरदास की सत्यवती कथा (सन् १५०१ ई०)[5], मंझन की माधुमालती[6] चतुर्भुज कायस्थ की मधुमालती[7]।

इन काव्यों का मिलना यह सिद्ध करता है कि जायसी के बहुत पहले से ही हिन्दी में प्रेमाख्यानक काव्यों की परम्परा विकसित हो रही थी। जायसी ने पद्मावत में कुछ प्रेमकथाओं की सूची दी है जिसके आधार पर यह अनुमान करना स्वाभाविक है कि या तो वे काव्य लिखित रूप में जायसी के समय में थे या जायसी को उनका पता लोककथाओं और लोकगाथाओं के रूप में था। जायसी की सूची यह है:—

(ख) श्री उदयशंकर शास्त्री—कवि माधव और उनका मैनासत-भारतीय साहित्य—अंक दो—आगरा विश्वविद्यालय हिन्दी विद्यापीठ।

१—(क) अवधी भाषा के साहित्य की एक सूची—ले० श्री उदयशंकर शास्त्री ना० प्र. पत्रिका—वर्ष ६० अंक २ पृ० १६२

(ख) Prof S. H. Askari-Rare Fragments of Chandain and Mrigawati.

२—लक्ष्मणसेन-पद्मावती—ले० श्री उदयशंकर शास्त्री—त्रिपथगा, जुलाई १६५६ पृष्ठ-५३

३—(क) 'छिताईचरित' शीर्षक निबन्ध—ले० श्री० बटेकृष्ण, ना० प्रा० पत्रिका, वर्ष ५१, अंक ३-४।

(ख) 'छिताईवार्ता' शीर्षक निबन्ध, ले० श्री अगरचन्द नाहटा—विशाल भारत, मई सन १६४३।

४—हिन्दी प्रेमाख्यानककाव्य—ले० कमल कुलश्रेष्ठ—पृ० १३।

५—द्रष्टव्य-वही-पृष्ठ-१६।

६—इसका रचना-काल डा० कुलश्रेष्ठ ने सन् १५४५ माना है। द्रष्टव्य वही, पृ० ३६।

७—इसका रचना-काल डा० माताप्रसाद गुप्त ने विक्रम की सोलहवीं शताब्दी माना है। द्रष्टव्य—'चतुर्भुजदास का मधुमालती' (निबन्ध), ले० डा० माताप्रसाद गुप्त, ना० प्र० पत्रिका, (हीरक जयन्ती अंक), वर्ष ५८, अंक ३, सं० २०१०।

विक्रम धंसा पेम के बारौं । सपनावति कहँ गएउ पतारौं ।
सुदेवच्छ मुगुधावति लागी । कँकतपूरि होइगा बैरागी ।
राजकुँवर कंचनपुर गएऊ । मिरगावति कहँ जोगी भएऊ ।
साधा कुँवर मनोहर जोगू । मधुमालति कहँ कीन्ह वियोगू ।
प्रेमावती कहँ सरसुर साधा । उखा लागि अनिरुध वर बाधा ।

जायसी-ग्रंथावली (मा० गु०) दोहा २३३ ।

यदि इसी सूची को लिखित प्रेमाख्यानक काव्यों की सूची माना जाय तो जायसी के पूर्व के निम्नलिखित प्रेमाख्यानक काव्य माने जायँगे जो उन्हें ज्ञात थे:—(१) स्वप्नावती, (२) मुग्धावती, (३) मृगावती, (४) मधुमालती, (५) प्रेमावती और (६) उषा-अनिरुद्ध । इनमें से मृगावती और मधुमालती को छोड़कर अन्य का पता नहीं है । मृगावती और मधुमालती का उल्लेख बनारसीदास ने भी अपने 'अर्द्धकथा' (स० १६६०) नामक काव्य में किया है[1] । मंझन की मधुमालती तो पद्मावत के बाद सन् १५४५ की लिखी है, अतः जायसी उसका उल्लेख नहीं कर सकते थे । चतुर्भुजदास की 'मधुमालती' डा० माताप्रसाद गुप्त के अनुसार विक्रम की १६ वीं शताब्दी की अवश्य है पर जायसी ने उसका भी उल्लेख नहीं किया है क्योंकि चतुर्भुजदास की मधुमालती में नायक-नायिका का वियोग नहीं होता है, और न नायक नायिका के लिये योग-साधन ही करता है[2] । अतः जायसी ने या तो मंझन और चतुर्भुजदास के अतिरिक्त अन्य किसी कवि द्वारा लिखित मधुमालती काव्य की ओर संकेत किया है या किसी लोककथा के नायक नायिका मनोहर और मधुमालती का नाम लिया है । इस प्रकार केवल कुतबन कृत मृगावती ही जायसी के पद्मावत के पूर्व लिखा गया एक ऐसा काव्य है जिसका उल्लेख जायसी ने किया है और जो आज उपलब्ध है । अन्य उल्लिखित नाम तो ऐसे काव्यों के हैं जो आज उपलब्ध नहीं हैं या उन प्रेमाश्रित लोककथाओं के हैं जो जायसी के समय में

१—तब घर में बैठे रहे जाहि ना हाट बजार ।
मधुमालती मिरगावती पोथी दोइ उदार ॥
ते बाँचहि रजनी समै आवहि नर दस बीस ।
गावैं अरु बातें करहि नित उठि देहिं असीस ॥

—अर्द्धकथा, दोहा, ३३५—३३६ ।

२—द्रष्टव्य—चतुर्भुजदास की मधुमालती,
ले० डा० माताप्रसाद गुप्त—ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ५८, अंक ३, पृ. १६२ ।

सामान्य भारतीय जनता में प्रचलित थीं। उनमें तीन कथाएँ तो भारतीय कथा-साहित्य और पुराणों की प्रसिद्ध कथाएँ हैं – (१) विक्रमादित्य, (२) उषा-अनिरुद्ध और (३) सदयवत्स (उदयवत्स या उदयन)। ये कथाएँ साहित्य से निकल कर जनता में पहुँच गयी थीं और वहाँ उनमें बहुत अधिक परिवर्तन हो गया था। इन्हीं कथाओं को जैन कवियों ने फिर नये रूप में अपनाया। सदयवत्स-सावलिंगा नामक काव्य, जिसका उल्लेख चौथे अध्याय में किया जा चुका है, ऐसी ही लोककथा के आधार पर रचा गया था। सम्भवतः उसी लोककथा की ओर, जो आजकल सारंगा सदावृक्ष की कहानी के रूप में लोक-प्रचलित है, जायसी ने भी संकेत किया है। यह उदयन-कथाचक्र से, जिस पर बृहत्कथा भी आधारित है, संबंधित है। विक्रम की कथाएँ विक्रम-कथाचक्रके भीतर आती हैं। उषा-अनिरुद्ध की कथा तो पौराणिक आख्यान है। इन कथाओं की ओर जायसी ने जो संकेत किया है उससे यही सिद्ध होता है कि उनके द्वारा उल्लिखित अन्य नाम भी लोकप्रचलित कथाओं के ही हैं, लिखित प्रेमाख्यानक काव्यों के नहीं। पद्मावत का अंग्रेजी में अनुवाद करनेवाले विद्वान श्री ए० जी० शिरेफ का भी यही मत है कि वे लोकप्रचलित प्रेम कहानियों के नाम हैं।

निष्कर्ष यह कि जायसी को भारतीय लोकजीवन के अनेक सुप्रसिद्ध प्रेमाख्यानों का पता था और उनके पूर्व हिन्दी में प्रेमाख्यानक काव्य लिखने की परम्परा विकसित हो चुकी थी। ढोलामारू रा दूहा, वीसलदेवरास, नूरक चंदा, मृगावती, सत्यवती-कथा, मैना-सत, छिताईचरित, लखमणसेन-पद्मावती आदि काव्य पद्मावत से पूर्व ही लिखे जा चुके थे और पद्मावत के रचना काल के आस-पास ही मंझन की मधुमालती, चतुर्भुजदास की मधुमालती, सदयवत्स सावलिंगा, आदि काव्य भी लिखे गये। इनमें से सत्यवती-कथा, मृगावती, नूरक-चन्दा, मैना-सत, छिताईचरित, मधुमालती आदि चौपाई और दोहा में अपभ्रंश के चरितकाव्यों की तरह कडवकबद्ध शैली में लिखे गये हैं। जायसी ने भी पद्मावत में यही शैली अपनाई है। अपभ्रंश के चरितकाव्यों में पज्झटिका या पद्धड़िया छन्द का प्रयोग बहुत हुआ है। यह छन्द चौपाई से मिलता-जुलता है। पृथ्वीराजरासो में भी चौपाई और दोहे का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। 'नूरक-चन्दा' प्रथम सूफी प्रेमाख्यानक काव्य है जिसमें दोहा-चौपाई की पद्धति अपनाई गयी है। उसमें ५-५ अर्द्धालियों के बाद एक-एक दोहा रखा गया है। इसका रचना-काल सन् १३७४ ई० है[१]। सन् १५०१ ई० के करीब दिल्ली में ईश्वरदास ने 'सत्यवती-कथा'

१—अवधी भाषा के साहित्य की एक सूची (निबन्ध) ले० श्री उदयशंकर शास्त्री, ना० प्र० पत्रिका वर्ष ६०, अंक २, पृ० १६२।

नामक जो प्रेमाख्यानक काव्य लिखा उसमें भी ५-५ अर्द्धालियों के बाद दोहे का घत्ता देकर कडवक बनाया गया है। मृगावती में कुतुबन ने भी ५-५ अर्द्धालियों के बाद दोहे रखने की पद्धति अपनाई है। कुछ परवर्ती प्रेमाख्यानक काव्यों—मधुमालती, इन्द्रावती आदि—में भी यही ५-५ अर्द्धालियों के बाद दोहे रखने का क्रम मिलता है। जायसी ने पद्मावत में दोहा-चौपाई के इसी परंपरागत छन्द-विधान को अपनाया है किन्तु उन्होंने ७ अर्द्धालियों के बाद एक दोहे का क्रम रखा है। जायसी के इस क्रम को उसमान ने भी 'चित्रावली' में अपनाया है।

हिन्दी में जायसी के पूर्व जो प्रेमाख्यानक काव्य लिखे गये वे कथानक की दृष्टि से दो प्रकार के हैं:—

(१) अर्द्ध-ऐतिहासिक, पौराणिक और निजन्धरी व्यक्तियों से संबंधित काव्य जिनमें कुछ पात्र तो ख्यात हैं किन्तु उनकी अधिकांश या पूरी कथा कल्पित है। ऐसे काव्य हैं, ढोलामारू रा दूहा, बीसलदेवरास, सदयवत्स-सातलिंगा, छिताई-चरित, सत्यवती-कथा आदि।

(२) पूर्णतया कल्पित व्यक्तियों से सम्बन्धित काव्य जो लोककथाओं पर आधृत है, जैसे मृगावती, मधुमालती, नूरक-चन्दा आदि।

जायसी का पद्मावत प्रथम प्रकार की काव्य-परम्परा में आता है क्योंकि उसमें रतनसेन और अलाउद्दीन तथा उनके युद्ध के अतिरिक्त अन्य सभी पात्र और घटनाएँ कल्पित हैं।

उद्देश्य की दृष्टि से उन काव्यों को फिर दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है:—

(१) आध्यात्मिक सिद्धान्त या किसी विशेष मत या नैतिकता का प्रचार करने के उद्देश्य से लिखे गये काव्य जैसे मैनासत, नूरक-चन्दा, मृगावती, मंझन की मधुमालती, सदयवत्स-सावलिंगा, छिताईचरित आदि।

(२) ऐहिक प्रेमाख्यानक काव्य, जैसे सत्यवती कथा, ढोलामारू रा दूहा, बीसलदेवरास, चतुर्भुजदास की मधुमालती आदि।

जायसी का पद्मावत इस दृष्टि से प्रथम प्रकार का काव्य है। सूफी होने के नाते जायसी ने लौकिक प्रेमकथा को आधार बनाकर प्रतीकात्मक और सांकेतिक ढङ्ग से सूफी सिद्धान्त और साधना मार्ग की उसी प्रकार प्रतिष्ठा की है जिस तरह मुल्ला दाऊद ने नूरक-चन्दा में और कुतुबन-मंझन ने मृगावती और मधुमालती में की है। सूफी कवियों की यह प्रवृत्ति इस देश के साहित्य के लिये कोई नई बात नहीं थी। इस देश में बहुत प्राचीन काल से अर्द्ध-ऐति-

हासिक और निजन्धरी व्यक्तियों से संबंधित कथाओं तथा अन्य लोककथाओं का उपयोग हिन्दू, बौद्ध और जैन मत का प्रचार करने के लिए होता रहा और उन्हें दृष्टान्तकथा या धर्मकथा का रूप दिया जाता रहा। यह बात अपभ्रंश के चरित-काव्यों के सम्बन्ध में कही जा चुकी है। जैनों द्वारा लिखित अधिकांश चरित-काव्य ऐसे ही हैं जिनमें किसी व्रत या पूजा का माहात्म्य बताने के लिए किसी लोकप्रचलित कथा का जैन रूपान्तर कर लिया गया है या शुभ-अशुभ कर्मों का फल दिखाने के लिए भवान्तरों की कथाएँ जोड़ दी गयी हैं। सदय वत्स-सावलिंगा की कथा कवि हर्षवर्द्धन ने १५वीं शताब्दी में पुरानी गुजराती मिश्रित हिन्दी में लिखी थी। हर्षवर्द्धन ने इस कथा को 'सदयवत्स-कथा' नाम देकर जलहरचरिउ और करकडचरिउ जैसी अनेक भवान्तरों वाली जैन कथा बना दिया है। नन्ददास की रूपमंजरी भी कृष्णभक्ति का उत्कृष्ट रूप दिखाने और उसका प्रचार करने के उद्देश्य से ही लिखी गयी है। मैना-सत और छिताई-चरित की कथाएँ स्त्री के पतिव्रता धर्म, पति-पत्नी के प्रगाढ़ प्रेम और सतीत्व की महिमा दिखाने के उद्देश्य से लिखी गयी हैं। सूफियों ने भी अपने काव्यों में यही उद्देश्य अपने सामने रखा है, यद्यपि उनकी शैली भिन्न है। उनकी शैली पर फारसी प्रेमाख्यानक काव्यों का भी कुछ प्रभाव पड़ा है। अतः इस सम्बन्ध में विशेष रूप से आगे विचार किया जायगा। सूफी कवियों के अतिरिक्त अन्य कवियों द्वारा लिखित आध्यात्मिक उद्देश्य या लौकिक प्रेम वाले काव्यों पर इस प्रकार का कोई प्रभाव नहीं दिखलाई पड़ता।

लोककथा-लोकगाथा का प्रभाव—यह पहले ही कहा जा चुका है कि पद्मावत की कथावस्तु और शैली पर लोककथाओं-लोकगाथाओं का भी प्रभाव पड़ा है। यह प्रभाव प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार का है। अप्रत्यक्ष प्रभाव तो प्राचीन भारतीय साहित्य की उन कथा-आख्यायिकाओं, प्रेमाख्यानों और अपभ्रंश के चरितकाव्यों से होकर आया है जिन पर लोककथाओं का सीधा प्रभाव पड़ा था। किन्तु इसके अतिरिक्त पद्मावत तथा अन्य प्रेमाख्यानक काव्यों पर मध्यकाल की ग्रामीण जनता में प्रचलित लोककथाओं और लोकगाथाओं का प्रत्यक्ष प्रभाव भी पड़ा है। हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यों की परम्परा का प्रारम्भ तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी से ही मानना चाहिए जब कि ढोलामारू रा दूहा का विकास होने लगा और नूरक-चन्दा जैसे काव्यों की रचना हुई। इस काल में भारत में नाथपंथी योगियों और तांत्रिक सिद्धों का प्रभाव सामान्य जनता पर बहुत अधिक था। नाथ-सम्प्रदाय के योगी वस्तुतः शैव ही थे और शिव-पार्वती की उपासना के साथ उन्होंने हठ-योग की साधना का समन्वय किया था। उधर

तान्त्रिक सिद्ध भी 'सहज' मार्ग पर चलकर लौकिक आनन्द के माध्यम से आध्यात्मिक आनन्द की खोज कर रहे थे। भागवत मत के अनुयायियों में भी 'मधुर रस' और प्रेम भक्ति की ओर झुकाव बढ़ रहा था और वल्लभाचार्य जी ने तो माधुर्य भाव से भगवान की उपासना के लिए मार्ग ही प्रशस्त कर दिया। वल्लभाचार्यी मत में भी कृष्ण और गोपिकाओं के वियुक्त रूप पर ही अधिक ध्यान दिया गया है। यही कारण है कि कुछ विद्वान इस प्रकार की भक्ति को सूफी मत से प्रभावित मानते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मुसलमानो का उत्तरी भारत में राज्य स्थापित होते ही बाहर से आये हुए सूफी साधक भी भारत के विभिन्न भागों में फैल गये। उनका प्रधान उद्देश्य सूफी सिद्धांतों के प्रचार के साथ-साथ इस्लाम का प्रचार करना भी था। ये सूफी सन्त भी योग और तंत्र की साधना करते थे और सामान्य जनता उनको अलौकिक शक्ति सपन्न सन्त और सिद्ध मानती थी। इस प्रकार पन्द्रहवी शताब्दी तक उत्तरी भारत में भक्ति-मार्ग, योग मार्ग और प्रेम मार्ग का पर्याप्त प्रचार हो गया था और जनता में योगियों की सिद्धियो के बारे में तरह-तरह की किंवदंतियाँ फैल गयी थीं। यही नहीं, अनेक राजाओं के योगी हो जाने की कथायें भी प्रचलित हो गयी थी। राजा भरथरी और गोपीचद ऐसे ही योगमार्गी निजन्धरी व्यक्तित्व हैं जिनके बारे में सम्भवतः उसी समय लोकगाथाएँ बन गयी थी। वे गाथाएँ आज भी प्रचलित है। प्रेमाश्रित लोकगाथाएँ तो जनता में प्रारम्भ से ही बहुत अधिक प्रचलित रही हैं। 'सारङ्गा सदावृक्ष' की कथा गद्य-पद्य मिश्रित लोककथा के रूप में आज भी सामान्य जनता में प्रचलित है जो 'सन्देशरासक' और 'पद्मावत' में उल्लिखित सुदैवच्छ या सदयवत्स की कथा का रूपान्तर है और जिसके आधार पर पन्द्रहवीं शताब्दी में हर्षवर्द्धन ने सदयवत्सकथा लिखी। उसी तरह लोरिकायने नाम की जो वृहत् लोकगाथा आज भोजपुरी प्रदेशों में गाई जाती है, सम्भवतः उसी का एक रूपान्तर मुल्ला दाऊद का नूरक-चन्दा नामक प्रेमाख्यानक काव्य है। पहले कहा जा चुका है कि अनेक विद्वानों की राय है पद्मावत मे कई ऐसी कथाओं की ओर जायसी ने सकेत किया है जो लिखित काव्य नहीं बल्कि लोकप्रचलित कथा-आख्यानक थे किन्तु मध्यकाल में इन कथाओं के आधार पर काफी अधिक सख्या में लोकभाषा में काव्य लिखे गये[1]। नूरक-चन्दा, मृगावती, मधुमालती ढोलामारूचउपई, सदयवत्स-कथा (सदयवत्स-सावलिंगा) सत्यवती-कथा आदि इसी प्रकार के काव्य

१—द्रष्टव्य–हिन्दी साहित्य–प्रथम संस्करण, ले० डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २५९–६०।

हैं। रासो का 'पद्मावती समय' और आल्हाखण्ड के अनेक गीत इसी प्रकार की लोककथाओं के आधार पर विकसित हुए हैं। पद्मावत की कथा का आधार भी चित्तौड़ युद्ध की ऐतिहासिक घटना के अतिरिक्त अवध प्रान्त में प्रचलित लोककथा 'पद्मिनी रानी और हीरामन सुग्गा' है। पद्मावती नाम की नायिका अनेक भारतीय प्रेमाख्यानों में मिलती है। वस्तुतः यह प्रेमाख्यानों का एक अति प्रचलित नाम है। अतः जायसी ने चित्तौड़ की रानी पद्मिनी के, जो जौहर करके प्रसिद्ध हो चुकी थी, नाम को लोककथा की पद्मिनी और पूर्ववर्ती संस्कृत-प्राकृत के प्रेमाख्यानों की पद्मावती से मिला दिया है। यह कथा सम्भवतः जायसी के पहले भी इसी रूप में प्रचलित हो गयी थी, क्योंकि १५ वीं शताब्दी में ही 'रयनसेहर नरवइकहा' नामक एक प्राकृत ग्रंथ भी इसी कथानक को लेकर लिखा गया है। पद्मावती नाम पृथ्वीराजरासो, दामो कृत लक्ष्मणसेन पद्मावती, आदि हिन्दी के कई काव्यों में मिलता है जिससे यह स्पष्ट है कि सब जगह प्राचीन प्रेमाख्यानों से ही यह नाम गृहीत हुआ है। इस तरह पद्मावत के कथानक पर तो लोककथाओं का प्रभाव पड़ा ही है, उसकी शैली भी उनसे प्रभावित होकर पर्याप्त कथात्मक और रोमांचक बन गयी है। यह प्रभाव उन प्रेम और योग-संबंधी कथाओं का है जिसमें से कई की ओर जायसी ने स्वयं संकेत किया है, जैसे गोपीचन्द, भरथरी पिंगला, मृगावती, मधुमालती आदि[1]। भरथरी और गोपीचन्द की लोकगाथाएँ तो आज भी प्रचलित हैं। मृगावती की भी कोई लोककथा अवश्य थी। इस संबंध में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, "कुतुबन ने अपनी मृगावती में लिखा है कि यह कथा पहले से ही चली आ रही है। इसमें योग शृङ्गार और विरह रस वर्तमान था। मैंने दुबारा फिर इसी कथा को लिपिबद्ध किया है[2]। मृगावती की तरह मधुमालती की कथा के भी विभिन्न स्थानों में अनेक रूपान्तर हो गये थे जिसके आधार पर तीन कवियों—मंझन, चतुर्भुजदास और नुसरती ने अपने काव्य लिखे हैं पर

१—भर्तृहरि और गोपीचन्द की कथा—

जानहुँ आहि गोपीचंद जोगी। कैसो भरथरि आहि वियोगी।
वै पिंगला गए कजरी आरन। यह सिंहल कहुँ सो केहि कारन।
दोहा १६३।

२—हिन्दी-साहित्य-प्रथम संस्करण, ले० डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २६१।

उनके कथानकों में पर्याप्त भिन्नता है[1]। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का तो कहना है कि—"हमारा अनुमान है कि सूफी कवियों ने जो कहानियाँ ली हैं वे सब हिन्दुओं के घरों में बहुत दिनों से चली आती हुई कहानियाँ हैं जिनमें आवश्यकतानुसार उन्होंने कुछ हेरफेर किया है।"[2]

फारसी काव्य-परम्परा का प्रभाव—हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्य दो प्रकार के हैं। एक तो वे जो विशुद्ध रूप से भारतीय काव्य-परंपरा की देन हैं, जैसे सत्यवती-कथा, ढोला मारू रा दूहा, वीसलदेवरास, छिताईचरित, मैना-सत आदि दूसरे प्रकार के प्रेमाख्यानक काव्य यद्यपि अधिकांशतः भारतीय काव्य-परंपरा की ही देन हैं पर उन पर कुछ फारसी काव्य परम्परा का भी प्रभाव पड़ा है। ये काव्य प्रायः मुसलमान सूफी कवियों के लिखे हुए हैं, जैसे मुल्ला दाउद का नूरक-चन्दा, कुतबन कृत मृगावती, जायसी का पद्मावत, मंझन कृत मधुमालती, उसमान कृत चित्रावली, नूर मुहम्मद कृत इन्द्रावती और अनुराग बाँसुरी आदि। फारसी काव्य की एक प्रधान विशेषता यह है कि उसमें श्लिष्ट और अतिशयोक्तिपूर्ण प्रयोगों और अभिव्यक्तियों की अधिकता होती है। यह बात फारसी सूफी कवियों में सबसे अधिक दिखाई पड़ती है। सूफीमत में प्रेम की पीर और सौन्दर्य-जन्य आनन्द को बहुत महत्व दिया गया है और इनका वर्णन सूफी कवि बहुत बढ़ा चढ़ा कर करते हैं। हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्यों में प्रेम की महिमा, विरह वेदना और सौन्दर्य की महत्ता का जो इतना अधिक और अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन मिलता है वह फारसी काव्यधारा का प्रभाव व्यक्त करता है। सूफी कवियों के प्रेमाख्यानक काव्यों में प्रतीकात्मकता, सांकेतिकता और अन्योक्ति तथा समासोक्ति की शैली भी फारसी के रोमांचक प्रेमाख्यानक मसनवियों की देन है।

मुसलमानों के आने के साथ ही इस देश में सूफियों का भी प्रवेश हुआ और इस तरह उनकी काव्य-परम्परा भी उनके साथ इस देश में प्रविष्ट हुई। अलाउद्दीन के कुछ ही बाद[3] मुल्ला दाऊद ने लोरिक और चन्दा की लोक

१—देखिये-निबन्ध 'चतुर्भुजदास की मधुमालती'—ले० डा० माताप्रसाद गुप्त, ना० प्र० पत्रिका, हीरक जयंती अंक, पृ० १८७।

२—हिंदी साहित्य का इतिहास (आठवाँ संस्करण) ले० पं० रामचन्द्र शुक्ल पृ० ७२।

३—डा० कमल कुलश्रेष्ठ ने नूरक चन्दा का रचना-काल सं० १४२७ के लगभग माना है। द्रष्टव्य—हिन्दी प्रेमाख्यान काव्य—(प्रथम संस्करण) पृ० ११।

कथा को लेकर नूरक-चन्दा नामक प्रेमाख्यानक काव्य की रचना की थी जिसके बारे में जहाँगीर के समकालीन मुसलमान इतिहासकार अलबदायूँनी ने लिखा है कि "उसके समय में मखदूम शेख तकीउद्दीन वायजरब्बानी चन्दावन (चन्दावत ?) को दिल्ली में मंच पर से पढ़ा करते थे और जनता उससे बहुत प्रभावित होती थी। यह पूछने पर कि आप हिन्दू मसनवी क्यों पढ़ते हैं, उन्होंने यह उत्तर दिया था कि उसकी पूरी कथा एक ईश्वरीय सत्य है, मनोरंजक है और प्रेमियों को आनन्द भरे चिन्तन की सामग्री प्रदान करती है और कुरान की आयतों का उपदेश भी देती है।[1]" बदायूँनी के इस कथन से स्पष्ट है कि नूरक-चन्दा सूफियों के अध्यात्मपरक प्रेमाख्यान मसनवियों के रंग का काव्य था। लौकिक कथा में सांकेतिक ढङ्ग से आध्यात्मिक रंग भरने की यह प्रवृत्ति भारतीय कथा साहित्य के लिए बिलकुल नई वस्तु थी। इस देश में आदर्श उपस्थित करनेवाले काव्य, दृष्टान्तकथाएँ और धर्मकथाएँ तो होती थीं पर ऐसी कथाएँ नहीं लिखी जाती थीं जो प्रत्यक्षतः तो लौकिक प्रेम का वर्णन करती हों किन्तु परोक्षरूप में या समझदारों के लिए आध्यात्मिक प्रेम का संकेत भी करती हों। यह प्रवृत्ति हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्यों को फारसी की सूफी काव्य-परम्परा से प्राप्त हुई। अलाउद्दीन का समकालीन हिन्दी का प्रसिद्ध कवि अमीर खुसरो भी सूफी विचारधारा को मानने वाला था। उसने फारसी में लैला-मजनूं, शीरीं-खुसरो, हफ्त बिहिश्त, तुगलकनामा, आइने इस्कन्दरी आदि अनेक मसनवियाँ लिखीं। इससे इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि हिन्दी के प्रारम्भिक सूफी कवियों को अपने प्रेमाख्यानों का काव्यरूप निर्धारित करते समय फारसी की प्रेमाख्यानक मसनवियों का भी ध्यान अवश्य रहा होगा जिसके फलस्वरूप इनके काव्यों में सूफी रङ्ग आ गया है यद्यपि यह रङ्ग उतना अधिक नहीं है जो भारतीय काव्य परम्परा से उन्हें विच्छिन्न कर दे। यहाँ मसनवी-काव्यरूप के बारे में कुछ विचार कर लेना आवश्यक है।

मसनवी-काव्यरूप—फारसी की मसनवी और भारतीय साहित्य के प्रबन्धकाव्य में कुछ साम्य होते हुए भी वैषम्य ही अधिक है। प्रबन्धकाव्य में जिस प्रकार किसी एक लम्बी कथा का पद्यबद्ध वर्णन होता है, फारसी मसनवी में यह बात सदैव और अनिवार्य रूप से नहीं पाई जाती। फारसी में कोई भी बड़े आकार वाला काव्य मसनवी होता है चाहे उसमें प्रेमाख्यान हो, या

१—अलबदायूँनी का मुन्तखुत तवारीख-रकिंग का अंगरेजी अनुवाद, भाग १, संस्करण सन् १८६८, पृ० ३३३।

किसी आश्रयदाता का जीवन-चरित हो या किसी देश का काव्यात्मक इतिहास हो अथवा उपदेशात्मक उक्तियाँ, सम्वाद और लघु कथाएँ हों, इस तरह फारसी में प्रेमाख्यान, ऐतिहासिक आख्यान और धार्मिक तथा उपदेशात्मक काव्य के लिए अधिकतर मसनवी-काव्यरूप ही अपनाया गया है[1]। मसनवी वह काव्यरूप हैं जिसमें प्रत्येक छन्द (वर्स) साधारणतः व्याकरण और भाव की दृष्टि से पूर्ण होता है और दो पंक्तियाँ या मिसरा समतुकान्त होते हैं और उन दोनों पंक्तियों के तुक आगे की पक्तियों के तुकों से नहीं मिलते[2]। फारसी की सबसे पहली मसनवी फिरदौसी का शाहनामा है जो संसार के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्यों में माना जाता है। इसमें केवल छन्द-विधान ही मसनवी का है। मसनवी की अन्य प्रबंध-रूढ़ियाँ फिरदौसी के दूसरे काव्य यूसुफ-जुलेखा में पहले पहल मिलती हैं। यूसुफ जुलेखा में स्थापित प्रबन्धरूढ़ियों का पालन बाद के सूफी कवि निजामी ने अपने खुसरो-शीरी, लैला-मजनू, हफ्त पैकर और सिकन्दरनामा नामक काव्यों में किया है। वस्तुतः रोमांचक प्रेमाख्यानक मसनवी के काव्यरूप को पूर्णता प्रदान करने वाला निजामी ही है। उसके पूर्ववर्ती कवि सनाई, समकालीन फरीदुद्दीन अत्तार और परवर्ती कवि रूमी और जामी ने भी अनेक मसनवियाँ लिखी है जिनमें रूमी की 'मसनवी—ए—मानवा' फारसी में अपने ढग की अकेली मसनवी है क्योंकि उसमें निजामी द्वारा स्थापित मसनवी की प्रबन्ध रूढ़ियों का पालन नहीं किया गया है और न उसमे कोई प्रबन्धत्व ही है। रूमी की मसनवी अनेक उपदेशात्मक उक्तियों, अन्योक्तियो और लघुकथाओं का संग्रह है। कुछ मसनवियों मे पंचतंत्र और दशकुमारचरित की तरह अनेक कथाएँ एक क्षीण सूत्र से पिरोई हुई है। निजामी का 'हफ्त पैकर' ऐसी ही मसनवी है। इस प्रकार मसनवा के प्रबन्ध-नियमों में एकरूपता नहीं है और न सभी मसनवियाँ एक ही प्रकार की हैं।

मसनवी और चरितकाव्य में रूप-साम्य—फिर भी फारसी की रोमांचक और प्रेमाख्यानक मसनवियाँ प्रबन्धरूढ़ियों की दृष्टि से बहुत कुछ एक-सी हैं। उनमें सर्गों का विभाजन अवश्य है पर वह भारतीय प्रबन्धकाव्यों जैसा नहीं है, बल्कि पुराणों जैसा है जिनमें घटनाओं के अनुसार शीर्षक दिया गया रहता है। उनमें प्रारम्भ में ईश्वर का गुणानुवाद, पैगम्बर का स्मरण,

---

१—द्रष्टव्य निबन्ध—सूफी काव्य-परम्परा—ले० श्री रामपूजन तिवारी, अवन्तिका, अक्टूबर सन् १९४४, पृ० ४४।

२—इनसाइक्लोपीडिया आव इस्लाम, खण्ड ३, पृ० ४१०।

पैगम्बर के मीराज की चर्चा, शाहेवक्त अथवा अन्य किसी महान व्यक्ति या आश्रयदाता की प्रशंसा, काव्य रचना का कारण, कवि का आत्मनिवेदन और अपने मित्रों और सहायकों की चर्चा रहती है। इसके बाद मूल कथा आरम्भ होती है। प्रधान कथा के कई विभाग या खण्ड होते हैं और फिर वे खण्ड कई सर्गों में बद्ध होते हैं। प्रत्येक सर्ग का शीर्षक उसमें वर्णित विषय के अनुसार दिया रहता है और अन्त में काव्य का उपसंहार होता है उसमें कवि रचना-काल आदि का निर्देश या कोई उपदेशात्मक बात लिखता है। प्रेमाख्यानक मसनवियों की यह प्रबन्धरूढ़ि भारतीय चरितकाव्यों की प्रबन्धरूढ़ियों से बहुत मिलती जुलती है। संस्कृत महाकाव्यों में प्रारंभ में मंगलाचरण, वस्तु-निर्देश आदि बातें तो होती थीं, परवर्ती चरितकाव्यों, विशेष कर जैन चरित-काव्यों में, तीर्थंकरों की स्तुति भी उसी तरह मिलती है जैसी मसनवियों में पैगम्बर और उनके साथियों की। कुछ चरितकाव्यों में प्रारम्भ में ही कवि अपने आश्रयदाता का वर्णन करता और काव्य लिखने का कारण बनाता है। चरित-काव्यों की अन्य रूढ़ियाँ, जैसे सज्जन-प्रशंसा, दुर्जन-निन्दा, पूर्वकवि-प्रशंसा, विनम्रता-प्रकाश, कथा का सारांश आदि, मसनवियों में नहीं होती। चरित-काव्यों की तरह प्रेमाख्यानक-मसनवियाँ भी रोमांचक-अलौकिक घटनाओं से युक्त और प्रेम-भावना-प्रधान होती हैं, तथा उनका सर्ग-विभाजन भी नाटकीय सन्धियों के आधार पर नहीं, बल्कि घटनाओं के वर्णनों के आधार पर होता है। इस तरह चरितकाव्य और मसनवी के रूप-विधान में बहुत अधिक साम्य है। हिन्दी के सूफी प्रेमाख्यानक काव्य में जो प्रबन्ध-रूढ़ियाँ मिलती हैं वे अधिकतर भारतीय चरितकाव्यों की हैं। फारसी की मसनवी पद्धति और हिन्दी के सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों में जो साम्य दिखलाई पड़ता है उसको देखते हुए यह कहना उचित नहीं है कि हिन्दी के सूफी कवियों ने फारसी की मसनवी पद्धति का हूबहू अनुकरण किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि "इन प्रेमगाथा काव्यों के सबंध में पहली बात ध्यान देने की यह है कि इनकी रचना बिलकुल भारतीय चरितकाव्यों की सर्गबद्ध शैली पर न होकर फारसी की मसनवियों के ढङ्ग पर हुई हैं जिनमें कथा सर्गों या अध्यायों में विस्तार के हिसाब से विभक्त नहीं होती, बराबर चली चलती है; केवल स्थान-स्थान पर घटनाओं या प्रसङ्गों का उल्लेख शीर्षक के रूप में दिया रहता है।"[१] किन्तु पहले ही कहा जा

१—जायसी-ग्रन्थावली, (भूमिका)—संपादक पं० रामचन्द्र शुक्ल, पंचम संस्करण, सं० २००८, पृ० ४।

चुका है कि फारसी की मसनवियों में खण्ड-विभाजन के साथ साथ सर्ग-विभाजन भी होता है। दूसरे जहाँ तक पद्मावत का प्रश्न है उसमें न तो सर्ग-विभाजन है न खण्ड-विभाजन। डा० माताप्रसाद गुप्त ने वैज्ञानिक ढंग से पद्मावत का पाठ-संशोधन करके जो 'जायसी-ग्रन्थावली' प्रकाशित कराई है उसमें ये बातें नहीं हैं जिससे यह स्पष्ट है कि पद्मावत की मूल प्रतियों में खण्ड-विभाजन नहीं था। सम्भवतः पद्मावत की जो परवर्ती प्रतियाँ लिपिबद्ध की गयीं उनमें लेखकों ने अपनी ओर से खण्ड-विभाजन किया है और संभवतः उन्हीं प्रतियों का अनुकरण करके हिन्दी के परवर्ती सूफी कवियों ने खण्डबद्ध शैली में अपने काव्यों की रचना की है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि पद्मावत की रचना न तो फारसी मसनवियों की खण्डबद्ध शैली में हुई है न अपभ्रंश के अधिकतर चरितकाव्यों की सर्गबद्धशैली में। पहले कहा जा चुका है कि अपभ्रंश में हरिभद्र का 'णेमिणाहचरिउ' सर्गबद्ध काव्य नहीं है। प्राकृत में वाक्पतिराज का प्रसिद्ध महाकाव्य 'गउडवहो' भी सर्गबद्ध नहीं है पर उसमें एक विषय से सम्बन्धित छन्द एक साथ रखे गये हैं। आठवीं शताब्दी में उद्योतन सूरि ने प्राकृत में कुवलयमाला नाम का बृहत् कथा-ग्रन्थ लिखा था जो सर्गों या उच्छ्वासों में विभक्त नहीं है। उसी तरह प्राकृत में तरंगलोला और लीलावई नामक कथा ग्रंथ सर्गबद्ध नहीं है। इन प्रमाणों के आधार पर श्री नेमिनाथ उपाध्ये ने लिखा है कि "यह असम्भव नहीं है कि कभी प्राकृत और अपभ्रंश में कथा के रूप में ऐसे काव्य-ग्रन्थ भी लिखे जाते रहे हों जो सर्गबद्ध या सन्धिबद्ध नहीं होते थे और बाद में सर्गों या सन्धियों का जो व्यवहार होने लगा वह संस्कृत के काव्यों के अनुकरण का फल है।"[1] पद्मावत की रचना भी प्राकृत-अपभ्रंश के उपर्युक्त कथा काव्यों की सर्गहीन पद्धति पर हुई है, फारसी की मसनवी पद्धति पर नहीं।

शुक्ल जी ने सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों की शैली के बारे में यह भी कहा है कि "मसनवी के लिए साहित्यिक नियम तो केवल इतना ही समझा जाता है कि सारा काव्य एक ही मसनवी छन्द में हो, परम्परा के अनुसार उसमें कथारंभ के पहले ईश्वर-स्तुति, पैगम्बर की वन्दना और उस समय के राजा (शाहेवक्त) की प्रशंसा होनी चाहिए। ये बातें पद्मावत, इन्द्रावती, मृगावती इत्यादि सबमें पायी जाती है।"[2] इस सम्बन्ध में यह पहले ही कहा जा चुका है कि

१—कौतूहल कृत 'लीलावई', (अंग्रेजी भूमिका)—भूमिका लेखक—आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, बम्बई, सन् १९४९, पृ० ४४।

२—जायसी-ग्रन्थावली, भूमिका, सम्पादक पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ. ४।

भारतीय चरितकाव्यों की अनेक प्रबन्धरूढ़ियाँ फारसी की रोमांचक मसनवियों में भी मिलती है। जिस तरह हिन्दू और जैन कवि चरितकाव्यों में अपने धर्म और विश्वासों के अनुसार प्रस्तावना के रूप में ईश्वर, देवता, अवतार, तीर्थंकर आदि की स्तुति तथा अपने आश्रयदाता की प्रशंसा करते थे और काव्य-रचना का कारण बताते हुए वस्तुनिर्देश लिखते थे उसी तरह हिन्दी के मुसलमान प्रेमाख्यानक कवियों ने भी ईश्वर और अवतार की जगह अपने मजहब के अनुसार अल्लाह और पैगम्बर की स्तुति की है। अतः उन्होंने फारसी के रोमांचक मसनवियों की प्रबन्धरूढ़ियों का अनुकरण किया है या भारतीय चरितकाव्यों की प्रबन्धरूढ़ियों का, यह प्रश्न महत्वपूर्ण नहीं है। ये मुसलमान सूफी कवि फारसी काव्यों की विचारधारा और रूढ़ियों से कुछ न कुछ अवश्य परिचित रहे होंगे। अतः हो सकता है कि ये प्रबन्धरूढ़ियाँ उन्हें फारसी साहित्य से ही प्राप्त हों; पर मूलतः वे भारतीय चरितकाव्यों की ही प्रबन्धरूढ़ियाँ हैं जो फारसी मसनवियों में भी पायी जाती हैं। इस तरह हिन्दी के सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों को पूर्णतया अपभ्रंश के चरितकाव्यों तथा भारतीय लोककथाओं की परम्परा में ही मानना उचित है। इस संबंध में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने बिलकुल उचित कहा है कि "जन साधारण का एक और विभाग, जिसमें धर्म का स्थान नहीं था, जो अपभ्रंश साहित्य के पश्चिमी आकर से सीधे चला आ रहा था, जो गाँवों की बैठकों में कथानक रूप से और गान रूप से चल रहा था उपेक्षित होने लगा था। इन सूफी साधकों ने पौराणिक आख्यानों के बदले इन लोक-प्रचलित कथानकों का आश्रय लेकर ही अपनी बात जनता तक पहुँचाई।"[1] फारसी के रोमांचक मसनवियों की काव्यशैली का एकदम अनुकरण नहीं कहा जा सकता। इस सम्बन्ध में श्री रामपूजन तिवारी का यह मत सर्वथा सही है कि "हिंदी सूफी काव्य इस परम्परा से प्रभावित तो अवश्य है लेकिन उसमें हूबहू इसकी नकल नहीं की गयी है। भारतीय वातावरण में सूफी मत का विकास अरब और फारस जैसा न होकर भिन्न रूप में हुआ। भारतीय विचारधारा से वह बहुत प्रभावित हुआ। हिन्दी का सूफी काव्य जितना भारतीय विचारधारा से प्रभावित मालूम होता है उतना फारसी या अरबी परम्परा से नहीं।"[2]

१—हिन्दी साहित्य की भूमिका—चतुर्थ संस्करण, ले० डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ५७।

२—सूफी काव्य-परम्परा, (निबन्ध), ले० रामपूजन तिवारी, अवन्तिका, अक्टूबर १९५४, पृ० ४५।

पद्मावत अन्य सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों की अपेक्षा और भी स्पष्ट रूप से भारतीय चरितकाव्यों, लिखित कथाओं तथा मौखिक लोककथाओं की शैली के निकट है।

पद्मावत की कथा के मूल स्रोत—

पद्मावत की ऐतिहासिकता—जैसा पहले कहा जा चुका है, सूफी कवियों ने प्रायः हिन्दू घरों में प्रचलित कहानियों के आधार पर ही अपने काव्य का ढाँचा खड़ा किया है। किन्तु जायसी के पद्मावत में इस विषय में भी एक विशेषता दिखलाई पड़ती है। जायसी ने इस काव्य में ऐतिहासिक व्यक्तियों को नायक और प्रतिनायक बनाया है। काव्य की प्रधान घटना- रतनसिंह और अलाउद्दीन का युद्ध—भी मूलतः ऐतिहासिक ही है। परन्तु इसमें वर्णित सभी बातें ऐतिहासिक नहीं हैं। श्री गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा के मतानुसार रतनसिंह ने चित्तौड़ में केवल एक वर्ष तक राज्य किया था। उसी के राज्यकाल में अलाउद्दीन ने चित्तौड़ पर हमला किया और छः महीने तक लड़कर उस पर अधिकार करके अपने पुत्र को वहाँ का शासक बना दिया[1]। अतः पद्मावत के पूर्वार्द्ध की कथा तो अनैतिहासिक है ही, उत्तरार्द्ध की कथा में भी उपर्युक्त युद्ध की घटना के अतिरिक्त अन्य बातें ऐतिहासिक नहीं है। पद्मावत में अलाउद्दीन का राघवचेतन के कहने से पद्मिनी पर आसक्त होने, उस पर चढ़ाई करने, पहली बार युद्ध में असफल होने और धोखे से रतनसेन को पकड़ कर दिल्ली ले जाने, गोरा-बादल का सोलह सौ डोले लेकर दिल्ली जाने और रतनसेन को छुड़ाने, दुबारा अलाउद्दीन द्वारा चित्तौड़ पर आक्रमण करने, देवपाल द्वारा पद्मिनी को बहकाने के लिए दूती भेजने और अन्त में देवपाल के साथ युद्ध में रतनसेन के मारे जाने और पद्मिनी और नागमती के सती होने की बातें यद्यपि ऐतिहासिक नहीं है परन्तु इनमें से अनेक बातें राजस्थान में ऐतिहासिक सत्य के रूप में बहुत पहले से मानी जाती रही हैं। चित्तौड़ के किले में पद्मिनी का महल और पद्मिनी-सरोवर हैं और उसके जौहर करने की बात भी सत्य हो सकती है। रतनसिंह को पकड़ कर दिल्ली ले जाये जाने और औरत के वेश में राजपूतों के डोलों में जाने की बात अनैतिहासिक होते हुए भी अनेक पुराने इतिहास लेखकों द्वारा लिखी गयी है। चारण-भाटों की कथाओं और जनता की अनुश्रुतियों में भी इस घटना

१—उदयपुर राज्य का इतिहास-प्रथम जिल्द, ले० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, पृ० १८७।

का महत्त्व पूर्ण स्थान रहा है। मुसलमान इतिहासकार फिरिश्ता (१६०० ई०) ने भी इन बातों को लिखा है और आइने अकबरी में भी इनका उल्लेख है जिससे पता चलता है कि उसके समय तक ये बातें ऐतिहासिक सत्य के रूप में मानी जाती थीं। इस संबंध में ओझा जी ने लिखा है कि 'पद्मावत, तारीख ए फिरिश्ता और टाड के राजस्थान के लेखों की यदि कोई जड़ है तो केवल यही कि अलाउद्दीन ने चित्तौड़ पर चढ़ाई करके ६ मास के घेरे के अनन्तर उसे विजय किया, वहाँ का राजा रत्नसिंह इस लड़ाई में लक्ष्मण सिंह आदि कई सामन्तों सहित मारा गया; उसकी रानी पद्मिनी ने कई स्त्रियों सहित जौहर की अग्नि में प्राणाहुति दी। इस प्रकार चित्तौड पर थोडे समय के लिए मुसलमानों का अधिकार हो गया। बाकी की बहुधा सब बातें कल्पना से खडी की गई हैं।'[1] रतनसिंह और अलाउद्दीन के युद्ध की घटना और गोरा-बादल के वीरता-प्रदर्शन के संबन्ध में जायसी के बाद भी अनेक कवियों ने काव्य लिखे जिनमें हेमरतन (१५८८ ई०), जटमल (१६१३ ई०), लब्धोदय (१६५० ई०), संग्राम सूरि (१७०३ ई०) आदि के काव्य विशेष उल्लेखनीय हैं। परन्तु इन काव्यों में प्रायः पद्मावत के उत्तरार्द्ध की ही कथा कही गयी है। इससे यह निश्चित जान पड़ता है कि पद्मावत के रचना काल तक रतनसिंह और अलाउद्दीन के युद्ध का मूल कारण पद्मिनी को मान लिया गया था और उस युद्ध से सम्बन्धित अनेक अन्य घटनाओं की कल्पना कर ली गयी थी। जायसी ने उन अनुश्रुतियों का पद्मावत में उपयोग कर लिया है।

पद्मावत के कथानक में काल्पनिकता—ऐतिहासिक घटनाओं का अनुश्रुति रूप में परिवर्तित हो जाना और उन अनुश्रुतियों के आधार पर काव्य-रचना करना भारतीय साहित्य में कोई नई बात नहीं है। पृथ्वीराजरासो और आल्हखण्ड के बारे में विचार करते हुए इस प्रवृत्ति का विश्लेषण किया जा चुका है। कथा में रोचकता और काव्यत्व लाने के लिए कवि कल्पना का सहारा लेते हैं, घटनाओं की ऐतिहासिकता की ओर उनका अधिक ध्यान नहीं रहता। पद्मावत के पूर्व ही छिताई चरित की रचना हो चुकी थी जिसमें अलाउद्दीन के देवगिरि पर आक्रमण और छिताई-हरण की घटना के आधार पर एक काल्पनिक प्रेमाख्यान खड़ा कर दिया है। यही पद्धति जायसी ने भी पद्मावत में अपनाई है। अतः पद्मावत के संबंध में ओझा जी का यह कथन सर्वथा सही है कि इतिहास के अभाव में लोगों ने पद्मावत को ऐतिहासिक पुस्तक मान

१—उदयपुर राज्य का इतिहास–प्रथमजिल्द, पृ० १६१।

लिया। परन्तु वास्तव में वह आजकल के ऐतिहासिक उपन्यासों की सी कविता-बद्ध कथा है।"[1]

शास्त्रज्ञ मानव-भाषा-भाषी शुक —यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि जायसी ने पद्मावत के पूर्वार्द्ध में जो कथा लिखी है वह एक सुप्रसिद्ध लोककथा है। शुक्ल जी ने इस संबंध में लिखा है कि "उत्तर भारत में, विशेषतः अवध में पद्मिनी रानी और हीरामन सुए" की कहानी अब तक प्रायः उसी रूप में कही जाती है जिस रूप से जायसी ने उसका वर्णन किया है। ·· ··इस संबंध में हमारा अनुमान यह है कि जायसी ने प्रचलित कहानी को ही लेकर सूक्ष्म ब्योरों की मनोहर कल्पना कर के उसे काव्य का सुन्दर स्वरूप दिया है।"[2] शुक्ल जी का यह अनुमान सही प्रतीत होता है। कारण यह है कि पद्मावती नाम, शास्त्रज्ञ शुक और सिंहल की कन्या से विवाह से संबद्ध कथाएँ इस देश के साहित्य में बहुत अधिक मिलती है। पिछले अध्याय में कहा जा चुका है कि कभी तो लोककथाएँ शिष्ट साहित्य में ग्रहण कर ली जाती है और कभी शिष्ट साहित्य की कथाएँ लोकप्रियता के कारण रूप बदल कर लोककण्ठ में पहुँच जाती हैं। अतः यह कहना अत्यन्त कठिन है कि "पद्मिनी रानी और हिरामन सुए" की लोकप्रचलित कथा शिष्ट जनों के साहित्य से लोककण्ठ में पहुँची है या इसका लोककथा रूप में बहुत प्राचीन काल से इस देश में प्रचलन रहा है और उसी के आधार पर साहित्य में तत्सम्बन्धी कथाएँ रची गयी हैं। भारतीय साहित्य में ऐसी कथाओं का आकर ग्रंथ बृहत्कथा है जो अपने मूल पैशाची रूप में तो आज उपलब्ध नहीं है किन्तु ग्यारहवीं बारहवीं शताब्दी में किये गये संस्कृत रूपान्तर, बृहत्कथा मंजरी, कथासरित्सागर और बृहत्कथाश्लोक संग्रह प्राप्त हैं। इन रूपान्तरों में शास्त्रज्ञ शुक तथा मानव-भाषा बोलने वाले सारिकादि पक्षियों की चर्चा बहुत आयी है। सोमदेव के कथासरित्सागर में नरवाहनदत्त के मन्त्री ने उसस कांचनपुरी के राजा सुमना और निषाद-कन्या मुक्तालता द्वारा लाए गए शास्त्रगज नामक तोते की लम्बी कथा कही है। इसी कथा के आधार पर पात्रों का नाम बदल कर बाणभट्ट ने कादम्बरी की प्रसिद्ध कथा लिखी जिसमें राजा शूद्रक को एक चाण्डाल कन्या द्वारा लाया हुआ शास्त्रज्ञ तोता अपने पूर्व भव का समूचा वृत्तान्त सुनाता है। अमरुक-

---

१—वही—पृ० १८७।

२—जायसी-ग्रन्थावली—(पंचम संस्करण की भूमिका) संपादक—रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २६।

शतक में भी मानव की भाषा दुहराने वाले शुक की चर्चा आयी है। अपभ्रंश काव्य 'करकण्डचरिउ' में एक अवान्तर कथा आयी है जिसमें एक विद्याधर सुआ का रूप धर कर राजा के हाथ बेचा जाता है। वह सुआ उस कथा का उसी तरह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पात्र है जैसा पद्मावत में हिरामन सुआ है[1]। परवर्ती भारतीय साहित्य में तो शुक-शुकी, शुक-सारिका और शास्त्रज्ञ शुक का उपयोग कथाओं की गति बढ़ाने वाली कथानकरूढ़ि के रूप में होने लगा। हिन्दी के काव्यों में सर्वप्रथम पृथ्वीराजरासो में कथा के प्रारम्भिक वक्ता-श्रोता के रूप में शुक-शुकी का उपयोग हुआ है और कथा के मध्य में पद्मावती से पृथ्वीराज का विवाह-सम्बन्ध कराने तथा पृथ्वीराज को इच्छिनी की विरह-दशा बताने का काम शुक ने किया है। आल्हखण्ड में भी विवाह-संबंध में सहायता करने वाले शुक की रूढ़ि अपनाई गयी है। अतः शास्त्रज्ञ, मानव भाषा-भाषी और दूतकार्य करने वाले शुक सारिकादि का उपयोग शिष्ट-साहित्य और लोक-साहित्य दोनों में समान रूप से हुआ है। पद्मावत का हीरामन सुआ इसी कथानकरूढ़ि की देन है। जायसी ने गुरु का प्रतीक मानकर अपने काव्य में उसे एक महत्त्वपूर्ण पात्र के रूप में स्थान दिया है और इस तरह भारतीय साहित्य की कथा परम्परा का निर्वाह किया है।

पद्मावती और पद्मिनी नाम—शास्त्रज्ञ शुक की तरह पद्मावती नाम भी भारतीय कथासाहित्य में बहुत मिलता है। बृहत्कथा के कथासरित्सागर आदि रूपान्तरों में उदयन की कथा में उदयन की दूसरी रानी का नाम पद्मावती दिया हुआ है जो मगधराज की पुत्री थी। भास ने अपने नाटक 'स्वप्नवासवदत्ता' में इसी कथा का आधार लिया है। उसमें भी उदयन का पद्मावती से विवाह होना दिखाया गया है। इस नाटक में पद्मावती की एक दासी का भी नाम पद्मिनिका है। अपभ्रंश के काव्य करकण्डचरिउ में चम्पापुरी के राजा धाड़ीवाहन की रानी का नाम पद्मावती है जो करकण्ड की माँ और काव्य की महत्त्वपूर्ण पात्री है। दसवीं शताब्दी के मयूर कवि ने भी 'पद्मावती कथा' नाम का एक काव्य लिखा था।[2] अपभ्रंश के दूसरे काव्य "पउमसिरिचरिउ" की नायिका का नाम पद्मश्री है। इस तरह पद्मावती या पद्मिनी प्राचीन भारतीय कथा-साहित्य

---

१. करकण्डचरिउ—हिन्दी भूमिका—प्रथम संस्करण, संपादक—हीरालाल जैन, पृ० ११।

२—द्रष्टव्य उल्लेख—हिन्दी साहित्य—प्रथम संस्करण, ले० डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० २६०।

का सुपरिचित नाम है। हिन्दी में पृथ्वीराजरासो में पद्मावती में पृथ्वीराज और पद्मावती के विवाह की कथा कही गयी है। यह कथा पद्मावत की विवाहकथा से बहुत मिलती जुलती है। पन्द्रहवीं शताब्दी में पाठक राजवल्लभ ने संस्कृत में पद्मावती-चरित नामक काव्य लिखा था जिसकी कथा पद्मावत की रतनसेन-पद्मावती-कथा से मिलती है।[१] पद्मावत के पूर्ववर्ती हिन्दी काव्य दामो की लक्ष्मणसेन-पद्मावती का उल्लेख पहले किया जा चुका है। पद्मिनी नाम की लोकप्रियता का एक प्रधान कारण तो यह है कि परवर्ती कामशास्त्रियों ने स्त्रियों के चार भेदों में एक पद्मिनी जाति की स्त्री को भी माना है। यद्यपि वात्स्यायन के कामसूत्र में शंखिनी, चित्रिणी और हस्तिनी, ये तीन ही भेद माने गये हैं पर बाद में गोरखपंथी शैव योगियों का प्रभाव बढ़ने पर माना जाने लगा कि एक पद्मिनी जाति की स्त्री भी होती है जो अत्यन्त सुन्दरी और पद्म की सुगन्ध वाली होती है और जो सिंहल द्वीप में पाई जाती है। योगियो का यह विश्वास था कि सिंहल सिद्धि-पीठ है, वहाँ जाकर जो शिव की उपासना करता और पद्मिनी स्त्रियों के माया-जाल से बच निकलता है वह सिद्ध हो जाता है। इस तरह परवर्ती काल मे सिंहल पद्मिनी स्त्रियों का द्वीप माना जाने लगा।

सिंहल-यात्रा की रूढ़ि—भारतीय साहित्य में किसी स्त्री की प्राप्ति के लिए सिंहल द्वीप की यात्रा एक रूढ़ि के रूप में अपनाई जाती रही है। कुछ काव्यों में सिंहल और लंका को एक माना गया है और कुछ में अलग अलग। रामायण में रावण लंका का अधिपति है और राम उससे सीता का उद्धार करने के लिए लंका की यात्रा करते हैं। सिंहल के राजा वीरसेन की कन्या मदनलेखा से विक्रमादित्य के विवाह की कथा कथासरित्सागर और बृहत्कथा-मञ्जरी में भी आयी है[२]। उसी में एक दूसरी कथा के प्रसङ्ग में मृगाङ्कलेखा नामक एक सिंहली राजकुमारी की खोज में जाते हुए जहाज टूटता है[3]। हर्ष की 'रत्नावली नाटिका' का कथानक बृहत्कथा की उदयन-कथा के आधार पर खड़ा किया गया है पर उसमें सिंहल की राजकुमारी रत्नावली की नई कथा

१—द्रष्टव्य—हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य—प्रथम संस्करण, ले० डा० कमल-कुलश्रेष्ठ, पृ० १६७।

२—द्रष्टव्य—कथासरित्सागर–१–५–पृष्ठ ११–बम्बई, १६३० ई० बृहत्कथा-मंजरी—पृष्ठ २५–बम्बई, १६३१ ई०।

३—कथासरित्सागर–वही संस्करण, पृ० ५७।

जोड़ी गयी है। यह रत्नावली सिंहल के राजा विक्रमबाहु की, जो उदयन की पत्नी वासवदत्ता का मामा है, पुत्री है। उसके जन्म के समय एक सिद्ध पुरुष ने भविष्यवाणी की थी कि जो पुरुष इस कन्या का वरण करेगा वह चक्रवर्ती राजा होगा। इसी लोभ से उदयन के मन्त्री यौगन्धरायण ने विक्रमबाहु से रत्नावली को उदयन से विवाह के लिए माँग लिया। लौटते समय नौका डूब गयी और सिंहल से लौटते हुए व्यापारियों ने काष्ठफलक के सहारे बहती हुई रत्नावली की रक्षा की और उसे यौगन्धरायण के पास पहुँचाया। पहले वह दासी रूप में रही पर बाद में सिंहल की राजकुमारी के रूप में उसका अभिज्ञान होने पर वासवदत्ता ने उसका विवाह उदयन से करा दिया। यह कथानकरूढ़ि कौतूहल की लीलावईकहा में प्राय: उसी रूप में अपनायी गयी है। उसमें प्रतिष्ठान के राजा शालिवाहन (हाल) का चित्र देखकर सिंहल के राजा शीलमेघ की पुत्री लीलावती उसे प्रेम करने लगती और पिता की आज्ञा से सातवाहन से मिलने चल देती है। उधर यह जानकर कि जो लीलावती से विवाह करेगा वह चक्रवर्ती होगा, शालिवाहन का सेनापति विजयानन्द शीलमेघ से उसकी कन्या शालिवाहन के लिए माँगने जाता है पर समुद्र में तूफान आने से उसका जहाज टूट जाता है और वह सप्त गोदावरी के पास किनारे लगता है जहाँ लीलावती उसे मिल जाती है। अन्त में लीलावती का विवाह सातवाहन से हो जाता है। शिवदास के अनुसार शालिवाहन के पुत्र त्रैलोक्यसुन्दर का विवाह भी सिंहल के राजा सूर्यसिंह की पुत्री पद्मिनी से हुआ था। कनकामर के करकण्डचरिउ में करकण्ड दिग्विजय करता हुआ सिंहल पहुँचता है और वहाँ की राजकुमारी रतिवेगा से विवाह करता है। जहाज द्वारा लौटते समय वह आक्रमणकारी महामच्छ को मारने के लिए समुद्र में कूदता है पर इसी बीच एक विद्याधरी उसे हर ले जाती है। अन्त में रतिवेगा की तपस्या के फलस्वरूप फिर दोनों का मिलन होता है। इस काव्य में एक अवान्तर कथा में भी एक राजा उड़ने वाले घोड़े पर चढ़कर एक द्वीप में जाता और रत्नलेखा नामक कन्या से विवाह करता है पर लौटते समय जहाज डूबने से सभी काष्ठफलक के सहारे अलग-अलग किनारों पर लगते हैं। अपभ्रंश की 'जिनदत्ताख्यान' नामक कथा में वणिक-पुत्र जिनदत्त रूप परिवर्तिनी गुटिका के सहारे रूप बदल कर अपनी पत्नी विमलमति को छोड़कर भाग जाता और एक दरिद्र सार्थवाह के साथ सिंहल पहुँचता है। वहाँ के राजा की श्रीमती नाम की

---

१. लीलावती—भूमिका, प्रथम संस्करण, संपादक डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, पृ० ५८।

कन्या को, जो महाव्याधि (पेट का सर्प) से पीड़ित थी, नीरोग करके उससे विवाह करता और वणिक् के साथ अतुल धन-राशि लेकर लौटता है। उसके साथी वणिक् के मन में पाप-भाव उदय होता है और वह श्रीमती को अपनी पत्नी बनाने के लोभ से जिनदत्त को समुद्र में फेंकवा देता है पर जिनदत्त काष्ठफलक के सहारे प्राणरक्षा करता है। इसी बीच उसे दो खेचर उठा ले जाते और विद्याधर राजा की पुत्री अगारवती से उसका विवाह कराते हैं। उधर श्रीमती उस सार्थवाह के पंजे से छूट कर भाग जाती और चम्पापुर में विमलमति के साथ तपस्या करती है। अन्त में वे सब फिर मिल जाते हैं। धनपाल कृत भविसयतकहा में यद्यपि सिंहल नाम नहीं आया है पर कथानक-रूढ़ि वही है। उसमें भविष्यदत्त और बन्धुदत्त समुद्रमार्ग से यात्रा करते हैं, तूफान के कारण उनका जहाज तिलक द्वीप के तटपर लगता है। बंधुदत्त अपने भाई को छोडकर जहाज लेकर चला जाता है। भविष्यदत्त को एक उजाड़ नगर मिलता है जहाँ एक राक्षस उसका विवाह एक कुमारी से कराता है। वे लौटने की तैयारी में हैं कि बन्धुदत्त फिर आ जाता और भविष्यदत्त को धोखा देकर उसकी पत्नी और सब धन लेकर चल देता है। अन्त में मणिभद्र यक्ष भविष्यदत्त को गजपुर पहुँचाता है और उसको पत्नी उसे मिलती है। प्राकृत की 'रतनसेहरी-नरवईकहा' और अपभ्रंश के 'सिरिवालचरिउ'में भी सिंहल यात्रा का उल्लेख हुआ है।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि पद्मावत के पूर्वार्द्ध को कथा की प्रधान बातें प्राचीन कथाओं में चिर काल से रूढि के रूप में अपनाई जाती रही है। रत्नावली और लोलावईकहा में सिंहल की राजकन्या की विशेषता यह बताई गई है कि उसका पति चक्रवर्ती हो जायगा। पद्मावत में उसकी विशेषता उसका अनुपम सौन्दर्य और पद्मिनी जाति का होना है। उन कथाओ में प्रायः राजा स्वयं सिंहल नहीं जाते, उन्हें लाने के लिए सेनापति या मन्त्री जाते हैं। पद्मावत में राजा उसके रूप की प्रशंसा सुनकर मुग्ध हो जाता और योगी बनकर उसे प्राप्त करने स्वयं सिंहल जाता है। शेष बातें समान हैं। ऊपर जिन कथाओं का उल्लेख हुआ है, प्रायः उन सबमें सिंहल-यात्रा और लौटती बार जहाज टूटने और काष्ठ-फलक के सहारे बचने की बात आयी है और अन्त में सबमें नायक-नायिका का मिलन होता है। इस तरह पद्मिनी या 'पद्मावती', उसका हीरामन

१—द्रष्टव्य—निबन्ध-प्राकृत अपभ्रंश साहित्य और उसका हिंदी साहित्य पर प्रभाव—ले० डा० रामसिंह तोमर—'आलोचना'—१९५२, पृ० ६६।

तोता, सिंहल द्वीप की यात्रा, वहाँ से लौटते समय जहाज टूटना आदि बातें जो विभिन्न कथाओं बिखरी मिलती हैं, पद्मावत के पूर्वार्द्ध की कथा में एक साथ मिल गयी हैं। 'स्वप्नवासवदत्ता' और 'रत्नावली' में जैसे नायक के दो विवाह हुए हैं, वैसे ही पद्मावत में भी हुआ है। पद्मावत की तरह सौतिया-डाह का कुछ रूप रत्नावली में भी मिलता है। पद्मावत की रचना के पूर्व विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी में प्राकृत में 'रयणसेहरी-नरवइकहा' नामक एक कथा ग्रन्थ लिखा गया था। डा० रामसिंह तोमर का कहना है कि "इस कथा में हिन्दी काव्य 'पद्मावत' की सब बातें न्यूनाधिक रूप में मिल जाती हैं। जायसी के रत्नसेन ही इस कथा के रत्नशेखर नरपति हैं। इसके अतिरिक्त सिंहल का वर्णन, योग का उल्लेख, तोता पक्षी (यद्यपि उसका नाम हीरामन नहीं है; नामकरण संस्कार या तो जायसी ने किया होगा या कथा के किसी रचयिता ने।) इन्द्रजाल आदि सब बातों का वर्णन है। पद्मावती के स्थान पर रानी का नाम रत्नावती है लेकिन 'पद्मिनी' शब्द मिलता है।"[1] मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि रत्नावली नाटिका की रत्नावली और लीलावईकहा की लीलावती ये दोनों नाम मिलकर रत्नशेखर नरपति कथा में रत्नावती हो गये हैं और चित्तौड़ की पद्मिनी को उससे मिलाकर और स्वप्नवासवदत्ता आदि के पद्मावती नाम का संस्कार होने से जायसी ने रत्नावती को बदल कर पद्मावती कर दिया है। 'रत्नशेखर' का नाम चित्तौड़ के राजा रत्नसिंह के नाम से मिलते ही जायसी के सामने पूरी कहानी का ढाँचा अपने आप खड़ा हो गया होगा। पद्मिनी रानी और हीरामन सुआ नामक लोककथा का भी उन्होंने आधार बनाया होगा। यह भी हो सकता है कि एक ही मूल स्रोत (लोककथा) के आधार पर इन दोनों ग्रन्थों की कथा निर्मित हुई हो। पद्मावत की पूर्वार्द्ध की कथा के सम्बन्ध में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि 'पद्मावती नाम भारतीय साहित्य में बहुत परिचित है। संस्कृत में कई काव्यों की नायिका का नाम पद्मावती है।...गुजराती साहित्य में भी यह नाम और यह कथा परिचित है। इस बात के विश्वास करने का कारण यह है कि कहानी का मूल रूप काफी पुराना रहा होगा।"[2] सिंहल देश की राजकुमारी से विवाह करने में रोमांचक और साहसिक कार्यों तथा खतरों के लिए पर्याप्त अवकाश है। अतः कथाओं में

१—जैन साहित्य की हिन्दी साहित्य को देन—ले० डा० रामसिंह तोमर, प्रेमी-अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ४६६-६७।

२—हिंदी साहित्य-प्रथम संस्करण-ले० डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २७१।

इस रूढ़ि के अधिक व्यवहार का प्रधान कारण रोमाञ्चकता लाने की प्रवृत्ति ही है और जायसी ने उस रूढ़ि के साथ शास्त्रज्ञ और मानव-भाषा-भाषी शुक तथा योगमार्ग की बातों का उपयोग कर पद्मावत के कथानक को और भी रोमाञ्चक बना दिया है।

पद्मावत का महाकाव्यत्व

पद्मावत अलंकृत या साहित्यिक महाकाव्य है अर्थात् उसकी रचना एक विशिष्ट कवि द्वारा परम्पराप्राप्त साहित्यिक शैली में हुई है, उसकी प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हैं और उसके रचना-काल का निर्देश स्वयं कवि ने कर दिया है। अतः वह आल्हखण्ड और पृथ्वीराजरासो के ढंग का विकसनशील महाकाव्य नहीं है। किंतु उसकी शैली में विकसनशील महाकाव्यों में प्राप्त होने वाले अनेक तत्व अलौकिक और अतिप्राकृत शक्तियों में विश्वास, कथात्मकता आदि—वर्तमान हैं। दूसरे अध्याय में कहा जा चुका है कि रोमाञ्चक महाकाव्य मे विकसनशील महाकाव्य के ये तत्व वर्तमान रहते है। पद्मावत के प्रधान रोमाञ्चक तत्वों—कन्याहरण, सिंहल की भयकर यात्रा, जहाज टूटना, अन्य साहसिक कार्य, अलौकिक-अतिप्राकृत शक्तियो का मानव के साथ संबंध, जादू की सिद्धि गुटिका, शास्त्रज्ञ और मानव-भाषाभाषी शुक आदि का उल्लेख पहले किया जा चुका है। रोमाञ्चक शैली की अन्य विशेषताओं की, जो पद्मावत में मिलती है, विवेचना आगे की जायगी। इसमें रोमाञ्चक शैली के इन लक्षणों के होने से यह तो स्वतःसिद्ध है कि पद्मावत रोमाञ्चक शैली का काव्य है। महाकाव्य के पूर्वकथित लक्षणों के आधार पर यहाँ सबके महाकाव्यत्व पर विचार किया जा रहा है।

१—महदुद्देश्य, महत्प्रेरणा और महती काव्यप्रतिभा

पद्मावत का उद्देश्य महान है जो कवि की महती काव्य प्रतिभा से पुष्ट होकर इस काव्य को हिन्दी के अन्य सभी प्रबन्धकाव्यों से भिन्न, एक निराले और उच्च पद पर बिठा देता है। यदि भारतीय आलंकारिको की दृष्टि से देखा जाय तो इसका उद्देश्य चतुर्वर्ग के फलों में काम और मोक्ष की प्राप्ति है। ऊपर ऊपर से देखने पर पद्मावत एक सामान्य प्रेमाख्यानक काव्य प्रतीत होता है जिसका उद्देश्य प्रेम की रोमांचक कथा कहकर पाठकों का मनोरंजन करना और उनकी काम-वृत्ति को तुष्ट करना है। परन्तु वस्तुतः पद्मावत के कवि का यह उद्देश्य नहीं है। यह अवश्य है कि वह लौकिक प्रेम पथ के आध्यात्मिक प्रेम की परोक्ष अनुभूति का आभास देना है। अतः मोक्ष प्राप्ति ही पद्मावत

का प्रधान फल है। किन्तु कवि उसकी ओर पाठकों को स्थूल और प्रत्यक्ष रूप में नहीं बल्कि मनोवैज्ञानिक और प्रतीकात्मक ढंग से परोक्ष रूप में अग्रसर करता है। जिस तरह सूरदास, मीरा, नन्ददास प्रभृति भक्त कवियों का प्रेम, शृङ्गार और विलास का वर्णन लौकिक होते हुए भी आध्यात्मिक रंग में रँगा हुआ है उसी तरह जायसी की प्रेम-भावना और शृङ्गार व्यंजना लौकिक होते हुए भी आध्यात्मिक रंग में डूबी हुई है। अतः अप्रत्यक्षतः पद्मावत का फल मोक्ष है; कवि ने मोक्ष-मार्ग पर आगे बढ़ाने वाली निर्देश की भावनाओं की अभिव्यक्ति काव्य के अन्त में स्पष्ट रूप से इस तरह की है:—

औ जौ गाँठि कंत तुम्ह जोरी। आदि अंत दिन्हि जाइ न छोरी॥
एहि जग काह जो आथि निआथी। हम तुम नाह दुहूँ जग साथी॥

× × ×

रातीं पिय के नेह गई सरग भयेउ रतनार।
जो रे उवा सो अंथवा रहा न कोइ संसार॥ दोहा ६५०

किन्तु चतुर्वर्ग फल की दृष्टि से न देखकर यदि व्यावहारिक और साहित्यिक दृष्टि से देखा जाय तो भी पद्मावत का उद्देश्य महान दिखलाई पड़ता है। पद्मावत में मानवता के उस सच्चे स्वरूप का उद्घाटन किया गया है जो प्रेम, उदारता, त्याग और सहिष्णुता की व्यापक भूमि पर प्रतिष्ठित है। अतः उसका उद्देश्य व्यापक और उदार मानवता का प्रसार और मानव-हृदय का विस्तार और परिष्कार करना है। यद्यपि पद्मावत मूलतः एक आध्यात्मिक काव्य है किन्तु जायसी ने अपनी आध्यात्मिकता और मतवाद को पाठकों पर बलात् लादने का प्रयत्न नहीं किया है। अपनी बात उन्होंने ऐसी मार्मिक पद्धति से कही है कि उनका उद्देश्य भी सिद्ध हो जाता है और पाठकों को इस बात का पता भी नहीं चलता कि उनका हृदय-परिवर्तन किया जा रहा है। हृदय-परिवर्तन की इस प्रक्रिया में जाति, धर्म, रंग और राष्ट्रों के ऊपरी भेद-बंधन सहज ही टूट जाते हैं और मनुष्य इस काव्य सरोवर में स्नान करके स्वाभाविक और विशुद्ध मानव बन कर निकलता है, उसका हृदय कोमल, उदार और प्रशस्त बन गया है। इस हृदय-परिवर्तन और चित्त-परिष्कार का कारण आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में यह है कि 'एक ही गुप्त तार मनुष्य मात्र के हृदयों से होता हुआ गया है जिसे छूते ही मनुष्य सारे बाहरी रूप-रगके भेदों की ओर से ध्यान हटा एकत्व का अनुभव करने लगता है।"[1] जायसी ने अपने

१—जायसी-ग्रन्थावली-भूमिका—पंचम संस्करण, संपादक रामचन्द्र शुक्ल पृ० २।

महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसी गुप्त तार को झंकृत करके मनुष्य मात्र के, चाहे वह जिस जाति, धर्म या वर्ग का हो, हृदय को जाग्रत और गुंजरित करने का प्रयत्न किया है। इसके लिए उन्होंने मानव की सर्वप्रमुख मनोवृत्ति-काम-को अपना माध्यम बनाया है और जिस तरह विष भी शोध कर अमृतोपम औषधि बन जाता है, उसी तरह जायसी की काव्य-प्रतिभा ने 'काम' को शोधकर उसे आध्यात्मिक प्रेम का रूप दे दिया है। तत्कालीन संघर्षमय भारतीय पटभूमि पर इस आध्यात्मिक प्रेम ने शान्ति, स्नेह और उदारता की अमृत-वर्षा का कार्य किया। इस संबंध में शुक्ल जी ने लिखा है, "अपनी कहानियों द्वारा इन्होंने प्रेम का शुद्ध मार्ग दिखाते हुए उन सामान्य जीवन दशाओं को सामने रखा जिनका मनुष्य मात्र के हृदय पर एक प्रभाव दिखाई पड़ता है। हिन्दू हृदय और मुसलमान-हृदय आमने-सामने करके अजनबीपन मिटानेवालों में इन्हीं का नाम लेना पड़ेगा। मुसलमान होकर हिन्दुओं की कहानियाँ हिन्दुओं की ही बोली में पूरी सहृदयता से कह कर उनके जीवन की मर्मस्पर्शिनी अवस्थाओं के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण सामञ्जस्य दिखा दिया। कबीर ने केवल भिन्न प्रतीत होती हुई परोक्षसत्ता की एकता का आभास दिया था। प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता बनी थी। यह जायसी द्वारा पूरी हुई।"[1] इस प्रकार जायसी का अध्यात्मवाद व्यवहारिक दृष्टि से उदार और प्रेम-प्रवण मानवतावाद है और उसी की प्रतिष्ठा करना अर्थात् मानव-मानव को एक ही उच्च मनोभूमि पर खड़ा करके तथा धर्म, जाति आदि की कृत्रिम दीवालों को तोड़कर मानव मात्र को एक सूत्र में बाँधना ही पद्मावत का महान उद्देश्य है और जायसी अपने इस उद्देश्य की पूर्ति में निश्चित रूप से सफल हुए हैं।

इतने महान् उद्देश्य को अपनी कल्पना में उतार कर उसे काव्य के रूप में सफलता पूर्वक अभिव्यक्त करना सामान्य कवि का काम नहीं है। महाकाव्य की रचना कोई महती काव्यप्रतिभा वाला कवि ही करता है, वह भी तब जब कि कोई अत्यन्त शक्तिमयी प्रेरणा उसे स्थायी रूप से अभिभूत कर लेती है। जायसी की काव्य प्रतिभा कितनी महनीय थी, यह इसी से स्पष्ट है कि साधारण किसान होकर तथा उच्च वर्गीय साहित्य और संस्कृति के वातावरण से दूर ग्रामीण जीवन के बीच रह कर भी उन्होंने अपनी उत्कृष्ट कल्पना को 'पद्मावत' के रूप में मूर्त किया है। ब्रह्म, जीव और संसार के पारस्परिक संबन्धों की गुत्थी को सुलझाने के लिए उन्होने जिस जीवन्त कथानक की कल्पना की है

१ वही–पृ० वही।

और उसमें अत्यन्त मर्मस्पर्शी स्थलों का चुनाव करके समग्र मानव हृदय-का रस निचोड़ कर जिस प्रकार अपने काव्य को आकर्षक और रसमय बना दिया है और साथ ही लौकिक सत्य की अनुभूति को उन्होंने जिस कुशलता से ऊर्ध्वगामी बनाकर आध्यात्मिक जगत् की ओर अग्रसर किया है, वैसा सामान्य प्रतिभा वाला कवि कभी नहीं कर सकता। उनकी यही काव्य-शक्ति उन्हें अन्य सूफी प्रेमाख्यानक कवियों से भिन्न भूमिका पर स्थापित करती है। काव्य-रचना का उद्देश्य तो कुतुबन, मंझन, उसमान आदि सबका वही था जो जायसी का था। किन्तु इन कवियों में जायसी जैसी स्वाभाविक और शक्तिमती काव्यप्रतिभा नहीं थी। जायसी की काव्यप्रतिभा के दर्शन सबसे अधिक पद्मावत के रूप सौन्दर्य और विरह की मनोदशाओं के वर्णन में होते हैं जिनमें उन्होंने परमसत्य के चिरन्तन, अनन्त और अनिर्वचनीय सौन्दर्य को मानव-जगत् में प्रतिबिम्बित करके भी उसकी विराटता और अनन्तता को नहीं नष्ट होने दिया, साथ ही उस अनिर्वचनीय वर्ण्यवस्तु की आभा को पूर्णतः झलका भी दिया है। इसी तरह उनका विरह वर्णन मानवीय विरह के आवरण में परमात्मा से वियुक्त जीव की आकुलता और तड़पन का वर्णन है। इस प्रकार के समासोक्तिपूर्ण वस्तु-वर्णन और प्रतीकात्मक शैली की अभिव्यक्ति विराट् काव्यचेतना की ही देन हो सकती है। सामान्य काव्य-प्रतिभा में इतनी दूर तक उड़ने और फिर भी अपने मूल विषय को सम्भाल कर पकड़े रहने की शक्ति नहीं होती। जायसी में वह काव्यशक्ति समुचित मात्रा में विद्यमान है जिसके कारण पद्मावत में विविध प्रकार के सम्बन्धों का निर्वाह, विचारों और भावनाओं, कथात्मकता और वर्णनात्मकता, गीतितत्त्व और नाट्यतत्त्व, बौद्धिकता और भावुकता आदि का सुन्दर सामञ्जस्य दिखाई पड़ता है।

महत् उद्देश्य और महती काव्यप्रतिभा भी बेकार हो जाँय यदि कवि को महाकाव्य की उदात्त कल्पना करने तथा द्रष्टा ऋषि के समान बाह्य जगत् और अन्तर्जगत् को हस्तामलकवत् अपनी दृष्टि में रखने के लिए प्रेरित करनेवाली कोई प्रेरक शक्ति न हो। यह प्रेरक शक्ति या यह प्रेरणा (इन्स्पिरेशन) बाह्य नहीं, आन्तरिक होती है। क्रौंच-वध देखकर बाल्मीकि के मुख से छन्द अवश्य फूटा पर रामायण की महत्प्रेरणा उनकी वह विराट् करुणामयी चेतना थी जो उनके मन में प्रसुप्त पड़ी थी और जो क्रौंच-वध देखकर एकाएक जाग पड़ी थी। पद्मावत में जायसी की महत्प्रेरणा उनकी अद्वैत-चेतना है। जायसी सिद्ध फकीर थे, आध्यात्मिक साधना की ओर उन्हें उन्मुख करने वाली कोई घटना घटित हुई होगी

या किसी गुरु ने उन्हें प्रेम-मार्ग का मंत्र दिया होगा। किन्तु ये सभी बातें तो बाह्य हैं, मूल वस्तु तो परमसत्ता के लिए वह व्याकुलता और तड़पन है जो जायसी के हृदय में प्रसुप्त रूप में पहले ही से थी और जो पद्मावत में आदि से अन्त तक उसकी प्राणशक्ति के समान, व्याप्त दिखाई पड़ती है।' यह अद्वैत-चेतना प्रेममूला है, शांकर वेदान्त जैसी ज्ञानमूला नहीं। साथ ही जायसी की अद्वैत-चेतना में वह सूफी प्रतिबिम्बवाद भी मिला हुआ है जिसके अनुसार यह जगत् माया रूप होते हुए भी ब्रह्म की अभिव्यक्ति है और वह निर्गुण ब्रह्म इसी जगत् के बीच अपनी झलक दिखाता है। यह विश्वास जायसी के हृदय में इतनी गहराई तक पैठा हुआ था कि पद्मावत की पंक्ति-पंक्ति में उसी का उजास जैसे बिखरा हुआ है। उनका घनीभूत अध्यात्मिक विश्वास ही, जिसे ऊपर अद्वैत-चेतना कहा गया है, वह महती प्रेरणा है जो जायसी की काव्य-प्रतिभा को प्रदीप्त करने वाली और उनके महदुद्देश्य की सफलता की ओर सतत अग्रसर करने वाली है। इसी महत्प्रेरणा के फलस्वरूप जायसी में वह तन्मयता आ सकी है जो तुलसी, सूर, मीरा आदि कुछ इने गिने भक्त कवियों को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी नहीं दिखाई देती। इस महत्प्रेरणा और तन्मयता के फलस्वरूप पद्मावत में जिस महदुद्देश्य या फल की सिद्धि होती है, वह है शारीरिक शक्ति और भौतिक अवरोधों के ऊपर उस अनन्य प्रेम की विजय जो अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच कर परम शान्ति का जनक होता है। पद्मावत शृङ्गार रस प्रधान होते हुए भी शान्त रस में पर्यवसित हुआ है। उस महत्प्रेरणा के न रहने पर यही कथानक करुण रस—पर्यवसायी बन जाता। काव्य के अन्त में रतनसेन की मृत्यु और पद्मावती तथा नागमती का सती होना दिखाकर जायसी ने भौतिक प्रेम को भौतिक जगत् से बहुत ऊपर उठाकर आध्यात्मिक जगत् में पहुँचा दिया है जहाँ चिर मिलन और परम शांति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यही इस महाकाव्य के उद्देश्य की सफलता है और इस सफलता का श्रेय कवि की काव्यप्रतिभा और महत्प्रेरणा को है।

२—गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्त्व

महाकाव्य का एक प्रधान लक्षण उसमें गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्व का होना है। पद्मावत में गुरुत्व की प्रतिष्ठा उसके दार्शनिक विचारों, आध्यात्मिक अनुभूतियों और चरित्रों की विशिष्टता के कारण हुई है। इन्हीं बातों के कारण वह रोमांचक काव्य होता हुआ भी सस्ते कथात्मक और मनोरंजन प्रधान प्रेमाख्यानों से भिन्न प्रकार का काव्य है। जायसी का मानसिक धरातल तुलसी जैसा व्यापक तो नहीं है किन्तु उनके पद्मावत में दार्शनिक घनत्व और प्रौढ़ विचार-वैभव बहुत अधिक

है। जायसी पहुँचे हुए फकीर और प्रसिद्ध सूफी सन्त निजामुद्दीन औलिया की शिष्य-परम्परा में थे। अतः सूफी सिद्धान्तों तथा इस्लाम धर्म का उन्हें पूर्ण ज्ञान था। किन्तु भारतीय दर्शन और हिन्दू धर्म की जानकारी भी उन्हें कम नहीं थी। इन सब विचारधाराओं का सामंजस्य पद्मावत में दिखलाई पड़ता है। रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार "तत्त्वदृष्टि-संपन्न होने के कारण जायसी के भाव अत्यन्त उदार थे। पर-विधि-विरोध, विद्वानों की निन्दा, अनधिकार चर्चा, समाज-विद्वेष आदि उनकी उदारता के भीतर नहीं थे। व्यक्तिगत साधना की उच्च भूमि पर पहुँच कर भी लोकरक्षा और लोकरंजन के प्रतिष्ठित आदर्शों को ये प्रेम और सम्मान की दृष्टि से देखते थे।"[1] जायसी के इस उदार और सामंजस्यपूर्ण दृष्टिकोण की जो अभिव्यक्ति पद्मावत में हुई है उससे इस काव्य के गुरुत्व में वृद्धि हुई है। पद्मावत की दार्शनिकता उसमें अलग से चिपकाई हुई या कथा के ऊपर बोझ की तरह लादी हुई नहीं है। वह काव्य के शरीर के भीतर उसकी आत्मा की तरह व्याप्त है और जगह-जगह उसका प्रकाश बाहर फूटता हुआ दिखलाई पड़ता है। इसी को विद्वानों ने जायसी की सामासिकी या सांकेतिक पद्धति कहा है। उदाहरण के लिए अलाउद्दीन दर्पण में पद्मावती का प्रतिबिम्ब देखकर जो भाव व्यक्त करता है वह अपने सहज अर्थ में पूर्ण होते हुए भी सूफी मत के प्रतिबिम्बवाद की ओर स्पष्टतया संकेत करता है :—

देखि एक कौतुक हौं रहा। रहा अन्तरपट पै नहिं अहा।
सरवर देख एक मैं सोई। रहा पानि औ पान न होई।
सरग आइ धरती महँ छावा। रहा धरति पै धरत न आवा।
तिन्ह महँ पुनि एक मन्दिर ऊँचा। करन्ह अहा पर न पहूँचा।

पद्मावत में इस प्रकार की गम्भीर व्यञ्जनाएँ भरी हुई हैं जिनमें कथाक्रम में व्यवधान डाले बिना ही गम्भीर दार्शनिक चिन्तन और गूढ़ आध्यात्मिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति हुई है। पद्मावत का नायक रतनसेन शास्त्रीय महाकाव्यों के ढंग का धीरोदात्त चरित्र वाला आदर्श नायक नहीं है। फिर भी उसमें कुछ चारित्रिक वैशिष्ट्य अवश्य है। वह विशिष्टता उसके अनन्य प्रेम और प्रिय की प्राप्ति के लिए अदम्य साहस और असीम त्याग के प्रदर्शन में निहित है। रतनसेन की यह चरित्रगत उच्चता और उसका गम्भीर प्रेम भी पद्मावत को गुरुत्व प्रदान करता है। पद्मावत के अनेक पात्र मनोवृत्तियों के प्रतीक के रूप में दिखलाई पड़ते हैं और उसकी इस प्रतीकात्मक शैली से भी उसमें गुरुत्व आया है।

१—वही—पृ० १३३।

पद्मावत का गाम्भीर्य उसकी विविध मनोदशाओं की मार्मिक अभिव्यक्ति और अनुभूतियों की सचाई और गहराई में निहित है। वह कथासरित्सागर और लीलावईकहा जैसी कथाओं से इसी कारण भिन्न होकर उच्चकोटि के महाकाव्यों की श्रेणी में आ गया है कि उसमें कवि ने कथा के मार्मिक स्थलों की पहचान कर वहाँ विविध प्रकार की मनोभावनाओं और अनुभूतियो की मर्मस्पर्शी और गम्भीर अभिव्यंजना की है। विविध प्रकार की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति क लिए उचित अवसर का चुनाव और उसमें व्यापकता, तीव्रता और गहराई की योजना, ये दो बातें महाकाव्य के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। पद्मावत में प्रेम उत्साह, वैराग्य, शोक, करुणा, भक्ति, आश्चर्य, भय आदि स्थायी भावों की अत्यन्त गहराई के साथ अभिव्यक्ति हुई है और विविध मनोदशाओं की सची और मार्मिक अनुभूतियों का सफल चित्रण भी हुआ है। किन्तु उनमें भी प्रेम और सौन्दर्यानुभूति को व्यजना में ही जायसी का मन सबसे अधिक रमा है। पदमावत के कवि की सौन्दर्य-चेतना आंतरिक सौंदर्य या स्वभाव-सौंदर्य की ओर उतनी नहीं झुकी है जितनी बाह्य रूप सौन्दर्य की ओर। किन्तु इस बाह्य सौन्दर्य को ही उसने इतना व्यापक और विराट् बना दिया है कि वह लौकिक सौन्दर्य के भीतर प्रतिबिम्बित होने वाला आध्यात्मिक लोक का अनन्त और विराट् सौन्दर्य प्रतिभासित होने लगता है। यही विराट और गम्भीर सौन्दर्य तथा गहरी और सच्ची प्रेम की अनुभूतियाँ पदमावत के गांभीर्य के मूल में हैं। किंतु यहाँ एक बात ध्यान में रखने की है कि पद्मावत की गंभीरता में तूफानों वाले सागर जैसी वह हलचल और उथल-पुथल नहीं है जो महाभारत, रामायण, रासो और रामचरितमानस जैसे महाकाव्यों में दिखाई पड़ती है। पद्मावत ऐसे गम्भीर और शान्त सागर के समान हैं जिसमें ऊपर ऊँची-ऊँची लहरें तो नहीं उठती किन्तु जिसके गहरे तल में ज्वालामुखी सुलगता है और जिसमें अनन्त प्रकाश का सौन्दर्य ऊपर से नीचे तक प्रतिबिम्बित दिखाई पड़ता है। पद्मावत में जीवात्मा की परमात्मा से मिलने की व्याकुलता और तड़पन सागरतलवर्ती ज्वालामुखी के समान है और उसका आध्यात्मिक संकेत ही आकाश का प्रतिबिम्ब है। इस तरह इस महाकाव्य की गंभीरता सूक्ष्म और आन्तरिक है।

३—महत्कार्य और युग-जीवन के विविध चित्र

आलंकारिकों के अनुसार प्रबन्धों का कार्य महत् होना चाहिये। यहाँ विचारणीय प्रश्न यह है कि पद्मावत का महत्कार्य क्या है। शुक्ल जी के अनुसार 'पद्मावत के कार्य है पद्मावती का सती होना'।...प्राचीनों के अनुसार कार्य महत्त्वपूर्ण होना चाहिए, नैतिक, सामाजिक या मार्मिक प्रभाव की दृष्टि

से कार्य वध होना चाहिए जैसा 'रामचरित' में रावणवध है और 'पद्मावत' में पद्मिनी की सती होना।"[1] 'एक दूसरे विद्वान श्री रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' शुक्ल जी से अपना मतभेद प्रकट करते हुए कहते हैं, 'परन्तु हमारी दृष्टि में तो पद्मावती का सती होना भी 'कार्य' नहीं है। रतनसेन कथा का नायक है और उसी के उद्देश्य से 'कार्य' का निर्धारण होना चाहिये। रतनसेन का उद्देश्य पद्मावती को प्राप्त करना है, अतः पद्मावती की प्राप्ति ही 'पद्मावत' का कार्य मानना चाहिए। यह देखते हुए कथा का उपसंहार भी नायक द्वारा 'कार्य' की प्राप्ति के बाद हो जाना चाहिये था।"[2] इस सम्बन्ध में मेरा निवेदन यह है कि दुःखान्त प्रबन्धकाव्यों में शास्त्रीय ढंग का 'कार्य' नहीं होता। कार्य-सिद्धि के हेतु के रूप में नाटकों के लिए पाँच अर्थप्रकृतियाँ आवश्यक मानी गयी है। इनमें से पाँचवीं अर्थप्रकृति 'कार्य' है। भारतीय नाटक आदर्शवादी और सुखान्त होते थे और उनमें नायक को अवश्यम्भावी रूप से फल-प्राप्ति होती थी। इसे ही फलागम नामक कार्य की पाँचवी अवस्था भी कहते हैं। नाटकों में पाँच सन्धियों का विधान होने से नायक की समूची जीवन-कथा चित्रित करने का अवकाश नहीं होता था। उसमें जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं का इस प्रकार चुनाव होता था जिससे कथा का क्रमिक विकास स्पष्ट दिखाई पड़ता था। कथा के अन्त में फलागम का 'कार्य' होता था और उसके पूर्व की सभी घटनाएँ उस अन्तिम कार्य के हेतु के रूप में होती थीं। शास्त्रीय महाकाव्यों में भी यही बात पायी जाती है क्योंकि उनमें भी नाटकीय संधियों की योजना होती है। और उनका अन्त सुखात्मक होने से नायक को फल की प्राप्ति होती है। पाश्चात्य देशों के नाटकों में यह बात नहीं होती। वे प्रायः दुःखान्त होते हैं और उनमें कार्य या फलागम नहीं बल्कि 'कार्यक्षय' या नायक का विनाश दिखाया जाता है। पद्मावत का अन्त भी इसी प्रकार का है। हम पहले देख चुके हैं कि पृथ्वीराजरासो और आल्हखन्ड भी दुःखान्त ही हैं और उनमें भी नायकों को फल प्राप्ति नहीं होती। अतः पद्मावत में शास्त्रीय महाकाव्यों जैसा 'महत्कार्य' ढूँढ़ना बेकार है।

पद्मावत वस्तुतः चरितकाव्यों के ढंग का महाकाव्य है जिनमें नायक-नायिका का, जन्म से लेकर मृत्यु तक का जीवन वृत्तान्त वर्णित हुआ है। अतएव उसमें नाटकों या शास्त्रीय महाकाव्यों की तरह घटनाओं का चुनाव

१—वही पृ० ७३-७४।

२—सुकवि-समीक्षा—प्रथम संस्करण—ले० रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख', पृ० ७१।

इस प्रकार नहीं हुआ है कि कथा का अन्त सुखान्त हो और नायक को फल की प्राप्ति हो। इस दृष्टि से प्रो० रामकृष्ण शुक्ल का उपर्युक्त कथन सही है कि पद्मावती की प्राप्ति ही नायक की दृष्टि से फलागम है। इस तरह पद्मावत का पूर्वार्द्ध अपने आपमें एक पूर्ण काव्य है। उत्तरार्द्ध एक भिन्न कथानक को लेकर चला है जिसका संगठन दुःखान्त नाटकों के ढंग का है। अतः इस दूसरे कथानक में भारतीय ढङ्ग का फलागम या 'कार्य' नहीं, बल्कि पाश्चात्य ढङ्ग की अन्तिम कार्यावस्था दिखलाई पड़ती है जिसे 'अवसान' (कैटेस्ट्राफी) कहा जाता है। इस प्रकार अन्त में पाठकों की सहानुभूति प्रतिनायक के प्रति नहीं बल्कि नायक के प्रति ही होती है यद्यपि उनमें अंतिम रूप नायक की पराजय या मृत्यु और प्रतिनायक की विजय ही दिखलायी जाती है। किन्तु पद्मावत का अन्त पाश्चात्य नाटकों जैसा झकझोरने वाला (शाकिंग) और पाठकों के मन में नियति या परिस्थितियों के प्रति विद्रोह अथवा आत्मसमर्पण की भावना उत्पन्न करने वाला भी नहीं है। इसके विपरीत वह जैन चरित-काव्यों जैसा निर्वेद उत्पन्न करने वाला और नैतिक और आध्यात्मिक शक्ति प्रदान करने वाला है। प्रायः सभी जैन चरितकाव्यों में नायक को फलप्राप्ति के कुछ दिनों बाद सुख-ऐश्वर्य का भोग करते हुए अन्त में जगत् की नश्वरता दिखाने वाली किसी घटना से या किसी मुनि से पूर्व भव का वृत्तान्त या धार्मिक उपदेश सुन कर निर्वेद होता है और वह जैन साधु होकर अन्त में निर्वाण प्राप्त करता है। इसीसे मिलता-जुलता अन्त पद्मावत का भी है। नायक रतन-सेन पद्मावती को प्राप्त करके चित्तौड़ में लौटकर सुखपूर्वक दिन बिताने लगता है। यही नायक की दृष्टि से फलागम है। किन्तु कथा वहीं समाप्त नहीं होती। इस मिलन के स्थायित्व में बाधा उपस्थित करने वाली शक्तियों—राघवचेतन, अला-उद्दीन और देवपाल—के कारण फिर विरोध का प्रारम्भ होता है जो भयंकर युद्ध संधि, रतनसेन के बन्धन, देवपाल का पद्मिनी को बहकाने का प्रयत्न और रतनसेन से उसके युद्ध के रूप में व्यक्त हुआ है। इस विरोध और संघर्ष को जायसी ने जीवन-संघर्ष के प्रतीक के रूप में चित्रित किया है जिसमें प्रत्येक प्राणी को काल के हाथों पराजित होना पड़ता है। जायसी ने रतनसेन की मृत्यु का कारण अलाउद्दीन या देवपाल को नहीं बल्कि स्वयं काल को माना है। उन्होंने स्पष्ट कहा है :—

राजहि तहाँ गएउ लै कालू। होइ सामुहँ रोपा देवपालू। दोहा ६४५

मेलेसि सांगि आइ बिख भरी। मेटि न जाइ काल की घरी। दोहा ६४६

× × × ×

काल आइ देखराई सांटी। उठि जिउ चला छांड़ि कै मांटी। दोहा ६४७

और इसके बाद नागमती और पद्मावती का सती होना और राजपूत स्त्रियों का जौहर करना दिखाकर जायसी ने सुख-ऐश्वर्य, राज्य और शक्ति, रूप और अहंकार सबकी अनित्यता सिद्ध करते हुए अन्त में अलाउद्दीन के मन में भी नश्वरता की भावना उत्पन्न कर दी है :—

छार उठाइ लीन्ह एक मूँठी। दीन्हि उड़ाइ पिरिथमी झूठी।
जौ लगि ऊपर छार न परई। तब लगि नाहि जो तिस्ना मरई।

इस प्रकार पद्मावत में जीवन-संघर्ष में जूझते हुए मानव के स्वाभाविक अन्तिम परिणाम मृत्यु का चित्रण करके जगत् की अनित्यता का उपदेश मनोवैज्ञानिक पद्धति से दिया गया है। जैन काव्यों में अन्त में अस्वाभाविक स्थूल और घिसे पिटे ढंग से अनित्यता का चित्रण किया गया है; यह बात पद्मावत में नहीं है।

इस प्रकार पद्मावत के पूर्वार्द्ध में भारतीय ढंग का 'कार्य' (पद्मावती की प्राप्ति) है और उत्तरार्द्ध में पाश्चात्य ढंग का 'अन्त' या 'विनाश' रत्नसेन और पद्मावती की मृत्यु के रूप में दिखाई पड़ता है। किन्तु समूचे काव्य का महत्कार्य उस वैराग्य भावना और शाश्वत मानसिक शान्ति की प्राप्ति है जो अनन्य प्रेम के कारण आत्मोत्सर्ग और बलिदान से तथा जगत् के संघर्षों में जूझ कर उसकी नश्वरता का प्रत्यक्ष दर्शन करने से उत्पन्न होती है। जायसी ने इस भावना की ओर थोड़े से संकेत भर किया है। आचार्य शुक्ल जी ने इसी बात को ध्यान में रख कर लिखा है कि "अन्तिम दृश्य से अत्यंत शान्तिपूर्ण उदासीनता बरसती है। कवि की दृष्टि में मनुष्य जीवन का सच्चा अन्त करुण क्रन्दन नहीं, पूर्ण शान्ति है।"[1] यह तो पाठकों की दृष्टि से कार्य के स्वरूप का निर्धारण हुआ। किन्तु यदि नायक-नायिका के फलागम की दृष्टि से देखें तो इस भौतिक जगत् के बन्धनों और मिलन-मार्ग के अवरोधों से मुक्त होकर आध्यात्मिक लोक में रत्नसेन और पद्मावती का शाश्वत मिलन या दूसरे शब्दों में असीम और अनन्य प्रेम की भौतिक शक्तियों पर विजय और भौतिक जगत् के बन्धनों से मुक्त होकर उसका आध्यात्मिक प्रेम में परिवर्तन ही पद्मावत का महत्कार्य है।

१—जायसी-ग्रन्थावली—भूमिका—पंचम संस्करण, संपादक रामचन्द्र शुक्ल पृ० ६८।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि लौकिक जगत् की दृश्य घटनाएँ ही काव्य का विषय हो सकती हैं, आध्यात्मिक जगत् की अद्भुत अदृश्य घटनाएँ नहीं। इसका उत्तर यही है कि स्वर्ग लोक की घटनाओं का चित्रण तो शाकुन्तल आदि काव्यों में हुआ ही है पर वह दृश्य-चित्रण है। जायसी ने अन्त में नायक-नायिका के आध्यात्मिक लोक में अदृश्य मिलन का संकेत भर किया है। सती होने की घटना से यह स्वतः सिद्ध है कि नागमति और पद्मिनी का आध्यात्मिक लोक में रतनसेन से मिलन हो गया होगा। जायसी ने इस आध्यात्मिक मिलन का दृश्य रूप में वर्णन इसलिए नहीं किया कि वे दृश्य और अदृश्य, भौतिक और पारमार्थिक सत्ता में अधिक अन्तर नहीं देखते। उनके सिद्धान्तों के अनुसार इस लौकिक जगत् के क्रिया-कलाप का क्रम आध्यात्मिक जगत् में भी जारी रहता है यानी भौतिक प्रेम की चरम परिणति आध्यात्मिक प्रेम में होती है। इस तरह भौतिक जगत् और आध्यात्मिक जगत् की सीमा-रेखा मिटा देने पर उपर्युक्त बाधा भी दूर हो जाती है।

पद्मावत के महत्कार्य का यह विवेचन शास्त्रीय दृष्टि से किया गया है। किन्तु महत्कार्य का सामान्य अर्थ होता है कोई महती घटना जिसका नायक के जीवनवृत्त तथा समाज के समूचे जीवन पर व्यापक, गहरा और स्थायी प्रभाव पड़ा हो। ऐसा महत्त्वपूर्ण कार्य महाकाव्य में अवश्य होना चाहिये। साथ ही यह आवश्यक नहीं है कि वह महत्कार्य काव्य के अन्त में ही आवे। वह काव्य के मध्य में या अन्त से कुछ पहले भी हो सकता है जैसे रामचरितमानस में राम-रावण-युद्ध और रावण-वध काव्य के बहुत पहले ही हो गया है। रासो में भी यही बात दिखाई पड़ती है। महाभारत में महायुद्ध के बाद भी अनेक घटनाएँ वर्णित हुई हैं। इस दृष्टि से पद्मावत का महत्कार्य रतनसेन और अला-उद्दीन का युद्ध है। इस युद्ध के पूर्व का रतनसेन का समूचा जीवन-वृत्त इस महत्कार्य की भूमिका प्रस्तुत करता है और उसके बाद की सभी घटनायें उस महत्कार्य के भयंकर परिणाम और प्रभावों के चित्रण के लिए नियोजित हुई हैं। यह युद्ध भारतीय इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है और नायक-नायिका के जीवन पर भी उसका निर्णायक और ध्वंसात्मक प्रभाव पड़ा है। अतः यह युद्ध जो इस काव्य का प्रमुख विषय (थीम) है, महाकाव्योचित महती घटना है और वही पद्मावत का महत्कार्य है। इस महत्कार्य का परिणाम ऊपरी दृष्टि से देखने पर शिव-पक्ष की पराजय और अशिव-पक्ष की विजय प्रतीत होता है। परन्तु वस्तुतः ऐसी बात नहीं है क्योंकि पद्मावती और रतनसेन मर कर भी मरे नहीं और पराजित होने पर भी उनकी पराजय नहीं हुई। उसी तरह

अलाउद्दीन जीत कर भी हार गया क्योंकि न तो पद्मिनी उसके हाथ लगी, न वह रतनसेन को पद्मिनी से वियुक्त ही कर सका। रतनसेन अलाउद्दीन के हाथ से न मरकर देवपाल के हाथों मारा गया, देवपाल स्वयं भी मारा गया और पद्मिनी अलाउद्दीन के हाथ में पड़ने से पूर्व ही सती हो गयी। वही रतनसेन और पद्मावती के अनन्य प्रेमी की विजय है। भले ही वे अपने भौतिक शरीर से जीवित नहीं हैं पर उनका यशः शरीर आज भी जीवित है और हमेशा जीवित रहेगा। इसी बात को जायसी ने भी कहा है :—

कहँ सुरूप पद्मावति रानी। कोइ न रहा जग रही कहानी।
धनि सो पुरुष जस कीरति जासू। फूल मरै पै मरै न बासू।
केइ न जगत जस बेंचा, केइं न लीन्ह जस मोल।
जो यह पढ़ै कहानी हम सँवरै दुइ बोल॥ ६५२॥

युग-जीवन के विविध चित्र—महाकाव्य में महत्कार्य के अनुरूप समग्र जीवन के व्यापक चित्रपट पर युग जीवन के विविध पक्षों का चित्रण होना चाहिए। पद्मावत के चित्रपट में महाकाव्योचित व्यापकता और उसके चित्रों में पर्याप्त वैविध्य है। यह महाकाव्य रतनसेन और पद्मावती के संपूर्ण जीवन की गाथा है और इसकी कथा का कार्यक्षेत्र दिल्ली से लेकर सिंहल तक फैला हुआ है। इसके कथा-काल की लंबाई और कार्यभूमि के विस्तार के कारण पद्मावत में जीवन की नाना परिस्थितियों, विविध मानसिक दशाओं, घटनाओं और क्रिया-प्रतिक्रिया का सन्निवेश हुआ है। साथ ही पद्मावत अपने 'युग' के जीवन का बहुत कुछ यथार्थ चित्र भी उपस्थित करता है। जायसी के समय में नाथपंथी योगियों का प्राबल्य था। उस समय तक योगियों और साधुओं की सेना भी संघटित होने लगी थी। पृथ्वीराजरासो में कनवज्ज खण्ड में योगिनी की सेना का पृथ्वीराज से युद्ध हुआ था। आल्हाखण्ड में आल्हा उदल का दल भी योगी बन कर और कभी कभी समूची सेना को योगी वेश में बदल कर लड़ने जाता है। पद्मावत में भी रतनसेन १६ हजार योगियों के साथ सिंहल जाता है और शिव की सहायता से सिंहल के दुरूह गढ़ पर चढ़ाई करता है। इसी तरह चित्तौड़ से उड़ीसा तक की यात्रा और फिर सिंहल की समुद्र-यात्रा और वापसी यात्रा में समुद्री तूफान आदि का भी जायसी ने बड़ा ही विशद चित्रण किया है जिससे पता चलता है कि उस समय तक भारत का समुद्री व्यापार कम नहीं हुआ था और न समुद्र-यात्रा ही पाप मानी जाती थी। किसी राजा की कन्या का रूप, गुण सुन कर उसे प्राप्त करने के लिए सैन्य-आक्रमण भी उस युग में होता ही था और मुसलमान बादशाह हिन्दू राजाओं की कन्याओं और स्त्रियों

का हरण करते थे। पद्मावत के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दोनों ही कथाओं में प्रधान घटना कन्या हरण और उसके लिए होनेवाला युद्ध ही है। जन्म, मृत्यु, विवाह, भोज, यात्रा, पूजा-उपासना तथा धार्मिक क्रियाओं आदि के अवसर पर प्रचलित तत्कालीन रीति-रिवाजों, जैसे शकुन-विचार, नाच-कूद, दान-दहेज, पौरोहित्य-कार्य, सती प्रथा आदि का पद्मावत में यथार्थ चित्रण हुआ है। इस प्रकार वस्तु-व्यापारों के वैविध्यपूर्ण वर्णन और जीवन के नाना पक्षों के उद्घाटन की दृष्टि से पद्मावत प्रेमाख्यानक ढंग का चरितकाव्यात्मक महाकाव्य है। इस संबंध में शुक्ल जी की यह बात विचारणीय है, "सबसे पहले तो यह प्रश्न उठता है कि प्रबन्धकाव्य में क्या जीवन-चरित के समान उन सब बातों का विवरण होना चाहिए जो नायक के जीवन में हुई हों। संस्कृत के प्रधान काव्यों को देखने से पता चलता है कि कुछ में तो इस प्रकार का विवरण होता है और कुछ में नहीं, कुछ की दृष्टि तो व्यक्ति पर होती है और कुछ की किसी प्रधान घटना पर। जिसकी दृष्टि व्यक्ति पर होती है उसमें नायक के जीवन की सारी मुख्य घटनाओं का वर्णन गौरव-वृद्धि या गौरव-रक्षा के ध्यान से अवश्य कहीं कहीं कुछ उलट फेर के साथ होता है। जिनकी दृष्टि किसी मुख्य घटना पर होती है उनका सारा वस्तु-विन्यास उस घटना के उपक्रम के रूप में होता है। प्रथम प्रकार के प्रबन्धों को हम व्यक्ति प्रधान कह सकते हैं जिनके अन्तर्गत रघुवंश, बुद्धचरित, विक्रमांकदेव चरित आदि हैं। दूसरे प्रकार के घटना प्रधान प्रबन्धों के अन्तर्गत कुमारसंभव, किरातार्जुनीय, शिशुपालवध आदि हैं। पद्मावत को इसी दूसरे प्रकार के प्रबन्ध के अन्तर्गत समझना चाहिए।"[1] शुक्ल जी का अभिप्राय चरित-प्रधान महाकाव्यों और शास्त्रीय ढंग के वर्णन-प्रधान महाकाव्यों से है। चरित-प्रधान महाकाव्यों में कथात्मकता अधिक रहती है जिससे जीवन के विविध पक्षों के उद्घाटन का अवसर अधिक मिलता है। वर्णनात्मक शास्त्रीय महाकाव्यों में कथानक का विस्तार बहुत कम होता है किन्तु कुछ गिने गिनाये वस्तु-व्यापारों का बड़ा ही सूक्ष्म, विवृत और विशद वर्णन रहता है। ऐसे काव्यों को घटना-प्रधान नहीं, वर्णन-प्रधान काव्य कहना अधिक सही है। वस्तुतः चरितकाव्यों को ही घटना प्रधान कहा जा सकता है क्योंकि उसमें अधिकाधिक घटनाओं, परिस्थितियों और व्यापारों की योजना होता है। इस दृष्टि से देखने पर शुक्ल जी का यह कथन सही नहीं प्रतीत होता कि पद्मावत शास्त्रीय ढंग का

१—जायसी-ग्रन्थावली—पंचम संस्करण—भूमिका, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ७२।

वर्णन-प्रधान महाकाव्य है। इसके विपरीत वह शुक्ल जी के ही शब्दों में व्यक्ति प्रधान प्रबन्धकाव्य है जिसे हमने ऊपर चरितकाव्य कहा है।

ऐसे महाकाव्यों में स्वभावतः वर्णन-प्रधान शास्त्रीय महाकाव्यों की अपेक्षा अधिक व्यापारों, वस्तुओं और युग-जीवन के विविध पक्षों का उद्घाटन और वर्णन होता है। शुक्ल जी ने अन्यत्र प्रबन्धकाव्यों की तीन कोटियाँ बताई हैं, वीरगाथा, प्रेमगाथा और जीवनगाथा और पद्मावत को दूसरे प्रकार का प्रबन्ध-काव्य—प्रेमगाथा-माना है।[1] प्रेमगाथा से यदि शुक्ल जी का यह तात्पर्य हो कि उसमें प्रेम की विविध दशाओं के अतिरिक्त अन्य प्रकार के वर्णन हैं ही नहीं, तो इस दृष्टि से पद्मावत प्रेमगाथा से आगे बढ़ कर जीवनगाथा प्रतीत होता है और इस तरह वह मृगावती, मधुमालती, इन्द्रावती आदि प्रेमगाथाओं से भिन्न प्रकार का काव्य है क्योंकि नायक-नायिका के मिलने के बाद भी उसमें यथार्थ जीवन के संघर्षों और क्रिया कलापों का चित्रण हुआ है। यह अवश्य है कि उसमें कवि का ध्यान प्रेम-व्यंजना की ओर सबसे अधिक है, अन्य भावनाओं की व्यंजना की ओर कम। इस कारण पद्मावत में युग-जीवन के चित्रों की उतनी विविधता और समग्रता नहीं है जितनी महाभारत, रामायण, रघुवंश या राम-चरितमानस में। अतः शुक्ल जी ने ठीक ही लिखा है कि 'प्रबन्ध-क्षेत्र में तुलसीदास जी का सर्वोच्च आसन है, उसका कारण यह है कि वीरता, प्रेम आदि जीवन का कोई एक ही पक्ष न लेकर उन्होंने सम्पूर्ण जीवन को लिया है और उसके भीतर आनेवाली अनेक दशाओं के प्रति अपनी गहरी अनुभूति का परिचय दिया है। जायसी का क्षेत्र तुलसी की अपेक्षा परिमित है, पर प्रेम-वेदना उनकी अत्यन्त गूढ़ है।"[2] इस प्रकार जीवन-व्यापारों के कुछ सीमित होते हुए और प्रेमभावना प्रधान होते हुए भी पद्मावत मुख्यतः जीवनगाथा ही सिद्ध होता है।

महाकाव्य में जिन परिस्थितियों, घटनाओं, वस्तुओं और क्रिया-प्रतिक्रियाओं का वर्णन होता है उन्हें मुख्यतः इन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं:—

१—घटना-वर्णन
२—रूप-चित्रण
३—प्रकृति-चित्रण
४—वस्तु-वर्णन

१—वही पृ० २१० ।
२—वही पृ० वही ।

५--ज्ञान और उपदेश की बातें
६--मनोदशाओं की अभिव्यक्ति

घटना-वर्णन :—

इस वर्ग में जीवनकथा की वे सभी घटनाएँ आ जाती हैं जो कथा-शरीर के मुख्य अंग के रूप में होती हैं। इन्हीं घटनाओं को सुनिश्चित योजना से कथा में कलात्मक और प्रवाह उत्पन्न होता है। पद्मावत में पद्मावती और रतनसेन के जन्म से लेकर रतनसेन-देवपाल युद्ध और दोनों की मृत्यु तथा पद्मावती और नागमती के सती होने तक की घटनाओं और कार्यों की योजना हुई है। ये घटनाएँ वैयक्तिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक सभी प्रकार की हैं जिससे यह स्पष्ट हैं कि पद्मावत में जीवन व्यापारों का वैविध्य है। किन्तु इन सब मे भी प्रेम-व्यापार, युद्ध, यात्रा और कूटनीतिक दाँवपेंच का ही वर्णन सबसे अधिक हुआ है। रामचरितमानस में भी इन्हीं जीवन-व्यापारों की प्रधानता है पर उसमें लोक-पक्ष पर कवि का अधिक ध्यान है। पद्मावत में कवि का ध्यान व्यक्ति के आन्तरिक तथ्यों के उद्घाटन की ओर अधिक है जिससे उसमें प्रेम-व्यञ्जना की अधिकता है। इन नाना नाम-रूपात्मक जीवन-व्यापारों को कवि ने प्रेम के सूक्ष्म किन्तु दृढ़ सूत्र से एक में पिरो दिया है। इन घटनाओं से किस प्रकार के कथानक की योजना हुई है, इस संबंध में कथानक के प्रसंग में विचार किया जायगा। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि ये जीवन-घटनाएँ शृंखलाबद्ध और कथा के क्रमिक विकास में योग देनेवाली हैं। जायसी ने जीवन के वैविध्यपूर्ण व्यापारों में से ऐसी ही परिस्थितियों और घटनाओं का चुनाव विशेष रूप से किया है। जो मर्मस्पर्शी और विविध भावनाओं की व्यंजना के लिए अवसर प्रदान करने वाली हैं। शुक्ल जी के शब्दों में 'जिनके प्रभाव से सारी कथा में रसात्मकता आ जाती है वे मनुष्य-जीवन के मर्मस्पर्शी स्थल हैं जो कथा-प्रवाह के बीच बीच में आते रहते है। यह समझिये जि काव्य में कथावस्तु की गति इन्ही स्थलों तक पहुँचने के लिए होती है।'[1] शुक्ल जी ने पद्मावत के ऐसे मर्मस्पर्शी स्थलों की सूची भी दी है—"मायके में कुमारियों की स्वछन्द क्रीड़ा, रत्नसेन के प्रस्थान पर नागमती आदि का शोक, प्रेम-मार्ग के कष्ट, रत्नसेन की सूली की व्यवस्था, उस दंड के संवाद से विप्रलंभ-दशा में पद्मावती की करुण सहानुभूति, रत्नसेन और पद्मावती का संयोग, सिंहल से लौटते समय की सामुद्रिक घटना से दोनों की विह्वल स्थिति, नागमती की विरह-दशा और वियोग-संदेश, बादल का युद्ध-प्रस्थान, देवपाल की

१—वही पृ० ६६।

दूती से पद्मावती द्वारा सतीत्व-गौरव की व्यंजना, पद्मावती और नागमती का उत्साहपूर्ण सहगमन, चित्तौड़ की दशा आदि।"

रूप चित्रण :—

रूप-चित्रण से हमारा तात्पर्य मानवीय रूप-सौन्दर्य के चित्रण से है। पद्मावत प्रेम-प्रधान काव्य है और उसमें प्रेम का प्रधान कारण रूप-सौन्दर्य को माना गया है। सूफी मत में मानवीय प्रेम आध्यात्मिक प्रेम का पहला कदम है और उस प्रेम का आधार होता है मानवीय रूप-सौन्दर्य। मानवीय सौन्दर्य में ईश्वरीय सौन्दर्य के प्रतिबिम्ब का दर्शन करना सूफियों के उस सिद्धांत के अनुकूल है जिसके अनुसार यह जगत् ब्रह्म की अभिव्यक्ति है और ब्रह्म जगत् में ही अपनी झलक दिखाता रहता है। इस तरह मानवीय रूप-सौन्दर्य सूफियों की दृष्टि से ब्रह्म के अनन्त और अव्यय सौन्दर्य का प्रतीक है।

अतः यह कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि जायसी ने मानवीय सौन्दर्य का इतना अतिशयोक्तिपूर्ण और अधिक वर्णन क्यों किया है। सूफी काव्य का सिद्धान्त है कि जहाँ रूप होगा वहीं प्रेम होगा। अत: आध्यात्मिक प्रेम का आलम्बन जो रूप होगा वह सामान्य नहीं, विचित्रता और असाधारणत्व से युक्त होगा। जायसी ने पद्मावती के सौन्दर्य को असाधारण और विचित्र बना कर चित्रित किया है। पद्मावत में नारी-सौन्दर्य का वर्णन इन स्थलों पर हुआ है :—सिंहल द्वीप वर्णन के प्रसंग में पनिहारियों का सौन्दर्य-वर्णन इन शृंगार-हाट में बैठी वेश्याओं का रूप-चित्रण, मानसरोवर में सखियों सहित स्नान करते समय पद्मिनी के रूप का वर्णन, हीरामन सुआ का रतनसेन से पद्मावती का नखशिख वर्णन, विवाहोपरान्त रतनसेन और पद्मावती के भेंट के समय पद्मावती का शृङ्गार वर्णन, पद्मावती और नागमती के विवाह के प्रसंग में दोनों रानियों का अपने मुँह से अपना रूप-वर्णन, राघवचेतन का अलाउद्दीन से पद्मिनी का रूप-वर्णन, अलाउद्दीन द्वारा चित्तौड़गढ़ में पद्मिनी का रूप-दर्शन करने के प्रसंग में उसका रूप-चित्रण। इनमें जायसी ने पद्मावती के सौन्दर्य को ही सबसे अधिक महत्त्व दिया है और उसी का वर्णन अधिक विस्तार और उत्साह से किया है। वैसे पनिहारिनों और वेश्याओं का रूप चित्रण भी बहुत स्वाभाविक और मनोरम है किन्तु पद्मावती के सौन्दर्य को कवि ने सामान्य नारी-सौन्दर्य से ऊपर उठा कर बहुत उच्च भूमि पर स्थापित कर दिया है। जायसी ने पद्मावती की कल्पना ब्रह्म की सौन्दर्य-शक्ति की लौकिक अभिव्यक्ति के रूप में की है। रतनसेन से पद्मावती की चर्चा करते हुए हीरामन सुआ उसे पद्म-गंध चन्द्रमा का अवसर कहता है :—

'पद्मावति राजा के बारी। पदुमगंध ससि विधि औतारी।'

मानसरोवर-स्नान-वर्णन में पद्मिनी का रूप-वर्णन करते हुए जायसी ने उसे ईश्वरीय सौन्दर्य के रूप में ही व्यक्त किया है—

सरवर तीर पदुमिनीं आईं। खोंपा छोरि केस मोकराईं।

× × ×

ओनए मेघ परो जग छाँहा। ससि को सरन लीन्ह जनु राहाँ।
छपिगै दिनहि भानु के दसा। लै निसि नखत चाँद परगसा।

× × ×

दसन दामिनी कोकिल भाषीं। भौहैं धनुक गगन ले राखी।
सरवर रूप विमोहा, हियें हिलोर करेइ।
पाय छुअइ मकु पावों तेहि मिस लहरै देइ॥ दोहा ६१॥

× × ×

सरवर नहि समाइ संसारा। चाँद नहाइ पैठ लिए तारा॥ दोहा६२

यह सामान्य नारी-सौन्दर्य का वर्णन नहीं है। यहाँ जायसी ने पद्मावती को ब्रह्म के असीम सौन्दर्य का प्रतीक मानकर उसका वर्णन किया है। उस आध्यात्मिक सौन्दर्य को एक झलक मिलते ही सारा जगत् दर्पण की तरह दमक उठता है। ब्रह्म का यह सौन्दर्य जहाँ प्रतिबिम्ब होता है। वह सरोवर जैसा हृदय संसार के भीतर नहीं अँट पाता। उस अतीन्द्रिय और अलौकिक सौन्दर्य की छाया के समान इस प्रकार लौकिक जगत् का समस्त सौन्दर्य प्रतिभासित होता है:—

जेहि दिन दसन जोति निरमई। बहुमत जोति जोति ओहि भई।
रवि ससि नखत दीन्हि ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती।
जहँ जहँ विहँसि सुभावहि हँसी। तहँ तहँ छिटकि जोति परगसी।
दामिनि दमकि न सरवरि पूजा। पुनि ओहि जोति और को दूजा।
दो०—१०७

इस तरह जायसी ने पद्मिनी के रूप-सौन्दर्य की ओट में जिस सौन्दर्य का चित्रण किया है वह शारीरिक या वैयक्तिक सौन्दर्य प्रतीत होता हुआ भी समष्टिगत सौन्दर्य का साक्षात् मूर्त रूप है। वस्तुतः जायसी ने अपने कल्पना-लोक के आदर्श सौन्दर्य का चित्रण किया है, पद्मिनी उस सौन्दर्य का माध्यम या प्रतीक मात्र है।

प्रतीकात्मक नखशिख-वर्णन—सामान्यतया रूप सौन्दर्य के चित्रण में नखशिख वर्णन की परिपाटी भारतीय साहित्य में बहुत पहले से अपनाई जाती

रही है। संस्कृत काव्यों के अतिरिक्त प्राकृत और अपभ्रंश के काव्यों में भी इस प्रकार का रूढ़िबद्ध सौन्दर्य-वर्णन बहुत मिलता है जिसमें शरीर के अंग-प्रत्यग का क्रमिक वर्णन परंपरामुक्त सादृश्यमूलक अप्रस्तुतों के माध्यम से किया जाता है। फारसी की सूफी कविता में भी नखशिख-वर्णन की परिपाटी बहुत प्रचलित थी। सूफी कविता के नखशिख-वर्णन के सम्बन्ध में श्री चन्द्रबली पाण्डे ने लिखा है कि "जब माशूक प्रतीक है तो उसका नखशिख भी उसके अन्तर्गत ही समझा जायगा उसके अंग-अंग प्रतीक होंगे। नखशिख में मुख की प्रधानता होती है। उसका वर्णन प्रायः सभी कवि खूब करते हैं। पर उसका प्रकट दर्शन कितनों को होता है? परदे के भीतर का दीदार ही तो तसव्वुफ का सब कुछ है।"[1] इस तरह मुख ब्रह्म के रूप का, केश उसकी माया का, मुस्कान उसकी ज्योति का कटाक्ष उसकी आकर्षण काम-शक्ति का प्रतीक है। जायसी ने प्रत्येक स्थल पर नखशिख वर्णन के रूप में ही सौन्दर्य चित्रण किया है किन्तु उन्होंने फारसी और भारतीय दोनों ही काव्यरूढ़ियों का सहारा लिया है। केश और मुस्कान के वर्णन के जो उद्धरण ऊपर दिये गये हैं वे प्रतीकात्मक ही हैं जिनमें पद्मिनी की हँसी और उसकी उज्वलता दन्त-पंक्ति को ईश्वरीय तेज और प्रकाश के प्रतीक के रूप में और उसके केशों का वर्णन अज्ञान के अन्धकार और माया के परदे के प्रतीक के रूप में हुआ है। उसी तरह बरुनियों का वर्णन जायसी ने ब्रह्म की मोहिनी शक्ति और उद्दाम आकर्षण के प्रतीक के रूप में इस तरह किया है :—

बरुनी का बरनौं इमि बनी। साँधे बान जानु दुइ अनी।
उन्ह बानन्ह अस को को न मारा। बेधि रहा सगरो संसारा॥
गँगन नखत जस जाहिं न गने। हैं सब बान ओहि के हने।
धरती बान बेधि सब राखी। साखा ठाढ़ देहिं सब साखी।
रोवँ रोवँ मानुष तन ठाढ़े। सोतहिं सोत बेधितन काढ़े॥ दो०१०४

रूढ़िबद्ध नखशिख वर्णन—भारतीय ढंग का नखशिख वर्णन अलंकृत होता है। इस पद्धति में शरीर के अंगों की तुलना कुछ रूढ़िबद्ध उपमानों से कतिपय अलंकारों के सहारे की जाती है। नखशिख-वर्णन में केश से प्रारम्भ कर पाँव की अंगुलियों तक का क्रमिक वर्णन होता है। इस तरह का क्रमिक नखशिख-वर्णन पद्मावत में दो स्थलों पर पद्मिनी के रूप-सौन्दर्य के

---

१. तसव्वुफ और सूफीमत-ले० श्री चन्द्रबली पांडेय, द्वितीय संस्करण, १९४८, पृ० ६५।

चित्रण के प्रसंग में हुआ है। हीरामन सुआ रतनसिंह से और राघवचेतन अलाउद्दीन से इस प्रकार का रूप-वर्णन करते हैं। दोनों ही पण्डित और शास्त्रज्ञ हैं। अतः उनके मुख से शास्त्रीय और परंपरायुक्त ढङ्ग का नखशिख-वर्णन कराकर जायसी ने उसमें अत्यंत स्वाभाविकता ला दी है। किसी अन्य पात्र के मुख से इस प्रकार का वर्णन जायसी की रूढ़िप्रियता और पंडिताऊपन का परिचय देता। इन स्थलों में केश, माँग, ललाट, भौंह, नयन, बरुनी, नाक, अधर, दाँत, जिह्वा, कपोल, तिल कान, गरदन, बाँह, हथेली, स्तन, पेट, रोमावली, त्रिवली, पीठ, कमर, नाभि, नितम्ब, चाल, जंघा, पाँव और उँगलियों का क्रमबद्ध वर्णन हुआ है। अलाउद्दीन ने दर्पण में पद्मिनी का जो रूप देखा, जायसी ने उसका रूपकातिशयोक्ति में इस प्रकार वर्णन किया है और यह एक ही उदाहरण उनके अलंकृत नखशिख-वर्णन का परिचय देने के लिए पर्याप्त है :—

सिंह की लंक कुँभस्थल जोरू। अंकुस नाग महावत मोरू।
तेहि ऊपर भा कँवल बिगासू। फिर अलि लीन्ह पुहुप रस बासू।
दुहुँ खंजन बिच बैठेउ सुवा। दुइज क चाँद धनुक लै ऊवा।
मिरिग देखाइ गवन फिरि किया। ससि भा नाग सूर भा दिया।
—दोहा ५७२

प्रकृति चित्रण—काव्य में प्राकृतिक दृश्यों और वस्तुओं का चित्रण इतने रूपों में हुआ करता है :—आलम्बन रूप में, उद्दीपन रूप में, अलंकार रूप में, वस्तु गणना के रूप में और प्रतीक तथा संकेत रूप में। प्रबन्धकाव्यों में आलम्बन रूप में प्रकृति-चित्रण के लिए उतना अवकाश नहीं रहता, फिर भी मानव-जीवन की पृष्ठभूमि के रूप में प्राकृतिक दृश्यों के संश्लिष्ट चित्रण के लिए उसमें पर्याप्त अवकाश रहता है जैसा वाल्मीकि और कालिदास ने अपने सूक्ष्म निरीक्षण के परिणामस्वरूप अपने महाकाव्यो में किया है। पद्मावत में प्राकृतिक वस्तुओं और दृश्यों का चित्रण तो बहुत हुआ है और उनमें कुछ चित्रण संश्लिष्ट भी हैं किन्तु जायसी ने प्रकृति को आलम्बन रूप में कहीं कहीं देखा है। पद्मावत में इन चार रूपों में प्रकृति का चित्रण हुआ है :—उद्दीपन रूप में अलंकार के रूप में, वस्तु-परिगणना की रूढ़ि के रूप में और प्रतीक तथा संकेत के रूप में। इनमें भी उद्दीपन और प्रतीक-संकेत की पद्धति को सबसे अधिक अपनाया गया है। अलंकार रूप में प्राकृतिक वस्तुओं का उल्लेख सादृश्यमूलक अप्रस्तुत-विधान में होता है और इसे प्रकृति-चित्रण नहीं

वातावरण की प्रकृति, से अपने अप्रस्तुत चुने हैं। उन्होंने संस्कृत और अपभ्रंश की रूढ़िबद्ध परिगणना की पद्धति प्राकृतिक वस्तुओं के वर्णन में भी अपनायी है। इन सभी पद्धतियों के प्रकृति चित्रणों का उदाहरण नीचे दिया जा रहा है।

अलङ्कार रूप मे :—प्रस्तुत को प्राकृतिक अप्रस्तुतों द्वारा व्यक्त करने या स्पष्ट करने की प्रवृत्ति जायसी में बहुत अधिक मिलती है। उदाहरणार्थ उन्होंने पद्मिनी को कमल और चन्द्र, रतनसेन को भौंरा, सूर्य और चन्द्रमा और अलाउद्दीन को सूर्य रूप में माना है और इन्हीं अप्रस्तुतों के आधार पर रूपक खड़े किये हैं, जैसे

सखी देखावहिं चमकहिं बाहू। तूँ जस चाँद सुरुज तोर नाहू।
छपा न रहै सुरुज परगासू। देखि कवल मन भएउ हुलासू। दो० २७१

इस प्रकार के अलंकारो में पाठकों का ध्यान प्रस्तुतों पर ही रहता है, अप्रस्तुत रूप में वर्णित प्राकृतिक वस्तुओं पर नहीं। अतः इसे प्रकृति-चित्रण का स्थूल रूप कहा जा सकता है। फिर भी कहीं कहीं रूप-गुण-प्रभाव-साम्य के कारण प्रस्तुत और अप्रस्तुत में जायसी ने बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव दिखलाया है। ऐसे वर्णनों में पाठक का ध्यान प्राकृतिक उपमानों पर भी उतना ही रहता है जितना वर्ण्य वस्तु पर, जैसे :—

कँवल जो विगसा मानसर छारहिं मिलै सुखाइ।
कबहु बेलि फिर पलुहै जो पिय सींचहु आइ। दो० ३०४

अथवा

परी अथाह धाइ हौं जोवन उदधि गँभीर।
तेहिं चितवों चारिउँ दिसि को गहि लावै तीर॥ दो० १७०

परिगणना की रूढ़ि के रूप में :—संस्कृत और अपभ्रंश के काव्यों में प्राकृतिक वस्तुओं के संश्लिष्ट वर्णन की जगह उनकी सूची गिनाई गयी है। परिगणना की इस प्रवृत्ति का प्रभाव हिन्दी काव्यों पर भी पड़ा है। पृथ्वीराज रासो के सम्बन्ध में विचार करते समय इस वर्णन रूढ़ि का तुलनात्मक विवेचन किया जा चुका है। पद्मावत में प्रारम्भ में ही सिंहल द्वीप की अमराई का वर्णन करते हुए नाना प्रकार के फलों और पक्षियों की, ताल-पोखरी के वर्णन में जल-पक्षियों और फुलवारी के वर्णन में फूलों की परिगणना केवल रूढ़ि का पालन करने की दृष्टि से की गयी है। इसी प्रकार शिव-पूजा के लिए जाते

समय पद्मावती और उसकी सखियों के वर्णन में फल-फूलों की सूची गिनाई गयी है। उदाहरणार्थ—

काहू गहीं आँब के डारा। काहूँ विरह जाँबु अति झारा।
कोइ नारँग कोइ झार चिरौंजी। कोइ कटहर कोइ बड़हर न्यौंजी।
कोइ दारिउँ कोई दाख सो खीरी। कोई सदाफर तुरँज जँभीरी।
—दोहा १८७

ऐसे परिगणनात्मक वर्णनों से प्रकृति के रम्य सौन्दर्य और अनन्त विभूति की ओर पाठकों का ध्यान नहीं ही जाता, उल्टे इसे कवि के पाण्डित्य-प्रदर्शन का लोभ समझ कर ऊब होती है। प्रबन्धकाव्य में पाठक या तो कथा का चमत्कार देखना चाहता है, या वस्तु-वर्णन और भाव-व्यञ्जना के सौन्दर्य में रस लेना चाहता है, परिगणनात्मक वर्णन इन दोनों में अवरोध उत्पन्न करते हैं।

उद्दीपन रूप में :—काव्य में प्रकृति का उद्दीपन रूप में वर्णन बहुत अधिक होता है। वस्तुतः मानव की सामाजिक, वैयक्तिक और मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि के रूप में ही प्रकृति का सर्वाधिक उपयोग होता है। मनुष्य प्रकृति का सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से उपयोग और उपभोग करता है तथा वैयक्तिक रूप में उसे अपने कलात्मक और सौन्दर्यबोध की वृत्ति की तृप्ति का साधन बनाता और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अपने सुख-दुःख में उसकी अनुकूलता या प्रतिकूलता का अनुभव करता है। अतः उद्दीपन रूप में काव्य में प्रकृति का चित्रण होना स्वाभाविक है। सच्ची लोकदृष्टि वाला कवि उसका उपयोग अधिकतर इसी रूप में करता है। किन्तु कृत्रिम और अनुकरणवृत्ति वाले कवि सामान्यतया परम्परा-पालन की दृष्टि से प्रकृति का चित्रण करते हैं। जायसी का उद्दीपन रूप में प्रकृति-चित्रण बड़ा स्वाभाविक और मनोरम बन पड़ा है। उन्होंने प्रकृति को मानव के परिपार्श्व में रहकर उसे मानवीय परिस्थितियों और मनोदशाओं के बीच अनुकूल या प्रतिकूल रूप में चित्रित किया है। पद्मावत में यों तो स्थान स्थान पर प्रकृति के उद्दीपक चित्र मिलते हैं किन्तु दो स्थलों पर उसका सांगोपांग वर्णन मिलता है। पद्मावती-रतनसेन के विवाहोपरान्त संयोग श्रृंगार के उद्दीपन के रूप में षड्ऋतु-वर्णन और उसी के बाद नागमती की वियोगावस्था के चित्रण में विप्रलम्भ श्रृंगार के उद्दीपन के रूप में बारहमासा-वर्णन। ये दोनों ही अनेक कारणों से पद्मावत के स्वाभाविक, मार्मिक और मनोवैज्ञानिक वर्णनों में अन्यतम हैं। पद्मावती अपये अत्यंत धन-सम्पन्न पिता के महल में रहकर अपने पति के साथ आनन्द-उत्सव में तल्लीन है। अतः उस प्रसंग में सामन्ती वातावरण

और भोग विलास के बीच प्रकृति का जैसा चित्रण होना चाहिए, पद्मावत में उसका वैसा ही रूप मिलता है। पद्मावती की परिस्थिति और मनोदशा के ठीक विपरीत नागमती की स्थिति है जो रानी होते हुए भी पति-परित्यक्ता होने से सामान्य स्त्री के समान जीवन-यापन कर रही है। वियोग के दुख ने उसके राज्य-वैभव और भोग-विलास के अलंकार को उससे दूर कर दिया है और उस दुःख में तप कर वह विशुद्ध 'मानव' बन गयी है। तभी तो उसके दुःख से सारी प्रकृति व्याकुल हो उठती है और एक पक्षी उसका विरह-संदेह लेकर सिंहल में रतनसेन के पास जाता है। यह वर्णन बारहमासे के रूप में हुआ है और षड्ऋतु-वर्णन के ठीक बाद है।

षड्ऋतु और बारहमासा-वर्णन—षड्ऋतु और बारहमासा दोनों के वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जायसी पर शास्त्रीय काव्य-परंपरा और लोक-काव्य की परंपरा, दोनों का समान प्रभाव था। साथ ही वह सामन्ती वातावरण के भोग विलास की प्रवृत्ति से भी पर्याप्त परिचित थे, यद्यपि उनका अपना झुकाव सामान्य लोक-जीवन और उसकी प्रवृत्तियों की ओर ही अधिक था। संस्कृत साहित्य की रूढ़ियाँ अधिकतर सामन्ती वातावरण के बीच निर्मित हुई हैं और षड्ऋतु वर्णन उसकी ऐसी ही वर्णन-रूढ़ि है। कालिदास ने ऋतु-संहार में संयोग शृङ्गार के उद्दीपन के रूप में ऋतुओं का वर्णन किया है जिसमें प्राकृतिक दृश्यों से अधिक भोग-विलास की सामग्री का वर्णन है। संस्कृत के महाकाव्यों में भी ऋतु-वर्णन संयोग-शृंगार के प्रसंग में ही मिलता है। यह परम्परा अपभ्रंश से होती हुई हिन्दी में भी आयी। पृथ्वीराजरासो में पृथ्वीराज के विलास-वर्णन के बीच ऋतु-वर्णन हुआ है, यह हम पाँचवें अध्याय में देख चुके हैं। पद्मावत का षड्ऋतु-वर्णन भी उसी प्रकार का परम्परायुक्त है किन्तु उसमें जायसी ने प्राकृतिक वस्तुओं से अधिक सामन्ती वातावरण, प्रसाधन की सामग्री, सामाजिक रीतिरिवाज आदि का ही वर्णन किया है। यह अधिक अस्वाभाविक इसलिए नहीं लगता कि नव विवाहितों के लिए प्राकृतिक वस्तुओं को देखने के लिए अवकाश ही कहाँ रहता है? राजा-रानी अपने महल के भीतर से प्रकृति के जितने अंश का दर्शन कर सकते हैं, जायसी के षड्ऋतु-वर्णन में उसका सुन्दर समावेश हुआ है, जैसे :

कोकिल बैन, पाँति बग छूटी। धनि निसरी जेउँ बीर बहूटी।
चमके बिज्जु बरिस जग सोना। दादुर मोर सबद सुठि लोना।

दो० ३३७

किन्तु षड्ऋतु-वर्णन में कवि के सूक्ष्म निरीक्षण और संयोगावस्था की मनोदशाओं के ज्ञान का बहुत अच्छा परिचय मिलता है। सयोगावस्था में सारा संसार आनन्दित और प्रिय से संयुक्त दिखाई पड़ता है और हर बात में पति-पत्नी को एक दूसरे का सहारा मिलता रहता है :—

रँग राती पिय संग निशि जागै। गरजै चमकि, चौंकि कंठ लागै।
सीतल बुन्द ऊंच चौबारा। हरिअर सब देखिअ संसारा। दो० ३३७

× × ×

सोने फूल पिरिथिमी फूली। पिउ धनि सों धनि पिउ सों भूली।
चखु अंजन दे खजन देखावा। होइ सारस जोरी पिउ पावा।
दो० ३३८

बारहमासा एक ऐसा काव्यरूप है जिसका मूल उत्स लोककाव्य है। गाँवों में आज भी बारहमासा गाया जाता है। लोकगीतों से ही पहले पहल अपभ्रंश काव्य में इसे अपनाया गया। नेमिनाथचउपई नामक काव्य में राजमती के वियोग-वर्णन के प्रसंग में अत्यन्त सुन्दर बारहमासा वर्णन मिलता है। इस सबंध में चौथे अध्याय में विस्तार के साथ विचार किया जा चुका है। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि जायसी का बारहमासा-वर्णन लोकप्रचलित बारहमासों का परिष्कृत और परिवर्तित रूप प्रतीत होता है। इसमें भावना, उपमान, मुहावरे, वस्तु-वर्णन सभी कुछ लोकजीवन से लिये गये हैं और इसका पता ही नहीं चलता कि यह एक रानी की वियोग दशा का वर्णन है। इसके सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि "नागमती के विरह-वर्णन के अन्तर्गत वह प्रसिद्ध बारहमासा है जिसमें वेदना का अत्यन्त निर्मल और कोमल स्वरूप, हिन्दू दाम्पत्य-जीवन का अत्यन्त मर्मस्पर्शी माधुर्य, अपने चारों ओर की प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों के साथ विशुद्ध भारतीय हृदय की साहचर्य-भावना तथा विषय के अनुसार भाषा का अत्यन्त स्निग्ध, सरल, मृदुल और अकृत्रिम प्रवाह देखने योग्य है।"[1] विरह की दशा में विभिन्न महीनों में प्रकृति की विभिन्न वस्तुओं का विरही के मन पर क्या प्रभाव पड़ता है; इसका स्वाभाविक, सरल और मनोवैज्ञानिक वर्णन इस बारहमासे में हुआ है, साथ ही किस महीने में प्रकृति में क्या विशेषताएँ और परिवर्तन दिखाई पड़ते हैं, इसका दिग्दर्शन कवि ने इसमें बहुत सुन्दर किया है जिससे उसके सूक्ष्म निरीक्षण की प्रवृत्ति का पता चलता है। जायसी के बारहमास-वर्णन की एक विशेषता यह भी है कि

१—जायसी-ग्रन्थावली—ले० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ४४।

इसमें प्रकृति के जितने संश्लिष्ट चित्र मिलते हैं उतनने पद्मावत में अन्यत्र नहीं मिलते। यह बारहमासा इतना प्रसिद्ध है और इसके बारे में इतना अधिक लिखा जा चुका है कि उससे उद्धरण देने की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है।

प्रतीक और संकेत रूप में :—पहले कहा जा चुका है कि पद्मावत में प्रकृति का चित्रण सबसे अधिक प्रतीक और संकेत के रूप में हुआ है। रहस्य-वाद में प्रतीकों का महत्त्व बहुत अधिक होता है। सूफी रहस्यवादियों ने प्रकृति की कुछ वस्तुओं का प्रतीक रूप में इतना वर्णन और प्रयोग किया किया कि वे फारसी और उर्दू कविता में रूढ़ि के रूप में प्रयुक्त होने लगे। सूफी काव्य में साकी, शराब, प्याला, माशूक, दर्पण, नखशिख-सौन्दर्य आदि जिस तरह आध्यात्मिक तत्त्वों के प्रतीक माने गये हैं उसी तरह प्राकृतिक वस्तुओं में बुलबुल, तोता चमन नरगिस आसमान, बिजली, बादल आदि भी प्रतीकवत् प्रयुक्त हुए हैं। फारसी की सूफी कविता के रूढ़ प्रतीकों में से जायसी ने कुछ का ही प्रयोग किया है। कहीं कहीं शराब का प्रतीकात्मक वर्णन हुआ है। हीरामन तोता भी प्रतीक है परन्तु विरही आत्मा का नहीं बल्कि ज्ञानी गुरु का। इस तरह जायसी ने रूढ़ प्रतीकों का प्रयोग नहीं किया बल्कि प्राकृतिक वस्तुओं और दृश्यों को कहीं प्रतीक मान कर, कहीं उन्हें ब्रह्म का उपलक्षण मान कर और कहीं आध्यात्मिक जगत् की ओर संकेत का माध्यम मान कर उनका वर्णन या उल्लेख किया है। उदाहरणार्थ सिंहल की अमराई के माध्यम से उन्होंने आध्यात्मिक संकेत किया है :—

घन अँवराउ लाग चहुँ पासा। उठे पहुमि हुति लाग अकासा।

× × • ×

ओही छाँह रैन होई आवै। हरिअर सबै अकास दिखावै।
पंथिक जौ पहुँचै सहि घामू। दुख बिसरै सुख होइ बिसरामू।
जिन्ह वह पाई छाँह अनूपा। बहुरि न आइ सही यह धूपा।
दो० २७

× × ×

जावँत पंखि कहे सब बैठे भरि अँवराउँ।
आपनि आपनि भाषा लेहि दइअ कर नाउँ। दो० २९

इसमें अमराई का वर्णन तो हुआ है किन्तु साथ ही साधना की उस अवस्था की ओर संकेत भी किया गया है जिसमें पहुँचकर साधक परम शान्ति का अनुभव करने लगता है और फिर सांसारिक सुख की ओर लौटने की उसकी प्रवृत्ति

नहीं होती। यह ब्रह्म के सामीप्य की अवस्था है। इसमें पहुँचकर साधक (पंथी) अपने प्रिय का नाम रटते हुए लौकिक जगत् (धरती) से आध्यात्मिक जगत् (स्वर्ग) की ओर उठने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार का सांकेतिक प्रकृति-वर्णन पद्मावत में भरा पड़ा है।

प्रतीक रूप में समुद्र-वर्णन--हिन्दी साहित्य में समुद्र का जैसा वर्णन पद्मावत में हुआ है वैसा प्रसाद की कामायनी को छोड़ अन्यत्र नहीं हुआ है। शुक्ल जी के अनुसार पद्मावत में 'पुराणों के सात समुद्र' के अनुकरण के कारण समुद्र का वैसा प्रकृतवर्णन होने नही पाया। क्षीर, दधि और सुरा के कारण समुद्र के प्राकृतिक स्वरूप का अच्छा प्रत्यक्षीकरण न हो सका।"[1] इस सम्बन्ध में मेरा निवेदन यह है कि जायसी ने यहाँ समुद्र का वर्णन आलंबन या उद्दीपन रूप में नही बल्कि प्रतीक रूप में किया है। समुद्र के प्राकृतिक स्वरूप का इसी कारण संश्लिष्ट वर्णन नहीं हो सका है। जायसी ने सिंहलदीप को ब्रह्मलोक का प्रतीक माना है और उस लोक तक पहुँचने के मार्ग में भव-जंजाल पड़ते हैं। उन्हीं के प्रतीक के रूप में पद्मावत के सात समुद्र हैं। उस 'भव-सागर' की भयंकर लहरों में डूबने का डर सदैव बना है। कोई विरला ही उसके पार पहुँच पाता है:—

तेहि रे पंथ हम चाहहि गवना। होउ संजूत बहुरि नहिं अवना। दो०१४७

× × ×

दस महं एक जाइ कोइ करम धरम सत नेम।
बोहित पार होइ जौं ता कूसल औ खेम॥ दो०१४८

जायसी के अनुसार क्षीर-समुद्र को सत्य के सहारे, क्षीर-समुद्र को निर्लोभ होकर, दधि-समुद्र को प्रेम के बलपर, उदधि समुद्र को विरह-साधना के सहारे, सुरा-समुद्र को प्रेम में आत्मोत्सर्ग करने की शक्ति से और किलकिला-समुद्र को गुरु की सहायता से पार किया जा सकता है। जो इन छः सागरों को पार कर लेगा वह मानसागर नामक सातवें सागर में पहुँच जायगा जो ब्रह्म-सामीप्य की सिद्धावस्था का प्रतीक है, यथा:—

सतएं समुद मान सर आये। सत जो कीन्ह साहस सिधि पाये।

× × ×

गा अंधियार रैन मसि छूटी। भा भिनुसार किरिन रबि फूटी।

✓ ✓ ✓

१—जायसी-ग्रंथावली—ले० पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ८२।

कँवल विगस तहँ विहँसी देही। भँवर दसन होइ होइ रस लेहीं।
हँसहि हंस और करहिं किरीरा। चुनहिं रतन मुकुताहल हीरा।
जो अस साधि आव तब जोगू। पूजे आस मान रस भोगू॥
भँवर जो मनसा मानसर लीन्ह कँवल रस आइ।
घुन जो हियाव न कै सका झूर काठ तस खाइ॥ दो० १५८

इसमें जायसी ने अपनी प्रतीक-योजना को स्पष्ट कर दिया है। इस प्रकार पद्मावत का समुद्र-वर्णन लौकिक समुद्र का वर्णन नहीं है। वह तो समुद्र के रूप में आध्यात्मिक साधना के मार्ग में पड़ने वाली विघ्न-बाधाओं का वर्णन है। अतः उसमें वास्तविक समुद्र का सश्लिष्ट वर्णन खोजना बेकार है। प्रकृति चित्रण में इस तरह की प्रतीक-योजना पद्मावत में सिंहलगढ़, पद्मावती की जल-क्रीड़ा, अमराई का सौन्दर्य, रतनसेन की यात्रा, पद्मावती के संयोग और नागमती के वियोग आदि के वर्णनों में स्थल-स्थल पर दिखाई पड़ती है। इसी को आलंकारिकों की भाषा में अन्योक्ति और समासोक्ति पद्धति भी कहा जाता है जिसके संबंध में बाद में विचार किया जायगा। आलंकारिकों ने प्राकृतिक पदार्थों में समुद्र, पर्वत, वन, नदी, चन्द्रोदय, सूर्योदय, मध्याह्न, सन्ध्या, रजनी, सरोवर आदि का महाकाव्य में वर्णन करना आवश्यक माना है। इनमें उद्यान, समुद्र, वन, पर्वत आदि का तो पद्मावत में विशद् वर्णन हुआ है पर अन्य प्राकृतिक दृश्यों और वस्तुओं का यत्र-तत्र प्रासंगिक वर्णन ही मिलता है। शास्त्रीय महाकाव्यों की तरह उनमें से प्रत्येक का अलग-अलग विस्तृत वर्णन पद्मावत में नहीं हुआ है।

वस्तु-वर्णन—

वस्तु से हमारा तात्पर्य आलंकारिकों द्वारा निर्दिष्ट वस्तु-व्यापारों—देश, नगर, मृगया, कुमारोदय, यज्ञ, मुनि, स्वर्ग, विवाह, दुर्ग, सेना, स्कंधावार, युद्ध की तैयारी, युद्ध, मद्यपान, मंत्रणा, विजय आदि—से है। प्राचीन आलंकारिकों ने अपने समय तक के महाकाव्यों में पाये जाने वाले वस्तु-वर्णन को देखकर उन वस्तुओं की सूची निर्धारित की थी जिनका वर्णन महाकाव्य के भीतर होना चाहिए। किन्तु उनका यह आशय नहीं था कि उनकी बताई वस्तुओं का वर्णन होना ही नहीं चाहिए। सूची देने में उनका अभिप्राय इतना ही था कि महाकाव्य में इतना वर्णन-वैविध्य होना चाहिए कि युग-जीवन का समग्र चित्र उपस्थित हो सके। उनमें से किसी वस्तु का वर्णन न होने से महाकाव्य दूषित नहीं हो जाता।

इस दृष्टि से देखने पर पद्मावत में वस्तु-वर्णन का वैविध्य और विस्तार दिखाई पड़ता है। उसमें नगर, यात्रा, रण-प्रयाण, मंत्रणा, दूत-प्रेषण, युद्ध, पुत्रोदय, विवाह, जलक्रीडा, विप्रलम्भ, संभोग तथा एक युद्ध में नायक की विजय का विस्तृत वर्णन हुआ है पर स्वर्ग, यज्ञ, मधुपान-गोष्ठी आदि का वर्णन नहीं हुआ है। या तो जायसी अपने साम्प्रदायिक विश्वासों के कारण इनका वर्णन नहीं कर सकते थे या कथा के भीतर इनके लिए अवकाश नहीं था। कुछ वस्तुओं का उल्लेख यत्र तत्र हो गया है उनका विस्तृत वर्णन नहीं किया गया है। कुछ नई वस्तुओ और उत्सवों का, जो आलंकारिकों की सूची में नहीं हैं, पद्मावत में विस्तारपूर्वक वर्णन हुआ है जैसे पनघट, बाजार, पूजा करने जाना और नायक से वहाँ भेंट, सूली को तैयारी, स्त्रियों के उत्सव, राजसी भोज और खाद्यसामग्री, राजदरबार, अन्तःपुर, हाट बाजार, यात्राशकुन, स्त्री-भेद आदि का वर्णन। इस प्रकार के वर्णनों से पद्मावत में एक व्यक्ति के समूचे जीवन के माध्यम से एक युग का समग्र रूप चित्रित हो गया है। पद्मावत के ये वर्णन कथावस्तु में रसात्मकता और सौन्दर्य उत्पन्न करने वाले हैं; संस्कृत के परवर्ती शास्त्रीय महाकाव्यों की तरह केवल वर्णन करने के लिए ही उनका वर्णन नहीं हुआ है। अतः परिगणना तथा शकुन-विचार आदि को छोड कर अन्य वर्णनों से कथा के प्रवाह में बाधा नहीं पड़ती।

ज्ञानोपदेश विषयक वर्णन

काव्य के भीतर ज्ञान, उपदेश और नीति विषयक जानकारी अथवा शास्त्रीय ढङ्ग का पांडित्य-प्रदर्शन करने की परिपाटी सभी देशों के काव्यों में बहुत प्राचीनकाल से दिखाई पड़ती है। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के काव्यों में भी नीति-धर्म विषयक उपदेश और नृत्य, संगीत, वाद्य आदि विषयों का तथ्य-प्रकाशन किया गया है जिसका सीधा प्रभाव हिन्दी के महाकाव्यों—पृथ्वीराजरासो पद्मावत, रामचरितमानस—तथा अन्य परवर्ती प्रबन्धकाव्यों–रामचन्द्रिका आदि पर पडा है। पृथ्वीराजरासो पर विचार करते हुए इस संबंध में तुलनात्मक विवेचना की जा चुकी है। पद्मावत में धर्म, नीति, ज्ञान-विज्ञान, सदाचार, शास्त्रीय अभिज्ञता आदि विषयों से संबधित शुष्क और तथ्यपरक वर्णनों की कमी नहीं है जो कवि के धार्मिक दृष्टिकोण और शास्त्रीय काव्य परंपरा के प्रभाव की देन है। पद्मावत में ऐसे वर्णन ये हैं:—

जीवन की अनित्यता का उपदेश (दोहा ४२), योग पद्धति और सिद्धान्त (दोहा ४३, १२६, २१५, २१६, २३५, २७६) सत्य का माहात्म्य (दोहा ६२, ६३, १५०), प्रेम का माहात्म्य (दोहा १२३, १२४, ३५४),

माया-जाल (१३०, १३२), पानी का महत्व (५२१), शकुन-विचार (१३५), दान की महिमा (१४५, ३८७), धन-लोभ की निन्दा (१२१, ३८६–८८), वृक्ष, फल, फूल, पक्षी आदि का ज्ञान (२८, २६, ३३, ३४, ३५, १८७, १८८, ३१७, ३५८, ४३६, ४३६), स्वप्न-विचार (१६७, १६८), प्रेमियों की सूची (२३३), गर्व की निन्दा (२६६, ३८६), रसायन-विद्या (२६३–६४), राजसी भोज और खाद्य पदार्थों का ज्ञान (२८३–८४–८५, ५४३ से ५५० तक), भूषण वसन तथा सोलह श्रृङ्गार २६६ से २६६), पान-सुपारी आदि का वर्णन (३०८–९), नीति-वर्णन (३११), क्रीडा-भेद (३१-), वस्त्र-भेद (३२६), यात्रा का मुहूर्त विचार (३८२–३८३), स्त्री-भेद (३ ३ से ४६७), अश्व हस्ती भेद (४५, ४६, ४९६–४९७, ५१३–१४), अस्त्र-शस्त्र के भेद (४९९, ५०६, ५१८), नृत्य-वाद्य-संगीत (५२७–२८–२६), खाद्य पशुओं और मछलियों की सूची, (५४१–४२), शतरंज का खेल (४६७), तीर्थ-नामावली (६०३), घूस की निन्दा (६२४)।

इन वर्णनों में अधिकांश छोटे-छोटे हैं किन्तु कुछ वर्णन इतने लम्बे और अनावश्यक हैं कि उनसे कथा-प्रवाह में अवरोध उत्पन्न होता है और पाठक उन्हें पढ़ते-पढ़ते ऊब जाता है।

मनोदशाओं की अभिव्यक्ति

बाह्य परिस्थितियों, घटनाओं और वस्तुओं के विशद वर्णन के अतिरिक्त पद्मावत में मानसिक दशाओं और भावनाओं की अभिव्यक्ति भी ऐसी हुई है कि उससे जीवन का पूर्ण चित्र उपस्थित हो गया है। यद्यपि शान्त रस-समन्वित श्रृंगार-प्रधान काव्य होने के कारण इसमें जीवन की वह व्यापकता नहीं है जिसमें मन की सभी प्रकार की भावनाओं की अभिव्यक्ति का अवकाश रहता है फिर भी शुक्ल जी के शब्दों में "इसके घटनाचक्र के भीतर प्रेम, वियोग, माता की ममता, यात्रा का कष्ट, विपत्ति, आनन्दोत्सव, युद्ध, जय, पराजय आदि के साथ-साथ विश्वासघात, वैर, छल, स्वामिभक्ति, पातिव्रत, वीरता आदि का भी विधान है।"[1] उसमें विभिन्न परिस्थितियों और उनके बीच पात्रों की क्रिया-प्रतिक्रियाओं की जिस प्रकार की योजना हुई है उसमें मानसिक दशाओं की विविधता और बहुरूपता के लिए उतना अवकाश नहीं है जितना उनकी गहराई, सच्चाई और तीव्रता की अभिव्यक्ति के लिए। भावनाओं की मार्मिकता, अनुभूतियों की सच्चाई और प्रभाव की तीव्रता की दृष्टि से जायसी तुलसी के

१—जायसी ग्रन्थावली—पृ० ७१।

उतने निकट नहीं हैं जितने सूरदास के। जायसी ने रूढ़ि-पालन की दृष्टि से सभी रसों के स्थायी भावों, संचारियों अनुभावों आदि की कृत्रिम योजना नहीं की है। उनके कथा-प्रवाह में स्वाभाविक रूप से जो भी ऐसे स्थल आये है जहाँ पात्रों की विविध मनोदशाओं का मार्मिक चित्रण किया जा सकता था, जायसी ने उन स्थलों पर अपनी रसात्मक वृत्ति का पूर्ण परिचय दिया है। इस प्रकार के मर्मस्पर्शी स्थल जहाँ पात्रों की मनोदशाओं की गहरी और स्वाभाविक अभिव्यक्ति हुई है, पद्मावत में अनेक हैं किन्तु उनमें से अधिकांश में रति-भाव की ही व्यंजना हुई है। प्रेम के भीतर भी जायसी ने वियोगपक्ष का जितना मार्मिक उद्घाटन किया है उतना सयोग-पक्ष का नहीं। विरह की विविध दशाओं में मन की परिवर्तनशील अन्तर्दशाओं की रस धारा पद्मावत में आदि से अन्त तक प्रवाहित हुई है। विवाह के पूर्व पद्मावती के हृदय में पूर्वराग-जन्य अज्ञात वेदना की जो ज्वाला उठती है, वह शीघ्र ही पूर्णतया अभिभूत कर लेती है। उस समय जायसी ने उसकी मनोदशा का बड़ा ही रसमय वर्णन किया है, उसमें परम्पराभुक्त वर्णन-शैली प्रयुक्त हुई है :—

नींद न परै रैनि जौ आवा। सेज केंवाछ जानु कोई लावा।
दहै चाँद और चन्दन चीरू। दगध करै तन विरह गँभीरू।
कलप समान रैन हठि बाढ़ो। तिल तिल भरि जुग-जुग बर गाढ़ी।
गहे बीन मकु रैनि बिहाई। ससि बाहन तब रहै ओनाई।
पुनि धनि सिंह उरेहै लागै। ऐसी बिथा रैनि सब जागै। दो० १६८

वियोग में निराशा की स्थिति समाप्त हो जाने पर पद्मावती को उसकी सखियाँ विवाह के लिए आये हुए रतनसेन का दर्शन कराती हैं, वर को देख कर उसके हृदय की जो स्थिति हो जाती है और उसके जो अनुमान होते हैं उनका अतिशयोक्तिपूर्ण किन्तु मनोवैज्ञानिक वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है :—

हुलसै नैन दरस मद माँते। हुलसे अधर रंग रस राते।
हुलसा वदन ओप रवि आई। हुलसि हिया कुंचुकि न समाई।
हुलसे कुच कसनी बँद टूटे। हुलसी भुजा वलय कर फूटे॥

× × ×

अंग अंग सब हुलसे कोउ कतहूँ न समाई।
ठांवहि ठांव विमोहा गइ मुरुछा गति आई॥ दो० २८०

इसी प्रकार की मर्मस्पर्शी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति नागमती के वियोग वर्णन के प्रसंग में बहुत अधिक हुई है शोक और उत्साह की भावना पद्मावत में रति-भावना के साथ इस तरह घुली मिली है कि उसका स्पष्ट रूप दिखलाई

नहीं पड़ता किन्तु इस काव्य का समग्र प्रभाव निर्वेदमूलक ही है क्योंकि यह शान्त रस-पर्यवसायी है। पद्मावत की रसवत्ता के विषय में बाद में विशेष रूप से विचार किया जायगा। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि उसमें विविध मनोदशाओं की ऐसी अभिव्यक्ति हुई है कि जीवन का समग्र रूप चित्रित हो गया है। इस प्रकार पद्मावत में घटना-विस्तार, रूप-चित्रण, प्रकृति-चित्रण, वस्तु-वर्णन और मनोदशाओं की अभिव्यक्ति की इस प्रकार योजना हुई है कि उसमें जीवन व्यापारों को महाकाव्योचित विविधता और युग-जीवन की समग्रता के दर्शन होते हैं।

४—सुसंघटित और जीवन्त कथानक

पद्मावत में नायक और नायिका, दोनों के जीवन को समान महत्त्व दिया गया है। परिणामस्वरूप उसमें दोनों ही के जन्म से लेकर मृत्यु तक का संपूर्ण जीवन-वृत्त वर्णित है। उसकी कथा में जीवनव्यापी कार्यों, संघर्षों और परि-स्थितियों का चित्रण हुआ है जिससे उसके कथानक में महाकाव्योचित विस्तार दिखाई पड़ता है यद्यपि यह विस्तार महाभारत, रामायण, रघुवंश, महापुराण, रामचरित मानस आदि विशालकाय महाकाव्यों के कथानकों जैसा नहीं है। उसके कथानक में अनेक ऐसे मोड़ आते हैं जिनके कारण कथा का समुचित विस्तार हुआ है। किसी कथा में जितने ही अधिक जीवन के मोड़ होते हैं, उसमें उतनी ही जीवन्तता और प्रवाह होता है। पद्मावत के कथानक में इतने अधिक मोड़ों के कारण स्वाभाविक गति है। अरस्तू ने महाकाव्य के कथानक में जीवन्तता की व्याख्या करते हुए कहा है कि उसमें आदि, मध्य और अन्त यानी उसके सब अंगों का समानुपातिक विकास होना चाहिए। इस दृष्टि से देखने पर पद्मावत में कथानक का समानुपातिक विकास क्रम मिलता है। उसमें प्रारम्भ से पद्मिनी-विवाह तक की घटनाएँ कथा के आदि भाग में हैं, विवाह से राघवचेतन के देश-निकाला तक की घटनाएँ मध्य भाग में हैं और उसके बाद की कथा अन्त के रूप में है; अर्थात् प्रारम्भ से २८७वें दोहे तक पद्मावत का आदि भाग, उसके बाद ४२६वें दोहे तक मध्य भाग और अन्तिम दोहे (६५३) तक अन्तिम भाग है। इस तरह उसके मध्य और अन्त के भाग तो बराबर हैं किन्तु आदि भाग कुछ बड़ा है। आदि भाग में कथानक के पूर्वार्द्ध की अधिकांश कथा है जिसमें रोमांचकता अधिक है। इसी कारण वह अपेक्षाकृत लम्बा हो गया है।

नाटकीय संधियाँ और कार्यावस्थाएँ—कथा में आदि, मध्य और अन्त की योजना निर्धारित करने में अरस्तू का अभिप्राय यही था कि कथानक में

कार्यान्विति होनी चाहिए अर्थात् पूरी कथा में एक इकाई होनी चाहिए। भारतीय आचार्यों की दृष्टि भी इस ओर गयी थी और उन्होंने भी यह नियम निर्धारित किया कि कथानक को सुसंघटित और श्रृंखलित बनाने के लिए उसमें नाटक की पाँच संधियों की योजना होनी चाहिये। नाटकीय सन्धियाँ और कार्य की अवस्थाओं की दृष्टि से देखने पर पद्मावत का कथानक खरा नहीं उतरता। कारण यह है कि जायसी ने पद्मावत में दो भिन्न कथाओं को एक में जोड़ा है किन्तु जुड़कर भी दोनो कथाएँ भिन्न-भिन्न प्रतीत होती हैं। पहली कथा का उद्देश्य नायक रत्नसेन द्वारा पद्मावती की प्राप्ति है और उसके लिये प्रारम्भ, प्रयत्न; प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागमन इन पाँचों कार्यावस्थाओं तथा मुख, प्रतिमुख आदि पाँच संधियों की सम्यक् योजना हुई है। इस कथा में नायक को फल (पद्मावती) की प्राप्ति हो जाती है। इस तरह पद्मावत के पूर्वार्द्ध की कथा अपने आपमें पूर्ण और स्वतन्त्र जैसी लगती है। किन्तु उत्तरार्द्ध की कथा, जो राघवचेतन के देश निकाले से प्रारम्भ होती है, नाटक की सभी कार्यावस्थाओं से युक्त नहीं है। उसमें प्रारम्भ, प्रयत्न और प्राप्त्याशा की योजना तो हुई है किन्तु अन्त में नियताप्ति और फलागम न होकर निगत और अवसान नामक पाश्चात्य ढङ्ग की कार्यावस्थाएँ दिखलाई पड़ती हैं। पहली कथा में नायक की विजय होती है और दूसरी में पराजय। दोनों कथाओं को एक में मिलाने पर फलागम या कार्य की सिद्धि नायक के पक्ष में नहीं होती। यदि अन्त में देवपाल और अलाउद्दीन दोनों को पराजित कर रतनसेन पद्मावती के साथ सुख-भोग करता हुआ जीवनयापन करता तो पहली कथा भी दूसरी कथा के फलागम में योग देनेवाली बनकर उसमें घुल मिल जाती। किन्तु जायसी संभवतः इतिहास में इतना अधिक तोड़-मरोड़ नहीं करना चाहते थे। साथ ही उन्होंने आलंकारिकों द्वारा निर्दिष्ट महाकाव्य के लक्षणों को पढ़कर पद्मावत की रचना नहीं की है। इससे नाटकीय सधियों और कार्यावस्थाओं की योजना उसमें पूर्ण रूप में नहीं मिलती। किन्तु इस सम्बन्ध में एक बात ध्यान देने की है कि संधियों, कार्यावस्थाओं और अर्थप्रकृतियों का विभाजन सुखान्त नाटकों की दृष्टि में रखकर ही हुआ है। अतः उन्हें महाकाव्य में खोजते समय भी यह अवश्य देखना होगा कि महाकाव्य सुखान्त है या दुःखान्त। दूसरी बात यह है कि नाटकीय सन्धियाँ शास्त्रीय महाकाव्यों में ही मिलती हैं, महाभारत जैसे विकसनशील महाकाव्यों और परवर्ती चरितकाव्यों में उनकी योजना नही मिलती। नाटकों की तरह शास्त्रीय महाकाव्यों में एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों के जीवन की कुछ चुनी हुई

घटनाएँ वर्णित होती हैं जब कि चरितकाव्यों और विकसनशील महाकाव्यों में एक या अनेक व्यक्तियों के जीवन से सम्बन्धित प्रायः सभी घटनाएँ दे दी जाती हैं। ऐसे काव्यों में नाटकीय संधियों की पूर्ण योजना सम्भव नहीं है। पद्मावत भी रतनसेन और पद्मिनी के जीवन का पूर्ण चित्र प्रस्तुत करता है और साथ ही उसकी कथा दुःखान्त है। इन दोनों कारणों से उसमें नाटकीय सन्धियों का विधान-पूर्ण रूप में नहीं दिखाई पड़ता।

किन्तु सभी नाटकीय संधियों की योजना न होने पर भी उसका कथानक त्रुटिपूर्ण नहीं है। जैसा पहले कहा जा चुका है, उसमें विकास क्रम तथा आदि, मध्य और अन्त की व्यवस्था है अर्थात् वह पूर्णतया सुसंघटित और शृंखलित हैं। इतिहास-पुराण और कथा-अख्यायिका में अनेक कथाएँ जिस तरह एक दूसरे के समानान्तर या एक के भीतर दूसरी मिलकर, चलती है, वैसा पद्मावत में नहीं हुआ है। उसमें प्रधानतया एक ही आधिकारिक कथा है जो रतनसेन और पद्मिनी के सम्पूर्ण जीवनवृत्त को लेकर निर्मित हुई है और जिसमें कुछ इनी-गिनी और अति लघु प्रासंगिक कथाओं की भी योजना हुई है, जैसे हीरामन सुए का वृत्तान्त, राघवचेतन का वृत्तान्त और देवपाल-दूती तथा अलाउद्दीन की वेश्या-दूती का प्रसंग। ये सभी प्रासंगिक कथाएँ अपने आप में स्वतन्त्र नहीं हैं। वे आधिकारिक कथा के प्रवाह में योग देने के लिए सयोजित हुई हैं और उनके नायक आधिकारिक कथा के महत्वपूर्ण पात्र भी हैं जो कथा की गति को मोड़ने में अनेक स्थलों पर सहायक हुए हैं। पद्मावत में अवान्तर कथा एक भी नहीं है जैसी पुराण, कथा, आख्यायिका आदि में होती हैं। इस प्रकार आधिकारिक कथा कहीं भी बिखरी नहीं हैं, कहीं कहीं अनावश्यक इतिवृत्तात्मक या तथ्यात्मक विवरणों से उसके प्रवाह में अवरोध अवश्य उत्पन्न होता है, पर ऐसे स्थल अधिक नहीं है।

कार्यान्विति—इस प्रकार पद्मावत के कथानक को नाटकीय सन्धियों और भारतीय ढग के कार्य की अवस्थाओं की कसौटी पर कसना उचित नहीं है। यदि अरस्तू के अनुसार 'कार्यान्विति' के सिद्धान्त और पाश्चात्य ढङ्ग की कार्य की अवस्थाओं की दृष्टि से देखें तो उसका कथानक खराब उतरता है। अरस्तू ने लिखा है कि कथानक चाहे एक व्यक्ति के समूचे जीवन वृत्त पर आधारित हो या एक ही समय के अनेक व्यक्तियों का जीवन-कथा से सम्बन्धित हो, पर उसे ऐसा होना चाहिए कि वह एक शृङ्खलित और समन्वित कथा प्रतीत हो। इसके लिए घटनाओं का समुचित चुनाव और कलात्मक सयोजन करना पड़ता है जिसके कारण प्रत्येक घटना अगली घटना के कारण के रूप में दिखलाई

पड़ती है, अर्थात् सम्बन्धित घटनाओं में कार्य-कारण का सम्बन्ध होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसी को प्रबन्धकाव्य का सम्बन्ध-निर्वाह कहा है।[1] पद्मावत में सभी घटनाएँ और प्रसंग एक दूसरे से इसी तरह के कार्य कारण की शृङ्खला में बँधे हैं। उसमें कोई भी घटना कथा की दृष्टि से अनावश्यक नहीं है। उदाहरणार्थ पद्मावती का जलक्रीड़ा-वर्णन यद्यपि महाकाव्यों की रूढ़ि का पालन करने के लिए लिखा गया है पर उसका भी कथा से सम्बन्ध है क्योंकि उसी समय पद्मावती की अनुपस्थिति का लाभ उठाकर हीरामन सुआ पिंजड़े से भाग जाता है और इस तरह कथा आगे बढ़ जाती है। इसी तरह पद्मावत की प्रत्येक घटना कथा-प्रवाह में किसी न किसी प्रकार का योग देती है। उसमें नायक नायिका के जीवन की ऐसी घटनाएँ नहीं ली गयी हैं जिनसे प्रधान जीवन-कथा का दूर का या अप्रत्यक्ष सम्बन्ध हो। फलस्वरूप इस महाकाव्य का कथानक पृथ्वीराजरासो या आल्हाखण्ड के कथानकों की तरह का नहीं है जिनमें भिन्न भिन्न कथाएँ एक साथ नायक के जीवन से सम्बन्धित होने के कारण जोड़ दी गयी हैं। इससे पद्मावत का कथानक कलात्मक, सुसं-घटित और अन्वितियुक्त है।

कथानक उत्पाद्य, अनुत्पाद्य और मिश्र तीन प्रकार का होता है। रुद्रट के अनुसार अनुत्पाद्य कथानक में भी कवि इतिहास-पुराण की घटनाओं के अस्थि-पिंजर में अपनी ओर से रक्त मांस की तरह बहुत बातें मिला देता है। पद्मावत की कथा के मूल उत्स के संबंध में विचार करते समय हम देख चुके हैं कि उसका कथानक अनुत्पाद्य ढंग का है अर्थात् वह प्रख्यात कथा 'हीरामन सुआ और पद्मिनी रानी' तथा इतिहास की प्रख्यात घटना—अलाउद्दीन और रत्नसिंह के युद्ध—पर आधारित है। किंतु कवि ने इन दोनों वृत्तों को एक में मिलाकर उसमें कलात्मकता और रसमयता लाने के लिए अपनी ओर से बहुत सी बातें जोड़ दी हैं जिससे वह मिश्र कथानक की कोटि में आता है। कथा की गति को आगे बढ़ाने तथा उसमें मोड़ लाने के लिए लोककथाओं में तथा कवि-परंपरा में जिन अभिप्रायों का चिरकाल से प्रयोग होता आया है, जायसी ने पद्मावत में उनका उपयोग अपनी आवश्यकता के अनुसार किया है यद्यपि उसमें उनकी संख्या बहुत अधिक नहीं है।

कथानकरूढ़ियाँ—पद्मावत में निम्नलिखित कथानकरूढ़ियों का प्रयोग हुआ है:—

---

१ जायसी-ग्रन्थावली—ले० पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ७२

१—शास्त्रज्ञ और मानव-भाषा-भाषी शुक—हीरामन तोता।

२—संदेश-वाहक पक्षी—हीरामन तोता तथा नागमती का संदेश ले जाने वाला पक्षी।

३—अलौकिक शक्तियों की सहायता—शिव-पार्वती द्वारा रतनसेन को सहायता, समुद्र और लक्ष्मी द्वारा नायक-नायिका की रक्षा।

४—जादू-टोना और मंत्र तंत्र, सिद्धि-गुटिका की सहायता से सिंहलगढ़ की चढ़ाई, राघवचेतन का यक्षिणी-सिद्धि के बल पर दूज का चाँद दिखाना।

५—सिंहल-यात्रा और सिंहल की कन्या से विवाह।

६—समुद्र में जहाज डूबना और काष्ठ फलक के सहारे जीवन-रक्षा।

७—रूप परिवर्तन—शिव पार्वती और समुद्र का रूप बदल कर आना।

८—प्रबन्ध-युद्ध—अलाउद्दीन और रतनसेन के युद्ध के प्रसंग में।

९—बारहमासा—नागमती का विरह-वर्णन।

१०—मन्दिर, सरोवर-तट या आश्रम में नायक-नायिका का प्रथम साक्षात्कार—शिव-मन्दिर में पद्मिनी और रतनसेन का साक्षात्कार।

११—रूप-गुण-श्रवणजन्य प्रेम—रतनसेन का पद्मावती के लिए। अलाउद्दीन का पद्मावती के प्रति।

१२—स्वप्न-विचार—पद्मावती का मन्दिर से पूजा करके लौटने के बाद चन्द्र-सूर्य-मिलन का स्वप्न देखना और सखियों द्वारा उसका अर्थ बताया जाना।

५—महत्त्वपूर्ण नायक तथा अन्य चरित्र—किसी काव्य का महाकाव्यत्व इस बात पर बहुत अधिक निर्भर करता है कि उसके नायक में महाकाव्योचित महानता है या नहीं अथवा वह सामान्य काव्यों के नायकों से किसी अर्थ में अधिक महत्त्वपूर्ण है या नहीं। भारतीय आलंकारिकों ने अपने युग के अनुरूप यह लक्षण निर्धारित किया था कि महाकाव्य के नायक को धीरोदात्त नायक के गुणों से सम्पन्न, सदाशय, सद्वंश क्षत्रिय, द्विज कुलोत्पन्न या देवता होना चाहिये। इसका अभिप्राय यह है कि भारतीय प्रवृत्ति साहित्य में आदर्श चरित्रों की अवतारणा की ओर विशेष थी और आदर्श चरित्र की कल्पना भी यह थी कि धीरोदात्त वीर चरित्र की उत्पत्ति द्विज वर्णों में या देवकुल में ही हो सकती है। महाकाव्य के अन्य चरित्रों के लिए आलंकारिकों ने कोई लक्षण नहीं निर्धारित किया है। इस दृष्टि से देखने पर पद्मावत का नायक रतनसेन महाकाव्योचित नायक सिद्ध होता है। नायक के सामान्य गुणों की व्याख्या करते हुए वाग्भट्ट ने

लिखा है कि उसमें बुद्धि, उत्साह, स्मृति, प्रज्ञा, शौर्य, औदार्य, गाम्भीर्य, धैर्य, स्थैर्य, माधुर्य, कला-कुशलता, विनय, नीरोगत्व, शुचिता, स्वाभिमान, प्रियवादिता, जनानुरागिता, वाग्मिता, महावंशत्व, दृढता, तत्त्वशास्त्रज्ञत्व, अग्राम्यता, सौभाग्य आदि विशेषताएँ होनी चाहिएँ।[1] तात्पर्य यह कि नायक में संसार के सब गुण होने चाहिये। रुद्रट के अनुसार नायक में कुलीनता, रति-चातुरी, रूप-सौन्दर्य, अग्राम्यता, स्वभाव की स्थिरता, सौभाग्य, कला-कुशलता, तारुण्य, त्याग, प्रियवादिता, दक्षता आदि गुण होने चाहिये।[2] विश्वनाथ कविराज के अनुसार नायक को त्यागी, कृती, कुलीन, श्रीमान्, रूपयौवनोत्साही, दक्ष, लोकानुरक्त, तेजस्वी, विदग्ध और शीलवान होना चाहिये।[3] आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट इन गुणों में से अधिकांश रतनसेन के चरित्र में दिखलाई पड़ते हैं। विश्वनाथ के अनुसार धीरोदात्त नायक का लक्षण यह है कि उसे अपनी प्रशंसा न करने वाला, क्षमाशील, अतिगंभीर, स्थिरप्रकृति, महासत्त्व विनय से प्रच्छन्न, गर्व रखने वाला और दृढ़ निश्चयी होना चाहिये।[4] पद्मावत का रतनसेन इस दृष्टि से धीरोदात्त नायक है क्योंकि वह दृढ़प्रतिज्ञ, त्यागी, विनयी, स्वाभिमानी, क्षमाशील, गभीर और स्थिर स्वभाव वाला है। फिर भी उसमें इन गुणों का पूर्ण विकास नहीं हुआ है और न उनका रतनसेन के जीवन पर इतना व्यापक प्रभाव और परिणाम ही दिखाया गया है कि उसके चरित्र को प्रत्येक दृष्टि से आदर्श चरित माना जा सके। धीरोदात्त नायक का जो आदर्श राम, युधिष्ठिर, विक्रमादित्य आदि उपस्थित करते हैं उसकी ऊँचाई तक जायसी अपने नायक को नहीं उठा सके हैं।

किन्तु वस्तुतः जिस दृष्टि से महाकाव्य के नायक के लक्षणों का निर्देश आलंकारिकों ने किया था, जायसी का ध्यान उस ओर गया ही नहीं है अथवा जायसी की दृष्टि ही आलंकारिकों की दृष्टि से भिन्न है। आलंरिकों की दृष्टि उस सामंती आदर्शवाद की दृष्टि थी जिसके अनुसार राजकुल और उच्चवर्ग के लोग ही आदर्श चरित्र वाले हो सकते हैं, क्योंकि राजनीति, धर्म, समाज, सभी क्षेत्रों में अपनी विशिष्टता सिद्ध करने का अवसर उन्हीं को मिल पाता था। इस प्रकार संस्कृत के महाकाव्यों के नायक सामंती युग के

१—काव्यानुशासन, ले० वाग्भट्ट, अध्याय ५, नायक-प्रकरण।

२—काव्यालंकार, ले० रुद्रट, अध्याय १२, श्लोक ७–८।

३—साहित्यदर्पण—ले० विश्वनाथ कविराज, अध्याय ३, श्लोक ३०।

४—वही, अध्याय ३, श्लोक ३२।

प्रतीक या प्रतिनिधि व्यक्ति होते थे जिनका जीवन प्रत्येक क्षेत्र में आदर्श माना जाता था। जायसी का नायक मद्वंश क्षत्रिय और राजा होते हुए भी राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र में कोई आदर्श नहीं स्थापित करता। इसके विपरीत राज-नीति में उससे अधिक दक्ष उसके सरदार गोरा-बादल हैं जो उसे अलाउद्दीन की चाल से सावधान करते हैं, पर वह अपनी अदूरदर्शिता या हृदय की सरलता के कारण उनकी बात न मान कर बन्दी बनता है। जायसी ने रतनसेन को आदर्श राजा से अधिक सामान्य मानव के रूप में चित्रित किया है। सामान्य या वर्ग-निर्विशेष मानव में सभी गुण पुंजीभूत होकर अपने चरमोत्कृष्ट रूप में कभी नहीं दिखाई देते। रतनसेन में धीरोदात्त नायक के अधिकांश गुण हैं पर उनमें से चरमोत्कर्ष कुछ का ही हुआ है। साथ ही उसमें कुछ मानव सुलभ दुर्गुण जैसे द्रव्य-लोभ, रूप-लाभ धन का गर्व, अदूरदर्शिता, उतावली आदि भी हैं। इस प्रकार रतनसेन धीरोदात्त गुणों से समन्वित होते हुए भी वैसा आदर्श महापुरुष नहीं है जैसे रामचरितमानस के राम हैं।

इस विवेचन का यह तात्पर्य नहीं कि पद्मावत यथार्थवाद पर आधारित महाकाव्य है। उसमें भी आदर्शवाद है पर उसका आदर्श सर्वांगीण नहीं है अर्थात् केवल प्रेम के क्षेत्र में जायसी ने अपने आदर्शवाद की प्रतिष्ठा की है और रतनसेन का चरित्र आदर्श प्रेमी के रूप में चित्रित किया है। अतः शुक्ल जी का यह कथन सही प्रतीत होता है कि पद्मावत में हम न तो किसी व्यक्ति के ही स्वभाव का ऐसा प्रदर्शन पाते हैं जिसमें कोई व्यक्तिगत विलक्षणता पूर्ण रूप में लक्षित होती हो, और न किसी वर्ग या समुदाय की ही विशेषताओं का विस्तृत प्रत्यक्षीकरण हमें मिलता है। मनुष्य प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण का प्रमाण हमें जायसी के प्रबन्ध के भीतर नहीं मिलता।"[1] इसका कारण यही है कि पद्मावत की चरित्र-योजना न तो आदर्शवाद पर आधारित है और न यथार्थवाद पर। आदर्शवाद पर आधारित होने पर उसमें आलंकारिकों की कल्पना के अनुरूप मध्यकालीन सामंती आदर्श चरित्र की अवतारणा हुई होती और रतनसेन को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आदर्श पुरुष या महापुरुष के रूप में चित्रित किया गया होता। यथार्थवाद पर आधारित होने पर उसमें शुक्ल जी की मान्यता के अनुरूप रतनसेन की वैयक्तिक, जातिगत या सामान्य मानवीय विशेषताओं को चित्रित किया जाता। किन्तु जायसी के रतनसेन न तो

१—जायसी-ग्रंथावली—संपादक रामचन्द्र शुक्ल, पंचम संस्करण, भूमिका पृ० १२०।

सामाजिक आदर्शवाद के प्रतीक हैं न यथार्थ मानव के ही प्रतिनिधि। वस्तुतः वे जायसी के आध्यात्मिक प्रेम के क्षेत्र के आदर्श प्रेमी के प्रतीक हैं। न तो पद्मावत की प्रेम-पद्धति सामान्य प्रेम-पद्धति है और न उसका नायक ही सामान्य प्रेमी है। भारतीय आलंकारिकों के लक्षणों के अनुसार वह आदर्श प्रेमी (धीरललितनायक) भी नहीं है। विश्वनाथ कविराज के अनुसार धीरललित नायक निश्चिन्त, अति कोमल स्वभाव वाला और सदा नृत्य गीतादि कलाओं में लीन रहने वाला होता है। रतनसेन आदर्श प्रेमी होता हुआ भी रत्नावली या स्वप्नवासवदत्ता के उदयन की तरह निश्चिन्त होकर अपने महल में विलास करने वाला राजा नहीं है। वह जिस तरह प्रेम में अपना राज्य धन और परिवार त्याग कर असीम कष्टों का सामना करता हुआ अपने प्रिय को प्राप्त करता है उसी तरह स्वाभिमान और कुल-मर्यादा की रक्षा के लिए अला-उद्दीन के घृणित प्रस्ताव को ठुकरा कर उससे युद्ध भी कर सकता है और अपनी पत्नी के अपमान का बदला लेने के लिए देवपाल से युद्ध कर उसे मार कर स्वयं मर भी सकता है। इस तरह यह धीरललित नायकों की तरह का प्रेमी नहीं है।

यहाँ एक बात और ध्यान देने की है कि पद्मावत का नायक रतनसेन फारसी-प्रेमाख्यान काव्यों के आदर्श-प्रेमी नायकों से सर्वथा भिन्न प्रकार का है और हिन्दी के अन्य प्रेमाख्यानक काव्यों के नायकों से भी उसकी चरित्रगत भिन्नता स्पष्ट दिखाई पड़ती है। प्रेम-मार्ग के कष्टों को झेल कर प्रिय को प्राप्त करने या उसी मार्ग में जीवन समाप्त कर देने का आदर्श 'प्लेटानिक लव' कहलाता है जो सूफी काव्यों में मिलता है। जीवन के अन्य पक्षों पर उस प्रेम का क्या प्रभाव पड़ता है या प्रेम-क्षेत्र के साथ ही जीवन के अन्य क्षेत्रों में नायक अपना उत्तरदायित्व किस प्रकार पूरा करता है, इसका चित्रण सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों में नहीं हुआ है। पद्मावत में प्रेम के क्षेत्र के अतिरिक्त राजनीति और वीरता की भावना के क्षेत्र में भी नायक के चरित्र का विकास दिखाया गया है। यह अवश्य है कि इन क्षेत्रों में काम करता हुआ भी नायक को प्रेमी स्वरूप ही प्रधान रहता है। इस तरह रतनसेन का चरित्र वस्तुतः प्रतीकात्मक चरित्र है जिसमें प्रेम-मार्ग में सफलता प्राप्त करने के प्रयत्न और सफलता के बाद जीवन-संघर्षों के बीच, प्रेम के आदर्शों की रक्षा के लिए आदर्श प्रेमी के आत्मोत्सर्ग का चरमोत्कृष्ट रूप चित्रित हुआ है। अरस्तू के अनुसार नायक तीन प्रकार के होते हैं:—आदर्श, यथार्थ या कल्पित। किन्तु पद्मावत का नायक इनमें से एक प्रकार का भी नहीं है। यदि इस प्रकार के

प्रतीकात्मक काव्य अरस्तू के समय में लिखे गये होते तो अवश्य उनमें एक चौथे प्रकार के प्रतीकात्मक नायक का निर्देश किया गया होता। सब मिला कर देखने पर प्रतीत होता है कि रतनसेन यद्यपि एक आदर्श महापुरुष के रूप में नहीं चित्रित हुआ है फिर भी आदर्श प्रेम, त्याग और बलिदान की दृष्टि से उसका चरित्र महान है और अनेक दृष्टियों से वह इतना महत्त्वपूर्ण है कि उसके परिणामस्वरूप पद्मावत महाकाव्य-पद का अधिकारी है।

पद्मावत के अन्य चरित्रों में पद्मावती, नागमती, हीरामन तोता, अलाउद्दीन और राघवचेतन प्रमुख हैं। इनमें हीरामन तोता तो मानव पात्र नहीं, बल्कि अप्राकृत शक्तिवाला पक्षी है, किन्तु शेष सभी पात्र मानव के रूप में चित्रित किये गये हैं। इन पात्रों का चरित्र भी प्रधान तथा प्रतीकात्मक ही है। स्वाभाविकता की दृष्टि से देखने पर इनमें नागमती आदर्श भारतीय पत्नी के रूप में और पद्मावती आदर्श भारतीय प्रेमिका के रूप में दिखलाई पड़ती है। भारतीय वातावरण के अनुरूप ही पद्मावत में इन दोनों स्त्रियों का चरित्र चित्रित किया गया है। जिस तरह उदयन अपनी प्रथम पत्नी वासवदत्ता के रहते हुए भी स्वप्नवासवदत्ता नाटक में पद्मावती से और रत्नावली नाटिका में सागरिका (रत्नावली) से प्रेम करने के बाद विवाह करता है, उसी से मिलती-जुलती स्थिति पद्मावत की भी है। 'रत्नावली' में नायिका रत्नावली उदयन को देखकर उस पर मुग्ध होती है। उसी का प्रेम उस नाटिका में प्रधान है। उसके प्रति उदयन का प्रेम तो बाद में उदित होता है। इसके विपरीत पद्मावत में नायक रतनसेन का प्रेम रूप-गुण-श्रवण द्वारा उत्पन्न होता है और नायक का ही प्रेम प्रमुख और अधिक तीव्र है, नायिका पद्मावती का नहीं। फिर भी फारसी प्रेमाख्यानक काव्यों की तरह पद्मावत में रतनसेन का प्रेम एकांकी नहीं है, इसमें नायिका भी उससे उसी तरह प्रेम करती है और उसमें भी 'पूर्वराग' का उदय कवि ने दिखाया है। इस तरह नागमती और पद्मावती दोनों ही मूलतः भारतीय नारी का प्रतिनिधित्व करती हैं। किन्तु उनके चरित्रों में भी उनकी वैयक्तिक विशेषताएँ प्रस्फुटित नहीं हुई हैं, वे 'टाइप' अधिक प्रतीत होती हैं, व्यक्ति कम। नागमती भारतीय पत्नी का प्रतिनिधित्व करती है और पद्मावती भारतीय प्रेमिका का। प्रेम के क्षेत्र के अतिरिक्त जीवन के अन्य क्षेत्रों में इनके कार्यों और मानसिक क्रिया-प्रतिक्रिया का कवि ने बहुत कम चित्रण किया है। पद्मावती के जीवन में विवाहोपरान्त अवश्य ऐसी परिस्थितियाँ उपस्थित होती हैं जिनमें वह अपने पत्नीत्व और पातिव्रत्य का प्रदर्शन करती तथा अपनी व्यवहार-कुशलता, दान-दाक्षिण्य, उत्साह, नीतिमत्ता, बुद्धिमत्ता विनयशीलता

आदि गुणों का परिचय देती है और अन्त में चिता पर पति के साथ जल कर आत्मसम्मान और प्रेम के यज्ञ में पूर्णाहुति भी कर देती है। नागमती में प्रेम की उत्कृष्टता और तीव्रता तो बहुत है पर उसमें रूप का गर्व, ईर्ष्या आदि दोष भी हैं जो सामान्य स्त्री के लिए बहुत स्वाभाविक हैं। पति के साथ सती होकर वह भी अपने धर्म का पालन करती है। अलाउद्दीन और राघवचेतन काव्य के असत्पक्ष का प्रतिनिधित्व करते हैं। दुष्टता, लोभ, वासना अन्याय, अहम्मान्यता, छल-कपट आदि दुर्गुणों और पापों के आश्रय दुष्ट मनुष्य इस संसार में सदा रहते है और सज्जनों और सत्य-पथ पर चलने वालों के मार्ग में वे सदा अवरोध उत्पन्न करते रहते है। अलाउद्दीन, राघवचेतन और देवपाल इसी वर्ग के लोगों का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनके स्वभाव की भी वैयक्तिक विशेषताएँ नहीं उद्घाटित की गयी है और उनके अशुभ कर्मों का अशुभ परिणाम दिखाकर उनके आचरण को निन्द्य ही ठहराया गया है।

इस प्रकार पद्मावत के पात्रों का चरित्र-विवेचन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जायसी का उद्देश्य इस काव्य में महान या आदर्श चरित्रों की स्थापना करके उनके शुभ कर्मों का शुभ परिणाम दिखाना नहीं है और न प्रतिनायक और उसके सहायकों को अत्याचारी और अन्यायी दिखा कर उनके अशुभ कर्मों का अशुभ परिणाम दिखाना ही उनका लक्ष्य है। उनका उद्देश्य विविध प्रकार के व्यक्तियों की स्वभावगत वैयक्तिक विशेषताओं का उद्घाटन करके मनोवैज्ञानिक और यथार्थवादी आध्यात्मिक प्रेम-पंथ पर साधक की आत्मा का प्रयाण, उसकी सफलता और मार्ग के अवरोधों का चित्रण करना है। इसके लिए कवि ने अपने पात्रों को अपनी कार्य-सिद्धि का साधन बनाया है अर्थात् पद्मावत के सभी प्रमुख पात्र आदर्श या यथार्थ नहीं बल्कि प्रतीकात्मक पात्र हैं। इस दृष्टि से उनमें राष्ट्रीय, सामाजिक, जातिगत, वर्गगत या वैयक्तिक विशेषताओं और गुणों को ढूँढ़ना बेकार है। पद्मावत में लौकिक प्रेम-कथा की आड़ में आध्यात्मिक प्रेम-कथा कही गयी है और इसीसे उसके पात्र लौकिक व्यक्ति होते हुए भी प्रतीकात्मक हैं। अतः उनके व्यक्तित्व का सौन्दर्य, चमत्कार और वशिष्ठ्य उन्हें लौकिक मानव के रूप में देखने पर नहीं उद्घाटित हो सकता। वे वस्तुतः किसके प्रतीक हैं, इस बात को समझ लेने पर ही उनके चरित्र का सही मूल्यांकन होगा। पद्मावत के चरित्र-चित्रण की शैली प्रतीकात्मक है, अतः शैली के संबंध में विचार करते समय आगे इस शैली की विशेषताओं की व्याख्या की जायगी।

६—गरिमामयी उदात्त शैली

पद्‌मावत की शैली की परीक्षा आलंकारिकों द्वारा निर्दिष्ट महाकाव्य के लक्षणों से नहीं हो सकती, क्योंकि वे लक्षण संस्कृत के शास्त्रीय महाकाव्यों को आदर्श मानकर निर्मित हुये थे और पद्‌मावत अपभ्रंश के रोमांचक चरितकाव्यों की परम्परा में आता है। दूसरी बात यह है कि संस्कृत में ऐसा कोई भी शास्त्रीय महाकाव्य नहीं है जिसमें पद्‌मावत की तरह की प्रतीकात्मक शैली अपनायी गयी हो। आलंकारिकों ने महाकाव्य का पहला लक्षण तो यही बताया है कि उसे सर्गबद्ध होना चाहिये। पद्‌मावत के पूर्ववर्ती प्रकाशित संस्करणों में कथा ५८ खण्डों में विभक्त है। इसी विभाजन के आधार पर शुक्ल जी प्रभृति विद्वानों ने यह कह दिया कि पद्‌मावत की रचना मसनवी के प्रेमाख्यानक काव्यों के अनुकरण पर हुई है। परन्तु इस अध्याय के प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है कि डा० माताप्रसाद गुप्त ने पद्‌मावत की अनेक प्राचीनतम हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर उसका जो प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित किया है उसमें खण्डों या सर्गों का विभाजन नहीं है बल्कि कथा आद्यन्त धाराप्रवाह रूप में लिखी गयी है। प्राकृत-अपभ्रंश में इस तरह के कई काव्य पहले ही लिखे जा चुके हैं। पद्‌मावत में वही शैली अपनायी गयी है। सर्गबद्धता महाकाव्य का आंतरिक और स्थिर लक्षण नहीं है। अतः उसका अभाव पद्‌मावत के महाकाव्यत्व में बाधा नहीं उपस्थित करता। अन्य बाह्य लक्षणों में प्रारम्भ में नमस्क्रिया, आशीर्वचन, वस्तुनिर्देश, खल-निन्दा, सज्जन-प्रशंसा आदि का होना आवश्यक माना गया था। पद्‌मावत के प्रारम्भ में इनमें से सज्जन-दुर्जन के अतिरिक्त अन्य सभी लक्षण मिलते हैं। 'गउडवहो' की तरह उसमें भी मंगलाचरण बहुत लम्बा है।

किन्तु ये सभी महाकाव्य की शैली के बाह्य लक्षण हैं और उनके होने से ही कोई काव्य महाकाव्य नहीं हो सकता या उनके न होने से ही कोई महाकाव्य-पद का अधिकारी काव्य उस पद से च्युत नहीं हो सकता। जैसा दूसरे अध्याय में कहा जा चुका है, महाकाव्य की शैली अत्यन्त गरिमामयी और उदात्त होनी चाहिये। उसके बिना कोई काव्य महाकाव्य नहीं माना जा सकता। इस अध्याय के प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है कि पद्‌मावत कथा-आख्यायिका नहीं है यद्यपि कथा की रोमांचक शैली का प्रभाव उस पर अवश्य पड़ा है। कथा-आख्यायिका में मनोरंजन ही प्रधान उद्देश्य होता है जिससे उसकी शैली उद्देश्य प्रधान महाकाव्यों की भाँति गम्भीर और उदात्त नहीं होती। कथा के मर्मस्पर्शी स्थलों को पहचान कर वहाँ बाह्य परिस्थितियों, आंतरिक भावनाओं और मानसिक प्रतिक्रियाओं तथा विविध प्रकार की वस्तुओं के रसात्मक वर्णन से

महाकाव्य की शैली में वह गंभीरता आती है जो कथाओं में नहीं होती । उसी तरह महत्कार्य, महच्चरित्र और सुसंघटित कथानक की योजना भी महाकाव्यों में ही मिलती है । महाकाव्य के इन तत्वों—महदुद्देश्य, महच्चरित्र, सुसंघटित कथानक और महत्कार्य तथा युग जीवन की विविधता की रसात्मक अभिव्यक्ति—की योजना हो जाने पर किसी काव्य की शैली में स्वतः उस गरिमा और गंभीरता की प्रतिष्ठा हो जाती है जो उसे महाकाव्य-पद पर बिठा देती है । पद्मावत में ये तत्त्व हैं, यह हम देख चुके हैं । फलस्वरूप उसकी शैली में महाकाव्योचित गरिमा, गम्भीरता और उदात्तता पायी जाती है । उसमें महाभारत-रामायण जैसी व्यापकता, विशालता और शक्तिमत्ता नहीं है किन्तु अपेक्षाकृत सीमित घेरे के भीतर ही उसमें पर्याप्त गहराई और तीव्रता है । उसमें पृथ्वीराजरासो जैसी हलचल, उथल-पुथल और उद्दाम वेग नहीं है, न रामचरितमानस जैसा प्रशान्त गम्भीर्य और प्रकाशमान ओज ही है । इसके विपरीत इसमें कुमारसंभव के ढंग का सौकुमार्य, मार्दव और माधुर्य है । इस तरह शैली की मधुर कांति और कोमलता के कारण पद्मावत को प्रगीतात्मक महाकाव्य भी कहा जा सकता है । किन्तु उसकी कोमलता ओज से समन्वित, मधुरता शक्ति से युक्त और कांत गरिमामयी है । उसमें तूफानों वाले सागर का उद्दाम वेग भले ही न हो किन्तु प्रशान्त सागर को उच्छल तरंगों का प्रवाह अवश्य है जिसकी सतह के नीचे अतुल गम्भीरता और ऊपर असीम अनन्त आकाश है । तात्पर्य यह कि पद्मावत की लौकिक माधुर्य का आभास देने वाली कथा के भीतर आध्यात्मिक गहराई और ऊँचाई, विशालता और व्यापकता है जो जायसी की महाप्राणता और महती काव्य-प्रतिभा की देन है । उसकी शैली में जायसी ने अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को अभिव्यक्त कर दिया है ।

प्रतीक और संकेत की पद्धति—

उक्त शैली में माधुर्य और ओज, कोमलता और परुषता आदि परस्पर विरोधी गुणों का समन्वय का कारण वह प्रतीक-योजना और संकेतात्मक अभिव्यंजना पद्धति है जिसका सूफी कविता और रहस्यवादी साधना में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है । सूफीमत में बुलबुल, शराब, बाँसुरी, माशूक आदि का प्रयोग प्रतीक रूप में होता है यह बात पहले ही कही जा चुकी है । प्रतीक दो प्रकार के होते हैं, एक तो वे प्रतीक जिनका परम्परा से किसी विशेष अर्थ में प्रयोग होता आया हो, दूसरे वे जिन्हें कोई कवि या साधक नया अर्थ देकर चालू कर दे । पद्मावत में दोनों तरह के प्रतीकों का प्रयोग हुआ है । उदाहरण के लिये असाधारण सुन्दर स्त्री को परमात्मा और जीवात्मा या साधक का प्रतीक मानने

की पद्धति सूफी कवियों में जायसी के पहले ही मान्य थी, किन्तु तोते को गुरु का प्रतीक मानना जायसी की नयी उद्भावना है। इसी तरह पद्मावत के प्रायः सभी पात्र प्रतीक और उसकी पूरी कथा प्रतीकात्मक है। पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा सम्पादित जायसी-ग्रंथावली में पद्मावत के उपसंहार-खण्ड में कुछ पंक्तियाँ ऐसी हैं जिनमें पात्रों और स्थानों के प्रतीक समझाये गये हैं। ये पंक्तियाँ डा० माता-प्रसाद गुप्त द्वारा संपादित पद्मावत में नहीं हैं, अतः प्रक्षिप्त हैं और बाद के किसी लिपिकार या सूफी कवि द्वारा रचित हैं। किन्तु प्रक्षिप्त होते हुए भी वे जायसी की प्रतीक-योजना पर पर्याप्त प्रकाश डालती हैं। पंक्तियाँ ये हैं :—

तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंहल बुधि पदमिनि चीन्हा ॥
गुरू सुआ जेइ पंथ देखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा ॥
नागमती यह दुनिया-धन्धा। बाँचा सोइ न एहि चित बंधा ॥
राघव दूत सोइ सैतानू। माया अलाउद्दीं सुलतानू ॥
प्रेम कथा एहि भाँति बिचारहु। बूझि लेहु जौ बूझै पारहु ॥

तुरकी अरबी हिन्दुई भाषा जेती आहिं।
जेहि महँ मारग प्रेम कर सबै सराहैं ताहि ॥

इन पंक्तियों में स्पष्ट कहा गया है कि अरबी, फारसी और हिन्दी सभी भाषाओं में सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों में इस प्रकार की प्रतीकात्मक शैली का प्रयोग होता है और जो उस पद्धति के जानकार होते हैं वे उन प्रेम-कथाओं को लौकिक अर्थ में न लेकर आध्यात्मिक अर्थ में ही ग्रहण करते हैं। स्वयं जायसी ने पद्मावत में जगह जगह अपने प्रतीकों की ओर संकेत किया है। उन्होंने प्रारंभ में ही लिखा है :—

आदि अन्त जसि कथथा अहै। लिखि भाषा चौपाई कहै।
कवि बिआस रस कौला पूरी। दूरिहि निअर निअर भा दूरी ॥

भँवर आइ बनखण्ड हुति, लेहि कँवल के बास।
दादुर बास न पावहिं भलेहि जो आछहिं पास ॥ दो० २४ ॥

इसमें जायसी ने स्पष्ट कर दिया है कि पद्मावत की कथा में व्यंग्यार्थ (आध्यात्मिक प्रेम पद्धति) ही प्रधान है और जो उसके प्रस्तुत या अभिधार्थ को ही प्रधान मानेंगे वे उसी प्रकार उसके रस से वंचित रह जायँगे जैसे दादुर कमल की सुगंध से लाभ नहीं उठा पाता। आगे जायसी सिंहल के हृदय और हीरामन के गुरू होने का भी संकेत करते हैं :—

सिंघल दीप कथा अब गावों । औ सो पदुमिनि बरनि सुनावों ।
बरनक दरपन भाँति बिसेखा । जेहि जस रूप सो तैसेइ देखा । दो० २५

इसमें सिंहल को दर्पण के समान कहा गया है और सूफी मत में दर्पण हृदय का प्रतीक माना जाता है जिसमें जीव परमात्मा की मूर्ति को या अपने स्वरूप को प्रतिविम्बित देखता है। पद्मिनी को जायसी ने ब्रह्म-ज्योति का अवतार कहा है :—

प्रथम जो जोति गगन निरमई । पुनि सो पिता माथे मनि भई ।
पुनि वह जोति मातु घट आई । तेहि ओदर आदर बहु पाई ॥

× × × ×

जस अंचल भीने महं दिया । तस उजियार देखाये हिया ।
सोने मँदिर सँवारे औ चन्दन सब लीप ।
दिया जो मनि सिव लोक मँह उपजा सिंहल दीप ॥ दो० ५०

पद्मावत का रतनसेन प्रबुद्ध जीवात्मा का प्रतीक है, यह जायसी की इन पंक्तियों से स्पष्ट है :—

जो भा चेत उठा वैरागा । बाउर जनहुँ होइ अस जागा ।
आवत जगत बालक जस रोवा । उठा रोइ हो ग्या सो खोवा ।
हौ हो अहा अमर पुर जहाँ । इहाँ मरनपुर आएउँ कहाँ ।

× × ×

अहुँठ हाथ तन सरवर, हिया कँवल तेहि माँह ।
नैनन्हि जानहु निअरें, कर पहुँचत अवगाह ॥ दो० १२१

उसी तरह हीरामन सुआ गुरु का प्रतीक है :—

देखु अन्त अस होइहि, गुरु दीन्ह उपदेस ।
सिंघल दीप जाब मै माता मोर अदेस ॥ दो० १३०

× × ×

हीरामनि राजा सौं बोला । एहीं समुद आइ सत डोला ।
एहि ठाँव कहँ गुरु सँग कोजै । गुरु सँग होई पार तो कीजै ॥ दो० १५६

× × ×

पूछा राजै कह गुरु सुवा । न जनौ आज कहाँ दिन उवा । दो०१७९

इस प्रकार जायसी ने कुछ पात्रों, घटनाओं और वस्तुओं के प्रतीकात्मक अर्थ की ओर संकेत कर दिया है और कुछ को छोड़ दिया है किन्तु उनका

वर्णन इस ढंग से किया है कि उनका व्यंग्यार्थ समझ में आ जाता है। इस दृष्टि से देखने पर पद्मावत के प्रतीक और उनके व्यंग्यार्थ इस प्रकार हैं :—

पद्मावती	...	परमात्मा की ज्योति (स्वयं परमात्मा)
रतनसेन	....	प्रबुद्ध जीवात्मा
हीरामन तोता	..	गुरु
नागमती	..	सांसारिक सम्बन्ध
अलाउद्दीन	..	माया
राघवचेतन	.	शैतान (नारद)
सिंहल	...	निर्मल हृदय

देवपाल और दो दूतियाँ...मन की पाप वृत्तियाँ

सात समुद्र	..	सूफियों के सात जंगल—आध्यात्मिक साधना की सात सीढ़ियाँ।
मानसर समुद्र	...	ब्रह्मरन्ध्र
सिंहल-यात्रा	...	आध्यात्मिक प्रेम-मार्ग की साधना।

किन्तु जायसी ने प्रतीक पद्धति का सहारा लेते हुए भी पद्मावत में लौकिक कथा को बिलकुल गौण बना कर उसके व्यंग्यार्थ-(आध्यात्मिक प्रेम-कथा) को ही सब कुछ नहीं माना है। उनका लक्ष्य आध्यात्मिक प्रेम-कथा कहना अवश्य है किन्तु उसके लिए उन्होंने माध्यम या साधन रूप में जो लौकिक प्रेम-कथा लिखी है उसकी स्वाभाविकता, सौंदर्य, साज-सज्जा और मनोहारिता की ओर उन्होंने बहुत अधिक ध्यान रखा है और इस बात की चिन्ता नहीं की है कि उनके प्रत्येक वर्णन या घटना का आध्यात्मिक अर्थ भी घटित हो। इसका कारण यह है कि सूफी सिद्धान्तों के अनुरूप जायसी लौकिक जगत् को भी उतना ही महत्व देते हैं जितना आध्यात्मिक जगत् को क्योंकि लौकिक जगत् पारलौकिक सत्ता की अभिव्यक्ति या छाया ही तो है। अतः लोक व्यवहार के रास्ते से ही आध्यात्मिक लोक में पहुँचा जा सकता है। इस दृष्टि से जायसी ने पद्मावत को ऐसे ढंग से लिखा है कि उसकी पूरी कथा का व्यंग्यार्थ पारमार्थिक हो किंतु बाह्य दृष्टि से देखने पर उसकी वह कथा अपने में पूर्ण प्रतीत हो और यदि कोई उसका व्यंग्यार्थ न लेना चाहे या उसमें उसकी क्षमता न हो तो भी वह वाच्यार्थ में ही काव्य का आनन्द प्राप्त कर सके। इस तरह पद्मावत के कवि को लोक-पक्ष और आध्यात्मिक-पक्ष, दोनों इष्ट हैं। उसकी दृष्टि लोक के भीतर से होती हुई उसे

भेद कर उसके मूल-परमार्थ तक पहुँचाती है। अतः पद्मावत की कथा अन्योक्ति-मूलक नहीं है क्योंकि उसमें वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों का समान महत्व है यद्यपि कवि का लक्ष्य सामान्य लौकिक प्रेम के माध्यम से पाठकों के मन को आध्यात्मिक प्रेम के क्षेत्र में पहुँचाना है। अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए ही उसने प्रतीक योजना और सांकेतिक पद्धति का सहारा लिया है और जहाँ इनसे भी उसे संतोष नहीं हुआ है। वहाँ उसने सीधे-सीधे उपदेशात्मक ढंग से पारमार्थिक तत्वों का निरूपण किया है। इस तरह पद्मावत में चार प्रकार की अभिव्यक्तियाँ दिखाई पड़ती हैं।

१—अन्योक्तिमूलक अभिव्यक्ति—जिसमें प्रस्तुत महत्वहीन है, अप्रस्तुत आध्यात्मिक-अर्थ ही कवि को अभिप्रेत है, जैसे :—

गढ़ पर नीर खीर दुइ नदी। पानी भरहि जैस दुरुपदी।
औरु कुंड एक मोतीचूरू। पानी अंम्रित कीच कपूरू।
ओहि क पानि राजा पै पिआ। विरिध होहि नहि जौलहि जिआ।
दोहा ४३।

इस तरह की अन्योक्तिमूलक अभिव्यक्तियाँ, जिनमें सूफी मत अथवा योग-मार्ग की बातों का वर्णन प्रतीकों या अप्रस्तुतों के सहारे किया गया है, पद्मावत में बहुत अधिक हैं।

२—समासोक्तिमूलक अभिव्यक्तियाँ—जिनमें प्रस्तुत और अप्रस्तुत (वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ) दोनों का वर्णन करना कवि को अभिप्रेत है जैसे :—

ऐ रानी मनु देखु विचारी। एहि नैहर रहना दिन चारी।
जौ लहि अहै पिता कर राजू। खेलि लेहु जो खेलहु आजू।
पुनि सासुर हम गौनब काली। कित हम कित एह सरवर पाली।
—दोहा ६०।

३—केवल लौकिक पक्ष का अभिधामूलक वर्णन—जिसमें कोई दूसरा अर्थ नहीं है।

४—केवल आध्यात्मिक पक्ष का अभिधामूलक और उपदेशात्मक वर्णन—जिसकी प्रस्तुत कथा के प्रसंग में कोई उपयोगिता या अर्थ नहीं है, जैसेः—

दसवं दुवार तार का लेखा। उलटि दिस्टि जो लाव सो देखा।
जाइ सो जाइ साँस मन बन्दी। जस धँसि लीन्ह कान्ह कालिन्दी।
तूँ मन नाथु मारि के स्वाँसा। जों पै मरहि आपुहिं करु नासा।
× × ×

आपुहि मीचु जियनि पुनि, आपुहि तन मन सोइ ।
आपुहि आप करै जो चाहै कहाँ क दोसर कोइ ॥ दो०२१६

समासोक्तिमूलक अभिव्यक्तियों में आध्यात्मिक पक्ष का अर्थ व्यञ्जना से व्यक्त होता है अर्थात् वाच्यार्थ के साथ उसमें अन्य अर्थ (व्यंग्यार्थ) भी ध्वनित होता है। इसी को हमने ऊपर सांकेतिक पद्धति कहा है। पद्मावत के अधिकांश कथा प्रसंग और वर्णन इसी प्रकार के सांकेतिक अर्थ ध्वनित करने वाले हैं और पूरी कथा भी अपने समग्र प्रभाव के रूप में इसी संकेत पद्धति के कारण 'एलीगोरी' प्रतीत होती है। 'एलीगोरी' को हिन्दी में प्रतीक-कथा कहना अधिक सही प्रतीत होता है क्योंकि अन्योक्ति और समासोक्ति मूलतः अलंकार हैं। कथा-प्रबन्ध की शैलियों के प्रसङ्ग में उनका उपयोग करने पर बहुत खींचतान करनी पड़ती है। प्राकृत की 'समराइच्चकहा' और उसका संस्कृत अनुवाद 'उपमित भव प्रपञ्च कथा' नामक कथाएँ इसी प्रकार की 'प्रतीक-कथा' हैं। संस्कृत के प्रबोधचन्द्रोदय और मोहराजपराजय नामक नाटकों में प्रवृत्तियों और भावनाओं को मानवीकृत करके उन्हें पात्र बना दिया गया है। अतः वे विशुद्ध 'एलीगोरी' नहीं हैं क्योंकि उनके पात्र प्रतीक नहीं, मानवीकृत हैं, उनके नाम से ही उनके गुणों की अभिव्यक्ति हो जाती है। पद्मावत के पात्र और अनेक घटनाएँ तथा वस्तुएँ प्रतीकों के रूप में उपस्थित की गई हैं। अतः उसे प्रतीकात्मक काव्य और उसकी कथा को 'प्रतीक-कथा' कहना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। समासोक्ति में भी प्रारम्भ से अन्त तक दोनों अर्थों का बोध कराना अनिवार्य नहीं होता, इसमें ऐसे विशेषणों, और कार्यों की योजना होती है कि बीच बीच में अप्रस्तुत अर्थ की भी परिस्फूर्ति अनायास होती रहती है। पद्मावत की कथा में यही पद्धति अपनाई गयी है और इसीलिए शुक्ल जी तथा डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी इसमें समासोक्ति पद्धति की स्थिति मानते हैं[1]।

रोमांचक शैली के तत्त्व—पद्मावत को हमने रोमांचक शैली का महाकाव्य माना है। इस शैली के महाकाव्यों में रोमाञ्चक तत्त्वों और साहसिक कार्यों की प्रधानता रहती है और चिराचरित कथानकरूढ़ियों का उपयोग उनमें अधिक दिखाई पड़ता है। पद्मावत की कथा उत्तरार्द्ध इतिहास पर आधारित

१—(क) वही, भूमिका, पृ० ५७।

(ख) हिंदी साहित्य—प्रथम संस्करण, ले० डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २३५।

है और पूर्वार्द्ध लोककथा पर। रोमाञ्चकता अधिकतर लोककथाओं और कथा-आख्यायिका में ही होती है। अतः पद्मावत के लोककथाश्रित अंश में ही रोमाञ्चक तत्त्व अधिक हैं, उत्तरार्द्ध में नहीं। उत्पाद्य महाकाव्य के जो लक्षण रुद्रट ने बताये हैं उनमें से अधिकांश पद्मावत में मिलते हैं। उसमें आदि में सिंहल द्वीप और वहाँ के नगर, बाजार आदि का वर्णन और नायिक के पिता का वर्णन, नायिका की उत्पत्ति का वर्णन और उसके बाद नायक के नगर, वंश, जन्म आदि का वर्णन है। उसमें नायक के प्रयाण से नगर की नर-नारियों का क्षोभ दिखाया गया है और देश, पर्वत, नदी, वन, तालाब, समुद्र, द्वीप, भुवन, स्कन्धावार, दम्पति-क्रीड़ा, नृत्य-संगीत-शृङ्गार, नगरी-अवरोध, युद्ध आदि का उचित अनुपात में वर्णन है। रुद्रट ने जिन वस्तु-व्यापारों को सूची दी है वे विकसनशील महाकाव्यों–महाभारत, रामायण–में तथा रोमाञ्चक अलंकृत काव्यों में ही अधिक मिलते हैं। पद्मावत में उन वस्तु-व्यापारों का होना उसे रोमाञ्चक शैली का महाकाव्य सिद्ध करता है। रुद्रट द्वारा निर्दिष्ट रोमाञ्चक कथाओं के कुछ लक्षण भी पद्मावत में मिलते हैं जैसे कन्या-लाभ फल, शृङ्गार रस का सम्यक् विन्यास आदि। पश्चात्य साहित्य में रोमांस का अर्थ अतिशय काल्पनिकता और साहसिक कार्यों तथा अलौकिक—अतिप्राकृत तत्त्वों की अधिकता माना जाता है। पद्मावत के पूर्वार्द्ध में अवश्य इन बातों की अधिकता है। उसमें अनेक अलौकिक कार्यों और अप्राकृत शक्तियों की योजना हुई है, इस प्रकार के अलौकिक कार्यों की योजना से पाठकों में कुतूहल और आश्चर्य की भावना आद्यन्त बनी रहती है। पद्मावत में शुक के मुख से राजकन्या के रूप की प्रशंसा सुनकर उसे प्राप्त करने के लिए राज्य और परिवार का त्याग करके योगी रूप में निकल पड़ना और भयंकर मार्गों से होकर अपने लक्ष्यों तक पहुँचना और पद्मावती को प्राप्त करना अत्यन्त साहसिक कार्य है। सात समुद्रों की यात्रा रतनसेन के प्रेम और लगन की परीक्षा के रूप में दिखाई गयी है जिसमें वह अपने आश्चर्यजनक साहस के कारण सफल हुआ है। रोमाञ्चक कथाओं में प्रेम-व्यापारों की अधिकता होती है और चित्र दर्शन, रूप-गुण-श्रवण द्वारा प्रेम, प्रिय की प्राप्ति के प्रयत्न, प्रेम मार्ग की कठिनाइयाँ, प्रिय की प्राप्ति के पहले या बाद में प्रतिनायक द्वारा बाधा उत्पन्न करना, युद्ध, अनेक विवाह आदि बातों का अधिक वर्णन होता है। पद्मावत की समूची कथा प्रायः इन्हीं बातों से निर्मित हुई है। रोमाञ्चक कथाओं की तरह उसके पूर्वार्द्ध का कार्य क्षेत्र प्रायः काल्पनिक और आनुश्रुतिक है जिसमें जायसी ने सिंहल नाम के 'परियों के देश' की लोक-कल्पना को अपनाया है। इस प्रकार पद्मावत में रोमाञ्चक तत्त्व बहुत

हैं पर वे कवि के महदुद्देश्य और प्रतीकात्मक शैली, काव्यात्मक वर्णन तथा उत्तरार्द्ध की कथा के ऐतिहासिक आधार के कारण नियंत्रित हैं। अतः यह कथा-आख्यायिका न होकर रोमाञ्चक शैली का महाकाव्य है।

छन्द-योजना—पद्मावत के छन्द-विधान में भी चरितकाव्यों की कडवक-बद्ध पद्धति अपनायी गयी है। अन्तर यही है कि अपभ्रंश काव्यों में कडवक के भीतर पज्झटिका (पद्धड़िया), अडिल्ल, चउपई, मदनक, त्रोटक आदि ऐसे कई छन्दों का प्रयोग हुआ है जिनमें दो-दो चरण सममात्रिक और समतुकान्त होते हैं यद्यपि कडवक में घत्ता के पहले आद्यन्त एक ही छन्द होता है। उनमें कडवकान्त में दुबई, घत्ता आदि द्विपदी जातीय छन्दों की दो पंक्तियों का प्रयोग होता है और उसे घत्ता कहा जाता है। पद्मावत में आदि से अन्त तक सभी कडवकों में चौपाई छन्द का और कडवकान्त में घत्ता रूप में दोहा छन्द का प्रयोग हुआ है। चौपाई, पद्धड़िया और अडिल्ल से मिलता-जुलता छन्द है और कभी-कभी तो उनमें कोई अन्तर नहीं प्रतीत होता। जिस प्रकार अपभ्रंश कवियों ने शास्त्रीय छन्दों के प्रयोग में स्वतन्त्रता ग्रहण की है, उसी तरह जायसी ने भी चौपाई और दोहा के छन्द-शास्त्रीय नियमों का प्रायः उल्लंघन किया है। जैसे :—

> देश अन्त अस होइहि, गुरू दीन्ह उपदेस।
> सिंघल दीप जाब मैं, माता मोर अँदेस॥ दो० १४०
>
> × × ×
>
> राजै कहा रे राकस बौरे जानि बूझि बौरासि।
> सेतबंध जहं देखिअ आगे कस न तहाँ लै जासि॥ दो०३६४

इनमें पहले दोहे के पहले और तृतीय चरण में, एक मात्रा कम है और दूसरे दोहे के प्रथम और तृतीय चरणों में तेरह-तेरह की जगह सोलह सोलह मात्रायें हो गयी हैं। इस तरह दूसरा दोहा तो भिन्न छन्द ही हो गया है जिसे हिन्दी में 'कबीर छन्द' नाम दिया गया है। बात यह है कि दोहा-चौपाई में छन्द सम्बन्धी यह अव्यवस्था भक्ति-काल के अधिकांश कवियों में मिलती है। आगे हम देखेंगे कि तुलसी ने भी इसी तरह छन्द-सम्बन्धी स्वतन्त्रता बरती है। चौपाई में चार चरण अर्थात् दो अर्द्धालियाँ होती हैं। चौथे अध्याय में हम देख चुके हैं कि इस काल में अर्द्धाली को ही चौपाई समझा जाने लगा था। अतः जायसी ने प्रत्येक कडवक में सात अर्द्धालियाँ या साढ़े तीन चौपाइयाँ रखी हैं जो शास्त्रीय दृष्टि से दोषपूर्ण है। पर वह दोष तो रामचरित मानस में

भी पर्याप्त मात्रा में मिलता है। अतः इसे दोष नहीं बल्कि उस काल के लोकाश्रित कवियों की स्वच्छन्द प्रवृत्ति मानना उचित है।

इसी तरह भाषा की सजावट, अलंकारों का चमत्कार प्रदर्शन, तथा काव्य के अन्य कृत्रिम बाह्य परिधानों की ओर जायसी ने अधिक ध्यान नहीं दिया है। भामह का यह लक्षण कि महाकाव्य में अग्राम्य शब्दों और अलंकारों का प्रयोग होना चाहिए, दरबारी वातावरण के शास्त्रीय शैली के महाकाव्यों पर ही विशेष रूप से लागू होता है। लोकाश्रित काव्यों में ग्राम्यता और अनलंकृति का होना अनिवार्य है और यही उनका सबसे बड़ा सौन्दर्य होता है। पद्मावत का सबसे बड़ा महत्त्व यही है कि उसमें भाषा-शैली की कृत्रिमता नहीं है। उसमें लोक-जीवन की जो इतनी अधिक अभिव्यक्ति हुई है, उसका कारण उसमें प्रयुक्त ठेठ भाषा, ग्रामीण तद्भव और देशज शब्द, लोकप्रचलित मुहावरे और लोकभाषा के अंगभूत सहज अलकार हैं। यद्यपि जायसी ने कहीं-कहीं परंपरागत उपमानों और रूढ़िबद्ध अलकारों का प्रयोग भी किया है पर यह उनकी परम्परा-पालन की प्रवृत्ति के कारण है, उनकी सहज रुचि इस ओर नहीं थी। बोलचाल की भाषा में इतनी गम्भीरता और दार्शनिकता लाना सामान्य शक्ति वाले कवि का काम नहीं है। पद्मावत में कहने की शैली इतनी अकृत्रिम, प्रवाहपूर्ण और सरस है कि उसमें पाये जाने वाले काव्य-दोषों, छन्द-दोषों न्यूनपदत्व, परिगणना की प्रवृत्ति, अनपेक्षित और अरोचक प्रसंगों का सन्निवेश, आदि की ओर पाठकों का ध्यान ही नहीं जाता। उसकी आकर्षक और उदात्त शैली की यही विशेषता है। अतः सरल किन्तु गम्भीर, सहज किन्तु उदात्त, माधुर्यपूर्ण किन्तु गरिमामयी शैली के प्रयोग की दृष्टि से पद्मावत हिन्दी में अपने ढंग का सर्वश्रेष्ठ काव्य है।

७—प्रभावान्विति और गम्भीर रसव्यञ्जना

रस की दृष्टि से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा अन्य विद्वानों ने पद्मावत के सम्बन्ध में पर्याप्त विचार किया है। यहाँ उसका पिष्टपेषण करना हमारा उद्देश्य नहीं है। आलंकारिकों ने महाकाव्य में रस और भाव का आदि से अन्त तक होना आवश्यक माना है। विश्वनाथ कविराज के अनुसार उसमें शृंगार, वीर और शान्त में से कोई एक रस अगी रूप में तथा अन्य रस गौण रूप में होने चाहिए। पद्मावत में आद्यन्त रति भाव की पूर्ण व्यञ्जना हुई है किन्तु उसका पर्यवसान करुण रस में हुआ है। यदि अलाउद्दीन और देवपाल के साथ हुए युद्ध में वह विजयी होता तो यह नायक का अभ्युदय कहलाता।

तब यह काव्य सुखान्त होता और उसमें प्रधान रस शृंगार तथा गौण रस वीर माना जाता। किन्तु अन्त में रतनसेन की मृत्यु और पद्मावती-नागमती के सती होने की घटना से इसका पर्यवसान करुण रस में हुआ है। लेकिन करुण रस का भी वहाँ पूर्ण परिपाक नहीं हुआ है क्योंकि शोक के संचारियों उद्दीपनों और अनुभावों की वहाँ पूर्ण योजना नहीं हुई है। इसके विपरीत जायसी ने अन्तिम दृश्य का वर्णन इस प्रकार किया है कि वहाँ निर्वेद का भाव अधिक परिस्फुट हो गया है। इसीलिए शुक्ल जी ने लिखा है कि 'अन्तिम दृश्य से अत्यन्त शान्तिपूर्ण उदासीनता बरसती है। कवि की दृष्टि में मनुष्य जीवन का सच्चा अन्त करुण क्रन्दन नहीं, पूर्ण शान्ति है। राजा के मरने पर रानियाँ बिलाप नहीं करती हैं बल्कि इस लोक से अपना मुँह फेर कर दूसरे लोक की ओर दृष्टि किये आनन्द के साथ पति की चिता में बैठ जाती हैं। इस प्रकार कवि ने सारी कथा का शान्त रस में पर्यवसान किया है।'[1] पद्मावत में प्रधानतया शृङ्गार, वीर, करुण और शान्त रसों की व्यंजना हुई है। अब प्रश्न यह है कि उनमें से अंगी रस कौन है? शुक्ल जी इसे शृङ्गार रस-प्रधान काव्य मानते हैं।[2] किन्तु यदि जायसी का लक्ष्य लौकिक प्रेम-पंथ के माध्यम से आध्यात्मिक प्रेम-पंथ का निरूपण है और उसके लिए यदि उन्होंने प्रतीक और संकेत पद्धति द्वारा आध्यात्मिक प्रेम की स्पष्ट व्यंजना भी की है, तो उसमें रहस्यवाद की दृष्टि से शृंगार रस को नहीं शान्त रस को ही प्रधान मानना पड़ेगा। अन्तिम दृश्य में जो रस व्यञ्जित होता है वह उसी अप्रस्तुत पक्ष के शान्त रस की अन्तिम परिणति है। जिस तरह सूर, मीरा और कबीर के शृङ्गारिक वर्णन शान्त रस के अन्तर्गत माने जाते हैं उसी तरह पद्मावत का समग्र प्रभाव शान्त रस समन्वित है, शृङ्गार रस वाला नहीं। अतः लौकिक कथा की दृष्टि से देखने पर पद्मावत में विप्रलंभ शृंगार अंगी है और आध्यात्मिक अर्थ की दृष्टि से वह शान्त रस प्रधान काव्य है।

पद्मावत की रस-व्यञ्जना अत्यन्त गम्भीर है जो पाठकों के हृदय के गहराई तक और स्थायी रूप से स्पर्श करती है। कवि ने पूरी कथा में इतने अधिक मार्मिक स्थलों का चुनाव किया है और इतनी सचाई और गहराई के साथ विविध भावनाओं की अभिव्यक्ति की है कि कथा के बीच के इतिवृत्तात्मक और शुष्क उपदेशात्मक अंश भी रसात्मक हो गये। किन्तु यदि शास्त्रीय

१—जायसी ग्रन्थावली, भूमिका, पृ० ६८।

२—वही, पृ० ७१।

दृष्टि से देखा जाय तो पद्मावत रस की कसौटी पर खरा नहीं उतरता । भारतीय आलंकारिको के अनुसार नाटक आदि प्रबन्धों में रस की पूर्ण निष्पत्ति नायक के फलागम द्वारा ही होती है। पद्मावत के पूर्वार्द्ध में रति भाव का जो चरम उत्कर्ष दिखाई पड़ता है और उत्तरार्द्ध में अलाउद्दीन की असफलता और रत्नसेन की बन्धन-मुक्ति में प्राप्त्याशा और नियताप्ति नामक जो कार्यावस्थाएँ दिखाई पड़ती हैं उनका विकास आगे चल कर फलागम में नहीं होता। उसकी जगह अलाउद्दीन के साथ युद्ध में गोरा मृत्यु तथा देवपाल के साथ युद्ध में रत्नसेन की मृत्यु की घटना में पाश्चात्य ढग की निगति की अवस्था दिखाई पड़ती है अन्त में नागमती-पद्मावती का सती होना, स्त्रियों का जौहर, बादल की मृत्यु और चित्तौड़ पर अलाउद्दीन का अधिकार आदि घटनाओं में पाश्चात्य ढंग की अन्तिम कार्यावस्था—अवसान—का रूप दिखाई पड़ता है। इस तरह पद्मावत का अन्त पाश्चात्य महाकाव्यों के ढंग का है। अतः उसमें भारतीय ढग की रस-निष्पत्ति नहीं बल्कि पाश्चात्य नाटकों के ढंग की प्रभावान्विति मिलती है। इस प्रभावान्विति में पाश्चात्य काव्यो की तरह का उद्वेग और अशान्ति मूलक तीव्रता और स्तब्ध कर देने वाली वेदना नहीं है बल्कि शान्तिपूर्ण गम्भीरता और चिरस्थायी निर्मलता तथा पवित्रता है जो पाठकों के चित्त को अभिभूत कर उन्हें असाधारण भाव लोक में पहुँचा देती है। इस तरह उसमें रसात्मकता के साथ-साथ गंभीर प्रभावान्विति भी मिलती है।

८—अनवरुद्ध जीवनी शक्ति और सशक्त प्राणवत्ता

क्या पद्मावत में वह अनवरुद्ध जीवनी शक्ति और सशक्त प्राणवत्ता है जो महाकाव्य का शाश्वत लक्षण है? इस संबंध में आरम्भ में ही यह कह देना आवश्यक है कि पद्मावत एक अलंकृत महाकाव्य है और अलंकृत महाकाव्यों में विकसनशील महाकाव्यों जैसी जीवनी शक्ति और प्राणवत्ता नहीं होती। कारण यह है कि विकसनशील महाकाव्य युग-युग के मानव-समाज की असीम जीवनी-शक्ति लेकर पुष्ट होते हैं। इसके विपरीत अलंकृत महाकाव्य व्यक्तिविशेष की कृति होती है। अतः अलंकृत महाकाव्य में उतनी जीवनी शक्ति और प्राणवत्ता का न होना स्वाभाविक है। व्यापकता, लोकप्रियता आदि दृष्टि से पद्मावत की तुलना रामायण-महाभारत क्या, रासो और आल्हखण्ड से भी नहीं की जा सकती। फिर भी हिन्दी महाकाव्यों में उसका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है और इसका कारण उसकी वह जीवनीशक्ति और प्राणवत्ता ही है जो हिन्दी के पुराने अलंकृत महाकाव्यों में रामचरितमानस के अतिरिक्त अन्य किसी में नहीं है। इसीलिए शुक्ल जी ने लिखा है, "प्रबन्ध क्षेत्र के भीतर हम कह चुके हैं, दो

काव्य सर्वश्रेष्ठ हैं—'रामचरितमानस' और 'पद्मावत'। दोनों में रामचरितमानस का स्थान ऊँचा है...अतः समग्र प्रबन्ध क्षेत्र के विचार से हम कह सकते हैं कि प्रबन्ध क्षेत्र में जायसी का स्थान तुलसी से दूसरा है।.. पद्मावत हिन्दी साहित्य का एक जगमगाता रत्न है।"[1] शुक्ल जी ने पद्मावत का स्थान-निर्धारण साहित्यिक दृष्टि से किया है। किन्तु यदि व्यापक प्रभाव और लोकप्रियता की दृष्टि से देखा जाय तो भी हिन्दी के अलंकृत महाकाव्यों में रामचरितमानस के बाद पद्मावत का ही स्थान है। भारतीय सूफियों में पद्मावत को वही संमान प्राप्त है जो फारसी के सूफी काव्यों में जलालुद्दीन रूमी के 'मसनवी' को प्राप्त है। सूफी विचार-धारा वाले हिन्दू मुसलमानों के घरों में पद्मावत का उसी तरह पाठ होता रहा है जैसे सामान्य हिन्दुओं के घरों में रामचरितमानस का। सूफी लोग पद्मावत का पुराणवत आदर करते रहे हैं, यह बात पंडित सुधाकर द्विवेदी के इस कथन से स्पष्ट है, "यद्यपि खण्ड में ग्रंथ की रचना करना ग्रंथकार के लेख से नहीं पाया जाता तथापि बहुत पुस्तकों में खण्डो के नाम होने से अनुमान होता है कि पीछे से लोगों ने इस ग्रंथ का पुराणवत् आदर करने के लिए पद्मपुराण, स्कन्दपुराणादि के ऐसा इसमें भी अनेक खण्ड कर डाले।"[2] पद्मावत की हस्तलिखित प्रतियाँ भी बहुत मिलती हैं। डा० माताप्रसाद गुप्त का कहना है कि पद्मावत की मूल प्रति नागरी लिपि में थी और उसी मूल आदर्श प्रति से अरबी या फारसी लिपि में उसकी अनेकानेक प्रतियाँ लिखी गयीं।[3] इससे पद्मावत की लोकप्रियता और सूफियों द्वारा उसे प्राप्त सम्मान का पता चलता है। उसकी लोकप्रियता का एक और प्रमाण यह है कि उसकी रचना के प्रायः सौ ही वर्ष बाद सन् १६५० ई० में उसका बंगला भाषा में आराकान जैसे सुदूरवर्ती प्रान्त में अनुवाद हुआ और १६५२ ई० में रायगोबिन्द मुंशी ने फारसी गद्य में 'तुलफतुल' कुतब नाम से उसकी कथा का रूपान्तर किया। फिर सन् १७९६ ई० में इबरत और इशरत ने उर्दू शेरों में उसी कथा को लिखा। पद्मावत का अंगरेजी में भी श्री शिरेफ ने अनुवाद किया है जिसे १९४० ई० में एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल ने प्रकाशित किया। उसकी हस्त-

---

१—वही पृ० २१०।

२—पदुमावती—रायल एशियाटिक सोसाइटी का संस्करण, भाग १, सपादक ग्रियर्सन और सुधाकर द्विवेदी, टीका पृ० २।

३—जायसी-ग्रन्थवाली, (भूमिका) संपादक—डा० माताप्रसाद गुप्त, प्रयाग, सन् १९५१, पृ० २४।

लिखित प्रतियाँ देश के दूर-दूर के स्थानों में पाई जाती हैं और यूरोप में भी उसकी अनेक प्रतियाँ हैं। इन बातों से पद्मावत के महत्त्व और लोकप्रियता का पता लगता है। किसी काव्य की लोकप्रियता और महत्त्व का कारण उसकी जीवनीशक्ति होती है। पद्मावत की लोकप्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। इससे यह प्रमाणित होता है कि उसमें ऐसी अनवरुद्ध जीवनी शक्ति है जो किसी महाकाव्य को अमरत्व प्रदान करती है।

महाकाव्य में अमरत्व का गुण उसकी आन्तरिक प्राण-शक्ति के कारण भी आता है जो कवि के गम्भीर जीवन-दर्शन और मौलिकता की देन है। पद्मावत का जीवन दर्शन सार्वभौम और सार्वकालिक है क्योंकि उसमें मानव की मूल वासना 'काम' का उन्नयन करके प्रेम का अमरसदेश दिया गया है। इस जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति में जायसी ने अपनी मौलिकता और सच्चाई का पूर्ण प्रदर्शन किया है। इस कारण पद्मावत भी रामचरितमानस की तरह भक्तिकाल की आध्यात्मिक साधना और लोकोन्मुख प्रवृत्ति का पूर्ण प्रतिनिधित्व करने वाला महाकाव्य है। भक्तिकाल में जिन भारतीय सन्तों और भक्तों ने आध्यात्मिक मानवतावाद, धार्मिक सहिष्णुता, लोकमगल की भावना और चिरन्तन सत्य की खोज की दृढ़ नींव रखी, उसमें जायसी का प्रमुख स्थान है और अपनी इन साधनापूत भावनाओं और विचारों को उन्होने अपने जीवन-संदेश के रूप में पद्मावत में अपनी आगामी पीढ़ियों के लिए सुरक्षित रख दिया है। अतः मानव-समाज में जब तक इन भावनाओ और विचारों का समादर होता रहेगा, पद्मावत भी देश और काल की सीमा का अतिक्रमण करके अडिग प्रकाशस्तम्भ की तरह अपने चिरन्तन प्रकाश की किरणें फैलाता रहेगा। पद्मावत की यह प्राणवत्ता केवल जायसी की वैयक्तिक प्राणवत्ता नहीं बल्कि उसमें उस युग की समस्त प्राण-धारा भी मिली हुई है जिसे जायसी ने आत्मसात् कर लिया था। अत: पद्मावत की जीवनीशक्ति मध्ययुग के समाज की हलचलों और प्रयत्नो की जीवनीशक्ति है और उसकी प्राणवत्ता उस युग के चिरन्तन आदर्शों और साधनाओं की प्राणवत्ता है। उस युग की साधना का संदेश रामचरितमानस और पद्मावत में जितना अधिक मूर्तिमान हुआ है उतना अन्य किसी महाकाव्य में नहीं और जब तक उस सदेश का मूल्य बना रहेगा, पद्मावत का महत्त्व भी शाश्वत बना रहेगा।

आठवां अध्याय

पौराणिक महाकाव्य-रामचरितमानस

रामचरितमानस हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है। महाकाव्य में जो महानता और ऊँचाई होनी चाहिये, मानस' में वह पूर्णमात्रा में दिखाई पड़ती है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने ऐसे ही महाकाव्यों के संबंध में लिखा है, "दूसरी श्रेणी के कवि वे हैं जिनकी रचना में अन्तस्तल से एक सारा देश, एक सारा युग, अपने हृदय को और अपनी अभिज्ञता को प्रकट करके उस रचना को सदा के लिए समादरणीय सामग्री बना देता है। इस दूसरी श्रेणी के कवि ही महाकवि कहे जाते हैं। सारे देशों और सारी जातियों की सरस्वती इनका आश्रय लेती हैं। ......इनकी उक्तियाँ देशमात्र और जातिमात्र को मान्य होती हैं। उनकी रचना उस बड़े वृक्ष सी मालूम होती है जो देश के हृदयरूपी भूतल से उत्पन्न हो कर उस देश भर को आश्रयरूपी छाया देता हुआ खड़ा हो।"[1] रवि बाबू के मन में महाकाव्य की जो कल्पना थी, वह रामचरितमानस में पूर्णरूप से मूर्त हुई है। मध्ययुग से लेकर आजतक का उत्तरीभारत का यह अकेला महाकाव्य है जिसे समूचे समाज के दृष्टिकोण को बदलने और धर्मग्रंथ के रूप में स्वीकृत होने का सौभाग्य प्राप्त है। यह सही है कि 'मानस' एक विशिष्ट कवि द्वारा रचित अलंकृत या कलात्मक महाकाव्य है किन्तु उसकी श्रेष्ठता और महत्ता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि वह उत्तरी भारत में बाल्मीकि रामायण और व्यास के महाभारत से तथा अनेक धर्मग्रंथों से भी अधिक लोकप्रिय और प्रेरणादायक ग्रंथ बन गया है। अतः रवि बाबू का उपर्युक्त कथन 'मानस' के लिए भी उसी प्रकार सत्य है जिस प्रकार रामायण-महाभारत या इलियड-ओडेसी के लिए। अलंकृत महाकाव्य होते हुए भी 'मानस' रामायण महाभारत की तरह ही एक विशाल देश और एक व्यापक युग का 'मानस' बना हुआ है। तुलसी की उक्तियों को उत्तरी भारत की जनता उतना ही महत्व देती है जितना कोई भी जाति अपने पवित्रतम धर्मग्रंथों की उक्तियों को देती है। यही कारण है कि मानस को महाकाव्य

१—रवीन्द्रनाथ टाकुर—प्राचीन साहित्य (हिन्दी अनुवाद)—बंबई, सं० १९८०, पृ० १–२।

रूप में जो आदर प्राप्त है, उससे कहीं अधिक उसका धर्मग्रंथ रूप में सम्मान है। कुछ विद्वानों का तो यहाँ तक कहना है कि ससार का कोई भी धर्मग्रंथ इतना लोकप्रिय नहीं हो सका है जितना रामचरितमानस।"[1] इस तरह इस महाकाव्य का जो दुहरा महत्त्व है वैसा ससार के शायद ही किसी अन्य अलंकृत महाकाव्य को प्राप्त हो। श्री राजबहादुर लमगोड़ा ने तो कहा है कि "रामचरितमानस संसार का सर्वश्रेष्ठ नाटकीय महाकाव्य है।"[2] मानस के इस महत्त्व का रहस्य क्या है और उसके रूप शिल्प में महाकाव्य के कौन से तत्त्व वर्तमान हैं, इस अध्याय में इसी सम्बन्ध में विचार किया जायगा।

'मानस' का काव्यरूप

रामचरितमानस के सम्बन्ध में सबसे पहला प्रश्न यह होता है कि वह महाकाव्य है या पुराण? प्रश्न का उत्तर देते हुए कुछ विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है वह महाकाव्य नहीं पुराण या पुराण-काव्य है।[3] दूसरे अध्याय में कहा जा चुका है कि सकीर्ण परिभाषाओं और लक्षणों के आधार पर यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि कोई विशेष काव्य महाकाव्य है या नहीं। एबरक्रोम्बी का यह मत बिलकुल सही है कि किसी किसी काव्य के सम्बन्ध में हमारी यह भावना होती है कि वह महाकाव्य है पर परिभाषायें और लक्षण उस भावना को पूर्णतया अभिव्यक्त नही कर पाते[4]। रामचरितमानस के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है। भारतीय आलंकारिकों ने महाकाव्य के जो लक्षण बताये हैं उनके अनुसार भले ही वह महाकाव्य न प्रतीत हो परन्तु उसका समग्र प्रभाव हमारे ऊपर महाकाव्य जैसा ही पड़ता है। यदि संकीर्ण परिभाषाओं के अनुसार हम 'मानस' को महाकाव्य न मानें तो वाल्मीकि की रामायण और व्यास के महाभारत को भी महाकाव्य नहीं माना जा सकता। पर हम तीसरे अध्याय में देख चुके हैं कि अनेक विद्वानों ने महाभारत ही क्या, पुष्पदन्त के महापुराण को तथा राजतरंगिणी, दीपवंश और महावंश जैसे ऐतिहासिक ग्रंथों को भी महाकाव्य कहा है और

१—मुहम्मद हाफिज सैयद—रामायण और हिन्दू-सस्कृति पर उसका प्रभाव, कल्याण—१३—३।

२—राजबहादुर लमगोडा—विश्व-साहित्य में रामचरितमानस—सतना, १९४४, पृ० १।

३—डा० श्रीकृष्णलाल—मानस-दर्शन—काशी, सं०२००६, पृ० १५७–१५६

4. Lascelles Abercrombie—The Epic, p 40.

इसी कारण हमने महाकाव्य की परिभाषा को अधिक से अधिक व्यापक, उदार और लचीला बनाने का प्रयत्न किया है।

किन्तु महाकाव्य की परिभाषा को व्यापक और उदार बनाने का यह उद्देश्य नहीं है कि पुराणों और इतिहास-ग्रंथों को भी महाकाव्य मान लिया जाय। पहले अध्याय में हम दिखा चुके हैं कि इतिहास-पुराण महाकाव्य नहीं, बल्कि महाकाव्य के उपजीव्य हैं। वे महाकाव्य की सामग्री प्रस्तुत करते हैं। भारतीय आलंकारिकों ने भी कहा है कि महाकाव्य का कथानक 'इतिहास-कथोद्भूत' होना चाहिए और उसका नायक प्रख्यात होना चाहिए। इसका अर्थ यही है कि इतिहास-पुराण और कथा महाकाव्य के उपजीव्य हैं। अतः किसी काव्य में पौराणिक कथावस्तु और उपदेशात्मकता को देख कर ही सहसा नहीं कहा जा सकता कि महाकाव्य नहीं, पुराण है। 'पुराण' शब्द से जिस प्रकार के साहित्य का बोध होता है वह काव्य से बिलकुल भिन्न प्रकार का होता है। भारतीय आलंकारिकों ने तो पुराणों को काव्य के अन्तर्गत नहीं ही माना है, पाश्चात्य विद्वानों ने भी पुराणों को काव्य से भिन्न प्रकार का ही साहित्य माना है। यह अवश्य है कि कुछ काव्यों पर पौराणिक शैली का बहुत अधिक प्रभाव दिखाई पड़ता है किन्तु पौराणिक वस्तु-तत्व और धार्मिक दृष्टि-कोण के कारण किसी महाकाव्य की शैली पर पौराणिक शैली का प्रभाव पड़ना बिलकुल स्वाभाविक है। भारतीय साहित्य में पौराणिक शैली के महाकाव्यों की कमी नहीं है, यह हम तीसरे अध्याय में देख चुके हैं। अतः रामचरितमानस को रामायण, पउमचरिय, पउमचरिउ, रिट्ठणेमिचरिउ, महापुराण आदि पौराणिक शैली के महाकाव्यों की परम्परा में रख कर ही उसका मूल्यांकन होना चाहिए। जो विद्वान् उसे पुराण काव्य कहते हैं उनका अभिप्राय यह बताना नहीं है कि 'मानस' पौराणिक शैली का महाकाव्य है क्योंकि वे तो स्पष्ट कहते हैं कि वह महाकाव्य नहीं बल्कि पुराण है, उसमें काव्यात्मकता भी है अतः उसे पुराण-काव्य कहा जा सकता है।[1]

रामचरितमानस पुराण है या नहीं, इसका निर्णय करने का उपाय यही है कि उसमें पुराण के लक्षण खोजे जायँ। पुराण का प्राचीनतम अर्थ प्राचीन आख्यान होता था। कौटिलीय अर्थशास्त्र (१-५) में इतिहास के अन्तर्गत ही पुराण और इतिवृत्त को भी माना गया है जिससे सिद्ध होता है कि उस समय इतिवृत्त का अर्थ ऐतिहासिक तथ्य और पुराण का अर्थ पौराणिक और निज-

१—डा० श्रीकृष्णलाल—मानस-दर्शन, पृ० १४७।

न्धरी आख्यान माना जाता था। ब्राह्मण ग्रन्थों, उपनिषदों और बौद्ध साहित्य में भी पुराण शब्द इतिहास के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है और बहुधा दोनों शब्दों का प्रयोग एक साथ (इतिहास-पुराण) हुआ है।[1] कालान्तर में जब पौराणिक कथाओं का संग्रह किया गया और उनका उपयोग ब्राह्मणों द्वारा धर्मग्रंथ के रूप में किया जाने लगा तो उनमें कर्मकाण्ड, तीर्थ-व्रत, धर्म-उपासना, दर्शन-धर्मशास्त्र आदि की बातें भी जोड़ दी गयीं। इस तरह परवर्ती काल में पुराण धार्मिक साहित्य के रूप में मान्य हुए और आज जो प्रमुख १८ पुराण हमें अपने वर्तमान रूप में उपलब्ध हैं वे आज के हिन्दू धर्म के प्रधान धर्मग्रंथ के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। यह अवश्य है कि उनमें प्राचीन इतिहास और पुरातन ज्ञान की बाते बिखरे रूप में अवशिष्ट रह गयी हैं। पर उनका जो वर्तमान रूप है उसमें न तो प्रबन्धत्व (कथानक सम्बन्धी अन्विति) है और न अलंकृति, छन्द-योजना तथा भाषा-सौन्दर्य आदि काव्यात्मक तत्वों का ही विधान है। अतः उन्हें काव्य या महाकाव्य की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता और न पहले ही कभी रखा गया था। पुराण-साहित्य एक भिन्न ही प्रकार का साहित्य है जिसके ये पाँच आवश्यक लक्षण माने गये हैं:—१–सर्ग, २–प्रतिसर्ग, ३–ऋषियों और देवताओं का वंश वर्णन, ४–मन्वन्तरों का वर्णन, ५–वंशानुचरित अर्थात् राजवंशों का वर्णन। इस तरह उनमें सृष्टि की उत्पत्ति की कथा से लेकर अनेकानेक राजवंशों के राजाओं तक का इतिहास मिलता है। किन्तु पुराणों में केवल इतनी ही बातें नहीं हैं, उनमें ज्ञान-कोष और धर्मशास्त्र की भी अनेक विशेषताएँ दिखलाई पड़ती हैं, जैसे अग्निपुराण में विभिन्न अवतारों के वर्णन के साथ साथ, देवताओं की पूजा-विधि, देवालय, प्रासाद आदि की निर्माण-विधि, राज्याभिषेक-विधि, प्रायश्चित्त, मंत्र-तंत्र, श्राद्धकल्प, तीर्थ-व्रत, राजनीति, ज्योतिष, भूगोल, शकुन-शास्त्र, युद्ध-विद्या, रत्न-परीक्षा, धनुर्वेद, आयुर्वेद, स्त्री-पुरुष-लक्षण, अर्थ-शास्त्र, पशु-विद्या, छन्द-अलंकार और रस-शास्त्र, संगीतशास्त्र, व्याकरण, दर्शनशास्त्र, माहात्म्य-स्तोत्र आदि का भी विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। विण्टरनित्स ने पुराणों का एक सामान्य लक्षण यह बताया है कि उनमें से प्रत्येक में किसी न किसी देवता या अवतार को आधार बनाकर किसी संप्रदाय विशेष का प्रचार किया गया है।[2] पुराण-साहित्य की प्रतिष्ठा हिन्दू धर्म में ही नहीं, बौद्ध और जैन धर्मों में भी बहुत अधिक है।

१–एम० विन्टरनित्स–ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर–प्रथम भाग, पृ०५१८।
२—वही, पृ० ५२२।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि विषयवस्तु, शैली और उद्देश्य सभी दृष्टियों से पुराण काव्य से बिल्कुल भिन्न प्रकार का साहित्य है। रामचरितमानस में सर्ग, प्रतिसर्ग, मन्वन्तर आदि का वर्णन तो नहीं ही हुआ है, विभिन्न राजवंशों का वंशानुकथन, तीर्थ व्रत का माहात्म्य तथा अन्य बातें भी जो प्रायः सभी पुराणों में मिलती हैं, उसमें नहीं हैं। ऋषियों और देवताओं का वंश वर्णन तो दूर, उसमें काव्य के नायक के वंश का भी वर्णन नहीं हुआ है। तुलसी को यदि पुराण-रूप में ही रामचरितमानस लिखना होता तो उन्होंने राम के पूर्वजों का भी उसी प्रकार क्रमबद्ध इतिहास लिखा होता जैसा पुराणों में मिलता है। पर उसमें तो रघु, अज, दिलीप आदि क्या, राम के पिता दशरथ का भी पूर्ण इतिहास नहीं लिखा गया है। इस तरह किसी भी दृष्टि से रामचरितमानस पुराण नहीं है। जिन बातों के आधार पर उसे पुराण कहा जाता है, वे ये हैं :—

१—उसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय राम को परब्रह्म सिद्ध करना और राम-भक्ति का प्रचार करना है और उसके नायक महापुरुष नहीं स्वयं ब्रह्म हैं।

२—उसका फल धर्म, अर्थ, काम या मोक्ष नहीं बल्कि चतुर्वर्ग से परे विश्राम की प्राप्ति है।

३—उसमें राम-कथा की प्राचीन परंपरा का वर्णन है।

४—उसमें राम-कथा के अतिरिक्त शिव, नारद, प्रतापभानु और काक-भुशुण्डि से संबंधित कथाएँ भी अवान्तर कथा के रूप में कही गयी हैं।

५—उसमें बीच-बीच में छोटे-छोटे उपदेशात्मक संवाद अधिक हैं।

६—उसकी कथा श्रोता-वक्ता के बीच संवाद रूप में कही गयी है।

७—उसमें शंकाओं के समाधान में हठवादिता का अवलंबन किया गया है, तर्क का नहीं और प्रश्नों के उत्तर में कथाएँ कही गयी हैं।

८—उसमें बात बात में आगम-निगम और पुराणों की दुहाई दी गयी है और हर जगह आकाशवाणी, देवताओं द्वारा पुष्पवर्षा तथा अन्य अलौकिक कार्यों का वर्णन किया गया है।

ये बातें पुराणों में भी होती अवश्य हैं, पर इन्हीं की उपस्थिति के कारण कोई काव्य पुराण नहीं हो सकता। पुराणों में इन बातों के अतिरिक्त और भी बहुत सी बातें होती हैं जो रामचरितमानस में नहीं हैं। इसके अतिरिक्त 'मानस' को पुराण सिद्ध करने के लिए जो तर्क दिये जाते हैं वे अधिकांशतः हेत्वाभास मात्र हैं। उदाहरणार्थ 'मानस' का प्रतिपाद्य विषय राम का ब्रह्मत्व

सिद्ध करना नहीं बल्कि यह दिखाना है कि ब्रह्म ही राम के रूप में अवतरित होकर नर-लीला करता है। यदि राम का ब्रह्मत्व-प्रदर्शन और राम-भक्ति का प्रतिपादन करना ही तुलसी का लक्ष्य होता तो वे दर्शनशास्त्र की पद्धति अपनाते। इसके विपरीत उन्होंने ब्रह्म के उस नर-रूप अवतार का चरित-वर्णन किया है जो उनके आराध्य हैं। इसीलिए उन्होंने अपने ग्रंथ में राम की नर-लीला के वर्णन और उनके चारित्रिक सौन्दर्य के चित्रण को ही प्रमुखता प्रदान की है। उन्होंने लीला पुरुष दशरथ पुत्र राम को अपने काव्य का नायक बनाया है जो निर्गुण ब्रह्म के अवतार हैं; स्वयं निर्गुण ब्रह्म मानस का नायक नहीं है :—

पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि, प्रकट परावर नाथ।
रघुकुल मनि मम स्वामि सोइ, कहि सिव नायेउ माथ॥

× × ×

गिरिजा सुनहु राम कै लीला। सुरहित दनुज बिमोहन सीला। १-११३

इस तरह तुलसी ने स्पष्ट कर दिया है कि सगुण ब्रह्म राम ही उनके आराध्य और उनके महाकाव्य के नायक है। अतः यह तो कह सकते हैं कि मानस में कवि ने रामभक्ति को साध्य और काव्य-रचना को साधन माना है पर यह नहीं कहा जा सकता कि रामभक्ति साध्य होने से उनका काव्य पुराण या दर्शन है। मानस के फल के सबध में तो इतना ही कहना पर्याप्त है कि भारतीय संस्कृति में चार प्रकार के फलों--धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—के अतिरिक्त कोई पांचवां फल माना ही नहीं गया है। अतः 'विश्राम की प्राप्ति भी धर्म या मोक्ष के भीतर ही मानी जायगी, उसे चतुर्वर्ग फल से परे मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। जहाँ तक अवान्तर कथाओं, उपदेशात्मक संवादों, अवान्तर वर्णन और श्रोता-वक्ता-पद्धति से कथा कहने की शैली और कवि की साम्प्रदायिक मनोवृत्ति का प्रश्न है, ये बातें रामचरितमानस में ही नहीं, उन सभी महाकाव्यों में पाई जाती है हमने पहले पौराणिक शैली का महाकाव्य कहा है।

यदि तुलसी का उद्देश्य पुराण ही लिखना होता तो इसका उल्लेख कहीं न कहीं अवश्य करते कि वे पुराण लिख रहे है। पर मानस को उन्होंने कहीं भी पुराण नहीं कहा है; इसके विपरीत उन्होंने इसे सदैव कथा, गाथा, काव्य और प्रबन्ध (प्रबन्धकाव्य) कहा है। कोई भी पुराणकार अपने ग्रंथ को काव्य नहीं कहता और न अपने काव्यशास्त्रीय ज्ञान का ही परिचय देने की आवश्यकता समझता है। तुलसी ने मानस में प्रबन्धकाव्य की शैली तो अपनायी

ही है, प्रारम्भ में ही अपने काव्यशास्त्रीय ज्ञान का परिचय भी दिया है। निम्न-लिखित उक्तियों से स्पष्ट है कि वे काव्य या प्रबन्ध लिखना चाहते थे, पुराण नहीं :—

वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि।
मंगलानां च कर्तारौ वन्दे वाणी-विनायकौ।

× × ×

निज कवित्त केहि लाग न नीका। सरस होउ अथवा अति फीका। १-९

× × ×

कबित रसिक न राम पद नेहू। तिन कहँ सुखद हास रस एहू। १-९

× × ×

आखर अरथ अलंकृति नाना। छन्द प्रबन्ध अनेक विधाना।
भावभेद रसभेद अपारा। कबित दोष-गुन बिबिध प्रकारा। १-९

× × ×

जो प्रबन्ध बुध नहि आदरहीं। सो श्रम बादि बालकबि करहीं। १-१४

उपर्युक्त पंक्तियों में तुलसी ने न केवल यह बता दिया है कि वे राम के चरित्र को आश्रय बनाकर प्रबन्धकाव्य की रचना कर रहे हैं बल्कि यह भी स्पष्ट कर दिया है कि उनकी काव्य रचना का उद्देश्य क्या है। तुलसी की कविता लोकमंगल का साधन है। उनके अनुसार सच्ची कविता वही है जिससे सबका हित तो हो ही, जिसमें इतना प्रसाद गुण भी हो कि उसे पढ़कर कवि के शत्रुआलोचक भी उसकी प्रशंसा करें :—

सरल कबित कीरति बिमल, सोइ आदरहिं सुजान।
सहज बयर बिसराइ रिपु जो सुनि करहि बखान ॥१-१४॥

चरितकाव्य-परंपरा और रामचरितमानस—

चौथे अध्याय में कहा जा चुका है कि हिन्दी के मध्यकालीन महाकाव्य अपभ्रंश के चरितकाव्यों की परम्परा की देन हैं। अपभ्रंश के चरितकाव्य, जिनमें महाकाव्य, एकार्थकाव्य और खण्डकाव्य तीनों ही हैं, पौराणिक और रोमांचक शैली में लिखे गये हैं। उनमें से रोमांचक शैली के चरितकाव्यों की परम्परा हिन्दी में प्रेमाख्यानक काव्यों के रूप में दिखाई पड़ती है और पौराणिक शैली का सहज विकास रामचरितमानस जैसे काव्यों में हुआ है। पौराणिक शैली का प्रथम चरितकाव्य तो वाल्मीकि की रामायण ही है, क्योंकि उसमें कथात्मकता, वक्ताश्रोता-योजना, अवान्तर कथाएँ, भवान्तर आदि बातें

उसी तरह की हैं जैसे परवर्ती काल के पौराणिक शैली के चरितकाव्यों में मिलती है।

रामचरितमानस में अपभ्रंश के चरितकाव्यों की वे सभी विशेषताएँ दिखाई पड़ती हैं, जिनका उल्लेख चौथे अध्याय में किया जा चुका है। वे ये हैं:—

१—पौराणिक शैली के चरितकाव्यों की तरह मानस में भी प्रबन्धकाव्य और धर्मकथा के लक्षणों का समन्वय हुआ है। धर्मकथाएँ चरित और कथा नाम से लिखी जाती थीं और यही बातें चरितकाव्यों के नामों में भी मिलती है। अतः रामचरितमानस के नाम में जुड़ा चरित शब्द उसी चरितकाव्यों की परम्परा की ओर संकेत करता है। तुलसी ने स्वयं अपने काव्य को चरित, गाथा और कथा तीनों ही कहा है :—

करन चहौं रघुपति गुन गाहा। लघु मति मोर चरित अवगाहा। १-८

× × × ×

कहँ रघुपति के चरित अपारा। कहं मति मोरि निरत संसारा। १-१२

× × × ×

समुझत अमिति राम प्रभुताई। करत कथा मन अति कदराई। १-१२

× × × ×

२—अपभ्रंश के चरितकाव्यों में अधिकतर पौराणिक कथावस्तु अपनाई गयी है जिससे उनमें अलौकिक, अतिमानवीय और अतिप्राकृत तत्त्वों की अधिकता है। रामचरितमानस की आधिकारिक कथा तथा अन्य अवान्तर कथाएँ भी पौराणिक हैं, अतः उसमें उक्त तत्त्वों की अधिकता है। उसके नायक वाल्मीकि-रामायण के नायक की भाँति महान मानव ही नहीं, ब्रह्म के साक्षात् अवतार हैं अतः उनके व्यक्तित्व में अलौकिकता का होना स्वाभाविक है। यद्यपि मानस के राम नरचरित का अनुसरण करते हैं पर वे उत्पन्न होते ही अद्‌भुत रूप दिखाते हे जो स्वयं विष्णु का रूप है। कभी उनकी माता को यह देखकर अत्यन्त आश्चर्य होता है कि उनका पुत्र एक ही समय में पालने में भी है और पाक-गृह में भोजन भी कर रहा है। इसी तरह अहिल्या उद्धार, तीर से मारीच को सौ योजन दूर सागर पार फेंक देना, धनुष-भंग आदि कार्य उनके अलौकिकत्व का परिचय देते हैं।

इस प्रकार के कार्य सभी पौराणिक चरितकाव्यों में दिखलाई पड़ते हैं और इनमें से बहुतों को कथानक-सम्बन्धी 'अभिप्राय' मान लिया गया है।

३—चरितकाव्यों में साहसिक और रोमांचक तत्त्वों की अधिकता होती है। 'मानस' में भी इन तत्त्वों की कमी नहीं है। राम के अलौकिक कार्य,

बनवास-काल की भयंकर यात्रायें तथा अन्य चमत्कारपूर्ण कार्य अत्यंत साहस-पूर्ण हैं। हनुमान के तो सभी कार्य इतने साहसपूर्ण हैं कि वे अतिप्राकृत प्रतीत होते हैं। कथाकाव्यों की कुछ रोमांचक कथानकरूढ़ियाँ भी 'मानस' में प्रयुक्त हैं; सरोवर-तट, वाटिका, वन या मंदिर में सुन्दरियों से भेंट और प्रथम दर्शन में प्रेम मध्ययुग की एक प्रचलित कथानकरूढ़ि है। तुलसी ने इसी रूढ़ि के पालन के लिए जनकपुर में वाटिका में राम और सीता का प्रथम साक्षात्कार कराया है।

गौतम के शाप से अहिल्या शिला हो गयी थी। शाप से या मंत्र-तंत्र से पत्थर बन जाना भी एक कथानकरूढ़ि ही है। वाल्मीकि ने अहिल्या का पत्थर हो जाना नहीं लिखा है। उनके अनुसार गौतम ने अहिल्या को यह शाप दिया कि वह अदृश्य होकर उपवास और तपस्या करती रहेगी।[1] अध्यात्म-रामायण के अनुसार गौतम का शाप यह था कि अहिल्या शिला में निवास करेगी और निराहार रह कर धूप, वर्षा आदि को सहन करती हुई तपस्या करेगी और उनका आश्रम जीव-जन्तुओं से विहीन हो जायगा[2]। तुलसीदास के समय में उपर्युक्त कथानकरूढ़ि के आग्रह से उस शाप का रूप यह मान लिया गया कि अहिल्या स्वयं पत्थर हो गयी थी। इसी प्रकार मंत्राभिषिक्त अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग भी एक कथानकरूढ़ि है जिसका उपयोग कथा में रोमांचकता लाने के लिए होता है। 'मानस' में अनेक स्थानों पर मंत्रास्त्रों का प्रयोग दिखाया गया है जैसे सीता के चरणों में चोंच मारने पर राम जयन्त पर मंत्र-प्रेरित बाण छोड़ते हैं जो जयन्त का पीछा करता है।

४—चरितकाव्यों के अनुरूप 'मानस' में प्रेम, वीरता और वैराग्य की भावनाओं का पूर्ण सामंजस्य दिखाई पड़ता है। उसमें आद्यन्त ये तीनों प्रवृत्तियाँ परस्पर सबद्ध रूप में दिखाई पड़ती हैं। 'मानस' की वैराग्य भावना भक्तिमूलक है और वह भक्ति प्रेम और वीरता के अनन्य आश्रय राम के प्रति है। राम

१—वाल्मीकि-रामायण, १-४८-३० ।

२—दुष्टे त्व तिष्ठ दुर्वृत्ते शिलायामाश्रमे मम ॥
निराहारा दिवारात्रं तपः परममास्थिता ।
आतपानिलवर्षादिसहिष्णुः परमेश्वरम् ॥
ध्यायन्ती राममेकाग्रमनसा हृदि संस्थितम् ।
नाना जन्तुविहीनोऽयमाश्रमस्ते भविष्यति ॥

अध्यात्म-रामायण—१-५-२७, २८, २९ ।

और सीता का गंभीर प्रेम ही मानस की कथा का मूलाधार है। तुलसी ने अपने काव्य को वाल्मीकि-रामायण की तरह करुण रस में पर्यवसित नहीं किया है। सीता की प्राप्ति और रामराज्य की स्थापना में प्रेम और वीरता की चरम परिणति दिखा कर तुलसी ने राम-कथा को समाप्त कर दिया है। राम-कथा के अंतिम दुखद अंश को तुलसी ने जान-बूझ कर 'मानस' में नहीं अपनाया है क्योंकि उससे राम के गंभीर प्रेम में व्याघात उत्पन्न होता। वाल्मीकि-रामायण और अध्यात्म-रामायण की तरह उन्होंने राम और अन्य लोगों का देहावसान भी नहीं दिखाया है। जैन चरितकाव्यों में प्राय. नायक को कैवल्य या मोक्ष प्राप्त करते हुए या जैन साधु बनते हुए दिखाया गया है। 'मानस' में ये दोनों बातें नहीं हैं।' प्रथम साक्षात्कार में प्रेम, वीरता-प्रदर्शन कर प्रिया की प्राप्ति, विवाह और वनवास तथा सीता-हरण के रूप मे प्रेम-मार्ग की बाधाएँ, सेतु-बन्धन और द्वीपान्तर-यात्रा, अन्त में युद्ध में शत्रु को परास्त कर प्रिया की प्राप्ति आदि बातें चरितकाव्यों की प्रेम-कथा-पद्धति से बहुत मिलती हैं। फिर भी चरित-काव्यों की तुलना में 'मानस' में एक विशिष्टता यह है कि उसका दृष्टिकोण आध्यात्मिक और मर्यादावादी है। इसी कारण 'मानस' की मूल प्रेरक शक्ति वैराग्य-समन्वित भक्ति ही है।

५—अपभ्रंश के चरितकाव्यों की भाँति 'मानस' भी शान्तरस-पर्यवसायी है, यद्यपि उसमें वीररस की भी प्रमुखता है। इस संबंध में मानस के महा-काव्यत्व के प्रसंग में विशेष रूप से विचार किया जायगा।

६—नायक की दृष्टि से 'मानस' चरितकाव्यों की परंपरा में नहीं आता, क्योंकि उसका नायक सामान्य मानव नहीं, ब्रह्म का अवतार है और तुलसी ने मानवता के संपूर्ण आदर्शों को उसमें मूर्त करने का प्रयत्न किया है। किन्तु उसमें शुभ-अशुभ कर्मों का तदनुरूप फल दिखाने और अनेक पात्रों के चरित्र में समुचित परिस्थिति उपस्थित होने पर सुधार दिखाने की प्रवृत्ति चरित-काव्यों की ही है।

७—संपूर्ण जीवनवृत्त के वर्णन, कथात्मकता और वस्तु-वर्णन की दृष्टि से रामचरितमानस में शास्त्रीय महाकाव्य और चरितकाव्य, दोनो का समन्वय हुआ है। उसमें राम के जीवन-चरित का अधिकांश तो वर्णित है, पर सीता-निर्वासन, लवकुश-जन्म, अश्वमेध-यज्ञ में लवकुश का रामायण-गान, सीता की पुनः सतीत्व-परीक्षा और पृथ्वी में समा जाना, राम तथा अन्य लोगों का स्वर्गा-रोहण आदि घटनाओं का वर्णन नहीं हुआ है। वाल्मीकि-रामायण, अध्यात्म-रामायण तथा पुराणों की राम कथा में ये बातें मिलती हैं। इस तरह चरित-

काव्यों में नायक के संपूर्ण जीवनवृत्त का वर्णन करने की जो प्रवृत्ति मिलती है वह इसमें नहीं है। शास्त्रीय महाकाव्य में कवि पूरे जीवनवृत्त से अपने उद्देश्य के अनुकूल कुछ अंशों को ही चुनता है और महत्कार्य दिखाकर कथानक को समाप्त कर देता है। इस दृष्टि से 'मानस' शास्त्रीय महाकाव्यों के अधिक निकट है। किन्तु अनेक पात्रों के भवान्तर और राम के अनेक बार अवतार लेने की कथाओं के कारण 'मानस' चरितकाव्यों की परम्परा में आता है। इस तरह उसमें एक ओर चरितकाव्यों के अनुरूप संक्षेप में अधिक से अधिक घटनाओं के वर्णन की प्रवृत्ति है तो दूसरी ओर शास्त्रीय महाकाव्यों के अनुसार किसी किसी घटना या प्रसंग का अत्यन्त विस्तार से भी वर्णन हुआ है। विश्वामित्र का अयोध्या जाकर राम-लक्ष्मण को माँगने की घटना से लेकर जनकपुर पहुँचने तक की बातों का वर्णन वाल्मीकि-रामायण में पूरे ३१ सर्गों (बा० का० १८ से ४९ वें सर्ग तक) में और अध्यात्म-रामायण में करीब सौ अनुष्टुप छन्दों में हुआ है, पर 'मानस' में ये सब बातें कुल सात दोहों या कडवकों (कुल ८८ पंक्तियों) में कह दी गयी हैं। इससे स्पष्ट है कि 'मानस' की कथा यहाँ बड़ी तीव्र-गति से आगे बढ़ी है, पर फुलवारी-वर्णन, धनुष यज्ञ और विवाह का वर्णन उसमें बड़े विस्तार से किया गया है। चरितकाव्यों में इतना वर्णन-विस्तार नहीं होता। अतः इस दृष्टि से भी 'मानस' में शास्त्रीय महाकाव्य और चरितकाव्य की शैलियों का समन्वय हुआ है।

✓ ८—प्रबन्धरूढ़ियों की दृष्टि से 'मानस' पूर्णरूप से चरितकाव्य की परम्परा में आता है, शास्त्रीय महाकाव्यों की परम्परा में नहीं। यद्यपि आलंकारिकों ने प्रारम्भ में मङ्गलाचरण, पूर्व-कवि-प्रशंसा, वस्तु-निर्देश, सज्जन-दुर्जन-चिन्ता आदि का होना महाकाव्य के लक्षण के रूप में स्वीकार किया है, किन्तु संस्कृत के प्रारम्भिक शास्त्रीय महाकाव्यों में से कुछ में तो ये प्रबन्ध-रूढ़ियाँ बिलकुल नहीं हैं और कुछ में कुछ छन्दों में मङ्गलाचरण, वस्तु-निर्देश और पूर्व-कविप्रशंसा करके तथा अपनी विनम्रता का संक्षेप में प्रदर्शन करके कवियों ने सीधे कथा आरम्भ कर दी है। इसके विपरीत, संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के चरितकाव्यों में ये रूढ़ियाँ संख्या और विस्तार में बहुत बढ़ गयी हैं।

रामचरितमानस में चरितकाव्यों की पद्धति का ही अनुसरण किया गया है। इसमें १०४ दोहों (कडवकों) में प्रस्तावना है। फिर रावण का पूर्व-भव वर्णन करने के बाद १७६ वें दोहे से, आधिकारिक कथा का प्रारम्भ होता है। तुलसी ने प्रारम्भ के ४३ दोहों में बड़े विस्तार के साथ ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सरस्वती, गणेश, हनुमान आदि देवी-देवताओं की स्तुति, गुरु तथा पूर्व-कवियों

की वन्दना, सज्जन-प्रशंसा, दुर्जन-निन्दा, सत्संग महिमा, विनम्रता-प्रदर्शन, काव्य-शास्त्रीय विवेचन, काव्य-रचना का उद्देश्य, वस्तु-निर्देश आदि बातें लिखी हैं। फिर राम-कथा के सभी पात्रों की वन्दना करके, राम-नाम की महिमा, राम-कथा की परम्परा और उसका महत्त्व, वस्तु-निर्देश, आत्म-निवेदन, काव्य का रचना-काल और कथा की प्रमुख घटनाओं का संक्षेप में वर्णन किया गया है। इस प्रकार काव्यारम्भ की शैली और प्रबन्धरूढ़ियों की दृष्टि से मानस सर्वतोभावेन चरित-काव्यों की परंपरा में आता है।

९—छन्दयोजना की दृष्टि से भी मानस अपभ्रंश के चरितकाव्यों की ही परम्परा में आता है। उसमें भी 'पद्मावत' की तरह अपभ्रंश-काव्यों को कडवक-शैली अपनाई गयी है और चौपाई, दोहा, हरिगीतिका, त्रोटक आदि छन्द भी अपभ्रंश-काव्यों के समान ही हैं।

'मानस' में पौराणिक शैली की विशेषताएँ—

रामचरितमानस में पौराणिक शैली की निम्नलिखित विशेषताएँ दिखाई पड़ती हैं:—

१—कथान्तर और श्रोता-वक्ता-परम्परा—

प्रारंभिक कथान्तर या श्रोता-वक्ता के प्रश्नोत्तर के रूप में कथा कहने की शैली प्रायः सभी पौराणिक शैली के महाकाव्यों में मिलती है। महाभारत रामायण और पृथ्वीराजरासो जैसे विकसनशील महाकाव्यों में भी यही शैली अपनाई गई है क्योंकि पौराणिक शैली के तत्त्व बीज-रूप में विकसनशील महाकाव्यों में ही मिलते हैं और उन्हीं का विकास पौराणिक शैली के महाकाव्यों में दिखलाई पड़ता है। मानस की कथा लिख कर व्यास ने सर्वप्रथम अपने शिष्य को सुनायी थी, उसके बाद उसे वैशम्पायन ने जनमेजय को और सौति ने शनकादि ऋषियों को सुनाया। पुराण भी सूत शौनक-संवाद रूप में ही लिखे गये हैं। रामायण की कथा सबसे पहले वाल्मीकि द्वारा प्रश्न करने पर नारद ने उन्हें सुनाई। फिर वाल्मीकि ने उसे लिख कर लव-कुश को सुनाया और लव-कुश ने उसे ऋषियों को तथा राम के अश्वमेध के समय अयोध्या-वासियों को सुनाया। परन्तु रामचरितमानसमें कथा परपरा का जो वर्णन किया गया है वह बहुत कुछ अध्यात्म-रामायण के अनुसार है। अध्यात्म-रामायण की कथा सूत जी श्रोताओं को सुनाते हैं और बताते हैं कि अध्यात्म रामायण का ब्रह्मा जी ने नारद के सम्मुख प्रकाशन किया यद्यपि उसे सबसे प्रथम सीता तथा राम ने हनुमान को सुनाया था और फिर बाद में पार्वती जी द्वारा राम के ब्रह्मत्व के विषय में शंका करने पर शिव जी ने उन्हें

सुनाया था। शिव जी ने अध्यात्म-रामायण रूपी 'रामहृदय' को सुनाकर उसे अत्यन्त गुह्य रखने की सलाह दी थी।[1] फिर बाद में ब्रह्मा ने उसे कलियुग के लोगों के निस्तार के लिए नारद को सुनाया। इस तरह अध्यात्म-रामायण में चार वक्ता और चार श्रोता हैं :—

१—सीता और राम ... हनुमान
२—शिव ... ... पार्वती
३—ब्रह्मा ... ... नारद
४—सूत ... ... श्रोता और पाठक

रामचरित-मानस की वक्ता-श्रोता परंपरा अध्यात्म-रामायण से कुछ भिन्न है, यद्यपि उसमें भी राम-कथा के चार वक्ता और चार श्रोता हैं। तुलसी ने इस परंपरा का वर्णन इस प्रकार है :—

१—सम्भु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा॥
२—सोइ सिव कागभुसुण्डिहि दीन्हा। राम भगति अधिकारी चीन्हा॥
३—तेहि सन जागबलिक पुनि पावा। तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा॥
ते श्रोता बकता समशीला। समदरसी जानहि हरिलीला॥
४-मै पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकरखेत।
समुझी नहिं तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत॥ १-३०

किन्तु राम-कथा के श्रोता-वक्ताओं की श्रृंखला की अन्य कड़ियाँ भी हैं। 'मानस' के ही अनुसार रामावतार सभी कल्पों में हुआ, अतः राम-कथाएँ भी असंख्य हैं :—

नाना भाँति राम अवतारा। रामायन सत कोटि अपारा।
कलप भेद हरि चरित सुहाए। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाये।

अतः शिव जी ने एक राम-कथा कुम्भज ऋषि से सुनी थी :—

एक बार त्रेता जुग माँही। संभु गये कुंभज ऋषि पाहीं।
राम कथा मुनिवर्ज बखानी। सुनी महेस परम सुख मानी।

दूसरी राम-कथा उन्होंने काकभुशुण्डि से सुनी थी :—

मैं जिमि कथा सुनी भव मोचनि। सो प्रसंग सुनु सुमुखि सुलोचनि।

× × ×

तब कछु काल मराल तनु धरि तहँ कीन्ह निवास।
सादर सुनि रघुपति गुन पुनि आयेउँ कैलास॥ ७-५६-५७

१—एतत्तेऽभिहितं देवि श्री रामहृदयं मया।
अतिगुह्यतमं हृद्य पवित्रं पापशोधनम्॥ अ० रा० १-१-५३

उसी तरह भुशुण्डि ने एक राम-कथा शिव से और दूसरी लोमस ऋषि से सुनी थी—

मेरु सिखर बट छाया मुनि लोमस आसीन।
देखि चरन सिरु नायेउ बचन कहेउँ अति दीन॥ ७-११०

× × ×

मुनि मोहि कछुक काल तहँ राखा। रामचरित मानस तब भाषा।
—७-११३

फिर भुसुण्डि ने यही कथा गरुड़ से कही :—

सुनु सुभ कथा भवानि, रामचरित मानस बिमल।
कहा भुसुण्डि बखानि, सुना बिहगनायक गरुड़। १-१२०

इस प्रकार 'मानस' में राम-कथा की श्रोता-वक्ता की कई परपरायें बताई गई है। वे ये हैं—

(१) शिव-लोमस तथा भुशुण्डि और गरुड़ वाली परम्परा।
(२) भुशुण्डि, शिव और पार्वती वाली परम्परा।
(३) शिव-भुशुडि-याज्ञवल्क्य-भारद्वाज वाली परम्परा।

'मानस' के प्रधान वक्ता तो स्वयं तुलसी है पर उन्होंने सारी कथा याज्ञवल्क के मुख से भारद्वाज को संबोधित करके कहवाई है याज्ञवल्क ने उसे उसी रूप में कहा है जिस रूप में शिव ने पार्वती से कहा था और शिव ने भी पार्वती को वही कथा सुनाई थी जो भुशुण्डि ने स्वयं शिव को और गरुड़ को सुनाई थी। परिणामस्वरूप 'मानस' में कथा के वक्ता तीन—याज्ञवल्क, शिव और भुशुण्डि—ही हैं, क्योंकि उन्होंने पूरे काव्य में अपने श्रोताओं—भारद्वाज, पार्वती और गरुड़—को स्थान-स्थान पर नाम लेकर संबोधित किया है। पर तुलसी ने केवल संबोधन द्वारा ही यह नहीं है कि यह कथा संवाद-रूप में कही गयी थी, उन्होंने उन अवसरों और परिस्थितियों का भी विस्तार से वर्णन किया है जब यह कथा विभिन्न वक्ताओं द्वारा विभिन्न श्रोताओं से कही गयी थी। तीनों बार प्रश्नकर्ताओं को एक ही शंका हुई थी, जिसके समाधान के लिए राम कथा कही गयी थी :—

भारद्वाज की शंका—

राम कवन प्रभु पूछौं तोही। कहिय बुझाइ कृपानिधि मोही।
एक राम अवधेसकुमारा। तिन्ह कर चरित विदित संसारा।
नारि बिरह दुख लहेउ अपारा। भएउ रोषु रन रावन मारा।

प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ जाहि जपत त्रिपुरारि।
सत्य धाम सर्वज्ञ तुम्ह कहहु बिबेकु बिचारि॥ १-४६

पार्वती की शंका

ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत वेद॥ १-५०

× × ×

राम सो अवधनृपति सुत सोई। की अज अगुन अलखगति कोई।
जौ नृपतनय त ब्रह्म किमि, नारि बिरह मति भोरि।
देखि चरित महिमा सुनत, भ्रमति बुद्धि अति मोरि॥ १-१०८

गरुड़ की शंका

व्यापक ब्रह्म बिरज बागीसा। माया मोह पार परमीसा।
सो अवतार सुनेउँ जग माहीं। देखेउँ सो प्रभाव कछु नाहीं।
भव बन्धन तें छूटहि नर जपि जाकर नाम।
खर्व निसाचर बाँधेउ नाग पास सोइ राम॥-७-५८

इस तरह की कथा की परंपरा बताने और शंका-समाधान के रूप में कथा कहने की शैली अपभ्रंश के पौराणिक महाकाव्यों में भी मिलती है। स्वयम्भू के पउमचरिउ में कथा-परम्परा का वर्णन जिस रूप में हुआ है वह 'मानस' के वर्णन से बहुत मिलता-जुलता है। तुलना के लिये उसको यहाँ दिया जा रहा है:—

वद्धमाण मुह कुहर विणिग्गय। रामकहा-णइ एह कमागय॥

× × ×

एह रामकह सरि सोहन्ती। गणहर-देवहि दिट्ठ वहन्ती।
पच्छइ इन्दभूइ-आयरिएं। पुणु धम्मेण गुणालंकरिएँ॥
पुणु पहवे संसारा राएँ। कित्तिहरेण अणुत्तरवाएँ।
पुणु रविषेणायरिय पसाएँ। बुद्धिए अवगाहिय कइराएँ॥

—पउमचरिउ—१-२

अर्थात् रामकथा रूपी नदी अन्तिम तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर के मुख-कुहर से निकली, फिर इन्द्रभूति, कीर्तिधर अनुत्तरवाग्मिन, कविराज रविषेण आदि द्वारा राम-कथा की परंपरा आगे बढ़ाई गयी। स्वयम्भू ने इसी रामकथा का वर्णन श्रेणिक और गणधर गौतम के संवाद के रूप में किया है। पउमचरिउ में भी श्रेणिक ने समवरण के समय महावीर के संमुख रामकथा के संबंध में 'मानस' के प्रश्नकर्त्ताओं के समान ही अपनी शंका उपस्थित की थी:—

परमेसर पर-सासणेहि सुव्वइ णिवरेरी।
कहे जिण सासण केम थिय कह राहव केरी ॥

× × ×

जइ रामहो तिहुवणु उवरे माइ। तो रावणु कहि तिय लेवि जाइ।
अण्णु वि खरदूसण समरे देव। पहु जुज्झइ सुज्झइ भिच्चु केव ॥

× × ×

किह वाणर गिरिवर उव्वहन्ति। बन्धेवि मयरहरू समुत्तरन्ति ॥
किह रावण दह मुहु वीस-हत्थु। अमराहिव-भुव-बन्धण सयत्थु ॥
१-१-१०, ११

'मानस' के श्रोताओं की शंका तो राम के ब्रह्मत्व या अलौकिकत्व के ही संबंध में है, पर पउमचरिउ में श्रेणिक की शंका ब्राह्मण-परम्परा में प्रचलित राम-कथा के सभी पात्रों की अलौकिकता या अस्वाभाविकता के सम्बन्ध मे है। वह जानना चाहता है कि यदि सारा जगत राम के उदर में ही स्थित है तो रावण उनकी पत्नी को हर कर कहाँ ले गया, राम-खरदूषण-युद्ध में प्रभु और भृत्य के बीच भिड़न्त कैसे हुई, बन्दरों ने पहाड़ को कैसे उखाड़ा और समुद्र पार कैसे पहुँचे, रावण के दस मुख और बीस हाथ कैसे थे ? गणधर गौतम ने महावीर के कहने से इन प्रश्नों का उत्तर दिया, पर उत्तर सीधे न देकर पहले ऋषभदेव की उत्पत्ति और भरत बाहुबलि के युद्ध का वर्णन किया। वाल्मीकि-रामायण में भी प्रारम्भ के चार सर्गों में कथान्तर वर्णन हो हैं जिसमें वाल्मीकि के द्वारा रामायण लिखने और लव-कुश द्वारा उसके सुनाये जाने का वर्णन है। 'मानस' के प्रथम और अन्तिम सोपानों में प्रश्नकर्त्ताओं की शंका के साथ ही उन परिस्थितियों या अवसरों का भी विस्तार के साथ वर्णन किया गया है, जब वे प्रश्न किये गये थे। प्रथम सोपान में शिव चरित और सप्तम सोपान में काकभुशुंडि-चरित की योजना पउमचरिउ की उपर्युक्त कथाओं जैसे कथान्तर मात्र हैं। इस प्रकार प्रारम्भ में कथान्तर रखने और प्रश्नोत्तर से कथा प्रारम्भ करने की प्रवृत्ति प्रायः सभी पौराणिक शैली के महाकाव्यों में मिलती है।

२—वंश-परंपरा, भवान्तर और अवतारों का वर्णन

पौराणिक शैली के महाकाव्यों में नायक और प्रतिनायक की वंश-परंपरा का वर्णन भी मिलता है। वाल्मीकि-रामायण में इक्ष्वाकु वंश का सविस्तर वर्णन तो नहीं है, पर सगर, भगीरथ, अज और दशरथ से सम्बन्धित अनेक कथायें और वर्णन हैं। रामायण के उत्तरकाण्ड में राम और अगस्त्य के संवाद के रूप

में राक्षसों की वंशपरंपरा और रावण-चरित्र का वर्णन भी है। जैन रामायणों में भी राम की वंशपरंपरा का वर्णन अधिक नहीं है, पर वानरों, राक्षसों आदि की उत्पत्ति और रावण के चरित का विस्तार से वर्णन है। स्वयम्भू के पउमचरिउ के पूरे विद्याधर-काण्ड में इसी तरह की अवान्तर कथाएँ भरी हुई हैं। 'मानस' में नायक और प्रतिनायक में से किसी का भी वंश-वर्णन नहीं है। उसकी जगह इसमें राम के अवतार के कारणों और रावण आदि के भवान्तरों का वर्णन है। वाल्मीकि रामायण के १५ वें और १८ वें सर्गों में कहा गया है कि रावण के अत्याचार से व्याकुल होकर देवता और ऋषि ब्रह्मा को आगे करके विष्णु के पास गये और विष्णु ने अवतार लेकर रावण का वध करने की घोषणा की। ब्रह्मा की आज्ञा से देवता भी राम की सहायता के निमित्त वानर भालू इत्यादि योनियों में उत्पन्न हुए। 'मानस' में यह कथा तो आयी ही है, रामावतार का कारण बताने वाली कई और कथाएँ भी कही गयी हैं उसमें विभिन्न कल्पों के रामावतार के कुल सात कारण बताये गये हैं।

रामावतार के इतने कारण न तो वाल्मीकि-रामायण में हैं न अध्यात्म रामायण में। अवतारों के साथ ही 'मानस' में रावण, विभीषण, कुम्भकर्ण, दशरथ, कौशल्या, राक्षस, काकभुशुण्डि आदि के पूर्व भवों का भी वर्णन या उल्लेख हुआ है। हिन्दू, बौद्ध और जैन पौराणिक कथाओं में भवान्तर-वर्णन की प्रवृत्ति समान रूप से मिलती है और इसका प्रभाव संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के महाकाव्यों पर भी पड़ा है। कौतूहल की लीलावईकहा और सोमदेव के कथासरित्सागर में तो भवान्तर-वर्णन की अधिकता है ही, अपभ्रंश प्रबन्धकाव्यों में भी इस प्रवृत्ति की प्रमुखता है। इस तरह अवतार और भवान्तर वर्णन की दृष्टि से 'मानस' पौराणिक शैली के महाकाव्यों की परम्परा में आता है।

३—संवाद-रूप में उपदेशात्मक वर्णन

'भारतीय महाकाव्य का स्वरूप-विकास' शीर्षक अध्याय में कहा जा चुका है कि विकसनशील महाकाव्यों में प्राचीन ज्ञान-भंडार के प्रदर्शन और उपदेशात्मक वर्णन की प्रवृत्ति मिलती है। महाभारत और रामायण में इसके उदाहरण भरे पड़े हैं। यह पद्धति बाद में अलंकृत महाकाव्यों में भी अपनाई जाने लगी क्योंकि कवियों के सामने महाभारत रामायण का आदर्श था जिनमें यह प्रवृत्ति वर्तमान थी। भारतीय साहित्य में वर्णन-विस्तार और ज्ञान-उपदेश की बातों को जितना महत्त्व दिया जाता रहा है उतना कथा के सहज और अनवरुद्ध प्रवाह को नहीं। इस संबन्ध में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने बिलकुल ठीक

लिखा है कि वर्णन, तत्व-विचार और अवान्तर प्रसंगों से कथा-प्रवाह भले ही पद-पद पर स्खलित हो जाय पर प्रशान्त भारत कभी अधीर होता नहीं दिखाई पड़ा। यह प्रसंग काव्य के अंग है या प्रक्षिप्त, इसकी आलोचना निष्फल है क्योंकि प्रक्षिप्त विषयों को अपना लेने वाले यदि न रहते तो प्रक्षेपों को स्थान नहीं मिलता। ....भगवद्गीता के माहात्म्य को सभी जानते हैं, पर जब कुरुक्षेत्र के ऐसा घमासान युद्ध सिर पर हो तब शान्त होकर समस्त भगवद्गीता सुनना भारतवर्ष को छोड़ संसार के किसी देश में संभव नहीं। हम इस बात को मानते है कि किष्किन्धा और सुन्दर काण्ड में रोचक बातों की कमी नहीं है फिर जब राक्षस सीता को हरण करके ले गया तब कथा-भाग के ऊपर इन काण्डों की सृष्टि कर डालने की बात सहिष्णु भारतवर्ष ही सह सकता है, वही उसे क्षमा की दृष्टि से देख सकता है। वह उसे क्यों क्षमा करता है? इसका कारण यही है कि उसे कथा का अन्तभाग—परिणामांश—सुनने की उत्सुकता नहीं है। सोचते विचारते, पूछते जांचते और इधर-उधर देखते-भालते भारतवर्ष सात प्रकाण्ड काण्ड और अठारह विशाल पर्वों को शान्त चित्त से धीरे-धीरे श्रवण करने को निरन्तर लालायित रहता है।"[1] इस कथन से उस भारतीय मनोवृत्ति का पूर्ण परिचय मिल जाता है जिसके परिणामस्वरूप शास्त्रीय महाकाव्यों में अनावश्यक वस्तु-व्यापार-वर्णन और पौराणिक शैली के महाकाव्यों में अनपेक्षित और अप्रासंगिक उपदेशात्मक वर्णनो की अधिकता दिखाई पड़ती है।

रामायण-महाभारत के अतिरिक्त संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के पौराणिक शैली के महाकाव्यो में भी प्राचीन ज्ञान और धार्मिक सिद्धान्तों से संबधित वर्णनो की कितनी अधिकता है, यह चौथे अध्याय में दिखाया जा चुका है। रामचरित-मानस में भी इस प्रकार के सैद्धान्तिक विवेचनों और प्रचारात्मक उपदेशो की योजना हुई है। यद्यपि ये वर्णन मानस के काव्यात्मक पक्ष को कुछ दबा देते है परंतु उसके धर्मग्रन्थ रूप में स्वीकृत होने का कारण भी वे ही हैं। उनसे सामान्य हिन्दू जनता की आध्यात्मिक और धार्मिक पिपासा शान्त होती है। अतः जैसा रवि बाबू ने उपर्युक्त उद्धरण में कहा है, भारतीय मनोवृत्ति के अनुकूल होने से 'मानस' के उपदेशात्मक वर्णन काव्य-दोष नहीं माने जा सकते। स्वयं तुलसी की काव्य सम्बन्धी मान्यता भी यही थी कि काव्य का सर्वोत्तम उपयोग यही

१—रवीन्द्रनाथ ठाकुर—प्राचीन साहित्य (हिन्दी अनुवाद)—तृतीय संस्करण, पृ० ७०।

है कि उसमें रामभक्ति का उदय हो और काव्य में सौन्दर्य और गाम्भीर्य तभी आ सकता है जब कि उसमें सुन्दर विचार और तत्त्वचिन्तन की बातें हों :—

भगति हेतु विधि भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवति धाई।
रामचरित सर बिनु अन्हवायें। सो श्रम जाइ न कोटि उपायें।
हृदय सिन्धु मति सीपि समाना। स्वाती सारद कहहिं सुजाना।
जौं बरषै बर बारि बिचारू। होहिं कबित मुकुता मनि चारू। १-११

अपनी इसी मान्यता के अनुसार तुलसी ने 'मानस' का बौद्धिक स्तर बहुत ऊँचा रखा और ज्ञान, वैराग्य, भक्ति आदि का विवेचन विविध स्थलों पर विविध प्रकार से किया है। अपनी इस योजना पर उन्होंने प्रारम्भिक वस्तु-निर्देश में ही प्रकाश डाला है :—

सप्त प्रबन्ध सुभग सोपाना। ज्ञान नयन निरखत मन माना।

× × ×

सुकृत पुंज मंजुल अलिमाला। ज्ञान बिराग बिचार मराला।

× × ×

अरथ धरम कामादिक चारी। कहब ज्ञान विज्ञान बिचारी।
नव रस जप तप जोग बिरागा। ते सब जलचर चारु तड़ागा।

× × ×

भगति निरूपन बिबिध बिधाना। छमा दया दम लता बिताना।
सम जम नियम फूल फल ज्ञाना। हरिपद रति रस बेद बखाना। १-३७

तुलसी के इस वक्तव्य से प्रारम्भ में ही इस बात का आभास मिल जाता है कि उनके काव्य में ज्ञानोपदेश की बातों की अधिकता होगी। वस्तुतः 'मानस' में कवि को जहाँ भी — यहाँ तक कि प्रकृति-चित्रण में भी—अवसर हाथ लगता है, वह अपने मत का प्रकाशन करने से नहीं चूकता। ये उपदेशात्मक वर्णन चार रूपों में मिलते हैं :—

१—कवि के कथन के रूप में।

२—सभाओं या दरबारों में संवाद के रूप में।

३—विचार गोष्ठी या दो व्यक्तियों के प्रश्नोत्तर के रूप में।

४—बिना पूछे ही किसी पात्र द्वारा उपदेश के रूप में।

पहले प्रकार का शास्त्रीय ज्ञान-सम्बन्धी वर्णन 'मानस' के प्रारम्भ में ही मिलता है, जिसमें कवि ने वन्दना करते हुए सगुण और निर्गुण ब्रह्म तथा राम-नाम की महिमा और राम-भक्ति का विवेचन किया है। दूसरे प्रकार का वर्णन चित्रकूट में भरत-सभा में तथा रावण-अंगद-संवाद में मिलता है। तीसरे

प्रकार के उपदेशात्मक वर्णन शिव-पार्वती, याज्ञवल्क-भारद्वाज और कागभुशुण्डि-गरुड़ के संवादों में विशेष रूप से आये है, साथ ही राम की वन-यात्रा में ऋषि-मुनियों से भेंट के समय भी ऐसे वर्णन बहुत मिलते है। चौथे प्रकार के उप-देशात्मक वर्णन वे है जो किसी पात्र के मुँह से बिना पूछे ही कहवाये गये है, जैसे सप्तम सोपान में राम का नगरवासियों को बुलाकर भक्ति का निरूपण करना या वशिष्ठ का राम की वन्दना करते समय प्रेम-भक्ति का माहात्म्य बताना। ये चारों प्रकार की संवादात्मक ज्ञानोपदेश की बातें अधिकतर प्रथम और सप्तम सोपान में ही हैं। आधिकारिक कथा के बीच में इस तरह के वर्णन अधिक नहीं हैं। अतः उसके सहज प्रवाह में ऐसे वर्णनों से बाधा नहीं उत्पन्न हुई है। रामायण तथा पौराणिक शैली के अन्य महाकाव्यों में भी प्रायः प्रथम और अन्तिम काण्ड या सर्ग में ही ऐसे वर्णन मिलते हैं।

४—माहात्म्य और स्तोत्र

तुलसी ने निष्ठा और नियमपूर्वक सगुण ब्रह्म की लीलाओं और प्रभुत्व का गान किया है और प्राकृत जनों का गुणगान करने वाले काव्यों की भर्त्सना की है। साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट कह दिया है कि राम और उनके नाम का माहात्म्य-वर्णन ही 'मानस' का लक्ष्य है :—

एहि मह रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा।

× × ×

जेहि मह आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना। ७-६१

अतः ऐसे चरित-नायक की, जो काव्य के नायक ही नहीं कवि के परम आराध्य भी हों, प्रशस्ति का स्वयं गान करने और बड़े बड़े देवताओं, ऋषियों, मुनियों और भक्तों के मुख से उनका स्तवन कराने में तुलसी को कोई संकोच नहीं हुआ है। रामायण-महाभारत और पुराणों में माहात्म्य-वर्णन और स्तोत्र बहुत मिलते हैं। रामभक्ति का प्रचार होने पर रामनुज-संप्रदाय में अनेक उप-निषदों और धर्मकथाओं की रचना हुई, जिसमें राम के माहात्म्य, मंत्र और स्तुतियों का प्राधान्य था। अध्यात्म-रामायण उसी प्रकार का धर्मग्रंथ है और 'मानस' का प्रधान प्रेरणा-स्रोत भी वही है। अतः 'मानस' में भी माहात्म्य-वर्णन और स्तोत्रों का होना स्वाभाविक है। अध्यात्म-रामायण और 'मानस' में इस दृष्टि से अन्तर इतना ही है कि अध्यात्म-रामायण में दर्शन, उपदेश, माहात्म्य-वर्णन और स्तोत्रों की अधिकता और काव्यात्मकता का नितान्त अभाव है जब कि 'मानस' में काव्यात्मकता बहुत अधिक है और माहात्म्यादि अपेक्षाकृत बहुत कम हैं। ये वर्णन इतने प्रकार के हैं :—

१—कवि द्वारा स्वयं अपने ग्रंथ, काव्य विषय और नायक का माहात्म्य वर्णन।

२—देवताओं, ऋषियों और भक्तों का राम के सामने उपस्थित होकर उनका स्तवन, देवताओं द्वारा विविध अवसरों पर पुष्प-वर्षा, गन्धर्वों का नृत्य-गान।

३—कथा के पात्रों द्वारा विविध अवसरों पर राम या शिव की स्तुति और गुण-गान करना।

४—सोपानों (काण्डों) के आदि में देवताओं की स्तुति और अन्त में सोपानों का माहात्म्य-वर्णन तथा पुष्पिका में नामकरण।

'मानस' के अन्तिम सोपान के अन्त में तुलसी ने वाल्मीकि-रामायण की भाँति कई छन्दों में ग्रन्थ का माहात्म्य वर्णन किया है। पौराणिक शैली के महाकाव्यों में ग्रन्थ का माहात्म्य-वर्णन इसलिये किया जाता था कि लोग धर्मग्रंथ समझ कर उनका पाठ या गान करें। अपभ्रंश के पौराणिक महाकाव्यों में भी सर्वत्र यही बात पायी जाती है। देवताओं और ऋषि मुनियों ने 'मानस' में अनेक स्थलों पर विष्णु, राम या शिव की स्तुति की है। तुलसी ने ऐसे अवसरों पर लम्बे लम्बे श्लोक लिखे हैं जिनका कथा या काव्य की दृष्टि से तो कोई महत्व नहीं है, पर भक्त-जनों के लिए वे बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं। मानस की कथा के पात्रों ने भी विविध अवसरों पर स्वयं राम के सम्मुख या एक दूसरे से संवाद रूप में राम का माहात्म्य-वर्णन किया है—जैसे शिव-पार्वती, काग-भुशुण्डि-गरुड़ और याज्ञवल्क्य-भारद्वाज के संवादों में तो इस प्रकार का माहात्म्य और प्रशस्ति-गान भरा ही है, आधिकारिक कथा के भीतर भी अनेक स्थलों पर ऐसे वर्णन हैं।

तुलसी ने 'मानस' के प्रत्येक सोपान के आदि में मंगलाचरण लिखा है और कहीं कहीं राम या राम-कथा का माहात्म्य-वर्णन भी किया है। उसी तरह प्रत्येक सोपान के अन्त में उसमें वर्णित प्रधान घटना का माहात्म्य और उसका फल बताने के बाद पुष्पिका में उस सोपान का नामकरण किया है। प्रत्येक सोपान का मंगलाचरण श्लोकबद्ध संस्कृत में और पुष्पिका संस्कृत गद्य में है। कई अपभ्रंश-महाकाव्यों में भी यही पद्धति अपनायी गयी है। पुष्पदन्त ने महापुराण में सन्धियों के प्रारम्भ में संस्कृत छन्दों में अपने आश्रयदाता भरत की प्रशस्ति या सरस्वती आदि की वन्दना लिखी है और उसके बाद अपभ्रंश में मंगलाचरण लिखा है। उसी तरह प्रत्येक सन्धि के अन्त में उसकी प्रधान घटना का माहात्म्य या आश्रयदाता की प्रशस्ति लिखने के बाद गद्य में पुष्पिका लिखी है। रामचरित

मानस में पौराणिक शैली के कतिपय महाकाव्यों की यही पद्धति अपनायी गयी है।

५—अलौकिक-अतिप्राकृत कार्य तथा अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन—

यों तो सभी चरितकाव्यों में अलौकिक और अतिप्राकृत कार्यों का अधिक वर्णन होता है पर पौराणिक शैली के चरितकाव्यों में उनकी मात्रा बहुत अधिक होती है। 'मानस' में चरितकाव्यों की विशेषतायें दिखाते हुए उसमें वर्णित अलौकिक और अतिप्राकृत कार्यों के सम्बन्ध में विचार किया जा चुका है।

काल और स्थान के माप के सम्बन्ध मे तथा संख्या-गणना में पुराणों में प्रायः अतिशयोक्ति से काम लिया जाता है। यही बात पौराणिक शैली के महाकाव्यों में भी मिलती है। संभावना के आधार पर इस प्रकार की अतिशयोक्तिपूर्ण बातें 'मानस' में भी हैं। उदाहरणार्थ राम ने बिना फल के बाण से मारीच को मारा तो वह सौ योजन पर जा कर गिरा (१-२०८), शिव-धनुष को दस हजार राजाओं ने उठाया तब भी वह नही टला (१-२५१), राम ने करोड़ों अश्वमेध यज्ञ किये (७-२४) रावण की सभा के करोड़ों भटों ने मिल कर प्रयत्न किया पर अगद का पैर नहीं हिला (६-३३) आदि। भगवान और भक्तों की प्रशंसा करते समय भी तुलसी बहुधा पौराणिक ढंग की अतिशयोक्ति से काम लेते है। मनु और शतरूपा की तपस्या की विधि और अवधि उन्होंने इस प्रकार बताई है :—

एहि बिधि बीते बरस षट सहस बारि आहार।
संबत सप्त सहस पुनि रहे समीर अधार॥
बरस सहस दस त्यागेउ सोऊ। ठाढ़े रहे एक पद दोऊ। १-१४४,१४५

पार्वती की तपस्या के संबंध में भी इसी तरह की बात कही गयी है (१-७४)।

६—शिथिल कथानक तथा अवान्तर कथाओं का आधिक्य—

पहले कहा जा चुका है कि पौराणिक शैली के महाकाव्यों के कथानक में कसावट नही होती क्योंकि उसमें कथा के भीतर कथा कहने की प्रवृत्ति होती है। अवान्तर और प्रासगिक कथाओं के कारण उनके कथानक में जटिलता होती है। 'मानस' का कथानक न तो बिलकुल पौराणिक ढंग का है न बिलकुल शास्त्रीय ढंग के महाकाव्यो जैसा। उसमें प्रथम और अन्तिम सोपान में ही प्रायः सभी अवान्तर कथायें आ गयी हैं। मुख्य कथा-शरीर के भीतर अर्थात् प्रथम सोपान के १८४ वें दोहे से लेकर सप्तम सोपान के २५ वें दोहे तक कोई अवान्तर कथा नहीं है और जो प्रासंगिक कथाएँ हैं भी, उनसे कथानक के

संघटन में योग ही मिलता है । अतः कथा-प्रवाह में यदि बाधा होती है तो उपदेशात्मक वर्णन, माहात्म्य और स्तोत्र आदि से । प्रारंभिक और अन्तिम अंशों की योजना तुलसी ने केवल इसलिये की है कि वे 'मानस' को महाकाव्य के साथ धर्मग्रन्थ भी बनाना चाहते थे । इसी कारण उसमें पौराणिक रङ्ग दिखाई पड़ता है, यद्यपि वह पुराण नहीं है ।

रामचरितमानस का महाकाव्यत्व

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रामचरितमानस संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के पौराणिक शैली के चरितकाव्यों के ढंग का प्रबन्धकाव्य है । अब हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि प्रबन्धकाव्य के भीतर वह महाकाव्य है या एकार्थकाव्य अथवा खण्डकाव्य । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस सम्बन्ध में केवल संकेत किया है कि 'यह पूछा जा सकता है कि तुलसीदास की रचना अधिकतर स्वानुभूति निरूपिणी (सबजेक्टिव) है या बाह्यार्थ-निरूपिणी (आबजेक्टिव)। रामचरितमानस के सम्बन्ध में तो यह प्रश्न हो ही नहीं सकता क्योंकि वह एक प्रबन्धकाव्य या महाकाव्य है । प्रबन्धकाव्य सदा बाह्यार्थ-निरूपक होता है ।'[1] उन्होंने 'मानस' के महाकाव्यत्व के सम्बन्ध में विशेष रूप से कहीं भी विचार नहीं किया है । पाश्चात्य विद्वानों में 'मानस' के अनुवादक ग्रौस ने अनुवाद की भूमिका में उसे हिन्दुओं का जातीय महाकाव्य (नेशनल एपिक) कहा है । डा० रामकुमार ने भी इस संबन्ध में लिखा है कि "तुलसीदास ने रामचरितमानस की कथा को एक महाकाव्य के दृष्टिकोण से लिखा है जिसमें जीवन के समस्त अंग पूर्ण रूप से प्रदर्शित किये गये हैं ।"[2] मानस राजहंस प० विजयानन्द त्रिपाठी ने 'मानस' के महाकाव्यत्व का संक्षेप में विवेचन अवश्य किया है पर वह विवेचन आचार्यों की संकीर्ण परिभाषा के अनुसार किया गया है ।[3] यहाँ उसके महाकाव्य पर महाकाव्य के उन स्थिर या व्यापक लक्षणों की दृष्टि से विचार किया जायगा जिनका निर्देश दूसरे अध्याय में किया जा चुका है ।

१—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—गोस्वामी तुलसीदास—सप्तम संस्करण, काशी सं० २००८, पृ० ७५–७६ ।

२—डा० रामकुमार वर्मा—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, प्रथम संस्करण पृ० ४७० ।

३—मानस-राजहंस पं० विजयानन्द त्रिपाठी—मानस-प्रसंग—चतुर्थ भाग, प्रथम संस्करण, पृ० ४८ ।

१—महदुद्देश्य, महत्प्रेरणा और महती काव्य-प्रतिभा

मानस की रचना का उद्देश्य तुलसी ने स्वयं इन शब्दों में बताया है :—

(क) नाना पुराणनिगमागमसंमतं यद्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि ।
स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा
भाषानिबन्धमतिमंजुलमातनोति ॥ प्र० सो० मंगलाचरण, ७

(ख) भाषाबंध करबि मैं सोई । मोरे मन प्रबोध जेहि होई । १–३१

(ग) निज सन्देह मोह भ्रम हरनी । करौं कथा भव सरिता तरनी । ,,

(घ) मत्वा तद्रघुनाथनाम निरतं स्वान्तस्तमः शान्तये ।
भाषाबद्धमिदं चकार तुलसीदासस्तथा मानसं ॥

—सप्तम सोपान—प्रशस्ति–१

इन पंक्तियों से तो यही प्रतीत होता है कि तुलसी ने 'मानस' की रचना आत्मसुख या आत्मबोध अथवा अपने हृदय के सन्देह और अन्धकार के शमन के लिये की । किन्तु इनके स्वान्तःसुख या आत्म-प्रबोध का तात्पर्य वैयक्तिक सुख या ज्ञान-लाभ नहीं है । तुलसी ने जिस साधना-मार्ग या उपासना पद्धति को अपनाया था उसका मूलाधार ही लोकमंगल था । उनकी धर्म-साधना वैयक्तिक, ऐकान्तिक और किसी लोक-विच्छिन्न गुह्य पथ का अनुसरण करने वाली नहीं थी । ऐसे साधक महात्मा का स्वांतःसुख लोक मात्र का सुख होता है क्योंकि उनका 'स्व' सारे जगत् में घुल मिल जाता है । तुलसी ने भी आत्मोत्सर्ग करके शेष जगत् के साथ तादात्म्य स्थापित कर लिया था । अपने आराध्य को भी उन्होंने नानारूपात्मक दृश्य जगत् में व्याप्त देखा है :—

जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि ।
बन्दौं सब के पद कमल सदा जोरि जुग पानि ॥ १-७

समग्र विश्व तुलसी का आराध्य है । वे उससे विच्छिन्न होकर निर्गुण ब्रह्म की एकान्त आराधना में विश्वास नहीं करते । अतः उनका स्वान्तःसुख लोक-सुख से भिन्न नहीं है और इसलिये आत्म प्रबोध के लिए लिखा गया 'मानस' लोक-प्रबोध और लोक हृदय के सन्देह-तम के निवारण के लिए है । उन्होंने काव्य का उद्देश्य बताते हुए लिखा है कि सच्चा काव्य वही है जिससे सब का हित हो और जिसे सुन कर शत्रु भी उसकी प्रशंसा करें :—

कीरति भनिति भूति भलि सोई । सुरसरि सम सब कहँ हित होई ।

× × ×

सरल कबित कीरति बिमल सोइ आदरहिं सुजान।
सहज बयर बिसराइ रिपु जो सुनि करहिं बखान ॥ १-१४

इससे स्पष्ट है कि तुलसी ने 'मानस' की रचना केवल वैयक्तिकसुख के लिए नहीं की है। राम-यश, राम-कथा और राम-भक्ति को इतना महत्त्व 'मानस में केवल इसीलिए दिया गया है कि उससे लोक का कल्याण होता है। तुलसी के अनुसार इस कलिकाल में राम-कथा और राम-भक्ति के अतिरिक्त लोक के मंगल का अन्य कोई रास्ता नहीं है। अध्यात्म-रामायण में कहा गया है कि शिवजी द्वारा रचित गुह्य 'राम-हृदय' या 'राम-गीता' का प्रकाशन ब्रह्मा ने नारद के समुख इसलिए किया कि उससे कलियुग के सभी पाप नष्ट हो जायँगे। तुलसी ने भी अध्यात्म-रामायण के अनुसार राम-कथा को कलि के पापों से मुक्ति दिलाने वाली कहा है। उसके अनुसार जिस कविता में राम का गुणगान होगा वही ससार का कल्याण करनेवाली और सज्जनों को अच्छी लगने वाली होगी :—

मंगल करनि कलिमल हरनि तुलसी कथा रघुनाथ की।
गति कूर कविता सरित की ज्यों सरित पावन पाथ की।
प्रभु सुजस संगति भनिति भलि होइहि सुजन मनभावनी।
भव अंग भूति मसान की सुमिरत सुहावनि पावनी ॥ १-१०

इस विचार से 'मानस' के कवि ने अपने काव्य में प्राकृत जनों का गुणगान न करके राम का यशोगान किया। राजाओं-सामंतों का गुणगान करके अर्थ और यश का फल भले ही प्राप्त हो जाय पर उससे लोक-हित और धर्म की सिद्धि नहीं होती। अतः तुलसी की लोकसंग्रही दृष्टि ने जगत् के कर्ता और संरक्षक ब्रह्म के सगुण रूप को आराध्य मान कर उसी की लीला का गान किया है। यह लीला-गान, राम का यह चरित, कवि द्वारा इस ढंग से उपस्थित किया गया है कि काव्य-कला और लोकहित दोनों का सुन्दर सामंजस्य हो गया है। 'मानस' के प्रथम मंगलाचरण में ही तुलसी ने अपने इस दुहरे लक्ष्य को स्पष्ट कर दिया है :—

वर्णानामर्थसंघानां रसानां छंदसामपि।
मंगलानां च कर्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ।

कवि ने सर्वप्रथम सरस्वती और गणेश की वन्दना साभिप्राय की है। सरस्वती काव्य-कला की अधिष्ठात्री देवी हैं और गणेश मंगल के विधायक। पर गणेश का संबंध भी काव्य-कला से है और सरस्वती का भी लोक-मंगल से है। अतः दोनों की वन्दना एक ही साथ की गयी है। इस तरह कवि ने

प्रारम्भ में ही व्यक्त कर दिया है कि वह ऐसा काव्य लिखना चाहता है जो काव्य की उत्कृष्टता, कलात्मक अनुरंजन और मङ्गल-विधान से समन्वित हो। आगे चल कर तुलसी ने 'मानस' को मुद और मङ्गल का मूल, कलिकलुष-नाशक और सकल जन-रजन कहा है :—

होउ महेस मोहि पर अनुकूला। करहु कथा मुद मंगल मूला। -१-१५

× × ×

निज संदेह मोह भ्रम हरनी। करौं कथा भव सरिता तरनी।
बुध बिश्राम सकल जन रंजनि। राम कथा कलि कलुष बिभजनि॥ ३१

'कलि-कलुष' से तुलसी का तात्पर्य केवल वैयक्तिक पापों से ही नहीं है, इसका प्रयोग उन्होंने बड़े ही व्यापक अर्थ में किया है। वैयक्तिक बुराइयों के अतिरिक्त सामाजिक अन्याय, वर्णाश्रम धर्म की विशृंखलता, राजनीतिक अत्याचार जाति मात्र का नैतिक पतन आदि सभी बातें तुलसी के कलि-कलुष के अन्तर्गत आ जाती हैं। वाल्मीकि-रामायण, अध्यात्म-रामायण और 'मानस' तीनो ही में राम के अवतार का सर्वप्रधान कारण रावण के अत्याचार से पृथ्वी का संत्रस्त हो जाना बताया गया है। 'मानस' के प्रारम्भ में रावण के अत्याचारों का लम्बा वर्णन (१-१७८ से १८४ तक) किया गया है। इसमें कवि ने अपने ही समय की राजनीतिक दुरवस्था, धार्मिक ह्रास और विधर्मियों के अत्याचारों का चित्रण किया है। उसी तरह सप्तम सोपान में कागभुशुण्डि ने कलिकाल का विस्तृत वर्णन (७-९७ से १०२) किया है। इन सब धार्मिक ह्रास तथा सामाजिक, नैतिक और राजनीतिक बुराइयों और अत्याचारों को दूर करने का साधन तुलसी ने राम-नाम और राम-कथा को ही माना है :—

कलिजुग जोग न जग्य न ज्ञाना। एक अधार राम गुन गाना। ७।०३

राम-गुन गान और राम-चरित के निरन्तर मनन द्वारा ही वर्तमान युग में लोक का कल्याण हो सकता है, इस बात को ध्यान में रख कर ही तुलसी ने मानस की रचना की है, इसमें सन्देह के लिये अवकाश नहीं है। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि समाज के सम्मुख राम से बढ़कर दूसरे किसी नायक का ऐसा आदर्श चरित नहीं हो सकता जिसका अनुकरण और अनुसरण करके समाज के लोग अपने चरित्र को सुधार सकेंगे और धार्मिक तथा राजनीतिक अत्याचारों से मुक्ति पाने के लिये सचेष्ट प्रयत्न कर सकेंगे। इसलिए 'मानस' में राम जैसे आदर्श नायक, हनुमान और लक्ष्मण जैसे राजभक्त और वीर तथा भरत जैसे नीतिपरायण पात्रों की अवतारणा की गयी है। सप्तम सोपान में

कवि ने रामराज्य का जो चित्र उपस्थित किया है वह उसके राजनीतिक और सामाजिक आदर्शों का घोषणापत्र (मेनिफेस्टो) है। इस प्रकार राम यश, राम-कथा और राम नाम में तुलसी ने जो महत्ता प्रतिष्ठित की है वह उनके महान उद्देश्य का द्योतक है। वस्तुतः 'मानस' तुलसी के महान उद्देश्य का मूर्तरूप है जिसमें उनके मानवतावाद या लोकहितवाद का आदर्श चित्रित किया गया है।

अतः यह कहना कि 'मानस' का उद्देश्य केवल राम भक्ति का प्रचार करना या राम को परब्रह्म सिद्ध करना था, 'मानस' के महत्त्व को कम करना है। राम-भक्ति भी किसी महत्तम उद्देश्य का साधन ही है। वह महत्तम उद्देश्य है समस्त विश्व का कल्याण जो 'कलि-कलुष' के विनाश के बिना सम्भव नहीं है। मध्ययुगीन भक्ति-आन्दोलन केवल धार्मिक या सांप्रदायिक आन्दोलन नहीं था। वस्तुतः वह सांस्कृतिक पुनर्जागरण का आन्दोलन था जिसने सामाजिक, धार्मिक, नैतिक और राजनीतिक क्षेत्र में पुनस्सघटन और गम्भीर जीवनाश का वेगवान स्पन्दन भरा था। ऐसे आन्दोलनों के पीछे जो दृष्टि कोण और लक्ष्य होता है वह संकीर्ण नहीं हो सकता। कबीर, सूर, जायसी और तुलसी, सबका उच्च लक्ष्य एक ही था—लोक-हित। किन्तु सबके मार्ग भिन्न-भिन्न थे। सबने अपने-अपने ढग से उस महान उद्देश्य की पूर्ति में योग दिया किन्तु उस लक्ष्य के सबसे अधिक निकट पहुँचने का श्रेय तुलसी को ही प्राप्त हुआ। इसका कारण यही था कि उन्होंने अपने लक्ष्य, मानवता के शिखर से अपनी दृष्टि कभी नहीं हटायी। उस ऊर्ध्वमुखी दृष्टि का परिचय इससे अधिक और क्या हो सकता है कि अपनी समस्त काव्य-शक्ति को केवल एक बिन्दु पर केन्द्रित कर दिया जाय। वह लक्ष्य यदि अचल, गम्भीर और विराट् हो तो उसकी ओर निरन्तर बढ़ने पर जितनी सफलता और महत्ता प्राप्त होगी उतना सामान्य लक्ष्य की ओर बढ़ने से नहीं। इसलिए तुलसी ने एक ओर तो प्राकृत जनों का गुणगान करने से अपने को विरत रखा, दूसरी ओर मानवता के चरम आदर्श को एक विराट् और महान पुरुष में, जो ब्रह्म का अवतार था, मूर्त किया। तुलसी की भक्ति-साधना वस्तुत, पूर्ण सेवा-धर्म की साधना है जिसकी सफलता लोक-मात्र के 'परमहित' में निहित है। अतः सेवा धर्म द्वारा लोक-हित की सिद्धि ही 'मानस' का महदुद्देश्य है।

आलंकारिकों के अनुसार महाकाव्य का उद्देश्य चतुर्वर्ग-फल की प्राप्ति है। 'मानस' के जिस महदुद्देश्य की चर्चा ऊपर की गयी है, पुरुषार्थ की दृष्टि से उसी को कर्म और मोक्ष कहा जाता है। सेवा-धर्म-समन्वित राम-भक्ति से बड़ी

धर्म-साधना और कुछ नहीं हो सकती क्योंकि वह आत्म-प्रबोध के साथ कलि कलुष का नाश भी करती है। तुलसी ने स्वयं राम के मुख से धर्म के सर्वोत्तम स्वरूप की व्याख्या इस प्रकार कराई है :—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।
निर्नय सकल पुरान बेद कर। कहेउ तात जानहिं कोविद नर।
नर सरीर धरि जे पर पीरा। करहिं ते सहहिं महा भव भीरा।

इस तरह 'मानस' मे लोक-हित या सेवा-मार्ग को परम धर्म माना गया है। भगवान भी लोक के हित और अत्याचारियों के नाश के लिए ही पृथ्वी पर अवतरित होते हैं। अतः उनके भक्तों का परम धर्म अपने आराध्य के सेवा-धर्म के आदर्श का अनुगमन करना ही है। यही राम की भक्ति है जो तुलसी के अनुसार ज्ञान, योग, वैराग्य, सबसे श्रेष्ठ और सरल धर्म-साधना का मार्ग है। इस भक्ति के मार्ग में भगवान को सेव्य और अपने को सेवक मान कर ही आगे बढ़ा जा सकता है।

असि हरि भगति परम सुखदाई। को अस मूढ़ न जाहि सोहाई।
सेवक-सेव्य-भाव बिनु भव न तरिय उरगारि।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धान्त बिचारि॥ ७-११९

तुलसी के अनुसार भक्ति का श्रेष्ठ रूप वही है जिसमें आराध्य की उपासना माधुर्य या वात्सल्य भाव से नहीं, श्रद्धा भाव से की जाय। ऐसा करने से लोक की मर्यादा का उल्लंघन नहीं होने पाता और सुनियंत्रित लोक-धर्म की प्रतिष्ठा होती है। इस महान उद्देश्य में तुलसी सफल हुए हैं, यह 'मानस' के अब तक के व्यापक प्रचार से ही सिद्ध है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार तुलसी के कारण हिन्दू जनता में 'यह संस्कार न जमने पाया कि श्रद्धा और भक्ति के पात्र केवल सांसारिक कर्त्तव्यों से विमुख, कर्म-मार्ग से च्युत, कोरे उपदेश देनेवाले ही हैं। उसके सामने यह फिर से अच्छी तरह से झलका दिया गया कि संसार के चलते व्यापारों में मग्न, अन्याय के दमन के अर्थ रण क्षेत्रों में अद्भुत पराक्रम दिखाने वाले, अत्याचार पर क्रोध से तिलमिलाने वाले, प्रभूत शक्ति-संपन्न होकर भी क्षमा करने वाले, अपने रूप, गुण और शील से लोक का अनुरंजन करने वाले, मैत्री का निर्वाह करने वाले, प्रजा का पुत्रवत् पालन करने वाले, बड़ों की आज्ञा का आदर करने वाले, संपत्ति में नम्र रहने वाले, विपत्ति में धैर्य रखने वाले प्रिय या अच्छे ही लगते हैं; यह बात नहीं है। वे भक्ति और श्रद्धा के

प्रकृत आलम्बन हैं, धर्म के दृढ़ प्रतीक हैं।'¹ इस तरह श्रद्धा और दास्य भावना से युक्त भक्ति की संप्राप्ति और आदर्शवादी लोकाश्रित धर्म की प्रतिष्ठा ही 'रामचरितमानस' का महान उद्देश्य है।

निष्कर्ष यह है कि चतुर्वर्ग फलों में से धर्म ही मानस का फल है। यद्यपि तुलसी ने प्रारम्भ में यह प्रतिज्ञा की है कि मानस में काम, अर्थ और मोक्ष, इन चारों पुरुषार्थों का नियोजन किया जायगा :—

अरथ धरम कामादिक चारी। कहब ज्ञान विज्ञान बिचारी। १-३७

किन्तु उन्होंने अपने पूरे काव्य में धर्म को ही शीर्ष स्थान पर रखा है। पारमार्थिक दृष्टि से उन्होंने काम और अर्थ की बराबर निन्दा की है, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उनको संयमित रूप में धर्म के अन्तर्गत ही स्वीकार किया है। 'मानस' की कथा में राम और सीता का दाम्पत्य प्रेम जिस मर्यादित और गंभीर रूप में चित्रित किया गया है वह किस गृहस्थ के लिए अनुकरणीय न होगा? उसी तरह रामराज्य की कल्पना भक्तों को ही नहीं व्यावहारिक क्षेत्र में रहने वाले प्रत्येक गृहस्थ के हृदय का सुख समृद्धि और सम्पन्नता की मंगलाशा से भर देती है। फिर भी काम और अर्थ का धर्म द्वारा अनुशासित होना ही उचित है। अतः रामराज्य की स्थापना के बाद सप्तम सोपान में तुलसी ने धर्मोपदेश देना और ज्ञान-विज्ञान, भक्ति और वैराग्य की विस्तृत व्याख्या करना आवश्यक समझा। 'मानस' का फल मोक्ष भी नहीं है, क्योंकि तुलसी स्वयं मोक्ष में विश्वास नहीं करते। वे जन्म-जन्म में राम-चरण का अनुरागी होना ही जीवन का चरम लक्ष्य मानते हैं और कहते हैं कि हरि-भक्ति में मोक्ष का सुख अपने आप मिलता है, अतः राम का भक्त मुक्ति का निरादर करके भक्ति पर ही लुब्ध रहता है—

अति दुर्गम कैवल्य परम पद। संत पुरान निगम आगम बद।
राम भजत सोइ मुकुति गुसाई। अन-इच्छित आवै बरिआई।
जिमि थल बिन जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करै उपाई।
तथा मोक्ष सुख सुनु खगराई। रहि न सकै हरि भगति बिहाई।
अस विचारि हरि भगति सयाने। मुक्ति निरादर भगति लुभाने ७ ११९

तुलसी के विचार से आवागमन से मुक्ति प्राप्त करने में वह सुख नहीं जो विषम भव-भीर से छुटकारा पाकर निरन्तर राम-भजन करते हुए 'परम विश्राम' प्राप्त करने में हैं :—

१—पं० रामचन्द्र शुक्ल—गोस्वामी तुलसीदास, सप्तम संस्करण, पृ० ३२।

जाकी कृपा लवलेस ते मतिमंद तुलसीदास हू।
पायो परम बिश्रामु राम समान प्रभु नाहीं कहूँ। ७–१३०

इस प्रकार मोक्ष मानस' का फल नही है। उसकी कथा का अन्त अध्यात्म रामायण के समान नही हुआ है जिसमें राम के साथ सभी अयोध्यावासियों का स्वर्गारोहण दिखाया गया है। 'मानस' में तुलसी ने प्रारम्भ से ही पात्रो द्वारा जो कार्य कराये है वे सब धर्माचरण निरूपक हैं। अधर्म का नाश करके राम धर्मराज्य (रामराज्य) की स्थापना करते है और 'मानस' की मूल कथा यहीं समाप्त हो जाती है। उसके बाद शान्ति और सुराज्य स्थापित हो जाने पर राम कथा अन्य लोगों के मुख से विविध अवसरो पर धर्म के विविध पक्षों की व्याख्या कराई गयी है। इससे स्पष्ट है कि धर्म ही 'मानस' का प्रधान फल है।

महती प्रेरणा—जिस महान् उद्देश्य को ध्यान में रखकर इस युग-प्रवर्तक महाकाव्य की रचना हुई है उसकी मूल प्रेरणा शक्ति भी उतनी ही बलवती और महती होनी चाहिये। वह प्रेरणा-शक्ति ब्रह्म का वह सगुण स्वरूप है जिसके रूप, गुण और शील के सौन्दर्य से तुलसी का हृदय अभिभूत हो गया था। तुलसी ने उसकी ओर स्वय सकेत कर दिया है :—

राम कथा मन्दाकिनी चित्रकूट चित चारु।
तुलसी सुभग सनेह बन सिय रघुबीर बिहारु। १—३१

कवि के हृदय में राम और सीता का जो रूप मन्दाकिनी की पवित्र धारा की भाँति प्रवाहमान था वही 'मानस' के रूप में मूर्त हुआ है। 'मानस' की प्रेरणा भी उसे राम से ही मिली है:–

जस कछु बल विवेक बुधि मेरे। तस कहिहौं हिय हरि के प्रेरे। १-३१

'मानस' की काव्य-सरिता का उद्गम-स्थल कवि का वह हृदय रूपी मानसरोवर है जिसमें राम का यश रूपी जल भरा हुआ है। साधु-सन्तों ने वेद-पुराणों का सार खींच कर राम के यश रूपी जल की जो वर्षा की उससे हृदय रूपी मानससरोवर जब पूर्णतया भर गया तो उसमें गोता लगाकर कवि की बुद्धि निर्मल हो गयी, उसके हृदय में उमंग की लहरें उठीं और प्रेम तथा आनन्द का प्रवाह कविता की धारा बन कर फूट निकला। वही रामचरितमानस रूपी नदी लोक में आज भी जन-मन के बीच अजस्र गति से प्रवाहित होती जारही है :—

सुमति भूमि थल हृदय अगाधू। बेद पुरान उदधि घन साधू।
बरषहिं राम सुजस बर बारी। मधुर मनोहर मंगलकारी। १-३६

× × ×

अस मानस मानस चख चाही। भइ कवि बुद्धि बिमल अवगाही।
भयेउ हृदयँ आनन्द उछाहू। उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रवाहू।
चली सुभग कविता सरिता सो। राम बिमल जस जल भरित सो।१-३९

इस रूपक से स्पष्ट है कि तुलसीदास ने किसी भौतिक सुख, यश, अर्थ और राज सम्मान के लोभ से नहीं, बल्कि अपने हृदय की सहज, वेगवती और अन्तरुद्ध उमंग से मानस की रचना की है। उनके हृदय को आनन्द-विह्वल और तीव्र वेग से तरंगित करने वाले ब्रह्म के अवतार मर्यादा पुरुषोत्तम और अत्याचारियों का नाश करने वाले सर्वशक्तिमान राम हैं। तुलसी के मन में राम जैसे महच्चरित्र का उदय हुआ और उस महान लोकरक्षक नायक ने उनके कल्पना राज्य पर अधिकार कर लिया। ऐसे चरित्र के उन्नत आदर्श से अनुप्राणित होकर तुलसी ने मानस रूपी भाषा का मन्दिर निर्मित किया और अपने आराध्य को लोक आराध्य बनाने की दृष्टि से उसकी जीवन्त प्रतिमा उसमें स्थापित की। इस प्रकार की महत्प्रेरणा से उद्भूत काव्य का महाकाव्य बन जाना स्वाभाविक था। रवीन्द्रनाथ ठाकुर का यह कथन बिलकुल ठीक है कि "इस समय के कवि जैसे 'आओ एक एपिक लिखा जाय' कह कर सरस्वती के साथ पहले ही से बन्दोबस्त करके 'एपिक' लिखने बैठ जाते हैं। प्राचीन कवियों में ऐसा फैशन न था।"[1] तुलसीदास ने इस प्रकार का बन्दोबस्त करके 'मानस' की रचना नहीं की। उनकी महती काव्य-प्रेरणा के फलस्वरूप रामचरितमानस अनायास महाकाव्य बन गया है।

महती काव्य-प्रतिभा

महाकाव्य के निर्माण में कवि के महान उद्देश्य और बलवती प्रेरणा-शक्ति के साथ ही महती काव्य-प्रतिभा का होना भी आवश्यक है। काव्य-प्रतिभा नैसर्गिक होती है, वह काव्य-कौशल से भिन्न वस्तु है। इसी प्रतिभा से महाकाव्य में प्राणवत्ता और जीवन्तता आती है, काव्य-कौशल से तो काव्य-शरीर का संघटन और शृंगार ही हो सकता है, उसमें प्राण नहीं भरा जा सकता। तुलसी के काव्य-कौशल से कहीं अधिक उत्कृष्ट उनकी काव्य प्रतिभा थी। वे काव्य के बाह्य अलंकरण और बलपूर्वक नियोजित कलात्मक सौष्ठव को उतना महत्व नहीं देते थे जितना स्वाभाविक अनुभूतियों की सहज अभिव्यक्ति को :—

१—रवीन्द्रनाथ ठाकुर, मेघनाद-वध का हिन्दी अनुवाद—भूमिका-पृ० १५७
झाँसी—प्रथम संस्करण सं० १९८४।

कबि न होउँ नहिं चतुर प्रबीनू। सकल कला सब बिद्या हीनू।
आखर अरथ अलंकृति नाना। छन्द प्रबन्ध अनेक बिधाना।
भाव भेद रस भेद अपारा। कबित दोष गुन बिबिध प्रकारा।
कबित बिबेक एक नहीं मोरें। सत्य कहो लिखि कागद कोरे।
भनिति मोरि सब गुन रहित बिस्वबिदित गुन एक।
सो बिचारि सुनहहिं सुमति जिन्हके बिमल बिबेक। १-१०

इसमें तुलसी ने विनम्रता-प्रदर्शन के लिए जो बातें कहीं हैं उनसे उनका दृष्टिकोण भी स्पष्ट हो जाता है। 'मानस' इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि तुलसी को नाना कलाओं, विद्याओं, तथा अलङ्कारशास्त्रों की पूरी जानकारी थी, परन्तु इस ज्ञान द्वारा चमत्कार-प्रदर्शन की उनकी प्रवृत्ति नहीं थी। प्रतिभावान कवि का यही लक्षण है। अत. 'कोरे कागज' वाले महाकवि की कविता का 'विश्व विदित गुन' यही है कि उसमें अपने आराध्य के प्रति अपनी आस्था, श्रद्धा और उत्सर्ग को अत्यन्त मार्मिकता और सच्चाई से व्यक्त किया गया है। सच्चाई और पूर्ण आत्माभिव्यक्ति के आगे उन्होंने काव्य-कौशल को अधिक महत्व नहीं दिया है।

तुलसी की काव्य-प्रतिभा की एक विशेषता उनके 'संग्रह और त्याग' की प्रवृत्ति में दिखाई पडती है। ज्ञान-भण्डार और अभ्यास से भी कविता लिखी जा सकती है किन्तु महाकाव्य तो तभी लिखा जाता है जब कवि की प्रतिभा में उचित और आवश्यक वस्तुओं और तत्वों के ग्रहण तथा अनुचित और अनावश्यक के त्याग की क्षमता होती है। तुलसी ने 'मानस' में अपने उद्देश्य के अनुरूप इस संग्रह और त्याग की क्षमता का अद्भुत परिचय दिया है। उन्होंने सन्तों के परिचय में स्वयं इस पहिचान का उल्लेख किया है :-

तेहिं ते कछु गुन दोष बखाने। संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने।

तुलसी ने 'मानस' में कथानक के संघटन, मार्मिक स्थलों की योजना, सवाद, तत्व-निरूपण और भाव व्यंजना में इस हंस-प्रवृत्ति का पूर्ण परिचय दिया है। उनकी कथा का मूल आधार वाल्मीकीय रामायण और दृष्टिकोण का आधार आध्यात्म-रामायण हैं, किन्तु कथानक के अनेक अवयवों को उन्होंने अन्य ग्रन्थों से भी लिया है और विचार-सग्रह भी उन्होने 'नाना पुराण निगमागम' तथा कुछ इधर उधर से किया है। अपने उद्देश्य के अनुरूप जिन तत्वो को उन्होंने जहाँ से भी पाया है निस्संकोच उनका संग्रह किया है। यही कारण है कि उनका 'मानस' काव्य के साथ धर्मग्रन्थ भी बन गया है। किन्तु यहाँ यह बात भी ध्यान में रखने की है कि तुलसी ने विभिन्न स्रोतों से गृहीत तत्वों को अपने

उद्देश्य के रंग में इस प्रकार रंग दिया है कि वे उनके अपने हो गये हैं। अपनी सारग्राहिणी प्रतिभा के कारण ही वे ऐसा करने में सफल हो सके हैं। विभिन्न स्थानों से विविध तत्वों का संग्रह करके भी उन्होंने मानस को संग्रह-ग्रंथ नहीं बनाया, बल्कि उन्हें इस प्रकार नियोजित किया है और उनमें अपने विचार और भावनाओं को मिला कर इस तरह का रासायनिक परिवर्तन उत्पन्न कर दिया है कि नवीन वातावरण में वे बिलकुल नये लगते हैं।

'मानस' के कवि की अद्भुत प्रतिभा का दर्शन सबसे अधिक उसकी समन्वय शक्ति में होता है। मानवता और लोकहित के महान आदर्श से अनुप्राणित महात्माओं में संकीर्णता और मर्यादाहीनता नहीं होती, तुलसी उदारचेता हैं और विविध विरोधी मतों, दर्शनों, साधना मार्गों, अभिव्यक्ति प्रणालियों और व्यवस्थाओं के समुचित समन्वय द्वारा समाज की बिखरी शक्तियों को संघटित करके सशक्त समाज की रचना में विश्वास करते हैं। हिन्दी के कवियों में यह समन्वय-शक्ति जितनी अधिक तुलसी में दिखाई पड़ती है उतनी अन्य किसी में नहीं। इस सम्बन्ध में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, "उसमें (मानस में) केवल लोक और शास्त्र का ही समन्वय नहीं है, वैराग्य और गार्हस्थ्य का, भक्ति और ज्ञान का, भाषा और संस्कृत का, निर्गुण और सगुण का, पुराण और काव्य का, भावावेग और अनासक्त चिन्तन का, ब्राह्मण और चाण्डाल का, पण्डित और अपडित का समन्वय रामचरितमानस में आदि से अन्त तक है, उसमें दो छोरों पर जाने वाली परा कोटियों को मिलाने का प्रयत्न है। इस महान समन्वय का आधार उन्होंने रामचरित को चुना है"[१]। 'मानस' की अभूतपूर्व सफलता का कारण उनकी यही समन्वयतात्मक प्रतिभा है।

२—गुरुता, गंभीरता और महानता

महाकाव्य के लिये जिस गुरुत्व, गांभीर्य और महत्ता की आवश्यकता होती है, रामचरितमानस में वह पूर्ण मात्रा में वर्तमान है। उसमें जीवन-मूल्यों की जो विवेचना की गयी है और उसका जो प्रतिमान स्थिर किया गया है वह सार्वभौम और सार्वकालिक है। उन जीवन-मूल्यों के कारण ही 'मानस' भारतीय साहित्य का गौरव ग्रन्थ बन गया है। उसमें कवि के बौद्धिक धरातल की ऊँचाई और चरित्रों के विराट् व्यक्तित्व के कारण हिमालय के उच्च हिमाच्छादित महिमामण्डित शिखरों जैसी मन को आश्चर्य, श्रद्धा और सम्मान से भर देने वाली उच्चता और विशालता की प्रतिष्ठा हुई है। इसी

१—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य पृ० २३५, दिल्ली १९५२।

तरह तत्त्वचिन्तन, दार्शनिक विवेचन, मानवता के उत्कर्ष की मंगलाशा, लोक-हित की उदात्त भावना और शिवेतर क्षय की कामना द्वारा तुलसी ने 'मानस' में वह गुरुता उत्पन्न कर दी है जो विश्व-साहित्य के कुछ इने गिने महाकाव्यों में ही दिखलाई पड़ती है। कहा जाता है कि 'मानस' का उपक्रम और उपसंहार काव्य-कला की दृष्टि से अनावश्यक और प्रचारात्मक है किन्तु यदि काव्य-कला को 'कला कला के लिए' के सिद्धान्त से न देखकर उच्चतम लक्ष्य की प्राप्ति के साधन के रूप में लिया जाय तो 'मानस' के आदि और अन्त के अंश अनावश्यक नहीं प्रतीत होंगे। सच पूछा जाय तो रामचरितमानस के गौरव का कारण बहुत कुछ ये ही अंश हैं। कहा भी जाता है कि मानस के बालकाण्ड के आदि और उत्तरकाण्ड के अन्त को जो अच्छी तरह जान ले या हृदयंगम करले वही पूरा सन्त है। बात यह है कि 'मानस' में जिन जीवन-मूल्यों की स्थापना की गई है वे दो रूपों में अभिव्यक्त हुए हैं, चिन्तन, विवेचन तथा उपदेश के रूप में और पात्रों के व्यावहारिक क्रिया-कलाप के रूप में। पहले प्रकार का जीवन दर्शन प्रमुखतः आधिकारिक कथा के भीतर दिखाई पड़ता है। दोनों का समान महत्त्व है और दोनों के योग से ही इस महाकाव्य में इतनी गुरुता आ सकी है। वस्तुतः 'मानस' के उस रूप की कल्पना भी नहीं की जा सकती जिसमें उसके उपक्रम और उपसंहार वाले अंश न हों या काट-छाँट कर रखे गये हों। गम्भीर विचारकों, सन्तों और भक्तों के लिए इन्हीं अंशों में 'मानस' का सार-तत्त्व निहित है। किन्तु सामान्य जनता, गृहस्थ और रसज्ञ लोगों के लिए आधिकारिक कथा के भीतर ही जीवन के स्थिर मूल्यों की प्रतिष्ठा कर दी गई है।

'मानस' का तत्वचिन्तन शास्त्रीय ढंग का शुष्क और रसहीन नहीं है। कवि और दार्शनिक की वक्तव्यवस्तु तो एक ही होती है पर दोनों की अभिव्यंजना-पद्धति में अन्तर होता है। तुलसी कोरे कवि ही नहीं, दार्शनिक भी हैं, किन्तु उन्होंने तत्वचिन्तन को भी काव्यात्मक ढंग से उपस्थित किया है। सप्तम सोपान में ज्ञान और भक्ति का भेद और प्रथम सोपान में राम-नाम और राम-कथा का महत्त्व उन्होंने रूपकात्मक शैली में उपस्थित करके दार्शनिक और आध्यात्मिक बातों को भी सर्वसुलभ बना दिया है। उनके दार्शनिक विवेचन का लक्ष्य अपने पाण्डित्य और शास्त्र-ज्ञान का प्रदर्शन करना नहीं है, जैसा संस्कृत के अनेक शास्त्रकाव्यों और श्लेषकाव्यों में दिखलाई पड़ता है। उन्होंने तो अपने विचारों और अनुभूतियों को अपने अन्तरतम

की प्रेरणा और लोक-कल्याण की दृष्टि से अभिव्यक्त किया है। यदि ज्ञान-प्रदर्शन ही उनका लक्ष्य होता तो अपने युग के अन्य विद्वानों की तरह वे भी संस्कृत भाषा में शास्त्र या काव्य की रचना करते। अतः स्पष्ट है कि उनके तत्व निरूपण का लक्ष्य अपने पाण्डित्य का आटोप उपस्थित कर पाठकों को चमत्कृत करना नहीं था। इस प्रकार तत्व निरूपण और दार्शनिक विवेचन 'मानस' का दूषण नहीं भूषण ही है, क्योंकि इससे इस महाकाव्य का बौद्धिक ऊँचाई और गुरुत्व में अत्यधिक वृद्धि हुई है।

'मानस' में जितनी गुरुता और ऊँचाई है उतनी ही प्रशान्त गम्भीरता भी है। उसकी गहराई का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि उसे जितनी बार पढ़ा जाय उतनी ही बार उसमें नवीन सौन्दर्य और नव ज्ञान का अनुभव होता है। यही नहीं, प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह अपढ़ गँवार हो या प्रकाण्ड पण्डित, साहित्यिक हो या राजनीतिक नेता अपने-अपने ढंग से उसका रस लेता या उपयोग करता है। वस्तुतः 'मानस' मानव मात्र के अन्तरतम का स्पर्श करने वाला काव्य है। जब गम्भीर से गम्भीर हृदय वाला व्यक्ति भी उसमें गोता लगा कर नहीं अघाता तो अवश्य ही 'मानस' की गहराई की थाह नहीं हो सकती। 'मानस' की गम्भीरता वस्तुतः तुलसी के हृदय की गम्भीरता है जिसे उन्होंने जन जन के हृदय में भर देना चाहा है। उन्होंने उस 'अगाधता' का स्वयं उल्लेख किया है :—

सुमति भूमि थल हृदय अगाधू। वेद पुरान उदधि घन साधू।

× × × ×

मेधा महिगत सो जल पावन। सकिलि श्रवन मग चलेउ सुहावन।
भरेउ सुमानस सुथल थिराना। सुखद सीत रुचि चारु चिराना।१-३६

इस गहरे 'मानस' में राम की महिमा का अथाह और अमृतोपम जल भरा हुआ है। ऐसे 'मानस' की गम्भीरता को ज्ञान की दृष्टि से ही देखा जा सकता है :—

सप्त प्रबन्ध सुभग सोपाना। ज्ञान नयन निरखत मन माना।
रघुपति महिमा अगुन अबाधा। बरनब सोइ बर बारि अगाधा।
राम सीअ जस सलिल सुधा सम। उपमा बीचि बिलास मनोरम।१-३७

रामचरित-मानस की इस अथाह गम्भीरता का रहस्य यह है कि उसकी रचना ही आत्यन्तिक श्रद्धा भाव से हुई है और कवि ने पाठकों से भी यह निवेदन किया है कि वे सब प्रकार का संशय दूर कर आदर और श्रद्धा के साथ राम-कथा सुनें:—

जे श्रद्धा संबल रहित नहि सन्तन कर साथ।
तिन कहुँ मानस अगम अति जिनहि न प्रिय रघुनाथ॥ १—३८

'मानस' की मूल भावना भक्ति की है और उस भक्ति के आलम्बन हैं परम श्रद्धास्पद भगवान राम। ऐसी भक्ति में श्रद्धा का स्थान सर्वोपरि होता है। इसीलिए तुलसी ने प्रारम्भ में ही शिव-पार्वती को विश्वास और श्रद्धा का मूर्तरूप मान कर उनकी बन्दना की है। 'भवानी शंकरौ वन्दे श्रद्धा विश्वास-रूपिणौ।' तुलसी के अनुसार 'मानस' यदि मानसरोवर है तो सन्त उसके चतुर्दिक के वन-उपवन हैं, और श्रद्धा वसन्त ऋतु की तरह सन्तों के हृदय को प्रफुल्लित और विकसित करती रहती है :—

सन्त सभा चहुँ दिसि अँवराई। श्रद्धा रितु बसंत सम गाई।

इस प्रकार 'मानस' श्रद्धा और भक्ति का गम्भीर प्रशान्त सागर है। प्रेम, वीरता, दया, क्षमा, उदारता, कर्तव्य-परायणता आदि भाव तो उस सागर के ऊपरी तल पर दिखाई पड़ने वाली उत्ताल तरगों के समान हैं। महात्मा गाँधी ने मानस की इस गम्भीरता का रहस्य बताते हुए लिखा है, 'तुलसीदास की श्रद्धा अलौकिक थी। उनकी श्रद्धा ने हिन्दू-संसार को रामायण के समान ग्रथरत्न भेंट किया है। रामायण विद्वत्ता से पूर्ण ग्रन्थ है किन्तु उसकी भक्ति के प्रभाव के मुकाबिले उसकी विद्वत्ता का कोई महत्त्व नहीं रहता। श्रद्धा और बुद्धि के क्षेत्र भिन्न-भिन्न है। श्रद्धा से अन्तर्ज्ञान, आत्मज्ञान की वृद्धि होती है, इसलिए अन्तः शुद्धि तो होती ही है। बुद्धि से बाह्य ज्ञान की, सृष्टि के ज्ञान की वृद्धि होती है परन्तु उसका अन्तःशुद्धि के साथ कार्य-कारण जैसा कोई सम्बन्ध नहीं रहता।......मनुष्य यह श्रद्धा कैसे प्राप्त करे, उसका उत्तर गीता में है, रामचरितमानस में है।"[1] गान्धी जी ने श्रद्धा की अन्तःशुद्धि का साधन मानकर ही रामचरितमानस का महत्त्व सिद्ध किया है किन्तु सामान्य जनता के लिए उसकी श्रद्धा-भावना जीवन के व्यावहारिक क्षेत्रों में भी बराबर काम देती है। 'मानस' की श्रद्धा प्रेम और सेवा से अविच्छिन्न है। इस तरह श्रद्धा, प्रेम और सेवा की गहरी नींव पर ही तुलसी का यह विशाल काव्य-प्रासाद निर्मित हुआ है जो लोक-जीवन का 'मंगल-भवन' है।

श्रद्धा-भक्ति के अतिरिक्त उत्साह और रति भावों का भी 'मानस' में व्यापक प्रसार दिखाई पड़ता है। 'मानस' के मूल आधार-ग्रन्थ वाल्मीकि-रामायण और अध्यात्म-रामायण हैं और उन दोनों में दो भिन्न भावनायें प्रमुख हैं।

१—वही, पृ० २३७।

वाल्मीकि-रामायण में उत्साह-भावना अपने चरम रूप में प्रतिष्ठित हुई है तो अध्यात्म-रामायण में श्रद्धामूला भक्ति की आत्यन्तिक महिमा का गान हुआ है। 'मानस' में इन दोनों का समन्वय किया गया है। उसमें श्रद्धा-भावना का आधार भगवान राम का वह मर्यादा-पालक सगुण रूप है जो उत्साह का गम्भीर समुद्र प्रतीत होता है। वस्तुतः तुलसी ने 'मानस' में श्रद्धा और उत्साह को अन्योन्याश्रित बना दिया है और परब्रह्म के लोकरक्षक अवतार को अपने काव्य का नायक बनाकर उत्साह और श्रद्धा के सागर को तृषित भारतीय जनता के द्वार द्वार तक पहुँचा दिया है। गान्धी जी ने केवल श्रद्धा-भावना के आधार पर ही गीता और रामचरितमानस की तुलना की है, किंतु एक और दृष्टि से ये दोनों महान ग्रन्थ तुलनीय हैं। दोनों में ही उत्साहपूर्ण कर्मण्य जीवन की गंभीर वाणी मुखरित हुई है। 'मानस' के सप्तम सोपान में राम ने भरत तथा अवधवासियों को ठीक उसी प्रकार के उपदेश दिये हैं (देखिये मानस ७-३७ से ४७ तक) जैसे गीता में कृष्ण ने अर्जुन को। दोनों ही में भगवदर्पित कर्म करने का उपदेश दिया है। उत्साह का यही सर्वोत्कृष्ट रूप है, क्योंकि इस भावना द्वारा अमंगल या पाप का कर्म हो ही नहीं सकता। राम का समस्त जीवन ऐसी ही धर्मशीलता और उत्साह से भरा हुआ है जिसकी परिणति रामराज्य की स्थापना में हुई है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के अनुसार मानव-मन की सर्व प्रमुख वृत्ति 'काम' की है, जिसे साहित्य में रति भाव कहा जाता है। यही मूल प्रवृत्ति अन्य अनेक भावनाओं को प्रेरित और उद्दीप्त करती तथा नाना रूपों में अभिव्यक्त होती है। 'मानस' में उत्साहमय कर्मों का जो समारोह दिखाई पड़ता है उसके मूल में भी राम और सीता का गंभीर प्रेम है। इसका प्रमाण राम के वे वचन हैं जो उन्होंने हनुमान द्वारा सीता से सदेश रूप में कहवाये थे :—

कहेहू ते कछु दुख घटि होई। काहि कहौं यह जान न कोई।
तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा।
सो मनु रहत सदा तोहि पाहीं। जानु प्रीति रस एतनेहि माहीं। ५-१५

और सचमुच ही 'मानस' में राम ने अपने प्रेम का अमर्यादित प्रदर्शन कहीं नहीं किया है, क्योंकि वे कहने से अधिक करने में विश्वास रखते हैं। अतः राम-कथा का मेरुदण्ड राम का गंभीर और प्रशान्त रति भाव ही है जो कहीं गुरुजनों के प्रति श्रद्धा, कहीं दाम्पत्य प्रेम, कहीं मैत्री-भाव, कहीं प्रजा-प्रेम, कहीं भक्त-वत्सलता, कहीं छोटों के प्रति स्नेह, कहीं उदारता आदि के रूप में अभिव्यक्त हुआ है और जो उनके महान उत्साहमय जीवन का मूल

प्रेरक है। इस तरह 'मानस' में श्रद्धा और भक्ति का आधार तथा उत्साह का प्रेरणा स्रोत रतिभाव है। इन तीनों भावों के समन्वय से उसमें वह गहराई दिखाई पड़ती है जो किसी भी उच्चतम कोटि के महाकाव्य में हो सकती है।

महाकाव्य में जिस तरह विचारों और तत्वचिन्तन की गुरुता तथा भावनाओं और अनुभूतियों की व्यापकता और गहराई आवश्यक होती है, उसी तरह महानता भी उसका एक अनिवार्य लक्षण है। महाकाव्य की महानता प्रधानतया उसके विषय, उद्देश्य और चरित्रों के जीवन में दिखाई पड़ती है। इस सम्बन्ध में एबरक्रोम्बी का मत है कि जिस काव्य में किसी युग विशेष के सम्पूर्ण जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठा होती है उसमें ऐसे एक या अनेक चरित्रों की अवतारणा भी की गयी रहती है जिनमें उस युग में मान्य समस्त गुणों और दोषों को मूर्त किया गया रहता है। महाकाव्य में कथानक ऐसा होना चाहिए जिसमें उसके महान उद्देश्यों और जीवन मूल्यों के आश्रय महान चरित्र भी हों। इसका अर्थ यह है कि महाकाव्य का विषय भी अत्यन्त महत्वपूर्ण होना चाहिये। कहा जाता है कि होमर ने द्वितीय श्रेणी का विषय ले कर प्रथम श्रेणी का महाकाव्य लिखा, किन्तु एबरक्रोम्बी इससे सहमत नहीं है। उसके अनुसार बिना प्रथम श्रेणी के विषय के प्रथम श्रेणी का महाकाव्य लिखा ही नहीं जा सकता[1]। एबरक्रोम्बी का यह मत बिलकुल सही है, किन्तु इस सम्बन्ध में यह बात भी ध्यान में रखने की है कि प्रथम श्रेणी का विषय लेकर अशक्त कवि द्वितीय या तृतीय श्रेणी की काव्य-रचना भी करते हैं। अतः महाकाव्य में विषय का महत्त्वपूर्ण होना तो आवश्यक है किन्तु इसके साथ ही कवि की कल्पना का विराट् और व्यक्तित्व का महान होना भी आवश्यक है, क्योंकि बिना उस कल्पना के कवि न तो विषय की महानता को सँभाल सकता है, न महान आदर्शों और गंभीर जीवन-मूल्यों का प्रतिष्ठापन तथा महान चरित्रों की अवतारणा ही कर सकता है।

रामचरित-मानस के उद्देश्यों की महानता पर विचार किया जा चुका है। उसके नायक राम तथा उनके पक्ष के अन्य चरित्र 'मानस' में प्रतिष्ठित जीवन-मूल्यों और आदर्शों के प्रतीक हैं। उसी तरह युग-युग के मानव में जितने भी पाप, असामाजिकता और बुराइयाँ हो सकती है उनको तुलसी ने रावण तथा उनके पक्ष के अन्य राक्षसों में मूर्त किया है। वस्तुतः राम-कथा का विषय ही इतना महान है जिसमें प्रत्येक युग के सत्-असत् पक्षों का प्रतिबिम्ब देखा जा सकता है। इसी कथा को लेकर वाल्मीकि ने अपने युग के अनुरूप

1—Lascelles Abercrombie,—The Epic, p 50—51

सदसद् पक्षों के संघर्ष तथा तत्कालीन जीवन-मूल्यों को चित्रित किया है और उसी को लेकर विमलसूरि, कालिदास, कुमारदास, भवभूति, स्वयम्भू, पुष्पदन्त, क्षेमेन्द्र, जयदेव, दामोदर मिश्र, राजशेखर आदि कवियों ने भी अनेकानेक नाटकों, महाकाव्यों तथा काव्यों की रचना की। किन्तु कल्पना-शक्ति की विलक्षणता के फलस्वरूप ही कालिदास, भवभूति, स्वयम्भू और तुलसी अपने ग्रन्थों में विषय की गंभीरता को सम्भालते या और भी प्रगाढ़ बनाते हुए अपने अपने युग के अनुरूप महान आदर्शों और जीवन मूल्यों की प्रतिष्ठा करने में जितना सफल हुए हैं उतना अन्य कवि नहीं हो सके। इनमें भी सत् और असत् के चिरन्तन संघर्ष और सत् पक्ष की पूर्ण प्रतिष्ठा का जो स्वरूप तुलसी के 'मानस' से दिखलाई पड़ता है वह वाल्मीकि को छोड़ अन्य किसी कवि की रचना में नहीं मिलता। तुलसी ने द्रष्टा ऋषि की भाँति रामराज्य के रूप में भावी भारत का जो मंगल-स्वप्न देखा वही आज के भारतीय नेताओं और चिन्तकों का भी आदर्श स्वप्न है। ऐसी विराट् कल्पना का कवि ही एक ओर तो राम के विश्व रूप की कल्पना कर सकता है और दूसरी ओर उन्हें सामान्य मानव की तरह प्रिया-विरह में और भाई के घायल होने पर फूट फूट कर विलाप करते हुए भी दिखा सकता है। तुलसी ने अपने विषय को गभीरता को तो निभाया ही है, अपने काव्य के नायक को इतना विराट् बना दिया है जिसका शीश स्वर्ग का स्पर्श करता है और पाँव धरती में गहराई तक गड़े हुए हैं। यह विराट् राम तुलसी की कल्पना के ही नहीं, उनकी अन्तरात्मा की अनुभूतियों और विश्वासों के राम हैं। कल्पना तो उनकी मूर्ति निर्मित करने में सहायिका भर हुई। इस तरह राम के विराट् व्यक्तित्व में तुलसी का महान व्यक्तित्व भी अभिव्यक्त हुआ है।

२ महत्कार्य और समग्र जीवन का चित्रण

महाकाव्य में उद्देश्यों की महानता के अनुरूप उसका 'कार्य' भी महान होता है। कार्य की अवस्थाओं में यही अन्तिम अवस्था 'फलागम' है। राम-चरितमानस में 'कार्य' रामराज्य की स्थापना है। नाटकीय कार्यावस्थाओं की दृष्टि से फलागम भी यही है। आलंकारिकों ने महाकाव्य में नायक का अभ्युदय आवश्यक माना है। तुलसी ने रावण-वध और सीता-उद्धार के बाद राम का राजतिलक और रामराज्य की सुख समृद्धि का वर्णन करके आधिकारिक कथा को समाप्त कर दिया है। इस तरह 'मानस' में नायक का अभ्युदय पूर्ण रूप में दिखाया गया है। वाल्मीकीय रामायण तथा अध्यात्म-रामायण में नायक

के अभ्युदय के बाद कथा एक मोड और लेती है और सीता-निर्वासन के बाद अश्वमेध यज्ञ, सीता की पुन: सतीत्व-परीक्षा और भाइयों और अयोध्यावासियों सहित राम के स्वर्गारोहण का वर्णन हुआ है। राम के राज्यारोहण के बाद की घटनाओं का जो वर्णन पद्मपुराण के पाताल-खण्ड के प्रारम्भ में ६८ अध्यायों में हुआ है उसमें अश्वमेध यज्ञ के समय वाल्मीकि द्वारा सीता राम के सम्मुख लायी जाती है और बिना सतीत्व-परीक्षा के ही राम उन्हे स्वीकार कर लेते है। फिर दोनों बहुत दिनों तक साथ रह कर राज्य-भोग करते है। भवभूति ने भी 'उत्तर-रामचरित' में कथा को पद्मपुराण के ही अनुसार सुखान्त बनाया है यद्यपि उन्होंने सतीत्व-परीक्षा का विधान ही रखा है। तुलसी ने रामकथा के उत्तरांश को अपने काव्य में स्थान ही नही दिया है, क्योंकि उनके आधार ग्रन्थ वाल्मीकि-रामायण और अध्यात्म-रामायण थे जिनमें राम कथा दुखान्त है। सीता को जगज्जननी और लक्ष्मी का अवतार मान लेने पर उनकी निर्वासन-यातना और पुनः सतीत्व-परीक्षा तुलसी के उद्देश्य के अनुरूप नहीं थी, चाहे उसके बाद पद्मपुराण और उत्तर रामचरित की तरह राम-सीता का पुनर्मिलन ही क्यों न करा दिया जाय। इसलिए उन्होने राम के राजतिलक के बाद की अप्रिय घटनाओ को छोड देना उचित समझा। उनका उद्देश्य सत् पक्ष की विजय और असत् पक्ष की पराजय तथा रामराज्य की स्थापना दिखा कर लोक-मगल का आदर्श उपस्थित करना था। इस दृष्टि से कथा को आगे बढ़ाने से कोई लाभ नहीं था क्योंकि रामराज्य की स्थापना द्वारा ही राम का पूर्ण अभ्युदय हो जाता है। भारतीय आलकारिकों के अनुसार महाकाव्य में नायक का अभ्युदय दिखाना आवश्यक भी है। अतः इस दृष्टि से भी तुलसी ने रामकथा को दुःखान्त बनाना उचित नहीं समझा। निष्कर्ष यह कि राम की राज्य-प्राप्ति और आदर्श राज्य की स्थापना ही 'मानस' की कथा का 'कार्य' है। उसके पूर्व जिन महत्त्वपूर्ण घटनाओं का विराट् आयोजन किया गया है, वे सब इस 'कार्य' के कारण के रूप में हैं। धनुष-भंग, राम विवाह, राम-बनवास, सीता-हरण, बालिवध, सेतुबन्धन, लंकादहन, राम रावण-युद्ध और रावण-वध आदि घटनाओं की स्वाभाविक परिणति राम-द्वारा सीता की प्राप्ति और आदर्श राज्य की स्थापना के रूप में हुई है। अत: इन महान कारणों से उद्भूत 'मानस' का जो कार्य है वह भी महत् है।

राम-कथा की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना राम-रावण युद्ध और रावण का वध है। वाल्मीकीय रामायण और आध्यात्म-रामायण में रावण के अत्याचार से पीड़ित पृथ्वी तथा देवताओं की प्रार्थना पर विष्णु के राम के रूप में अवतरित होने की

बात कही गयी है और रामचरितमानस में भी रामावतार का प्रधान कारण रावण के अत्याचार से पृथ्वी का संत्रस्त होना ही बताया गया है। अतः जिस उद्देश्य से राम का अवतार हुआ उसको पूरा करने के निमित्त होने वाला महा-युद्ध ही राम-कथा की सबसे बडी घटना है, इस विषय में दो मत नहीं हो सकते। वाल्मीकि-रामायण और अध्यात्म-रामायण में राम-रावण-युद्ध के बाद राम के अयोध्या लौटने और उनके राज्याभिषेक की घटना का वर्णन युद्ध-काण्ड में ही कर दिया गया है और उत्तरकाण्ड में राक्षस-वंश वर्णन, रावण-चरित तथा अन्य अवान्तर कथाओं के बाद राम के जीवन की अन्तिम घटनाओं का वर्णन किया है। अतः जिस उद्देश्य से रामावतार हुआ था, वह तो युद्ध-काण्ड के अन्त में ही पूरा हो जाता है और उसके बाद की घटनायें अनावश्यक और उद्देश्य-हीन प्रतीत होती हैं। इसी आधारपर अनेक विद्वानों का यह अनुमान है कि वाल्मीकि-रामायण के उत्तरकांड का अधिकांश प्रक्षिप्त है। तुलसी का ध्यान इस तथ्य की ओर अवश्य गया था। इसी कारण उन्होंने छठे सोपान (लंका-कांड) में रावण-वध कराया है और राम के अयोध्या आगमन, राज्याभिषेक, रामराज्य की स्थापना आदि का वर्णन सप्तम सोपान में किया है। उन्होंने रामावतार का उद्देश्य पूरा करने वाली घटना का वर्णन करके कथा समाप्त कर दी है। इस तरह राम-रावण-युद्ध और रावण-वध की घटना का जो महत्त्व और प्रभाव 'मानस' में दिखाई पड़ता है वह राम-कथा विषयक अन्य किसी काव्य में नहीं है। अतः राम-रावण-युद्ध और रावण-वध ही वह महती घटना या महत्कार्य है जो राम-कथा के केंद्र में प्रतिष्ठित है और तुलसी ने उसके महत्त्व को समझ कर ही कथा को उसके बाद अधिक नहीं बढ़ाया और रामराज्य या धर्मराज्य की स्थापना का, जो रावण-वध का ही स्वाभाविक परिणाम है, वर्णन करके कथा समाप्त कर दी है।

प्राचीन भारत के इतिहास में राम-रावण-युद्ध की घटना का वही महत्त्व है जो इन्द्र-वृत्र युद्ध या भारती युद्ध (कौरव-पांडव युद्ध) का है। इन्द्र-वृत्र की कथा तो वैदिक साहित्य तक ही सीमित रह गयी, किन्तु महाभारत और रामायण में सुरक्षित रह कर राम-रावण और कौरव-पांडव के युद्ध की कथाएँ हजारों वर्षों से भारतीय साहित्य और भारतीय जीवन को निरन्तर प्रभावित करती आयी हैं और आज भी कर रही हैं। राम-रावण युद्ध ऐतिहासिक सत्य है या कवि-कल्पना, इस विवाद में पड़ने से यहाँ कोई लाभ नहीं है। चाहे वह ऐतिहासिक सत्य हो, या जैसा कुछ विद्वान अनुमान करते हैं, केवल रूपक कथा (एलेगोरी) हो, हर दशा में वह एक महान सत्य है, क्योंकि हजारों वर्षों से वह घटना भारतीय संस्कृति को प्रकाश देती आ रही है। उस घटना का आश्रय करके जो पहला

काव्य लिखा गया वही आदि महाकाव्य के रूप में मान्य हुआ, इसी से उसकी महानता का अनुमान किया जा सकता है। तुलसी ने भी उसी घटना को केन्द्र-विन्दु बना कर 'मानस' की रचना की है। यही नहीं, उन्होंने राज्याभिषेक के बाद कथा को आगे न बढ़ाकर उस महती घटना का प्रभाव बिखरने नहीं दिया है। रामराज्य की स्थापना को तुलसी ने कितना महत्त्व दिया है, इसका अनुमान तो इसी से किया जा सकता है कि राम राज्य की सुख-सम्पदा का वर्णन वाल्मीकि रामायण (उत्तर काण्ड सर्ग ६६) और अध्यात्म रामायण (युद्ध काण्ड १६) में केवल कुछ ही छन्दों में किया गया है जब कि मानस में उसका वर्णन ११ दोहो (कडवकों) में हुआ है। अतः कथा की केन्द्रीय घटना की महानता की दृष्टि से राम-रावण-युद्ध, रावण-वध और रामराज्य की स्थापना ही मानस का महत्कार्य है। इस प्रकार चाहे नाटकों की अर्थ-प्रकृतियों की दृष्टि से देखें, या कथा की सर्वप्रमुख घटना की महानता की दृष्टि से दोनों ही प्रकार मानस में महाकाव्योचित 'महत्कार्य' की सुन्दर योजना दिखलाई पड़ती है।

समग्र युग और समग्र जीवन के वैविध्यपूर्ण चित्रण की दृष्टि से भी राम-चरितमानस उत्कृष्ट कोटि का महाकाव्य सिद्ध होता है। मानस मे वह चित्रण इतने रूपों में हुआ है—

१. राम के जीवन-चरित के अधिकांश भाग का चित्रण।

२. मानव-जीवन के विविध पक्षों और नानाविध कार्यों का व्यापक रूप में वर्णन।

३. तुलसी के युग-जीवन का प्रभाव।

रामचरितमानस अपभ्रंश के चरितकाव्यों के समान जीवन-चरित के ढंग का काव्य है। अतः उसमें चरित-नायक के जन्म के पूर्व की कुछ घटनाओं से लेकर उनके जीवन के पूर्ण अभ्युदय तक की घटनाओं का विस्तृत वर्णन किया गया है। यद्यपि तुलसी अपने उद्देश्य की अननुकूलता के कारण राम के उत्तर कालीन जीवन का वर्णन न करके चरितकाव्यों से हट कर शास्त्रीय महाकाव्यों के निकट पहुँच गये हैं, फिर भी उन्होंने एक लम्बी अवधि की कथा कही है, जिसमें राम के जीवन की प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण घटनायें आ गयी हैं। तुलसी की दृष्टि राम के जीवन के उस अंश पर थी जिसमें सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य रावण-वध और धर्म-राज्य की स्थापना है। शिशुपाल वध या किरातार्जुनीय की तरह नायक के जीवन की किसी एक ही महती घटना पर उनकी दृष्टि नहीं

थी। उनका उद्देश्य केवल काव्य का सौन्दर्य प्रदर्शित करना ही नहीं, राम के जीवन का आदर्श उपस्थित करके लोक-चित्त का परिष्कार और उन्नयन करना भी था। अतः उन्होंने जीवन की प्रत्येक परिस्थिति में राम को रखकर उनके आचरण की उत्कृष्टता को आदर्श रूप में दिखाने का प्रयत्न किया है। फलतः मानस में महाकाव्योचित घटना विस्तार और जीवन-व्यापारों का वैविध्य दिखाई पड़ता है।

भारतीय आलंकारिकों ने महाकाव्य में वस्तु वर्णन और भाव-व्यञ्जना के लिए जो सूची प्रस्तुत की है, उसका आशय यही है कि महाकाव्य में जीवन का समग्र-रूप चित्रित हो। जिस काव्य मे अधिकाधिक जीवन-दशाओं और वस्तु-व्यापारों का वर्णन होगा, वह स्वभावतः एकांगी, एकार्थबोधक और जीवन का खण्ड चित्र उपस्थित करने वाला नहीं होगा। इस दृष्टि से रामचरितमानस में जीवन के विविध पक्षों, रूपों और अवस्थाओं का जितना सर्वांगीण चित्रण हुआ है उतना हिन्दी के अन्य किसी काव्य में नहीं दिखाई पड़ता। पृथ्वीराजरासो और आल्हखण्ड का प्रधान विषय उत्साहपूर्ण वीरता है तो पद्मावत का प्रधानतया प्रेम। 'मानस' में वीरता, प्रेम, शोक, विस्मय, वात्सल्य, भक्ति, वैराग्य, क्षमा, दया, औदार्य, लोकानुरक्ति, दीनता और धर्म प्रेम आदि विविध भावो को भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के बीच रख कर इस तरह दिखाया गया है कि उससे पाठकों के वस्तुगत और आत्मगत ज्ञान का अत्यधिक विस्तार तथा विविध जीवन-दशाओं में पात्रों के साथ उनका तादात्म्य या विकर्षण होता चलता है। इसी बात को ध्यान में रखकर पं० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है, "यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि गोस्वामी जी मनुष्य-जीवन की बहुत अधिक परिस्थितियों का जो सन्निवेश कर सके वह रामचरित की विशेषता के कारण। इतने अधिक प्रकार की मानव-दशाओं का सन्निवेश आप से आप हो गया। ठीक है, पर उन सब दशाओं का यथातथ्य चित्रण बिना हृदय की विशालता, भावप्रसार की शक्ति, मर्मस्पर्शी स्व-रूपों की उद्भावना और शब्द-शक्ति की सिद्धि के नहीं हो सकता।"[1] वस्तुतः यह कवि की कल्पना-शक्ति और काव्य-प्रतिभा पर निर्भर करता है कि वह जीवन की विविध अवस्थाओं का चित्रण मर्मस्पर्शी और रसात्मक ढग से करता है या आलं-कारिकों द्वारा निर्दिष्ट लक्षणों की खाना पूरी करने के लिए करता है। किसी विशेष कथा से सम्बन्धित घटनायें तो पुराणों में भी वही होती हैं जो काव्य-ग्रंथों में होती हैं किन्तु वर्णन-शैली के कारण दोनों में स्वरूप भेद हो जाता है। उसी तरह एक ही कथानक को अपनाने और जीवन व्यापारोंका समान रूप में वैविध्य-

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल, गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ८५।

पूर्ण वर्णन करने पर भी अशक्त और सशक्त कवि के काव्यों में आकाश पाताल का अन्तर होता है। अतः समग्र जीवन के चित्रण का अभिप्राय यह है कि वस्तु-व्यापार वर्णन में वैविध्य के साथ मर्मस्पर्शिता और रसात्मकता भी होनी चाहिये। 'मानस' में कवि ने वन-विहार, मृगया जलक्रीड़ा, चन्द्रोदय, प्रभात, संध्या और विप्रलंभ आदि का वर्णन परिपाटी पालन की दृष्टि से नहीं किया है।

तुलसी ने कथा की स्वाभाविक गति को वस्तु-व्यापार-वर्णन के मोह में कहीं भी नष्ट नही होने दिया है और न अनावश्यक वस्तुओं और व्यापारों के वर्णन की ओर ही ध्यान दिया है। इसके विपरीत उन्हो ने जीवन की विविध परिस्थितियों के मर्मस्पर्शी स्थलों को पहचान कर इनका विशद वर्णन किया है और इतिवृत्तात्मक अशों को संक्षेप में कहते चले गये हैं। गोस्वामी जी की ग्राह्य और त्याज्य की पहिचान की क्षमता को शुक्ल जी ने उनकी भावुकता कहा है। उनका कहना है कि 'कवि की पूर्ण भावुकता इसमें है कि वह प्रत्येक मानव-स्थिति में अपने को डाल कर उसके अनुरूप भाव का अनुभव करे। इस शक्ति की परीक्षा का रामचरित से बढ़कर विस्तृत क्षेत्र और कहाँ मिल सकता है? जीवन-स्थिति के इतने भेद और कहाँ दिखाई पड़ते हैं? इस क्षेत्र में जो कवि सर्वत्र पूरा उतरता दिखाई देता है उसकी भावुकता को कोई नहीं पहुँच सकता···हिन्दी के कवियों में इस प्रकार की सर्वांगपूर्ण भावुकता हमारे गोस्वामी जी में ही है जिसके प्रभाव से रामचरितमानस उत्तरी भारत की सारी जनता के गले का हार हो रहा है।'[१] अतः भाव-व्यञ्जना और वस्तु-वर्णन की विविधता, स्वाभाविकता, मर्मस्पर्शिता और रसात्मकता की दृष्टि से रामचरितमानस उच्च कोटि का महाकाव्य सिद्ध होता है।

यहीं यह देख लेना भी अच्छा होगा कि 'मानस' में वस्तु-व्यापार-वर्णन और भाव-व्यञ्जना के कितने रूप दिखलाई पड़ते हैं। आचार्यों ने मानव-जीवन के विविध पक्षों, मानसिक दशाओं, वाह्य-परिस्थितियो और मानवीय संबन्धों के अधिक से अधिक अवयवों को महाकाव्य में सन्निविष्ट करने की व्यवस्था दी है। जैसा दण्डी ने कहा है, यदि कथा की स्वाभाविक गति और प्रसङ्ग के अनुरूप उपर्युक्त अवयवों में कुछ की कमी या अधिकता हो जाय तो इससे महाकाव्य दोषपूर्ण नहीं माना जा सकता। 'मानस' के वस्तु-व्यापार-वर्णन में यह बात ध्यान देने की है कि उपर्युक्त वर्ण्य विषयों में से उद्यान-क्रीड़ा, पान-गोष्ठी और जलक्रीड़ा का वर्णन उसमें नहीं हुआ है। तुलसी ने विप्रलंभ और

१—वही, पृ० ८४।

संयोग शृङ्गार का वर्णन भी वैसा नहीं किया है जैसा शास्त्रीय महाकाव्यों में विस्तार के साथ अलग सर्गों में मिलता है। साथ ही निर्दिष्ट सभी प्राकृतिक दृश्यों का भी मानस में साङ्गोपाङ्ग और संश्लिष्ट वर्णन नहीं हुआ है। महाकाव्यों की रूढ़ियों का पालन करने की दृष्टि प्रधान होने से ही कुमारदास ने 'जानकी-हरण' में 'कुमारसंभव' की तरह राम-सीता के संभोग का वर्णन किया है। स्वयंभू आदि कवियों ने रावण और उसकी पत्नियों की जलक्रीडा, पान-गोष्ठी आदि का वर्णन किया है। तुलसी ने अपनी नैतिक दृष्टि और राम के प्रति पूज्य भावना के कारण इस प्रकार के वर्णन नहीं किये हैं। इसके विपरीत उन्होंने अनेक ऐसी बातों का वर्णन किया है जिनका आलङ्कारिकों ने उल्लेख भी नहीं किया है। 'मानस' में इतने अधिक वस्तु-व्यापारों और जीवन दशाओं का वर्णन हुआ है कि सबका उदाहरण देना यहाँ संभव नहीं है। अतः संक्षेप में उनका उल्लेख किया जा रहा है:—

१. सामाजिक सम्बन्ध, कृत्य, उत्सव आदि—

सन्तानोदय, विवाह, राज्याभिषेक, सामूहिक उत्सव, रीति-रिवाज।

२. धार्मिक तथा पौराणिक विश्वासों पर आधारित्त काय और आयोजन

दक्ष-यज्ञ, पुत्रेष्टि यज्ञ, विश्वामित्र का यज्ञ, देवी-देवताओं की पूजा।

३. राजनीतिक कार्य—

सेना-प्रयाण और सेतुबन्धन, दूतत्व, हनुमान का दौत्य, मंत्रणा, नगरावरोध, युद्ध, नायक का अभ्युदय, रामराज्य-वर्णन, राजनीतिक षड्यन्त्र, राजनीतिक सम्मेलन, प्रतिनिधि द्वारा शासन।

४. प्रकृति-चित्रण—

चन्द्रोदय, सूर्योदय, रात्रि, प्रातः, सन्ध्या, मध्याह्न, उद्यान, पर्वत, नदी आश्रम, वन, सागर, ऋतु-वर्णन (वसन्त, वर्षा, शरद्)।

५. मानसिक दशाओं और भावनाओं का वर्णन—

वात्सल्य, सख्य, दाम्पत्य, श्रद्धा, भक्ति आदि में निहित रतिभाव। उत्साह, शोक, भय, क्रोध, हास, जुगुप्सा और निर्वेद नामक स्थायी भावों की अभिव्यक्ति। विविध सञ्चारी भावों की अभिव्यक्ति।

६. रूप-चित्रण—नखशिख वर्णन, रूप-वर्णन—

७. देश काल और वातावरण—

(क) नगर-वर्णन—अयोध्या, जनकपुर, लंका।

(ख) देश—हिमालय, अवध, कैकय देश।

(ग) लंका द्वीप

(घ) वातावरण—काम से प्रभावित जगत, रावण के अत्याचार (ङ) राज-सभा । (च) राज-भवन (छ) राजमहल का शयनागार । (ज) अन्तःपुर । (झ) हाट-बाजार, घाट । (ञ) युग वर्णन—कलिकाल, सतयुग, त्रेता, द्वापर । (ट) तीर्थ स्थान—प्रयाग, रामेश्वर, अयोध्या, चित्रकूट, नैमिषारण्य,

८. आमोद-प्रमोद—मृगया,-नृत्य-संगीत, शिशु-क्रीड़ा ।

९. परिगणनात्मक वर्णन

क. घोड़ा-हाथी-वर्णन-(१–३१६) घोड़ों के भेद (१–२९९)

ख. अन्य वाहन (१ २९८ से ३०१) भोज्य पदार्थ (१–९९, ३०५, ३२८, २९)

ग शकुन (१–३०३; २–२०४)

घ पशु-पक्षी (२–२१५; ३–२४, ३६, ३२, ३४, ७–२८)

ङ. वाद्य-गणना (१–३४४)

(च) दहेज की वस्तुएँ (१–१०१, ३३१, ३३२)

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि रामचरितमानस में वर्णनात्मक स्थलों की अधिकता है, क्योंकि कवि का उद्देश्य पौराणिक कथाओं की तरह केवल कथा कहना ही नहीं, वस्तु-वर्णन और भाव-व्यंजना द्वारा रस-सृष्टि करना और कथा में वास्तविता का रंग भरना भी है। वस्तु वर्णन में तुलसी ने महाकाव्यों की प्रबन्धरूढ़ियों का एक सीमा तक पालन करते हुए भी स्वतन्त्र प्रवृत्ति का परिचय दिया है और साथ ही ऐसे वर्णनों का विधान अधिक किया है जिनसे कथा का वातावरण पौराणिक, अलौकिक अथवा कृत्रिम न होकर वास्तविक प्रतीत हो। इसीलिये उन्होंने अपने समय में लोकप्रचलित रीति-रिवाजों, धार्मिक कृत्यों, शकुन-विचार आदि का भी पर्याप्त वर्णन किया है । इस प्रकार 'मानस' में मानव-जीवन के विविध पक्षों और जगत् के नाना नामरूपात्मक स्वरूपों का उद्घाटन हुआ है ।

मानस में तुलसी के युग का प्रतिबिम्ब

महाकाव्य में कवि चाहे किसी पौराणिक चरित या घटना का वर्णन करे अथवा किसी प्राचीन ऐतिहासिक वृत्त का, पर उसमें उस कवि के युग का जीवन किसी न किसी रूप में अवश्य प्रतिबिम्बित होता है । कथावस्तु से अधिक महाकाव्य के वर्णनात्मक अंशों से हमें इस बात का पता चलता है कि कवि के युग की राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक अवस्था क्या थी और कवि उस अवस्था से संतुष्ट था या असंतुष्ट । जिस तरह महाभारत से भारत के प्रारंभिक वीर-युग का, रामायण से विकसित वीर-युग का, रघुवंश और कुमार-

पंभव से विकासोन्मुख सामन्त-युग का और नवसाहसांकचरित तथा नैषध-चरित से ह्रासोन्मुख सामन्त-युग का पूरा चित्र हमारी कल्पना-दृष्टि के सम्मुख प्रत्यक्ष हो जाता है, उसी तरह रामचरितमानस में हमें तुलसी के युग का समग्र रूप चित्रित दिखाई पड़ता है। उसमें रावण के अत्याचारों तथा उससे संत्रस्त देवताओं और ऋषि-मुनियों का जो वर्णन किया गया है वस्तुतः वह मध्ययुगीन विदेशी-विधर्मी शासकों द्वारा हिन्दू धर्म और भारतीय जनता पर किये गये अत्याचारों का ही वर्णन है। तुलसी ने 'मानस' में रामावतार का कारण बताते हुए रावण के अत्याचारों का वर्णन इस प्रकार किया है :—

कामरूप जानहिं सब माया। सपनेहुँ जिनके धरम न दाया।

× × ×

द्विज भोजन मख होम सराधा। सब कै जाइ करहु तुम बाधा।
छुधाछीन बलहीन सुर सहजेहि मिलिहहिं आइ।
तब मारिहौं कि छाड़िहौं भली भाँति अपनाइ। १—१८१

× × ×

करहिं उपद्रव असुर निकाया। नाना रूप धरहिं करि माया।
जेहि बिधि होइ धर्म निर्मूला। सो सब करहिं बेद-प्रतिकूला।
जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहिं। नगर गाउँपुर आगि लगावहिं। १-१८३

मुसलमान शासकों ने जिस तरह तलवार के बल से हिन्दू धर्म को नष्ट करने और हिन्दू जनता को सन्त्रस्त करके अपने अधीन करने का प्रयत्न किया उसी का वर्णन रावण के अत्याचार के रूप में ऊपर किया गया है। अधिकांश मुसलमान बादशाहों ने हिन्दू राजाओं की बहू-बेटियों को बलपूर्वक छीन लिया था, उसका भी वर्णन तुलसी ने रावण के बहाने किया है :—

भुजबल बिस्व बस्य करि राखेसि कोउ न सुतंत्र।
मंडलीक मनि रावन राज करै निज मन्त्र।
देव जच्छ गंधर्व नर किन्नर नाग कुमारि।
जीति बरीं निज बाहुबल बहु सुन्दर बर नारि। १—१८२

विधर्मियों के इस प्रकार के भयंकर अत्याचारों के दो स्वाभाविक परिणाम हुए; एक ओर तो हिन्दू धर्म ह्रासोन्मुख और विश्रृंखलित हो गया और अनैतिकता बढ़ गयी, दूसरी ओर आत्मरक्षा की भावना से उसमें धर्म संबन्धी नियमों की कठोरता भी बहुत बढ़ गयी, उसमें साम्प्रदायिक घेरे बन्दी, जाति-प्रथा पारस्परिक भेद-भाव आदि की कसावट बहुत अधिक हो गयी। पहली बात का वर्णन तुलसी ने इस प्रकार किया है :—

सुभ आचरन कतहुं नहि होई। देव विप्र गुरु मान न कोई।
नहि हरि भगति न जप तप ज्ञाना। सपनेहु सुनिय न वेद पुराना। १-१८३
बाढ़े खल बहु चोर जुआरा। जे लम्पट पर धन पर दारा।
मानहिं मातु पिता नहिं देवा। साधुन्ह सन करवावहिं सेवा। १-१८४

इसी सामाजिक और धार्मिक विश्रृंखलता और अनैतिकता का चित्रण तुलसी ने सप्तम सोपान में कलि-वर्णन में भी किया है। सांप्रदायिक मत-मतान्तर और वर्ण-व्यवस्था की कठोरता का वर्णन उन्होंने प्रत्यक्षतः तो नहीं किया, किन्तु विष्णु, शिव और शक्ति को समान पद देकर, राम द्वारा शिव और शक्ति की पूजा करा कर तथा शिव को राम का भक्त बनाकर उन्होने धार्मिक समन्वय करने और भक्ति के क्षेत्र में निषाद, कोल, भील, शबर, राक्षस, बन्दर, भालु सबका प्रवेश सुगम दिखा कर जाति-प्रथा के बन्धनों को ढीला करने का जो प्रयत्न किया है, उससे तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों और उनके प्रति तुलसी के असंतोष का पता चलता है। 'मानस' के सप्तम सोपान में राम-राज्य के वर्णन में तुलसी की जो तन्मयता और उल्लास दिखाई पड़ता है उससे भी पता चलता है कि वे अत्याचार और अधर्म पर आधारित मुसलिम शासन को मिटा कर आदर्श धर्म-राज्य की स्थापना की कल्पना करते थे। इस दृष्टि से देखने पर पूरी राम-कथा एक रूपक-कथा प्रतीत होती है जिसमें रावण मुसलिम शासकों का और राक्षस विधर्मी मुसलमानों के प्रतीक हैं। उसी तरह सीता भारत-भूमि के प्रतीक के रूप में है। राम तथा उनके दल के लोग ऐसे आदर्श सम्राट्, आदर्श राज-कर्मचारी, राजभक्त और धर्मपरायण विद्वज्जनों के प्रतीक हैं जो तुलसी के युग में उत्पन्न तो नहीं हुये थे पर कवि के कल्पना-जगत् में उनका अवतार हो चुका था। इस तरह तुलसी ने 'मानस' में अपने युग के धर्म, समाज, राजनीति आदि विविध क्षेत्रों का व्यापक चित्रण किया है और उन क्षेत्रों के सदसत् पक्षों का उद्घाटन करके उनको एक नयी दिशा में मोड़ने का महामंत्र बताया है।

४—सुसंघटित और जीवन्त कथानक

रामचरितमानस के कथानक पर विचार करने के पूर्व यह कह देना आवश्यक है कि उसमें आधिकारिक कथा प्रथम सोपान के १७६ वें दोहे से रावण के अत्याचार के वर्णन से प्रारम्भ होती है और सप्तम सोपान के ५३ वें दोहे में रामराज्य-वर्णन तथा राम के विविध उपदेशों के बाद रामचरित-माहात्म्य से समाप्त होती है। इस प्रकार कथानक पर विचार करते हुए प्रधानतया इसी अंश पर विचार होना चाहिये, क्योंकि प्रारंभ के १७५ दोहे और अन्त के

७७ दोहे ग्रंथ की भूमिका और उपसंहार के रूप में हैं और उनमें से अधिकांश बातों का आधिकारिक कथा से सीधा सम्बन्ध नहीं है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि ये अंश महत्त्वहीन और अनावश्यक हैं। कथानक की दृष्टि से उनका अधिक महत्त्व अवश्य नहीं है, किन्तु महाकाव्य के वर्णन वैशिष्ट्य, गुरुत्व गांभीर्य और महत्ता की दृष्टि से ये अंश कितने आवश्यक हैं, यह पहले ही दिखाया जा चुका है। 'मानस' पौराणिक शैली का महाकाव्य है। इस शैली के महाकाव्यों में भूमिका और उपसंहार का विस्तार होता ही है। अतः 'मानस' के कथानक का परीक्षण शास्त्रीय शैली के महाकाव्यों की दृष्टि से नहीं होना चाहिए।

तुलसी ने अपने काव्य के लिए जो कथा चुना वह भारतीय साहित्य में चिरकाल से अत्यन्त विख्यात था। वह रामायण, महाभारत, बृहत्कथा और पुराणों में तो था ही, नाटकों, महाकाव्यों आदि में भी बहुत पहले से उसका उपयोग होता आ रहा था। अतः उसमें अधिक परिवर्तन करने तथा कल्पना का उपयोग करके नई घटनायें जोड़ने के लिए कवि को अवसर न था। तुलसी चरितकाव्य लिखना चाहते थे, शास्त्रीय महाकाव्यों के समान राम-कथा के किसी एक अंश का वर्णन करना उनका उद्देश्य नहीं था। अतः अति विस्तृत राम कथा को आधार बना कर लिखे गये काव्य में विस्तार का होना स्वाभाविक था। फिर भी भीमकाय वाल्मीकि-रामायण से तुलना करने पर 'मानस' का कलेवर बहुत बड़ा नहीं मालूम पड़ता। इसका कारण यही है कि वाल्मीकि रामायण में प्रत्येक घटना का बड़े विस्तार से वर्णन हुआ है और अवान्तर तथा प्रासंगिक कथाओं की भी उसमें भरमार है जब कि 'मानस' की कथा अधिकतर बहुत तीव्र गति से आगे बढ़ती है। उदाहरण के लिए दशरथ के पुत्रेष्टि यज्ञ से सम्बन्धित बातों का वर्णन वाल्मीकि-रामायण में दस सर्गों (बा० का० ८ से १७ वें सर्ग तक) में किया गया है जब कि तुलसी दो दोहों (प्रथम सोपान दोहा ८९-१९०) में ही संक्षेप में दशरथ के यज्ञ कराने और रानियों में हवि बाँटने का कथा कह कर राम-जन्म का वर्णन करने लग जाते हैं। अतः परंपरागत राम-कथा के विस्तार को देखते हुए रामचरितमानस का कथानक इतना विस्तृत नहीं प्रतीत होता कि उसे महाकाव्य की दृष्टि से दोष माना जाय। 'मानस' का कथानक पुराणों अथवा रामायण महाभारत जैसा अति व्याख्यायुक्त नहीं है और न खण्डकाव्यों जैसा संक्षिप्त ही है। महाकाव्य के लिए कथानक का जितना विस्तार अपेक्षित है उसमें वह समुचित रूप में वर्तमान है।

मानस के कथानक में आदि, मध्य और अन्त की योजना भी इस प्रकार हुई है कि उसके अवयवों का संघटन समानुपातिक प्रतीत होता है और पूरी कथा में जीवन्तता दिखाई पड़ती है। जीवन्तता का तात्पर्य यह है कि पूरी कथा सुश्रृङ्खलित हो अर्थात् प्रत्येक घटना अपने पहले और बाद की घटनाओं से कार्य-कारण श्रृङ्खला से आबद्ध हो और कोई भी घटना यदि कथानक से निकाल दी जाय तो कथा की श्रृङ्खला टूटा हुई प्रतीत हो। 'मानस' की कथा की प्रधान घटनाएँ इसी प्रकार की कार्य-कारण श्रृङ्खला में बँधी हुई हैं। फिर भी उसमें स्तुतिपरक, उपदेशात्मक और विचारात्मक प्रसंग इतने लम्बे और अधिक हो गये हैं कि उनसे कथा के प्रवाह में बाधा अवश्य पड़ती है। उदाहरणार्थ वन गमन के समय राम और वाल्मीकि का संवाद ऐसा है जो दार्शनिक और भावनात्मक दृष्टि से चाहे कितना भी महत्त्वपूर्ण हो, परन्तु कथा के प्रवाह में उससे बाधा ही उत्पन्न होती है। राम के वाल्मीकि से मिलने और निवास के लिए उपयुक्त स्थान पूछने की घटना का संक्षेप और स्वाभाविक रूप में वर्णन, कथा के प्रवाह को अधिक गति देता। वस्तुतः ऋषियों, मुनियों और भक्तों से जब भी राम की भेंट होती है तभी तुलसी थोड़ी देर के लिए कथा को भूलकर अटक जाते हैं।

रामचरितमानस वाल्मीकि-रामायण की तरह काण्डों (सोपानों) में विभक्त है, पर रामायण की सर्ग-विभाजन-पद्धति तुलसी ने नहीं अपनाई है। उसका मार्जन उन्होंने 'मानस' के प्रसंगों का निर्देश करके कर दिया है। सप्तम सोपान में तुलसी ने काकभुशुण्डि के मुख से इन्हीं प्रसंगों का उल्लेख कराया है और इसे कुछ विद्वान मूल-रामायण या भुशुण्ड-रामायण कहते हैं। इनमें से बहुत थोड़े प्रसंग ऐसे हैं जिनमें केवल काव्यात्मक वर्णन है, जैसे राम का विरह वर्णन, राम द्वारा ऋतु-वर्णन, राम-भरत-संवाद, देवताओं द्वारा राम की स्तुति। अन्य प्रसंग, जिनकी संख्या बहुत अधिक है, घटना-प्रधान हैं। इन प्रसंगों में वर्णित सभी घटनायें एक दूसरे से कार्य कारण रूप में श्रृङ्खलाबद्ध हैं। इस तरह 'मानस' की आधिकारिक कथा का कथानक सुश्रृङ्खलित और सुसंगठित है। उसमें राम-जन्म से लेकर वनवास तक की कथा आदि भाग में, वन-यात्रा से सीताहरण तक की कथा मध्यभाग में और सीताहरण से रावण वध और रामराज्य स्थापना तक की कथा अन्त भाग में आती है। पूरी कथा में एक सुनियोजित विकासक्रम दिखाई पड़ता है और कथा का प्रत्येक अंश या अवयव पूरी कथा के अनुपात में बहुत लम्बा या बहुत छोटा नहीं है।

प्रसंगों की शृङ्खलाबद्धता के कारण 'मानस' के कथानक में महाकाव्योचित कार्यान्विति दिखाई पड़ती है। पहले कहा जा चुका है कि 'मानस' का 'कार्य' रावण-वध और रामराज्य की स्थापना है। कथा को उस कार्य की ओर अग्रसर करने में प्रत्येक प्रसंग किसी न किसी रूप में योग देता है। इस प्रकार पूरी कथा में एकत्व होने तथा 'फल' या 'कार्य' एक होने से 'मानस' में नाटकों के ढंग की सक्रियता और कार्यान्विति वर्तमान है। कार्यान्विति में बाधा तब उपस्थित होती है जब कथानक में अनेक स्वतन्त्र कथाएँ असम्बद्ध रूप में या क्षीण सूत्र से जुड़ी रहती है। 'मानस' के आदि और अन्त भाग को छोड़कर मुख्य काव्य-शरीर के भीतर एक भी अवान्तर कथा नहीं है और जो छोटी-छोटी प्रासङ्गिक कथाएं, जैसे अहिल्या-उद्धार, ताड़का-वध, शबरी-आतिथ्य, हनुमान का विवर-प्रवेश, शूर्पणखा और खर-दूषण का प्रसंग तथा हनुमान के साहसिक कार्यों से सम्बन्धित प्रसंग आदि—आयी हैं, वे नायक का उत्कर्ष और महत्व बढ़ाने वाली और कवि के उद्देश्य की सिद्धि में सहायक हैं तथा उनमें से अधिकांश नायक की फल-प्राप्ति के प्रयत्नों और मार्ग के अवरोधों के रूप में हैं। घटनाओं की अधिकता, उनके शृङ्खलित विकास-क्रम और पात्रों की कर्मशीलता के कारण 'मानस' में नाटकों के ढंग की सक्रियता भी पूर्ण मात्रा में मिलती हैं। फलतः नाटक की पाँच कार्यावस्थायें उसमें भी दिखाई पड़ती हैं। वे ये हैं:—

१. प्रारम्भ—रावण के अत्याचार-वर्णन से लेकर राम-लक्ष्मण के विश्वामित्र के साथ यज्ञ-रक्षा के निमित्त जाने तक की घटनायें। इनसे रावण-वध और राम-राज्य की स्थापना के लिए औत्सुक्य उत्पन्न होता है।

२. प्रयत्न—राम-वनवास से लेकर शूर्पणखा-प्रसंग तक की कथा। इसमें कथा अत्यंत तीव्र गति से फलागम की ओर अग्रसर होती है।

३. प्राप्त्याशा—खर-दूषण-वध और सीताहरण से लेकर हनुमान के लंका से सीता की खबर लेकर लौटने तक की घटनाएं। इसमें एक ओर तो राम द्वारा रावण-वध किये जाने का विश्वास होता है, दूसरी ओर सीताहरण, जटायु मरण आदि बाधाओं से आशंका भी बनी रहती है। सुग्रीव-मैत्री से आशा बढ़ती है।

४. नियताप्ति—राम की युद्ध-यात्रा, सेतुबन्धन, विभीषण-मैत्री, मेघनाद और कुंभकर्ण का वध आदि घटनायें नियताप्ति के भीतर आती हैं।

५. फलागम—रावण वध और रामराज्य की स्थापना।

कार्यान्विति के लिए कथानक में नाटक की पाँचों सन्धियों का होना भी आवश्यक है। 'मानस' में वे इन स्थलों पर दिखाई पड़ती हैं :—

१. मुख संधि—

"अतिसै देखि धर्म की हानी। परम सभीत धरा अकुलानी" (-१८४)

से लेकर

"गिरि कानन जहँ तहँ भरपूरी। रहे निज निज अनीक रचि रूरी।" १-१८८

२. प्रतिमुख संधि—

तापस बेस बिसेस उदासी। चौदह बरिस राम बनवासी। (२-२९)

से लेकर

"कहेउँ राम बन गवन सुहावा। सुनहु सुमन्त्र अवध जिमि आवा।"

(१-१४२)

तक। फल के बीज का यहाँ कुछ लक्ष्य और कुछ अलक्ष्य रूप में विकास होता है।

३. गर्भ सन्धि—

'जब से राम कीन्ह तहँ बासा। सुखी भए मुनि बीती त्रासा।" ३-१८

से लेकर "क्रोधवन्त तब रावन लीन्हेसि रथ बैठाइ।" (३-३२)

तक, गर्भ सन्धि है क्योंकि यहाँ दण्डक वन में राम के बास के कारण मुनियों की प्रसन्नता तथा खरदूषण-वध आदि घटनाओं द्वारा पूर्व सन्धियों में निवेशित फल-प्रधान उपाय का विकास और सीता-हरण, जटायु-मरण आदि में उसका ह्रास दिखाई पड़ता है।

४. विमर्श सन्धि—

"कोसलेस दशरथ के जाये। हम पितु बचन मानि बन आये।

इहाँ हरी निसिचर बैदेही। बिप्र फिरहिं हम खोजत तेही।" (४-२)

से लेकर "तुरत बैद तब कीन्हि उपाई। उठि बैठे लछिमन हरसाई।" (६-६१)

तक की कथा में विमर्श सन्धि है, क्योंकि उसमें गर्भसन्धि की अपेक्षा फल-प्रधान उपाय का विकास अधिक हुआ है। सुग्रीव की मैत्री, सीता की खोज, लङ्का-दहन, हनुमान का सीता की खबर लाना, रण-यात्रा, सेतुबन्धन, अङ्गद का रावण के दरबार में पराक्रम-प्रदर्शन, विभीषण की मैत्री आदि घटनाएँ फल-प्रधान उपाय को तीव्र गति से आगे बढ़ाती हैं पर लक्ष्मण की मूर्छा तथा हनुमान के कार्यों के बीच पड़ने वाले अनेक अवरोधों से उस विकास में अन्तराय भी पड़ता है यद्यपि वह शीघ्र ही दूर हो जाता है।

५. निर्वहण सन्धि—

रावण वध के बाद रामराज्य-वर्णन तक की कथा में निर्वहण सन्धि है क्योंकि यहीं फलागम होता है और विभिन्न सन्धियों में बिखरे हुए अर्थों का उस 'कार्य' या प्रधान प्रयोग में समाहार हो जाता है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि रामचरितमानस में नाटकों के ढंग की कार्यान्विति, सक्रियता और सन्धि-योजना है किन्तु, जैसा पहले कहा जा चुका है, कथानक सबंधी ये नाटकीय तत्त्व उसकी प्रधान कथा में ही हैं। यदि प्रथम सोपान के आदि से सप्तम सोपान के अन्त तक की कथा पर विचार किया जाय तो कार्यान्विति, सक्रियता और सन्धि योजना में बाधा दिखाई पड़ती है, क्योंकि उसमें प्रारंभिक और अन्तिम भाग में अनेक स्वतंत्र अवान्तर कथाएँ, उपदेशात्मक संवाद स्तोत्र आदि हैं, जिनका कथा के नायक से तो संबंध है, पर कथा से सीधा संबंध नहीं है। इसका कारण यह है कि पौराणिक शैली के महाकाव्यों में शास्त्रीय शैली के महाकाव्यों की तरह की कार्यान्विति और सन्धि योजना नहीं होती। तुलसी ने मानस में इन दोनों शैलियों का सुन्दर समन्वय किया है। इसीलिए आदि और अन्त में तो पौराणिक शैली अधिक दिखाई पड़ती है और मध्यवर्ती मुख्य कथा में शास्त्रीय महाकाव्यों की शैली का प्राधान्य है। इसीसे प्रधान कथा के भीतर अवान्तर कथायें नहीं के बराबर हैं। जहाँ उनके लिए अवसर आता है, तुलसी उनका उल्लेख मात्र कर के कथा को आगे बढ़ा देते हैं। वाल्मीकि रामायण में ऐसे अवसरों में पूरी कथा कही गयी है, पर तुलसी ने उन्हें अन्तर्कथा के रूप में ही रखा है, अवान्तर कथा के रूप में नहीं। वे यह मान कर आगे बढ़ गये हैं कि सभी पाठक इन पौराणिक कथाओं को अवश्य जानते होंगे। अतः पुराणों से उनकी उद्धरणी उपस्थित करके उन्होंने कथानक को कार्यान्विति और सक्रियता में बाधा उपस्थित करना उचित नहीं समझा। उसमें जो छोटा-छोटा प्रासंगिक कथायें आयी हैं वे आधिकारिक कथा में योग देने वाली हैं और उनके पात्र आधिकारिक कथा के नायक के उत्कर्ष के साधक हैं। ऐसी प्रकरी कथायें ये हैं:—अहिल्या-उद्धार, ताड़का-वध, राम-परशुराम-संवाद, शबरी-मिलन, रावण-जटायु-युद्ध, हनुमान आदि का विवर-प्रवेश, हनुमान-कालनेमि प्रसंग हनुमान-भरत, राम का विविध ऋषि-मुनियों और नारदादि देवताओं से संवाद आदि। 'मानस' की अवान्तर कथायें, जो सबकी सब आधिकारिक कथा के बाहर, आदि और अन्त भाग में हैं:—

१. शिव-चरित, २. जय-विजय की कथा, ३. कश्यप-अदिति-कथा, ४. जलन्धर-वृन्दा कथा, ५. नारदमोह की कथा, ६ मनु-शतरूपा कथा, ७. प्रतापभानु-कथा, ८. रावण-चरित, ९. भुशुंडि-चरित ।

इसमें से पहली अवान्तर कथा को छोड़ कर अन्य सभी कथाएँ रामावतार का कारण बताने के लिये लिखी गयी हैं। आधिकारिक कथा के साथ उनका अप्रत्यक्ष संबंध है, अतः उन्हे प्रासंगिक कथा के रूप में माना जा सकता है।

मानस मे कथानकरूढ़ियाँ :—

रामचरितमानस की कथा अनुत्पाद्य है। यद्यपि उनकी कथा का आधार प्रधानतया वाल्मीकीय रामायण है, पर अनेक बातों को उन्होंने अध्यात्म-रामायण से लिया है। पर इन दो ग्रन्थों के अतिरिक्त अनेक प्रसंग, सूक्तियाँ, वर्णनविधि आदि बातें उन्होंने अन्य स्रोतों से भी ली हैं। इस तरह उनकी अधिकांश काव्य-सामग्री अनुत्पाद्य अर्थात् इतिहास पुराण और काव्य नाटकादि से गृहीत है, पर बीच बीच उन्होंने अपनी कल्पना का उपयोग करके कथा के भीतर अपना रंग भी भरा है। अतः कवि को कथा की गति को मोड़ने के लिए अपनी ओर से काव्य कौशल प्रदर्शन करने में लोक प्रचलित कथाओं तथा पूर्ववर्ती कथा साहित्य में प्रयुक्त विविध कथानक रूढ़ियों का सहारा लेने की आवश्यकता नही पड़ी। फिर भी परपरागत राम कथा में जो कथानक-रूढ़ियाँ व्यवहृत हुई वे 'मानस' कथा में भी आ गयी हैं। उनका यहाँ थोड़े में उल्लेख किया जा रहा है:—

१—आकाशवाणी और मुनि का शाप— ये दोनो अभिप्राय मानस की कथा में बहुत अधिक प्रयुक्त हुए है जैसे, प्रतापभानु और नारद-मोह की कथा।

२ – रूप परिवर्तन—शूर्पणखा, मारीच, रावण, हनुमान, पार्वती, नारद आदि के रूप परिवर्तन करने की कथायें।

३—बन में मार्ग भूलना और मुनि से भेंट—प्रतापभानु की कथा।

४—मंदिर, वाटिका या बन में सुन्दरी से भेंट— जनकपुर की वाटिका में राम-सीता का साक्षात्कार और पूर्वानुराग। यह कथानकरूढ़ि वाल्मीकि-रामायण, अध्यात्म-रामायण और महाभारत आदि की राम-कथाओं में नहीं मिलती। आठवीं शताब्दी के बाद जब साहित्य में कथानकरूढ़ियों का प्रयोग जानबूझ कर अधिक होने लगा तो राम-कथा में पूर्वानुराग की योजना करके उसे अधिक रोमांचक बनाने के लिए यह वृतान्त उसमें जोड़ दिया गया। कुमारदास के जानकीहरण (सर्ग ७) में राम-सीता के पारस्परिक आकर्षण और सीता के विरह का वर्णन किया गया है। महावीर चरित (अंक १) में

विश्वामित्र के आश्रम में ही राम-लक्ष्मण का सीता-उर्मिला से साक्षात्कार हो जाता है। प्रसन्नराघव (अंक २) में जयदेव ने मिलन-स्थान को बदल कर जनकपुर का चण्डिकायतन कर दिया है। मैथिलीकल्याण (रचना काल १२६० ई०) में राम-सीता कामदेव मन्दिर और माधवी-वन में मिलते हैं। इतना ही नहीं, उसमें चन्द्रकान्तगृह में उनका अभिसार भी दिखाया गया है। इस प्रकार वाटिका-प्रसंग राम-कथा की एक मध्यकालीन कथानकरूढ़ि है और तुलसी ने इसे कथा को रोमांचक बनाने की दृष्टि से ही अपनाया है।

५. राक्षस गन्धर्व आदि अतिमानवीय व्यक्तियों की सहायता—हनुमान, नल नील आदि द्वारा राम की सहायता।

६. अतिप्राकृत और अलौकिक शक्तियाँ और उनके कार्य—इस तरह की बातें राम-कथा में भरी हुई है।

७. सत्य क्रिया—सीता के सतीत्व की परीक्षा (६–१०७, १०८)

८. कबन्ध-युद्ध—राम-रावण-युद्ध में।

९ मंत्र-युद्ध – राम-रावण-युद्ध में राक्षसों का मायावी युद्ध।

१० ऋतुवर्णन द्वारा विरह वेदना की अभिव्यक्ति।

५ महान नायक तथा अन्य महत्त्वपूर्ण चरित्र

काव्य की दृष्टि से रामचरितमानस की सबसे बड़ी विशेषता उसका चरित्रगत सौन्दर्य और आदर्श है। इसमें जितने महान और आदर्श चरित्रों की अवतारणा की गयी है वे विश्व साहित्य में दुर्लभ हैं। वस्तुत. चरित्र-चित्रण में तुलसीदास की तुलना संसार के गिने-चुने कवियों के साथ ही की जा सकती है।"[1] तुलसी ने एक निश्चित उद्देश्य और निर्धारित योजना के अनुसार इन चरित्रों को निर्मित किया है। अतः वे अपने काव्य से जो लक्ष्य सिद्ध करना चाहते थे उसके सबसे बड़े साधन उनके पात्र ही है। इन चरित्रों की महानता के कारण ही 'मानस' का सामान्य जनता में इतना प्रचार-प्रसार है। यह उन्ही का प्रभाव है कि अपढ़ ग्रामीण जनता भले ही तुलसी को न जाने या 'मानस' की काव्य सम्पदा का महत्त्व न समझे पर वह राम, लक्ष्मण, भरत, हनुमान, सीता, दशरथ, कौशल्या, कैकेयी, रावण, विभीषण, कुम्भकर्ण आदि को भलीभाँति जानती है उनकी कथा से परिचित रहती है और उन्हीं के जीवन से समाज के व्यक्तियो के जीवन को तोलती है। समस्त समाज को गहराई तक प्रभावित करने के कारण ही 'मानस' के चरित्र विश्व साहित्य में अतुलनीय हैं।

---

१ डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास, प्रथम संस्करण पृ० २३७।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'मानस' के चरित्रों को दो कोटियों में विभाजित किया है, आदर्श और सामान्य। उनके अनुसार "आदर्श चित्रण के भीतर सात्विक और तामस दोनों आते हैं। राजस को हम सामान्य चित्रण के भीतर ले सकते हैं। इस दृष्टि से सीता, राम, भरत, हनुमान और रावण आदर्शचित्रण के भीतर आवेंगे तथा दशरथ, लक्ष्मण, विभीषण, सुग्रीव, कैकेयी सामान्य चित्रण के भीतर। आदर्श चित्रण में हम या तो यहाँ से वहाँ तक सात्विक वृत्ति का निर्वाह पावेंगे या तामस का। प्रकृति भेद सूचक अनेक-रूपता उसमें न मिलेगी। सीता, राम भरत, हनुमान, ये सात्विक आदर्श, रावण तामस आदर्श हैं।"[२] शुक्ल जी ने यह विभाजन सात्विक, राजस और तामस, इन तीन प्रकृतियों के अनुसार किया है। सामान्यतया चरित्रों का परीक्षण दो दृष्टियों से किया जाता है, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से और नैतिक दृष्टि से। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो कोई भी मनुष्य आदि से अन्त तक न तो सात्विक होता है, न राजस या तामस। सबमें ये सब वृत्तियाँ मिली जुली होती हैं। शिक्षा, संस्कार, परिस्थितियों के प्रभाव आदि के अनुसार मनोवृत्तियों का अभ्यास और चरित्र का परिशोधन या पतन होता रहता है। इस तरह स्वाभाविक या यथार्थ चरित्र वह होता है जिसमें उतार-चढ़ाव और विकास क्रम दिखाई पड़े। व्यक्ति के चरित्र निर्माण में उसके परिवेश का बहुत अधिक हाथ होता है, अतः व्यक्ति और उसके परिवेश के बीच होने वाली क्रिया-प्रतिक्रियाओं से ही उस व्यक्ति के चरित्र की परीक्षा होनी चाहिये। परिस्थिति के साथ होने वाले संघर्ष में व्यक्ति का उद्देश्य महान है या नहीं और यदि महान है तो वह किस सीमा तक उसके लिये प्रयत्न, त्याग और बलिदान करता है, इन्हीं बातों से उस व्यक्ति के चरित्र की साधारणता, असाधारणता और अपसाधारणता (एबनारमेलिटी) का पता चलता है। नैतिक दृष्टि से धर्म, समाजनीति और लोक-मर्यादा के आधार पर चरित्र की परीक्षा की जाती है। भारतीय अलंकारियों ने चरित्रों के संबध में अत्यंत विस्तार के साथ विचार किया है किन्तु उनका दृष्टिकोण मनोवैज्ञानिक नहीं, नैतिक ही है। इसलिए उन्होंने सभी प्रकार के पुरुष चरित्रों को धीरोदात्त, धीरप्रशान्त, धीरललित और धीरोद्धत, इन चार वर्गों में बाँट दिया है, जब कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जितने व्यक्ति होंगे उतने ही प्रकार के चरित्र होंगे। प्राचीन भारतीय साहित्य में इस प्रकार का यथार्थ ढंग का चरित्र चित्रण बहुत कम हुआ है। उसमें प्राय: ऐसे ही चरित्र दिखाई पड़ते हैं जो धर्म और नैतिकता की दृष्टि से या तो आदर्श (धीरोदात्त)

२. प० रामचन्द्र शुक्ल—गोस्वामी तुलसीदास, सप्तम संस्करण, पृ० १९६।

है या असंस्कृत और निम्न कोटि के (धीरोद्धत और अधीरोद्धत); व्यक्तिवादी और सुकुमार वृत्ति वाले (धीरललित) है या त्यागी, विरक्त और साधु प्रकृति वाले (धीरप्रशान्त)। परवर्ती काल के भारतीय साहित्य में तो प्राय: सभी चरित्रों को इन्हीं चार साँचों में ढाल कर निर्मित किया जाने लगा। अतः यह तो स्पष्ट है कि सभी प्रकार के चरित्र इन्हीं चार वर्गों के भीतर नहीं समा सकते।

'मानस' मे चरित्र-चित्रण का जो स्वरूप दिखाई पड़ता है वह हूबहू आलंकारिकों द्वारा निर्दिष्ट ढग का नही है। किन्तु तुलसी ने यथार्थवादी या मनोवैज्ञानिक आधार पर भी चरित्र नहीं निर्मित किये हैं। उनका दृष्टिकोण धार्मिक और आदर्शवादी था। अतः उन्होंने चरित्रो की कोटियाँ (टाइप्स) बना कर प्रत्येक कोटि का प्रतिनिधित्व करने वाले चरित्र निर्मित किये हैं। जिस तरह महाभारत—रामायण से विविध प्रकार के चरित्र हैं, 'मानस' मे वैसा चरित्र-वैविध्य नही दिखाई पड़ता। उसी तरह उसमें चरित्रों की वह चतुर्वर्गीय सीमाबद्धता भी नही है जो अलंकारशास्त्रों के आधार पर लिखे गये संस्कृत के परवर्ती नाटक-काव्यादि में दिखाई पड़ती है। 'मानस' का प्रत्येक पात्र अपने अपने ढग (टाइप्स) के व्यक्तियों के समस्त गुण-दोषों की समष्टि प्रतीत होता है। यही कारण है कि उसमें जो महान चरित्र है वह इतना महान है कि उससे बड़ा चरित्र और कोई हो ही नही सकता। निष्कर्ष यह कि मानस के चरित्रों का 'टाइप्स' के अनुसार स्थान-विभाजन हुआ है। उसमें दशरथ, परशुराम, विभीषण, मन्दोदरी और त्रिजटा मध्य में स्थित हैं जो असत् वातावरण के बीच भी सत्प्रवृत्तियों का त्याग नहीं करते पर अपने वातावरण को भी बदलने में समर्थ नहीं हो पाते। भरत, लक्ष्मण, और सीता, राम के प्रिय और उनका पदानुसरण करने वाले हैं। अतः चारित्रिक महत्ता की दृष्टि से राम के बाद उन्हीं का स्थान है। उसी तरह दुष्टता और नीचता में रावण के बाद कुम्भकर्ण और मेघनाद का स्थान है। यही क्रम अन्य पात्रों के विषय में भी देखा जा सकता है।

राम 'मानस' के नायक हैं, वे विशालहृदय तुलसी की विराट् कल्पना के मूर्त रूप हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने महाकाव्य के नायक के विषय में लिखा है, "मन में जब एक महत् व्यक्ति का उदय होता है, सहसा जब एक महापुरुष कवि के कल्पना-राज्य पर अधिकार आ जमाता है, मनुष्य चरित्र का उदार महत्त्व मनश्चक्षुओं के सामने अधिष्ठित होता है, तब उसके उन्नत भावों से उद्दीप्त होकर उस परम पुरुष की प्रतिमा प्रतिष्ठित करने के लिए कवि भाषा का मन्दिर-निर्माण करते है।.......उस मन्दिर मे जो प्रतिमा प्रतिष्ठित होती है

उसके देव-भाव से मुग्ध और उसकी पुण्य किरणों से अभिभूत होकर नाना दिग्देशों से आ आकर लोग उसे प्रणाम करते है। उसी को कहते है महाकाव्य"[1]। यह कथन रामचरितमानस पर जितना अधिक चरितार्थ होता है उतना शायद ही अन्य किसी महाकाव्य पर होता है। तुलसी ने अपनी दृष्टि से अपने नायक को सर्वथा निष्कलुष महान और विश्व का सर्वश्रेष्ठ चरित्र बनाने का प्रयत्न किया है। 'मानस' के राम रामायण के राम से बहुत भिन्न है। वाल्मीकि के राम केवल नर है, यद्यपि एक प्रक्षिप्त अंश में उन्हें विष्णु का अवतार भी कहा गया है। वाल्मीकि ने प्रारम्भ में ही नारद से पूछा कि इस समय संसार में कौन सबसे बडा चरित्रवान, सर्वभूत हितैषी, विद्वान, समर्थ, प्रियदर्शन, आत्मवान्, अक्रोधी, द्युतिमान् और देवताओं को भी भयभीत करने वाला है[2]। इसके उत्तर में नारद ने इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न राम का नाम लेते हुए उनके गुणों का वर्णन किया। इस तरह वाल्मीकि के राम विकसित वीर-युग के नैतिक मानदण्ड से उस काल के सबसे महान और आदर्श वीर पुरुष हैं। वे नीतिमान, बुद्धिमान, वाग्मी, श्रीमान, शत्रुजयी, सुन्दर और बलिष्ठ, स्निग्धवर्ण, प्रतापवान, लक्ष्मीवान, शुभलक्षण, धर्मज्ञ, सत्यसन्ध, प्रजाहितैषी, यशस्वी, ज्ञान-सम्पन्न, पावन, विनीत, प्रजापति तुल्य, रिपुसूदन, धर्म और जीवलोक के रक्षक, वेदवेदांगतत्वज्ञ, स्मृतिमान, प्रतिभावान, लोक सर्वप्रिय, साधु, अदीनात्मा, विचक्षण, समुद्र के समान गम्भीर, हिमवान के समान धैर्यवान, विष्णु के समान वीर, चन्द्रमा के समान प्रियदर्शी क्रुद्ध होने पर कालाग्नि के समान, और क्षमा में पृथ्वी के समान, त्याग में कुबेर के समान, सत्यपालन में अपर धर्म के समान है[3]"। तुलसी के राम में भी ये सभी गुण वर्तमान हैं किन्तु तुलसी के राम की विशेषता यह है कि वे नर ही नहीं, नारायण या परब्रह्म भी है। दूसरी बात यह है कि तुलसी का आदर्श विकसित वीर-युग का नहीं, बल्कि सामन्त युग का आदर्श है। इस युग के आदर्श मानव की मान्यता विकसित वीर-युग के आदर्श मानव की मान्यता से भिन्न है। इसी कारण वाल्मीकि के राम महान होते हुए भी यथार्थ मानव हैं। वे क्रोध करते, सीता के चरित्र पर शंका करके उनकी परीक्षा लेते और लोक-लाज से उनका परित्याग भी करते हैं। तुलसी के राम उच्चतम आदर्शों के

---

१. रविन्द्रनाथ ठाकुर—मेघनाथ-वध (हिन्दी अनुवाद) भूमिका। भाग— पृ० १५७-५८ चिरगाँव, सं० १९८४।

२. वाल्मीकीय रामायण—बालकाण्ड, १, २, ३, ४, ५।

३. वही १८ से २० तक।

प्रतीक हैं, अर्थात् वे यथार्थ मानव के दोषों और सहज प्रवृत्तियों से बहुत ऊपर उठे हुए हैं। उनके दो रूप हैं, ब्रह्म का रूप और मानव का रूप। तुलसी राम के इन दोनों रूपों पर आदि से अन्त तक बराबर प्रकाश डालते गये हैं। शिव, याज्ञवल्क्य और भुशुंडि के संवादों का उद्देश्य ही राम का ब्रह्मत्व दिखाना है। इसके अतिरिक्त देवता, ऋषि-मुनि, भक्त-जन सभी हर समय राम की ब्रह्मरूप में स्तुति करते रहते हैं जिससे राम का ब्रह्मरूप ही 'मानस' में सर्वप्रधान रूप से उभरा हुआ है। तुलसी के राम ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सबसे ऊपर उठे हुए निर्गुण ब्रह्म ही हैं, जो कभी चतुर्भुज विष्णुरूप में दिखाई पड़ते हैं, कभी दाशरथि राम के रूप में, किन्तु वस्तुतः विराट् विश्व ही उनका असली रूप है:—

विस्व रूप रघुबंस मनि करहु बचन बिस्वास।
लोक कल्पना बेद कर अंग अंग प्रति जासु। ६-१४

पद पाताल सीस अज धामा। अपर लोक अंग अंग बिश्रामा॥
भृकुटि बिलास भयंकर काला। नयन दिवाकर कच घन-माला।

× × ×

स्रवन दिसा दस बेद बखानी। मरुत स्वास निगम निज बानी। ६-१५

तुलसी ने राम को अनेक प्रकार के तर्कों द्वारा ब्रह्म सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, परन्तु कथा के भीतर अपने चरित्र द्वारा वे अधिकतर आदर्श के उच्चतम शिखर पर प्रतिष्ठित मानव ही दिखाई पड़ते है, और कभी कभी तो वे भी स्वाभाविक मानव के ढंग का कार्य करते हैं। यदि राम सदा आदर्श ही बने रहते तो उन्हें मानव-रूप में देखता ही कौन ? इसीलिये वे सुन्दर राजकुमारी सीता को देख कर विवाह के पूर्व ही मुग्ध होते हैं, सीताहरण के बाद सामान्य मानव की तरह विलाप करते और लक्ष्मण को शक्ति-बाण लगने पर यहाँ तक कह देते है :—

जौं जनतेउँ बन बन्धु बिछोहू। पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू।
सुत बित नारि भवन परिवारा। होहिं जाहिं जग बारहिं बारा।

× × ×

जैहौं अवध कौन मुह लाई। नारि हेतु प्रिय बन्धु गँवाई।
बरु अपजस सहतेउँ जग माहीं। नारि हानि बिशेष छात नाहीं। ६-६०

किन्तु राम का ऐसा यथार्थ स्वरूप चित्रित करते समय तुलसी यह बताना नहीं भूलते कि यह तो सगुण ब्रह्म की नर-लीला है :—

उहाँ राम लछिमनहिं निहारी। बोले बचन मनुज अनुसारी। ६-६०

किसी को राम के ब्रह्मत्व या उनकी सर्वशक्तिमत्ता में शंका न हो जाय, इसलिये सीता-हरण के पहले तुलसी ने यह प्रसंग जोड़ दिया है कि राम ने सीता को अग्नि में प्रवेश करने को कहा और उनकी जगह माया-सीता को बैठा दिया :—

सुनहु प्रिया व्रत रुचिर सुसीला। मैं कछु करबि ललित नर लीला।
तुम्ह पावक महुँ करहु निवासा। जौं लगि करौं निशाचर नासा। ३-१

अनेक स्थानों पर तो केवल मर्यादा की रक्षा करने और सामाजिक संबन्धों का आदर्श उपस्थित करने की दृष्टि से सर्वशक्तिमान ब्रह्म होते हुए भी राम ने विनय, लघुता और श्रद्धा का प्रदर्शन किया है जैसे परशुराम के सम्मुख और सागर से रास्ता माँगते समय का राम का मर्यादा-पालन आदर्श है, पर राम आवश्यकता पड़ने पर विनय छोड़ कर उग्र रूप भी धारण कर लेते है :—

विनय न मानत जलधि जड़, गए३ तानि दिन बीति।
बोले रामु सकोप तब, भय बिनु होइ न प्रीति।

इस तरह 'मानस' में राम के चरित्र के तीन स्वरूप दिखाई पड़ते हैं–ब्रह्म-रूप, आदर्श मानव-रूप और स्वाभाविक नर-रूप। तुलसी के भक्त और चिन्तक रूप ने राम में ब्रह्मत्व की प्रतिष्ठा की है, उनके मानवतावादी रूप ने राम को आदर्शों के उच्च शिखर पर प्रतिष्ठित किया है और उनके भावुक, कवि और कलाकार हृदय ने विवश होकर कलात्मक, मनोवैज्ञानिक और सौन्दर्य बोधक उत्कृष्टता और स्वाभाविकता लाने के लिए राम को सामान्य मानव के रूप में भी चित्रित किया है। अतः धीरोदात्त नायक कह कर ही उनके चरित्र की सभी विशेषताएँ अभिव्यक्त नहीं की जा सकती। वे अविकत्थन, क्षमावान, दृढव्रत, स्थिरप्रकृति और विनयी तो है ही, परन्तु आवश्यकता पड़ने पर दुष्टो को दण्ड देने के लिए मर्यादा का भंग भी करते है :—

सठ सन विनय कुटिल सन प्रीती। सहज कृपन सन सुन्दर नीती।
ममतारत सन ज्ञान कहानी। अति लोभी सन विरति बखानी।
क्रोधिन्हि सम कामिहि हर कथा। ऊसर बीज बाये फल जथा।

राम की इस नीतिमत्ता और आवश्यकतानुरूप व्यवहार कुशलता में उनका महान वीर-रूप और तेजोमय क्षात्रधर्म निहित है। यदि वे ऐसा नहीं करते तो वे महान साधु महात्मा तो बन जाते, किन्तु धर्म के रक्षक और असुर-संहारक नहीं बन पाते। अतः बालिवध, सागर पर क्रोध आदि कार्य राम की क्षात्र-शक्ति और नीति-निपुणता के परिचायक हैं। यदि राम सदैव इसी प्रकार के कार्य करते तो अवश्य वा अविनयी, क्रोधी और अत्याचारी कहलाते। किन्तु

वे जहाँ इस प्रकार के कार्य करते हैं वहाँ ऐसे चमत्कारपूर्ण कार्य भी करते हैं जिनसे उनका महान आदर्श मानव-रूप तथा ब्रह्म-रूप भी प्रदर्शित होता चलता है। उनके जीवन में इन दूसरे प्रकार के कार्यों की ही बहुलता है। अतः वे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वगुण-संपन्न और 'विधि हरि संभु नचावन हारे' है। केवल धीरोदात्त नायक कहना राम के महत्व को कम करना है।

'मानस' का प्रतिनायक रावण है। राम यदि सत्प्रवृत्तियों के पुजीभूत रूप और धर्म के संस्थापक-संरक्षक है तो रावण असत्प्रवृत्तियों का पुंज और अधर्म, अत्याचार और विध्वंस की साक्षात् मूर्ति है। रावण के नाश के लिए ही राम का जन्म हुआ है। उसे शिव और ब्रह्मा का वरदान प्राप्त था कि वह मनुष्य और वानर के अतिरिक्त और किसी के हाथ से नहीं मारा जा सकता (प्र० सो०-१-१७७)। अतः रावण के अत्याचार से पीड़ित पृथ्वी तथा देव ऋषि-मुनियों के दुःख को दूर करने के लिए ब्रह्म को राम-रूप में अवतरित होना पड़ा था, ताकि वे रावण का वध कर सकें। जिसका वध करने के लिए स्वयं भगवान को पृथ्वी पर जन्म लेना पड़े उसकी शक्ति का अनुमान नही किया जा सकता। प्रारम्भ में ही रावण के अत्याचारों का वर्णन करते हुए तुलसी ने लिखा है कि उसने बन्धुओं सहित अत्यन्त तप, साधना और त्याग से त्रैलोक्य को विकम्पित और विजित करने वाली शक्ति अर्जित की थी (प्र० सो०-१-१७७, १७८)। फलस्वरूप ससार में उसके लिए कुछ भी दुर्लभ न था। वह इतना वीर और बलवान था कि उसने एक बार कौतुक में ही कैलास को उठा लिया था, उसके पुत्र मेघनाद और भाई भी ऐसे वीर थे कि उनमें से प्रत्येक एक-एक जग को जीत सकता था। प्रतिनायक की इस महती शक्ति, भयंकर साहस, अतिमानवीय वीरता, और लोक-विध्वंसक कुप्रवृत्तियों का सामना करने और उसका नाश करने वाला नायक कितना महान व्यक्ति होगा, यही दिखाने के लिए राम कथा में रावण का यह स्वरूप चित्रित किया गया है। उसमें प्रति-नायक के लिए निर्दिष्ट सभी गुण अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए दिखाये गये हैं। वह पापी, व्यसनी और धीरोद्धत नायक है क्योंकि वह मायावी, शूर, प्रचण्ड, चपल, अहंकारी और आत्मप्रशसक है। किन्तु जिस तरह धीरोदात्त शब्द राम के सभी गुणों को व्यक्त करने में समर्थ नही है, उसी तरह केवल धीरोद्धत शब्द भी रावण के सभी पापों और अवगुणों को नहीं समेट पाता। वस्तुतः राम की तरह रावण का चरित्र भी सामान्य या यथार्थ नहीं, बल्कि अति-रंजित और पौराणिक ढंग का अतिमानवीय है। इस तरह 'मानस' के नायक और प्रतिनायक दोनों ही अपने-अपने क्षेत्र में मानव-कल्पना की महानतम

देन है। वे यथार्थ नहीं, प्रतीकात्मक चरित्र हैं। तुलसी ने राम को मानव की समस्त सत्प्रवृत्तियों और रावण को समस्त असत्प्रवृत्तियों के प्रतीक के रूप में चित्रित किया है, सामान्य मानव-चरित्रों के रूप में नहीं।

'मानस' के अन्य पात्र भी अपने-अपने स्थान और सीमा के भीतर कम महान नहीं है। उनमें से प्रत्येक किसी न किसी कोटि (टाइप) का पूर्ण प्रतिनिधित्व करता है। इसी कारण 'मानस' के कोई भी दो चरित्र बिलकुल एक समान नहीं हैं। भरत जैसा महान त्यागी, नीतिज्ञ और बन्धुत्व का निर्वाह करने वाला पात्र संसार में दुर्लभ है, वे अपने क्षेत्र में कवि-कल्पना के श्रेष्ठतम विभूति हैं। तुलसी ने उन्हें राम के प्रेम की साक्षात् मूर्ति ही कहा है :—

भरतहि कहहिं सराहि सराही। राम प्रेम मूरति तनु आही। २-१८४

× × ×

तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरे देह जनु राम सनेहू। २-२०८

तुलसी की दृष्टि से भरत का राम के प्रति प्रेम इतना एकनिष्ठ, गभीर और महान है कि उनकी तुलना में 'मानस' के अन्य किसी पात्र को नहीं रखा जा सकता है। यद्यपि वाल्मीकि रामायण और अध्यात्म-रामायण में भी भरत का चरित्र निर्दोष और आदर्श ही दिखाई पड़ता है, किन्तु 'मानस' में उनका चरित्र राम-प्रेम की अगाधता के कारण बहुत अधिक ऊपर उठ गया है। इसका कारण यह है कि कवि ने अपने हृदय का सम्पूर्ण रस ढाल कर भरत के प्रेम और शील का चित्रण किया है। कथा-प्रवाह के भीतर क्रिया-कलाप द्वारा भरत के चरित्र को उठाने का अधिक अवसर नहीं था अतः द्वितीय और सप्तम सोपान में वर्णनात्मक रूप में भरत के चरित्र को भावुकता के गहरे रंगों से चित्रित किया गया है। भरत के शील, गुण, विनय, महानता, बन्धुत्व, भक्ति और स्नेह की प्रशंसा करते हुए तुलसी थकते नही हैं :—

अगम सनेह भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मनु बिधि हरि हर को। २-२४१

× × ×

भरत सील गुन विनय बड़ाई। भायप भगति भरोस भलाई।
कहत सारदहु कर मति हीचे। सागर सीपि कि जाइ उलीचें। २-२८३

इस प्रकार 'मानस' के भरत भी अपनी 'कोटि' का पूर्ण प्रतिनिधित्व करने वाले महान या आदर्श चरित्र हैं।

लक्ष्मण, हनुमान, अगद, विभीषण, सुग्रीव, दशरथ और निषाद भी अपने अपने ढग के निराले किन्तु आदर्श व्यक्तित्व हैं। इन सभी चरित्रों की अपनी भिन्न-भिन्न विशेषताएँ हैं और वे भी व्यक्ति नहीं बल्कि 'टाइप' के रूप में ही

चित्रित किये गये हैं। इनमें से किसी भी चरित्र का क्रमिक विकास या ह्रास नहीं दिखाया गया है, सभी प्रारम्भ से अन्त तक समान दिखाई पड़ते हैं। इसका कारण यह है कि ये सभी राम की लक्ष्य-सिद्धि के साधन मात्र हैं; उनका स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं है। लक्ष्मण शेषनाग के अवतार हैं, अतः विष्णु के सेवक का अवतार लेकर राम का सच्चा सेवक बनना स्वाभाविक ही है। वानर-भालु तो देवताओं का अवतार या देवांश थे ही, और रावण-वध में राम की सहायता करना ही उनके जन्म लेने का उद्देश्य था; विभीषण पूर्वजन्म का प्रतापभानु का सचिव धर्मरुचि था और इस जन्म में भी उसने तप करके ब्रह्मा से भगवान के चरणों में अटल प्रेम रखने का वर प्राप्त किया था, अतः यद्यपि उसने अपने देश, राजा और बड़े भाई के प्रति विश्वासघात किया और संकट के समय में रावण को छोड़कर राम से जा मिला, पर यही उसकी विद्रोही प्रवृत्ति, सत्य प्रेम और सच्ची भगवद्भक्ति का भी महान उदाहरण है। तुलसी के मत से विभीषण का ऐसा करना सर्वथा उचित था, क्योंकि यह सबसे बड़ा नाता राम का ही मानता था। ऐसे व्यक्ति के लिए बन्धु, राजा या देश यदि राम-भक्ति में बाधा उपस्थित करते हैं तो वे त्याज्य हैं। इसलिए विभीषण ने पहले अपने भाई को नीति-धर्म की बातें समझाईं किन्तु उसके द्वारा ठोकर मार कर निकाल दिये जाने पर अपने प्रभु राम की शरण में जाने के सिवाय उसके पास कोई और रास्ता नहीं था। इस तरह विभीषण का चरित्र भी आदर्श व्यक्तित्व का ही उदाहरण है। हनुमान राम-कथा के एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पात्र हैं। वे सचमुच महावीर हैं। समुद्र को कूदकर पार कर जाना, लंकादहन, रातों-रात हिमालय से पहाड़ उठा कर लंका पहुँचाना इच्छानुसार रूप-परिवर्तन कर लेना आदि कार्य उनके अद्भुत पराक्रम और अतिमानवीय व्यक्तित्व के परिचायक हैं। किन्तु इतने महान वीर होते हुए भी वे राम के सबसे बड़े सेवक और अन्धभक्त हैं। राम के प्रथम दर्शन में ही उनका राम से जो सेव्य-सेवक संबंध स्थापित होता है उसमें अन्त तक कभी कोई कमी नहीं होती। इस तरह हनुमान में महानतम वीर और अन्यतम सेवक, इन दो गुणों का सुन्दर समन्वय हुआ है। दशरथ में भी सत्य और प्रेम का अद्भुत समन्वय हुआ है। जिस पुत्र को वे सत्य की रक्षा के लिए निर्वासित करते हैं उसी के प्रेम में अपने प्राणों का परित्याग भी करते हैं। पुत्र-प्रेम में मर कर दशरथ ने वात्सल्य-भावना का महान आदर्श उपस्थित किया है। कुल की मर्यादा और राजधर्म की रक्षा के लिए वचन को पूरा करना उनका अनिवार्य कर्तव्य था। उनकी टेक ही यही थी, "रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्राण जाइ बरु बचन न जाई।" और इस व्रत का निर्वाह उन्होंने

प्राण गँवा कर भी किया। एक साथ ऐसा आदर्श सत्य प्रेमी और आदर्श पिता इसार के साहित्य में शायद ही कहीं मिले। इसी प्रकार निषाद, जटायु, शबरी, वशिष्ठ, विश्वामित्र, नारद, सम्पाती आदि कम महत्व वाले पात्र भी मानस में राम के आदर्श भक्त के रूप में ही दिखाये गये है।

'मानस' के स्त्री चरित्रो में सर्वश्रेष्ठ व्यक्तित्व सीता का है। 'मानस' में वे मूल प्रकृति या लक्ष्मी का अवतार बतायी गयी हैं। वे राम की अर्द्धांगिनी अर्थात् ब्रह्म की आदि शक्ति हैं, पर तुलसी ने उनमें मूल प्रकृति या आदि शक्ति का आरोप चरित्र-चित्रण द्वारा कही नहीं किया है। वे आद्यन्त नर-रूप ब्रह्म की आदर्श पत्नी के रूप में ही दिखाई गयी हैं। वे 'मानस' की नायिका हैं। उनमें सरलता, निष्कलुषता, निरीहता, त्याग, संयम, कष्टसहिष्णुता औदार्य, स्नेह, माधुर्य, गृहलक्ष्मीत्व विनयशीलता, तेजस्विता पातिव्रत्य, धर्मभीरुता, आदि गुणों का समष्टि-रूप दिखाई पड़ता है। इसी कारण सीता भारतीय कुल वधुओं के चरमोत्कृष्ट आदर्श के रूप में मान्य हैं। कुमारी, कुलवधू, पत्नी, गृहिणी, राज-महिषी, वियोगिनी और संयोगिनी सभी रूप में उन्हे मर्यादा का पालन करती हुई दिखाकर तुलसी ने नारी-संबंधी अपनी उच्चतम भावना को सीता के रूप में मूर्त कर दिया हैं। राम यदि पूर्ण मानव है तो सीता पूर्ण नारी, राम यदि ब्रह्म हैं तो सीता आदि शक्ति या मूल प्रकृति। इस मूल प्रकृति के कारण ही सत्प्रवृत्तियों और असत्प्रवृत्तियों के सघर्ष की चरम परिणति राम-रावण-युद्ध के रूप में अभिव्यक्त हुई। अतः सीता को भी प्रतीकात्मक चरित्र के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। 'मानस' के अन्य स्त्री-चरित्रों में कैकयी, कौशल्या, मन्दोदरी, और मंथरा प्रमुख हैं। ये भी अपने 'टाइप' का प्रतिनिधित्व करने वाला स्त्रिया हैं। कौशल्या में माता का आदर्श रूप चित्रित हुआ है तो कैकेयी में विमाता का यथार्थ रूप दिखाया गया है। वाल्मीकि रामायण में कैकेयी के चरित्र का बाद में सुधार दिखाया गया है, पर 'मानस' में कैकेई का वह रूप नहीं दिखाई पड़ता। यद्यपि राम वनवास का मूल कारण देवताओ का षड्यंत्र और सरस्वती द्वारा मंथरा की मति फेरना था, पर तुलसी ने इस देव-प्रेरित अपराध के लिये कैकेयी को अन्त तक क्षमा नहीं किया और न उसके मुँह से दुख-पश्चात्ताप और राम के प्रति स्नेह के शब्द ही कहवाये है। एक बार चित्रकूट-सभा के प्रसंग (२ २७२) में और दूसरी बार राम के अयोध्या लौटने पर (७·६) उसकी ग्लानि और लज्जा की ओर सकेत किया गया है। फिर भी उन्होंने उसमें एक कुटिल, ईर्ष्यालु, पतिघातिनी, स्वार्थमयी, अदूरदर्शी नारी और स्वाभाविक विमाता के रूप को ही प्रधानता दी है और आद्यन्त उसके चरित्र

को लांछित बनाये रखा है, यद्यपि उसमें विकास और सुधार दिखाने का अवसर उनके पास था। अतः उसका चरित्र भी व्यक्ति का नहीं, 'टाइप' का ही है। मंथरा में चापलूस और मुँहलगी दासी का बडा ही यथार्थ चित्रण उपस्थित किया गया है पर उसके प्रति तुलसी की कोई सहानुभूति नहीं है। 'मानस' के स्त्री पात्रों में सीता के बाद सबसे निखरा हुआ चरित्र मन्दोदरी का दिखाया गया है जो एक ओर तो पतिव्रता है, दूसरी ओर रूप की महत्ता को पहचानने वाली और सत्य, धर्म और नीति का पालन करने वाली है। रावण को वह बार-बार सदुपदेश देती है, पर वह उसकी एक नहीं सुनता। फिर भी मन्दोदरी विभीषण की भाँति रावण का परित्याग नहीं करती। उसमें दो विरोधी मनोवृत्तियों का सघर्ष उसी रूप में दिखाया गया है जिस रूप में दशरथ में। इस तरह तुलसी ने मन्दोदरी के चरित्र को उसकी सीमाओं के भीतर ही पर्याप्त ऊँचा उठा दिया है।

६ गरिमामयी उदात्त शैली

रामचरित मानस में तुलसी ने अपने व्यक्तित्व को बड़ी ही उच्च भूमिका में प्रतिष्ठित कर उसे सम्पूर्ण रूप में अभिव्यक्त किया है। जिस महान चरित्र को उन्होंने अपने काव्य का नायक बनाया उसके साथ उनका इतना गहरा तादात्म्य है कि उनका व्यक्तित्व उसी सीमा तक ऊपर उठ गया है जिस सीमा तक नायक का उठा हुआ है। राम उनके काव्य के नायक ही नहीं, उनकी आत्मा के प्रकाश, उनके आराध्य भी हैं और उस आराध्य की महत्ता के सामने कवि को अपने दैन्य और अशक्ति की अनुभूति सदैव होती रहती है। इसी दैन्य-भाव के कारण तुलसी 'मानस' के प्रारम्भ मे गणेश, गुरु, ब्राह्मण, सन्त, असन्त, शिव, रामकथा के छोटे बडे पात्र तथा प्राणी मात्र की वन्दना करके शक्ति संचय करना चाहते है। किन्तु सच पूछा जाय तो यह दैन्य-भाव या अहं भाव का सर्वथा परित्याग और आराध्य के प्रति सम्पूर्ण आत्म-समर्पण ही तुलसी की सबसे बडी शक्ति है। कवि जब तक निःस्व होकर और अपने पात्रो में अपने व्यक्तित्व को पूर्णतः ढालकर काव्य रचना नहीं करता, वह महा-काव्य का निर्माण नहीं कर सकता। पात्रो के साथ तादात्म्य का तात्पर्य यह है कि कवि जिस पात्र का वर्णन करे उसके अन्तरतम का उद्घाटन करे। इस तरह पात्रों की मानसिक, वाचिक और आंगिक क्रियाओं के भीतर से कवि के व्यक्तित्व की ही अभिव्यक्ति होती है। 'मानस' के चरित्र इतने जीते-जागते और आकर्षक हैं कि उनके भीतर से तुलसी का जीवन और आकर्षक व्यक्तित्व स्पष्ट रूप से उद्भासित होता है यही 'मानस' की शैली की सबसे बड़ी विशे-

षता है। कवि की उस दैन्य-भावना और आडम्बर हीन व्यक्तित्व की सरलता की ही अभिव्यक्ति 'मानस' की शैलीगत सरलता, सुबोधता, रमणीयता और विशदता के रूप मे हुई है। तुलसी उपासना-पद्धति में हीं सरलता, छलहीनता और आडम्बरहीनता के समर्थक नहीं थे, काव्य के भीतर भी उन्होने इन गुणों को अभिव्यक्त किया है। अतिशय विनम्रतावश जो कवि बड़े ही सरल भाव से यह लिख सकता है :—

कवि न होऊँ नहिं चतुर प्रवीनू। सकल कला सब विद्या हीनू।
आखर अरथ अलंकृति नाना। छन्द प्रबन्ध अनेक विधाना।
भाव भेद रस भेद अपारा। कबित दोष गुन विविध प्रकारा।
कबित बिवेक एक नहि मोरे। सत्य कहौं लिखि कागद कोरे। १-९

उसके साहित्य और कला-सम्बन्धी विचार तत्कालीन परिस्थितियों की दृष्टि से निश्चय ही बहुत ही क्रान्तिकारी माने जायँगे। परवर्ती संस्कृत साहित्य में आडम्बर, अतिशय अलंकरण, ज्ञान का घटाटोप और चमत्कार प्रदर्शन की प्रवृत्ति इतनी बढी हुई थी कि हिन्दी काव्य पर भी उसका बुरा प्रभाव पड रहा था और तुलसी के ५० वर्ष बाद ही केशवदास की कविता में यह स्पष्ट दिखाई भी पडता है। उधर काव्य को अर्थ-प्राप्ति का साधन बना कर दरबारी वातावरण में प्राकृत जनो के गुणगान का क्रम भी चल ही रहा था। तुलसी ने काव्य-सम्बन्धी इन मान्यताओं का विरोध करने की दृष्टि से ही उपर्युक्त पंक्तियाँ लिखी है और यह सिद्ध किया है कि काव्य में विषय-वस्तु का ही अधिक महत्त्व है, उसके लिए काव्य शास्त्र के ज्ञान का प्रदर्शन करना अनुचित है, क्योंकि ऐसा सरल, सुबोध और प्रेरणादायक काव्य ही श्रेष्ठ काव्य है जो 'सुरसरि' के समान सबका हित-साधन करे। राम का चरित यदि इस सरल, सुबोध और सर्वसुलभ शैली में लिखा जाय तो तुलसी के मत से वह जितना प्रभावोत्पादक होगा उतना प्राकृत जनों के विषय में अत्यन्त अलकृत और वैचित्र्यपूर्ण शैली में लिखा गया काव्य नही हो सकता। इस विश्वास को तुलसी ने रामचरितमानस द्वारा प्रमाणित भी कर दिया है, क्योंकि केशव की 'रामचन्द्रिका' पांडित्य और चमत्कार प्रदर्शन की प्रवृत्ति और आडम्बर पूर्ण कृत्रिम शैली के कारण सामान्य जनता में अज्ञात और 'मानव' उन्ही बातों के अभाव के कारण पूर्ण प्रचारित और धर्मग्रन्थ जैसा पूजित है, यद्यपि दोनो कवियों का वर्ण्य-विषय एक ही है। अतः यह तो स्पष्ट ही है कि विविध छन्दों के प्रयोग में कौशल दिखाना, दूरारूढ़ कल्पनाओं द्वारा अलंकारों के चमत्कार उत्पन्न करना और भाषा-ज्ञान सम्बन्धी पांडित्य-प्रदर्शन करना तुलसी का लक्ष्य नही। पर इन बातों को वे त्याज्य भी नही मानते

थे। उन्हें काव्य-शास्त्र का पूर्ण ज्ञान था और उन्होंने 'मानस' में आवश्यकतानुरूप उस ज्ञान का उपयोग भी किया है, यह उनकी इन पंक्तियों से स्पष्ट है :—

सप्त प्रबन्ध सुभग सोपाना। ज्ञान नयन निरखत मन माना।

× × ×

रामसीय जस सलिल सुधासम। उपमा बीचि बिलास मनोरम।
पुरइनि सघन चारु चौपाई। जुगुति मंजु मनि सीपि सुहाई॥

× × ×

छन्द सोरठा सुन्दर दोहा। सोइ बहु रंग कमल कुल सोहा।
अरथ अनूप सुभाव सुभासा। सोइ पराग मकरन्द सुबासा।

× × × ×

धुनि अवरेब कबित गुन जाती। मीन मनोहर ते बहु भाँती।
अरथ धरम कामादिक चारी। कहब ज्ञान विज्ञान बिचारी।
नव रस जप तप जोग बिरागा। ते सब जलचर चारु तड़ागा १-३७

इसमें कवि ने प्रबन्धकाव्य के तत्वों—सर्गबद्धता, अलंकार विधान, छन्द-योजना, अर्थ, भाव, भाषा, ध्वनि वक्रोक्ति, काव्य-गुण, चतुर्वर्ग-फल, नव-रस आदि—का उल्लेख किया है। 'मानस' में कवि ने इन तत्वों की कलात्मक योजना की है। इनमें से भावों और रसों के सम्बन्ध मे आगे विचार किया जायगा। अन्य तत्वों का, जिनका शैली से सम्बन्ध है, विवेचन यहाँ किया जा रहा है।

'मानस' का कथानक सोपानों मे विभाजित है। इन्हीं सोपानों को सर्ग माना जा सकता है। विश्वनाथ कविराज ने महाकाव्य में कम से कम आठ सर्गों का होना आवश्यक माना है पर भामह, दंडी, रुद्रट आदि ने सर्गों की संख्या नहीं निर्धारित की है। महाकाव्य में सर्गबद्धता और असंक्षिप्तता, ये दो ही बातें सब ने आवश्यक मानी हैं। अतः विश्वनाथ के पूर्ववर्ती आचार्यों की परिभाषा के अनुसार 'मानस' में सात ही सर्ग या सोपान होना दोषपूर्ण नहीं माना जा सकता, क्योंकि पूरे काव्य के आकार में महाकाव्योचित विस्तार है। आलंकारिकों ने यह भी कहा है कि महाकाव्य के सर्ग न तो बहुत बड़े हों न बहुत छोटे, वे परस्पर निबद्ध हों।[1] 'मानस' में सातों सर्ग या सोपान परस्पर निबद्ध हैं, किन्तु

१ हेमचन्द्र—काव्यानुशासन—आठवाँ अध्याय।

सातों सोपानों का आकार बराबर नहो है, प्रथम और द्वितीय सोपान बहुत बडे-बडे है, षष्ठ और सप्तम उनसे छोटे आकार के और बीच के तीन सोपान बहुत छोटे-छोटे है। 'मानस' के प्रबन्धत्व मे सर्गों के आकार की यह विषमता खटकने वाली बात है। किन्तु इसका समाधान इस प्रकार हो जाता है कि तुलसी ने सोपानों का विधान महाकाव्यो के सर्गों के ढग पर नही, रामायण-महाभारत या पुराणों के कांड, पर्व या खंड के ढग पर किया है। उनमे जिस तरह कथा के प्रसंगों को रखा है। यद्यपि संख्या देकर उनका विभाजन नही किया गया है परन्तु उत्तर कांड में काकभुशुंडि ने गरुड़ से राम-कथा कहते समय प्रसगो की जो सूची दी है वह वस्तुतः 'मानस' के सोपानो के भीतर के सर्गों की ही सूची है। निष्कर्ष यह कि 'मानस' का सर्ग-विभाजन शास्त्रीय महा-काव्यों की शैली के अनुसार नहीं, इतिहास-पुराण की शैली के अनुसार हुआ है। सोपानो के आकार-भेद का यही कारण है।

अलंकार विधान—कहा जा चुका है कि तुलसी अलंकारवादी नही थे। किंतु उन्होंने रामचरितमानस में अलकारों की ऐसी सुन्दर योजना की है जैसी अन्यत्र दुर्लभ है। उसका कारण यह है कि उन्होने अलंकारों का विधान बिना प्रयास, सहज रूप मे किया है; चमत्कार-प्रदर्शन के लिए नही। 'मानस' की अलंकार-योजना का उद्देश्य है अर्थ को सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त करना, भावों के सौन्दर्य में वृद्धि करना, रूप चित्रण और वस्तु-वर्णन में रमणीयता उत्पन्न करना और सूक्ष्म गुणो, अनुभूतियों और क्रियाओं को मूर्त रूप में उपस्थित करके उन्हें सहज बोधगम्य बनाना। इसीलिए 'मानस' में अलंकार रमणीयता की वृद्धि करते हैं वे उसके भार नही, बल्कि सौन्दर्य के वाहक या साधन है। इस दिशा में तुलसी को सर्वाधिक सफलता सादृश्यमूलक अप्रस्तुतों की योजना में मिली है। 'मानस' में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, दृष्टान्त, रूपका-तिशयोक्ति आदि अलंकारो की ही अधिकता है, किन्तु उनमें भी रूपक की जैसी स्वाभाविकता, अधिकता और पूर्णता 'मानस' में मिलती है, वैसी हिन्दी के अन्य किसी महाकाव्य में नहीं मिलती। उपमाओं तथा सांग और परम्परित रूपको के कारण 'मानस' में चित्रात्मकता भी बहुत अधिक दिखाई पड़ती है। नीति और उपदेश-संबंधी वर्णन तथा प्रकृति-चित्रण में अधिकतर दृष्टान्त और उदाहरण का सहारा लिया गया है और रूप-चित्रण में उत्प्रेक्षा का। इस तरह स्वाभाविक और सौन्दर्यवर्द्धक अलंकारों के प्रचुर प्रयोग के कारण रामचरित-मानस की शैली में वह उदात्तता आयी है जो महाकाव्य के लिए अपेक्षित है।

छन्द-योजना :—हेमचन्द ने ठीक ही कहा है कि महाकाव्य में अर्थानुरूप छन्द-योजना होनी चाहिए (काव्यानुशासन, अध्याय ८) अर्थात् सर्गो के बीच में प्रसङ्ग की आवश्यकता के अनुसार छन्दों का परिवर्तन हो सकता है। किन्तु अन्य आचार्यों का कहना है कि प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द हो और उसके अन्त मे भिन्न छन्द प्रयुक्त हो, पर किसी एक सर्ग में अनेक छन्दों का प्रयोग भी हो सकता है। तुलसी ने 'मानस' में प्रत्येक सोपान में अर्थानुरूप अनेक छन्दो का प्रयोग किया है, किन्तु यह छन्द-परिवर्तन बड़ी जल्दी-जल्दी नहीं हुआ है। 'मानस' की रचना अपभ्रंश की कडवकबद्ध शैली में हुई है अर्थात् कुछ चौपाइयों के बाद दोहा या सोरठा का घत्ता देकर उन्होंने कडवकों की योजना की है। पूरा काव्य इसी कडवकबद्ध शैली में लिखा गया है, पर बीच-बीच मे काफी दूरी पर हरिगीतिका, तोमर, चौपैया आदि छन्द भी रखे गये हैं। उसमें कुल आठ प्रकार के मात्रिक छन्दो और ग्यारह प्रकार के वर्णवृत्तो का प्रयोग हुआ है। वे ये है :—

मात्रिक छन्द :—चौपाई, दोहा, सोरठा, हरिगोतिका, तोमर, त्रिभंगी और चौपैया।

वर्णिक छन्द—अनुष्टुप, इन्द्रवज्रा, त्रोटक, भुजंगप्रयात, मालिनी, रथोद्धता, वसंततिलका, वंशस्थ, शार्दूलविक्रीडित, स्रग्धरा और नगस्वरूपिणी।

इनमें वर्णवृत्तों का प्रयोग तो पिंगलशास्त्रीय नियमों के अनुसार हुआ है किन्तु मात्रिक छन्दों के प्रयोग में नियमो का कड़ाई से पालन नही किया गया है। जायसी की तरह तुलसी ने भी अनेक स्थलो पर अर्द्धालियों को ही पूरी चौपाई मान कर कडवको में कही कहीं ९, ११, १३, और पन्द्रह अर्द्धालियाँ तक रखी है। इस सम्बन्ध में मानस-राजहंस पडित विजयानन्द त्रिपाठी ने लिखा है कि "ऐसे स्थलों की कमी नहीं है जहाँ कि विषमसंख्यक अर्धालियो के बाद ही दोहा, सोरठा या छन्द आ पडा है। ऐसे अवसर पर जिस भाँति आधे श्लोक को भी पूरा मान लेते है, उसी भाँति अन्तिम अर्धाली का भी पूरा चौपाई माननी पड़ेगा। इस विषमत्व को देखकर कुछ लोगो की धारणा हो गयी है कि ग्रथकर्ता ने अर्धालियों को ही चौपाई माना है परन्तु यह बात नही है। अतः जहा ११ अर्धालियों के बाद दोहा आ गया है वहाँ छः चौपाइयाँ मानना ही न्याय है। उन्हें ग्यारह चौपाइयाँ मान लेने से तो साढ़े पाँच मानना ही अच्छा है, क्योकि अर्धाली को ही चौपाई मानने से छन्दशास्त्र का भारी विरोध होगा।"[1]

---

१. प० विजयानन्द त्रिपाठी—मानस-प्रसग—द्वितीय भाग, पृ० ४१।

अपभ्रंश में भी चार सममात्रिक चरणों वाले छंदों में विषम चरणों में समतुकान्त होने के कारण दो ही चरणों का छन्द माना जाता था।[1] हिन्दी में भी चौपाई के संबध में यही पद्धति अपनाई जाने लगी थी, जैसा जायसी आदि कवियोंके काव्यों में पाया जाता है। 'मानस' का संपादन करते समय पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र को अनेक ऐसी प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ मिली हैं जिनमें अर्धालियों के सामने सख्या दी गयी है जिससे इस प्रवृत्ति का पता चलता है कि उस समय अर्द्धालियो को ही पूरा छन्द माना जाता था। अतः व्यवहार में प्रचलित होने के कारण विषमसंख्यक अर्द्धालियों के प्रयोग को कवि के छन्द ज्ञान का अभाव नहीं कहा जा सकता। कारण यह है कि तुलसी ने पिङ्गल की व्यवहार-सिद्ध पद्धतियों को ही अधिक अपनाया है, शास्त्रीय नियमों को नहीं। इसका दूसरा प्रमाण यह है कि उन्होंने जायसी की तरह कहीं-कहीं पन्द्रह मात्रा की चौपाइयाँ भी रखी हैं, जैसे—

भूमि सप्त सागर मेखला। एक भूप रघुपति कोसला। ७–२२

इस तरह की अर्द्धालियों के उदाहरण 'मानस' में बहुत मिलेंगे। दूसरी बात यह है कि पद्मावत, 'मानस' आदि कडवकबद्ध ग्रथो में डिल्ला या अडिल्ल (अरिल्ल) छंद को भी चौपाई ही मान लिया है, जैसे –

अगनित रवि ससि सिव चतुरानन। बहु गिरि सरित सिन्धु महि कानन।
१–१०२

यह डिल्ला या अरिल्ल छन्द है जिसमें प्रत्येक चरण में १६ मात्रायें और अन्त में जगण होता है। पर इसका प्रयोग 'मानस' में आद्यन्त चौपाइयों के बीच चौपाई रूप में ही हुआ है। दोहों के सम्बन्ध में भी यही बात दिखाई पड़ती है। पद्मावत की तरह 'मानस' में भी अनेक दोहों में प्रथम और तृतीय चरणों में १३ की जगह १२ मात्राएँ ही मिलती है, यथा—

सुर समूह बिनती करि पहुँचे निज निज धाम।
जग निवास प्रभु प्रगटे अखिल लोक विश्राम। १–१०१

ऐसे दोहो की सख्या 'मानस' में कम नहीं है। त्रिभगी छन्द में ३२ मात्राएँ और अन्त में गुरु होना चाहिए पर 'मानस' में कही कहीं २९ और कही-कहीं

---

१. डा० रामसिह तोमर :—"अपभ्रश मे कवि छन्द के दो चरणों को स्वतंत्र चरण मान लेते है अर्थात् चौपाई के पूरे चार चरण लिखने की आवश्यकता नहीं समझते है। दो चरण से ही छन्द समाप्त कर देते हैं।"—'जैन साहित्य की हिन्दी साहित्य को देन'–प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ४६८।

३० मात्राओं और अन्त में लघु का प्रयोग हुआ है (१-१६२)। अतः इस संबंध में यह तो नहीं ही माना जा सकता कि तुलसी को दोहा-चौपाई के पिंगल शास्त्रीय नियमों का पता नहीं रहा होगा। वस्तुतः इन छन्दों के एकाधिक रूप उस काल में प्रचलित थे तभी तो अनेक कवियों में यह बात समान रूप से पाई जाती है। सच बात तो यह है कि तुलसी ने शब्द, संगीत, लय और भावाभिव्यञ्जना को ही अधिक महत्त्व दिया है, पिंगल शास्त्र के नियमों की अवहेलना की, यदि वह लोक विहित हो, उन्होंने अधिक चिन्ता नहीं की है। यह कवि की स्वतन्त्र प्रवृत्ति का फल है कि उसकी छन्द-शैली में सहज और सरल प्रवाह दिखाई पड़ता है।

भाषा और शब्द-चयन

अपभ्रंश के कवियों ने लोक-भाषा में काव्य लिखने के लिए अपने काव्यों में अनेक स्थलों पर सफाई दी है। उन्हीं कवियों की तरह तुलसी भी प्रारम्भ में ही यह आशंका प्रकट करते हैं कि लोक-भाषा में लिखने के लिए संस्कृत-भाषा और काव्य-परंपरा के प्रेमी उन्हें दोष देंगे। वे स्वयं भी लोक-भाषा में लिखने में विशेष गौरव का अनुभव नहीं करते पर उनको विश्वास है कि राम-कथा लिखने के कारण उनका देशी-भाषा का काव्य भी आदृत होगा और इससे अधिक से अधिक लोगों का हित-साधन भी होगा,

भाषा भनिति मोरि मति भोरी। हँसिबे जोग हँसे नहीं खोरी।१-९

× × ×

भनिति भदेस बस्तु भलि बरनी। राम कथा जगमंगल करनी। १-१०

× × ×

राम सुकीरति भनिति भदेसा। असमंजस अस मोहि अँदेशा। १-१४

किन्तु तुलसीदास को भरोसा यही था कि उनके पहले भी लोक-भाषा में हरिचरित लिखा जा चुका था:—

जे प्राकृत कवि परम सयाने। भाषा जिन्ह हरि चरित बखाने।

यहाँ प्राकृत कवि का अभिप्राय प्राकृत और अपभ्रंश में राम-कथा लिखने वाले विमलसूरि, स्वयम्भु, पुष्पदन्त आदि कवियों से है। रामचरितमानस की भाषा और शैली पर स्वयम्भू का प्रभाव तो स्पष्ट दिखलाई पड़ता है जिसका उल्लेख चौथे अध्याय में किया है। स्वयंभू ने अपनी काव्य-सरिता वाले रूपक में काव्य की भाषा के सम्बन्ध में लिखा है:

अक्खर-भास-जलोह - मणोहर। सुअसंकार छन्द मच्छोहर।
दीह समास पवाहाबंकिय। सक्कय-पायय-पुलिणालंकिय।
देसी-भासा उवय तडुज्जल। कवि दुक्कर घण सद्द सिलायल।

पउमचरिउ-१-१-२

तुलसी ने स्वयम्भू की तरह अपने काव्य सरोवर वाले रूपक में, जो पहले उद्धृत किया जा चुका है, छन्द और अलंकार के साथ भाषा, ध्वनि, वक्रोक्ति, गुण आदि का रूपक भी उपस्थित किया है। उन्होंने 'मानस' के छन्दों को कमल, भाषा को सुगंध, और ध्वनि, वक्रोक्ति आदि को मनोहर मीन कहा है। यह रूपक 'मानस' के छन्द और भाषा को देखते हुए बहुत ही यथार्थ प्रतीत होता है। जनता के लिए मानस के आकर्षण का एक बड़ा कारण उसकी सुन्दर भाषा और ललित छन्द हैं। सुन्दर भाषा का अर्थ न तो जायसी वाली ठेठ जन भाषा है और न पण्डितों वाली समास-बहुला संस्कृत गर्भित कृत्रिम भाषा। उसमें स्वयम्भू की आदर्श भाषा का अनुसरण किया गया है जिसमें दीर्घ समास वाले वाक्य और संस्कृत-प्राकृत के दुष्कर शिलाखंड जैसे शब्द तो हैं पर उनकी काव्य-सरिता देशी भाषा के उज्ज्वल तटों के बीच से ही प्रवाहित होती है। मानस की भाषा में इसी तरह विविध भाषाओं का समन्वय दिखाई पड़ता है। किसी कवि की यह उक्ति गंग के विषय में भले ही अतिरंजित हो पर तुलसी के बारे में तो वह बिल्कुल सही है "तुलसी गंग दुवो भये सुकविन के सरदार। जिनकी कविता में मिली भाषा विविध प्रकार"। विविध प्रकार की भाषा मिलने का अर्थ खिचड़ी भाषा बनाना नहीं बल्कि प्रचलित शब्दों को चुनकर तथा परम्परागत भाषा को ग्रहण कर भाषागत समन्वय उत्पन्न करना है। इस सम्बन्ध के कारण ही 'मानस' की भाषा जितनी परिमार्जित वैविध्यपूर्ण, प्रांजल और प्रवाहयुक्त है उतनी हिन्दी के अन्य किसी कवि की नहीं। तुलसी ने गम्भीर भावनाओं की अभिव्यक्ति और स्थान स्थान पर तदनुरूप संस्कृत के तत्सम शब्दों के प्रयोग द्वारा लोक-भाषा को भी इतना परिष्कृत और गम्भीर बना दिया है कि संस्कृत की परम्परा से प्रेम रखने वालों को भी उसमें उतना ही आनन्द आता है जितना संस्कृत काव्यों में। किन्तु संस्कृत-गर्भित और समास-बहुला भाषा का प्रयोग 'मानस' में सब स्थानों पर नहीं हुआ है। कवि ने पात्रों के अनुसार भाषा का प्रयोग किया है। निषाद शबरी तथा ग्राम-वधुओं की भाषा और वशिष्ठ, राम, लक्ष्मण तथा नारदादि ऋषियों की भाषा में बहुत अन्तर है। पहले प्रकार के पात्रों के मुख से तुलसी ने मुहावरों से भरी हुई व्यावहारिक भाषा का प्रयोग कराया है, और दूसरे

प्रकार के पात्रों द्वारा तत्सम शब्दावली वाली भाषा का। दार्शनिक विवेचन, भक्ति-निरूपण, स्तोत्र और गोष्ठी-वार्ता में यह दूसरी प्रकार की भाषा ही व्यवहृत हुई है। कहीं-कहीं तो तुलसी ने अवधी में संस्कृत का इतना अधिक पुट दे दिया है कि वह सामान्य जनता के लिए अत्यन्त दुरूह हो गयी है।

भावानुरूप शब्दों के प्रयोग की ओर भी तुलसी ने बहुत अधिक ध्यान दिया है। उदाहरणार्थ रूप वर्णन और शृङ्गार रस के प्रसंग में उनकी कोमलकान्त-पदावली दर्शनीय है। कहीं कहीं वर्ण-ध्वनि द्वारा भी कवि ने भावों को मूर्त किया है—

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदय गुनि।

× × ×

सुन्दरता कहँ सुन्दर करई। छबि गृह दीप सिखा जनु बरई। १-२३०

× × ×

चितवत चकित चहूँ दिसि सीता। कहँ गये नृप किसोर मनचिता।
जहँ बिलोकि मृग सावक नैनी। जनु तहँ बरिस कमल सित श्रेनी।१२३२

इस तरह 'मानस' में तुलसी शब्दों के जौहरी और भाषा के कुशल शिल्पी के रूप में भी दिखाई पड़ते हैं। उन्हे भावाभिव्यक्ति के लिए शब्दों का अभाव नहीं होता, शब्द गढ कर, धातुओ से क्रियायें बनाकर, विदेशी शब्दो को अवधी रूप देकर और विभिन्न प्रान्तों की बोलियो के ठेठ शब्दो का निस्संकोच प्रयोग करके उन्होंने भाषा में अत्यधिक अभिव्यंजना शक्ति भर दी है। भाषा पर पूर्ण अधिकार होने के कारण 'मानस' में भाषा सम्बन्धी वह एक देशीयता या एकरसता नहीं है जो पद्मावत में है। कहीं कहीं उन्होंने लक्षणा-व्यंजना के प्रयोग से ध्वनि और वक्रोक्ति का सौंदर्य भी उत्पन्न किया है पर ऐसे स्थल कम हैं, साथ ही वे बड़े ही स्वाभाविक हैं। अधिकतर तुलसी को भाषा अभिधात्मक और रसपूर्ण है। भावों और रसों के अनुरूप मानस की भाषा में माधुर्य, प्रसाद तथा ओज तीनो गुणों का समान योग दिखाई पड़ता है। कुछ लोगों का यह कहना है कि 'मानस' में रूपकात्मक पद्धति अपनाई गयी है अर्थात् उसके सभी पात्र और स्थान किसी न किसी मनोवृत्ति या आध्यात्मिक तत्त्व के प्रतीक है। इस कल्पना का आधार बेवर का वह मत है जिसके अनुसार बाल्मीकि-रामायण एक रूपकात्मक काव्य है। उनके अनुसार रामायण की कथा ऐतिहासिक सत्य नही बल्कि वह वेदों के देवासुर-संग्राम की प्रतीकात्मक कथा है जिसमें राम, सीता और रावण क्रमशः इन्द्र, पृथ्वी और वृत्र के प्रतीक हैं। बाल्मीकि की राम-कथा चाहे जो हो, पर तुलसी

की राम-कथा प्रतीकात्मक या काल्पनिक नहीं है। तुलसी ने उसे अत्यन्त विश्वास के साथ ऐतिहासिक सत्य के रूप में ही लिखा है। उनके राम इन्द्र के प्रतीक तो हो ही नहीं सकते क्यो कि तुलसी ने इन्द्र तथा अन्य देवताओं की कई जगहों पर बडी भर्त्सना की है। तुलसी के राम ब्रह्म के प्रतीक भी नही हैं। क्योंकि तुलसी के लिए तो वे स्वयं ब्रह्म है। 'मानस' में रामभक्ति की जिस सर्व-सुलभ साधना पद्धति की प्रतिष्ठा हुई उसके भीतर गुह्य साधना में विश्वास रखने वाले सम्प्रदायों की तरह रहस्यात्मक प्रतीकों और संकेतों के लिए स्थान नहीं था। अत: 'मानस' की राम-कथा कार्य-कारण की परम्परा से युक्त, कर्मफल, जन्मान्तरवाद और अवतारवाद के पौराणिक विश्वासों के आधार पर निर्मित और अभिधेयार्थक है। उसमें कोई प्रतीकार्थ खोजना बेकार है। उसके पात्र वस्तुतः 'टाइप्स' हैं और किसी विशेष 'टाइप' के लोगों की जो मनोवृत्तियाँ होती हैं उनमें उन सबको एक साथ रख दिया गया है जिससे वे पात्र उन मनोवृत्तियों के प्रतीक जैसे लगते है। पर यह आभास मात्र है, तुलसी ने जान बूझ कर प्रतीकात्मक पात्रों और घटनाओं की योजना नहीं की है।

७. प्रभावान्विति और रसव्यंजना

इसमें तो कोई सन्देह नही है कि रामचरितमानस में उत्कृष्ट कोटि की रस-वत्ता है किन्तु उसका अगी रस कौन है, यह अवश्य एक विवादग्रस्त प्रश्न है। कुछ लोग उसे वीररस-प्रधान, कुछ शान्तरस प्रधान और अधिकतर विद्वान भक्ति-रस प्रधान-काव्य मानते हे। यदि केवल आधिकारिक कथा की दृष्टि से ही देखा जाय तो निस्सन्देह इसमें वीररस को प्रधान मानना पडेगा क्योंकि उसके नायक को प्रति-नायक के बध के बाद महान राज्य का फल प्राप्त होता है और इस फल की प्राप्ति के लिए वह असीम साहस, धैर्य, कष्टसहिष्णुता, त्याग और वीरता का प्रद-र्शन करता है। वाल्मीकि रामायण मे तो राम का चरित्र महान् अकुतोभय वीर का ही चरित्र है पर मानस के राम में उनकी विनम्रता, भक्तवत्सलता और मर्यादा के कारण उनका वीर रूप कुछ दबा सा है। फिर भी उनके जीवन म वीरता के कार्यों की ही प्रधानता है और अन्त मे उनके अडिग उत्साह और उद्दाम साहस का यह परिणाम होता है कि रावण जैसा विश्वविजयी वीर मारा जाता है और सारा विश्व राम के अधीन हो जाता है, संसार के ऊपर राक्षसों के अत्याचार के भय की छाया हट जाती है और राम अखड और आदर्श धर्म-राज्य की स्थापना करते है। अतः यदि प्रथम और सप्तम सोपान की अवान्तर कथाओं तथा पूरे काव्य में बिखरे हुए स्तोत्रों, उपदेशों और तत्त्व-विवेचनों को हटा कर देखा जाय तो 'मानस' पूर्णतया वीररस का महाकाव्य प्रतीत होता है।

और राम युद्धवीर, दानवीर, धर्मवीर, और कर्मवीर इन चारों रूपों में दिखाई पड़ते हैं।

किन्तु 'मानस' का समग्र प्रभाव वीरकाव्य जैसा नहीं है और इसका कारण भी स्पष्ट है। तुलसी ने स्वयं 'मानस' को वीरकाव्य के रूप में नहीं लिखा है। तुलसी के राम सामान्य मानव नहीं, साक्षात् सगुण ब्रह्म हैं और वे कवि के काव्य-नायक ही नहीं, परम आराध्य भी हैं। 'मानस' के अधिकांश पात्र राम के भक्त हैं, यहाँ तक कि रावण भी शत्रुभाव से उनकी उपासना करता है और उनके हाथ से मारे जाने पर उसकी ज्योति राम के ही मुख में समा जाती है। तुलसी ने जिन पात्रों का महत्त्व बढ़ाना चाहा है उन्हें राम का भक्त बना दिया है। राम भी इतने उदार, धीर और भक्तवत्सल हैं कि नीच व्यक्ति को भी भक्ति-भावना से शरण में आने पर अपनाते हैं। शिव-कथा और भुशुण्डि कथा को 'मानस' में रखने का उद्देश्य राम के इस ब्रह्म और भक्तवत्सल रूप को प्रधानता देना ही है। कवि ने स्वयं काव्य के आदि में रामनाम और रामभक्त का माहात्म्य बड़े समारोह और विस्तार से बताया है। स्तोत्र, उपदेश और तत्वविवेचन भी राम को अलौकिक नायक सिद्ध करने के लिए ही रखे गये हैं। इस तरह तुलसी ने राम के इस स्वरूप को उनके वीर स्वरूप से बहुत ऊपर उठा दिया है। रामावतार का कारण उन्होंने केवल रावण का अत्याचार नहीं माना है, बल्कि कश्यप, अदिति, मनुशतरूपा की उन्हें पुत्ररूप में प्राप्त करने की इच्छा की पूर्ति और नारद, भृगु आदि भक्तों के शाप को स्वीकार कर उनकी मर्यादा-वृद्धि को भी रामावतार का लक्ष्य बताया है। निष्कर्ष यह है कि राम-कथा के भीतर तुलसी ने जो अलौकिक वातावरण और आध्यात्मिक दर्शन भर दिया है उससे 'मानस' में एक ऐसे रस की निष्पत्ति होती है जो नाटकों के लिए मान्य आठ रसों से भिन्न प्रकार का है। अब प्रश्न यह है कि वह शान्त रस है या भक्ति रस।

भारतीय नाटकों में प्रायः शान्त रस को स्थान नहीं मिला है और उसका अभिनय असंभव होने से या उसका आलम्बन अलौकिक होने से ही भरत मुनि ने केवल आठ ही रस माने हैं, शान्त रस को नहीं माना है। जिन प्रबन्ध काव्यों के कथानक में नाटकीय तत्त्व अधिक होंगे उनमें भी शान्त रस की निष्पत्ति सम्भव नहीं है। इसी कारण 'मानस' की आधिकारिक कथा में शान्त-रस प्रधान नहीं है क्योंकि इसके आश्रय राम स्वयं ब्रह्म हैं। वे स्वयं ब्रह्म को प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करते, न संसार के प्रति उनका निर्वेद ही दिखाई पड़ता है। वे तो नर-लीला करते हैं और दूसरों को अपनी भक्ति का उपदेश देते हैं। अतः 'मानस' की आधिकारिकी कथा में शान्त रस नहीं है, उसमें तो

वीर रस ही प्रधान है। किन्तु कथानक की दृष्टि से न देख कर पूरे काव्य के समग्र प्रभाव की दृष्टि से देखा जाय तो उसमें कथा के सभी पात्र, 'मानस' का कवि और पाठक सभी आश्रय और राम आलंबन प्रतीत होते हैं। इसी अर्थ में तुलसी ने कहा है कि 'मानस' के आदि, मध्य और अन्त में प्रतिपाद्य भगवान राम ही हैं :—

जेहि मह आदि मध्य अवसाना। प्रभु पतिपाद्य राम भगवाना। ७-६१

प्रतिपाद्य से कवि का तात्पर्य आलंबन से है। ऐसी हरि-कथा का फल राम के चरणों में दृढ़ प्रेम होना ही है :

जाइहि सुनत सकल संदेहा। राम चरन होइहि अतिनेहा। ७ ६१

× × ×

मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किये जोग तप ज्ञान बिरागा। ७-६२

इस राम-कथा के अधिकारी या आश्रय उसके श्रोता ही हैं :

सना सुनहिं सादर नर नारी। तेइ सुर वर मानस अधिकारी। १-३८

इस तरह कवि के अनुसार 'मानस' में 'आश्रय' श्रोता या भक्त जन, आलंबन राम और उसका फल राम-भक्ति या राम के चरणों में अनुराग है। राम-भक्ति का स्थायी भाव आध्यात्मिक या अलौकिक रति है।

समग्र प्रभाव की दृष्टि से 'मानस' का प्रधान रस वीर तो नहीं ही है, शान्त भी नहीं है। शान्त रस में स्थायी भाव शम या निर्वेद होता है और उसका फल मुक्ति की प्राप्ति होता है। रति या आकर्षण, चाहे वह अलौकिक ही क्यों न हो, शांत रस के स्थायी भाव निर्वेद का विरोधी है। वस्तुत शान्त रस अद्वैतवादी दर्शन या अन्य निर्वेद मूलक दर्शनों की वस्त है। भक्ति-मार्ग में, चाहे वह वात्सल्य, सख्य, माधुर्य या दास्य किसी भाव की उपासना का मार्ग हो, ब्रह्म के प्रति आकर्षण या रति का होना अनिवार्य है। वैष्णव भक्त इसीलिए संसार को सर्वथा त्याग कर मुक्ति नहीं चाहते, वे बार-बार जन्म लेकर भगवान के सगुण विग्रह का अनुराग प्राप्त करना और उसकी माधुरी का रसास्वादन करना चाहते है। अत 'मानस' मे जो प्रधान रस है वह अलौकिक श्रृङ्गार रस ही है और इसी को गौडीय वैष्णव आलंकारिको ने भक्ति रस कहा है। संस्कृत के पुराने आलंकारिकों ने भक्ति को रस नही माना है। विश्वनाथ कविराज ने वात्सल्य रस को दसवाँ रस माना है पर उसे महत्व नहीं दिया है। आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने अपने 'भक्ति-रसायन' नामक ग्रथ में लिखा है कि अन्य रसों के समान विभावादिकों से युक्त भगवद्रति भी रसत्व को प्राप्त होती है,

परिपूर्णरसा भगवद्रति अन्य क्षुद्र रसों से अत्यधिक बलवती है।[1] इस विवेचन से स्पष्ट है कि भगवद्रति को लौकिक श्रृंगार के स्थायी भाव रति के भीतर लेना उचित नहीं है, अतः भक्ति को स्वतन्त्र रस माना जा सकता है। ऐसा मान लेने पर 'मानस' में भक्ति रस की ही प्रधानता सिद्ध होती है।

निष्कर्ष यह है कि रामचरितमानस की आधिकारिक कथा में वीर रस अंगी रस है पर ग्रन्थ का पर्यवसान वीर रस में नहीं बल्कि भक्ति रस में हुआ है। प्रथम सोपान के पूर्वार्ध में भी भक्ति रस ही प्रधान है और आधिकारिक कथा के मध्य में भी भक्ति रस का स्थान वीर रस के बाद ही है। अतः समग्र रूप में भक्ति रस की प्रधानता है। 'मानस' में श्रृंगार, अद्भुत, रौद्र, वीभत्स, भयानक, और हास्य रसों की योजना भी स्थान-स्थान पर हुई है पर ये सभी रस अंग रूप में ही है, अंगी रूप मे नहीं। पूरे काव्य में आदि से अन्त तक इन रसों और अन्य संचारी भावों का नैरन्तर्य दिखाई पडता है। आचार्यों ने महाकाव्य में श्रृंगार, वीर और शान्त रस में से किसी एक का अंगी होना आवश्यक माना है। परिवर्तित युग की आवश्यकताओं और अपने काव्य के उद्देश्य के अनुरूप तुलसी ने आचार्यों के उक्त मत को न मान कर 'मानस' में भक्ति रस को प्रधानता दी है और इस तरह अन्यत्र भी स्वतन्त्र वृत्ति का परिचय दिया है। 'मानस' की यह रसव्यंजना अत्यन्त गंभीर रूप में दिखाई पड़ती है अर्थात् उसमें श्रोताओं, पाठकों को स्थायी रूप से अभिभूत और रससिक्त कर देने की शक्ति है। पर यहाँ यह बात भी ध्यान में रखने की है कि यदि आधिकारिक कथा का अंगी रस कुछ हो और पूरे काव्य का अंगी रस कुछ और, तो यह प्रबन्धकाव्य की दृष्टि से दोष ही माना जायगा क्योंकि इससे रस की अन्विति में बाधा होती है। दोष का परिमार्जन इस रूप में हो जाता है नाटकों या महाकाव्यों में रस-निष्पत्ति की जो पद्धति अपनाई जाती थी, तुलसी ने उसे नहीं अपनाया है। उन्होंने स्वतंत्र पथ का अवलम्बन किया है। अतः उनके काव्य को समग्र प्रभाव की दृष्टि से ही देखना

---

१. आचार्य मधुसूदन सरस्वती—

रसान्तरविभावादिसंकीर्णाः भगवद्रतिः।
चित्ररूपवदन्यादृग्रसता प्रतिपद्यते॥

× × ×

परिपूर्णरसा क्षुद्ररसेभ्यो भगवद्रतिः।

कोशोत्सव स्मारक संग्रह पृष्ठ ४२७ में अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध के निबन्ध से उद्धृत।

अधिक समीचीन है। 'मानस' का समग्र प्रभाव चिरस्थायी पडता है जो राम के ऐश्वर्य, पराक्रम तथा अन्य अलौकिक गुणों को प्रकाशित कर उनके आदर्शों को अपनाने और उनको ईश्वर रूप में स्वीकार करके उनके प्रति अनुराग उत्पन्न करने की प्रवृत्ति के रूप में दिखाई पडता है। यही समन्वित और स्थायी प्रभाव 'मानस' में गम्भीर रसव्यंजना के रूप में परिणत हुआ है।

८. जीवनी शक्ति और प्राणवत्ता—

यह तो निर्विवाद है कि विकसनशील महाकाव्यो में जितनी जीवनी शक्ति और प्राणवत्ता होती है उतनी अन्य किसी काव्यरूप में नही होती। किन्तु रामचरितमानस इस नियम का अपवाद है। यह एक आश्चर्यजनक बात है कि रचना-काल के कुछ सौ वर्षों के भीतर ही इस काव्य का जितना अधिक प्रचार हुआ है और लोक-जीवन को इसने जितनी गहराई तक प्रभावित किया है उतना संसार के किसी भी महाकाव्य ने शायद ही कभी किया हो। किसी युग में इलियड ओदेसी का यूनान के लोक-जीवन पर बहुत अधिक प्रभाव था पर यह प्रभाव यूनान जैसे छोटे देश के भीतर ही था और वहाँ भी इन महाकाव्यो का धर्मग्रन्थ के रूप में प्रचार नही था। रामायण-महाभारत ने भी हजारों वर्षो तक समस्त भारत को गहराई तक प्रभावित किया है और वे धर्मग्रन्थ के रूप में आज भी मान्य हैं पर ये काव्य कभी अपने मूलरूप में अपढ़ ग्रामीण जनता के कण्ठ में भी व्याप्त थे, इसमें संदेह है क्योंकि दो हजार वर्षो से संस्कृत भाषा, जिसमें ये ग्रन्थ लिख गये है, कभी जनता की भाषा नहीं रही है। अतः रामचरितमानस संसार का ऐसा अकेला महाकाव्य है जिसका करोड़ों व्यक्तियो के बीच एक विशाल भूखण्ड में धर्मग्रन्थ के रूप में आदर है, जिसका धर्मग्रन्थ और काव्य दोनो ही रूपों में लक्ष-लक्ष जनता नित्य पाठ और समवेत गान करती है, जिसका नाटक के रूप मे अभिनय होता है और जिसके छन्दों को पवित्र समझ कर उनसे अपने भविष्यसूचक प्रश्नों का उत्तर निकाला जाता है। अकेले यह ग्रन्थ उत्तरी भारत के एक बहुत बड़े समुदाय की जीवन-धारा को मोड़ने में समर्थ हुआ है। इस सम्बन्ध में डा० ग्रियर्सन का यह कथन उल्लेखनीय है, 'साहित्य की दृष्टि से रामायण के गुणों को एक ओर रखकर यह बात अवश्य उल्लेखनीय है कि यह ग्रन्थ यहाँ की सर्व जातियों द्वारा अंगीकृत है। पंजाब से भागलपुर तक और हिमालय से नर्मदा पर्यन्त उसका प्रभाव है। यह राजमहल से लेकर झोपड़ी तक प्रत्येक मनुष्य के हाथों में देखी जाती है और हिन्दू जाति के प्रत्येक वर्ण द्वारा, चाहे वह उच्च हो या नीच, धनी हो या निर्धन, युवा हो या वृद्ध, एक रूप में पढ़ी-सुनी जाती अथवा आदृत होती है। वह हिन्दू

जनता के जीवन, भाषा अथवा चरित में प्रायः तीन सौ वर्ष से ओतप्रोत है और केवल अपने कवितागत सौन्दर्य के लिए ही आदर तथा प्रेम नही लाभ करती है वरन् यह उनसे पवित्र धर्म-पुस्तक की भाँति सम्मानित होती है। जिस धर्म का उसने प्रचार किया है, वह सादा और उच्च है एवं ईश्वर के नाम के पूर्ण विश्वास पर निर्भर है[1]। डा० ग्रियर्सन का यह भी कहना है कि इङ्गलैण्ड में बाइबिल का जितना प्रचार है उससे कही अधिक प्रचार गंगा की घाटी मे रामचरितमानस का है[2]। रामचरितमानस का इतना अधिक प्रचार और आदर ही इसका सबसे बड़ा प्रमाण है कि उसमें अनन्त और अवरुद्ध जीवनीशक्ति भरी हुई है। ऐसे ही काव्य अमरकाव्य कहे जाते हैं। महाकाव्य में जीवनी शक्ति की वह अक्षुण्णता या अमरता आवश्यक है और इस दृष्टि से 'मानस' एक अमर महाकाव्य है।

रामचरितमानस की इस अनवरुद्ध जीवनीशक्ति का मूल कारण कवि का वह महान व्यक्तित्व है जो 'मानस' की आत्मा में व्याप्त है। उसे कवि का जीवनादर्श या जीवन-दर्शन कह सकते है। इसी जीवन-दर्शन के कारण 'मानस' में वह सशक्त प्राणवत्ता आ सका है जिससे सारे विश्व मे उसका महत्त्व उत्तरोत्तर बढ़ता ही जा रहा है। संसार की अनेक भाषाओं में उसका अनुवाद हो चुका है। इस तरह तुलसीदास का स्थान होमर, व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, शेक्सपीयर, गेटे आदि महान कवियों के समकक्ष विश्व-कवि के रूप में मान्य हो गया है। ग्रियर्सन ने तुलसीदास को उनके प्रभाव की दृष्टि से एशिया के तीन या चार महानतम कवियों में से एक माना है।[3] पर यदि प्रभाव को ही मानदण्ड मानकर स्थान निर्धारण करना हो तो तुलसी को एशिया ही नहीं, संसार के तीन या चार श्रेष्ठतम कवियों में मानना होगा। हिन्दी के तो वे सर्वश्रेष्ठ कवि है ही। हिन्दी में तुलसी का स्थान निर्धारित करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है, "काव्य के प्रत्येक क्षेत्र में हमने उन्हें उस स्थान पर देखा, जिस स्थान पर उस क्षेत्र का बड़ा से बड़ा कवि है। मानव-अन्तःकरण की सूक्ष्म से सूक्ष्म वृत्तियों तक हमने उनकी पहुँच देखी, बाह्य जगत के रूपों के प्रत्यक्षीकरण मे हमने उन्हे तत्पर पाया।……यदि कोई पूछे कि जनता के हृदय पर सबसे अधिक विस्तृत अधिकार रखने वाला हिन्दी का सबसे बड़ा कवि कौन है तो उसका एक मात्र

---

१. डा० जी० ए० ग्रियर्सन—
The modern Vernacular Literature of Hindustan Page 42. Calcutta 1889

२. डा० जी० ए० ग्रियर्सन जे० आर० ए०यस०, जुलाई १६६३, पृ०४५६

३. वही, पृ० ४५५।

यही उत्तर ठीक हो सकता है कि भारत-हृदय, भारतीयकंठ भक्त-चूडामणि गोस्वामी तुलसीदास[1]"। 'ऐसे महान कवि ने जिस महाकाव्य में अपनी समस्त प्राणशक्ति अपना संपूर्ण व्यक्तित्व ढाल कर रख दिया हो उसमें सशक्त प्राणवत्ता और जीवन्तता का होना स्वाभाविक है। इस महाकाव्य के माध्यम से कवि ने अपने जिन महान् आदर्शों और लोकमंगल के उद्देश्यों को भारतीय जनता के पास तक पहुँचाना चाहा है वे लक्ष्य-भेद कर चुके हैं। यह सही है कि तुलसी ने राम को सामन्ती युग के एक आदर्श, सर्वशक्तिमान् और धर्मरक्षक महान् सम्राट के रूप में चित्रित किया है पर उन्होंने रामराज्य की जो कल्पना की है उसी को महात्मा गान्धी ने इस लोकतन्त्र और व्यक्तिस्वातंत्र्य के युग में भी अपना आदर्श और लक्ष्य स्थिर किया। इससे प्रमाणित होता है कि तुलसी के जीवनादर्शों में कुछ ऐसे चिरस्थायी तत्त्व हैं जिनका मूल्य आगामी परिवर्तित युगों में भी बना रहेगा। 'मानस' का जीवन-दर्शन उसका मानवतावाद है। इस दर्शन ने निर्बल, निरीह, अत्याचारों से पीडित निराश जनता में जीवन का सञ्चार किया है, सर्वशक्तिमान् भगवान् को जन-जन तक पहुँचा कर सबको आश्वस्त किया है। यही नहीं, मानव को ही भगवान् रूप में परिवर्तित कर, भक्त को भगवान् से भी बड़ा बनाकर और जीवन और जगत् की सांसारता और भक्ति के क्षेत्र में उनका महत्त्व प्रतिपादित करके तुलसी ने मानव को बहुत ऊँचा उठा दिया है। तुलसी-दर्शन में मानव को अपने पापमय जीवन से ऊपर उठकर अपना सुधार करने का अंतिम क्षण तक अवकाश है, क्योंकि :—

भाव कुभाव अनख आलस्हूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ। १—२८

रामचरितमानस ने उत्तरी भारत के लोक-जीवन में किस गहराई तक प्रवेश किया है, इसका एक प्रमाण यह भी है कि उसके मार्मिक स्थलों की सैकड़ों उक्तियाँ जनता के भीतर विविध अवसरों पर उदाहरण या मुहावरे के रूप में नित्य प्रति प्रयुक्त होती हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'मानस' यहाँ के लोक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, व्यावहारिक जीवन के प्रत्येक कार्य में प्रेरणा का अनन्त स्रोत है। ऐसे प्रेरक काव्य में उस सशक्त प्राणवत्ता और अनवरुद्ध जीवनी-शक्ति का होना अनिवार्य है जिसे हमने महाकाव्य का एक स्थिर या आन्तरिक लक्षण माना है।

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, गोस्वामी तुलसीदास, सप्तम संस्करण, पृ० १७४-७५।

नवाँ अध्याय

रूपककथात्मक महाकाव्य-कामायनी

संसार के महाकाव्यों के स्वरूप-विकास के अध्ययन से यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि प्रत्येक युग के महाकाव्य पर उस युग की प्रवृत्तियों और आदर्शों का प्रभाव अवश्य पड़ता है, जिसके परिणाम स्वरूप विभिन्न युगों के महाकाव्यों के रूप-शिल्प में भी अन्तर पड़ता रहता है । एबरक्रोम्बी ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि संसार के सभी महान् महाकाव्यों में उनके युग की चेतना के अनुरूप भिन्न भिन्न विशेषतायें दिखलाई पड़ती हैं; कवि अपने महाकाव्यों में अपने युग की मानव-चेतना को, जो पूर्वकाल से उस समय तक की सम्पूर्ण मानव-उपलब्धियों का समष्टि रूप होती है, अभिव्यक्ति करना चाहता है । इस तरह युग चेतना महाकाव्य की शैली को भी गहराई तक प्रभावित करती है[1] । इस दृष्टि से बीसवीं शताब्दी में एक महान् प्रतिभाशाली कवि द्वारा लिखे गये महाकाव्य पर युग-चेतना का ऐसा प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है जिससे वह विषयवस्तु और रूपविधान दोनों ही दृष्टियों से पूर्ववर्ती युगों के महाकाव्यों में भिन्न और अपनी निजी विशिष्टताओं से युक्त दिखाई पड़े । कामायनी आधुनिक हिन्दी साहित्य का ऐसा ही अमर महाकाव्य है जिसमें आधुनिक युग की प्रवृत्तियों और विशेषताओं का पूर्ण प्रतिनिधित्व हुआ है और जो अनेक दृष्टियों से हिन्दी के ही नहीं, अपने युग के पूर्ववर्ती समस्त भारतीय महाकाव्यों से भिन्न, एक निराले स्थान का अधिकारी है ।

आधुनिक भारतीय साहित्य और संस्कृति के रूप-निर्माण में पाश्चात्य साहित्य और संस्कृति का बहुत अधिक योग है । हमारी अद्यतन संस्कृति और साहित्य का कोई भी अंग पाश्चात्य प्रभाव से अछूता नहीं है । अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी में जब कि अंग्रेज पाश्चात्य शिक्षा और सभ्यता के प्रचार द्वारा अपनी शक्ति और शासन को भारत में सुदृढ़ बना रहे थे, भारतीय संस्कृति का विरोध करना, उसकी हँसी उड़ाना और यूरोपियनों का अन्ध अनुकरण करना नये पढ़े लिखे लोगों के एक वर्ग का सामान्य फैशन हो गया था । उसी की प्रतिक्रिया भारतीय संस्कृति के पुनरुत्थान और राष्ट्रीयता के विभिन्न सुधार-

---

१—एबरक्रोम्बी,—द एपिक, प्रथम संस्करण, पृ० ८८ ।

वादी और विद्रोही आन्दोलनों के रूप में प्रकट हुई । बीसवीं शताब्दी में पाश्चात्य संस्कृति के अनुकरण की प्रवृत्ति तो बहुत कुछ दब गयी किन्तु शिक्षित लोगों में पूर्ववर्ती सामन्ती और पौराणिक रूढ़ियों और मृत जीवन-मूल्यों के प्रति घृणा भी हो गयी । उसकी जगह प्राचीन भारतीय संस्कृति के जीवन्त तत्वों को पहचान कर पाश्चात्य संस्कृति के सार्वभौम और अत्यावश्यक तत्वों के साथ उनका समन्वय करने की ओर प्रवृत्ति बढी । इस तरह आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के साधनों से सम्पन्न हो कर भारतीय राष्ट्र चेतना अपने सांस्कृतिक उत्तराधिकार और धरोहर का लेखा जोखा ठीक करने लगी और वही राजनीतिक, धार्मिक, साहित्यिक और राष्ट्रीय विद्रोह की विविध शक्तियों के रूप में अभिव्यक्त हुई अथवा सांस्कृतिक पुनर्जागरण, नवनिर्माण और समन्वय के नानाविध कार्यों में संलग्न हुई । हिन्दी में भारतेन्दु-युग, द्विवेदी-युग और छायावाद-युग की साहित्यिकचेतना के विकास में उपर्युक्त परिस्थितियों और क्रियाशीलता का इतिहास अच्छी तरह देखा जा सकता है । बँगला में उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में माइकेल मधुसूदन दत्त ने मेघनाद-वध नामक महाकाव्य लिखा । उस समय पाश्चात्य सभ्यता में जिन लोगों को आश्चर्य और चमत्कार का चरम रूप दिखाई पडता था, माइकेल मधुसूदन दत्त भी उनमें से एक थे । उन्होंने हिन्दू धर्म का परित्याग कर और ईसाई धर्म को अपनाकर ही नहीं, पाश्चात्य शैली मे महाकाव्य की रचना करके भी अपनी विद्रोही प्रवृत्ति का परिचय दिया । चिराचरित महाकाव्य-रूढ़ियों और छन्द-नियमो का परित्याग करके उन्होंने मुक्तछन्द में मेघनाद-वध की रचना की उसमें राम-लक्ष्मण की जगह रावण और मेघनाद को अपनी समस्त सहानुभूति अर्पित की । उन्होंने पाश्चात्य 'एपिक' के नियमों का पालन करते हुए जो महाकाव्य लिखा है उसमें वाल्मीकि, व्यास, कालिदास और भवभूति की अपेक्षा होमर, वर्जिल, मिल्टन टैसो, और दान्ते का प्रभाव, और कहीं कहीं तो स्पष्ट अनुकरण, दिखाई पड़ता है । आधुनिक भारतीय महाकाव्यों में मेघनाद-वध का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है, किन्तु उसमें भारतीय सांस्कृतिक परम्परा का पूर्णतः अभाव है । इसके विपरीत उसमें तत्कालीन युग-चेतना के विद्रोही किन्तु अमित और एकांकी पक्ष का ही प्रतिनिधित्व हुआ है ।

किन्तु यदि पाश्चात्य सभ्यता का हमारी संस्कृति और साहित्य पर कुछ बुरा प्रभाव पड़ा है तो उससे कहीं अधिक अच्छा प्रभाव भी पड़ा है । द्रष्टा कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस सत्प्रभाव को उसके आने के बहुत पहले ही देख लिया था । इसीलिए उन्होंने लिखा है कि 'यूरोप से आये हुए नूतन भावों के संघात

ने हमारे हृदय को सजग कर दिया है, यह बात जब सच है, तब हम उससे लाख विशुद्ध रहने की चेष्टा क्यों न करें, हमारा साहित्य कुछ न कुछ नूतन मूर्ति धारण कर के इस स य को प्रकाशित किये बिना न रह सकेगा। ठीक उसी पूर्व पदार्थ की पुनरावृत्ति अब किसी प्रकार नहीं हो सकती—यदि हो तो उस साहित्य को मिथ्या और कृत्रिम कहा जायगा।" महाकाव्य के सम्बन्ध में यह कथन सर्वथा सत्य प्रतीत होता है। हिन्दी में तुलसीदास ने महाकाव्य को प्रत्येक दृष्टि से ऐसी ऊँचाई पर पहुँचा दिया था कि परवर्ती युगों में फिर उसो शैली में और उन्ही पौराणिक आदर्शों को लेकर रामचरितमानस से अच्छे महाकाव्य का लिखा जाना असम्भव था। उत्तर-मध्ययुग में ह्रासशील संस्कृति और कुंठाग्रस्त प्रवृत्तियों के कारण महान आदर्शों से प्रेरित किसी महाकाव्य की रचना नही हो सकी। आधुनिक युग का प्रारम्भिक काल (भारतेन्दु-युग) सांस्कृतिक संक्रान्ति का काल था। अत उस युग में भी प्राचीन साहित्यिक रूढ़ियों को छोड़ना और महाकाव्य के रूप में महान आदर्शों को मूर्त करना सम्भव नहीं था। सुधारवादी आन्दोलनों और पुनरुत्थान की प्रबल भावनाओं के कारण बीसवी शताब्दी के प्रारम्भिक कुछ दशकों में पौराणिक सामती सस्कृति को तर्क-बुद्धि से परिष्कृति-परिमार्जित करके अपनाने की प्रवृत्ति अधिक बढ़ी। उधर हिन्दी पर बँगला-साहित्य का सीधा प्रभाव पड़ रहा था और माइकेल मधुसूदन दत्त के प्रबन्धकाव्य और रवीन्द्रनाथ ठाकुर के गीतिकाव्य भी हिन्दी कविता को प्रभावित कर रहे थे। फलस्वरूप द्विवेदी-युग मे ऐसी प्रबन्धकाव्यों की रचना हुई जिनमें नवीन मानवतावाद की प्रतिष्ठा की गयी थी। उनमें पौराणिक कथाओं को बौद्धिक दृष्टि से विश्वसनीय बनाने और मानव मे देवत्व की प्रतिष्ठा करने की प्रवृत्ति तो थी ही, प्राचीन काव्यदृष्टियों, छन्द नियमों और चरित्रसम्बन्धी रूढ़िबद्ध आदर्शों को त्याग कर नवोन आदर्शों और रूप-शिल्प के ग्रहण की भावना भी तीव्र थी। माइकेल मधुसूदन दत्त के विरहिणीब्रजांगना और मेघनाद-वध ने उस काल के हिन्दी कवियों को बहुत अधिक प्रभावित किया। इस तरह द्विवेदो-युग में पौराणिक कथाओं के चरित्रों को लेकर प्रबन्धकाव्य लिखे गये जिनमें उन कथाओ के अतिमानवीय और असंभव कार्यों का बौद्धिक बिश्लेषण किया गया और उन पात्रों को मानवरूप में उपस्थित किया गया। रामचरित-चिन्तामणि, प्रिय-प्रवास आदि इसी प्रकार के प्रबन्धकाव्य है।

---

१ रवीन्द्रनाथ ठाकुर—मेघनाद-वध—(भूमिका भाग) चिरगाँव, सं० १९८४, पृ० १९२।

प्रथम महायुद्ध के बाद स्वतन्त्रता-प्राप्ति के आन्दोलन और नवीन विश्वव्यापी मानवतावादी विचारों के प्रभाव के फलस्वरूप इस देश में जिन नवीन सांस्कृतिक चेतना का उदय हुआ उसने भारतीय जनता के चित्त की पौराणिक और सामन्ती रूढ़ियों के बन्धन से बहुत कुछ मुक्त कर दिया। उसने नवीन शक्ति और आत्मविश्वास को जन्म दिया जिसके फलस्वरूप साहित्य में छायावादी और रहस्यवादी धाराओं का उदय हुआ। इस नवीन धारा के काव्य के रूप-निर्माण में पाश्चात्य रोमांटिकसाहित्य का हाथ तो था ही, प्राचीन भारतीय दार्शनिक चिन्ता-धारा और साहित्यपरंपरा ने भी उसके अन्तस् को गहराई तक प्रभावित किया। इस प्रकार छायावादी युग मे काव्यधारा के भीतर जो प्रबन्धकाव्य या महाकाव्यात्मक प्रभाव वाले लघु काव्य लिखे गये उनमें प्राचीन और नवीन के बीच आत्मा का सबन्ध स्थापित हुआ, नवीन जीवन-मूल्यों और समन्वयात्मक दर्शन की प्रतिष्ठा हुई और वस्तु-सत्य की जगह भाव सत्य अथवा स्थूल की जगह सूक्ष्म को उसके समग्ररूप में देखने और स्वीकार करने की प्रवृत्ति प्रारंभ हुई। कामायनी इसी नवीन सांस्कृतिक चेतना की अभिव्यक्ति करने वाला आधुनिक युग का प्रतिनिधि महाकाव्य है। उसमें विषय-वस्तु और रूप-शिल्प-सम्बन्धी जो नवीनतायें दिखलाई पडती है उनका प्रधान कारण उपर्युक्त नवीन समन्वयात्मक, सांस्कृतिक और साहित्यिक चेतना ही है। उसकी इन्हीं नवीनताओं को लक्ष्य करके महादेवी जी ने लिखा है कि 'प्रसाद जी की कामायनी महाकाव्यों के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ती है, क्योंकि वह ऐसा महाकाव्य है जो ऐतिहासिक धरातल पर भी प्रतिष्ठित है और सांकेतिक अर्थ में मानवविकास का रूपक भी कहा जा सकता है। कल्याण भावना की प्रेरणा और समन्वयात्मक दृष्टिकोण के कारण वह भारतीय परम्परा के अनुरूप है।'[1] महाकाव्यो के इतिहास में नया अध्याय जोडने का तात्पर्य यह है कि कामायनी में न तो मेघनाद-बध की तरह पुरानी सांस्कृतिक मान्यताओं को अस्वीकृत और अपमानित करके पश्चिम का अन्धानुकरण किया गया है और न द्विवेदी युगीन प्रबन्धकाव्यों की तरह कृष्ण और राम के आख्यानों को लेकर उनकी स्थूल ढग से सुधारवादी व्याख्या करके पुनरुत्थानवादी मनोवृत्ति का प्रदर्शन किया गया है। इसके विपरीत उसमें सामन्ती पौराणिक मान्यताओ का सर्वथा परित्याग करके दार्शनिक और वैज्ञानिक आधार पर शाश्वत जीवन-मूल्यों की

---

१ – महादेवी वर्मा—'कामायनी—एक परिचय'—भूमिका, ग्रन्थ लेखक-गंगा प्रसाद पाण्डेय, इलाहाबाद, सन् १९४९, पृ० ८।

स्थापना की गयी है। इसके लिए प्रसाद जी ने इतिहास के स्थूल तथ्यों के भीतर मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय अन्वेषण द्वारा चिरन्तन भाव-सत्यों को खोज निकालने का प्रयास किया है। कामायनी की भूमिका में उन्होंने इस सम्बन्ध में अपने विचार स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "आज हम सत्य का अर्थ घटना कर लेते हैं। तब भी उसके तिथि-क्रम मात्र से सन्तुष्ट न होकर मनोवैज्ञानिक अन्वेषण के द्वारा इतिहास की घटना के भीतर कुछ देखना चाहते हैं। उसके मूल में क्या रहस्य है? आत्मा की अनुभूति; हाँ, उसी भाव के रूप-ग्रहण की चेष्टा सत्य या घटना बन कर प्रत्यक्ष होती है। फिर वे सत्य घटनायें स्थूल और क्षणिक होकर मिथ्या और अभाव में परिणत हो जाती हैं। किन्तु सूक्ष्म अनुभूति या भाव चिरन्तन सत्य के रूप में प्रतिष्ठित रहता है, जिसके द्वारा युग-युग के पुरुषों की और पुरुषार्थों की अभिव्यक्ति होती रहती है।" इस तरह प्रसाद जी ने कामायनी में स्थूल पौराणिक या ऐतिहासिक घटनाओं के भीतर निहित सूक्ष्म और चिरन्तन भाव-सत्यों की खोज करके उन्हें शाश्वत जीवन-मूल्यों के रूप में प्रतिष्ठित किया है, और उन्हें ही 'आत्मा की अनुभूति' कहा है। इससे स्पष्ट है कि प्रसाद का यह महाकाव्य पूर्ववर्ती सभी भारतीय महाकाव्यों से भिन्न भूमिका पर प्रतिष्ठित है क्योंकि उसमें स्थूल घटनाओं और पात्रों की नहीं, सूक्ष्म मनोवृत्तियों और भावनाओं के विकास-क्रम की कथा कही गयी है।

कामायनी-कथा के मूल स्रोत

सूक्ष्म भाव सत्यों के लिए स्थूल घटनाओं और पात्रों का आधार आवश्यक होता है जिनके माध्यम से उन शाश्वत सत्यों की अभिव्यक्ति की जा सके। यह अवश्य है कि स्थूल दृष्टि वाला कवि बाह्य घटनावली और जीवन-व्यापारों को ही सब कुछ मान कर ऐतिहासिक, पौराणिक या काल्पनिक कथानक की योजना करता है और सूक्ष्म दृष्टि वाले कवि का ध्यान इन बाह्य व्यापारों की ओर उतना नहीं रहता जितना 'आत्मा की अनुभूति' की ओर रहता है। कामायनी में भी स्थूल कथा ऐतिहासिक है अथवा कम से कम प्रसाद जी ने उसे ऐतिहासिक सत्य मान कर लिखा है। उन्होंने कामायनी की भूमिका में इसका संकेत भी दिया है कि उन्हें यह कथावस्तु कहाँ से प्राप्त हुई है। वे घटनायें जिनका वर्णन प्रसाद जी ने कामायनी में ऐतिहासिक तथ्य के रूप में किया है, ये हैं:—

(क)—देवजाति और इन्द्र-वृत्र युद्ध, (ख)-जलप्लावन और मनु की रक्षा की घटना, (ग)—मनु और श्रद्धा का सम्बन्ध तथा मनु का किलात-आकुलि का

प्रेरणा से काम यज्ञ, (च)—सारस्वत प्रदेश में मनु और इड़ा की भेंट और मनु द्वारा नवीन सृष्टि-विधान, (छ)—मनु-इड़ा-संघर्ष।

इन घटनाओं के अतिरिक्त कामायनी-कथा की अन्य घटनाएँ उत्पाद्य हैं और कवि ने दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक सत्य के रूप में उन्हें अपनाया है। अतः ऐतिहासिक तथ्य न होते हुए भी वे कवि की दृष्टि से शाश्वत भाव-सत्य अवश्य हैं। यहाँ केवल उन स्रोतों पर विचार किया जायगा जहाँ से कवि को उपर्युक्त तथ्य प्राप्त हुए हैं। साथ ही हम यह भी देखेंगे कि मूल स्रोतों की घटनाओं में कवि ने कथा की कलात्मकता या स्वाभाविकता की दृष्टि से क्या परिवर्तन किया है।

देवजाति और देवासुर-संग्राम

कामायनी का प्रारंभ जलप्लावन के बाद एकाकी मनु की चिन्ता से होता है। मनु की चिन्ता के रूप में कवि ने पहले देव-सृष्टि और फिर जलप्लावन द्वारा उसके विनाश का वर्णन किया है। कामायनी के अनुसार देवता 'सर्ग के अग्रदूत', 'नित्यविलासी' परम समृद्ध और ऐश्वर्यशाली- दंभी, गर्वीले तथा अमर थे। कामायनी में कवि ने यह नहीं बताया है कि यह देवजाति कहाँ रहती थी पर इतना तो स्पष्ट ही है कि वह आकाशवासी या किसी स्वर्ग में रहने वाली जाति नहीं थी अन्यथा जलप्लावन में उसका विनाश नहीं होता। इड़ा सर्ग (पद ८) में सरस्वती (वृत्रघ्नी) की घाटी (सारस्वत प्रदेश) में होने वाले देवासुर-संग्राम और देवेश इन्द्र की चर्चा आयी है। अतः सारस्वत प्रदेश के आसपास ही देवजाति का निवास-स्थान रहा होगा। किन्तु 'संघर्ष' सर्ग में रुद्र और महाशक्ति आदि दैवी-शक्तियों की बात भी कही गयी है। ये मानवीय नहीं, अतिमानवीय या प्राकृतिक शक्तियाँ थी। वैदिक काल में आर्य जाति ने जिन प्राकृतिक शक्तियों को देवता के रूप में अपनाया था, प्रसाद ने 'संघर्ष' सर्ग में उन्हे भी 'देव गण' ही कहा है। अतः कामायनी में देवता दो प्रकार के माने गये है; देवजाति, जो एक प्राचीन आर्य जाति थी और प्राकृतिक शक्तियाँ—रुद्र, शक्ति आदि। देवजाति और उसके प्रथम सम्राट के बारे में प्रसाद जी ने अपने एक लेख 'प्राचीन आर्यावर्त और उसका प्रथम सम्राट' में विस्तार के साथ विचार किया है[1]। इसमें उन्होंने लिखा है, "आर्यों के अग्रजन्मा देव थे, ऐसी ही अनेक विद्वानों और आर्यशास्त्रों की संमति है। देवगण की प्रधान भूमि का पता आर्य-साहित्य में मेरु नाम से लगता है। कहा जाता है कि

१—कोशोत्सव-स्मारक-संग्रह—ना० प्र० सभा, काशी, पृ० १६१।

मेरु पर देवताओं का स्वर्ग है। पाण्डवो के महाप्रस्थान की यात्रा में उत्तर कुरु के समीप ही मेरु और स्वर्ग का वर्णन मिलता है।"[1] प्रसाद जी ने उक्त लेख में ऋग्वेद, अवेस्ता, बृहत्संहिता, महाभारत, लिंगपुराण, विष्णुपुराण आदि ग्रंथों के उद्धरणों और मेगस्थनीज के आधार पर यह सिद्ध किया है कि देवगण या आदिम आर्य हिमालय के उस पार बलख से स्वात और उत्तरी काश्मीर तक के प्रदेश--उत्तर कुरु- में रहते थे, और उसी प्रदेश में सरस्वती नदी अपनी सात सहायक नदियों के साथ बहती थी। प्रसाद जी के अनुसार यही आर्यों की मूल भूमि थी जो भारतवर्ष की सीमा के अन्तर्गत मानी जाती थी और इस प्राचीन सप्त सिन्धु के अन्तर्गत मेरु-प्रदेश में ही अग्रजन्मा उत्पन्न हुए। मेरु पर ही स्वर्ग था।[2] इन अग्रजन्मा आर्यों में प्रारंभ में आकाशी वरुण (मित्रावरुण) की उपासना प्रचलित थी। बाद मे इन्द्र ने वरुण-उपासना की जगह आत्म पूजा का प्रचार किया, जिसके फलस्वरूप वरुण-अनुयायी असुरों के नेता त्वष्टा (जुरथष्ट्) और इन्द्र में विरोध हुआ जिसने देवासुर-संग्राम का रूप धारण कर लिया। इन्द्र ने सरस्वती के तट पर त्वष्टा या वृत्र को मारा था जिसके कारण ऋग्वेद में सरस्वती को वृत्रघ्नी कहा गया है। पराजित होने पर असुर मेरु या उत्तर कुरु से भाग कर दक्षिण-पश्चिम की ओर चले गये। प्रसाद जी का मत है कि इन्द्र आर्यावर्त के प्रथम सम्राट थे और उन्होंने वरुण की उपासना बन्द करके अपनी पूजा चलाई थी। ऋग्वेद के प्रथम मंडल के स्वराज्य सूक्त से प्रसाद जी के इस मत की पुष्टि होती है।

वैदिक मत्रों से यह भी पता चलता है कि इन्द्र और इनके अनुयायी सोम के बड़े प्रेमी थे। इन्द्र ने त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप को सोम के लिए मारा था। रामायण में कहा गया है कि देवगण वारुणी-ग्रहण के कारण अपने वैमात्र असुरों से अधिक बलवान और प्रमुदित थे[3]। महाभारत के भीष्मपर्व में उत्तर कुरु का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वहाँ के निवासी गौरवर्ण अभिजात, संपन्न, निरोग और दीर्घजीवी होते है। प्राचीन आर्यों की ही एक शाखा में हिटाइट या खित्ती (क्षत्रिय) जाति थी। हीरेनशा ने लिखा है कि एशिया माइनर में सबसे पहले लोहे की खान-खोदने वाले इसी जाति के लोग थे।[4]

१—वही—पृ० १६१।
२—वही—पृ० १६६–७०।
३—असुरास्तेन दैतेयाः सुरास्तेनादितेः सुताः।
हृष्टा प्रमुदिता आसन् वारुणीग्रहणात्सुराः॥ रामायण
४—कोशोत्सव-स्मारक संग्रह,—पादटिप्पणी, पृ० १८८।

प्रसाद जी ने अनेक प्रमाण देकर सिद्ध किया है कि अश्वपालन, वास्तुकला, युद्धकला तथा सभ्यता के अन्य क्षेत्रों में ये अग्रजन्मा आर्य बहुत बढे चढ़े थे और उन्होंने सभी जातियो और देशों में इनका प्रचार किया। इसके समर्थन में उन्होंने मनुस्मृति का यह श्लोक उद्धृत किया है :–

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

—मनुस्मृति २–२०

पौराणिक कथाओं में सर्वत्र यह कहा गया है कि देवता अमर, नित्य-विलासी, समृद्ध और ऐश्वर्यशाली थे, उनके यहाँ नन्दनवन, कल्पवृक्ष, स्वर्गंगा, अप्सरायें, नृत्य, संगीत में निष्णात गन्धर्व, किन्नर आदि थे, उन्हें किसी बात की कमी नहीं थी। प्रसाद जी ने इन बातों को पौराणिक विश्वास के रूप मे नही अपनाया है, बल्कि ऐतिहासिक शोध के आधार पर उन्होंने वैदिक और पौराणिक गाथाओं में निहित देवताओं और स्वर्ग से सम्बन्धित सत्य का पता लगाने का प्रयत्न किया है और इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि "यह ऐतिहासिक प्रसंग ७५ सौ वर्ष ईसा पूर्व से भी पहले का है।......यह आर्य सभ्यता के इतिहास का आरम्भिक अध्याय है जब इन्द्र ने आत्मवाद का प्रचार किया, जब असुरों पर विजय प्राप्त की और आर्यावर्त में साम्राज्य स्थापन किया।... त्रिसप्तक प्रदेश की बसने वाली भिन्न-भिन्न आर्य संस्थाओं का, जो अपना स्वतन्त्र शासन करती थी और आपस में लड़ती थी, सम्राट बनकर इन्द्र ने एक में व्यूहन किया और वैदिक काल की भरत, तृत्सु, पुरु आदि वीर-मण्डलियाँ एक इन्द्रध्वज की छाया से अपनी उन्नति करने लगी।"[1] इन्द्र के समय में ही इस देव जाति ने अत्यधिक भौतिक उन्नति कर ली थी। आत्मवादी होने से इस जाति में भोग की प्रवृत्ति प्रबल थी, भौतिक साधनो की सम्पन्नता के कारण वह धीरे-धीरे अतिशय विलासी, दंभी, उच्छृङ्खल होती गयी। संक्षेप में देवता, उनके स्वभाव, निवासस्थान आदि के बारे में प्रसाद जी की यही मान्यता थी। कामायनी में उन्होंने देवजाति का जो वर्णन किया है वह पौराणिक विश्वास पर नहीं बल्कि उपर्युक्त ऐतिहासिक शोधों पर आधारित है। उन्होंने देवताओं को अमर कहा है जिसका तात्पर्य यही है कि यह जाति परवर्ती काल में इतनी दंभी हो गयी थी कि अपने को अमर समझती थी। पौराणिक कथाओं में ऐतिहासिक सत्य छिपा रहता है। अतः प्रसाद जी ने पुराणों में वर्णित देवताओं की

१—वही, पृ० १९४।

विलासिता, उच्छृंखलता और अहंवृत्ति को उपयुक्त तर्कों के आधार पर ऐतिहासिक सत्य के रूप में स्वीकार कर लिया है।

जलप्लावन

कामायनी में प्रारंभ मे ही देवजाति की विलासिता का वर्णन करने के बाद प्रलयकालीन जलप्लावन का अत्यत रोमांचकारी वर्णन किया गया है। जलप्लावन की घटना को भी प्रसाद जी ने ऐतिहासिक सत्य के रूप में स्वीकार किया है, पौराणिक विश्वास के रूप मे नही। यह एक ऐसी अद्भुत कथा है कि संसार की अधिकांश प्राचीन जातियो के साहित्य में उसका वर्णन किसी न किसी रूप में अवश्य मिलता है। संसार की जलप्लावन-सबंधी सभी पौराणिक कथाओ में प्रलय का कारण ईश्वर या अन्य देवताओं का कोप बताया गया है। किन्तु कामायनी में प्रसाद जी ने जलप्लावन को एक प्राकृतिक कोप मात्र माना है। उनका आधार-ग्रथ शतपथ ब्राह्मण था। भारतीय साहित्य में सबसे पहले शतपथ ब्राह्मण में ही जलप्लावन की कथा आयी है। उसके अष्टम अध्याय के प्रथम ब्राह्मण में कहा गया है कि "एक दिन प्रातःकाल जब मनु ने आचमन के लिए हाथ में जल लिया तो उसमें एक छोटी सी मछली दिखाई पड़ी। उसने मनु से कहा कि मेरा पालन करो, मै तुम्हारी रक्षा करूँगी। मनु के यह पूछने पर कि तुम कैसे मेरी रक्षा करोगी, मत्स्य ने बताया कि जलप्लावन होने वाला है जिसमें सभी प्रजा (प्राणी) नष्ट हो जायगी, मै उसी से तुम्हारी रक्षा करूँगी। मनु ने उसे पहले कुम्भ में, फिर गड्ढे में रखा और अन्त में उसे समुद्र में छोड़ दिया। वहाँ महामत्स्य बनकर उसने मनु से कहा कि अमुक वर्ष अमुक तिथि को जल-प्रलय होगा, तुम एक नाव तैयार करके उसमें बैठ जाना। मनु ने ऐसा ही किया। जलप्लावन प्रारंभ होने पर वह महामत्स्य मनु की नाव के पास आया, मनु ने एक रस्सी से नाव को मत्स्य की सींग से बाँध दिया। मत्स्य उसे खीच कर उत्तर गिरि के पास ले गया और मनु से कहा कि अब मैंने तुम्हारी रक्षा कर दी, अपनी नाव वृक्ष से बांध दो, ज्यों-ज्यों जल नीचे उतरता जाय त्यों त्यों नाव द्वारा तुम भी नीचे उतरते जाना। मनु ने ऐसा ही किया और इसीलिए उस स्थान या अवतरण-पथ को 'मनोरव सर्पण" कहा जाता है। ओघ के समाप्त होने तक सारी प्रजा नष्ट हो चुकी थी, अकेले मनु बचे रह गये।" यही कथा कुछ परिवर्तन के साथ महाभारत (वनपर्व—मत्स्योपाख्यान) में भी आयी है, पर उसमें मनु के साथ सप्तर्षियों की भी नाव में रक्षा की बात कही गयी है। पुराणों में भी यह कथा वर्णित है। पर उनमें मनु को राजा और मत्स्य को ब्रह्म

का अवतार (मत्स्यावतार) बना दिया है।[१]

शतपथ ब्राह्मण की जलप्लावन-कथा अनेक पाश्चात्य विद्वानो के मत से सेमेटिक स्रोतों से ग्रहण की गयी है[२]। किन्तु मैकडानेल ने इस मत को स्वीकार नही किया है[३]। प्रसाद जी ने तो और आगे बढ़ कर अनेक प्रमाणो के आधार पर यह सिद्ध किया है कि जल प्लावन की घटना वस्तुतः भारतवर्ष (ब्रह्मावर्त) में ही ऋग्वेद को रचना के बहुत बाद घटित हुई। इसी कारण ऋग्वेद में इसका वर्णन नहीं है, किन्तु प्राचीन मिस्र, प्राचोन फारस, बेबीलोन असीरिया आदि देशों के साहित्य मे उसके जो उल्लेख मिलते है वे परस्पर बहुत भिन्न है। इससे यह सहज ही प्रतीत होता हैं कि विभिन्न जातियों ने इस घटना की स्मृति को सुरक्षित रखने के लिए उससे सबधित कथा को स्वतंत्र रूपों में भिन्न भिन्न ढग से विकसित किया है। ओल्डटेस्टामेण्ट में प्रारम्भ में ही जलप्लावन का वर्णन है जिसमें बताया गया है कि ससार में जब पाप और अत्याचार बहुत बढ गया तो ईश्वर ने प्राणी मात्र को नष्ट करने का निश्चय किया और पविन्नात्मा नोआ को जलप्लावन की बात बताई और नाव बना कर उसमें सपरिवार बैठ जाने की आज्ञा दो। इस प्रकार नोआ ने नाव में सभो प्राणियों का एक एक जोडा रखकर जलप्लावन के बाद नई सृष्टि का विस्तार किया।[५] प्राचीन यूनानी साहित्य में जलप्लावन की कथा दो रूपों में कही गयी है; एक में ऐटिका के जलमग्न होने और दूसरे में जीयस द्वारा ड्यूकालियन के विनाश के लिए जलप्लावन लाने की कथा वर्णित है। दूसरी कथा के अनुसार ताम्र युग का व्यक्ति ड्यूकालियन एक कवच बना कर अपनी पत्नी पीरा (Pyrrha) के साथ उसमें बैठ गया। जलप्लावन के नौ दिन बाद वह पारनैसस (Parnassus) नामक स्थान पर पहुँचा

१—देखिये = मत्स्यपुराण १-१२०, अग्निपुराण १-१०, पद्मपुराण १-३६ विष्णुपुराण ५-१०, ६-३, भागवत पुराण ८-२४, १२-८,६, स्कन्दपुराण (वैष्णव खण्ड-पुरुषोत्तम महात्म्य खण्ड-२), भविष्य-पुराण (प्रति सर्ग पर्व—अ ४), कालिकापुराण (अध्याय २५,३४), वायुपुराण (अध्याय ६-सृष्टि प्रकरण) आदि।

२—एम० विन्टरनित्स—ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर—प्रथम भाग—इङ्गलिश एडिशन, पृ० २०६-२१०।

३—मैकडानेल, वैदिक माइथोलाजी, पृ० १६०।

४—कोशोत्सव स्मारक-संग्रह पृ० १६०।

५—द ओल्डटेस्टामेण्ट, द फर्स्ट बुक आव मोजेज़, चैप्टर, ६, ७, ८, ६।

और बाद को प्लावन कम होने पर देवताओं के लिए अपने अंगरक्षक की बलि दी जिससे प्रसन्न होकर जीयस (Zeus) ने उसकी सन्तान की कामना पूरी होने का वरदान दिया। इसके बाद उन्ही से नई सृष्टि का विकास हुआ।[1] इसी तरह बेबीलोनिया, सुमेरिया और प्राचीन फारस के साहित्य में भी जल-प्लावन सम्बन्धी अनेक कथाएँ मिलती है।[2] प्रसाद जो इनमें से अधिकांश कथाओं से परिचित थे, क्योंकि उन्होंने अपने उपर्युक्त लेख में बाइबिल, अवेस्ता और सुमेरिया की जल प्लावन सम्बन्धी कथाओं का उल्लेख किया है।[3] उन्होंने जल-प्लावन की घटना को ऐतिहासिक सत्य मानते हुए लिखा है, "जल-प्लावन भारतीय इतिहास में एक ऐसी प्राचीन घटना है·····वह इतिहास ही है।"[4] उन्होंने अपने इस मत की पुष्टि के लिए भूगर्भशास्त्रीय खोजो का भी सहारा लिया है। इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि 'हिमालय की खोज करके लौटे हुए डा० इंट्रिंकलर का अभिमत १९ अक्टूबर सन् २८ के पायनियर में प्रकाशित हुआ है। उनका विचार है कि बालू में दबे हुए प्राचीन नगरों के चिह्न इस बात को प्रमाणित करते हैं कि हिमालय और उसके प्रान्त में भी जल-प्रलय वा ओघ का होना निश्चित सा है।[5]

मनु—

जलप्लावन की घटना के साथ ही उसमें बचे हुए आदि पुरुष की अनुश्रुति भी भारतीय और अन्य देशों के प्राचीन साहित्य में समान रूप से मिलती है। शतपथ ब्राह्मण में जलप्लावन में बच रहने वाले आदि पुरुष का नाम वैवस्वत मनु है, बाइबिल में आदि पुरुष का नाम नोआ, अवेस्ता में यीमा (यम), सुमेरियन साहित्य में जि-उ-सुद्द (Zi-u-sudda), बेबीलोनियन में जिसुथास (Zisuthros) और यूनानी साहित्य में ड्यूकालिय (Deudkalia) है। वर्तमान मन्वन्तर या नये युग के प्रवर्तक भी यही वैवस्वत मनु कहे जाते हैं। युग-प्रवर्तक के रूप में यूनान में माइनास (Minos) और मिस्र में म्युनिस (Munis) का नाम हमारे मनु के नाम से बहुत साम्य रखता है। मिस्र के म्युनिस के बारे में सर विलियम जोन्स ने लिखा है कि वह मिस्र का प्रथम नियामक (Law giver) माना जाता है और कहा जाता है कि देवताओं

१—एपोलोडार्स बिब्लिओथिका—१-७-२।

२—डा० प्रेमशंकर तिवारी—आलोचना-जुलाई १९५३, पृ० ३१।

३—कोशोत्सव-स्मारक-संग्रह—पृ० १५६-१६०।

४—कामायनी—भूमिका।

५—कोशोत्सव-स्मारक-संग्रह, पृ० १६०-१६१।

और वीरों का युग समाप्त होने पर नव युग का प्रारंभ करने वाला नवीन मानव-संस्कृति का प्रवर्तक वही था, क्रीट (यूनान) में माइनास को जुपिटर का पुत्र माना जाता है पर वह वस्तुतः ब्रह्मा-पुत्र और प्रथम भारतीय नियामक मनु ही है जिसे जातीय भावना से क्रीट वालों ने अपना मान लिया है। ए० एल० जैकोलियट का कथन है कि यूनान और मिस्र ही नहीं, हेब्रू साहित्य में भी प्रथम नियामक मूसा (Moses) भारतीय मनु के ही रूपान्तर है। इस तरह मनु एक ऐसे व्यक्ति हैं जिनका इतिहास निजन्धरी रूप धारण करके विभिन्न जातियों के प्राचीन साहित्य में विविध रूपों में बिखरा हुआ है। भारतीय साहित्य में मनु के दो रूप मिलते हैं; प्रजापति रूप और स्मृतिकार रूप। अन्य देशों में जलप्लावन के बाद नई सृष्टि रचने वाले और समाज का नियम बनाने वाले भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। भारत में प्रजापति मनु और स्मृतिकार मनु एक ही है या भिन्न-भिन्न, इस संबंध में विभिन्न मत है। श्रीमती महादेवी वर्मा ने इस संबंध में लिखा है, "हमारे यहाँ भी मन्वन्तर के प्रवर्तक मनु और मानव धर्मशास्त्र के प्रणेता मनु के एक या भिन्न अस्तित्व के संबंध मे पर्याप्त मतभेद है। परन्तु वेद में मनु की स्थिति की परीक्षा के उपरान्त यह मान लेने के लिए बहुत अवकाश रह जाता है कि मनुस्मृति के प्रणेता और मन्वन्तर के प्रवर्तक भिन्न हो सकते है।"[1] प्रसाद जी ने कामायनी में प्रजापति मनु और नियामक मनु को एक ही माना है। उनके अनुसार "मन्वन्तर के अर्थात् मानवता के नवयुग के प्रवर्तक के रूप में मनु को कथा आर्यों की अनुश्रुति में दृढ़ता से मानी गयी है। इसलिए वैवस्वत मनु को ऐतिहासिक पुरुष के रूप में ही मानना उचित है" और "जलप्लावन भारतीय इतिहास में एक ऐसी ही प्राचीन घटना है जिसने मनु को देवों से विलक्षण मानवों को एक भिन्न संस्कृति प्रतिष्ठित करने का अवसर दिया।" मनुस्मृति से ही प्रसाद जी के मत की पुष्टि होती है। मनु-स्मृति का अन्य नाम मानव-धर्मशास्त्र है अर्थात् वह मानव जाति के लिए निर्मित हुई है। उसके प्रणेता वैवस्वत मनु ही है क्योंकि सात मन्वन्तरों में सात मनु हुए। उन्होंने अपने-अपने समय में सम्पूर्ण चर-अचर सृष्टि उत्पन्न करके उसके लिए नियम बनाये।

स्वायम्भुवस्यास्य मनोः षड्वश्या मनवो ऽपरे।
सृष्टवन्तः प्रजाः स्वाः स्वा महात्मानो महोजसः॥

---

१. महादेवी वर्मा—कामायनी एक परिचय—(लेखक गंगा प्रसाद पाण्डेय) भूमिका, पृष्ठ—१

स्वारोचिषश्चोत्तमश्च तामसो रैवतस्तथा।
चाक्षुषश्च महातेजा विवस्वत्सुत एवच॥
स्वायम्भुवाद्याः सप्तैते मनवो भूरितेजसः।
स्वे स्वेऽन्तरे सर्वमिदमुपाद्यापुश्चराचरम्॥

मनुस्मृति—१—६१, ६२, ६३,।

अतः सातवे मन्वतर में प्रचलित मनुस्मृति इसी सातवे मनु—वैवस्वत मनु—की रचना है। कामायनी-कथा के नायक यही वैवस्वत मनु हैं। अतः प्रसाद जी ने प्रजापति और नियामक दोनों ही रूपों में उनका वर्णन किया है। श्रद्धा के साथ वे कुमार को उत्पन्न करते हैं और इडा के साथ प्रजा का संगठन, नियमन और श्रम-विभाजन आदि करते है।

किन्तु यहाँ एक बात ध्यान में रखने की है कि प्रसाद जी का दृष्टिकोण पौराणिक नहीं ऐतिहासिक और वैज्ञानिक था। अतः जलप्लावन और मन्वन्तर को उन्होंने पौराणिक कथाओं से भिन्न रूप में लिया है। वैवस्वत मनु के पूर्व और कितने मनु और कितने मन्वन्तर हुए, इससे उनको कोई प्रयोजन नहीं है। उनकी मान्यता तो इतनी ही है कि प्राचीनतम आर्यों की जाति देव-जाति थी, ऋग्वेद का अधिकांश भाग उसी जाति के लोगों द्वारा रचा गया था और जलप्लावन की घटना ऋग्वेद के बाद की है।[1] जलप्लावन के बाद देव-जाति के अवशिष्ट व्यक्ति वैवस्वत मनु ने नवीन संस्कृति का प्रवर्तन किया। मनु वेदों में ऋषि-रूप में भी दिखाई पडते हैं[2]; पर ऋग्वेद के उन मंत्रों के रचयिता वैवस्वत मनु ही हैं या कोई मनु, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। कामायनी में मनु, श्रद्धा, इडा और किलात-आकुलि सभी जल-प्लावन से बचे हुए व्यक्ति बताये गये है। अतः ऋग्वेद में इन्हीं मनु और श्रद्धा का मंत्र-द्रष्टा होना सम्भव हो सकता है।

कामायनी के अनुसार जलप्लावन के बाद जब मनु एकाकी चिन्ता और आशा के बीच झूल रहे थे, अचानक श्रद्धा उनका बलि-अन्न देखकर वहाँ पहुँची और अपना परिचय दिया। प्रसाद जी ने कामायनी में श्रद्धा को भी देव-जाति की स्त्री और काम की पुत्री बताया है। 'वासना' सर्ग में मनु स्वयं कहते हैं कि काम-बाला उनकी जन्म संगिनी थी। वही श्रद्धा, जो गन्धर्वों के देश में

१—जयशकर प्रसाद—कोशोत्सव स्मारक-सग्रह—पृष्ठ १६०

२—ऋग्वेद :—८-२७-२; ८–१८–२८–२५, ८–३०–३

ललित कला सीखने गयी थी और इसीसे प्रलय से बच गयी थी, मनु से मिलती है; पर नये पर्वतीय वेश में होने से उसे मनु नहीं पहचान पाते। बाद में श्रद्धा मनु को आत्मसमर्पण करती है और उसके गर्भ से एक पुत्र उत्पन्न होता है। निष्कर्ष यह कि कामायनी की श्रद्धा मनु की जन्म-संगिनी और बाद में उनकी पत्नी है। कहा जा चुका है कि श्रद्धा भी ऋग्वेद में ऋषि या मंत्र-द्रष्टा के रूप मे दिखाई पड़ती है और उसमें उसे कामायनी भी कहा गया है :—

ऋषि श्रद्धा कामायनी ।। देवता श्रद्धा ।
श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामास । ऋ० १०-१५१-१

ऋग्वेद में श्रद्धा की सत्य-भावना या सत्य-धारणा के रूप में स्तुति भी की गयी है :—

प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः ।
प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदित कृधि । ऋ० १०-१५१-२

मनु और श्रद्धा संबधी मन्त्रों के संबध में श्रीमती महादेवी वर्मा ने लिखा है कि 'मनु और श्रद्धा के नाम से संबद्ध सूक्तों में ऐसा स्पष्ट अन्तर है कि हम एक मे मननशील पुरुष स्वभाव और दूसरे में विश्वासमयी नारी की प्रकृति का सहज ही परिचय पा सकते है। मनु जीवन के प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण रखते है, समृद्धि और अनुशासन को विशेष महत्त्व देते है और बाह्य जीवन की स्थिति के प्रति निरन्तर जागरूक है। इसके विपरीत श्रद्धा अन्तर्जगत को विशेष महत्त्व देती है, विश्वास के प्रति विशेष सजग है और जीवन की अन्तःस्थिति के प्रति विशेष आस्थावान है।"[1]

कामायनी में मनु और श्रद्धा का जो सम्बन्ध दिखाया गया है उसका मूल आधार शतपथ ब्राह्मण है। उसके प्रथम काण्ड के प्रथम अध्याय (प्र० १- ब्रा० ४) में असुरघ्न वाग्देवी का महत्त्व समझाते हुए उदाहरण रूप में मनु के यज्ञ का उल्लेख हुआ है। उसमें कहा गया है कि यज्ञ के समय मनु के अभिमंत्रित वृषभ के बोलने से यज्ञ-विघाती असुर-पुरोहित किलात-आकुलि बाध्य होकर वहाँ से भाग गये। उन्होंने परस्पर परामर्श किया कि इस बैल के कारण हमारी पराजय हुई, अतः इसकी हिंसा होनी चाहिये। उन्होने मनु के मन का अभिप्राय जान कर उनसे कहा कि इस वृषभ का यजन कीजिये। ऐसा होने पर वाग्देवी मनु की जाया (पत्नी) मनावी में प्रविष्ट हो गयी। मनावी की मानुषी वाणी से भयभीत होकर वे असुर पुरोहित वहाँ से फिर भागे और श्रद्धा-

१—महादेवी वर्मा-कामायनी एक परिचय-भूमिका, पृ० ५।

देव (श्रद्धालु) मनु से बोले कि अपनी जाया को भी यजन करो। यज्ञ में मनावी की भी बलि किये जाने पर वाग्देवी यज्ञपात्र में प्रविष्ट हो गयी। उन पात्रों में स्थित असुरघ्न वाक् को वे असुर पुरोहित न हटा सके। यह कथा यज्ञपात्र की ध्वनि से असुर-राक्षसादि की निवृत्ति के उदाहरण के रूप मे कही गयी है। प्रसाद जी ने इसी कथा को परिवर्तित कर या उसकी नये ढग से व्याख्या करके कामायनी में अपनाया है। "श्रद्धा देवो वै मनुः" का अर्थ शतपथ-ब्राह्मण के भाष्यकार सायणाचार्य ने "श्रद्धैव देवो यस्य सः श्रद्धादेवः श्रद्धालुरित्यर्थः" किया है। प्रसाद जी ने श्रद्धादेव का अर्थ श्रद्धा का पति मानते हुए लिखा है कि "शतपथ ब्राह्मण में उन्हे श्रद्धादेव कहा गया है ·········भागवत में इन्ही को वैवस्वत मनु और श्रद्धा से मानवीय सृष्टि का प्रारभ माना गया है—

ततो मनु श्राद्धदेवः संज्ञ यामास भारत
श्रद्धायां जनयामास दशपुत्रान् स आत्मवान्। (भाग० ९-१- ११)"

इस तरह प्रसाद जी ने शतपथ ब्राह्मण के "श्रद्धादेव और मनु जाया मनावी" के आधार पर तथा भागवत के उपर्युक्त श्लोक के आधार पर श्रद्धा को मनु की पत्नी मान लिया है। शतपथ में मनु किलात आकुलि के बहकाने से अपने वृषभ की हिंसा तो करते ही हैं, अपनी पत्नी का भी यजन कर डालते हैं। प्रसाद जी ने वृषभ नाम न लेकर पशु ही कहा है और मनु द्वारा केवल उसी का हनन कराया है। वे श्रद्धा का मनु द्वारा हनन नही, परित्याग कराते है। सोम-पान करने का आग्रह और अन्य बातें प्रसाद जी द्वारा कल्पित हैं। निष्कर्ष यह कि प्रसाद जी ने मनु और श्रद्धा को पति-पत्नी बनाने के लिए ऐतिहासिक से अधिक भावात्मक सत्य का सहारा लिया है। किलात-आकुलि द्वारा प्रेरित होकर मनु के पशु-यज्ञ करने के बाद की कामायनी में शतपथ ब्राह्मण से बिना अधिक परिवर्तन के ली गयी है। कामायनी में किलात-आकुलि इड़ा की प्रजा के सेना-नायक के रूप में मनु से युद्ध करते हुए भी दिखाये गये है जो सभवतः प्रसाद की अपनी कल्पना है।

मनु और इड़ा

कामायनी में इड़ा को पौराणिक आख्यानों से भिन्न ढंग का व्यक्तित्व प्रदान किया गया है। उसे सारस्वत प्रदेश की स्वामिनी, जनपदकल्याणी और मनु को शासन और नियम के लिए प्रेरित करने वाली बताया गया है। इस सम्बन्ध में प्रसाद जी के प्रेरणा स्रोत ऋग्वेद के इड़ा सम्बन्धी मन्त्र और शतपथ ब्राह्मण है। कामायनी की भूमिका में उन्होंने लिखा है कि 'ऋग्वेद में इड़ा का कई जगह

उल्लेख मिलता है। यह प्रजापति मनु की पथप्रदर्शिका, मनुष्यों का शासन करने-वाली कही गयी है।' उन्होंने निम्नलिखित मंत्र उद्धृत किये है :—

''इड़ामकृण्वन्मनुषस्य शासनीम्।--ऋ० १-३१-११
सरस्वती साधयन्ती धियं न इड़ा देवी भारती विश्वमूर्तिः
तिस्रो देवीः स्वधयावर्हि रेदमच्छिद्रं यान्तु शरणं निषद्य।"
ऋ० २-३-८

आनो यज्ञं भारती तूय मेत्विड़ा मनुष्यदिह चेतयन्ती।
तिस्रो देवीबर्हिरेदं स्यानं सरस्वती स्वपसः सदन्तु।
ऋ०-१०-११०-८

पर ऋग्वेद में मनु और इडा का वह सम्बन्ध नहीं दिखाई पड़ता जो कामायनी में दिखाया गया है। वहाँ वह नारी या ऋषि रूप में नहीं, बुद्धि, सरस्वती, भारती के रूप में ही दिखाई पड़ती है।

"इडा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः
वर्हि सीदन्त्वस्रिधः। ऋ० ५-५-८

शतपथ ब्राह्मण में वह अवश्य स्त्री रूप में आयी है, पर वहाँ उसे मनु की पुत्री बताया गया है।[1] उसके अनुसार जलप्लावन के बाद एकाकी मनु ने 'प्रजा' की कामना से तप किया। उनके पाक-यज्ञ के घृत, दधि आदि से वर्ष भर बाद एक सुन्दरी स्त्री उत्पन्न हुई। मित्र-वरुण द्वारा परिचय पूछे जाने पर उस योषिता ने बताया कि मै मनु की दुहिता हूँ क्योकि उनके घृत-दधि आदि से पोषित हुई हूँ। मित्र-वरुण ने कहा कि तुम कहो कि तुम हमारी हो। उस योषिता ने मित्र वरुण की बात अस्वीकार कर दी और मनु के पास पहुँची। मनु द्वारा पूछे जाने पर भी उसने कहा कि मैं आपकी पुत्री हूँ क्योंकि आपके घृतादि से उत्पन्न हूँ। मै वरदान हूँ। यज्ञ में मेरा उपयोग कीजिये, इससे आपके पास बहुत सी सन्तानें और पशु आदि हो जायँगे। आप मेरे माध्यम से जो भी इच्छा करेंगे वह पूरी होगी। यही योषिता मनु की पुत्री इडा थी जिसके द्वारा मनु ने प्रजा की उत्पत्ति की। आज की मानव-जाति उसी की वंश-परंपरा में है। यज्ञ में इसी से इड़ा-कर्म होता है। वहाँ इड़ा का अर्थ स्त्री, इड़ा-कर्म और पशु तीनों होता है।

शतपथ ब्राह्मण में ही अन्यत्र कहा गया है कि प्रजापति ने अपनी दुहिता के साथ व्यभिचार किया :—

१—शतपथ ब्राह्मण— प्रथम काण्ड—८-१-७,८,९,१०,११,१२।

'प्रजापतिर्ह वै स्वां दुहितरं अभिदध्यौ। दिवं वोषसं वा मिथुन्ये नया स्यामिति तां सम्बभूव।" शत० ब्रा०—प्रथम काण्ड, अ० ७—ब्रा० ४।

यही बात प्रायः इन्हीं शब्दों में ऐतरेय ब्राह्मण में भी कही गयी है।[1] ऋग्वेद में मनु द्वारा रचित एक मंत्र में इड़ा की स्तुति करते हुए कहा गया है कि प्रजावती इड़ा गृह में स्थित रहने वाली पत्नी या गाय के समान सुख प्रदान करती है।[2] इस प्रकार ऋग्वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों में इड़ा के दो रूप मिलते हैं। एक रूप में तो वह सरस्वती, बुद्धि या वाग्देवी है और दूसरे रूप में वह प्रजापति की पुत्री और पत्नी दोनों है और उसी से प्रजापति प्रजा का विस्तार करते है। निरुक्त और मीमांसावार्तिक में प्रजापति द्वारा अपनी पुत्री के साथ मैथुन करने का रूपकात्मक अर्थ किया गया है। मीमांसावार्तिक के अनुसार प्रजा-पालन के अधिकार से आदित्य को प्रजापति कहा जाता है। आदित्य का अरुणोदय-वेला में उषा के साथ जो समागम होता है उसे ही रूपक की भाषा में प्रजापति का अपनी दुहिता के साथ मैथुन करना कहा गया है।[3] श्री सत्यव्रत सामश्रमी ने भी इसी मत का समर्थन करते हुए निरुक्तालोचनम् में लिखा है कि इतिहास पुराण के ऐसे रूपकात्मक वर्णनों में ऐतिहासिक तथ्य ढूँढ़ना व्यर्थ है।[4] शतपथ ब्राह्मण के सप्तम अध्याय के, जिसमें उक्त आख्यान है, टीकाकार हरि स्वामी ने भी प्रजापति का अर्थ ब्रह्मा और पुत्री का अर्थ दिवा, उषा और रोहिणी किया है; उन्होंने इस आख्यान को मनु और इड़ा से नहीं जोड़ा है।[5] प्रसाद

१—'प्रजापतिर्वै स्वा दुहि-रमभ्यध्यायत्। दिनमित्यन्य आहुरुषसत मित्यन्ये।" ऐ० ब्रा०—३-३-६

२—"अस्य प्रजावती गृहेऽसंचन्ती दिवे दिवे इड़ा धेनुमती दुहे।"
ऋ० ८-३१-४

३—श्री सत्यव्रताचार्य सामश्रमी—निरुक्तालोचन (उद्धरण) पृ० ५४। कलकत्ता १६०७।

४—वही, पृ० वही।

५—'ब्राह्मणा च सवितृ प्रसूतेन, बृहस्पतिरूपेण प्राशनीयमित्येतदाख्यानेन दर्श्यते। 'प्रजापतिः' प्राणपिण्डलोककालपञ्चात्मा अभिध्यातवान्, दिवम् वा उषसं लोकात्मना दिवम्, कालात्मना उषसम्, प्राणपिण्डात्मना ऋत्त्वेभ्यो, मृगो रोहिणा रोहिणा नाम नक्षत्रम् यज्ञात्मना वाचम्। कथमभिदध्यौ ? 'मिथुनो' मिथुनवान् 'एनया' 'स्यामिति' 'ता' 'सम्बभूव' सङ्गतः।"

शतपथ ब्राह्मण—भाग १—खण्ड १ पृष्ठ—५१८
आचार्य सत्यव्रत सामश्रमी द्वारा सम्पादित—कलकत्ता—१६०३

जी का मत रूपकार्थवादियों से नहीं, ऐतिहासिकों से मिलता है। उन्होंने लिखा है कि "अब भी सनातन धर्म का बहुदेववाद मूल में प्राचीन ऐतिहासिकों का अनुयायी है और आर्य-समाज एकेश्वरवादी निरुक्त का अनुगमन करता है जिसके अनुसार देवों को वे रूपक द्वारा मूर्तिमान की गयी सर्वशक्तिमान की शक्तियाँ मानते है।[1] निष्कर्ष यह है कि प्रसाद जी शतपथ के प्रजापति को वैवस्वत मनु मानते हैं और यह भी स्वीकार करते है कि मनु ने इडा के साथ प्रजा का पालन और नियमन किया तथा उस पर अधिकार करने या बलात्कार करने का भी प्रयत्न किया। वे इड़ा को मनु की पुत्री नहीं कहते, यद्यपि शतपथ ब्राह्मण उसे मनु की हविष्योत्पन्न पुत्री बताता है।

शतपथ ब्राह्मण में प्रजापति द्वारा अपनी पुत्री पर बलात्कार करने के अपराध पर रुद्र आदि देवताओं के क्रुद्ध होकर प्रजापति को दण्ड देने की बात भी कही गयी है। उसके अनुसार देवताओं ने पशुपति रुद्र से कहा कि प्रजापति ने अपनी पुत्री और हमारी स्वसा (बहिन) के साथ ऐसा करके घोर पाप किया है। अतः आप उन्हें 'विद्ध' कीजिये। रुद्र ने निशाना लगाकर प्रजापति को शल्य से विद्ध कर दिया। जब देवताओं का क्रोध शान्त हो गया तो उन्होंने प्रजापति को अच्छा कर दिया[2]। प्रसाद जी ने इस घटना वर्णन कामायनी के स्वप्न और संघर्ष शीर्षक सर्गों में किया है। उनके वर्णन का मूल आधार शतपथ की उपर्युक्त कथा ही है। प्रसाद जी ने देव-शक्तियों के क्रुद्ध होने और रुद्र द्वारा मनु पर आक्रमण किये जाने की बात लिखी है :—

आलिंगन फिर भय का क्रन्दन वसुधा जैसे कांप उठी।

× × ×

अरे आत्मजा प्रजा! पाप की परिभाषा बन शाप उठी।
उधर गगन में क्षुब्ध हुई सब देव शक्तियाँ क्रोध भरी।
रुद्र नयन खुल गया अचानक, व्याकुल कॉप रही नगरी।
अतिचारी था स्वयं प्रजापति, देव अभी शिव बने रहे।
नहीं, इसी से चढ़ी शिंजिनी अजगव पर प्रतिशोध भरो।--स्वप्न सर्ग।

प्रसाद जी ने शतपथ की कथा की प्रधान बातें ग्रहण कर ली है पर उसमें से अनेक बातें छोड़ दी हैं और कई नयी बातें जोड भी दी हैं। उदाहरणार्थ उन्होंने

१—जयशंकर प्रसाद
'प्राचीन आर्यावर्त और उसका प्रथम सम्राट'
कोशोत्सव स्मारक संग्रह—पृष्ठ १७६

२—शतपथ ब्राह्मण—प्रथम काण्ड--७-४-१, २, ३, ४, ५।

राजद्वार पर प्रजा के इक्ट्टा होने और द्वार तोड़ कर मनु पर आक्रमण करने तथा मनु का किलाताकुलि के नेतृत्व में इकट्ठी प्रजा के साथ युद्ध का वर्णन किया है जो शतपथ की कथा में नहीं है। प्रसाद जी ने प्रजा के विद्रोह की घटना की योजना इसलिए की है कि मनु स्वेच्छाचारी हो गये थे और नियामक होते हुए भी स्वयं नियमोंका उल्लंघन करना चाहते थे। इस घटना के वर्णन में प्रसाद जी आधुनिक लोकतंत्र की भावना से प्रभावित प्रतीत होते है। उन्होने इड़ा को मनु की पुत्री नही बल्कि सारस्वत प्रदेश की स्वामिनी और जनपद-कल्याणी कहा है। इस कल्पना का ऐतिहासिक आधार इतना ही है कि प्राचीन काल में मातृ-सत्तात्मक समाज और गणराज्य की प्रथा प्रचलित थी। मातृसत्तात्मक समाज में शासनाधिकार स्त्रियों के हाथ में होता था। गणराज्यों में प्रातिनिधिक शासन प्रचलित था और प्रजा द्वारा निर्वाचित सभापति या अधिकारी ही राज्य का नियमन करते थे। कुछ राज्यों में राज्य की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरियों का चुनाव होता था जो जनपद-कल्याणी कही जाती थी। जनपद कल्याणी का गणराज्य में बड़ा सम्मान होता था और वह राजपुरुषों को प्रेरणा देनेवाली तथा राज्य-व्यवस्था में हाथ बँटाने वाली होती थी। इन्हीं प्राचीन ऐतिहासिक प्रथाओं के आधार पर प्रसाद जी ने सारस्वत प्रदेश में इडा की प्रेरणा से प्रजापति मनु को नवीन शासन व्यवस्था स्थापित करने को कल्पना की है। इस कल्पना को उन्होंने शतपथ ब्राह्मण की मनु इड़ा की कथा से मिला दिया है।

कामायनी में 'संघर्ष' सर्ग में नियम और अधिकार के प्रश्न को लेकर मनु और इडा का विवाद दिखाया गया है। इस सवाद की योजना भी प्रसाद जी ने शतपथ ब्राह्मण के आधार पर ही की है, यद्यपि शथपथ ब्राह्मण में मनु और इड़ा के बीच नहीं, बल्कि मन और वाक् के बीच विवाद हुआ है। उसमें यज्ञ-विधि बताते हुए कहा गया है कि एक बार मन और वाक् में विवाद हुआ। दोनों ने अपने-अपने को बड़ा बताया। मन ने वाणी से कहा कि मैं तुमसे श्रेष्ठ हूँ, क्योंकि तुम मेरी अनुगामिनी हो, क्योंकि तुम मुझ से अनभिगत बात नहीं बोल सकती। वाक् ने कहा कि मै श्रेष्ठ हूँ क्योंकि तुम जो जानते हो मै उसे दूसरों तक संज्ञापित करती या पहुँचाती हूँ। दोनों निर्णय कराने के लिए प्रजापति के पास गये। प्रजापति ने मन के पक्ष में निर्णय दिया और वाक् से कहा कि तुम मन के कार्यों का अनुगमन करती हो और अनुगमन करने वाला छोटा होता है। वाक् अपमान का अनुभव करके भग्नवीर्या हो गयी और प्रजा-पति से कहा कि आगे से तुम्हारे यज्ञ में मेरा व्यवहार नही रहेगा। इसीलिए

प्रजापति-यज्ञ वाग्व्यापार-रहित होता है[1]। कामायनी में मन और वाक् की जगह मनु और इडा का विवाद है क्योंकि प्रसाद जी के अनुसार वे क्रमशः मन और बुद्धि या वाणी के प्रतीक हैं। उन्होंने लिखा है कि "इस इडा या वाक् के साथ मनु के एक और विवाद का भी शतपथ में उल्लेख मिलता है जिसमें दोनों अपने महत्त्व के लिए झगड़ते है[2]। शतपथ के इस विवाद को रूपकात्मक मान कर प्रसाद जी ने उसमें ऐतिहासिक सत्य का आभास पाया है और इसीलिए जब उन्होंने मनु और इडा को ऐतिहासिक पात्र माना तो इस विवाद के स्वरूप को भी बदल दिया। फलस्वरूप संघर्ष सर्ग में मनु और इड़ा का विवाद शतपथ के मन-वाक् सवाद की ओर सकेत भर करता है, अन्यथा दोनों विवादों के विषय सर्वथा भिन्न हैं। प्रसाद जी ने इस सर्ग में तर्कपूर्ण ढंग से दिखाया है कि नियम, अधिकार और कर्तव्य के प्रश्न को लेकर विवाद होते है और विवाद के फलस्वरूप संघर्ष होता है।

कामायनी की कथा के मूल स्रोतों के इस संक्षिप्त अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि प्रसाद जी की दृष्टि पुराणों से अधिक वैदिक साहित्य की ओर रही है। उन्होंने कामायनी मे अपनी महाकवि की प्रतिभा का ही नहीं, गंभीर ऐतिहासिक शोधवृत्ति का भी परिचय दिया है। वैदिक साहित्य—विशेषकर शतपथ ब्राह्मण—में मनु का उल्लेख बहुत अधिक हुआ है। अतः मनु को आधार बना कर और इड़ा तथा श्रद्धा संबंधी उल्लेखों की ऐतिहासिक व्याख्या करके मनु के साथ उन्हें संयोजित कर उन्होंने कामायनी की कथा का ढाँचा प्रस्तुत किया है। इस तरह वे मैक्समूलर, बेवर, पार्जिटर, विलियम जोन्स, मैकडानेल, तिलक, दिक्षितार, अविनाशचन्द्रदास, काशीप्रसाद जायसवाल आदि उन प्राच्यविद्याविदों की श्रेणी में आते है जिन्होंने प्राचीन भारतीय साहित्य का अध्ययन करके भारत के सुदूर अतीत का इतिहास लिखने का स्तुत्य प्रयत्न किया है। उनकी कथा का आधार पौराणिक अवश्य है पर उनकी दृष्टि ऐतिहासिक है, पौराणिक नहीं। इसीलिए कामायनी में पौराणिकता की गन्ध भी नही मिलती।

कामायनी का रूपकत्व

कामायनी रूपकात्मक काव्य है या नहीं, इस संबंध में प्रसाद जी ने स्वयं संकेत कर दिया है। उन्होंने लिखा है कि "यह आख्यान इतना प्राचीन है कि

१—वही—प्रथम काण्ड ४-५-६, १०, ११, १२।

२—कामायनी-भूमिका-पृ० ५।

इतिहास में रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है। इसीलिए मनु, श्रद्धा और इडा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष हृदय और मस्तिष्क का सबध क्रमशः श्रद्धा और इडा से भी सरलता से लग जाता है।"[1] प्रसाद जी के इस कथन से तीन बातें स्पष्ट होती हैं :—

१—कामायनी की कथा मूलतः ऐतिहासिक है।

२—प्राचीनता के कारण इस ऐतिहासिक आख्यान में बहुत पहले ही रूपक का मिश्रण हो गया था।

३—प्राचीन रूपक को ग्रहण करते हुए कवि ने उसमें नवीन रूपकत्व या सांकेतिक अर्थ की भी योजना की है।

रूपककथा के कई रूप होते है और अंग्रेजी में सबको 'एलिगरी' कहा जाता है। एलिगरी ऐसा लम्बा या कथात्मक रूपक है, जिसमें एक कथा दूसरी कथा के आवरण में छिपा कर कही जाती है और जिसकी घटनायें प्रतीकात्मक होती है और पात्र भी प्रायः मानवीकृत अथवा 'टाइप' होते है।[2] उसमें या तो भावों, मनोवृत्तियों, सूक्ष्म अशरीरी वस्तुओं और शक्तियो को मानवीकृत करके कथा का पात्र बनाया जाता है या किसी भी पात्र के माध्यम से कथा-रूप में कई सैद्धांतिक, नैतिक या राजनीतिक बात कही जाती है। इस तरह रूपककथा के निम्नलिखित प्रकार हैं:—

१—जिसमें पात्र सूक्ष्म भावनाओं या वस्तुओ के मानवीकृत रूप होते है जैसे संस्कृत में प्रबोधचन्द्रोदय, मोहराजपराजय आदि नाटक और हिन्दी में प्रसाद कृत 'कामना' और 'एक घूट' नाटक। ऐसे काव्यों में मानवीकृत भावनाओं की व्याख्या कथा के माध्यम से की जाती है। अतः उनमें चरित्र-चित्रण, घटना-विस्तार तथा यथार्थ जीवन-व्यापारों के वर्णन के लिए अधिक अवकाश नहीं रहता।

२—जिसमें पात्र मानवीकृत तो नही होते, पर प्रतीकात्मक अवश्य होते हैं; इसमें घटनाएं तथा अनेक वर्ण्य वस्तुएँ भी सांकेतिक या प्रतीकात्मक होती है।

---

१ वही, भूमिका, पृ० ६।

2—"An allegory is a prolonged metaphor in which typically a series of actions are symbolic of other actions while the characters often are type or personifications" Webster's Now International Dictionary P. 68.

इसी प्रकार की प्रतीकात्मक कथाओं में प्रस्तुत अर्थ के साथ ही अप्रस्तुत अर्थ का भी संकेत मिलता चलता है।

३—जिसमें पात्र मानवेतर जीवित प्राणी या जड़ पदार्थ होते है। वे पात्र मानव-भाषा बोलते, समझते और मानवों से भी बातचीत करते है। पंचतंत्र और ईसप की कहानियाँ तथा कवि खलील जिब्रान की लघुकथाएँ और टालस्टाय की अनेक नैतिक कहानियाँ इसी प्रकार की है। पशु-कथा (बीस्ट फेबुल) इसी प्रकार की एलिगरी होती है। इस प्रकार की कथाओं का उद्देश्य कोई नैतिक पाठ पढाना या धार्मिक-आध्यात्मिक उपदेश देना होता है।[1]

४—जिसमें पात्र तो स्वाभाविक मानव होते है, घटनायें भी यथार्थ और कभी-कभी ऐतिहासिक होती हैं, पर उसका समष्टि प्रभाव गूढार्थ व्यंजक होता है। इसमें लेखक पात्रो का ऐसा मनोवैज्ञानिक और यथार्थ चरित्र चित्रित करता है, और ऐसी घटनाओं और परिस्थितियों का चुनाव करता है कि पूरी कथा मानव-जीवन के किसी चिरन्तन सत्य की ओर भी संकेत करती है। यह संकेत पूरी कथा के समन्वित प्रभाव द्वारा प्रतिभासित होता है। वेबर ने वाल्मीकि-रामायण को इसी ढंग की सांकेतिक कथा माना था। वैदिक और पौराणिक साहित्य में अनेक कथायें ऐसी ही हैं जो समग्र प्रभाव द्वारा सांकेतिक अर्थ भी व्यक्त करती हैं।

इस तरह पाश्चात्य रूपककथाओ के अनेक रूप दिखाई पड़ते है किन्तु सबमें एक सामान्य बात यह होती है कि उनमें प्रस्तुत कथा के भीतर कोई गूढार्थ अवश्य निहित रहता है, चाहे वह प्रधान रूप में हो या गौण रूप में। रूपक अलंकार और रूपककथा में अन्तर यह है कि एक में प्रस्तुत में अप्रस्तुत का अभेद आरोप कुछ वाक्यों तक ही सीमित रहता है पर दूसरे में अभेद आरोप का निर्वाह लम्बी कथा में, यहाँ तक कि सूक्ष्म विवरणों में भी किया जाता है। वस्तुत· रूपककथा में मानवीकरण, रूपक, अन्योक्ति, समासोक्ति और श्लेष अलंकारो का योग होता है। किन्तु इन अलंकारो द्वारा चमत्कार उत्पन्न करना रूपककथा का उद्देश्य नही होता। उसका उद्देश्य बड़ा होता है जो प्रायः अप्रस्तुत कथा के रूपमें ध्वनित होता है। बिना इस गम्भीर उद्देश्य वाली अप्रस्तुत कथा के रूपककथा हो ही नहीं सकती। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, रूपककथा का अप्रस्तुत या प्रतीकात्मक अर्थ व्यक्त करने के लिए कई शैलियाँ अपनाई जाती है। कही पात्र मानवीकृत होते हैं जिससे उनके नाम से तथा उनके

1- "The fable or parable is a short allegory with one definite moral." Encyclopaedia Britanica—See Allegory-

कार्यों और वाणी से अप्रस्तुत कथा प्रारम्भ से ही स्पष्ट होने लगती है। ऐसी रूपक-कथा में मानवीकरण अलंकार का ही प्रधान योग होता है। कुछ में पात्र मानवीकृत न होकर प्रतीकात्मक या 'टाइप' होते हैं और घटनायें या वस्तुएँ भी प्रतीकवत् होती हैं। स्पष्ट ही इन कथाओं में रूपकातिशयोक्ति या साध्यवसान रूपक अलंकार का अधिक योग होता है, क्योंकि उनमें अप्रस्तुत कथा ही प्रधान होती है जो प्रस्तुत में अध्यवसित होती है। अन्योक्तिप्रधान रूपककथा की प्रत्येक घटना, परिस्थिति और पात्र का अप्रस्तुतार्थ होता है और वह दूसरा अर्थ ही प्रधान होता है, प्रस्तुत अर्थ अपने आप में कोई महत्त्व नहीं रखता। समासोक्तिप्रधान रूपक-कथा में प्रस्तुत कथा ही प्रधान होती है पर उससे बीच-बीच में और अन्त में समष्टि रूप में भी अप्रस्तुत अर्थ स्फुरित होता है। उसमें प्रत्येक घटना, पात्र या वस्तु का सांकेतिक अर्थ होना आवश्यक नहीं है। नैतिक, मनोवैज्ञानिक दार्शनिक या राजनीतिक निष्कर्ष वाली रूपककथाओं में लक्षणा व्यंजना और ध्वनि की सहायता से अप्रस्तुत कथा व्यंजित होती है। ऐसी कथाओं में यदि लेखक स्वयं निष्कर्ष दे देता है तो उसका सौन्दर्य विकृत हो जाता है और वे उदाहरण कथा (उपमित कथा) का रूप धारण कर लेती हैं।

उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में कामायनी के काव्य-कौशल की परीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि प्रसाद जी ने उसमें प्रबोधचन्द्रोदय वाली प्राचीन भारतीय रूपककथा की शैली नहीं अपनायी है। अंग्रेजी में बीसवी शताब्दी तक रूपककथा की शैली में जो विकास हुआ तथा वैदिक और पौराणिक साहित्य में जो रूपक-पद्धति अपनायी गयी, कामायनी में उन दोनों का समन्वित रूप दिखाई पड़ता है। अतः कामायनी के रूपकत्व की परीक्षा अन्योक्ति, समासोक्ति, रूपक, रूपकातिशयोक्ति आदि अलंकारों के आधार पर नहीं की जा सकती। ऊपर जिन चार प्रकार की रूपककथाओं की चर्चा की गयी है, कामायनी में उनमें से चौथे प्रकार का रूपकत्व दिखाई पड़ता है। उसके पात्र स्वाभाविक और यथार्थ मानव हैं और प्रसाद जी के अनुसार उसकी घटनायें भी ऐतिहासिक है। यद्यपि उसके पात्र मानवीकृत प्रतीत होते है पर वे प्रबोधचन्द्रोदय के पात्रों की भाँति अयथार्थ और मन की सूक्ष्म प्रवृत्तियों के मूर्त पुतले नहीं है, वे रक्त-माँस के बने, मानवीय चेतना और निजी व्यक्तित्व से युक्त चरित्र है। पद्मावत की तरह उसमें बीच बीच में प्रतीकात्मक ढंग से अप्रस्तुत अर्थ की ओर संकेत भी नहीं किया गया है और न उसके पात्र ही "फेयरी क्वीन" के पात्रों की तरह प्रतीकात्मक हैं। प्रस्तुत कथा के भीतर

जो प्रतीकात्मक पात्र होते है वे अपने आपमें तो महत्त्वहीन और व्यक्तित्व रहित होते हैं पर उनका अप्रस्तुत अर्थ या प्रतीकार्थ बहुत महत्त्व का होता है। कामायनी के पात्रों का उनसे भिन्न कोई अन्य अर्थ नहीं है। फिर भी उसमें 'पिलग्रिम्स प्राग्रेस' की तरह मानव-मन की आध्यात्मिक यात्रा, और उसमें उपस्थित होने वाली बाधाओं की ओर संकेत किया गया है। साथ ही उसमें स्टीवेन्सन के डा० जैकिल और मिस्टर हाइड की तरह मनु का दुहरा व्यक्तित्व दिखाई पडता है, एक व्यक्तित्व किलात-आकुलि और इड़ा से प्रभावित है और दूसरा श्रद्धा से। अन्त में दूसरा व्यक्तित्व ही स्थायित्व ग्रहण करता है।

इस बात को स्पष्ट करने के लिए प्रसाद जी के उपयुक्त कथन की व्याख्या करनी होगी जिसमें उन्होंने कामायनी के रूपकत्व की ओर संकेत किया है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि कामायनी की कथा और उसके पात्र मूलतः ऐतिहासिक हैं। ऐतिहासिक और वैज्ञानिक दृष्टि की प्रधानता के कारण कोरा रूपकात्मक काव्य लिखना प्रसाद का उद्देश्य नही था। कामायनी-कथा के मूल स्रोतों पर विचार करते हुए हम देख चुके है कि उसके सभी पात्र और सभी प्रमुख घटनायें ऐतिहासिक हैं। प्रसाद जी ऐतिहासिक तथ्यों में रूपक का मिश्रण पसन्द नहीं करते थे और इसीलिए प्राचोन पौराणिक आख्यानो की रूपकात्मक व्याख्या करने वाले नैरुक्तकों, आधुनिक आर्यसमाजियो और प्राचीन भारतीय इतिहास को गप्प या माइथालोजी कहने वाले पाश्चात्य विद्वानों को उन्होंने एक ही श्रेणी में रखा है[1] अतः कामायनी की प्रस्तुत कथा को महत्त्वहीन बनाकर उसके अप्रस्तुत अर्थ को ही प्रधान बनाना प्रसाद जी का लक्ष्य नहीं हो सकता था। वे ऐतिहासिक कथानक द्वारा प्राचीन भारतीय सस्कृति की उच्चतम उपलब्धियों की कहानी सीधे कहना चाहते थे।

किन्तु प्रसाद जी ने साथ ही यह भी कह दिया है कि यदि कामायनी-कथा मे किसी को सांकेतिक अर्थ भी दिखाई पड़े तो उन्हें कोई आपत्ति नही होगी। इससे स्पष्ट हे कि व कामायनो में रूपकत्व की सत्ता स्वीकार

१—"पश्चिमी विद्वानों ने हमारे उस प्राचीन इतिहास को 'माइथालोजी' मान रखा है। उनमे इस धारणा का कारण हमारे निरुक्तकार भी हैं।...... ......वेदों का अध्ययन करने वाले पाश्चात्य विद्वानों ने भ्रमवश प्राचीन तर ऐतिहासिक सप्रदाय को न मानकर हमारा इतिहास भ्रामक बना देने के लिये निरुक्त के अर्थ को भी पथप्रदर्शक माना है।"—प्राचीन आर्यावर्त और उसका प्रथम सम्राट—कोशोत्सव-स्मारक संग्रह, पृ०, १७६।

करते हैं पर उनका विशेष बल उसकी प्रस्तुत कथा पर ही है, अर्थात् प्रसाद जी के अनुसार कामायनी में प्रस्तुत कथा प्रधान और अप्रस्तुत कथा गौण है। कामायनी की कथा का अध्ययन करने से भी यही बात प्रमाणित होती है। उसकी प्रस्तुत कथा में अप्रस्तुत अर्थ व्यक्त करने के लिये कवि ने अपनी ओर से अधिक प्रयत्न नहीं किया है क्योंकि उसमें प्राचीन काल से ही रूपक-तत्त्व भर दिया गया था। कवि ने इतना ही किया है कि उसके ऐतिहासिक स्वरूप को उद्घाटित करते हुए गौण रूप में उसके प्राचीन रूपकात्मक स्वरूप को भी स्वीकार कर लिया है क्योंकि उस प्राचीन आख्यान में निहित "इतिहास में रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है" और प्रसाद जी उसके भावना-मूलक रूपक तत्त्व को स्वीकार करने का मोह नहीं छोड़ सके हैं। प्राचीन गाथाओं में इतिहास और रूपक का सम्मिश्रण इसलिए हुआ कि प्राचीन वैदिक-कालीन व्यक्तियों और घटनाओं को परवर्ती युगों में तत्कालीन परिस्थितियों और बदलते हुए विश्वासों के अनुरूप मोड़ने के लिए उनका नवीनीकरण किया गया और कल्पना के योग से उनकी नयी व्याख्या की गयी। उदाहरणार्थ ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मण में प्रजापति द्वारा अपनी कन्या इडा के साथ बलात्कार करने की प्राचीन कथा को ऐतिहासिक सत्य के रूप में स्वीकार करते हुए भी रूपक का संकेत कर दिया गया है, यथा "प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायत् दिवमित्यन्य आहुरुषसमित्यन्ये।" अर्थात् प्रजापति ने दुहिता-गमन किया, उस दुहिता को कोई दिवा कहता है कोई उषा।[1] उसके आगे फिर उस आख्यान में इस रूपक की कोई बात नहीं आई है। मीमांसावार्तिक में इसकी व्याख्या यों की गई है कि प्रजा-पालन के अधिकार से आदित्य को ही प्रजापति कहा जाता है। उसके आगमन से उषा उत्पन्न होती है, अतः उषा उसकी दुहित हुई। आदित्य उसी उषा के साथ संयोग करता हुआ अरुण किरणों का बीज निक्षेप करता है।[2] शतपथ में ही मन और वाक् का विवाद दिखाया गया है जिसकी

१—शतपथ ब्राह्मण—१–७–४।

ऐतरेय ब्राह्मण—३—३६।

२—"प्रजापतिस्तावत् प्रजापालनाधिकारादादित्य एवोच्यते। स चारुणोदय वेलायामुषसमुद्यन्नभ्येति। सा तदागमनादेवो—पजायत इति तद्दुहितृत्वेन व्यपदिश्यते। तस्याञ्चारुणकिरणाख्यबीजनिक्षेपात् स्त्रीपुरुषसंयोगवदुपचारः।" सत्यव्रताचार्य सामश्रमी—निरुक्तालोचनम्—उद्धरण—पृ० ५४०, कलकत्ता १६०७।

चर्चा ऊपर हो चुकी है। प्रसाद जी ने संभवतः उसे भी मनु और इडा के ऐतिहासिक संघर्ष का रूपकात्मक या सांकेतिक वर्णन मान कर ही उस कथा को कामायनी में समाविष्ट किया है। इस प्रकार कामायनी में अधिकांश घटनाएँ ऐतिहासिक हैं या ऐतिहासिक सत्य के रूप में उपस्थित की गई हैं, सांकेतिक रूप में नहीं।

फिर भी पूर्व प्रचलित सांकेतिक कथा से रूपक-तत्त्व को बिलकुल निकाल बाहर करना अत्यंत कठिन कार्य था। वैदिक साहित्य में मनु और श्रद्धा ऋषि हैं और शतपथ में मनु को श्रद्धादेव कहा गया है, जिसका श्रद्धालु और श्रद्धा का पति दोनों अर्थ हो सकता है। भागवत में श्रद्धा मनु की पत्नी है और उससे दस पुत्र उत्पन्न होते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में मनन, मति, श्रद्धा और निष्ठा द्वारा विज्ञान (सत्य) को जानने की बात कही गयी है।[२] इसे ही प्रसाद जी ने कामायनी की भूमिका में मनु और श्रद्धा की भावमूलक व्याख्या कहा है। इस प्रकार वैदिक साहित्य में मनु, श्रद्धा और इडा संबंधी जो बातें मिलती हैं उनकी ऐतिहासिक और भावमूलक या मनोवैज्ञानिक (दार्शनिक) दोनों ही व्याख्यायें हो सकती हैं। अत. प्रसाद जी ने कामायनी के पात्रों को यद्यपि प्रधानतया ऐतिहासिक व्यक्तित्व प्रदान किया है पर उसमें रूपकत्व की भी प्रतिष्ठा स्वयमेव हो गयी है। इसीलिये कामायनी की भूमिका में प्रसाद जी ने लिखा है कि 'यदि श्रद्धा और मनु अर्थात् मनन के सहयोग से मानवता का विकास रूपक है तो भी बड़ा ही भावमय और श्लाघ्य है। यह मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास बनने में समर्थ हो सकता है।' इससे स्पष्ट है कि कामायनी की कथा में ऐतिहासिक सत्य का आधार तो लिया ही गया है, उसमें मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास भी उद्घाटित किया गया है। मनु-इड़ा-श्रद्धा संबंधी प्राचीन आख्यानों में जो रूपक-तत्त्व निहित है उसी के सहारे कामायनी में प्रस्तुत कथा के आवरण में मानव के सामाजिक और मनोवैज्ञानिक विकास की कथा कही गयी है और यह रूपक-योजना प्रसाद जी की अपनी कल्पना की उपज और उनकी मौलिक देन है। जलप्लावन के बाद मनु ने श्रद्धा और इड़ा से मिलकर नवीन मानव सृष्टि का विकास किया, यह तो

२—"यदा वै मनुतेऽथ विजानाति नामत्वा विजानाति मत्वैव विजानाति मतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति मतिं भगवो विजिज्ञास इति। यदा वै श्रद्दधात्यथ मनुते नाश्रद्दधन्मनुते श्रद्दधदेव मनुते श्रद्धात्वेव विजिज्ञासितव्येति श्रद्धा भगवो विजिज्ञास इति।" छांदोग्य—७-१७, १६।

ऐतिहासिक कथा हुई जो कामायनी की प्रस्तुत कथा है। शतपथ ब्राह्मण में मनु और इड़ा को मन और वाक् के रूप में भी उपस्थित किया गया है और छान्दोग्य में कहा गया है कि जो मनन करता है वह विज्ञान को जानता है, मति से जानता है क्योंकि मति विज्ञान-कारिणी है, किन्तु साथ ही श्रद्धा द्वारा भी मनन करना चाहिये क्योंकि श्रद्धा आस्तिक्य बुद्धि है, फिर श्रद्धा भी निष्ठा द्वारा उत्पन्न होती है और निष्ठा का उत्पत्ति हेतु कृति (इन्द्रिय संयम, चित्त-एकाग्रता आदि) है। इस तरह कृति, निष्ठा, श्रद्धा और मति इन चारों वृत्तियों को साधन बनाकर, चारों के विकास और समन्वय से विज्ञान को जाना जा सकता है। प्रसाद ने मनु की कथा में इसी दार्शनिक पद्धति का अध्यवसान किया है। यह तो स्पष्ट है कि छान्दोग्य उपनिषद् में मनन, मति, श्रद्धा, निष्ठा और कृति का जो आध्यात्मिक विवेचन किया गया है वह रूपक नहीं है और न मनु, इड़ा और श्रद्धा की ऐतिहासिक कथा से उसका संबंध है। यह संबंध प्रसाद जी ने अपनी ओर से जोड़ा है। परिणाम स्वरूप कामायनी में रूपकत्व संबंधी एक ऐसी विशेषता आ गयी है जो भारतीय या पाश्चात्य किसी रूपककथा में नहीं मिलती। वह यह है कि उसके तीन प्रधान पात्र मनु, इड़ा, श्रद्धा ऐतिहासिक व्यक्ति भी हैं और साथ ही मन बुद्धि और श्रद्धा के मानवीकृत रूप भी हैं।

इस प्रकार कामायनी की प्रस्तुत कथा में मानव-सृष्टि के विकास के साथ उसके नायक द्वारा चरम शान्ति और परमानन्द की प्राप्ति दिखाई गई है और अप्रस्तुत कथा भी जीव के अन्नमय कोश से आनन्दमय कोश तक आध्यात्मिक यात्रा मानसिक संघर्ष और इच्छा ज्ञान-क्रिया के समन्वय द्वारा अखण्ड घन आनन्द की प्राप्ति में ही पर्यवसित हुई है। निष्कर्ष यह कि मनु कि कथा में मन को कथा इस तरह पिराई गयी है कि दोनों कथायें अभिन्न सी हो गयी हैं, कारण यह है कि मनुष्य की कथा मन की ही कथा होती है। आधुनिक युग में वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक ज्ञान के विस्तार के साथ कथा-साहित्य में जिस तरह मानसिक उलझनों, संघर्षों और क्रिया-प्रतिक्रियाओं की अभिव्यक्ति प्रधान हो उठी है और स्थूल घटनावली का वर्णन बहुत कम हो गया है, उसी तरह कामायनी में भी मनोवैज्ञानिक सत्यों का मनु की कथा के माध्यम से, काव्यात्मक रूप में उद्‌घाटन और विवेचन किया गया है। फलस्वरूप उसमें रूपक-तत्व बहुत गौण है क्योंकि प्रस्तुत और अप्रस्तुत कथा में बहुत कम भेद रह गया है। बिना भेद के प्रस्तुत में अप्रस्तुत का आरोप नहीं हो सकता। इसी बात को ध्वनि में रख कर श्री नन्ददुलारे वाज-पेयी ने लिखा है कि "प्रसाद ने मानव वृत्तियों का निरूपण करने वाले अपने

काव्य में दार्शनिकता का आभास अवश्य दिया है पर वह दार्शनिकता काव्य का अंग बन कर आयी है और उसकी प्रकृत भावना-भूमि पर ही अधिष्ठित है। वह काव्य के वस्तु-वर्णन और उसके भावात्मक स्वरूप को किसी प्रकार ठेस नहीं पहुँचाती। इस प्रकार हम देखते हैं कि कामायनी काव्य अन्योक्ति तो है ही नहीं, उसे समासोक्ति भी नहीं कहा जा सकता। उसमें एक दार्शनिक अन्तर्धारा मिलती है। वह काव्य की स्वाभाविक धारा से अभिन्न और तद्रूप होकर आयी है।"[1]

यह तो ठीक है कि कामायनी के मनु, श्रद्धा और इडा मन, तर्क या व्यवहार बुद्धि और आस्तिक्य बुद्धि के मानवीकृत रूप हैं पर उसके अन्य पात्र—आकुलि, किलात, कुमार आदि—न तो मानवीकृत हैं न उनके सांकेतिक अर्थ ही है। घटनाओं में भी सभी प्रतीकात्मक या सांकेतिक नहीं है। जलप्लावन-वर्णन, देवसृष्टि-वर्णन, मनु का काम-यज्ञ, सारस्वत प्रदेश की शासन-व्यवस्था आदि का कोई अप्रस्तुतार्थ नहीं है। काम और लज्जा मानवीकृत पात्र-पात्री नहीं बल्कि मन के भीतर की वृत्तियाँ हैं जिनकी छाया—प्रतिमा (हैलुसिनेशन) का दर्शन क्रमशः मनु और श्रद्धा को होता है और अपने मन के भीतर का ही स्वर उन्हें सुनाई पड़ता है। मानसरोवर रहस्यवादी सम्प्रदाय में योग के ब्रह्मरन्ध्र या शिवलोक का प्रतीक अवश्य है पर कामायनी में उसका वर्णन प्रतीक रूप में नहीं हुआ है। वह स्वयं सिद्धिपीठ है और प्रस्तुत रूप में ही उसका वर्णन हुआ है। त्रिपुर (तीन गोलक) के वर्णन में भी सांकेतिकता नहीं रह जाती क्योंकि श्रद्धा उनका अर्थ समझा देती है। इस प्रकार कामायनी में प्रतीकात्मक या सांकेतिक पद्धति बहुत अधिक नहीं अपनाई गई है। केवल रहस्य सर्ग ऐसा है जिसमें सांकेतिक पद्धति दिखाई पड़ती है। उसमें कैलाश की यात्रा साधक की आध्यात्मिक साधना-यात्रा की ओर संकेत करती है। पर वहाँ भी वर्णन समासोक्तिमूलक ही है, अन्योक्तिमूलक नहीं। इस सर्ग में योग-साधना के मार्ग के व्यवधान, मधुमती भूमिका और आनन्दमय कोश की आनन्दावस्था की ओर, कैलाश-यात्रा के वर्णन के माध्यम से, संकेत किया गया है।

वस्तुतः सच्ची रूपक कथा तो वही होती है जिसमें प्रस्तुतार्थ बिलकुल महत्व-हीन हो और अन्योक्ति के सहारे अप्रस्तुत अर्थ को प्रधानता दी गई हो। कामायनी में यह बात नहीं दिखाई पड़ती। समासोक्ति और प्रतीक-पद्धति द्वारा भी उसमें रूपकत्व की प्रतिष्ठा नहीं हुई है। फिर भी उसमें गौण रूप में

१—नन्ददुलारे वाजपेयी—आधुनिक साहित्य—प्रयाग सं० २००७, पृ० ७१-७२

ही सही, रूपकत्व है और वह भी दुहरा है अर्थात् उसमें प्रस्तुत वाक्य के भीतर ही अन्तस्सलिला की धारा की तरह दो अन्य कथायें भी छिपी हुई है। पर इन दोनों अप्रस्तुत कथाओं का ज्ञान पाठक को पूरे काव्य के निष्कर्ष के रूप में होता है। पूरा काव्य पढ़ लेने के बाद पाठक को यह प्रतीत होता है कि यह तो मनु की ही कथा नहीं है बल्कि मानव-मन की संकल्पात्मक-विकल्पात्मक वृत्तियों के संघर्ष और उसकी परिशान्ति की कथा भी है और इतना ही नहीं, उसमें मानव-संस्कृति के विकास का इतिहास भी संक्षेप में अप्रत्यक्ष रूप से कहा गया है।

इस तरह कामायनी-कथा से जो दो अन्य अप्रस्तुत कथायें ध्वनित होती है, वे ये हैं:—

१— जीव के अन्नमय कोश से आनन्दमय कोश तक पहुँचने की कथा।

२—मानव के सामाजिक और सांस्कृतिक विकास की कथा।

पहली अप्रस्तुत कथा में यह बात दिखाई गई है कि जीव अन्नमय कोश में स्थित रहकर चिन्ता, आशा, काम, वासना, ईर्ष्या और कर्म आदि में आसक्त होता है। भारतीय दर्शन में अन्नमय आदि कोशों का विभाजन इस प्रकार किया गया है—

स्थान	कोश	उपाधि
१—स्थूल शरीर	अन्नमय कोश	स्थूलोपाधि
२—प्राण	प्राणमय कोश	
३—मन (इच्छा)	मनोमय कोश	सूक्ष्मोपाधि
४—मन (विज्ञान)	विज्ञानमय कोश	
५—बुद्धि	आनन्दमय कोश	कारणोपाधि
६—आत्मा	आत्मा	आत्मा

तैत्तिरीयोपनिषद् के अनुसार शरीर में अन्नमय कोश निवास करता है। अन्न से ही प्रजा की उत्पत्ति होती है, अतः जो अन्न-ब्रह्म की उपासना करते हैं वे भौतिक दृष्टि से संपन्न बनते हैं। कामायनी में प्रजापति मनु प्रारम्भ में अन्नमय कोश में स्थित जीव के रूप में हैं और काम-यज्ञ प्रजा की उत्पत्ति और विकास करने के साथ ही साथ भौतिक सुख और अधिकार के लिए संघर्ष करते हैं। वे अपने प्रयत्नों में बहुत कुछ सफलता भी प्राप्त करते हैं। मनुष्य केवल अन्नमय कोश से ही जीवित नहीं है, बल्कि उसके भीतर निहित, संपूर्ण पिण्ड में व्याप्त प्राण-मय कोश से आत्मवान् है। इसी तरह प्राणमय कोश के भीतर मनोमय कोश, उसके भीतर विज्ञानमय कोश और विज्ञानमय कोश के भीतर आनन्दमय कोश स्थित

है। इसी अन्तिम कोश में आत्मा निवास करती है[1]। मनु की जीवन-कथा में जीव के क्रमशः अन्नमय कोश से आनन्दमय कोश तक पहुँचने का विकास-क्रम दिखाई पड़ता है। इड़ा मनु को मनोमय और विज्ञानमय कोश तक ही सीमित रखती और न्याय के आधार पर उनसे कर्म कराना चाहती है। मनु में जब अन्नमय कोश प्रबल होता है तो वे इड़ा पर भी अधिकार करना चाहते हैं। अन्त में श्रद्धा या आस्तिक्य बुद्धि जीवन को निरन्तर अन्नमय कोश से आनन्दमय कोश में ले जाकर आत्मस्थ करने का प्रयत्न करती और सफल होती है। आनन्दमय कोश में पहुँचकर इच्छा, ज्ञान और क्रिया के बीच की दूरी मिट जाती है, तीनों में समन्वय हो जाता है। इस प्रकार कामायनी के प्रजापति मनु आरम्भ से अन्नमय कोश में स्थित मन हैं और संकल्प-विकल्प उनकी प्रजा है। अन्त में वे मध्यवर्ती कोशों को पार कर आनन्दमय कोश में पहुँच कर आत्मलीन आनन्दस्वरूप शिवत्व की प्राप्ति करते हैं।

कामायनी की दूसरी अप्रस्तुत कथा में मनु यथार्थ मानव या समूची मानव जाति के प्रतीक हैं। देव-सृष्टि के ध्वंसावशेष पर नवीन मानवीय संस्कृति और नयी समाज-व्यवस्था के प्रवर्तन का उत्तरदायित्व उन पर है। यथार्थ मानव की तरह वे गलतियाँ करते, फिर उन्हें सुधारते और इस तरह अंधकार-लोक से प्रकाश लोक में पहुँचते हैं। देव युग के स्थूल ऐश्वर्य और भौतिक सुख-साधनों की समाप्ति हो गयी है पर उसके विचार और संस्कार मनु में हैं। अतः वे अतीत की भूलों के प्रकाश में नवीन युग की स्थापना के लिए चिंतन करते हैं। आशा बँधती है और तभी सहायता के लिए श्रद्धा मिल जाती है। आदिम मानव-समाज सहज श्रद्धालु था और मृगया, अन्न-संग्रह, गुफावास आदि उसके जीवन साधन थे। वह काम, क्षुधा आदि सहजात वृत्तियों की प्रेरणा से कार्य करता था, यह बात कर्म, काम, वासना, और ईर्ष्या सर्गों में बहुत अच्छी तरह दिखाई गयी है। यह देव जाति की भौतिक उन्नति से ऊबे हुए मनु और श्रद्धा के प्राकृतिक और सरल जीवन बिताने की बात रूसो-वाल्टेयर, टालस्टाय और गान्धी के प्रकृतिवाद का प्रभाव व्यक्त करती है। पर यथार्थ मानव की भाँति मनु इस एकरस, अपरिवर्तनीय और स्वादहीन जीवन से ऊबकर कामयज्ञ, हिंसा, ईर्ष्या आदि में लीन होते और श्रद्धा का त्याग करते हैं अर्थात् वे आदिम मानव-जीवन की निष्प्राणता और सहजता से ऊबकर हलचल और कर्म-कोलाहलमय जीवन की कामना करते हैं। सारस्वत

१—तैत्तिरीय उपनिषद्—द्वितीय वल्ली, अनुवाक् २, ३, ४, ५।

प्रदेश (बुद्धि का देश) में इड़ा से भेंट होती है; अर्थात् उनकी अपनी ही बुद्धि प्रजा को सगठित करने, वैज्ञानिक आविष्कारों की सहायता से औद्योगिक उन्नति करने, कानून बनाने और वर्ग विभाजन करने की प्रेरणा देती है। यह सब होता है पर परिणामस्वरूप अहकार और निरंकुशता की भावना भी सहज ही उदित होती है जो आजकल लोकतन्त्र के भीतर भी तानाशाही (डिक्टेटरशिप) के रूप में दिखाई पड़ती है। उसकी सहज परिणति संघर्ष और युद्ध में होती है। बुद्धि का अतिशय विकास मानव के नाश का कारण बनता है। यह बात स्वप्न और संघर्ष सर्गों में बताई गई है। इस विनाश को रोकने का एक यही रास्ता है कि मानव का एकांगी विकास—श्रद्धाहीन बौद्धिक विकास—रोका जाय और बौद्धिकता और आध्यात्मिकता, तर्कबुद्धि और आस्तिक्य बुद्धि का समन्वय हो। कामायनी में संघर्ष में टूटे हुए मनु (मानव) को श्रद्धा आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग बताती है और अपने पुत्र कुमार को, जो उसी का प्रतिरूप या प्रतिनिधि है, इडा के पास उससे मिलकर सारस्वत प्रदेश में श्रद्धा और बुद्धि के समन्वय पर आधारित नवीन समाज-व्यवस्था स्थापित करने के लिए छोड़ जाती है। इस प्रकार बौद्धिकता और आध्यात्मिकता विकल्पात्मक और सकल्पात्मक अनुभूति के समन्वय से अर्थात् इच्छा, ज्ञान और क्रिया के समन्वय से ही स्थायी शान्ति और सर्वांगपूर्ण संस्कृति की प्रतिष्ठा हो सकती है, यही प्रसाद जी का जीवन सन्देश है। मानव का विकास अभी बौद्धिक और भौतिक क्षेत्र में ही हुआ है। आध्यात्मिक क्षेत्र में वह आज भी शून्य है। प्रसाद ने मानव-जाति के विकास के इस अगले कदम की ओर भी संकेत कर दिया है।

कामायनी का महाकाव्यत्व

प्रायः सभी विद्वान् एम मत से स्वीकार करते हैं कि कामायनी एक नये ढङ्ग का महाकाव्य है। कुछ लोग तो उसे आधुनिक युग का प्रतिनिधि अथवा सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य मानते हैं। प्रमुख आलोचक आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का मत है कि "परपरागत महाकाव्य के लक्षणों की पूर्ति न करने पर भो कामामनी को नये युग का प्रतिनिधि महाकाव्य कहने में हमें कोई हिचक नही होती।"[1] प्रो० विनयमोहन शर्मा ने लिखा है कि "कामायनी प्रसाद की अन्तिम कृति है और छायावाद का प्रथम महाकाव्य।"[2] एक दक्षिणी अहिन्दी प्रान्त के साहित्यकार श्री वाराणसी राममूर्ति 'रेणु' का मत और भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उन्होंने दक्षिण भाषाओं

१—नन्ददुलारे वाजपेयी—आधुनिक साहित्य, प्रयाग सं० २००७, पृ० ८०।

२—विनयमोहन शर्मा साहित्यावलोकन, प्रयाग सन् १९५२ ई०, पृ० ७३।

के साहित्य को ध्यान में रखकर यह मत व्यक्त किया है। उनका कहना है कि "कविवर प्रसाद के महाकाव्य कामायनी की रचना बीसवीं शती के भारतीय साहित्य-जगत् को एक अनुपम घटना है।.. प्रसाद जैसे एक साथ दर्शन और सौंदर्य के कवि और कामायनी जैसी महीयसी कृति का आविर्भाव युगों के अनन्तर ही संभव होता है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है कि किसी भी आधुनिक भाषा साहित्य में इसके टक्कर का महाकाव्य संभवतः नहीं है। प्रसाद की अमरवाणी का सहारा पाकर हिन्दी साहित्य अमर हो गया है।[1]" श्रीमती महादेवी वर्मा का मत पहले ही उद्धृत किया जा चुका है जिसमें उन्होंने कहा है कि कामायनी महाकाव्यों के इतिहास में नया अध्याय जोड़ती है। वे यह भी कहती है कि "हिन्दी में ऐसा काव्य दूसरा नही है . कामायनी को तत्वतः समझने के लिए यह भी जान लेना आवश्यक है कि छायावाद युग की सबसे सुन्दर सृष्टि होने पर भी.. .. कायायनी का लक्ष्य न अरूप की छाया है न निराकार का रहस्य।" इस प्रकार कामायनी के महाकाव्यत्व के विषय में संदेह करने वाले वे ही लोग हो सकते है जो या तो महाकाव्य की शास्त्रीय रूढ़ियों को दृढ़तापूर्वक पकड कर चलने वाले होंगे या जिन्हे कामायनी में 'विशद काव्य की अन्तर्योजना और समष्टिरूप में कोई समन्वित प्रभाव' नही दिखाई पड़ता होगा।[3] यहाँ इसी विषय पर विचार किया जायगा कि महाकाव्य के स्थायीलक्षण उसमें किस सीमा तक वर्तमान हैं और पुरानीरूढ़ियों को छोड़कर उसमें कौन सी नवीन प्रबन्ध-पद्धति अपनाई गयी है।

महदुद्देश्य, महत्प्रेरणा और उत्कृष्ट काव्य-प्रतिभा

उद्देश्य की महानता की दृष्टि से कामायनी की तुलना रामचरितमानस के अतिरिक्त हिन्दी के अन्य किसी महाकाव्य से नहीं की जा सकती। 'मानस' की तरह कामायनी का उद्देश्य भी मानवतावादी और कल्याणाभिनिवेशी है। 'मानस' का उद्देश्य यदि जातीयसंस्कृति की सुदृढ़ नींव पर पुनः प्रतिष्ठित करके भारतीय समाज को भौतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से सुखी बनाना है तो

१—वाराणसी राममूर्ति रेणु—कामायनी-सदेश, अवन्तिका, जून सन् १९५४, पृ० ४९।

२—श्रीमती महादेवी वर्मा—कामायनी—एक परिचय—भूमिका—ले० श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय, प्रयाग सन् १९४६, पृ० ९-१०।

३—द्रष्टव्य—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का हिन्दी साहित्य का इतिहास—आठवां संस्करण, पृ० ६९३।

कामायनी में बौद्धिकता और भौतिकता के अतिरेक से पीड़ित और विविध प्रकार के संघर्षों में टूटे हुए विश्व-मानव को चरम शान्ति का मार्ग बताना ही कवि का महदुद्देश्य है। मानव को इस सांस्कृतिक ऊँचाई की उस अवस्था में, जिसमें वर्ग, वर्ण, राष्ट्र आदि के बन्धन टूट गये रहेंगे और ईर्ष्या, द्वेष, संघर्ष की जगह चरम भौतिक और आध्यात्मिक शान्ति का साम्राज्य होगा, सभी समसुख, समभाव, समदृष्टि और आनन्दस्वरूप होंगे, पहुँचाने वाली शक्ति मानव की अन्तरात्मा की आवाज उसकी जीवनास्था ही है जिसे प्रसाद जी ने 'श्रद्धा' कहा है। उसी की सहायता से अर्थात् बौद्धिकता को श्रद्धा से संयमित करके ही अखण्ड आनन्द की उपलब्धि और विश्व-शांति की स्थापना हो सकती है। इस तरह श्रद्धा ही वह साधन है जिससे प्रसाद जी के उच्च आदर्श तक पहुँचा जा सकता है। यह साधन भी उस लक्ष्य के समान ही महान और पवित्र है। अतः आध्यात्मिक और व्यावहारिक जीवन तथा ज्ञान, इच्छा और क्रिया के बीच सामंजस्य स्थापित करना और इस तरह मानव मानव के बीच की दूरी को मिटाकर पूर्ण मानवता की प्रतिष्ठा करना ही कामायनी का महदुद्देश्य है। पूर्ण मानवत्व की प्रतिष्ठा न तो केवल बौद्धिक और वैज्ञानिक विकास को चरम सीमा पर पहुँचाने से होगी, न बुद्धि को बिलकुल छोड़कर आदिम मानव की तरह सहजात वृत्तियों की प्रेरणा का अनुगमन करने से। आज का विश्व बौद्धिक दृष्टि से इतना आगे बढ़ गया है कि प्रकृति के अधिकांश रहस्य उसे ज्ञात हो गये हैं, वैज्ञानिक विकास द्वारा सुख के समस्त साधनों को उसने सुलभ बना दिया है। फिर भी युद्ध, पारस्परिक होड़, सन्देह, भयानक युद्धास्त्रों के आविष्कार और प्रयोग आदि के कारण आज के विश्व-मानव का जीवन नरक-तुल्य हो गया है और सच्ची मनुष्यता लुप्त सी हो गयी है। ऐसे विश्व-मानव को 'प्रेम-कला' अर्थात् मानवीय हृदय की कोमल और सात्विक भावनाओं की आवश्यकता है जो अपने चिर परितप्त हृदय को फिर से शीतल बनावे। प्रसाद ने काम के मुँह से उसी का संदेश दिया है—

> यह लीला जिसकी विकस चली वह मूल शक्ति थी प्रेम कला।
> उसका सदेस सुनाने को संसृति में आई वह अमला।

उस मूल शक्ति या आदि शक्ति का, जिसकी चेष्टा या सक्रियता से ब्रह्म ने विश्व को अभिव्यक्त किया है, संदेश सुनाकर मानव को सही रास्ते पर ले जाने वाली और जड़त्व में चेतना उत्पन्न करने वाली श्रद्धा या आस्तिक्य बुद्धि है। उसे ही मानवता का मूल मंत्र मानकर प्रसाद ने कामायनी द्वारा विश्व की शान्ति का मार्ग बताया है। अतः प्रसाद की लोक-मंगल-भावना तुलसी से बहुत आगे

बढ़ी हुई है। वह हिन्दू जाति या भारतीय समाज के लिए ही नहीं, समूचे विश्व के लिए है।

शास्त्रीय लक्षण के अनुसार महाकाव्य का महदुद्देश्य चतुर्वर्ग-फल की प्राप्ति होता है। कामायनी में अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष चारों फलों की सिद्धि दिखाई गयी है किन्तु प्रधानता मोक्ष की है। यहाँ मोक्ष का तात्पर्य स्वर्ग प्राप्ति या निर्वाण नही बल्कि जीवन को दुख-सुख, हर्ष-विषाद आदि द्वन्द्वों की स्थिति से निकाल पर परम शान्ति, शिवत्व या अखण्ड आनन्द में लीन करना है। इसे जीवन्मुक्ति की दशा भी कह सकते हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से जीवन्मुक्तदशा उस दिव्य-दृष्टि की प्राप्ति है जिसके कारण शिव का ताण्डव-नृत्य दिखाई पड़ता है और सब शाप-ताप नष्ट हो जाते है :—

उस शक्ति शरीरी का प्रकाश, सब शाप पाप का कर विनाश—
नर्तन मे निरत, प्रकृति गल कर, उस कान्ति सिन्धु में घुल मिल कर;
अपना स्वरूप धरती सुन्दर, कमनीय बना था भीषणतर;
हीरक गिरि पर विद्युत बिलास, उल्लसित महा हिम धवल हास !

किन्तु यह तो नटेश का प्रथम दर्शन था। शिवलोक कैलाश में पहुँच कर त्रिपुर—इच्छा लोक, कर्मलोक और ज्ञान लोक— का दर्शन मनु की आध्यात्मिक यात्रा का अंतिम लक्ष्य था। वहाँ त्रिपुर-दाह के बाद इच्छा, क्रिया और ज्ञान का जो समन्वय हुआ, वही मनु की मोक्ष दशा थी—

स्वप्न स्वाप, जागरण भस्म हो इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे।
दिव्य अनाहत पर निनाद मे श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।
—रहस्य सर्ग

उस दशा में पहुँचने पर मनु के लिए सब कुछ चैतन्य, आनन्दमय और सुन्दर था—

समरस थे जड़ या चेतन सुन्दर साकार बना था।
चेतनता एक विलसती आनन्द अखण्ड घना था।—आनन्द सर्ग

अतः प्रसाद जी के अनुसार समरसता और अखण्ड आनन्द की प्राप्ति ही मोक्ष है और वही कामायनी का 'फल' है। आध्यात्मिक क्षेत्र का यह फल व्यावहारिक जगत में ही प्राप्य है, क्योंकि शिव और कैलास प्रत्येक व्यक्ति के भीतर ही है, उन्हें प्राप्त करने के लिए मानसरोवर की यात्रा करने या वृषभ-उत्सर्ग करने अर्थात् बाह्य धर्माचार में लीन होने की आवश्यकता नहीं है। प्रसाद जी ने अखण्ड आनन्द को व्यक्ति का नहीं, समाज का उद्देश्य माना है और उसकी

प्राप्ति का व्यावहारिक मार्ग भी निर्दिष्ट कर दिया है। वह मार्ग है बुद्धि और श्रद्धा का समन्वय जिसके द्वारा मानव के भाग्य का उदय हो सकता हैः—

यह तर्कमयी तू श्रद्धामय, तू मननशील कर कर्म अभय,
इसका तू सब संताप निचय, हर ले, हो मानव भाग्य उदय।
सब की समरसता का प्रचार, मेरे सुत, सुन मां की पुकार।-दर्शन सर्ग

इस तरह मानव मात्र को आनन्दमय लोक अर्थात् व्यावहारिक मोक्ष की स्थिति में पहुँचाना ही कामायनी का महदुद्देश्य या प्रधान फल है। अन्य तीनों फल—धर्म, अर्थ और काम—भी कामायनी में हैं पर वे गौण हैं। यद्यपि ये तीनों ही मोक्ष के साधन है पर प्रसाद जी ने काम को मोक्ष का प्रधान साधन माना है। 'कामायनी' नाम से तो यही ध्वनित होता है कि उसमें 'काम' ही प्रधान फल होगा। पर काम का स्थान उसमें मोक्ष के बाद ही आता है। शुक्ल जी तो कामायनी में मधुचर्या का अतिरेक मानते है। पर वैष्णव आदर्शवाद की दृष्टि से न देख कर यदि कामायनी को मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक तथा व्यावहारिक दृष्टि से देखा जाय तो उसमें काम मधुचर्या के रूप में नहीं, बल्कि जीवन की मूल प्रेरक शक्ति के रूप में दिखाई पडता है। कामायनी में देवजाति के वर्णन में तथा श्रद्धा, काम, वासना, लज्जा, स्वप्न और संघर्ष नामक सर्गों में काम का वर्णन अधिक विवृत और मनोवैज्ञानिक रूप में हुआ है, किन्तु वस्तुत वह पूरे काव्य में सूक्ष्म रूप में व्याप्त है। प्रसाद ने काम को बडा ही व्यापक, उदात्त और शक्तिमान माना है। प्रसाद का 'काम' किसी भी तरह घृणित या त्याज्य नहीं है, वह धर्म और मोक्ष का बाधक नहीं, साधक है। इसीलिए प्रसाद जी ने श्रद्धा को काम की पुत्री कहा है क्योंकि श्रद्धा के कारण ही मानव-जाति को देव और असुरों से, जो श्रद्धा-विवेकहीन थे, विशिष्ट बताया है। शुक्ल जी ने लिखा है कि "श्रद्धा और धर्म का संबंध अत्यंत प्राचीन काल से प्रतिष्ठित है। महाभारत में श्रद्धा धर्म की पत्नी कही गयी है।" शुक्ल जी की यह शिकायत है कि "श्रद्धा के मंगलमय योग से किस प्रकार कर्म धर्म का रूप धारण कर लेता है, यह भावना कवि से दूर ही रही।" शुक्ल जी की यह शिकायत इसलिए है कि वे कामायनी में स्थूल सक्रियता या घटनावली का अभाव पाते हैं तथा मानसिक और भावात्मक क्रिया-प्रतिक्रिया को सक्रियता नहीं मानते। यह तो सही है कि कामायनी में स्थूल कर्मों के भीतर श्रद्धा और धर्म का योग नहीं दिखाई पड़ता, किन्तु जो श्रद्धा, करुणा, सेवा, अहिंसा, प्रेम और ममता की मूर्ति है, जो मनु ही नहीं सारस्वत प्रदेश के निवासियों को भी समरसता के लोक में पहुँचाती है, क्या उसको धर्म की साधिका नहीं कहा जायगा? निष्कर्ष यह कि कामायनी

में काम, धर्म और मोक्ष तीन फल प्रमुख है, चौथा फल अर्थ केवल स्वप्न और संवर्ष सर्गों में दिखलाई पड़ता है। पर इन सब में भी प्रधान स्थान मोक्ष का ही है और समन्वित प्रभाव की दृष्टि से कामायनी का फल वही है।

महाकाव्य में महान उद्देश्यों के अनुरूप कोई शक्तिमती प्रेरणा भी निहित होती है। उस महती प्रेरणा से अभिभूत हो कर ही महाकवि महान चरित्रों और महान आदर्शों की विराट् कल्पना करता है और वही प्रेरणाशक्ति युग-युग में उस महाकाव्य के पाठकों के अन्तरतम की गहराई तक प्रभावित करती तथा उनकी आत्मा को प्रबोध और शान्ति प्रदान करती है। कामायनी की प्रेरणाशक्ति भारतीय संस्कृति की वह उदारता, व्यापकता और 'कल्याणाभि-निवेशी' दृष्टि है जिसका केंद्रबिन्दु 'समन्वय' है। भारतीय संस्कृति को प्रसाद ने अत्यंत प्रगतिशील माना है क्योंकि उसमें युग की आवश्यकताओं के अनुकूल अपने को ढाल लेने की अद्भुत क्षमता है। अतः प्रसाद के समूचे साहित्य में जो जीवन-दृष्टि दिखाई पडती है वह समन्वयात्मक है। उनकी प्रेरणा का स्रोत भारत का अतीत ज्ञान-गौरव और ऐश्वर्य-महिमा ही है। फिर भी वे अतीतोन्मुखी या पुनरुत्थानवादी नहीं है। इसके विपरीत उन पर राष्ट्रीयता, वैज्ञानिकता और लोक-तन्त्रात्मक मानवतावाद का गहरा प्रभाव है। इस तरह प्रसाद-साहित्य में प्राचीनता, और नवीनता, आध्यात्मिकता और भौतिकता, यथार्थवाद तथा आदर्शवाद का सुन्दर समन्वय हुआ है। किन्तु कामायनी में प्रसाद के समन्वयात्मक दृष्टिकोण का और भी विकसित और पूर्ण रूप दिखाई पडता है। उसमें प्रसाद जी ने भारतीय संस्कृति को विश्व-मानव की संस्कृति में, राष्ट्रीयता को अन्तर्राष्ट्रीयता में, व्यक्ति चेतना को समष्टि-चेतना में विलीन करके मानवतावाद का नवीन और आदर्श रूप उपस्थित किया है। समन्वय का अर्थ दो विरोधी तत्वों का मिश्रण नहीं है। दो तत्वों के सत्पक्षों को ग्रहण करके जो तीसरा अभिनव रूप निर्मित होता है और जिसका उद्देश्य मानव का महत्तम कल्याण होता है, उसे ही सच्चे अर्थ में 'समन्वयवाद' कहा जा सकता है। यही समन्वयवाद, जो मानवतावाद का नवीनतम और आदर्श रूप है, कामायनी की प्रेरणा शक्ति है। यह महती प्रेरणा भारतीय संस्कृति के चिरन्तन तत्वों से पोषित और लोकतंत्रात्मक मानवतावादी विचारधाराओं से अनुप्राणित है।

महान उद्देश्यों के वाहक और महती प्रेरणा के आश्रय महाकवि की काव्य-प्रतिभा भी उतनी ही महीयसी होती है। प्रसाद की अद्भुत और असाधारण काव्यप्रतिभा का ही परिणाम है कि कामायनी में उद्देश्य और दृष्टिकोण संबंधी

इतनी विराटता, व्यापकता एवं गहराई दिखाई पड़ती है । प्रसाद जी क्रान्तदर्शी कवि थे । कामायनी में उन्होंने द्रष्टा ऋषि की भाँति मानव—जीवन को आदि से अन्त तक हस्तामलकवत् देख कर उसके मूल रहस्य—आत्मा की अनुभूति—का, उसके समग्र रूप में, उद्घाटन किया है । उसी काव्यप्रतिभा के बल से उन्होंने मानवजाति के इतिहास की विशाल पटभूमि को तथा मानव-मन की अतुल गहराई को कल्पना की क्रीड़ा-भूमि बनाया है । उन्होंने अपनी अतलभेदिनी अन्तर्दृष्टि द्वारा अतीत के अन्धगर्भ में बन्दी अमर प्रकाश को मुक्त किया है और वर्तमान के विक्षुब्ध सागर के तट पर बहुत ऊँचाई पर उसका प्रकाशमय दीप स्तम्भ प्रतिष्ठित किया है, ताकि देशों की दूरी तथा जातियों, और वर्गों के व्यवधान को पार कर उसकी किरणें उन्मुक्त रूप में विकीर्ण होती रहें । कामायनी में प्रसाद की यह काव्यप्रतिभा उनकी समन्वय बुद्धि के रूप में दिखाई पड़ती है । इस सम्बन्ध में श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने बिलकुल सही लिखा है कि "आध्यात्मिक और व्यावहारिक तथ्यों के बीच संतुलन स्थापित करने की सर्वप्रथम चेष्टा इस काल में की गयी है । इस कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिये मानवीय वस्तुस्थिति से परिचय रखने वाली जिस मर्मभेदिनी प्रकृति की आवश्यकता है वह प्रसाद जी को प्राप्त थी । उन्होंने अपनी प्रतिभा के बल से शरीर, मन और आत्मा कर्म, भावना और बुद्धि; क्षर अक्षर और उत्तम तत्वों को सुसंगठित कर दिया है । यही नहीं, उन्होंने इन तीनों तत्वों के भेद को मिटाकर इन्हें पर्यायवाची भी बना दिया है ।"[1] इसी समन्वयवाद की पूर्णता के फलस्वरूप कामायनी आत्मा के महान शिल्पी प्रसाद की काव्यप्रतिभा की सर्वोत्कृष्ट कृति और भारतीय साहित्य को उनकी अमर देन हो गयी है ।

—गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्त्व

कामायनी में कवि की प्रतिभा, प्रेरणा और उद्देश्य की जो महानता दिखाई पड़ती है, उसी के फलस्वरूप उसमें वह गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्त्व भी आ सका है जिसके कारण ही कोई काव्य महाकाव्य कहलाता और युग युग के लिये साहित्य की अमर संपत्ति और जातियों या राष्ट्रों का गौरव बन जाता है । अलकृत महाकाव्यों में गुरुत्व का एक और भी महत्त्वपूर्ण कारण होता है । वह है उनकी प्रौढ़ता और विचार-गरिमा । कामायनी का गुरुत्व उसकी सुदृढ़ दार्शनिक विचार-पीठिका पर आधारित है । विचार-गाम्भीर्य के कारण ही कुछ लोगों को यह काव्य अत्यन्त क्लिष्ट तथा दर्शन या मनोविज्ञान का 'ट्रीटाइज'

१—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी—आधुनिक साहित्य प्रयाग, सं० २००७ पृ० २६ ।

जैसा लगता है परन्तु यह ध्यान देने की बात है कि अँग्रेजी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य, मिल्टन के 'पैरेडाइज लास्ट' के बारे में भी बहुत से लोगों की यही धारणा है। उसके सम्बन्ध में डा० जानसन ने कहा था कि 'पैरेडाइज लास्ट ऐसे ग्रन्थों में से है जिसे पढ़ कर पाठक प्रशंसा करता, फिर उठा कर रख देता, और दुबारा कभी नही पढता है। उसे लोग आनन्द के लिये नहीं, कर्तव्य-भावना से या उपदेश ग्रहण करने के लिए पढते है और उसके बाद मनोरञ्जन के लिये अन्य साधनो का सहारा लेते है।'"[1] मैकाले ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि 'मिल्टन के काव्यों को समझना या उनमें रस लेना तब तक सम्भव नहीं है जब तक पाठक का मन मिल्टन के साथ सहयोग न करे।"[2] काव्य के पाठक प्रायः इतना कष्ट उठाने को प्रस्तुत नहीं होते या इतने शिक्षित और संस्कृत नहीं होते जो ऐसे गुरुत्व वाले काव्यो की विचारधारा को सहज ही हृदयङ्गम कर सकें। कामायनी के बारे में भी बहुत कुछ यही बात लागू होती है। भारतीय सस्कृति के मूल तत्वों और अद्वैतवाद, शैवागम के प्रत्यभिज्ञा दर्शन, आधुनिक मनोविज्ञान, फ्रायड के काम-सिद्धान्त, मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, डारविन के विकासवाद और भौतिक-विज्ञान के विभिन्न सिद्धान्तों से जिनका सामान्य परिचय भी नहीं होगा वे निश्चय ही कामायनी में उतना आनन्द नहीं प्राप्त कर सकेंगे। वे सम्भवतः उसे पढ़ते-पढ़ते ऊब कर अलग रख देगें। अतः कामायनी के पाठक के लिये यह आवश्यक है कि उसका बौद्धिक और सांस्कृतिक स्तर सामान्य या अपढ़ जनता के मानसिक धरातल से पर्याप्त ऊँचा हो।

किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि कामायनी काव्य न होकर शास्त्र या शास्त्र-काव्य है। भट्टि के रावण-बध या हेमचन्द्र के द्वाश्रय काव्य में जिस तरह काव्य के भीतर व्याकरण के नियम बताये गये है उस तरह कामायनी में शास्त्रीय सिद्धान्तों का विवेचन नहीं किया गया है। अतः वह दर्शन या मनो-विज्ञान की 'ट्रीटाइज' नहीं है। पर जो केवल कथा या रोमांचक वर्णनों के लिये महाकाव्य पढते हैं उन्हें यह अतिशय गम्भीर और कष्ट-साध्य अवश्य प्रतीत होगा। दर्शन, मनोविज्ञान, विज्ञान, इतिहास आदि स्वयं में साध्य नहीं बल्कि किसी महान उद्देश्य के साधन ही है। उसी तरह काव्य भी साध्य नहीं साधन है। अतः उद्देश्यमूलक दृष्टि से देखने पर काव्य और शास्त्र के बीच विरोध

१—पैराडाइज लास्ट—सम्पादक—मैकमिलन, पृ० २४।

2 ..The works of Milton cannot bo comprehended or enjoyed unless the mind of the reader cooperates with that of the writer.—"Ibid" p. 24.

नहीं दिखाई देता है। समान उद्देश्य होने पर एक विशेष ऊँचाई पर पहुँच कर काव्य और शास्त्र की सीमायें मिल भी जाती हैं, दोनों एक दूसरे में विलीन हो जाते हैं। यही कारण है कि महाभारत, रामायण, पैराडाइज लास्ट और रामचरितमानस महाकाव्य होते हुए भी दर्शन और धर्म के क्षेत्र में समाज के पथ प्रदर्शक माने जाते हैं। कामायनी भी इन्हीं महाकाव्यों की श्रेणी में आती है।

अतः क्षणिक, ऐन्द्रिक और ऊपरी आनन्द की खोज करने वालों के लिये कामायनी नहीं है। पर जो तात्विक और शाश्वत आनन्द के अन्वेषक हैं, उनके लिये यह महाकाव्य उबाने-थकाने वाला नहीं हो सकता, न इसका गुरुत्व ही उनकी मानसिक तृप्ति में बाधक हो सकता है। इसके विपरीत उनके आनन्द का वही प्रधान स्रोत है। प्रसाद की दार्शनिक विचारधारा प्रधानतया शैवागम के प्रत्यभिज्ञा दर्शन पर आधारित है। काश्मीर के शैवागम दर्शन को त्रिक शास्त्र या त्रिक शासन भी कहा जाता है क्योंकि उसमें तीन प्रकार के शास्त्र-ग्रन्थ मान्य है—(१) आगम या तन्त्रशास्त्र (२) स्पन्द शास्त्र और (३) प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र। इनमें से प्रत्यभिज्ञा-शास्त्रों में ही त्रिक शासन का वास्तविक दर्शन दिखाई पड़ता है। इस दर्शन के प्रधान ग्रन्थ सिद्ध सोमानन्द कृत शिवदृष्टि, उत्पल कृत ईश्वरप्रत्यभिज्ञा और उसकी वृत्ति, अभिनवगुप्त कृत प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी, प्रत्यभिज्ञा-वृत्तिविमर्शिनी, तन्त्रालोक, तन्त्रसार, शिवदृष्ट्यालोचन, परमार्थसार और क्षेमराजकृत शिवसूत्र-वृत्ति, प्रत्यभिज्ञा हृदय आदि हैं। इन ग्रन्थो में अद्वैतमूलक शैव मत के दार्शनिक और साम्प्रदायिक सिद्धान्तो, उपासना-पद्धतियों आदि का पूर्ण विवेचन हुआ है। प्रसाद जी शैव दर्शन को मानने वाले थे और उन्होंने इनमें से अधिकांश ग्रन्थों का सम्यक् अध्ययन किया था। अतः उनकी परवर्ती रचनाओं, विशेषकर 'कामायनी' में शैवागम के रहस्यवाद और प्रत्यभिज्ञादर्शन की छाया दिखाई पड़ती है, पर है वह छाया ही। प्रसाद जी ने सांप्रदायिक कवियो की भाँति अपने मत के प्रचार के लिये प्रासंगिकता का ध्यान रखे बिना प्रत्यभिज्ञादर्शन का सैद्धान्तिक विवेचन नहीं किया है। कामायनी में प्रथम तो प्रत्यभिज्ञादर्शन की सभी बातें आयी नहीं हैं और जो आयी हैं वे कथा या वस्तु-वर्णन के प्रसंग के भीतर घुल-मिल कर आयी हैं।

प्रत्यभिज्ञा-दर्शन —

इस बात को और स्पष्ट करने के लिये यह देख लेना आवश्यक है कि कामायनी प्रत्यभिज्ञादर्शन से किस सीमा तक प्रभावित है। प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार आत्मन् या परमात्मा विश्व के प्रत्येक जड़-चेतन पदार्थ के भीतर

अलग-अलग और समष्टिरूप में विश्व में भी अन्तस्थित है। इसी का नाम चैतन्य, परासंवित्, परमेश्वर और परमशिव भी है। यह परमशिव अनन्त; चिरन्तन और देश, काल, नाम, रूप आदि भेदात्मक उपाधियों से रहित अभेद्य और अखण्ड है।[1] वह विश्वरूप में भी है और विश्व से परे भी है; वस्तुतः यह समस्त नाम-रूपात्मक जगत् उसी परमशिव की आत्माभिव्यक्ति है[2]। चैतन्य की चितिशक्ति ही संकुचित होकर उसे विश्वात्मक रूप में लाती है। इस अवस्था में चैतन्य भी संकुचित हो जाता है; अतः शिव तथा जीव में कोई भेद नहीं है[3]। परमशिव अपनी शक्ति से स्वेच्छया जगत् की अभिव्यक्ति करता है। वह और उसकी शक्ति भिन्न-भिन्न नहीं है, शक्ति उसकी सृजनात्मक सत्ता है[4]। शिव की शक्तियाँ तो असंख्य है पर उनमें पाँच प्रधान है। परम-शिव को स्वतन्त्रता ही उसकी आनन्द शक्ति, चमत्कार ही इच्छाशक्ति, प्रकाशरूपता चित्-शक्ति, आमर्शात्मकता ज्ञान-शक्ति और सर्वाकारयोगित्व क्रिया-शक्ति है।

१—अभिनवगुप्ताचार्य—'स च सर्वभावाना प्रकाश रूप एव···स च नानेका···देशकालावपि च अस्य न भेदकौ।"–तन्त्रसार–अध्याय १–उपोद्घात।

२—क्षेमराज—

"क्षितिपर्यन्तावस्थिताना तु सकलाना सर्वतो भिन्नाना परिमिताना तथाभूतमेव प्रमेयम्। तदुत्तीर्णे शिवभट्टारकस्य प्रकाशैकवपुषः प्रकाशैकरूपा एव भावाः। श्रीमत्परमशिवस्य पुनः विश्वोत्तीर्ण-विश्वात्मक-परमानन्दमय-प्रकाशैकघनस्य एवंविधमेव शिवादि-धरण्यन्तम् अखिलं अभेदेनैव स्फुरति···अपि तु श्री परमशिव भट्टारक एव इत्थं नानावैचित्र्यसहस्रैः स्फुरति।"—प्रत्यभिज्ञाहृदयम्—सूत्र ३–वृत्ति।

३—क्षेमराज—

(क)—"चितिसंकोचात्मा चेतनोपि संकुचित विश्वमयः।"

वही—सूत्र ४

(ख)—"शिव जीवयोरभेद एव उक्तः।"

वही–सूत्र वही–वृत्ति

४—सोमानन्द—

"न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी।
शिवः शक्तः तथाभावान् इच्छया कर्तुमीहते।
शक्तिशक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न वर्ण्यते।—शिवदृष्टि–३–२–३.

इनमें से भी इच्छा, ज्ञान और क्रिया, ये तीन ही शक्तियाँ प्रमुख हैं।[1] शिव की इन शक्तियों को चिति या महाचिति भी कहा जाता है। वह स्वतन्त्र और विश्व-सिद्धि का कारण है और स्वेच्छा से, बिना किसी उपादान के, विश्व का उन्मीलन या उन्मेष करती है।[2] उन्मीलन का अर्थ अन्तःस्थित वस्तु को प्रकटित या आभासित करना है, अतः विश्व के जड़-चेतन पदार्थ आभास-रूप हैं।[3] माया भी शक्ति का ही एक रूप है जिसके कारण सत्य का तिरोधान होता और भेद से विश्व आभासित होता है।[4] यह माया आत्मन् के ऊपर मल या विकृति का आवरण डाल देती है जिससे वह अपने दिव्य स्वरूप और ऐश्वर्य को निद्रित व्यक्ति के समान भूल जाता है। माया के आवरण पाँच प्रकार के है, काल, नियति, राग, विद्या और कला। इनके द्वारा आबद्ध आत्मन् पुरुष, अनु या व्यक्ति कहलाता है। इस तरह आभास या उन्मीलन की प्रक्रिया द्वारा परमशिव या परा संवित् ही पुरुष बन जाता है जो अपने से अनेक को उत्पन्न करता है।[5] पुरुष का नाम अणु भी है। परमशिव का चित् रूप

---

१ अभिनवगुप्ताचार्य—

"तस्य च स्वातन्त्र्यम् आनन्दशक्तिः, तच्चमत्कार इच्छाशक्तिः, प्रकाशरूपता चिच्छक्तिः, आमर्शात्मिकता ज्ञानशक्तिः, सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्तिः, इत्येवं मुख्याभिः शक्तिभिः युक्तोपि वस्तुतः इच्छाज्ञानक्रियाशक्तियुक्तः अनवच्छिन्नः प्रकाशो निजानन्दविश्रान्तः शिवरूपः......" तन्त्रसार :—प्रथम अध्याय-उपोद्घातः।

२. क्षेमराज : "चितिः स्वतंत्रा विश्वसिद्धि हेतुः।
स्वेच्छया स्वभितौ विश्वमुन्मीलयति।"
प्रत्यभिज्ञाहृदयम्—सूत्र १, २

३. (क) "उन्मीलनं च अवस्थितस्यैव प्रकटीकरणम्।"
वही—सूत्र वही—वृत्ति।

(ख) "तत्र आभासरूपा एव जड़चेतन पदार्थाः।"—प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी—३-२-१

४. अभिनवगुप्ताचार्य—"मायाशक्त्या विभोः सैव भिन्नसंवेद्यगोचरा।"
ईश्वरप्रत्यभिज्ञा—१-५-१८।
"तिरोधानकरी मायाभिधा पुनः।"—वही—३-१-७।

५. अभिनवगुप्ताचार्य—तंत्रसार—आह्निक ८।

पुरुष का ऐश्वर्य और अचित् रूप उसका मल है। पुरुष जब प्रकृति के योग से जाग्रत होता है तो उसमें जो चेतना उदित होती है, वही बुद्धि है। उसमें सत् गुण की प्रधानता होती है।[1] बुद्धि परमशिव की शुद्ध विद्या का स्मृति रूप है। बुद्धि से अहंकार की उत्पत्ति होती है जिसमें अपनी पृथक् सत्ता का ज्ञान होता है। उसमें रजोगुण की प्रधानता होती है। अहंकार से मन की उत्पत्ति होती है जिसमें क्रियाशीलता और कल्पना की प्रवृत्ति होती है। वह तमोगुण-प्रधान होता है[2]। परमशिव की ज्ञान, क्रिया और इच्छा नामक शक्तियाँ क्रमशः पुरुष (अणु) की बुद्धि, अहंकार और मन से निहित होती है। इस प्रकार इस त्रितय का रूप यह है :—

ज्ञान-शक्ति——सत्वगुण——बुद्धि
क्रियाशक्ति——रजोगुण——अहंकार
इच्छाशक्ति—— तमोगुण——मन

यह त्रितय अलग-अलग रहकर फल-भेद से जगत् के वैषम्य और भेद का कारण बनता है। अतः इसके ऐक्य के बिना भेदरहित सामरस्य-स्थिति—शिवत्व की प्राप्ति—नहीं हो सकती :—

इच्छा ज्ञानं क्रिया चेति यत्पृथक्पृथगुच्यते। १०६
तदेव शक्तिमत्स्वैः स्वैरिष्यमाणादिकैः स्फुटम्।
एतत्त्रितयमैक्येन यदा तु प्रस्फुरेत्तदा। १०७
न केनचिदुपाधेयं स्व स्व विप्रतिषेधतः।
लोलीभूतमतः शक्ति त्रितयं तत्त्रिशूलकः॥१०८-तंत्रालोक-तृतीय आह्निक

इन शक्तियों के ऐक्य का ज्ञान अतीन्द्रिय और प्रातिभ होता है[3]। इस अभेद-ज्ञान की उपलब्धि के बाद पुरुष अपने भीतर और बाहर सर्वत्र दर्पण मे अपनी छाया की तरह 'शिव' का दर्शन करने लगता है और सब भावों से परांमुख होकर

१—"ज्ञानमपि सत्वस्वरूपा निर्णयबोधस्य कारण बुद्धिः।" तत्त्व-सन्दोह—१५

२—अभिनवगुप्त—तंत्रसार, आह्निक ८।

३—अभिनवगुप्ताचार्य—विवेकोऽतीन्द्रियस्त्वेष यदापाति विवेचनम्।
पशुपाशपतिज्ञानं स्वय निर्भासते तदा।
प्रातिभे तु समायाते ज्ञानमन्यत्तुसेन्द्रियम्।
वागादिश्रुतिगम्य तु अन्यापेक्ष्य वरानने।
तंत्रालोक—आह्निक १३—श्लोक १७७, ७८

शिव-भाव से ही भावित रहता है।[१] प्रातिभ विवेक का अर्थ मन और बुद्धि का त्याग नहीं है। उनके त्याग से तो ज्ञान की उपलब्धि हो ही नहीं सकती। अतः विवेक का अर्थ सब भावों को शुद्ध भाव बनाना है।[२] बुद्धि त्रिगुणात्मिका होने से अणिमादिक भोग-जालों में आसक्त कराने वाली और जड़ इन्द्रियों के बन्धन का कारण होती है। अतः प्रातिभ ज्ञान या विवेक के बिना उससे मुक्ति नहीं मिल सकती।[3] जिसे यह विवेक प्राप्त हो जाता है वह समस्त व्यावहारिक कार्य करता हुआ भी उनसे विरक्त रहता है अर्थात् उन्हें क्रीड़ा समझता है।[४] प्रकृति और पुरुष का विवेक हो जाने पर जीव पूर्णता प्राप्त कर शिवत्व-लाभ करता है।[५] इस दशा में विकल्पात्मक अनुभूति संकुचित हो जाती है और अविकल्प (संकल्पात्मक) अनुभूति प्रकाशित होती है।[६] यही जीवन्मुक्ति या चिदानन्द-लाभ की स्थिति है क्योंकि इसमें आत्मस्वरूप-शिवत्व-का प्रत्यभिज्ञान हो जाता है :—

"चिदानन्द लाभे देहादिषु चेत्यमानेष्वपि चिदैकात्म्यप्रतिपत्तिदार्ढ्यं जीवन्मुक्तिः।"—प्रत्यभिज्ञा-हृदयम्-सूत्र १६

यही शिवदृष्टि या समरसता की स्थिति है जिसमें समस्त विरोधों और वैषम्य का नाश हो जाता है और सब में समता दिखाई पड़ती है :—

"समता सर्वभावानां वृत्तीनां चैव सर्वशः।
समता सर्वदृष्टीनां द्रव्याणां चैव सर्वशः।

१ वही—श्लोक १७६, १८०, १८१।

२. "न मनोबुद्धिहीनस्तु ज्ञानस्याधिगमः प्रिये।
परभावात्तु तत्सूक्ष्म शक्तितत्त्व निगद्यते।
विवेकः सर्वभावानां शुद्धभावान्नहाशय.।"—वही-श्लोक १६१, १६२।

३. वही—श्लोक १६२, १६३।

४. वही—श्लोक २११।

५. "प्रकृति पुरुष विवेको वा येन प्रधानाधो न ससरेत्। मलपुरुषविवेके तु शिवसमानत्व पुरुष पूर्णता दृष्टौ तु विशत्वमवेतु।"—तंत्रसार—आह्निक ८।

६ "इह ज्ञान मोक्षकारणं बन्धनिमित्तस्य अज्ञानस्य विरोधजनकत्वात्। ···तदेव च अभ्यस्यमानं पौरुषमपि अज्ञानं निहन्ति, विकल्पसंविदभ्यासस्य अविकल्पान्ततापर्यवसानात्। विकल्पासंकुचित संवित्प्रकाशरूपो हि आत्मा शिवस्वभावइतिसर्वथा समस्तवस्तुनिष्ठं सम्यङ्निश्चयात्मक ज्ञानमुपादेयम्।"—तंत्रसार—१-१।

भूमिकानां च सर्वासामोवल्लीनां च सर्वशः
समता सर्वं देवानां वर्णानां चैव सर्वशः ॥"[1]

यहाँ प्रत्यभिज्ञा दर्शन की यह संक्षिप्त व्याख्या इसलिए की गयी है कि कामायनी के दार्शनिक तत्त्वों पर उसका प्रभाव देखा जा सके। कामायनी का लक्ष्य वही है जो प्रत्यभिज्ञा दर्शन का है। दोनों में 'चिदानन्द-लाभ' ही अंतिम फल माना गया है और दोनों के साधन में समरसता को चिदानन्द-प्राप्ति की अवस्था कहा गया है। पर दोनों के साधन में कुछ अन्तर दिखाई पडता है। प्रत्य-भिज्ञादर्शन में प्रातिभ ज्ञान या विवेक को समरसता का साधन कहा गया है और कामायनी में वह साधन 'श्रद्धा' है। संभवतः प्रत्यभिज्ञा दर्शन के बुद्धितत्त्व और प्रतिभ ज्ञान ही कामायनी में क्रमशः इड़ा और श्रद्धा है। कामायनी का त्रिपुर भी प्रत्यभिज्ञा दर्शन का त्रितय तत्त्व ही है पर प्रसाद ने उसकी व्याख्या अभि-नवगुप्त से भिन्न ढंग से की है और इच्छा-ज्ञान-क्रिया के समन्वय पर अधिक बल दिया है। कामायनी के मनु प्रत्यभिज्ञा दर्शन के पुरुष (अणु) है जो माया (प्रकृति) के आवरण के कारण बुद्धि, अहकार और मन द्वारा प्रेरित होकर ज्ञान, क्रिया और इच्छा शक्तियों द्वारा अलग अलग कालों में भिन्न-भिन्न रूप में परिचालित होते है। कथा के अतिरिक्त कामायनी के वस्तु वर्णन में भी प्रत्यभिज्ञा दर्शन का प्रभाव दिखाई पड़ता है। 'आशा' सर्ग में सृष्टि-विकास का जो चित्रण हुआ है उसमें परमशिव की अपनी इच्छा से विश्वरूप में अभिव्यक्त होने की बात सांकेतिक रूप में कही गयी है :—

यह संकेत कर रही सत्ता किसकी सरल विकासमयी।
जीवन की लालसा आज क्यों इतनी प्रखर विलासमयी।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार विश्व परमशिव में ही अव्यक्त रूप में आवृत रहता है जो उसकी शक्ति द्वारा स्वयमेव उन्मीलित या प्रकाशित होता है :—

नेत्र निमीलन करती मानो प्रकृति प्रबुद्ध लगी होने

× × ×

वह विराट था हेम घोलता नया रंग भरने को आज!

× × ×

एक यवनिका हटी, पवन से प्रेरित माया-पट जैसी।
और आवरणमुक्त प्रकृति थी हरी भरी फिर भी कैसी।

१—महेश्वरानन्द—महार्थमंजरी, संपादक, महामहोपाध्याय गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम्, सन् १९१९, पृ० १७४।

अहंकार-तत्त्व के उदय होने पर "मै हूँ" और "मैं यह हूँ" की भावना उत्पन्न होती है :—

मैं हूँ यह वरदान सदृश क्यों लगा गूँजने कानों में।
मैं भी कहने लगा "मैं रहूँ" शाश्वत नभ के गानो मे।

पुरुष तो अकर्मण्य होता है, प्रकृति ही उससे सब कर्म कराती है:—

अर्द्ध प्रस्फुटित उत्तर मिलते प्रकृति सकर्मक रही समस्त।
निज अस्तित्व बना रखने में जीवन आज हुआ था व्यस्त।

इसके बाद मन और इन्द्रियो की उत्पत्ति होती है और इन इन्द्रियों के सहयोग से वासना और संवेदन की पीड़ा का अनुभव करता है :—

नव हो जगी अनादि वासना मधुर प्राकृतिक भूख समान।
चिर परिचित सा चाह रहा था द्वन्द्व सुखद करने अनुमान।
मनु का मन था विकल हो उठा संवेदन से खाकर चोट।
संवेदन, जीवन जगती को जो कटुता से देता घोंट।

इस प्रकार आशा सर्ग में पुरुष को चेतना के तीनों तत्वों----बुद्धि, अहकार और मन के गुणो का विकास दिखाया गया है। ज्ञान, क्रिया और इच्छा का बिलगाव मन के जीवन में तब तक बना रहता है जब तक कि वे सारस्वत प्रदेश से भागने के बाद 'नटेश' का ताण्डव नृत्य नहीं देख लेते। यही उनके प्रातिम ज्ञान का उदय होता है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में गुरुदीक्षा और अभ्यास का भी बहुत महत्व माना गया है।[1] परन्तु प्रातिम ज्ञान के उदय बिना दीक्षा भी बेकार सिद्ध होती है। कामायनी में 'श्रद्धा' सर्ग में मनु को श्रद्धा का उपदेश और 'काम' सर्ग में काम का उपदेश गुरुदीक्षा के रूप में ही है पर मनु के जीवन पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। विश्व के दुःखों का कारण परमशिव की उपर्युक्त तीनों शक्तियों-ज्ञान, क्रिया और इच्छा का बिलगाव ही है। जब तक मानव जाति उनमें समन्वय स्थापित नहीं करती तब तक वह वैषम्य जनित दुःखों की ज्वाला में जलती रहेगी। प्रत्यभिज्ञादर्शन के इस तथ्य को प्रसाद जी ने मन को दिये जाने वाले 'काम' के शाप के रूप मे निरूपित किया है। परमशिव की अमोघ-असीम शक्ति जब मल से आवृत्त होकर संकुचित हो जाती है तो इच्छा, ज्ञान और क्रिया नाना दुखों, भेदों और संघर्षों का सृजन करती हैं :—

१—अभिनवगुप्ताचार्य—तंत्रालोक—आह्निक १३२४८ से २५३।

यह अभिनव मानव प्रजा सृष्टि।
द्वयता में लगी निरन्तर ही वर्णों की करती रहे वृष्टि।

× × ×

कोलाहल कलह अनन्त चले एकता नष्ट हो बढ़े भेद।
अभिलषित वस्तु तो दूर रहे हाँ मिले अनिच्छित दुखद खेद।

प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में परमशिव की शक्ति के मलावृत्त हो जाने पर माया की जिन पाँच उपाधियों का विवेचन किया गया है, काम के शाप में उनका भी उल्लेख हुआ है '—

संकुचित असीम अमोघ* शक्ति !
जीवन को बाधामय पथ पर ले चले भेद से भरी भक्ति।
या कभी अपूर्ण अहंता में हो रागमयी सी महाशक्ति।
व्यापकता* नियति प्रेरणा बन अपनी सीमा में रहे बन्द।
सर्वज्ञ ज्ञान* का क्षुद्र अंश विद्या बन कर कुछ रचे छन्द।
कर्तृत्व* सकल बन कर आवे नश्वर छाया सी ललित कला।
नित्यता* बिभाजित हो पल पल में काल बिभाजित चले ढला।

—इड़ा सर्ग

परमशिव बाधाहीन, स्वच्छन्दता या स्वतंत्र और भेद-रहित होता है। उसे पुरुष रूप लाने के लिए माया पंचकंचुकों की सृष्टि करती है जिनके कारण पुरुष (जीव) की असीम शक्ति सीमित हो जाती है अर्थात् उसकी विशेषतायें ही माया-बल से संकुचित होकर पंचकचुकों में बदल जाती हैं। उपर्युक्त छन्द में यही दिखाया गया है कि शुद्ध विद्या की दशा में सदाशिव के पूर्णत्व आदि गुण किस तरह अपूर्ण अहंता (पुरुष या अणु) के राग आदि पाँच मायोपाधियों के रूप में बदल जाते हैं। उपर्युक्त पद में पुष्पांकित शब्द परमशिव के गुण और रेखांकित शब्द पुरुष या अणु की मायोपाधियाँ हैं। स्पष्टता के लिए उन्हें निम्नलिखित रूप में उपस्थित किया जा रहा है :

परमशिव के गुण	पुरुष या अणु की मायोपाधियाँ
१—नित्यतृप्तित्व (पूर्णत्व)	१—राग
२—व्यापकत्व	२—नियति
३—सर्वज्ञत्व	३—विद्या
४—सर्वकर्तृत्व	४—कला
५—नित्यत्व	५—काल

जीव के लिए इस भेद और वैषम्य से उत्पन्न दुख की अवस्था से मुक्ति का एक मात्र उपाय यही है कि उसे आत्मज्ञान हो अर्थात् वह आत्मस्थित शिव-शक्ति को पहचान कर चिदानन्द-लाभ करे। प्रतिभा ज्ञान के उदय होने और गुरु आदि की दीक्षा से शिवरूप का प्रत्यभिज्ञान हो सकता है। कामायनी में शिव और उनकी शक्ति के स्वरूप का भी वर्णन हुआ है। उसमें शिव के विश्वात्मक और विश्वोत्तीर्ण दोनों रूपों का दर्शन कराया गया है जो प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुरूप है पर शिव शक्ति की आद्यावस्था का स्वरूप प्रत्यभिज्ञा दर्शन से कुछ भिन्न, बृहदारण्यक उपनिषद् अथवा त्रिपुरा मत के अनुसार है। 'काम' सर्ग में काम ने मनु को परमशिव और आदि शक्ति का रहस्य भी समझाया है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में तो इतना ही कहा गया है कि परमशिव और उसकी शक्ति अभिन्न हैं, शक्ति शिव का हृदय या प्रेयसी है। प्रसाद जी ने जो वर्णन किया है वह बृहदारण्यक उपनिषद् के उस रूपक के अनुसार है जिसमें कहा गया है कि वह उस अवस्था में उसी प्रकार प्रज्ञा से मिला था जैसे पुरुष स्त्री आलिङ्गनबद्ध अवस्था में रहते है, प्रियालिंगित पुरुष के समान ब्रह्म भी उस समय अपने अन्तर और बाह्य को भुला देता है।[1] प्रसाद जी ने इसी आधार पर शिव और शक्ति को, जो व्यक्तावस्था में पुरुष और प्रकृति है काम और रति के रूप में व्यक्त किया है :—

> जो आकर्षण बन हँसत थी रति थी अनादि वासना वही।
> अव्यक्त प्रकृति उन्मीलन के अन्तर में उसकी चाह रही।
> हम दोनों का अस्तित्व रहा उस आकस्मिक आवर्तन सा।
> जिससे संसृति का बनता है आकार रूप के नर्तन सा।

रति ही वह मूल शक्ति है जिसकी सक्रियता से काम-पुरुष (प्रजापति या पशुपति शिव) एक ही अनेक बना और सृष्टि माया द्वारा विकसित हुई :—

> वह मूल शक्ति उठ खड़ी हुई अपने आलस का त्याग किये।
> परिमाणु बाल सब दौड़ पड़े जिसका सुन्दर अनुराग लिये।

परमशिव का विश्वात्मक-रूप तो उसकी उन्मीलितावस्था या उन्मेषावस्था का रूप है जो आभासित होता है। मनु को प्रातिभ ज्ञान होने के पूर्व ही उसका आभास मिलता था जो उनकी बुद्धि का स्मृत्याभास ही था :—

१—'सह एतवान् आस यथा स्त्रीपुमासौ सम्परिष्वक्तौ।'—बृह० उ० १–४–२।
"तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम् एवमेव अय पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किंचज वेद नान्तरम्।"
बृह० उ०–४–३–२१।

नील गरल से भरा हुआ यह चन्द्र कपाल लिये हो।
इन्हीं निमीलित ताराओं में कितनी शान्ति पिये हो।
अचल अनन्त नील लहरों पर बैठे आसन मारे।
देव कौन तुम झरते तन से श्रम कण से ये तारे।—कर्म सर्ग

शिव का यह उन्मीलित रूप माया के पंचकंचुकों और इच्छा-ज्ञान-क्रिया के प्रबल पाश में बँध कर संतत और निर्बाध नर्तन-परिवर्तन की अवस्था में रहता है क्योंकि सृष्टि ही परमशिव की भोगावस्था है :—

विश्व एक बंधन विहीन परिवर्तन तो है।
इसकी गति मे रवि शशि तारे ये सब जो है,
रूप बदलते रहते वसुधा जल निधि बननी।—संघर्ष सर्ग

शिव के विश्वोत्तीर्ण रूप का दर्शन प्रातिभ ज्ञान के उदय या गुरु की दीक्षा के बिना नहीं हो सकता। कामायनी में श्रद्धा मनु का पथ प्रदर्शन करनेवाली, उनका गुरु भी है। पहले तो वे उसके उपदेशों की अवहेलना करते हैं पर प्रातिभ ज्ञान और निर्वेद भावना के उदय होने पर उन्हे श्रद्धा के उपदेशों का महत्त्व समझ में आता है और वे सबको छोडकर शान्ति खोजने निकल पड़ते है। इस अवस्था में अर्थात् "मधुमती भूमिका" में पहुँचने पर उन्हें चैतन्य (परमशिव) का दर्शन नटेश के तांडव नृत्य के रूप में होता है। मातृमूर्ति और विश्वमूर्ति श्रद्धा के संस्पर्श के कारण ही व नीलाजन शून्य के अवकाश-पटल पर निरंजन को देखते हैं, माया की सत्ता पंचकचुक-का आवरण हट जाता है और आलोक-पुरुष दिखाई पड़ता है जो अपने विश्वोत्तीर्ण रूप में चित् और आनन्द के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

था अचल महा नीला अंजन;
भूमिका बनी वह स्निग्ध मलिन!

× ×

सत्ता का स्पन्दन चला डोल,
आवरण पटल की ग्रन्थि खोल!

× ×

थी शून्य मेदिनी सत्ता चित्।

× ×

लीला का स्पन्दित आह्लाद,
वह प्रभा पुंज चितिमय प्रसाद,
आनन्द पूर्ण तांडव सुन्दर!

मनु श्रद्धा के पीछे पीछे नटेश के चरणों की ओर ऊँचे से ऊँचे बढ़ते गये, एक बार फिर उनका मन चंचल हुआ, पाँव डगमगाये, पर श्रद्धा की प्रेरणा से फिर आगे बढे और उस अचिन्त्य, केवल अनुभवगम्य, मानसिक भूमिका में पहुँचे जहाँ देश-काल की सीमायें और भेद मिट गये थे । वहाँ उन्हें ज्ञान, क्रिया और इच्छा के विच्छिन्न लोक दिखाई पडे जो श्रद्धा की एक स्मिति से संश्लिष्ट हो गये। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में प्रातिभ ज्ञान और गुरु-दीक्षा के बाद अभ्यास द्वारा जिस सामरस्य की स्थिति में पहुँचने की बात कही गयी है वह यही है। 'रहस्य' सर्ग में इच्छा, ज्ञान, क्रिया इन तीनों शक्तियों का वर्णन प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार ही हुआ है । उस अवस्था में पहुँच कर मनु ने फिर शक्ति तरंगित महाकाल का तांडव नृत्य देखा और उसकी लय में अपने को विलीन कर दिया—

स्वप्न स्वाप जागरण भस्म हो इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे।
दिव्य अनाहत पर निनाद मे श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।

यही सामरस्य-अवस्था है जिसमे जीव आत्मस्वरूप में लीन होकर चिदानन्द-लाभ करता है। वहाँ सब प्रकार के भेद मिट जाते है, सब भावों मे एक ही शुद्ध भाव प्रतिष्ठित होता है और वैषम्यजन्य शाप-ताप से मुक्ति मिलती है—

शापित न यहाँ है कोई तापित पापी न यहाँ है।
जीवन-वसुधा समतल है समरस है जो कि जहाँ है।

× × ×

वैसे अभेद सागर में प्राणों का सृष्टि-क्रम है
सबमें घुल मिल कर रसमय रहता यह भाव चरम है। आनन्द-सर्ग

समरसता की अवस्था वस्तुतः मोह से मुक्ति की अवस्था है जिसमें द्वैत के भीतर ही अद्वैत की कल्पना की जाती है और इस तरह जो समरसानन्द उत्पन्न होता है उसमें द्वैत भी अमृतोपम बन जाता है, जीवात्मा-परमात्मा में मैत्री-भाव और एकत्व स्थापित होता है[1] और द्वयता विस्मृत हो जाती है। प्रसाद जी ने प्रत्यभिज्ञा दर्शन के इस सिद्धान्त को व्यावहारिक बना कर मनु द्वारा 'आनन्द' सर्ग मे व्यक्त कराया है:—

१—नरहरि—'द्वैत मोहाय बोधात् प्राक् प्राप्ते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्।
जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम्।
मित्रयोरिव दम्पत्योः जीवात्मपरमात्मनोः'। बोधसार—पृ० २००-२०१

सब की सेवा न पराई वह अपनी सुख-संसृति है।

× × ×

मैं की मेरी चेतनता सब को ही स्पर्श किये सी।

इस अद्वैत की स्थिति में परमशिव का व्यक्त रूप यह जगत्, जो पहले सुखःदुख से व्याकुल प्रतीत होता था, सत्य, शिव और सुन्दर महाचिति का विराट् विश्वात्मक रूप बन जाता है, मानव उस चैतन्य का दर्शन करने लगता है और विश्व में रहते हुए भी स्वयं चैतन्य बन जाता है:-

अपने सुख दुख से पुलकित यह मूर्त विश्व सचराचर।
चिति का विराट वपु मंगल यह सत्य सतत चिर सुन्दर।

× × ×

चेतन का साक्षी मानव हो निर्विकार हंसता सा,
मानस के मधुर मिलन में गहरे गहरे धंसता सा।
सब भेद भाव भुलवा कर दुख सुख को दृश्य बनाता,
मानव कह रे यह 'मै हूँ', यह विश्व नीड़ बन जाता। आनन्द-सर्ग।

प्रत्यभिज्ञा का अर्थ 'ज्ञात का फिर से ज्ञान' है। पुरुष 'चिन्दानन्द' रूप होते हुए भी 'पंचकचुकों' के कारण उस स्वरूप-ज्ञान को भूल जाता है। समरसता द्वारा वह फिर अपने उस चित् और आनन्द शक्ति वाले परमशिव-रूप का ज्ञान-लाभ करता है। इस ज्ञान के बाद जड़-चेतन सभी चैतन्य और आनन्द स्वरूप दिखाई पड़ने लगते हैं। मनु, श्रद्धा, इडा, कुमार तथा सारस्वत प्रदेश के अन्य निवासियों को, जो कैलास-यात्रा के लिये गये थे, सच्चिदानन्द-लाभ हुआ; वे जीवन्मुक्त हो गये:—

सुख सहचर दुःख विदूषक परिहासपूर्ण कर अभिनय।
सबकी विस्मृति के पट में छिप बैठा था अब निर्भय॥

× × ×

समरस थे जड़ या चेतन सुन्दर साकार बना था।
चेतनता एक विलसती आनन्द अखण्ड घना था॥ आनन्द-सर्ग।

इस तरह कामायनी की विचारधारा पर प्रत्यभिज्ञा दर्शन का गहरा प्रभाव दिखाई पड़ता है किन्तु प्रसाद ने दार्शनिकता को काव्यात्मकता में इस प्रकार घुला-मिला दिया है कि प्रत्यभिज्ञा दर्शन से पूर्णतया अपरिचित व्यक्ति भी केवल विशुद्ध काव्य की दृष्टि से कामायनी को पढकर आनन्द उठा सकता है; हाँ उसकी दृष्टि सूक्ष्म और मानसिक स्तर ऊँचा अवश्य होना चाहिये। जिस तरह रामचरितमानस के सभी पाठक विशिष्टाद्वैत के जानकार नहीं होते फिर भी

'मानस' के व्यावहारिक दर्शन को समझते हैं, उसी तरह कामायनी में भी व्यावहारिक दर्शन है जो सभी पाठकों के लिए बोधगम्य है। इसका कारण यही है कि प्रसाद ने कामायनी में न तो प्रत्यभिज्ञा दर्शन की सभी बातों को अपनाया है, न उसकी विवेचनात्मक और तर्कमयी पद्धति अपनायी है और न त्रिक्-शास्त्र के ग्रंथों की उद्धरणी उपस्थित करके पांडित्य का आडम्बर खड़ा किया है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन से उन्होंने प्रधानरूप से चार बातें ली हैं, १. शिव-तत्त्व २. शक्ति-तत्त्व और ज्ञान-इच्छा क्रिया की शक्तियाँ ३. पचकञ्चुक और मन-बुद्धि-अहंकार का सिद्धान्त ४. समरसता और चिदानन्द-लाभ का सिद्धान्त। वस्तुतः प्रत्यभिज्ञा दर्शन का सार तत्त्व भी यही है। प्रसाद जी ने दार्शनिक ऊहापोह में न पडकर उस सार तत्त्व को व्यावहारिक रूप प्रदान किया है अर्थात् विवेचनात्मक पद्धति से न कह कर कथात्मक रूप मे उन सिद्धान्तों को जीवन के भीतर व्यवहृत होते हुये दिखाया है। अतः गूढ़ और सूक्ष्म विचारों का प्राधान्य होते हुये भी कामायनी मे सहजता, अनुभूति की सच्चाई और भावात्मकता का पूर्ण योग दिखाई पडता है। उसके विचार कृत्रिम या 'मानस' के आदि और अन्त के दार्शनिक विवेचनों की तरह अलग से चिपकाये हुये नहीं प्रतीत होते। उनका उद्गमस्थल भी कवि का वह हृदय ही है जहाँ से उसकी भावनायें उद्भूत हुई हैं। इस तरह कामायनी का दार्शनिक पक्ष इतना सशक्त, स्वाभाविक और गम्भीर है कि उसमें उसके महान उद्देश्य के अनुरूप गुरुत्व की प्रतिष्ठा सहज ही हो गयी है।

कामायनी में विचारों की जितनी ऊँचाई दिखाई पड़ती है, उसकी भावनाओं में उतनी ही गहराई भी है। अतः जिस तरह उसका दार्शनिक पक्ष उसके गुरुत्व का कारण है उसी तरह उसका मनोवैज्ञानिक पक्ष उसके गाम्भीर्य का कारण है। विचारों की दृष्टि से कामायनी का प्रधान प्रतिपाद्य-निर्मल ज्ञान है तो भावों की दृष्टि से परिशोधित काम और श्रद्धा है। अलंकार-शास्त्र में शृंगार का स्थायी भाव रति है पर प्रसाद जी ने रति-भाव को अत्यत व्यापक बनाकर उसे 'काम' कहा है। यह 'काम' पुरुष की उद्दाम जिजीविषा का व्यक्त रूप है। यही परमशिव की आदि शक्ति है जो इच्छा, क्रिया, ज्ञान, चित् और आनन्द आदि अनेक रूप धारण करके विश्व का सृजन और विकास करती है। यदि इस मूल सहजात वृत्ति का, जैसी वह है उसी रूप में न स्वीकार करके, उन्नयन और परिशोधन किया जाय, उसे 'कला' का रूप प्रदान किया जाय तो वही अमृतफलदायिनी बन जाती है। प्रसाद ने इसी पद्धति द्वारा कामायनी मे 'काम' के निम्नतम स्वरूप से उसके उदात्ततम

स्वरूप तक के विकास का क्रम दिखलाया है। उसमें काम का अधम रूप ईर्ष्या, द्वेष, शारीरिक कामवासना, अहंकार, स्वार्थ, स्वेच्छाचार आदि में, उसका मध्यम रूप आशावाद, दाम्पत्य प्रेम, गार्हस्थ्य धर्म, समाज-संघटन आदि में और उत्तम रूप श्रद्धा, विश्वास, सेवा-धर्म, आध्यात्मिक विकलता और जिज्ञासा सामरस्य-भावना और चिदानन्द की उपलब्धि के रूप में दिखाया गया है। काम का विकास प्रथम अवस्था में विशुद्ध सहजात-वृत्ति, दूसरे में काम-कला और तीसरे में परिशुद्ध और सिद्धि-प्रदायक साधन के रूप में दिखाया गया है। इस तरह काम को प्रसाद जी ने मोक्ष का प्रधान साधन बना कर उपस्थित किया है। काम के इस स्वरूप को उन्होंने वैदिक साहित्य, आगम तन्त्र और फ्रायड के मनोविश्लेषणशास्त्र से ग्रहण किया है। उन्होंने स्वयं लिखा है कि "काम का धर्म में अथवा सृष्टि के उद्गम में बहुत बड़ा प्रभाव ऋग्वेद के समय में ही माना जा चुका है 'कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।' यह काम प्रेम का प्राचीन वैदिक रूप है। प्रेम से यह शब्द अधिक व्यापक भी है। जब से हमने प्रेम को 'लव' या 'इश्क' का पर्याय मान लिया, तभी से 'काम' इस शब्द की महत्ता कम हो गयी। सम्भवतः विवेकवादियों की आदर्श-भावना के कारण इस शब्द से केवल स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध के अर्थ का ही भान होने लगा। किन्तु काम मे जिस व्यापक भावना का समावेश है, वह इन सब भावों को आवृत कर लेता है। इस वैदिक काम की आगम-शास्त्रों में, काम-कला के रूप में उपासना भारत में विकसित हुई थी। यह उपासना सौन्दर्य, आनन्द और उन्मद भाव की साधना प्रणाली थी।"[1] उन्मद भाव या माधुर्य-भाव से परमात्मा की उपासना सूफियो और कृष्णोपासक भक्तों में प्रचलित थी। प्रसाद ने उपासना का वह स्वरूप नहीं अपनाया है। उनकी साधना-पद्धति सहज जीवन और सहज आनन्द की है जिसमें परिशुद्ध काम श्रद्धा बन कर जीवन को प्रेरणा देता है। उन्होंने कामायनी में स्पष्ट कर दिया है कि देवों के विनाश का कारण उनकी निम्न कोटि की कामोपासना या शरीरोपासना थी, असुरों के नाश का कारण उनको प्राण-पूजा थी; एक मन के दास और दूसरे बुद्धि के दास थे, प्रलय के बाद मनु ने श्रद्धा के योग से मानव-जाति में आनन्दोपासना की पद्धति शुरू की जिसका प्रधान साधन श्रद्धा या निष्ठा मूलक विश्वास था। इस तरह कामायनी में काम का चरम उदात्तीकरण

१. जयशंकरप्रसाद—'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध'—तृतीय-संस्करण, प्रयाग २००५, पृ० ४७।

श्रद्धा के रूप में हुआ है जिसका अंतिम फल चरम आनन्द है और जिसे आध्यात्मिक शब्दावली में 'सच्चिदानन्द-धाम' कहा जाता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कामायनी में मधुचर्या का अतिरेक देखा है, पर मधुचर्या क्या कालिदास के कुमारसंभव और मेघदूत में कम है? कामायनी की मधुचर्या रीति कालीन शृङ्गारी कवियों जैसी नहीं है; वह सूर-मीरा की माधुर्य भावना जैसी विशुद्ध आदर्शवादी भी नहीं है। उन दोनों में काम को दाम्पत्य प्रेम तक ही सीमित कर दिया गया है। प्रसाद ने काम को व्यापक और परिमार्जित बनाकर उसे तुलसी की दास्य भक्ति के समकक्ष रख दिया है क्योंकि मानस और कामायनी दोनों ही में मूल प्रेरणा शक्ति श्रद्धा ही है जो काम का ही उदात्तकृत भाव है। कालिदास से भी काम का वैसा उदात्त रूप नहीं दिखाई पड़ता जैसा कामायनी में है। कुमारसंभव में एक ओर तो घोर शारीरिक काम-केलि का वर्णन हुआ है, दूसरी ओर उसे तपःपूत और अलौकिक भी बना दिया गया है क्योंकि उसमें काम के आलम्बन दिव्य व्यक्ति हैं। शाकुन्तल में अवश्य वासनात्मक काम की विशुद्ध प्रेम में परिणति दिखाई गयी है जिसमें तपस्या और साधना की आग में काम का कलुष जल गया है और उसका विशुद्ध प्रेमरूप निखर आया है। फिर भी कुमारसंभव और शाकुन्तल में काम का स्वरूप सीमित ही है, वह स्थूल शारीरिक वासना से निर्मल प्रेम मे विकसित होकर ही रह जाता है। किन्तु कामायनी का 'काम' उससे बहुत आगे बढ़ा हुआ है। कामायनी में प्रारंभ में देवों की काम-वासना का दुष्परिणाम और मनु की तद्विषयक चिन्ता का वर्णन यही संकेत करता है कि शारीरिक काम का स्थूल स्वरूप कवि को ग्राह्य नहीं है। 'श्रद्धा' सर्ग में काम का अविकृत और सहज रूप प्रस्फुटित होता है और यही से उसकी दो धारायें हो जाती हैं। एक धारा ऊर्ध्वगामी है और श्रद्धा उसका आश्रय है। दूसरी धारा निम्नगामी है जिसके आश्रय मनु हैं। निम्नगामी धारा वासना, पशु-बलि, काम यज्ञ, ईर्ष्या, बुद्धिवाद, कर्म-व्याकुलता, उच्छृङ्खलता और संघर्ष में अपने को अभिव्यक्त करती है और दूसरी धारा सात्विक दाम्पत्य प्रेम, लज्जा, विशुद्ध काम, सन्तति-प्रेम, विरह-वेदना, सेवा-भावना, विश्वकल्याण-भावना, विश्व-मैत्री आदि में अपना विस्तार करती हुई अन्त में पहली धारा को अपने में समेट लेती है। गंगा की पावन धारा में गंदा जल भी मिल कर जैसे पवित्र बन जाता है, उसी तरह श्रद्धा के साधन-पूत उदात्त काम में इतना तीव्र आकर्षण है कि मनु का अधोमुखी काम भी बरबस खिंच कर उसमें मिल जाता और पवित्र बन जाता है। इस तरह कामायनी में काम का बड़ा ही व्यापक

प्रसार दिखाया गया है; वह वासना से आनन्द तक प्रसरित है। उसका एक छोर मिट्टी की गहराई में और दूसरा आदर्श के आकाश की नीलिमा में है। महाकवि दान्ते ने 'डिवाइना कामेडिया' में प्रेम की शक्ति से धरती और स्वर्ग के बीच की दूरी मिटा दी है, पर प्रसाद ने 'काम' की शक्ति से स्वर्ग को ही धरती पर उतार दिया और जीवन को स्वर्गीय आनन्द से भर दिया है। श्रद्धा का ही दूसरा नाम कामायनी है। पर प्रसाद ने अपने काव्य का नाम 'कामायनी' केवल इसलिए नहीं रखा है कि वह नायिका प्रधान महाकाव्य है। इस नामकरण का प्रधान कारण यह है कि कामायनी में काम का व्यापक प्रसार दिखाया गया है। वस्तुतः प्रसाद ने काम को कामना के रूप में लिया है जिससे सभी स्थायी और संचारी भाव इच्छाजन्य होने के कारण उसके भीतर समाविष्ट हो जाते है। इस व्यापकता में गहराई भी बहुत अधिक है। प्रसाद ने जिस भावना को लिया है उसके अन्तर्तम में प्रवेश कर उसके मर्म का उद्घाटन किया है। कवि की अनुभूतियों की सच्चाई और तीव्र मनोवैज्ञानिक दृष्टि के कारण कामायनी की भावाभिव्यक्तियों में मर्मस्पर्शिता, गम्भीरता और ताजगी बहुत अधिक है। काम की प्रधानता होने से कामायनी में वीरता, क्रोध, भय, जुगुप्सा आदि अन्य भावों की अभिव्यक्ति के लिए अवकाश नहीं था। पर शोक, निर्वेद, वात्सल्य, करुणा, क्षमा, उदारता, ईर्ष्या, स्पर्धा आदि भावों की काम के विविध रूपान्तरों के रूप में समुचित अभिव्यक्ति हुई है। इस तरह कामायनी में नाना भावनाओं का वैविध्यपूर्ण विस्तार तो नहीं है, पर एक ही भाव 'काम' का जितना व्यापक प्रसार हुआ है और उसमें जितनी अधिक गहराई है इतनी अन्य किसी भी हिन्दी के महाकाव्य में नहीं है। इस दृष्टि से कामायनी की तुलना केवल सूरसागर से की जा सकती है यद्यपि दोनों के दृष्टिकोण में बहुत अन्तर है।

महाकाव्योचित महत्ता की दृष्टि से भी हिन्दी में रामचरितमानस के अतिरिक्त अन्य किसी काव्य की तुलना कामायनी से नहीं की जा सकती। कामायनी के काव्य-विषय, चरित्र और उद्देश्य, तीनों में यह महानता समान रूप में दिखाई पड़ती है। उद्देश्य की महानता पहले दिखाई जा चुकी है। चरित्रों के सम्बन्ध में आगे विचार किया जायगा। जहाँ तक काव्य विषय का सम्बन्ध है, उसकी महानता में सन्देह नहीं किया जा सकता। प्रलय के बाद मनु द्वारा मानव-सृष्टि और नवीन मानव-संस्कृति का विकास ही कामायनी का प्रधान वर्ण्य विषय है पर इस कथा के माध्यम से उसमें मानव के मन की अतल गहराइयों में निहित रहस्यों का उद्घाटन, हृदय की भावनाओं का उदात्तीकरण और

शाश्वत मानव-मूल्यों की प्रतिष्ठा भी की गयी है। इस तरह प्रसाद ने प्रथम कोटि का विषय लेकर प्रथम कोटि के महाकाव्य की रचना की है। अपनी विराट् कल्पना द्वारा उन्होंने मानव जाति और मानव-मन के विकास के इतिहास को कथा का रूप दिया है और इस तरह देवत्व से भी आगे बढ़ी हुई, सुख-दु:ख समन्वित और जीवनास्थागर्भित मनुष्यता की पूर्णता का आदर्श चित्र उपस्थित किया है। अतः कामायनी के काव्य-विषय की महत्ता स्वतः सिद्ध है।

३. महत्कार्य और समग्र युग-जीवन का चित्रण

सुखान्त महाकाव्यों में भी नाटकों की भाँति 'कार्य' और 'फलागम' का विधान होता है। कामायनी को कथा में कुछ ऐसी विचित्रता है कि वह सुखान्त या दुःखान्त दोनों ही नहीं है। आध्यात्मिक दृष्टि से कामायनी का कार्य शिवत्व की प्राप्ति या चिदानन्द-लाभ है। वह सुख-दुःख दोनों से परे की 'समरसानन्द' की स्थिति है। कार्यावस्थाओं को दृष्टि से यही उसका फलागम भी है। सुखान्त काव्यों में नायक के अभ्युदय को ही 'कार्य' या 'फल' के रूप में उपस्थित किया जाता है। पर कामायनी में नायक का अभ्युदय नहीं, उसका निःश्रेयस दिखाया गया है। लौकिक दृष्टि से तो कामायनी में मनु का अभ्युदय हुआ ही नहीं है। सारस्वत नगर के विकास, व्यवस्थापन और नियमन तक तो वे अभ्युदय की ओर बढ़ते हैं, पर इड़ा पर अधिकार करके स्वेच्छाचारी और विलासी राजा बनने की उनकी दुर्वासना के कारण देवगण और समस्त प्रजा जन उनके विरोधी हो जाते हैं। भयंकर संघर्ष होता है, मनु पराजित और घायल होकर मुमूर्ष हो जाते हैं और श्रद्धा की सेवा से स्वस्थ होने के बाद वहाँ से भाग खड़े होते हैं। इस तरह बाह्य क्रियात्मक जीवन में मनु पूर्णतया असफल होते हैं, उनका अभ्युदय नहीं होता। किन्तु उनके भीतर जो सत् और असत् का संघर्ष प्रारम्भ ही से चल रहा था वह यहाँ से एक नवीन मोड़ लेता है, उनमें निर्वेद-भावना उदित होती है और उनका सत्पक्ष विशेष प्रबल हो उठता है। यहाँ से अभ्युदय से आगे निःश्रेयस की ओर बढ़ते हुए दिखाई पड़ते हैं। अतः वे शिव के विश्वोत्तीर्ण रूप को प्रथम बार देखकर निःश्रेयस के पथ पर तीव्र गति से चल पड़ते हैं और श्रद्धा के पथ-प्रदर्शन के फलस्वरूप कैलास-लोक में पहुँच कर त्रिपुर-दाह और परमशिव का पुनः तांडव नृत्य देखते हैं। इस प्रकार वे 'मधुमती भूमिका' में पहुँचकर सत्य, शिव, सुन्दर चिदानन्द में लीन हो जाते हैं। यही सुख-दुःख से परे, अनुकूल और प्रतिकूल वेदना से

ऊपर उठा हुआ, पूर्ण आनन्द मनु का नि.श्रेयस या 'ब्रह्मानन्द' है, यही कामायनी का कार्य या फल है।

प्रसाद ने इस आनन्द को वैयक्तिक ही नहीं रखा, उसे सामाजिक भी बनाया है। कामायनी में आध्यात्मिक क्षेत्र का 'ब्रह्मानन्द' या 'चिदानन्द' ही व्यावहारिक क्षेत्र का समरसानन्द या साम्यभावनाजन्य सामूहिक आनन्द भी है। उसमें उस भावी समाज की कल्पना की गयी है जिसमें समस्त विरोधों और संघर्षों की समाप्ति हो गयी रहेगी तथा मानव-जाति की अहमहमिका वृत्ति शमित हो जायगी। उसकी इच्छा-ज्ञान-क्रिया शक्तियों में पूर्ण सामजस्य स्थापित हो जायगा और वह भोग में कर्म तथा कर्म में भोग करती हुई सीमित सुख-दुःखों के बन्धनों से मुक्त होकर असीम आनन्द प्राप्त करेगी। ऐसे समाज में कोई शापित तापित, धनी, गरीब, अच्छा या बुरा नहीं होगा अर्थात् सब समान रूप से आनन्दित होंगे। यह कल्पना तुलसी के रामराज्य की कल्पना के समान ही विराट् और सर्वकल्याणाभिनिवेशी है। अत. जिस तरह रामराज्य की स्थापना ही 'मानस' का महत्कार्य है उसी तरह कामायनी का महत्कार्य आनन्द-राज्य की स्थापना है।

यदि महत्कार्य का अर्थ कोई ऐसी बड़ी या महत्त्वपूर्ण घटना माना जाय जो महाकाव्य की कथा का चरम विन्दु हो तो इस दृष्टि से भी कामायनी का महत्कार्य मानवीय पूर्णता की सिद्धि ही है। प्रलय के बाद सुर-संस्कृति नष्ट हो चुकी है और देव-जाति के बचे हुए तीन व्यक्तियों-मनु, श्रद्धा और इड़ा-के ऊपर नियति ने यह उत्तरदायित्व डाल दिया है कि वे नवीन समाज और संस्कृति का निर्माण करें। मनु को इस बात का ज्ञान है कि सुर संस्कृति के विनाश का कारण उसका बुद्धिहीन उच्छृङ्खल भोगवाद था। प्रलय में असुर संस्कृति भी नष्ट हुई थी और उसके नाश का कारण दूसरा अतिवाद भाग्यहीन बौद्धिक प्राणोपासना—था। मनु को इन दोनों अतिवादों को छोड़कर मध्यम मार्ग निकालना और प्रत्येक दृष्टि में पूर्ण मानव-संस्कृति का निर्माण करना था। इसके लिये उन्होंने प्रयोग शुरू किये। कभी काम-यज्ञ का सहारा लिया, कभी वासना का पथ पकड़ा, कभी तप किया, कभी इड़ा के सहारे कर्म-मार्ग में प्रवृत्त हुए पर आन्तरिक और बाह्य विरोधों और वैषम्य का शमन नहीं हुआ, शान्ति उनसे दूर ही रही। अन्त में श्रद्धा का अवलम्बन लेकर उन्होंने मानव की पूर्णता का रास्ता खोज लिया। इस तरह पथ की खोज में भटकते हुए मनु को जो निःश्रेयस का पथ प्राप्त हुआ, वही कामायनी का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य माना जायगा। यह महत्त्वपूर्ण कार्य त्रिपुर-दाह की घटना है, उसके पूर्व

की कोई बात मनु को शान्ति नही दे पाती, अतः उनके प्रयोग भी नहीं रुकते पर अन्त में त्रिपुरदाह में उन्हें गौतम बुद्ध की तरह प्रकाश प्राप्त होता है। पर इस सिद्धि के बाद वे गौतम की तरह शुद्ध नहीं बनते बल्कि आनंदमय बन जाते हैं। अतः 'संबुद्धत्व' जिस प्रकार गौतम बुद्ध के जीवन की अत्यन्त महान घटना है उसी तरह कामायनी में मनु की 'पूर्णत्व-प्राप्ति' उनके जीवन की सबसे महान घटना है। त्रिपुरदाह, इच्छा-क्रिया-ज्ञान का समन्वय और चिदानन्द की उपलब्धि ही वह महान घटना है जिसके लिए कामायनी की कथा के अन्य सभी कार्यः—व्यापारों की योजना हुई है। 'मानस' में राक्षसों की पराजय और रावण बध के बाद रामराज्य के रूप में नायक का अभ्युदय दिखाया गया है अर्थात् उसमें महान घटना राम-रावण युद्ध है पर कामायनी में इसकी उल्टी बात दिखाई पडती है। उसमें इड़ा-मनु सघर्ष के बाद मनु पराजित होते हैं पर मानसिक सघर्ष में उनके निर्वेद भाव की विजय होती है जिसका फल उनकी पूर्णता की सिद्धि है अतः इडा-मनु-संघर्ष उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना मनु के भीतर का सत्—असत्पक्षों का द्वन्द्व। उनके दो विरोधी व्यक्तित्वों का संवर्ष महत्त्वपूर्ण है। इस संघर्ष का चरम बिन्दु तब दिखाई पड़ता है जब वे इड़ा के पीछे पीछे कैलास की ओर जाते समय फिर पीछे की ओर लौटना चाहते हैं:—

लौट चलो इस वात चक्र से मै दुर्बल अब लड़ न सकूँगा।
श्वास रुद्ध करने वाले इस शीत पवन से अड़ न सकूँगा।
मेरे हाँ वे सब मेरे थे जिनसे रूठ चला आया हूँ।
वे नीचे छूटे सुदूर पर उनको भूल नहीं पाया हूँ।—रहस्य सर्ग

और उसी समय इच्छा-ज्ञान-क्रिया के आलोक बिन्दु—त्रिदिक् शिव—दिखाई पड़ते है जो विश्लिष्ट होकर आंतरिक और बाह्य सभी प्रकार के संघर्षों का कारण बनते है :—

त्रिदिक विश्व आलोक बिन्दु भी तीन दिखाई पड़े अलग वे।
त्रिभुवन के प्रतिनिधि थे मानो वे अनमिल थे किन्तु सजग थे।
रहस्य सर्ग

इस तरह पाश्चात्य नाटको की कार्यावस्थाओं की दृष्टि से कामायनी—कथा में संघर्ष का चरम बिन्दु त्रिपुर दर्शन है। त्रिदिक्-विश्व का दाह ही उस संघर्ष का शमन और मनु की आध्यात्मिक विजय है जो पाश्चात्य नाटकों की निगति या अवसान के ढंग का नहीं बल्कि भारतीय नाटकों के फलागम के ढंग का है।

महाकाव्य में मानव-जीवन का चित्रण उसकी समग्रता में होना चाहिये। कामायनी रूपककथात्मक और प्रगीतात्मक शैली का अलंकृत महाकाव्य है, अतः

उनमें जीवन और जगत के उतने अधिक पक्षों और व्यापारों का चित्रण नहीं हुआ है जितने का रामायण, महाभारत आदि विकसनशील महाकाव्यों या पउमचरिउ और रामचरितमानस जैसे पौराणिक शैली के चरितात्मक महाकाव्यो में हुआ है। संस्कृत के शास्त्रीय शैली के महाकाव्यों में कवियों का ध्यान नायक के पूरे जीवन पर नहीं बल्कि किसी एक महती घटना या नायक के जीवन के किसी एक पक्ष पर रहता है। अत: उनमें समग्र जीवन के नानाविधि कार्यों का वैविध्य उतना अधिक नहीं होता जितना सीमित अवधि के भीतर घटित होने वाली घटनाओं का विस्तृत वर्णन, अन्य प्रासंगिक वस्तु व्यापारों की योजना तथा भावाभिव्यक्ति की गंभीरता और व्यापकता होती है। इस दृष्टि से कामायनी भी कुमारसंभव, शिशुपालवध और किरातार्जुनीय जैसे शास्त्रीय महाकाव्यों की श्रेणी में आता है। उन्ही की तरह इसमें भी कवि का उद्देश्य नायक का पूर्ण जीवन-चरित उपस्थित करना नहीं बल्कि उसके जीवन की एक सीमित अवधि की घटनाओं का वर्णन करना है। चरितात्मक काव्यों में कथा की काल-परिधि बहुत विस्तृत होती है, अत. स्वभावतः उनमें घटनाओं का वैविध्य और आवान्तर कथाओं की योजना होती है पर शास्त्रीय शैली के इस प्रकार के काव्यों में घटनाओं का चुनाव किया जाता है और कलात्मक ढग से उन्हे इस तरह सजो कर रखा जाता है कि उनमें निर्मित कथा अपने आप में जीवन का एक सपूर्ण चित्र उपस्थित करती है। इस सीमित काल-परिधि के भीतर ही उस कथा मे जीवन के सभी पक्षों का प्रसंगानुसार उद्घाटन किया जाता है और इस तरह वस्तु-वर्णन और भावव्यंजना-संबधी महाकाव्य के लक्षणो का रूढ़ि रूप में पालन किया जाता है। कामायनी में सीमित काल-परिधि और घटनाओं के कलात्मक चुनाव में तो कुमारसंभव, शिशुपालवध आदि महाकाव्यों से समानता दिखाई पड़ती है पर वस्तु-वर्णन और भाव व्यजना में शास्त्रीय महाकाव्यों की रूढ़ियों का पालन न करके स्वतंत्र पथ अपनाया गया है। वह घटनाप्रधान और इतिवृत्तात्मक महाकाव्य नही है और न स्थूल घटना की योजना द्वारा कथा कहना ही कामायनी का लक्ष्य है। वह एक भावप्रधान मनोवैज्ञानिक महाकाव्य है, अत. स्वभावतः उसमे मानव मन के विविध पक्षों का उद्घाटन और विशद व्याख्या ही प्रधान वस्तु है, घटना-वैविध्य का उसमें अभाव है।

कामायनी की कथा जलप्रलय के महानाश की घटना से प्रारम्भ होती है और इड़ा, कुमार आदि की कैलास-यात्रा तथा उनकी आनन्दानुभूति के वर्णन से समाप्त होती है। उसकी प्रमुख घटनायें ये है :—

जल-प्रलय, मनु की मत्स्य द्वारा रक्षा, मनु की चिन्ता, श्रद्धा से भेंट और प्रणय-सम्बन्ध, मनु का पशु-यज्ञ, श्रद्धा का गार्हस्थ्य जीवन, मनु द्वारा श्रद्धा का त्याग और सारस्वत प्रदेश में इडा से भेंट, काम का शाप, सारस्वत प्रदेश में नवीन-जीवन विधि की व्यवस्था, इडा-मनु-सघर्ष और मनु का घायल होना, श्रद्धा द्वारा मनु की खोज और पुनर्मिलन, मनु का सारस्वत प्रदेश से पलायन, श्रद्धा से पुन. भेंट और नटेश का तांडव नृत्य देखना, श्रद्धा का अनुगमन करते हुए कैलाश की यात्रा, त्रिपुर-दाह, पुनः तांडव नृत्य दर्शन और चिरन्तन सत्य आत्मानन्द की उपलब्धि, इडा, कुमार आदि की कैलासयात्रा और मनु द्वारा उन्हें समरसता का उपदेश। इन घटनाओं के घटित होने का काल कामायनी में बताया नही गया है पर अनुमानत. ये सभी घटनायें बीस-पचीस वर्ष या इससे भी कम समय के भीतर घटित हुई होगी। अर्थात् मनु के जीवन के मध्य भाग की कथा ही कामायनी में कही गयी है। उनके प्रलय के पूर्व सुर-जीवन और कैलास में जीवनमुक्ति प्राप्त होने के बाद के जीवन से कामायनी का कोई सम्बन्ध नहीं है। इस काल-परिधि के भीतर भी मनु का न जाने कितने लोगों से सम्पर्क होगा, कितनी और छोटी-बड़ी घटनायें घटित हुई होंगी पर उनकी कल्पना भी प्रसाद ने नहीं की है। उन्होंने केवल ऐसी घटनाओं का सकलन किया है जो उनके काव्य-विषय से सीधे सम्बन्धित है और जो महत्कार्य तक कथा को आगे बढाने तथा मनु और श्रद्धा की चारित्रिक विशेषताओं को प्रस्फुटित करने में प्रत्यक्ष रूप से सहायक है। अत: कलात्मक संकलन-प्रवृत्ति के कारण कामायनी में घटनाओं का बाहुल्य नहीं हो पाया है। घटना-बाहुल्य न होने का एक कारण यह भी है कि प्रसाद जी घटनाओं से अधिक उनके भीतर निहित भावसत्य को महत्त्व देते है। इसलिए उसमें घटना वैविध्य तो नहीं है पर भाव-सत्यों की व्यापकता और गहराई अवश्य है जो मनु, श्रद्धा और इडा तक ही सीमित नही है बल्कि जो प्रत्येक युग के समष्टि-मानव में समान रूप से वर्तमान रहते हैं। अतः कामायनी में समग्र जीवन का चित्रण घटनाओं के माध्यम से नहीं, भावनाओं के माध्यम से हुआ है।

जीवन की समग्रता का अर्थ यह भी है कि कवि पात्रों को जीवन की प्रत्येक परिस्थिति में रखकर उनकी बाह्य और आन्तरिक क्रिया प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति करे और मानवीय संबंधों के जितने रूप हो सकते हैं सबको मर्मस्पर्शी ढंग से उद्घाटित करे। इस प्रकार के व्यापक जीवन-चित्र रामायण-महाभारत और इलियड-ओडेसी जैसे कुछ इने-गिने काव्यों को छोडकर अन्य किसी महाकाव्य में नहीं मिलते। अत: महाकाव्य के इस लक्षण का अर्थ इतनी ही दूर तक सीमित

रखना होगा कि उसमें जीवन का एकांगी या अपूर्ण चित्रण नहीं होना चाहिये । पूर्णता सापेक्ष्य शब्द है । प्रत्येक युग मे जीवन की पूर्णता का स्वरूप उस युग की परिस्थितियों के अनुरूप भिन्न हो सकता है । कामायनी के संबध में यह बात सदैव ध्यान में रखने की है कि उसमें एक ऐसे काल-खण्ड की कथा कही गयी है जिसमें पुरातन मानव-सृष्टि प्रायः नष्ट हो चुकी थो और नवीन मानव-समाज की रचना हो रही थी । वह युग परवर्ती महाभारत-रामायण या 'मानस' के युगों की तुलना में निश्चित रूप से अपूर्ण या कम विकसित रहा होगा । अतः कामायनी पर यह दोषारोपण निराधार होगा कि उसमें भाई भाई, पिता-पुत्र, गुरु-शिष्य, पति पत्नी, सास-वधू, दास-स्वामी और राजा-प्रजा आदि के विविध संबंधों तथा सामाजिक जीवन के नाना कार्य व्यापारों की योजना और वर्णन नही हुआ है । प्रजापति मनु ने स्वय नवीन मानव-जाति का प्रारम्भ किया अतः उन्हें उक्त सम्बन्धों और परिस्थितियों के बीच रखना नितान्त अस्वाभाविक होता । क्या कामायनी-कथा में मनु के भाई, पिता माता या गुरु की कल्पना की जा सकती है । वस्तुतः मनु के युग को उस आदिम युग के रूप में लेना होगा जिसमें जन-संख्या विरल थी तथा नवीन सामाजिक सबंधों को स्थापना और शाश्वत जीवन मूल्यों की खोज हो रही थी । वैदिक काल के वातावरण में उसका कुछ आभास पाया जा सकता है । ऐसे युग के जीवन के चित्रण में समग्रता का अर्थ सम्बन्ध-विस्तार या घटना-बहुलता नही बल्कि भाव-विस्तार और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की प्रधानता ही हो सकती है । कामायनी में यही बात दिखाई पड़ती है ।

कहा जा चुका है कि वस्तु-वर्णन और भाव-व्यञ्जना में प्रसाद ने महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों और चिराचरित रूढ़ियो का पालन नहीं किया है । पर उनकी कथा के वृत्त में स्वाभाविक और प्रासंगिक रूप से जिन वस्तु-व्यापारों और भावानुभूतियो के वर्णन का अवसर मिला है, उनमें पर्याप्त वैविध्य और मर्मस्पर्शिता दिखाई पड़ती है । फलस्वरूप आलंकारिकों द्वारा निर्दिष्ट बहुत से वस्तु-व्यापारों और भावों का समावेश कामायनी में अनायास हो गया है ।

आलंकारिकों के अनुसार महाकाव्य में कुमारोदय, विवाह, राज्याभिषेक तथा उनमें सम्बन्धित उत्सवों का वर्णन होना चाहिये । कामायनी में कुमारोदय और विवाह से सम्बन्धित बातों का बड़े ही मनोवैज्ञानिक और नवीन ढंग से वर्णन हुआ है यद्यपि उस प्रसंग में किसी उत्सव या रीति-रिवाज का वर्णन नहीं हुआ है । मनु और श्रद्धा मिलते हैं, परस्पर आकर्षित होते हैं, मैत्री

सम्बन्ध स्थापित होता है और फिर वे प्रणय-सूत्र में आबद्ध हो जाते हैं। विवाह का यह रूप जल-प्रलय के बाद की परिस्थिति में अत्यन्त स्वाभाविक प्रतीत होता है। वहाँ न तो विवाह कराने वाले पुरोहित थे न बाराती थे, न ज्योनार, नृत्य, गान, वाद्य आदि का प्रबन्ध था और न सजावट करने के लिए नगर और महल था। निष्कर्ष यह कि विवाह का यह स्वरूप आदिम मानव जाति में प्रचलित था और आज भी पाश्चात्य देशों में प्रचलित है। अतः मनु और श्रद्धा का परस्पर समर्पण-मात्र ही उनका विवाह है :—

श्रद्धा—समर्पण लो सेवा का सार सजल संसृति का यह पतवार
आज से यह जीवन उत्सर्ग इसी पद तल में विगत विकार।
श्रद्धा सर्ग

मनु—आज ले लो चेतना का यह समर्पण दान।
विश्व रानी! सुन्दरी नारी जगत की मान। वासना सर्ग

विवाह के बाद कुमारोदय का प्रसंग आना स्वाभाविक है। इसका वर्णन भी कामायनी में आदिम मानव-समाज की परिस्थितियों को ध्यान में रख कर अत्यन्त मनोवैज्ञानिक ढंग से हुआ है। कुमारोदय के प्रसंग में गर्भवती स्त्री और उसकी दोहद-कामना का वर्णन अनेक प्राचीन काव्यों में मिलता है। प्रसाद जी ने गर्भवती स्त्री के रूप-सौन्दर्य और भावी शिशु के लिए उसके मन में उठने वाली भावनाओं का विस्तार से वर्णन किया है :—

केतकी गर्भ सा पीला मुँह आँखों में आलस भरा स्नेह
× × × ×
मातृत्व बोझ से झुके हुए बँध रहे पयोधर पीन आज।
दुर्भर था गर्भ, मधुर पीड़ा झेलती जिसे जननी सलील।

भावी शिशु के सम्बन्ध में स्त्रियाँ जो कल्पना करती हैं उसका भी वर्णन कामायनी में अत्यन्त मर्मस्पर्शी ढंग से हुआ है :—

झूले पर उसे झुलाऊँगी दुलरा कर लूँगी बदन चूम
मेरी छाती से लिपटा इस घाटी में लेगा सहज घूम
ईर्ष्या सर्ग

इसके बाद पुत्री-जन्म और उससे सम्बन्धित उत्सव आदि का वर्णन न करके शिशु-क्रीडा का वर्णन हुआ है। अन्य वातावरण में अकेली नारी ने पुत्र-प्रसव किया, जहाँ उसकी सहायता करने वाला और मंगल गीत गाने वाला कोई न था। इसका वर्णन कवि क्या करता? अतः वह इस प्रसंग को पाठकों की

कल्पना के लिए छोड़कर 'स्वप्न' सर्ग में सीधे कुमार के बाल-चरित के वर्णन में प्रवृत्त हो जाता है।

इस प्रकार कामायनी में सामाजिक संबन्धों, उत्सवों और रीति-रिवाजों का वर्णन नहीं हुआ है क्योंकि उसके कथा-काल में समाज का रूप नही निर्मित हुआ था। सारस्वत प्रदेश में मनु ने समाज का विकास और व्यवस्थापन अवश्य किया पर उसका वर्णन कवि ने श्रद्धा के स्वप्न के रूप में किया है। अतः उसमें रीति-रिवाजों और सामाजिक संबन्धों के सश्लिष्ट चित्रण के लिए अवकाश न था। प्रसाद ने यदि रुढ़ि पालन के लिए वस्तु वर्णन किया होता तो सारस्वत प्रदेश के प्रसंग में और अनेक सामाजिक उत्सवो और रीति-रिवाजों के वर्णन का अवसर अवश्य निकाल लिया होता। पर उनकी दृष्टि मनु, इडा और श्रद्धा के जीवन पर इतनी अधिक केन्द्रित थी कि वे प्रासंगिक और अवान्तर वस्तु-वर्णन द्वारा कथा-धारा को अवरुद्ध नही करना चाहते थे। शिशुपाल वध मे कृष्ण द्वारका से हस्तिनापुर की यात्रा करते है पर रास्ते में रैवतक पर्वत पर ठहर कर जलक्रीडा, उद्यान विहार, पान-गोष्ठी, मृगया आदि में प्रवृत्त हो जाते है। माघ ने यहाँ आलंकारिकों द्वारा निर्दिष्ट वस्तु-व्यापारों के वर्णन का अवसर बलपूर्वक निकाल लिया है यद्यपि वे वर्णन मुख्य कथा के भीतर किसी भी तरह प्रासंगिक नही प्रतीत होते। प्रसाद ने स्वाभाविकता लाने के लिये अनावश्यक वस्तु-वर्णनों की ठूसठाँस नहीं की है। उदाहरण के लिए आलंकारिकों द्वारा निर्दिष्ट आमोद-प्रमोद के कार्यों, मृगया, पुष्पावचय, पान-गोष्ठी आदि का सांगोपांग वर्णन कामायनी में नहीं हुआ है यद्यपि उनका उल्लेख यत्र-तत्र अवश्य हुआ है। मृगया का उल्लेख करते हुए कवि ने उसकी निन्दा भी की है क्योंकि उसमें पशु-हिंसा होती है। आलंकारिको द्वारा निर्दिष्ट कुछ वस्तुओं जैसे नगर, समुद्र, नदी, बन, पर्वत, स्वर्ग, शाप, यात्रा, उषा, संध्या, रात्रि, चन्द्र, सूर्य नक्षत्रादि, बसन्त ऋतु, युद्ध, विप्रलम्भ और संयोग शृंगार आदि का कामायनी में बड़ा ही विशद और सांगोपांग वर्णन हुआ है। इनमें भी सबसे अधिक उल्लास से कवि ने प्राकृतिक वस्तुओ और शृंगार के विविध अवयवों का वर्णन किया है। आशा, रहस्य और आनन्द सर्ग में हिमालय और उसके वातावरण का बड़ा ही विराट और चित्रात्मक वर्णन हुआ है। कुमारसंभव में कालिदास ने जिस तरह हिमालय का वर्णन आलम्बन रूप में किया गया है उसी तरह कामायनी के 'आशा' सर्ग का हिमालय-वर्णन भी है। कालिदास ने हिमालय को 'पृथ्वी का मानदण्ड' कहा पर प्रसाद ने उसे

डूबती पृथ्वी का अवलम्बन और विश्व-कल्पना जैसा उच्च बताया जो उनके विषय के अनुरूप ही है :—

विश्व कल्पना सा ऊँचा वह सुख शीतल संतोष निदान।
और डूबती सी अचला का अवलम्बन मणि-रत्न-निधान।
अचल हिमालय का शोभनतम लता कलित शुचि सानु शरीर !

—आशा सर्ग

हिमालय-वर्णन में प्रसाद ने यदि विराट् सौंदर्य को मूर्तिमान् किया है तो आशा और स्वप्न सर्गों में उषा, सन्ध्या, चाँदनी, नक्षत्र-मालिनी निशा आदि का बड़ा ही कोमल और कमनीय रूप भी चित्रित किया है। प्रकृति-वर्णन में कवि की वृत्ति सबसे अधिक इसलिए रमी है कि उसकी कथा की भूमिका प्रकृति ही है, अतः उसने उसके विराट् और लघु, उग्र और कोमल, जड़ और चेतन, स्थूल, और सूक्ष्म, आकर्षक और अद्भुत सभी रूपों का यथावसर उद्घाटन किया है। वह प्रकृति को चेतन सत्ता परम-शिव का शरीर-मानता है और मानव को उसकी गोद में खेलनेवाले अबोध शिशु के रूप में देखता है। इसलिए उसने आलम्बन, उद्दीपन, प्रतीक संकेत और अलकार आदि सभी रूपों में प्राकृतिक वस्तुओं को चित्रित किया है।

कोमल और विराट् रूप के साथ प्रकृति के उग्रतम रूप का वर्णन भी कामायनी में हुआ है। प्रारम्भ में ही जल-प्रलय का जैसा वर्णन हुआ है और उसके भयानक और रौद्र रूप को कवि ने जिस प्रकार भाषा में मूर्त किया है वैसा शायद ही किसी महाकाव्य में मिले। उपयुक्त शब्दों के चयन से कवि ने किस प्रकार प्रलय की कल्पना को साकार कर दिया है, यह दर्शनीय है :—

दिग्दाहों से धूम उठे या जल धर उठे क्षितिज तट के।
सघन गगन मे भीम प्रकम्पन झंझा के चलते झटके।
पंचभूत का भैरव मिश्रण शम्पाओं का सकल निपात।
उल्का लेकर अमर शक्तियाँ खोज रही ज्यों खोया प्रात।
उधर गरजती सिन्धु लहरियाँ कुटिल काल के जालों सी।
चली आ रही फेन उगलती फन फैलाये व्यालों सी।
धँसती धरा धधकती ज्वाला ज्वालामुखियों के निश्वास।

—चिन्ता सर्ग

आलंकारिकों ने महाकाव्य में सर्ग, नगर और द्वीप आदि के वर्णन का भी निर्देश किया है। कामायनी में द्वीप-वर्णन तो नहीं हुआ है पर स्वर्ग और

नगर का बहुत विशद वर्णन किया गया है। परन्तु कामायनी का स्वर्ग पुराणों का स्वर्ग नहीं है जहाँ पर मरने वाले लोग अपने पुण्य का भोग करने जाते है। पहले यह कहा जा चुका है कि प्रसाद जी स्वर्ग को पृथ्वी पर स्थित सप्त सिंधु को ही प्राचीनतम आर्यों के निवास स्थान के रूप में मानते थे और वहाँ के निवासी देव जाति के लोग थे। उनकी विलासिता और प्रकृति पर विजय करने की महत्त्वाकांक्षा ही प्रलय का कारण बनी। 'चिन्ता' सर्ग में उस देव जाति के स्वच्छन्द और निर्बाध विलास का वर्णन अत्यन्त विशदता के साथ हुआ है। नगर का वर्णन स्वप्न और संघर्ष सर्गों में विशद रूप में हुआ है। सारस्वत नगर का वर्णन वाल्मीकी-रामायण के अयोध्या-वर्णन से तुलनीय है। अन्य महाकाव्यों में नगरों का वर्णन रूढि रू। में होने से यथार्थ नहीं प्रतीत होता परन्तु रामायण और कामायनी का नगर वर्णन स्वाभाविक और यथार्थ पर आधारित है। पुराने महाकाव्यों मे मत्रणा, दूत-कार्य, सेना प्रयाण, स्कन्धावार नगरावरोध और युद्ध का वर्णन अवश्य होता था। पाश्चात्य देशों में महाकाव्य को वीर-काव्य का समानार्थी माना जाता था। और यह धारणा प्रचलित थी कि बिना युद्ध के महाकाव्य हो ही नहीं सकता। आधुनिक युग में यह मान्यता बदल गयी है और महाकाव्य में युद्ध-वर्णन आवश्यक नहीं रह गया है। कामायनी में सघर्ष सर्ग में जो संक्षिप्त युद्ध वर्णन मिलता है उसमें प्राचीन परंपरा और आधुनिक मान्यता दोनों का प्रभाव दिखाई पडता है। सघर्ष सर्ग का युद्ध वस्तुतः युद्ध न होकर प्रजा का सशस्त्र विद्रोह और देवगण के कोप का परिणाम है। मनु एक ओर अकेले अत्यंत साहस और वीरता का प्रदर्शन करते हुए लड़ रहे हैं और दूसरी ओर आकुलि, किलात के नेतृत्व में प्रजा उन पर वार कर रही है। मनु आकुलि, किलात को घायल कर देते पर अन्त मे रुद्र के अग्नि-बाण से घायल होकर गिर जाते हैं। यह दो राजाओ या राष्ट्रों का युद्ध नहीं बल्कि शासक और प्रजा तथा मानव और प्रकृति के सघर्ष का सांकेतिक वर्णन है जो शास्त्रीय लक्षणों के युद्ध-वर्णन की शर्त भी पूरी कर देता है। पर लाक्षणिक और संक्षिप्त होते हुए भी यह युद्ध वर्णन बड़ा ही ओजपूर्ण है। इस के अतिरिक्त युद्ध-संबन्धी अन्य बातों—मंत्रणा, दौत्य-सेना-प्रयाण, नगरावरोध आदि—का वर्णन कामायनी में नहीं हुआ है और न इसके लिए कामायनी-कथा में कहीं अवकाश ही था। वस्तुतः कामायनी युद्ध का नहीं, संघर्ष का काव्य है जिसमें मानव का प्रकृति के साथ और बुद्धि का हृदय के साथ संघर्ष दिखाया गया है। लज्जा सर्ग में इस बात को स्पष्ट शब्दों में कह दिया गया है और वहीं उसके शमन का उपाय भी बताया गया है :—

देवों की विजय दानवों की हारों का होता युद्ध रहा।
संघर्ष सदा उर अन्तर में जीवित रह नित्य विरुद्ध रहा।
आँसू से भींगे अंचल पर मन का सब कुछ रखना होगा।
तुम को अपनी स्मित रेखा से यह सन्धि पत्र लिखना होगा। लज्जा सर्ग

जीवन को समग्र रूप में चित्रित करने के लिए केवल बाह्य वस्तु-व्यापारों और घटनाओं का ही नहीं, हृदय की भावनाओं और मानसिक वृत्तियों की क्रिया-प्रतिक्रिया का वर्णन भी आवश्यक है। इसीलिए आलंकारिकों ने महाकाव्य में रस-भाव का नैरन्तर्य तो आवश्यक माना ही है, उसमें भी विप्रलम्भ और संयोग-शृंगार के वर्णन को प्रमुखता दी है। कामायनी के भाव-गाम्भीर्य के सम्बन्ध में पहले विचार किया जा चुका है।

रस की दृष्टि से उस पर आगे विचार किया जायगा। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि कामायनी में संयोग और विप्रलंभ शृंगार तथा उसके आलम्बन-शारीरिक सौन्दर्य-और संचारी भावों और अनुभावों का बहुत ही विवृत वर्णन हुआ है। श्रद्धा सर्ग से लेकर ईर्ष्या सर्ग तक मनु और श्रद्धा के प्रणय—सम्बन्ध तथा उससे सम्बन्धित विविध मनोभावनाओं और अन्तर्दशाओं का वर्णन किया गया है, साथ ही वासना और कर्म सर्गों में सांकेतिक रूप में उनकी विलास-लीला और सम्भोग का चित्रण भी हुआ है। यद्यपि यह वर्णन कुमारसम्भव के आठवें सर्ग की तुलना मे कुछ भी नहीं है फिर भी यथार्थवादी दृष्टि होने के कारण प्रसाद ने सभोग वर्णन में संकोच का अनुभव नही किया है:—

और एक फिर व्याकुल चुम्बन रक्त खौलता जिससे।
शीतल प्राण धधक उठता है तृषा तृप्ति के मिस से।
दो काठों की सन्धि बीच उस निभृत गुफा में अपने।
अग्नि शिखा बुझ गई, जागने पर जैसे सुख सपने।

विप्रलंभ शृंगार का वर्णन स्वप्न और निर्वेद सर्ग में सांगोपांग रूप मे हुआ है। पर कामायनी में श्रद्धा का विरह-वर्णन पुराने महाकाव्यों के विरह-वर्णन जैसा गतानुगतिक ढंग का और पिटेपिटाये उद्दीपनो और अनुभावों से युक्त नहीं है। प्रसाद ने मनोवैज्ञानिक ढंग से विरह-वर्णन किया है जो उनके 'आँसू' के वर्णनों जैसा है। इसमें श्रद्धा की वेदना भरी उक्तियाँ अत्यंत मार्मिक और संयमित है:—

इस पतझड़ की सूनी डाली और प्रतीक्षा की संध्या।
कामायनि! तू हृदय कड़ा कर धीरे धीरे सब सह ले।

सब अतीत में लीन हो चलीं आशा मधु अभिलाषायें ।
प्रिय की निष्ठुर विजय हुई पर यह तो मेरी हार नहीं ।
आज विश्व अभिमानी जैसे रूठ रहा अपराध बिना ।
किन चरणों को धोवेंगे जो अश्रु पलक के पार बहे । स्वप्न सर्ग

विप्रलम्भ शृंगार में उद्दीपनों के वर्णन में भी अत्यधिक स्वाभाविकता और नवीनता है । विरहिणी के दिवास्वप्नों का यह चित्र दर्शनीय है :—

जब शिरीष की मधुर गन्ध से मानभरी मधुऋतु रातें ।
रूठ चली जाती रक्तिम मुख, न सह जागरण की घातें ।
दिवस मधुर आलाप कथा सा कहता छा जाता नभ में
वे जगते सपने अपने तब तारा बन कर मुसकाते !

शृंगार का आलम्बन सौन्दर्य है । यह सौन्दर्य बाह्य और आन्तरिक दोनों ही प्रकार का होता है । लज्जा सर्ग में प्रसाद ने सौन्दर्य का जो चित्रण किया है वह किसी व्यक्ति विशेष के सौन्दर्य का नहीं बल्कि समष्टिगत सौन्दर्य या सौन्दर्य की साकार मूर्ति का चित्रण है । जायसी ने पद्मावत के सौन्दर्य की जो विराट् कल्पना की है वह फिर भी बाह्य आकृति तक ही सीमित है । प्रसाद ने नखशिख-वर्णन द्वारा बाह्य रूप का चित्रण न करके सौन्दर्य के आन्तरिक गुणों का उद्घाटन किया है । यह सौन्दर्य 'सत्यं शिवं सुन्दर' का समन्वित रूप है जिसमें श्री, मंगल, सौभाग्य, आनन्द, सभी एक साथ समाविष्ट हैं :—

मंगम-कुंकुंम की श्री जिसमे निखरी हो ऊषा की लाली ।
भोला सुहाग इठलाता हो ऐसो हो जिसमें हरियाली ।
हो नयनों का कल्याण बना आनन्द सुमन सा विकसा हो ।

× × ×

उज्वल वरदान चेतना का सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं ।
जिसमें अनन्त अभिलाषा के सपने सब जगते रहते हैं । लज्जा सर्ग

अनुभाव और सचारी भाव के रूप में लज्जा का जैसा मनोवैज्ञानिक और पूर्ण चित्रण कामायनी में हुआ है वैसा और कहीं भी हुआ हो, यह हमें ज्ञात नहो है । कामायनी की लज्जा कामोद्दीपन के साधन अथवा स्त्री के सहज स्वभाव के रूप में ही नहीं बल्कि सौन्दर्य की रखवाली करने वाली और चारित्रिक उत्कर्ष की साधना के रूप में भी है :—

वरदान सदृश हो डाल रही नीली किरनों से बना हुआ !
यह अंचल कितना हलका सा कितने सौरभ से सना हुआ ।

× × ×

मैं उसी चपल की धात्री हूँ गौरव महिमा हूँ सिखलाती
ठोकर जो लगने वाली है उसको धीरे से समझाती !

इस प्रकार आलंकारिकों द्वारा निर्दिष्ट वस्तु-व्यापारों और भावों में से अधिकांश का वर्णन कामायनी में अनायास ही हो गया है। किन्तु कामायनी का महाकाव्यत्व इस बात पर नहीं निर्भर करता है कि उसमें महाकाव्य के सभी शास्त्रीय लक्षण मिलते हैं या नहीं। समग्र जीवन के चित्रण की दृष्टि से प्रलय-काल के बाद की परिस्थितियो को ध्यान में रखते हुए उसमें कोई विशेष न्यूनता नहीं दिखाई पड़ती क्योंकि वाह्य घटनाओं और जीवन की विभिन्न परिस्थितियों का उसमें बाहुल्य न होने पर भी भावनाओं और अन्तर्दशाओं का पर्याप्त वैविध्य है।

४—सुसंगठित और जीवन्त कथानक

कामायनी-कथा से मूल स्रोतों के प्रसंग में उसकी ऐतिहासिकता पर पहले ही विचार किया जा चुका है। अतः यहाँ बात दुहराने की आवश्यकता नहीं है कि कामायनी का वृत्त ख्यात है। पर उसमें अनेक बातें उत्पाद्य भी है। अतएव उसका कथानक मिश्र ढंग का माना जायगा क्योंकि कथानक का मूल ढाँचा तो अनुत्पाद्य है पर उस ढाँचे को मांसल बनाने के लिए उसमें जिन वस्तु-व्यापारों, भावानुभूतियों और छोटी-मोटी अन्य घटनाओं की योजना हुई है वे उत्पाद्य या कवि-कल्पित हैं। प्रसाद के सामने मनु से सम्बन्धित उस प्रकार की कोई पहले ही से बनी-बनाई कथा नहीं थी जैसी कृष्ण-कथा या राम-कथा को लेकर महाकाव्य लिखने वालो के सामने थी। अतः प्रसाद ने ऐसी सावधानी और कौशल से कामायनी की कथा का वस्तु-विन्यास किया है जिससे प्राचीन उलझे हुए और अस्पष्ट कथासूत्रों को सुलझा कर एक सुसंगठित कथानक भी निर्मित हो सके और कथा की ऐतिहासिकता पर भी आँच न आने पावे। इसके लिये उन्होंने आधुनिक साहित्य में प्रचलित मनोवैज्ञानिक शैली का सहारा लिया है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों, कहानियों और नाटकों में स्थूल घटनाओं की अधिकता नहीं होती। उनमें मानसिक वृत्तियों की क्रिया-प्रतिक्रिया, संघर्ष और उनकी व्याख्या करते हुए कथा को आगे बढ़ाया जाता है। अतः उनमें कथासूत्र बहुत ही क्षीण होता है। फिर भी ऐसे मनोवैज्ञानिक उपन्यासों और समस्या-नाटकों में पाठकों की जिज्ञासा-वृत्ति उतनी ही रमती है जितनी घटना-प्रधान उपन्यासों और नाटकों में। घटना-प्रधान कथानक में भी यदि पात्रों के मन को अछूता छोड़ दिया जाय, केवल-घटनाओं की ही

विवृति हो तो वह इतिवृत्तात्मक कथानक पाठकों को सन्तोष नहीं दे सकता। अतः घटना-प्रधान कथानक और मनोवैज्ञानिक कथानक में अन्तर इतना ही है कि एक में लेखक का ध्यान घटना-क्रम पर अधिक रहता है और दूसरे में मानसिक वृत्तियों पर । कामायनी का कथानक इसी दूसरे प्रकार का है। पर उसकी विशेषता यह है उसमें स्थूल घटना-क्रम महत्त्वहीन और अधिक क्षीण नहीं है और कथा को अलग छोड़ कर लेखक कहीं भी बहुत देर तक मनोवैज्ञानिक विवेचन में तल्लीन नहीं हुआ है।

ऐसे काव्यों का कथानक जटिल नहीं हो सकता और न उसमें बहुत अधिक मोड़ ही मिल सकते हैं। इसीसे कामायनी के कथानक में सरलता और मर्मस्पर्शिता बहुत अधिक है। उसमें एक भी अवान्तर कथा नहीं है, न तो नायक का कार्य-क्षेत्र ही बहुत विस्तृत है और न पुराने महाकाव्यों में पाई जाने वाली चिराचरित कथानक-रूढ़ियों का ही सहारा लिया गया है। उसमें केवल एक आधिकारिक और एक ही प्रासगिक कथा है और उसमें भी पेचीदगी या उलझन नहीं है। इसका कारण यह है कि कवि का ध्यान सबसे अधिक कथा की कार्यान्विति पर ही है। उसने इस बात का सफल प्रयास किया है कि कामायनी मे कोई भी ऐसी घटना या वर्णन न आने पाये जिसे आसानी से छोड़ा जा सकता हे और जिसके बिना भी काव्य का सौन्दर्य और महत्त्व कम नहीं हो सकता। आधुनिक कहानी में जितनी बातें कही जाती है उससे कहीं अधिक अनकही रह जाती है। फिर भी पाठक उन अनकही बातों की कल्पना स्वतः कर लेता है। कामायनी में यही कथा-कौशल (टेकनीक) अपनाया गया है। कहानी में बहुधा मध्य से या अन्त से कथा प्रारम्भ होती है और पूर्व की बातें स्मृति-रूप में अथवा दो पात्रो के बीच कथोपकथन के रूप में कह दी जाती है। कामायनी का आरम्भ भी कथा के आदि भाग से नहीं होता। देवजाति, स्वर्ग से मनु का निवास, कामपुत्री श्रद्धा के साथ मनु की बाल-मैत्री, देवजाति की यज्ञ-क्रिया, शक्ति-संचय और विलास, जल-प्रलय, मनु की मत्स्य की सहायता से नाव में रक्षा आदि बातों का वर्णन मनु की चिन्ता और स्मृति के रूप में किया गया है। कथारम्भ जल-प्रलय के बाद बाढ़ घटने पर मनु की चिन्ता से होता है। यह कौशल केवल आवश्यक तथ्यों के संकलन और अनावश्यक विस्तार को रोकने के लिए अपनाया गया है। इसी तरह कथा के भीतर भी अनेक बातें, जिनका विस्तार के साथ वर्णन करके कथानक को स्फीत किया जा सकता था और अनेक अवान्तर और प्रासंगिक कथाओं की योजना हो सकती थी, या तो छोड़ दी गयी हैं या सांकेतिक रूप में व्यक्त कर दी गयी है। उदा-

हरणार्थ इन शंकाओं को सुलझाने के निमित्त कामायनी में एक एक सर्ग की रचना हो सकती थी—मनु की प्रलय से कैसे रक्षा हुई ? किलात-आकुलि कौन थे और प्रलय से कैसे बचे ? इडा कौन थी और सारस्वत प्रदेश से उनका क्या सम्बन्ध था ? सारस्वत प्रदेश का क्या महत्व था और वहाँ इन्द्र-वृत्र युद्ध क्यों और कैसे हुआ ? इन सब के बारे में कामायनी में सांकेतिक रूप से उल्लेख हुआ है जिससे कथा-सूत्र जुड जाता है और उनके विस्तृत वर्णन के अभाव से कथा-प्रवाह में बाधा भी नहीं पड़ती । इसके विपरीत वह और भी गतिशील और सरल बन गया है ।

कथानक की जीवन्तता का जो लक्षण अरस्तू ने बताया है वह कामायनी में वर्तमान है । उसके कथानक में आदि, मध्य और अन्त का सुन्दर विधान हुआ है और पूरी कथा एक इकाई के रूप में एक दृष्टि में देखी जा सकती है । कथानक में आदि भाग में जल-प्रलय के बाद से लेकर मनु द्वारा श्रद्धा के त्याग तक की घटनाएँ आती हैं । सारस्वत प्रदेश में इडा-मनु-मिलन से लेकर घायल होने के बाद मनु के सारस्वत नगर से पलायन तक की घटनायें मध्य-भाग में आती है । मनु द्वारा प्रथम बार नटेश का ताण्डव नृत्य देखने के बाद से अन्त तक की घटनायें अन्त भाग में आती हैं । इन तीनों भागों का अनुपात घटनाओं की दृष्टि से समान है यद्यपि वर्णन-विस्तार आदि के कारण आदि भाग में ८ सर्ग, मध्यभाग में ३ सर्ग और अन्त भाग में ४ सर्ग हैं । तीनों भागो की घटनाये कार्यकारण-श्रृंखला के रूप में एक दूसरे से इस तरह सम्बद्ध हैं कि कथानक की धारा कहीं टूटी हुई या अस्वाभाविक रूप से जुड़ी हुई नहीं प्रतीत होती । प्रत्येक घटना कथा को आगे बढ़ाने और उसे अन्तिम परिणाम तक पहुँचाने में किसी न किसी सीमा तक प्रत्यक्ष रूप में योग देती है । उदाहरण के लिये लज्जा सर्ग से श्रद्धा के मन में भीतर उठने वाले विवेक और भावुकता के सघर्ष का चित्रण किया गया है और अन्त में लज्जा श्रद्धा को जो उपदेश देती है उसे ही दृढ़ता पूर्वक पकड़ कर श्रद्धा अपने चरित्र को इतना ऊँचा उठा लेती है कि मनु तथा अन्य लोगों को भी आनन्द लोक में पहुँचाने में समर्थ होती है । यही बात अन्य घटनाओं और वर्णनों के बारे में भी समझनी चाहिये । निष्कर्ष यह है कि कामायनी में कार्यान्विति समुचित रूप में वर्तमान है । सांकेतिक पद्धति और नवीन मनोवैज्ञानिक कथा-शिल्प के प्रयोग तथा अवान्तर कथाओं और आवश्यक वर्णन-विस्तार के त्याग के कारण उसका कथानक बहुत ही चुस्त, श्रृंखलित और सुसंघटित है ।

आधुनिक कहानी में बेहोशी और स्वप्न के माध्यम से भी कुछ बातें

कही जाती है। कामायनी के कुछ सर्गों में यह कौशल अपनाया गया है। मनोवैज्ञानिक तथ्यों के उद्घाटन की दृष्टि प्रधान होने से कहीं कहीं कुछ मानसिक वृत्तियों को मानवीकृत करने की भी आवश्यकता पड़ी है। काम सर्ग में स्वप्न में मनु के उपचेतन में अन्तःसलिला की धारा सा गुप्त काम ऊपर आ जाता और मनु से सलाप करता है। यहाँ स्वप्नविज्ञान का इच्छा पूर्ति का सिद्धान्त लागू होता है।[1] स्वप्न द्वारा कथा कहने की पद्धति अस्वाभाविक और अवैज्ञानिक न प्रतीत हो, अतः प्रसाद ने फ्रायड के अवचेतन-मन के सिद्धान्त का भी उल्लेख कर दिया है :—

जागरण लोक था भूल चला स्वप्नों का सुख संचार हुआ।

× × ×

था व्यक्ति सोचता आलस मे चेतना सजग रहती दुहरी।
कानों के कान खोल करके सुनती थी कोई ध्वनि गहरी।

—काम सर्ग

स्वप्न द्वारा कथा कहने की यही पद्धति स्वप्न सर्ग में भी अपनायी गयी है। वहाँ श्रद्धा स्वप्न में सारस्वत नगर और वहाँ होने वाली घटनाओं को देखती है। इसका रहस्य भी कवि ने स्वप्न-विज्ञान के आधार पर स्पष्ट कर दिया है :—

मधुर चाँदनी सी तन्द्रा जब फैली मूर्छित मानस पर।
तब अभिन्न प्रेमास्पद उसमें अपना चित्र बना जाता।
कामायनी सकल अपना सुख स्वप्न बना सा देख रही।

× × ×

श्रद्धा काँप उठी सपने में सहसा उसकी आँख खुली।

—स्वप्न सर्ग

× × ×

श्रद्धा का था स्वप्न किन्तु वह सत्य बना था।

—संघर्ष सर्ग

स्वप्न-विज्ञान के अनुसार कभी कभी स्वप्न में सुदूरवर्ती सत्य घटनायें चाक्षुष-प्रत्यक्ष हो जाया करती हैं जैसे किसी मनुष्य ने स्वप्न में यह देखा कि दूर देश में एक कारखाने में काम करने वाला उसका भाई मशीन से कट कर मर गया है। जागने के थोड़ी देर बाद उसे तार मिला

---

१. डा० सम्पूर्णानन्द—'स्वप्न दर्शन' की भूमिका—ले० राजाराम शास्त्री भूमिका लेखक डा० सम्पूर्णानन्द, काशी सं० २००४। पृ० ५।

कि सचमुच उसका भाई कट कर मर गया। स्वप्न-विज्ञान-वेत्ता इस रहस्य का समाधान यह उपस्थित करते है कि विचार-प्रेषण और दिव्य-दृष्टि की प्रक्रिया से किसी व्यक्ति के मन के विचार और उससे सम्बन्धित घटनायें उसके किसी दूरस्थ प्रिय व्यक्ति को, तीव्र हार्दिक सम्बन्ध होने से स्वप्न में दिखलाई पडने लगती हैं।[1] अतः कामायनी में काम और स्वप्न सर्ग में कथा को आगे बढ़ाने के लिए स्वप्नगत दिव्यदृष्टि का सहारा लेने का कौशल अस्वाभाविक और अवैज्ञानिक नहीं, मनोविज्ञान-समस्त है। मनोविज्ञान में विकल्प (Hallucination) भी एक मान्य सिद्धान्त है। उसके अनुसार अपने मन की भावना के अनुरूप मूर्त रूप दिखाई पडते है। भूत-प्रेत, देवी-देवता आदि का प्रत्यक्ष दर्शन इसी प्रकार का विकल्प है जो सत्य नहीं, प्रतीति मात्र होता है। कामायनी में इस सिद्धान्त का भी सहारा लिया गया है। लज्जा सर्ग में लज्जा का मानवीकरण किया गया है। लज्जा नारी रूप में उपस्थित होकर श्रद्धा को समझाती है पर सचमुच श्रद्धा के सामने कोई नारी नहीं आयी थी। वह तो वस्तुतः श्रद्धा के मन की ही निर्मिति—एक छायाकृति—थी:—

> सध्या की लाली मे हँसती उसका ही आश्रय लेती सी।
> छाया-प्रतिमा गुनगुना उठी श्रद्धा का उत्तर देती सी।
>
> —लज्जा सर्ग

कामायनी के दर्शन सर्ग में नटेश का ताण्डव नृत्य, रहस्य सर्ग में त्रिपुर-दाह और 'महाकाल का विषम नृत्य' तथा आनन्द सर्ग में मांसल प्रकृति का लास्य नृत्य और पुरातन पुरुष का स्पन्दन मनु, श्रद्धा तथा अन्य लोगों ने देखा। इस प्रकार के अलौकिक दृश्य सबको और सब समय नहीं दिखाई पडते। इस प्रकार का दर्शन भी स्वयंप्रकाश ज्ञान और सत्याभास का ही परिणाम है। अतः कामायनी में ऐसे अलौकिक दृश्यों की योजना मनोविज्ञान और योगशास्त्र के सिद्धान्तों के आधार पर हुई है। ऐसे दृश्यों और घटनाओं से कामायनी के कथानक में रहस्यात्मकता और रोमांचकता उत्पन्न हुई है जिसमें पाठकों की जिज्ञासा-वृत्ति और आश्चर्य-भावना की तृप्ति होती है। महाकाव्य में इस प्रकार

१—प्रो० राजाराम शास्त्री—

"दिव्य दृष्टि का अर्थ यह है कि एक व्यक्ति के विचार नहीं बल्कि उस व्यक्ति से सम्बन्ध रखनेवाली किसी घटना का ज्ञान दूसरे दूरस्थित व्यक्ति को बिना सूचना के आप ही आप हो जाय।" स्वप्न-दर्शन—पृ० १४२

के कथा-शिल्प का प्रयोग हिन्दी साहित्य को प्रसाद की बहुत बड़ी और बिलकुल नयी देन है ।

भारतीय और पाश्चात्य साहित्यशास्त्रों में कथा में जो पाँच कार्यावस्थायें मानी गयी है उनमे चार कामायनी में वर्तमान है । इसकी प्रकृत कथा का प्रारम्भ तीसरे सर्ग में मनु श्रद्धा के मिलन से होता है; पर पूर्व कथा को भी यदि प्रमुख कथा का ही अंग माना जाय तो इसकी प्रारम्भावस्था प्रथम सर्ग के प्रथम छन्द से लेकर तृतीय सर्ग के अन्त तक व्याप्त है । इसमें प्रलय के बाद की मनु की अवसन्नावस्था धीरे-धीरे दूर होती, उनके मनमें चिरन्तन सत्य और आनन्द की खोज की जिज्ञासा उत्पन्न होती है और अन्त में श्रद्धा इन्हें नवीन सृष्टि प्रारम्भ करने की प्रेरणा देती है :—

बनो संसृति के मूल रहस्य तुम्हीं से फैलेगी यह बेल ।

× × ×

समन्वय उसका करे समस्त विजयिनी मानवता हो जाय ।

—श्रद्धा सर्ग

काम सर्ग से लेकर इड़ा सर्ग के युद्ध-वर्णन तक की घटनायें प्रयत्नावस्था के अन्तर्गत आती है क्योंकि इस अवस्था में मनु चिरन्तन सत्य और परम सत्य को खोजने के लिये विविध प्रकार के प्रयोग और प्रयत्न करते हैं । काम-यज्ञ, शारीरिक भोग-विलास, पशु-यज्ञ और स्वार्थपूर्ण एकाधिकार और बुद्धि के योग से भौतिक विकास, नियन्त्रित शासन और अन्त में स्वेच्छाचारी शासन में वे बारी बारी से स्थायी आनन्द और मानव-जाति के चरम लक्ष्य की खोज करने का प्रयत्न करते हैं । यह ध्यान देने की बात है कि प्रयत्न का यह स्वरूप पूर्णतः भारतीय ढंग का नहीं है क्योंकि ईर्ष्या सर्ग से पूर्व मनु में जो कर्मशीलता और ज्ञान-समन्वित भावुकता दिखलाई पड़ती है वह आरम्भ को आगे बढ़ाने वाली और 'फल' के अनुरूप तो है पर मनु का मन उस दिशा में अधिक टिकता नहीं है । फलस्वरूप वे अन्य प्रयत्न करते और सब में असफल होते हैं । उनके संघर्ष की अन्तिम परिणति संघर्ष सर्ग में दिखाई पड़ती है जहाँ वे चिर आनन्द की खोज करते-करते लोभ, वासना और पराजय के गहरे गर्त में गिर पड़ते और घायल होकर मुमूर्षु हो जाते हैं । यहाँ से प्राप्त्याशा की अवस्था होनी चाहिये पर इसमें वह बिलकुल है ही नहीं । निर्वेद सर्ग में मनु पश्चात्ताप, ग्लानि, उदासी और वेदना से घबरा कर सबको छोड़कर भाग जाते हैं । अतः यहाँ दुःख और निराशा की अधिकता होने और आशा की एक भी किरण नहीं दिखाई पड़ने

से प्राप्त्याशा नामक कार्यावस्था का कामायनी में अभाव है। दर्शन सर्ग में शिव का ताण्डव नृत्य देखकर मनु आतुर होकर उन चरणों की ओर जाना चाहते हैं। परमशिव का प्रथम दर्शन ही यह व्यक्त करता है कि चरम लक्ष्य—आनन्द-की प्राप्ति अब निश्चित है। अतः दर्शन सर्ग में नियताप्ति नामक कार्यावस्था अचानक आ जाती है जो रहस्य सर्ग के अन्त तक चलती है। आनन्द सर्ग में मनु को अपने लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है अतः उसमें फलागम नामक कार्यावस्था है। इस प्रकार भारतीय सुखान्त नाटकों के लिए मान्य सभी कार्यावस्थायें कामायनी में नहीं है।

पाश्चात्य ढग की कार्य की अवस्थाओं की दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि उनमें से भी सब की सब कामायनी में नहीं है। उसका प्रारम्भ भयकर ध्वस और तज्जन्य घनीभूत वेदना और चिन्ता से हुआ है। मनु के मन में आशा और निराशा का यह संघर्ष बीज-रूप में आशा सर्ग तक चलता है। अतः यहाँ तक पाश्चात्य ढग की प्रारम्भ नामक कार्यावस्था है। उसके बाद मनु के मन का संघर्ष बढ़ता ही जाता है और वे आशा निराशा, संवेदना और आस्था, काम और कर्म तथा बुद्धि और भावना के विरोध तत्त्वों में से कभी एक को अपनाते हैं कभी दूसरे को और अन्त में नियति उन्हें श्रद्धा से दूर हटा कर इडा के पास पहुँचा देती है। अतः ईर्ष्या सर्ग के अन्त तक पाश्चात्य ढग की विकास की अवस्था है जिसमें मनु का आन्तरिक विरोध बढता ही जाता है। इडा सर्ग में विरोध और वैषम्य की चरम सीमा दिखाई पड़ती है क्योंकि वहाँ मनु पूर्णतया स्थूल बुद्धि से अभिभूत हो उठते और श्रद्धा को बिलकुल भूल जाते हैं। काम के शाप से यह स्पष्ट हो जाता है कि मनु जिस लक्ष्य-मानवता का चरम आनन्द-तक जाना चाहते हैं वह उनके लिए बहुत दूर हो गया है। अतः यहाँ तक पाश्चात्य ढंग की चरमावस्था (Climax) है। स्वप्न और सघर्ष सर्गों में मनु पतन के गर्त की ओर तीव्र गति से गिरते हुए दिखाई पड़ते हैं। अतृप्त वासना, बौद्धिकता का अतिरेक, वर्ग-विभाजन, सुरा-पान, इड़ा को प्राप्त करने की तीव्र अभिलाषा, उस पर बलात्कार, प्रजा-विद्रोह, देवगण का कोप, भयंकर युद्ध आदि घटनाओं की स्वाभाविक परिणति मनु की पराजय और मुमूर्षु अवस्था में होती है। यह पाश्चात्य ढङ्ग की चतुर्थ कार्यावस्था निगति (Denoument) है जो निर्वेद सर्ग के अन्त तक चलती है। इसके बाद सभी आशा समाप्त हो जाती है और पाठक भयंकर 'अवसान' की प्रतीक्षा करने लगता है। तभी दर्शन सर्ग में परिस्थिति एकाएक बदल जाती है; यहाँ से आन्तरिक और बाह्य सभी प्रकार के विरोध शान्त होने

लगते हैं, श्रद्धा अपनी शक्ति से इड़ा और मनु दोनों को उचित मार्ग पर अग्रसर करती है और कथा का अन्त चरम आनन्द में होता है। अतः पाश्चात्य ढङ्ग की 'अवसान' की अवस्था इसमें नही है।

भारतीय और पाश्चात्य ढङ्ग की कार्यावस्थाओं की दृष्टि से कामायनी के कथानक का विश्लेषण करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उसमें पाश्चात्य ढङ्ग के दुःखान्त कथानको के तत्त्व अधिक मात्रा में है। वस्तुतः उसमें प्रारम्भ से लेकर निर्वेद सर्ग तक पाश्चात्य ढङ्ग की चार कार्यावस्थाओं का जितना सफल निर्वाह हुआ है उतना भारतीय ढङ्ग की कार्यावस्थाओं का नहीं। उसी तरह अन्तिम तीन सर्गों में भारतीय ढङ्ग की नियताप्ति और फलागम नामक कार्यावस्थायें ही मिलती हैं, पाश्चात्य ढङ्ग की पाँचवी कार्यावस्था 'अवसान' उसमें है ही नही। यदि भारतीय नाट्यशास्त्रीय अर्थ प्रकृतियों की दृष्टि से देखा जाय तो यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि प्रारम्भ से निर्वेद सर्ग तक की कथा भारतीय सुखान्त नाटकों के कथानक जैसी नहीं है। पाँच अर्थ-प्रकृतियों में कार्य नामक अन्तिम अर्थ-प्रकृति तो उसमें बहुत ही स्पष्ट है जिसके बारे में पहले विस्तार से विचार किया जा चुका है। बीज, बिन्दु, पताका और प्रकरी नामक अर्थप्रकृतियाँ कथा को 'कार्य' तक पहुँचाने वाली होती हैं। कामायनी में प्रारम्भ के दो सर्गों—चिन्ता और आशा—में कार्य के बीज का पता नही चलता। तीसरे सर्ग में श्रद्धा के मिलने के बाद बीज दिखलाई पड़ता है जो काम, वासना और लज्जा सर्ग में अंकुरित और विकसित होता है अतः वहाँ तक बिन्दु नामक अर्थप्रकृति है। फिर कर्म सर्ग में किलात, आकुलि के पौरोहित्य द्वारा मनु के पशु-यज्ञ की कथा और इड़ा, स्वप्न और सघर्ष सर्ग में इड़ा-मनु की कथा प्रसांगिक रूप में आती है, पर उनके कार्य की सिद्धि में सहायता मिलने की जगह बाधा ही उपस्थित होती है। अत: उहे विशुद्ध रूप में पताका नहीं माना जा सकता। प्रकरी के रूप में तो उसमें कोई कथा है ही नहीं। निष्कर्ष यह कि कामायनी के कथानक में भारतीय और पाश्चात्य कथानक-शिल्प का समन्वय हुआ है। यद्यपि उसका प्रारम्भिक तीन चौथाई भाग दुःखान्त कथा के भारतीय आदर्श का निर्वाह भी किया गया है। इस सम्बन्ध में श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का यह कथन सर्वथा उचित है कि "कामायनी काव्य यद्यपि दुःखान्त सृष्टि के अनुकूल वस्तुविन्यास साधारण किये है और इस दृष्टि से कामायनी की वस्तु में पश्चिमी दुःखान्त रचनाओं की अनुरूपता पाई जाती है, परन्तु कवि की भारतीयता यहाँ अपना अनोखा चमत्कार दिखाती है।

स्वर्गस्था शकुन्तला और उसके पुत्र भरत की भाँति कामायनी और उसका पुत्र मानव नये और अप्रत्याशित जीवन-दृश्य की झाँकी दिखाते है । दुष्यन्त की भाँति मनु को भी स्वर्गीय शान्ति और समाधान प्राप्त होता है ।"

आलंकारिकों ने महाकाव्य में नाटक की पाँच संधियों का होना भी आवश्यक माना है । कामायनी में इन संधियों की योजना इस प्रकार हुई है.—

१—मुख सन्धि आशा सर्ग में 'जलने लगा निरन्तर उनका अग्निहोत्र सागर के तीर' से लेकर श्रद्धा सर्ग के अन्त तक मुख सन्धि है क्योंकि यहीं प्रारम्भ और बीज का मेल होता है और कथा का लक्ष्य क्या है, इसका आभास मिल जाता है ।

२—प्रतिमुख सन्धि—काम सर्ग से कर्म सर्ग तक की घटनायें प्रतिमुख सन्धि के अन्तर्गत आती हैं क्योंकि फल के बीज का यहाँ कुछ लक्ष्य और कुछ अलक्ष्यरूप में विकास हुआ है । मनु और श्रद्धा का आकर्षण, उल्लास और प्रणय सम्बन्ध उस विकास के लक्ष्य रूप और पशुबलि, श्रद्धा का रूठना, मनु का सोमपान, दोनों का मतभेद आदि उसके अलक्ष्य रूप को व्यक्त करते हैं ।

३—गर्भ सन्धि ईर्ष्या सर्ग के प्रारम्भ से लेकर इड़ा सर्ग के अन्त तक गर्भ सन्धि दिखाई पड़ती है क्योंकि पूर्व सन्धियों में मनु ने फल-प्राप्ति के जो उपाय किये उनका यहाँ मनु की महत्त्वाकांक्षा, सुख की खोज की तीव्र जिज्ञासा तथा अन्य प्रयत्नों के रूप में विकास हुआ है पर उनकी ईर्ष्या, पलायन, चिन्ता, इड़ा के प्रति तीव्र आकर्षण और काम के शाप आदि में उनका ह्रास भी हुआ है ।

४—विमर्श सन्धि—स्वप्न, संघर्ष और निर्वेद सर्ग की घटनायें इस सन्धि के अन्तर्गत आती हैं यद्यपि इस सन्धि की योजना कामायनी में सम्यक् रूप में नहीं हुई है । कारण यह है कि इन सर्गों में मनु लक्ष्य-भ्रष्ट होकर विपरीत मार्ग पर चलने लगते हैं और अन्त में युद्ध में घायल होकर गिर पड़ते हैं जिससे पूर्व सन्धि के फलप्रधान उपाय का विकास नही होता । किन्तु फल-प्राप्ति के बीच का अन्तराय इतना बढ़ जाता है कि फल का बीज ही लुप्तप्राय हो जाता है । निर्वेद सर्ग में श्रद्धा और मानव पहुँचकर मनु की सेवा और प्राण-रक्षा करते हैं जिससे फिर फल सिद्धि की आशा सचरित होती है । अतः इस सन्धि की योजना पूर्ण नहीं मानी जा सकती । प्राप्त्या और प्रकरी के अभाव के कारण ही ऐसा हुआ है ।

५—निर्वहण सन्धि—प्रथम बार शिव-ताण्डव का दर्शन, मनु-श्रद्धा की कैलास-यात्रा, त्रिपुर-दाह, और इड़ा-मानव आदि की कैलास-यात्रा आदि घटनायें इस सन्धि के अन्तर्गत आती हैं । इस सन्धि की अवस्था में सभी प्रकार के

आन्तरिक और बाह्य विरोध शान्त हो जाते है, सभी पात्र एक लक्ष्य पर पहुँच जाते है और पूर्व सन्धियों में बिखरे हुए प्रयोजनों का अन्त में प्रधान प्रयोजन 'चिदानन्द-लाभ' में समाहार हो जाता है ।

अस्तु; सन्धि-प्रयोना की दृष्टि से कामायनी का कथानक पूर्ण शृङ्खलित सुसंघटित और जीवन्त है ।

५—महच्चरित्र

'कामायनी' चरित्र-प्रधान और काल्पनिक आदर्शवाद पर आधारित महाकाव्य नहीं है और न व्यक्तिवादी तथा विचित्र चरित्रो की सृष्टि करके केवल कुतूहल उत्पन्न करना उसका लक्ष्य है । प्रसाद जी अतिवादी नही थे । आदर्शवाद तथा यथार्थवाद और रसात्मकता तथा चरित्र-वैचित्र्य के समन्वय द्वारा, आधुनिक युग की आवश्यकताओ और प्रवृत्तियों के अनुरूप, नवीन, ढङ्ग की साहित्य दृष्टि में उनका विश्वास था । अपने नाटकों, उपन्यासों और कामायनी में उन्होंने अपने इस समन्वय के सिद्धान्त का सफल प्रयोग किया है । यद्यपि उनका अधिक झुकाव रसवाद की ओर ही था फिर भी वे चरित्र-वैचित्र्य की अवहेलना अनुचित समझते थे । इस सम्बन्ध में उन्होने लिखा है, "कुछ लोग प्राचीन रस-सिद्धान्त से अधिक महत्व देने लगे हैं चरित्र-चित्रण पर । उनसे भी अग्रसर हुआ है दूसरा दल जो मनुष्यों के विभिन्न मानसिक आकारों के प्रति कुतूहल पूर्ण है, अथच व्यक्तिगत चरित्र-वैचित्र्य पर विश्वास रखने वाला है । ये लोग अपनी समझी हुई कुछ विचित्रता मात्र को स्वाभाविक चित्रण कहते हैं; क्योकि पहला चरित्र-चित्रण तो आदर्शवाद से बहुत घनिष्ट हो गया है, चारित्र्य का समर्थक है, किन्तु व्यक्ति-वैचित्र्य वाले अपने को यथार्थवादियों में ही रखना चाहते हैं ।"[1] इससे स्पष्ट है कि प्रसाद जी न तो आदर्शवादी चरित्र-वैशिष्ट्य के समर्थक थे और न यथार्थ-वादी व्यक्तिवैचित्र्यवाद के । वे प्रबन्ध-साहित्य में रस को प्रधान मानते थे और चरित्रचित्रण को गौण । अपना मत स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि "आत्मा की अनुभूति व्यक्ति और उसके चरित्र-वैचित्र्य को लेकर ही अपनी सृष्टि करती है । भारतीय दृष्टिकोण रस के लिए इन चरित्र और व्यक्ति-वैचित्र्यों को रस का साधन मानता रहा, साध्य नही । रस में चमत्कार ले आने के

१—जयशंकर प्रसाद —काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध—पृ०—८४ तृतीय संस्करण ।

लिए इसको बीच का माध्यम ही मानता आया।"[1] अस्तु, कामायनी में उन्होंने रस को साध्य और चरित्र-चित्रण को साधन रूप मे रखा है और चरित्रों को न तो उस प्रकार का आदर्श रूप दिया है जैसा अलकारशास्त्रों में मान्य है और न वैसा व्यक्ति-वैचित्र्ययुक्त बनाया है जैसा आधुनिक समस्या-नाटकों में पाये जाते हैं। इसके विपरीत उन्होंने आदर्शवाद और यथार्थवाद के अतिवादी स्वरूपों को त्याग कर दोनो के समन्वय का प्रयत्न किया है। अपने इस समन्वय-सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए उन्होने लिखा है कि "साहित्य, समाज की वास्तविक स्थिति क्या है, इसको दिखाते हुए भी उसमें आदर्शवाद का सामजस्य स्थिर करता है। दुःख-दग्ध जगत् और आनन्दपूर्ण स्वर्ग की एकीकरण साहित्य है।"[2] इसी समन्वय-सिद्धान्त के आधार पर उन्होंने कामायनी में चरित्रों की अवतारणा की है।

भारतीय आलकारिकों ने महाकाव्य में नायक के चरित्र का धीरोदात्त गुण-समन्वित होना आवश्यक माना है जिसका तात्पर्य यह है कि उसे उन नैतिक सामाजिक और धार्मिक आदर्शों का प्रतीक होना चाहिये जिन्हे तत्का लीन सामन्ती समाज में मान्यता प्राप्त थी। आदर्श चरित्रो की मध्ययुगीन कल्पना यह थी कि व्यक्ति प्रारम्भ से अन्त तक आदर्शों का निर्वाह करे, कभी कोई गलती न करे, उन आदर्शों से च्युत न हो और वैयक्तिक विशेषताओं का उसके चरित्र में कोई स्थान न हो। ऐसे चरित्र यथार्थ जीवन में नही होते क्योकि मनुष्य होकर गलतियाँ कौन नही करता? अचिन्त्य परिस्थितियों में पड़कर विपरीत आचरण कर बैठना, मानसिक संघर्ष, संकल्प-विकल्प आदि मनुष्य के स्वाभाविक धर्म हैं। जो ऐसा नही करता वह या तो मनुष्य से ऊपर उठा हुआ देवता—है या कठपुतली की तरह आचरण करने वाला निर्जीव व्यक्ति है। ऐसे व्यक्ति यथार्थ जीवन में न मिलकर साहित्य जगत में ही मिलते है और उनके जीवन में उतार-चढ़ाव या विकास-क्रम नहीं दिखाई पड़ता। आधुनिक युग मे चरित्रों की मान्यता में परिवर्तन हो गया है। आज तो यह माना जाता है कि चरित्रों को मनुष्य पहले होना चाहिये और आदर्श या यथार्थ वाद में। उसी तरह आज आदर्शवाद का अर्थ मानवतावादी आदर्शवाद हो गया है जिसमें कोई व्यक्ति मानव-सहज दुर्बलताओं से संघर्ष करता हुआ, बार बार पापपक में फँसकर उससे निकलता हुआ, मानव-पूर्णता की ओर अग्रसर होता और लक्ष्य प्राप्त करता है। उस लक्ष्य पर पहुँच कर उसके वैयक्तिक सुख-दुःख लोक के

१—वही पृ० ८५।

२—वही पृ० १२३।

सुख-दुःख में लीन हो जाते हैं। अतः महान या आदर्श व्यक्ति आज वही है जिसका चरित्र स्थिर नहीं, गतिशील और विकासोन्मुख है और जो अपने को अधिक से अधिक निःस्व करके लोकहित के लिये आत्मार्पण कर देता है। इस तरह मानवतावादी आदर्शवाद मे यथार्थ और आदर्श का अत्यन्त सुन्दर समन्वय है। कामायनी के चरित्रों की सृष्टि इसी मानवतावादी आदर्शवाद की प्रेरणा से हुई है। उसमें कोई भी चरित्र ऐसा नहीं है जिसका व्यक्तित्व आदर्शों के बोझ से दबकर पंगु हो गया हो या जिसका मानव-सुलभ सहज-विकासोन्मुख और गतिशील जीवन न हो। इसका अर्थ यह भी नही है कि कामायनी के चरित्र ऐसे यथार्थ की अभिव्यक्ति करते है जिसमें विकास की जगह ह्रास, गतिशीलता की जगह पतन और सामाजिकता की जगह व्यक्तिवाद की प्रमुखता होती है। सारांश यह कि कामायनी में मनुष्य को न तो देवता बनाने का प्रयत्न किया गया है और न उसे भयंकर राक्षस, निरे पशु या नियतिचालित प्राणी के रूप में ही उपस्थित किया गया है। इसके विपरीत उसके सभी चरित्र नीचे से ऊपर उठते हुए, मनोमय कोश से आनन्दमय कोश की ओर अग्रसर होते हुए और अन्त में पूर्णता की प्राप्ति करते हुए दिखाये गये है।

किन्तु कामायनी में चरित्रों का लक्ष्य-बिन्दु एक होने पर भी सब में एक-रूपता नही है। यों भी उसमें पात्रों की भीड़ नहीं है। उसमें कुल ये पात्र हैं, मनु श्रद्धा, इड़ा, मानव, किलात और आकुलि। उसमें किलात, आकुलि को खल चरित्र के रूप में रखा गया है पर उनकी कथा इतनी अल्प है कि खल नायक क्या, सामान्य पात्र के रूप में भी वे महत्त्व हीन हैं। उसी तरह मानव या कुमार का उल्लेख तो कई बार हुआ है पर उसके चरित्र पर कुछ भी प्रकाश नही डाला गया है। इस तरह कहने को तो कामायनी में कुल छः पात्र हैं पर प्रमुखता केवल तीन पात्रों मनु-श्रद्धा और इड़ा, की ही है। ये छहो पात्र अपना अलग अलग व्यक्तित्व और स्वभाव लिये हुए अपनी भूमिका पूरी करते हैं। अतः घटना-प्रधान या चरित्र-प्रधान महाकाव्यों की तरह चरित्र-बाहुल्य न होते हुए भी कामायनी में चरित्रगत वैविध्य दिखाई पड़ता है। यदि तीन प्रमुख पात्रों को ही लिया जाय तो उनके चरित्र में एक दूसरे से बहुत अधिक भिन्नता दिखाई पड़ती है। इड़ा और श्रद्धा का चरित्र परस्पर विरोधी तत्त्वों से निर्मित हुआ है। वे दोनों भिन्न-भिन्न दिशाओं में चलने वाली है और उनके चरित्र में काफी दूर तक एकांगिता वर्तमान रहती है पर मनु के चरित्र में लचीलापन और अत्यधिक परिवर्तन-शीलता है; वे बहुत जल्दी-जल्दी अपना मार्ग बदलते हैं।

महाकाव्य के चरित्रों के सम्बन्ध में एबरक्रोम्बी का मत है कि महाकाव्य में एक या एकाधिक चरित्र ऐसे अवश्य होने चाहिये जिनमें किसी युग की समस्त अच्छाइयाँ और असफलतायें केन्द्रीभूत हों; महदुद्देश्य से अनुप्राणित और गौरवान्वित कोई भी महाकाव्य उन उद्देश्यों को वहन करने योग्य महान चरित्रों के बिना नहीं निर्मित हो सकता।[1] इस दृष्टि से कामायनी के तीनों चरित्र मनु, श्रद्धा और इडा ऐसे है जो आधुनिक युग के समस्त जीवन मूल्यों, सफलताओं और असफलताओं का प्रतिनिधित्व करते है। निस्सन्देह ये तीनों ही अपने अपने ढंग के महान चरित्र हैं। इनमे से सबसे अधिक व्यापक, संघर्षमय और यथार्थ-सम्पृक्त चरित्र मनु का है जो अपनी तमाम कमजोरियों और अभावों के होते हुए भी अन्त में लक्ष्य—प्राप्ति करते है। अतः वे ही कामायनी के नायक है। जिस तरह अनादि काल से आधिभौतिक और आधिदैविक प्रलय तूफान और आपत्ति-विपत्ति से संघर्ष करता हुआ मानव आज तक जीवन-पथ पर बढ़ता आया और उसने अपनी जीवनास्था कभी नहीं छोड़ी और इस अनन्त जीवन-पथ में निरन्तर उन्नति के पथ पर बढ़ता हुआ आज वह सफलता के शिखर पर पहुँच चुका है, उसी तरह मनु भी आन्तरिक और बाह्य संघर्षों का दुर्गम पथ पार करते हुए, उठ कर गिरते और गिरकर उठते और फिर आगे बढते हुए 'आनन्द-शिखर' पर पहुँचते हैं। वे जल-प्रलय के बाद नवीन मानव-समाज की रचना करने वाले अथवा नवीन मानव-सभ्यता का प्रवर्तन करने वाले प्रजापति हैं। इनकी शक्ति, साहस और पौरुष की सीमा नहीं है। इसीलिए श्रद्धा और इड़ा दोनों उन्ही का अवलम्बन लेकर अपना उद्देश्य सिद्ध करना चाहती हैं। इड़ा की प्रेरणा और सहयोग से वे सारस्वत प्रदेश का पुनर्निर्माण और उसकी भौतिक उन्नति करके वैज्ञानिकता और वर्ग-विभाजन के आधार पर नवीन समाज-व्यवस्था का प्रवर्तन करते हैं और श्रद्धा की प्रेरणा और सहयोग से आध्यात्मिक उन्नति का पथ प्रशस्त करते है। अतः कामायनी में सबसे महत्त्वपूर्ण चरित्र मनु का ही है। यद्यपि वे महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों के अनुरूप धीरोदात्त गुणों से युक्त नहीं है, अधैर्य उनकी एक प्रधान प्रवृत्ति है और हिंसा, स्वार्थ, पलायन और कभी-कभी पस्तहिम्मती की प्रवृत्तियाँ भी उन पर अधिकार जमाती हैं पर अन्त में वे जिस समरसता की स्थिति में पहुँच जाते हैं, वह पाप-पुण्य, अच्छा-बुरा, सुख-दुःख, सत्प्रवृत्ति और असत्प्रवृत्ति सब से ऊपर उठी हुई स्थिति है। इस तरह बाह्य संघर्ष और प्रजा के साथ होने वाले भयंकर युद्ध में अतुलनीय पराक्रम दिखाने के बाद यद्यपि

१—एबरक्रोम्बी—दी एपिक—पृ० ५०

वे पराजित हो जाते हैं पर आन्तरिक संघर्ष में उनकी पूर्ण विजय होती है।

केवल आदर्श चरित्र ही महान होते हैं, यह मान्यता आज अस्वीकृत हो चुकी है। प्रसाद जी के ही शब्दों में "आरम्भ में जिस आधार पर साहित्यिक-न्याय की स्थापना होती है—जिसमें राम की तरह आचरण करने के लिए कहा जाता है, रावण की तरह नहीं—उसमें रावण की पराजय निश्चित है। साहित्य में ऐसे प्रतिद्वन्द्वी पात्र का पतन आदर्शवाद के स्तम्भ में किया जाता है। किन्तु यथार्थवादियों के यहाँ कदाचित् यह भी माना जाता है कि मनुष्य में दुर्बलताएँ होती ही हैं, और वास्तविक चित्रों में पतन का भी उल्लेख आवश्यक है।... तथ्यवादी पतन और स्खलन का भी मूल्य जानता है। और वह मूल्य है, स्त्री नारी है, पुरुष नर है, इनका परस्पर केवल यही सम्बन्ध है।...यथार्थवाद क्षुद्रों का ही नहीं अपितु महानों का भी है।"[1] वस्तुतः मनोवैज्ञानिक तत्वान्वेषण के आधार पर यह बात सिद्ध हो चुकी है कि दुर्बलताओं, कुप्रवृत्तियो और असफलताओं के गर्भ मे ही महानता, सत्प्रवृत्ति और सफलता के बीज छिपे रहते है। अतः राम जैसे व्यक्ति का सदा आदर्श बने रहना और विजयी होना और रावण जैसे व्यक्ति का सदैव पतित बने रहना और पराजित होते रहना स्वतः सिद्ध और अनिवार्य नही है क्योंकि इस बात की सम्भावना सदा बनी रहती है कि राम रावण बन सकता है और रावण राम बन सकता है। रामचरितमानस में मन्दोदरी, विभीषण आदि बार बार रावण को समझाते हैं पर वह अन्त तक सन्मार्ग पर नहीं आता क्योंकि उसके मन के भीतर असत् और सत् का संघर्ष विद्यमान नहीं है। कारण यह है कि उसे यथार्थ मानव के रूप में चित्रित ही नहीं किया गया है। कामायनी में मनु भी इड़ा सर्ग तक जिस मार्ग पर चलते है वह रावण के मार्ग से अधिक भिन्न नही है। उन्हें भी श्रद्धा और काम काफी समझते हैं पर उन पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। फिर मनु यथार्थ मानव है, उनके मन में सत् और असत् अधिकार और कर्तव्य का संघर्ष होता है, वे एक ही साथ सशक्त और दुर्बल, बुद्धिवादी और भावुक दोनों हैं। अतः उनके भीतर सुधरने और महान बनने की पूरी सम्भावना निहित है। पराजय और अपमान की चोट खाने और श्रद्धा के शीतल और हार्दिक स्नेहोपचार के बाद वे पश्चात्ताप और ग्लानि से व्याकुल हो उठते है और श्रद्धा की सहायता से उन्हें सही रास्ता मिल जाता है। उस मार्ग पर चल कर अपनी पिछली दुर्बलताओं, बलात्कार जैसे पाप-कर्म, और बुद्धिवाद की प्रवचना से

१—जयशंकर प्रसाद—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० १२१–१२२।

मुक्त होकर सफलता के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचते हैं। आधुनिक युग के महानतम पुरुषों—टालस्टाय, रूसो, महात्मा गान्धी आदि—के जीवन में हमें विकास का यही क्रम दिखाई पड़ता है। अतः मनु शास्त्रीय लक्षणों के अनुसार भले ही धीरोदात्त, आदर्श और महान नायक न हों पर आधुनिक युग की मान्यताओं और प्रसाद जी के सिद्धान्त के अनुसार वे अवश्य महाकाव्योचित महान चरित्र हैं।

कामायनी की नायिका श्रद्धा है और महानता की दृष्टि से कामायनी के पात्रों में उसका चरित्र सबसे ऊँचा है। मनु की महानता यदि यथार्थ जीवन के भीतर से विकसित हुई है तो श्रद्धा के चरित्र की महानता उसके आदर्शात्मक विशेषताओं पर आधारित है। यद्यपि विकास-क्रम उसके चरित्र में भी दिखाई पड़ता है फिर भी प्रसाद ने मानो उसके साथ पक्षपात करते हुए उसे नारी के समस्त गुणों का प्रतीक बना दिया है। नारी के स्वाभाविक गुण उसकी सरलता, निष्कपटता, अगाध विश्वास, सेवा, दया, ममत्व, क्षमा, पातिव्रत्य, सौकुमार्य, भावुकता आदि हैं। श्रद्धा में ये प्रारम्भ से ही वर्तमान हैं। प्रथम दर्शन में ही मनु उसके सौन्दर्यमय व्यक्तित्व से अभिभूत हो उठते हैं। प्रलय की सर्वग्रासी ध्वंसलीला के उपरान्त दो एकाकी व्यक्ति सहसा मिल जाते हैं और वह हृदय की सहज प्रेरणा से अथवा भयंकर परिस्थिति के दबाव से अयाचित रूप से मनु को अपनी सेवायें और अपना जीवन अर्पित कर देती है। इस समर्पण में उसका एक महान उद्देश्य भी छिपा है। वह एकाकी तप, अवसाद, पुरातनता, और रूढ़िवादिता का विरोध करती और प्रलय के ध्वंस से निराश न होकर नवीन सृष्टि का प्रारम्भ करने की दृष्टि से बिना अधिक सोचे-विचारे आत्मसमर्पण कर देती है; साथ ही मनु को निर्भयता, विजय, उल्लास और शक्ति का सन्देश देती है:—

तप नहीं केवल जीवन सत्य, करुण यह क्षणिक दीन अवसाद।

× × ×

पुरातनता का यह निर्मोक सहन करती न प्रकृति पल एक।

× × ×

बनो संसृति के मूल रहस्य तुम्हीं से फैलेगी यह बेल।

× × ×

डरो मत अरे अमृत सन्तान, अग्रसर हैं मंगल मय वृद्धि।

—श्रद्धा सर्ग

वस्तुतः श्रद्धा काम-बाला और मनु की बाल सहचरी है। मनु प्रारम्भ में उसे नहीं पहचानते पर वह पहचान लेती है और नूतन सृष्टि रचना के महदुद्देश्य से तप का विरोध करती हुई मनु को कर्मशील और आनन्दमय जीवन बिताने का उपदेश देती हुई आत्मसमर्पण करती है। अतः उसका यह कार्य अस्वाभाविक नहीं है। किन्तु यहाँ वह जो गम्भीर दार्शनिक प्रवचन करती है उससे प्रारम्भ में ही स्पष्ट हो जाता है कि वह सामान्य नारी नही है। उसकी शिक्षा, संस्कार और मानसिक स्तर मनु से बहुत ऊँचा है। फिर भी वह सृष्टि-विस्तार के लिये अकेले कुछ नही कर सकती। मनु यदि परमशिव के समान निश्चेष्ट और निष्क्रिय है तो श्रद्धा शिव की आदि शक्ति के समान उनमें सक्रियता और इच्छा उत्पन्न करनेवाली है। निष्कर्ष यह कि श्रद्धा प्रसादजी को आदर्श और प्रतीक चरित्र-सृष्टि है।

किन्तु आदर्श चरित्र होने का यह अर्थ नहीं है कि श्रद्धा सीता-सावित्री की तरह मानव दुर्बलताओं से रहित है या दुर्बल व्यक्ति को त्याज्य और घृणित समझती है। वह प्रारम्भ में ही दुर्बलताओं और पराजय को शक्ति और बिजय की जननी बताते हुये मनु को प्रोत्साहित करती है और जिससे उसके मानवतावादी आदर्शवाद पर प्रकाश पडता है:—

> बिश्व की दुर्बलता बल बने, पराजय का बढ़ता व्यापार।
> हँसाता रहे उसे सबिलास शक्ति का क्रीड़ामय संसार।

—श्रद्धा सर्ग

उसमें यदि जीवन के प्रति पूर्ण विश्वास, भविष्य में आस्था और कल्याण-मार्ग की दिव्य दृष्टि है तो शारीरिक दृष्टि से उसमें नारी सुलभ ऐन्द्रिक दुर्बलता भी है जिसे वह स्वयं कई बार स्वीकार करती है:—

> आह मै दुर्बल, कहो क्या ले सकूँगी दान?

—वासना सर्ग

× × ×

> यह आज समझ तो पाई हूँ मैं दुर्बलता में नारी हूँ।
> अवयब की सुन्दर कोमलता लेकर मै सबसे हारी हूँ।
> पर मन भी क्यों इतना ढीला अपने ही होता जाता है।

—लज्जा सर्ग

इसका कारण यह है कि विदुषी और लोक-मंगल की भावना से अनुप्राणित होते हुये भी सबसे पहले वह नारी है। इस दुर्बल नारी का एक

दूसरा पक्ष भी है जो उसकी और उसकी ही नहीं, सारे विश्व की सबसे बड़ी शक्ति है—वह है उसका अडिग विश्वास और आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति। इसका ज्ञान श्रद्धा को सबसे पहले लज्जा के संलाप से प्राप्त होता है:—

> क्या कहती हो ठहरो नारी संकल्प अश्रु जल से अपने,
> तुम दान कर चुकी पहले ही जीवन के सोने से सपने।
> नारी तुम केवल श्रद्धा हो विश्वास रजत नग पगतल में
> पीयूष स्रोत सी बहा करो जीवन के सुन्दर समतल में।

श्रद्धा की दुर्बलताओं का काल शीघ्र ही समाप्त हो जाता है, कर्म और ईर्ष्या सर्ग से वह कुछ कड़ी पड़ती है और मनु के साथ उसका मतभेद भी होता है। पर लज्जा का दिया हुआ यह मन्त्र उसके बाद के समूचे जीवन का आदर्श-वाक्य बन जाता है :—

> आंसू से भीगे अचल पर मन का सब कुछ रखना होगा,
> तुमको अपनी स्मित रेखा से यह सन्धि पत्र लिखना होगा।

इसके बाद का उसका जीवन अश्रु और अवसाद से भरा है, पर वह हँसते हँसते दु:खों को सहन करती और निर्मोही पति को स्वप्न में विपत्ति-ग्रस्त देख कर उसकी सहायता के लिये पुत्र को साथ लेकर चल पड़ती है। विरह की अवस्था उसकी तपस्या और साधना की अवस्था है जिसमें से वह तपःपूत बन कर निकलती है। तपस्या उसे नारी से माता बना देती है। नारी का सर्वश्रेष्ठ स्वरूप उसका मातृ-रूप है जिसमें दया, ममता, त्याग, सेवा, और सदाचार आदि गुणों के विकसित होने का अधिक अवसर रहता है। प्रसाद जी यथार्थवाद में यहाँ तक सहमत हैं कि 'स्त्री' नारी है और पुरुष 'नर' पर इससे आगे बढ़कर वे यह मानने को तैयार नहीं हैं कि इनका परस्पर केवल यही सम्बन्ध है, वे नारीत्व की पूर्णता मातृत्व-भावना में मानते हैं। यथार्थवाद के उपर्युक्त अतिवादी स्वरूप से अपना मतभेद प्रकट करते हुए उन्होंने लिखा है, "स्त्रियों के सम्बन्ध में नारीत्व की दृष्टि ही प्रमुख होकर मातृत्व से उत्पन्न हुए सब सम्बन्धों को तुच्छ कर देती है। वर्तमान युग की ऐसी प्रवृत्ति है। जब मानसिक विश्लेषण के इस नग्न रूप में मनुष्यता पहुँच जाती है तब उन्हीं सामाजिक बन्धनों की बाधा घातक समझ पड़ती है।"[1] इसमें प्रसाद जी ने परोक्ष रूप से फ्रायड के इस सिद्धान्त का विरोध किया है कि सभी सम्बन्धों के मूल में यौन-प्रवृत्ति ही वर्तमान रहती है। इस प्रकार

१—वही पृ० १२२।

प्रसाद जी ने अपने समन्वय-सिद्धान्त के अनुसार कामायनी में श्रद्धा के चरित्र द्वारा यह प्रतिपादित किया है कि यद्यपि यौन प्रवृत्ति अत्यन्त प्रबल है जो विदुषी और आदर्शवादी नारी को भी अभिभूत करके दुर्बल बना देती है पर मातृत्व-शक्ति के उदित होने पर यौन प्रवृत्ति या काम को परिशुद्ध करके उसे करुणा और विश्व मैत्री के रूप में बदल देना ही मानव-संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता है। नारीत्व में मातृत्व की प्रतिष्ठा वेदना और तपस्या के बिना नहीं हो सकती। श्रद्धा दान और तपस्या द्वारा अपने भीतर उसी मातृ-शक्ति का विकास करती है :—

तुम देवि आह कितनी उदार
यह मातृमूर्ति है निर्विकार !
हे सर्वमंगले तुम महती
सब का दुख अपने पर सहती !

—दर्शन सर्ग

इस तरह श्रद्धा अपने भीतर अपार स्नेह और अखण्ड विश्वास द्वारा ऐसी अलौकिक शक्ति उत्पन्न करती है कि बाद में मनु और इडा दोनो के चरित्रों में आश्चर्यजनक परिवर्तन उपस्थित कर देती है। वह सहज रूप में अपने पुत्र को इड़ा के हाथ में सौंप कर मनु को खोजने निकल पड़ती है, साथ ही अपने उपदेश और व्यक्तित्व के दिव्य प्रभाव से इड़ा की जीवन-धारा को भी मोड़ती जाती है। निर्वेद सर्ग के बाद मनु का चरित्र श्रद्धा द्वारा ही निर्मित होता है, वह उन्हें नटेश का ताण्डव नृत्य दिखाती, कैलास की ओर ले जाती, त्रिपुर-दर्शन कराती और ज्ञान-इच्छा-क्रिया का समन्वय दिखा कर समरसानन्द की उपलब्धि कराती है। अन्त में उसी की कृपा से इडा, मानव और सारस्वत नगर के वासियों को भी कैलास में पहुँच कर अखण्ड आनन्द और परम शान्ति की प्राप्ति होती है। इस प्रकार श्रद्धा में प्रसाद जी ने अपने मानवतावादी आदर्शवाद की कल्पना को ही जैसे साकार कर दिया है। परिणामस्वरूप श्रद्धा 'कामायनी' का सर्वश्रेष्ठ और सबसे महत्वपूर्ण चरित्र तो है ही, समस्त भारतीय साहित्य में भी उसकी तुलना के चरित्र नहीं मिलेंगे। वह शकुन्तला, पार्वती, द्रौपदी, सावित्री, दमयन्ती, सीता, मन्दोदरी आदि आदर्श भारतीय नारी पात्रों से भिन्न और आज की दृष्टि से उनसे भी उच्च विश्व-कल्याणमयी माँ के रूप में मानी जायगी, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

कामायनी में तीसरा महत्त्वपूर्ण चरित्र इड़ा का है। यद्यपि प्रसाद ने उसके चरित्र को अधिक परिस्फुट और व्यापक नहीं बनाया है और उसे विशेषरूप

से प्रतीत पात्र की भूमिका में ही रखा है, फिर भी उसके व्यक्तित्व की रेखायें, सीमित रूप से ही सही पर्याप्त स्पष्ट है। श्रद्धा की तरह वह भी प्रारम्भ में ही अपनी प्रधान विशेषता-बौद्धिकता और कर्मशीलता-लिए हुए प्रकट होती है। उसके प्रधान साधन ज्ञान-विज्ञान हैं, वह त्रिगुणात्मकता, चचलता और गतिशीलता की साकार प्रतिमा प्रतीत होती है :—

बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल!

× × ×

वक्षस्थल पर एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान-ज्ञान!
था एक हाथ मे कर्म कलश वसुधा जीवन-रस-सार लिये।
दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलम्ब दिये।
त्रिवली थी त्रिगुण तरंगमयी, आलोक वसन लिपटा अराल!
चरणों मे थी गति भरी ताल!

—इड़ा सर्ग

वह आधुनिक युग की भौतिकता और व्यवसायात्मिका बुद्धि का प्रतीक है जो राष्ट्र-निर्माण और भौतिक उन्नति के महान उद्देश्य के सम्मुख भावुकता कोमलता, विश्राम और आत्मिक शान्ति आदि को तनिक भी महत्व नहीं देती। प्रारम्भ में उसका यही रूप प्रधान है और प्रथम मिलन में ही वह मनु को जो उपदेश देती है उससे ऐसा लगता है मानो आधुनिक पूँजीवादी व्यक्तिवाद और वैज्ञानिक विकासवाद की आत्मा ही बोल रही है:—

हां, तुम ही हो अपने सहाय!
जो बुद्धि कहे उसको न मान कर फिर किस की नर शरण जाय।

× × ×

यह प्रकृति परम रमणीय अखिल ऐश्वर्य भरी शोधक विहीन,
तुम उसका पटल खोलने में परिकर कस कर बन कर्म लीन,
सब का नियमन शासन करते बस बढ़ा चलो अपनी क्षमता।
तुम ही इसके निर्णायक हो, हो कहीं विषमता या समता!

—इडा सर्ग

उसकी इस प्रेरणा के अनुसार ही मनु सारस्वत प्रदेश की उन्नति और वर्ग-विभाजन पर आधारित व्यवस्था में लीन होते हैं जिसका स्वाभाविक परिणाम यांत्रिक विकास, शोषण, अधिनायक तन्त्र आदि हुआ करता है। सारस्वत प्रदेश में भी ये परिणाम घटित होते है। मनु व्यक्तिवादी तथा दम्भ और अहम्मन्यता

के पुतले बन कर स्वेच्छाचारी अधिनायकवाद की ओर बढ़ना चाहते हैं, जनता यंत्रों का दास बन जाती है, प्रकृति के साथ संघर्ष होता है, गरीबों का शोषण होता है। इन सब का उत्तरदायित्व इड़ा पर ही है, मनु पर नहीं :–

तुमने ही संघर्ष भूमिका मुझे सिखायी !
प्रकृति संग संघर्ष निरन्तर, अब कैसा डर ?

× × ×

प्रकृत शक्ति तुमने यन्त्रों से सबकी छीनी।
शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झोनी।

–संघर्ष सर्ग

यह तो इड़ा के चरित्र का स्थूल पक्ष है जो भौतिक सभ्यता के बाह्य रूप–पूँजीवादी वैज्ञानिक उन्नति और राज्य-व्यवस्था–से सम्बन्धित है और जिसकी चरम परिणति युद्ध और नाश होती है। पर उसके चरित्र का एक सूक्ष्म पक्ष भी है; वह यह कि बुद्धिवाद और भौतिकता अपने आप में बुरे नहीं हैं, उनके महदुद्देश्य में सन्देह नहीं किया जा सकता। यह उद्देश्य भी राष्ट्र-हित और मानव-कल्याण ही है जो आध्यात्मिक उद्देश्य से अधिक भिन्न नहीं है। अतः इड़ा मार्क्सवादियों की तरह संघर्ष और द्वन्द्व को 'भूत' का स्वभाव मानते हुए निर्बाधित अधिकार का विरोध करती है और व्यक्तिवाद के आधार पर लोक-कल्याण का स्वप्न देखती है :–

निर्बाधित अधिकार आज तक किसने भोगा ?

× × ×

स्पर्धा में जो उत्तम ठहरें वे रह जावें।
संसृति का कल्याण करें शुभ मार्ग बतावें।

× × ×

अपना जिसमें श्रेय वही सुख की आराधना।
लोक सुखी हो आश्रय ले यदि उस छाया में,
प्राण सदृश तो रमो राष्ट्र की इस काया में !

–संघर्ष सर्ग

इस तरह वह द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर आगे बढ़ते हुए व्यक्ति को देश-काल की परिधि मिटा कर महाचेतना के साथ सहयोग करने को कहती है:–

देश-कल्पना काल परिधि में होती लय है।
काल खोजता महा चेतना मे निज लय है।

× × ×

ताल ताल पर चलो नहीं लय छूटे जिसमे
तुम न विवादी स्वर छेड़ो अनजाने इसमे!

--संघर्ष सर्ग

किन्तु इसके आगे इडा की गति नही है। जहाँ तक बुद्धि जा सकती है, इडा वहीं तक सोच सकती है पर जो इन्द्रिय, मन और बुद्धि से परे है, उसकी चिन्ता इड़ा को नही है। प्रसाद जी का पक्ष यह है कि केवल बुद्धिवाद और भौतिक उन्नति से ही विश्वकल्याण और चिर द्वन्द्वों की शान्ति नही हो सकती; उसके लिये तो बुद्धि और हृदय के समन्वय की आवश्यकता है। इसीलिए वे श्रद्धा के मुँह से इड़ा को 'सिर चढ़ी' और हृदयहीन कहवाते हैं:—

सिर चढ़ी रही पाया न हृदय,
तू विकल कर रही है अभिनय।
ओ तर्कमयी, तू गिने लहर,
प्रतिबिम्बित तारा पकड़ ठहर।

—दर्शन सर्ग

किन्तु श्रद्धा के अलौकिक व्यक्तित्व के प्रभाव तथा संघर्ष के भयंकर परिणाम की प्रतिक्रिया के फल स्वरूप इड़ा की जीवन-धारा सहसा बिलकुल विपरीत दिशा में मुड़ जाती है। मनु के समान वह भी श्रद्धा के सम्मुख पश्चात्ताप और ग्लानि से विगलित होती और अनजान में श्रद्धा का सुहाग छीनने के अपराध के लिये उससे क्षमा मांगती है। श्रद्धा वरदान-स्वरूप अपने पुत्र मानव को इड़ा के हाथ में सौंप देती है। पर इसमें भी उसका महान उद्देश्य निहित है जो वह स्वयं व्यक्त भी कर देती है:—

यह तर्कमयी, तू श्रद्धामय!

× ×

इसका तू सब सन्ताप निचय
हर ले, हो मानव भाग्य उदय!

—दर्शन सर्ग

इडा इस आशीर्वाद को विश्वासपूर्वक ग्रहण करती हुई श्रद्धा के चरणों की धूल लेती है। कभी न झुकने वाली, उद्दाम शक्ति के आवेग से तरंगित पहले वाली इड़ा अब द्रवित होकर क्षमा, ममता, करुणा और शान्ति की मूर्ति

बन जाती है। अन्त में जब वह कैलास-यात्रा करने जाती है तो उसका बुद्धिवाद का अभिमान बिलकुल समाप्त हो गया रहता है। वह फिर मातृ-मूर्ति श्रद्धा के पावों पर झुकती और अपने बुद्धिवाद की व्यर्थता स्वीकार करती है !—

हे देवि तुम्हारी ममता बस मुझे खींचती लायी।
भगवति, समझो मैं सचमुच कुछ भी न समझ थी मुझको,
सब को ही भुला रही थी अभ्यास यही था मुझको।

—आनन्द सर्ग

इस प्रकार इडा का चरित्र भी विकसनशील है। वह भी मनु की तरह श्रद्धा की अलौकिक आत्मिक शक्ति के तीव्र आकर्षण से खिंचकर कैलास में पहुँचती, वहाँ धर्म के प्रतिनिधि वृषभ का उत्सर्ग करती और समरसावस्था में लीन होकर 'अखण्ड आनन्द' का अनुभव करती है। प्रसाद जी ने उसे प्रारम्भ में आधुनिक युग की शिक्षिता और विदुषी समाजनेत्री के रूप में और बाद में आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति के लिये वैराग्य धारण करने वाली धर्मप्राण नारी के रूप में चित्रित किया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कामायनी के तीनों प्रमुख पात्र महाकाव्योचित महानता से युक्त, एक दूसरे के चरित्र के पूरक अथच उन्नायक और कथा की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें से श्रद्धा ही ऐसी है जिसमें कवि ने पूर्णत्व की प्रतिष्ठा की है और उसे वह गौरव प्रदान किया है जिसके कारण यह महाकाव्य भी गौरवान्वित हो उठा है। रवि बाबू ने महाकाव्य के महचरित्र के जो लक्षण बताये हैं (देखिए अध्याय ८ में टिप्पणी) वे श्रद्धा में वर्तमान हैं। अतः कामायनी का मेरुदण्ड और उसके महाकाव्यत्व का प्रधान कारण श्रद्धा ही है। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का यह कथन सर्वथा उचित है कि 'कामायनी या श्रद्धा का चरित्र अपनी आदर्शात्मक विशेषता के कारण काव्य का सर्वप्रमुख चरित्र है। कामायनी को नायिका-प्रधान काव्य कहा जा सकता है।'"[1]

६—गरिमामयी उदात्त शैली

शैली की दृष्टि से कामायनी हिन्दी में अपने ढंग का अकेला और निराला महाकाव्य है। उसमें शैली की वह गरिमा, भव्यता और उदात्तता पूर्ण मात्रा में वर्तमान है जिसके बिना कोई काव्य महाकाव्य पद का अधिकारी हो ही नहीं सकता। यदि केवल शैली की पूर्णता को ध्यान में रखकर निर्णय देना हो तो बिना हिचक के कहा जा सकता है कि कामायनी हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ

१—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी—आधुनिक साहित्य—पृ० ६८।

अलंकृत महाकाव्य है। 'शैली' शब्द इतना व्यापक अर्थ व्यक्त करने वाला है कि उसके विभिन्न अवयवों की व्याख्या तो की जा सकती है किन्तु उसके समग्र प्रभाव की दृष्टि से उसका अनुभव और अनुमान ही किया जा सकता है। अतः जब कामायनी की शैली में भव्यता, गरिमा और उदात्तता की पूर्णता की बात कही जाती है जो इसका अर्थ यही है कि उसकी इन विशेषताओं की पहिचान समग्र प्रभाव के बाद ही होती है। यदि समग्र प्रभाव की दृष्टि से उस पर विचार किया जाय तो इस बात की आशंका बनी रहेगी कि शैली के विभिन्न स्वरूपों के आधार पर उसे भिन्न-भिन्न शैलियों का महाकाव्य कहा जायगा। कारण यह है कि उसमें अनेक शैलियों का सुन्दर समन्वय हुआ है और ध्यान से न देखने पर उसमें एक ही शैली स्पष्ट दिखाई पड़ सकती है जिससे उसको उसी शैली का महाकाव्य मान लिया जा सकता है। इस अध्याय के शीर्षक में हमने कामायनी को रूपककथात्मक महाकाव्य कहा है। किन्तु यह भी सही है कि कामायनी में प्रगीत-शैली का भी पर्याप्त योग है। अब यदि देखनेवाले की दृष्टि प्रगीत शैली पर ही केन्द्रित हो और वह उसके रूपक-तत्त्व को दृष्टि से ओझल कर दे तो वह विश्वास के साथ उसे प्रगीतात्मक शैली का ही महाकाव्य कहेगा। इसी तरह उसे मनोवैज्ञानिक शैली, स्वच्छन्दतावादी शैली अथवा 'क्लैसिकल' शैली का महाकाव्य भी कहा जा सकता है। भावात्मकता, वर्णन-वैशिष्ट्य और अभिव्यक्ति प्रणाली की दृष्टि से कोई उसे भावात्मक, वर्णनात्मक और लाक्षणिक या चित्रात्मक शैली का काव्य भी कह सकता है। इससे यह स्पष्ट है कि कामायनी शैली के विविध तत्त्वों और पक्षों तथा अभिव्यक्ति के विविध स्वरूपों की पूर्णता है और उन सबके सामंजस्य से ही उसमें शैलीगत गरिमा और उदात्तता की प्रतिष्ठा हुई है।

इस कथन को और स्पष्ट करने के लिए उसमें वर्तमान कतिपय शैलीगत तत्त्वों पर विचार कर लेना आवश्यक है। दूसरे अध्याय में कहा जा चुका है कि अलकृत महाकाव्यों में कम शब्दों में अधिक अर्थ व्यक्त करने, थोड़े में अधिक कहने की प्रवृत्ति प्रधान होती है। इसका अर्थ यह है कि श्रेष्ठ कलात्मक या अलंकृत महाकाव्य में तथ्य-कथन और विवरण उपस्थित करने की ओर कवि का उतना ध्यान नहीं रहता जितना सौन्दर्यानुभूति और भाव-सत्य की पूर्ण अभिव्यक्ति तथा कल्पना की मनोरम सृष्टि की ओर होता है। इसी की व्याख्या आलंकारिकों ने अलंकार, गुण, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि के रूप में की है। कामायनी में भावनाओं की सच्चाई, व्यापकता और गहराई इतनी अधिक है कि उसका बाह्य कथा-शरीर उपेक्षित सा प्रतीत होता है। यद्यपि

प्रसाद जी ने वास्तविकता या इतिहास का समर्थन किया है पर मूलतः वे वस्तु-जगत के नहीं, भाव-जगत के ही कवि हैं। महाकाव्य प्रायः विषय-प्रधान और बाह्यार्थ-निरूपक काव्यरूप माना जाता है। पर कामायनी इस अर्थ में सर्वथा नवीन प्रयोग है कि भाव-प्रधान और अन्तर्वृत्ति निरूपक होते हुए भी वह एक उच्चकोटि का महाकाव्य है। वस्तुतः भावप्रवणता और अन्तर्वृत्ति निरूपण प्रगीत-काव्य के गुण हैं। अतः इसी बात को ध्यान में रखकर उसे कुछ लोग भावात्मक या प्रगीतात्मक शैली का महाकाव्य कहते हैं। यह बात बहुत अंशो में सही भी है। दूसरे अध्याय में हम दिखा चुके है कि अनेक प्रगीत मुक्तकों में भाव-गाम्भीर्य और उदात्त शैली के कारण महाकाव्यात्मक प्रभाव उत्पन्न करने की शक्ति होती है। इसी तरह अनेक महाकाव्यों में प्रगीत काव्य के गुणों को प्रधानता होने से उनका प्रभाव प्रगीतात्मक ही होता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक कविता में ताजमहल को 'सृष्टि के कपोल पर एक अश्रु बिन्दु' कहा है जिसका अर्थ यही है कि ताजमहल में विराटता होते हुए भी कोमलता है, विशालता और स्थूलता होते हुए भी आन्तरिक माधुर्य और सूक्ष्मता है। प्रगीतात्मक महाकाव्य में भी यही बात होती है। निष्कर्ष यही कि वास्तुकला के क्षेत्र में जो स्थान ताजमहल का है, काव्य के क्षेत्र में वही कामायनी का है। दोनों में ही वस्तु-सत्य और भाव सत्य, बाह्य-जगत और अन्तर्जगत, विराटता और कोमलता, स्थूल और सूक्ष्म का आश्चर्यजनक संगम हुआ है। विराटता और कोमलता का यह समन्वय कामायनी के पहले दो छन्द में दिखलाई पड़ जाता है :—

> हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर बैठ शिला की शीतल छाँह।
> एक पुरुष भीगे नयनों से देख रहा था प्रलय-प्रवाह।
> नीचे जल था ऊपर हिम था एक तरल था एक सघन।
> एक तत्त्व की ही प्रधानता, कहो उसे जड़ या चेतन।

इसमें हिमालय की विराटता और ऊँचाई, प्रलय की भयानकता और हिम की स्थूलता, जड़ता, और निर्जीवता के साथ अश्रु-बिन्दुओं की करुणा, विह्वलता और वेदना, शीतल छाया की कोमलता, मधुरता और सूक्ष्मता तथा जल की जीवन्तता और तरलता को इस प्रकार अंगांगो भाव से मिला दिया है कि जड़ और चेतन, विराट् और कोमल, स्थूल और सूक्ष्म का भेद ही मिट गया है। अतः कामायनी के प्रारम्भ के ये दोनों छन्द एक प्रकार से पूरे काव्य की शैली के प्रतीक हैं। उन्हीं को पढ़ कर प्रारम्भ में ही हम यह अनुमान कर लेते हैं कि कामायनी में प्रगीत और महाकाव्य के तत्त्वों का समन्वय अवश्य हुआ होगा।

शैली की उदात्तता का कारण कामायनी की वह अभिव्यंजना-प्रणाली है है जिसके द्वारा प्रसाद ने बाह्य तत्त्वों-ऐतिहासिक, सामाजिक और राष्ट्रीय संघर्ष और विकास-को पर्याप्त महत्त्व देते हुए उनमें अन्तर्निहित चिरन्तन सूक्ष्म तत्त्वों —मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक संघर्ष तथा विकास—का उद्घाटन और चित्रण अत्यन्त सफलता से किया है। कामायनी के रूप-तत्त्व पर विचार करते हुए कहा जा चुका है कि उसमें सांकेतिकता अथवा ध्वनि के द्वारा प्रस्तुत में अप्रस्तुत का आरोप हुआ है। यह पद्धति केवल कामायनी की कथा ही में नहीं उसके वर्णन में भी अपनाई गयी है। वर्णनों की अधिकता के कारण उसकी कथा-वस्तु क्षीण हो गयी है पर ये वर्णन बाह्य तत्त्वों के नहीं, आन्तरिक तत्त्वों के हैं। अन्तर्वृत्तियों और सूक्ष्म अनुभूतियों की सफल अभिव्यक्ति अभिधात्मक शैली में नहीं हो सकती, उसके लिए लाक्षणिक और सांकेतिक पद्धति आवश्यक है। पहले कहा जा चुका है कि कामायनी छायावादी काव्य धारा का प्रतिनिधि महाकाव्य है। अतः छायावादी कविता की अभिव्यंजना-प्रणाली का व्यवहार उसमें आद्यन्त हुआ है। छायावाद की विशेषताओं की व्याख्या करते हुए प्रसाद जी ने लिखा है, "छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृत्ति छायावाद की विशेषतायें है। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह आन्तर स्पर्श करके भाव समर्पण करनेवाली अभिव्यक्ति की छाया कान्तिमयी होती है।"[1] कहने की आवश्यकता नही कि कामायनी में अनुभूति की सूक्ष्मता और जटिलता की अभिव्यक्ति के लिए अभिव्यजना के उन सभी कौशलों का उपयोग किया गया है जिनका उल्लेख प्रसाद जी के उपर्युक्त कथन में हुआ है।

ध्वन्यात्मकता

वस्तुतः प्रसाद जी आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त के ध्वनिवाद और कुन्तक के वक्रोक्तिवाद से बहुत अधिक प्रभावित थे और वह प्रभाव कामायनी की अभिव्यंजना-प्रणाली पर स्पष्ट दिखाई पड़ता है। उसमें वैदग्ध्य-भंगी-भणिति अथवा वचनवक्रता के सहारे अनुभूति की भंगिमा को अभिव्यक्त करने की ओर कवि का जितना ध्यान है उतना किसी बात को सीधे सीधे वाच्यार्थ के माध्यम से कहने की ओर नहीं। कारण यह है कि कामायनी का कवि आनन्दवर्धन के

१—जयशंकर प्रसाद—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध-पृष्ठ ११८-तृतीय संस्करण।

इस मत को मानने वाला है कि महाकवियों की वाणी में प्रतीयमान अर्थ की प्रधानता होती है जो वाच्यार्थ से भिन्न कुछ और ही वस्तु होती है और जो रमणी के प्रसिद्ध अवयवों और अलंकारों से भिन्न उनके लावण्य के समान अलग ही प्रकाशित होता है।[1] इस मत के अनुसार प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति अभिधा, लक्षणा, और तात्पर्याख्या इन तीनों वृत्तियों से भिन्न व्यंजना नामक वृत्ति से होती है। यही प्रतीयमान अर्थ या व्यंग्यार्थ कामायनी की उक्तियों, वर्णनों और कथानक में प्रमुख बन कर अभिव्यक्त हुआ है जो कहीं वस्तुध्वनि, कहीं अलंकारध्वनि और कहीं रसध्वनि के रूप में दिखाई पड़ता है। कामायनी से उन सब के उदाहरण उपस्थित करना यहाँ सम्भव नहीं है। केवल कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे है :—

वस्तुध्वनि—

(क) निस्सम्बल होकर तिरती हूँ इस मानस की गहराई में।

इसमें 'मानस' शब्द से पहले सरोवर और फिर हृदय का अर्थ ध्वनित होने से अभिधामूलक शब्दशक्युद्भव वस्तुध्वनि है।

(ख) बरदान सदृश हो डाल रही नीली किरणों से बुना हुआ।
यह अंचल कितना हलका सा कितने सौरभ से सना हुआ।—लज्जा सर्ग

इसमें किरन, अचल और सौरभ का वाच्यार्थ सर्वथा तिरस्कृत होने से लक्षण-लक्षणा द्वारा लज्जा के सूक्ष्म आवरण की बात ध्वनित होती है, अतः यहाँ अत्यन्त तिरस्कृत अविवक्षित-वाच्यध्वनि है।

अलंकारध्वनि

क्या कहती हो ठहरो नारी संकल्प अश्रुजल से अपने
तुम दान कर चुकी पहले ही जीवन के सोने से सपने।—लज्जा सर्ग

इसमें रूपक और उपमा अलंकार द्वारा नारी के आत्मोत्सर्ग, विश्वास आदि गुणों का महत्व ध्वनित होता है। नारी, संकल्प और दान शब्दों से व्यंग्यार्थ ध्वनित हुआ है, उनके पर्यायवाची शब्दों से उक्त ध्वनि नहीं निकल सकती थी। अतः यहाँ 'शब्दशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रम-व्यंग्यध्वनि' है।

रसध्वनि—

हाहाकार हुआ क्रन्दनमय कठिन कुलिश होते थे चूर।
हुए दिगन्त बधिर, भीषण रव बार बार होता था क्रूर।—चिन्ता सर्ग

१—आनन्दवर्धन—
प्रतीयमानं पुनरन्यदेव, वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत् यत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु। ध्वन्यालोक १–४।

इसमें भयानक रस है। विभावादि से सीधे रस की व्यंजना होने से यहाँ 'असंलक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनि' है

लाक्षणिकता

यों तो छायावाद की काव्य-शैली ही ध्वनि-प्रधान है पर कामायनी ध्वनि-काव्य की दृष्टि से छायावाद-युग की सर्वोत्तम देन है। व्यंजना के साथ ही उसमें लाक्षणिक प्रयोगों की भी अधिकता है। इस तरह वचन-वक्रता द्वारा कवि ने कम शब्दों में अधिक अर्थ भरने का सफल प्रयत्न किया है। अभिधा से शब्द के कुछ निश्चित अर्थों का बोध होता है जिन्हें शब्दकोश में देखा जा सकता है पर उसी शब्द का दूसरे रूप में व्यवहार करने से लक्षणा शक्ति द्वारा मुख्यार्थ से भिन्न और कभी-कभी विपरीत अर्थों का बोध होता है। शब्दों के परस्पर सम्बन्ध में 'अयोग्यता' मालूम पड़ने पर रूढ़िवश या किसी प्रयोजन से मुख्यार्थ से सम्बन्धित या उस पर आधारित जिस अन्य अर्थ की उत्पत्ति होती है, वही लक्ष्यार्थ है। लक्षणायें कुल ८० मानी गयी हैं। कामायनी में इनके उदाहरण खोजे जा सकते हैं। यहाँ कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं :—

(क) नारी का यह हृदय, हृदय में सुधासिन्धु लहरें लेता।
वाड़व जलन उसी में जलकर कंचन सा जल रग देता।—निर्वेद सर्ग

इसमें मुख्यार्थ की बाधा यह है कि सुधा का सिन्धु नहीं होता और हो तो वह हृदय में लहरें नहीं ले सकता और न हृदय में बाडवाग्नि ही जल सकती है। अतः इसका लक्ष्यार्थ यह है कि नारी का हृदय पवित्रता, शान्ति और माधुर्य से पूर्ण होता है पर उसमें दुःख भी ज्वाला की तरह जलता रहता है जिसमें तप कर उसका जीवन सोने से भी सुन्दर और मूल्यवान बन जाता है। इस तरह इसमें प्रयोजनवती लक्षणा है। रूपक के कारण अलंकार होने से सारोपा लक्षणा भी है। इसी तरह उपमा-उपमेय के सादृश्य और लक्षण-साम्य के कारण इसमें गौणी और लक्षण-लक्षणा भी है। इस तरह सब मिलाकर 'प्रयोजनवती-सारोपा गौणी-लक्षण लक्षणा' का सुन्दर उदाहरण है।

(ख) किरनों का रज्जु समेट लिया जिसका अवलम्बन ले चढ़ती!
रस के निर्झर में धँसकर मैं आनन्द शिखर के प्रति बढ़ती।—लज्जा सर्ग

इसमें पहली पंक्ति में उपमान में उपमेय के अध्यवसान के कारण साध्यवसाना और दूसरी पंक्ति में आरोप होने से सारोपा लक्षणा है। इसके अतिरिक्त उनमें सादृश्येतर सम्बन्ध होने से यहाँ शुद्धा लक्षणा भी है। अतः सब मिलाकर पहली पंक्तिमें 'प्रयोजनवती शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा' और दूसरी में 'प्रयोजनवती

शुद्धा सारोपा लक्षण-लक्षणा' है। इस प्रकार कामायनी से लक्षणा के बहुत अधिक उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनके लिए यहाँ अवकाश नहीं है।

प्रतीकात्मकता और चित्रात्मकता

लक्षण-व्यजना के कारण भाषा में चित्रात्मकता और सांकेतिकता आती है। अतः कामायनी में चित्रात्मक और सांकेतिक शैली की प्रधानता है। चित्रात्मकता के लिए अप्रस्तुत विधान में कल्पना की अधिक आवश्यकता होती है। उसी तरह सांकेतिकता के लिये शब्द शक्तियों का सहारा लेना पड़ता है। दूरारूढ़ या क्लिष्ट कल्पना से भाषा दुरूह और अव्यावहारिक हो जाती है पर सामान्यतः कल्पनाशक्ति की सहायता के बिना भाषा उत्कृष्ट नहीं हो सकती। कामायनी में दूरारूढ़ कल्पनाएँ बहुत कम हैं। उसमें कल्पनाशक्ति की सहायता अधिक ली गयी है जिससे उनकी शैली में सौन्दर्य-वृद्धि हुई है और उसीके फलस्वरूप उसकी भाषा अत्यन्त चित्रात्मक और रमणीय बन सकी है। सांकेतिकता के भीतर प्रतीक योजना, लाक्षणिकता, व्यंजकता और ध्वनि सबका समाहार हो जाता है। कामायनी में लक्षणा, व्यंजना और ध्वनि का कितना अधिक सहारा लिया गया है, यह ऊपर दिखाया जा चुका है। यहाँ उसकी प्रतीक-योजना और चित्रात्मकता के सम्बन्ध में संक्षेप में विचार कर लेना आवश्यक है। प्रतीक दो प्रकार के होते हैं; परम्परागत या रूढ़ और नवीन। छायावाद-युग और उसके बाद के कवियों ने नवीन प्रतीकों का ही प्रयोग अधिक किया है। छायावादी कवियों ने प्रतीक-योजना में रूप-गुण-सादृश्य की ओर उतना ध्यान नहीं दिया जितना प्रभाव-साम्य की ओर। 'शुद्धा साध्यवसाना प्रयोजनवती लक्षणा' में इसी तरह के प्रभाव-साम्य पर आधारित प्रतीकों का प्रयोग होता है। कामायनी की प्रतीक-योजना इसी प्रकार की है यद्यपि उसमें प्रतीकों का उपयोग अधिकतर अलंकार-रूप में अथवा लाक्षणिकता लाने के लिये हुआ है जिसमें वे दूरारूढ़ कल्पना से उद्भूत नहीं प्रतीत होते। कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं :—

(क) अपनी ज्वाला से कर प्रकाश......।
(ख) जीवन निशीथ के अन्धकार!

× × ×

कलियाँ जिनको मैं समझ रहा वे कांटे बिखरे आस पास!
(ग) मधुमय वसन्त जीवन-वन के......।
(घ) क्या तुम्हें देखकर आते यों मतवाली कोयल बोली थी?
(ङ) देवों की विजय दानवों की हारों का होता युद्ध रहा!

(च) किरनों का रज्जु समेट लिया जिसका अवलम्बन ले चढ़ती।
(छ) स्वच्छन्द सुमन जो खिले रहे जीवन वन से हो बीन रही।

इन पंक्तियों में प्रयुक्त प्रतीकात्मक शब्द और उनके प्रतीकार्थ ये हैः—
ज्वाला = वेदना, प्रकाश = ज्ञान अथवा सुख, अन्धकार = दुःख अथवा अज्ञान; कलियाँ = सुख के साधन, काँटे = कठिनाइयाँ अथवा दुःख; कोयल = हृदय का उल्लास; देव = सत्प्रवृत्तियाँ, दानव = असत्प्रवृत्तियाँ; किरनों का रज्जु = कल्पनायें; स्वच्छन्द सुमन = उन्मुक्त अभिलाषा।

अलंकार-विधान—

सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान और मूर्तिविधायनी कल्पना के योग से कामायनी में चित्रात्मकता और मूर्तिमत्ता बहुत अधिक दिखलाई पड़ती है। प्रसाद जी ने कल्पना द्वारा जड़ और स्थूल वस्तुओं को भी सजीव और चेतन तथा सूक्ष्म भावनाओं और अन्तर्वृत्तियों को भी सशरीरी बना दिया है। इसके लिये उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य अलंकारों की भरपूर सहायता ली है। अलंकारों के प्रयोग में उनका उद्देश्य चमत्कार उत्पन्न करना नहीं, बल्कि वर्ण्यवस्तु को सहज बोधगम्य और इन्द्रिय-ग्राह्य बनाना है; उदाहरणार्थ श्रद्धा सर्ग में उन्होंने श्रद्धा के रूप-चित्रण में नवीन उपमानों और मनोरम कल्पना द्वारा जो चित्र खड़ा किया है वह केवल रूप-सौन्दर्य का ही नहीं, श्रद्धा के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का चित्र है। उसमें शारीरिक अवयवों, परिधान, मुसकान आदि का चित्र तो सामने आता ही है, उसकी आन्तरिक कान्ति और सुन्दरता भी मूर्त होकर सामने आती है। अंगों की तुलना बिजली के फूल से करके उन्होने शारीरिक कान्ति की अतिशयता को पाठकों के लिये जिस तरह इन्द्रिय ग्राह्य बना दिया है, वैसा अन्यत्र मिलना कठिन है :—

नील परिधान बीच सुकुमार खुल रहा मृदुल अधखुला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल मेघवन बीच गुलाबी रंग॥

यहाँ अलंकार तो पुराना (उत्प्रेक्षा) ही है किन्तु उपमानों की ताजगी, नवीनता और सादृश्य से चित्र सजीव हो उठा है। इसी प्रकार केवल उत्प्रेक्षा के सहारे श्रद्धा का रूप-वर्णन बारह छन्दों में हुआ है। इसे आधुनिक ढंग का रूप-वर्णन भी कहा जा सकता है जिसमें पुराने नख-शिख-वर्णनों जैसा अवयव-क्रम नहीं है और न पुराने घिसे-पिटे उपमानों का ही प्रयोग हुआ है।

चित्रात्मकता लाने के लिए कामायनी में पाश्चात्य अलंकार 'मानवीकरण' का भी बहुत अधिक उपयोग हुआ है :—

(क) भयमय मौन निरीक्षक सा था सजग सतत चुप चाप खड़ा।
—निर्वेद सर्ग

(ख) संध्या की लाली में हँसती उसका ही आश्रय लेती सी।
छाया प्रतिमा गुनगुना उठी श्रद्धा का उत्तर देती सी॥
—लज्जा सर्ग

(ग) सृष्टि हँसने लगी आंखों में खिला अनुराग—वासना सर्ग

(घ) शिथिल अलसाई पड़ी छाया निशा की कान्त।
सो रही थी शिशिर कण की सेज पर विश्रान्त॥ —वासना सर्ग

(ङ) अभिलाषा अपने यौवन में उठती उस सुख के स्वागत को।
—लज्जा सर्ग

विरोधाभास छायावादी कविता का बहु-प्रयुक्त अलंकार है क्योंकि इसके द्वारा जो चमत्कार उत्पन्न होता है वह केवल उक्ति तक ही सीमित नहीं रहता, उसमें प्रभाव उत्पन्न करने की भी बहुत क्षमता होती है और सूक्ष्म तथा गुम्फित अनुभूतियों की अभिव्यक्ति भी उससे आसानी से हो जाती है। कामायनी में विरोधजन्य वचन-वक्रता बहुत मिलती है। कुछ उदाहरण ये है:—

(क) रस के निर्भर मे धँस कर मैं आनन्द शिखर के प्रति बढ़ती।
—लज्जा सर्ग

(ख) जीवन का सन्तोष अन्य का रोदन बन हँसता क्यों ?
—कर्म सर्ग

(ग) जागृत था सौन्दर्य यदपि वह सोती थी सुकुमारी।—कर्म सर्ग

(घ) लाली बन सरल कपोलों मे आंखों में अञ्जन सी लगती।
—लज्जा सर्ग

मानवीकरण और विरोधाभास के उदाहरण उपस्थित करने का अभिप्राय यह दिखाना था कि अलंकारों के प्रयोग में भी प्रसाद जी की प्रवृत्ति नवीनता की ओर थी। उपमा, रूपक, रूपकातिशयोक्ति आदि अलंकारों का प्रयोग भी कामायनी में कम नहीं हुआ है पर उसकी अलंकृत अभिव्यक्ति सर्वत्र सहज और आन्तरिक कान्ति से युक्त है। छायावाद की अभिव्यञ्जना-पद्धति के बारे में प्रसाद जी का यह कथन कामायनी पर सबसे अधिक लागू होता है, "इन अभिव्यक्तियों में जो छाया की स्निग्धता है, तरलता है, वह विचित्र है। अलंकारों के भीतर आने पर भी ये उनसे कुछ अधिक हैं।"[1] इसका कारण यह है कि

१-जयशंकर प्रसाद—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध—पृष्ठ—१२७-तृ.सं.

कामायनी में अलंकार साध्य रूप में नहीं, साधन रूप में प्रयुक्त हुए हैं। प्रसाद जी ने वस्तुतः ध्वनि-सम्प्रदाय की अलंकार-ध्वनि के रूप में ही अलंकार को प्रतीयमान अर्थ या रस के साधन के रूप में अपनाया है।

भाषा और शब्द-चयन

कामायनी छायावाद की प्रौढ़तम रचना है, अतः इसमें छायावाद-युग की काव्य-भाषा का सुन्दरतम आदर्श दिखाई पड़ता है। संस्कृत साहित्य के गहन अध्ययन तथा साहित्य-निर्माण की व्यापक साधना के उपरान्त प्रसाद जी ने कामायनी की रचना की थी। अत. उसमें शब्द-शिल्प की जैसी उत्कृष्टता और पूर्णता है वैसी छायावाद की अन्य किसी कृति में नहीं दिखाई पड़ती। ऊपर कामायनी की व्यंजकता, लाक्षणिकता और चित्रात्मकता के सम्बन्ध में जो विचार किया गया है उससे स्पष्ट है कि उसकी भाषा अत्यन्त शक्तिपूर्ण और समृद्ध है और उसमें अनुभूतियों की गम्भीरता, सूक्ष्मता और जटिलता को व्यक्त करने की पूर्ण क्षमता है। बाह्य से अधिक आन्तर सत्य की अभिव्यक्ति की प्रवृत्ति प्रधान होने से कामायनी के शब्द चयन और पद-योजना में नवीन कान्ति, नया सौंदर्य और नयी आकर्षण शक्ति आ गयी है। शब्द-योजना के सम्बन्ध में प्रसाद जी ने लिखा है कि "शब्दों में भिन्न प्रयोग से एक स्वतन्त्र अर्थ उत्पन्न करने की शक्ति है। समीप के शब्द भी उस शब्द-विशेष के नवीन अर्थ का द्योतन करने में सहायक होते हैं। भाषा के निर्माण में शब्दों के इस व्यवहार का बहुत हाथ होता है। अर्थ-बोध व्यवहार पर निर्भर करता है।"[१] इससे स्पष्ट है कि प्रसाद जी का ध्यान शब्द-शिल्प की ओर बहुत अधिक था। इसलिए कामायनी में लक्षणा और व्यंजना द्वारा उन्होंने 'शब्द-विन्यास' में ऐसा कौशल दिखाया है और शब्दों की 'भंगिमा' द्वारा एक ऐसा 'तड़प' उत्पन्न करने का प्रयास किया है जिससे उसमें सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभूतियों की भी सहज और प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति हो सकी है।

महाकाव्य की परम्परागत प्रबन्धरूढ़ियों की दृष्टि से देखने पर भी कामायनी में छायावाद-युग के अनुरूप विद्रोह और नवीनता की प्रवृत्ति प्रधान रूप में दिखाई पड़ती है। उसमें सर्गबद्धता तो अवश्य और सर्गों की संख्या भी ८ से अधिक है, पर प्रत्येक सर्ग का किसी भाव या मनोवृत्ति के नाम पर नामकरण नहीं किया गया है और न उनकी क्रम-संख्या ही दी गयी है। पुराने महाकाव्यों

१—जयशंकर प्रसाद—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध—तृतीय संस्करण, पृ० १२४

की तरह उसमें आदि में मंगलाचरण, वस्तु-निर्देश, सज्जन-दुर्जन-चिन्ता, कवि का आत्मनिवेदन और विनम्रता-प्रदर्शन, रचनाकाल-निर्देश, नगरी-वर्णन आदि रूढ़ियों का पालन भी नहीं हुआ है। उसमें कथा सीधे-सीधे, वह भी प्रारम्भ से ही नहीं, बीच से शुरू होती है। कवि ने प्रत्येक सर्ग में छन्द-परिवर्तन अवश्य किया है पर शास्त्रीय नियम का पालन करने की दृष्टि से नहीं। इसमें उसका उद्देश्य यह है कि विभिन्न छन्दों के प्रयोग से पाठकों का मन काव्य में रमता चले। कामायनी में प्रत्येक सर्ग में आद्यन्त एक ही छन्द का प्रयोग हुआ है जो शास्त्रीय नियम के अनुकूल है पर सर्गान्त एक ही छन्द-परिवर्तन नहीं हुआ है। इस तरह महाकाव्य के अस्थायी या बाह्य लक्षणों का उसमे पूर्णतः अभाव है। पर इस अभाव के कारण उसके महाकाव्यत्व में कोई बाधा नहीं उपस्थित हुई है, उलटे इससे उसके रूप-शिल्प में नवीनता और आकर्षण उत्पन्न हुआ है। इस तरह सभी दृष्टियों से कामायनी में शैली की पूर्णता दिखाई पड़ती है जिसके फलस्वरूप उसमें महाकाव्योचित भव्यता, गरिमा और उदात्तता आ गयी है।

७—तीव्र प्रभावान्विति और गम्भीर रसवत्ता

महाकाव्य में प्रभावान्विति अथवा रसवत्ता की स्थिति कथानक के स्वरूप पर निर्भर करती है। यदि कथानक का संघटन पाश्चात्य दुःखान्त रचनाओं के अनुरूप हुआ है तो उसमें समग्र प्रभाव तो तीव्र और समन्वित होगा पर भारतीय काव्यों जैसी रसवत्ता नहीं होगी और यदि कथानक भारतीय काव्यों के ढग का है तो गम्भीर रसवत्ता तो होगी पर पाश्चात्य दुःखान्त काव्यों जैसी तीव्र तथा झकझोर देने वाली प्रभावान्विति नहीं होगी। कामायनी के कथानक के सम्बन्ध में विचार करते हुए कहा जा चुका है कि उसमें भारतीय सुखान्त काव्यों और पाश्चात्य दुखान्त काव्यों की परस्पर विपरीत कथानक-शैलियों का औचित्य-पूर्ण सामंजस्य हुआ है। अतः विचारणीय प्रश्न यह है कि उसे प्रभावान्विति-प्रधान काव्य माना जाय या रसात्मक काव्य ?

हम पहले देख चुके हैं कि प्रसाद जी यथार्थ और आदर्श के समन्वय द्वारा आनन्दोपलब्धि या रसनिष्पत्ति को ही साध्य मानते थे और इसी सिद्धान्त के अनुसार कामायनी को उन्होने आनन्द पर्यवसायी बनाया है। पर आनन्द-पर्यवसायी होते हुए भी कामायनी में विरोध, संघर्ष, वेदना और शोक की ही प्रधानता है। उसका प्रारम्भ ही शोक तथा तज्जन्य चिन्ता से होता है। आशा सर्ग में शोक की भावना कुछ दब जाती है और उत्साह, आशा और कामना का उदय होता है। ये ही भाव श्रद्धा, काम, वासना और लज्जा सर्ग में शृङ्गार

रस के रूप में और कर्म, इडा, स्वप्न और संघर्ष सर्ग में वीर रस के रूप में दिखाई पड़ते है पर इन दोनों रसों का कामायनी में पूर्ण परिपाक नहीं हुआ है क्योंकि संघर्ष सर्ग तक मनु के मन में कोई एक भाव स्थिर रूप में नहीं रहता है। कभी तो वे रति-भाव से आवित रहते हैं और कभी अहकारमूलक उत्साह भाव से प्रेरित होकर विविध प्रकार के कर्म करते हैं। संघर्ष सर्ग में उनके आन्तरिक और बाह्य विरोधों का चरमोत्कर्ष दिखाई पड़ता है, वे पूर्णतया पराजित और मृतप्राय हो जाते हैं। अतः यहाँ फिर करुण रस आ जाता है जो निर्वेद सर्ग तक व्याप्त रहता है। किन्तु करुण रस की भी पूर्ण निष्पत्ति नहीं हो पाती है क्योंकि शीघ्र ही मनु और श्रद्धा का पुनः मिलन हो जाता है और श्रद्धा की परिचर्या से पुनः पूर्ण स्वस्थ और शान्तचित्त हो जाते हैं। इस तरह निर्वेद सर्ग विविध भावों और रसों का संगम-स्थल है; उसमें शोक जब चरम सीमा पर पहुँचता है तो उसी समय श्रद्धा पहुँच जाती है जिससे शोक पूर्णतया करुण रस में निष्पन्न नहीं हो पाता। यहीं श्रद्धा और मनु की रतिभावना फिर विकसित होकर सामने आती है और ऐसा प्रतीत होता है कि शृंगार रस में ही काव्य का पर्यवसान होगा। किन्तु तभी मनु के मनमें पश्चात्ताप, ग्लानि और निर्वेद की भावना प्रबल हो उठती है और वे सबको छोड़कर भाग जाते है। अतः शृङ्गार रस की भी पूर्ण निष्पत्ति नहीं हो पायी है। अन्त में निर्वेद सर्ग में जो निर्वेद भाव उदित होता है वह विकसित होता हुआ आनन्द सर्ग में पूर्णतया शान्त रस में परिणत हो जाता है।

भारतीय सुखान्त काव्यों में कोई एक रस अंगी होता है जो आदि से अन्त तक विकसित होता दिखाई पडता है और अन्य रस अंग रूप में बीच-बीच में आते हैं। पर कामायनी में कोई एक रस आद्यन्त व्याप्त नहीं दिखाई पड़ता है; साथ ही अन्य रसों की भी पूर्णता नहीं दिखाई पड़ती और न वे अंग रूप में किसी अंगी रस का उत्कर्ष और पोषण ही करते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि कामायनी में रसात्मकता है ही नहीं। यदि प्रबन्धकाव्य की दृष्टि से उसकी रसवत्ता पर विचार न किया जाय तो स्फुट स्थलों में उसमें जितनी रसवत्ता है उतनी बहुत कम महाकाव्यों में मिलेगी। परन्तु सम्पूर्ण महाकाव्य में प्रधान रस की खोज करने पर परम्परागत रस-दृष्टि से कामायनी दोषपूर्ण प्रतीत होती है। महाकाव्य के लक्षणों में 'रस-भाव का नैरन्तर्य' भी एक लक्षण माना गया है जिसका अर्थ यह है कि इसमें आद्यन्त रस और भाव का प्रसार होना चाहिए। कामायनी के गुरुत्व और गाम्भीर्य पर विचार करते हुए कहा जा चुका है कि उसमें भावों, अनुभूतियों और मनोवृत्तियों का ही चित्रण प्रधान रूप से हुआ

है। यह भी कहा जा चुका है कि कामायनी में ध्वन्यात्मकता अधिक है और उसमें लक्षणामूलाध्वनि के साथ ही असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य और संलक्ष्यक्रम व्यंग्य दोनों प्रकार की अभिधामूला ध्वनियाँ दिखाई पड़ती हैं। रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता अभिधामूला असंलक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनि के अन्तर्गत आते हैं[1]। कामायनी में इन सबकी योजना हुई है पर प्रसाद जी की प्रधान प्रवृत्ति लक्षणामूला ध्वनि की ओर ही है। इस कारण उसमें भावविभावादिकों की वैसी सम्यक् योजना नहीं हुई है जैसी अन्य रसवादी (अभिधामूला ध्वनि को मानने वाले) कवियों के काव्यों में मिलती है। आनन्दवर्धन के अनुसार ध्वनि ही काव्य की आत्मा है जो प्रतीयमान अर्थ अथवा रस के अतिरिक्त और कुछ नहीं है[2]। प्रतीयमान के भी कई भेद (वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि और रसध्वनि) होते हैं पर उनमें प्रधानता रसध्वनि की है और रसभाव द्वारा ही वस्तु और अलंकार का भी ज्ञापन होता है[3]। निष्कर्ष यह कि ध्वनिप्रधान होने के कारण कामायनी आद्यन्त रसात्मक काव्य है। यद्यपि उसमें वस्तु-वर्णन और अलंकृत भावादि-चित्रण की अधिकता है पर वे भी रस के उपलक्षण ही है, अतः उनसे भी रस-निष्पत्ति होती ही है। इस प्रकार कामायनी में भले ही भाव, विभाव, संचारी और अनुभाव की सम्यक् योजना न दिखाई पड़े, पर ध्वनिवाद की दृष्टि से उसमें रस-भाव का नैरन्तर्य स्वीकार करना पड़ेगा।

आनन्दवर्धन ने प्रबन्ध के अन्तर्गत रसाभिव्यक्ति के लिए भी कुछ लक्षण निर्धारित किये हैं। अतः इन लक्षणों के आधार पर भी कामायनी के रस-तत्व पर विचार कर लेना चाहिये। आनन्दवर्धन के अनुसार प्रबन्ध या महाकाव्य में रस के चारों अवयवों के औचित्य से कथा-शरीर की रचना होनी चाहिये,

---

१. आनन्दवर्धन—रसभावतदाभासतत्प्रशान्त्यादिरक्रमः।
ध्वनेरात्माऽङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः।
ध्वन्यालोक—२-३।

२. आनन्दवर्धन—
क. "काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति"—ध्वन्यालोक—१-१
ख. 'काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः'।—ध्वन्यालोक १-५

३. 'प्रतीयमानस्य चान्यभेददर्शनेऽपि रसभावमुखेनैवोपलक्षणं प्राधान्यात्।'
—वही—१-५-कारिका।

उसमें रस के प्रतिकूल स्थलों और प्रसंगों को नहीं ग्रहण करना चाहिये, केवल शास्त्रीय नियमों के पालन के लिए नहीं, बल्कि रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से सन्ध्यादिकों की योजना होनी चाहिए, कथा के भीतर यथावसर रसों के उद्दीपन और प्रशमन की योजना तथा विश्रान्त होते हुए प्रधान रस के अनुसन्धान का सतत ध्यान होना चाहिये और अलंकारों के प्रयोग की पूर्ण शक्ति होते हुए भी रस के अनुरूप ही अलंकारों की योजना होनी चाहिये। प्रबन्धगत रस की अभिव्यंजना के पाँच हेतु हैं।[1] इन लक्षणों का निर्माण आनन्दवर्धन ने भरत आदि आचार्यों के प्रबन्ध-नियमों के अनुसार ही किया है और उन्ही की तरह यह निर्देश किया है कि प्रबन्ध में भाव विभावादियों की सम्यक् योजना द्वारा कोई एक प्रधान रस आद्यान्त व्याप्त रहना चाहिए। भले ही बीच-बीच में वह रस विच्छिन्न होता दिखाई पड़े पर कवि को उसे सँभाल कर आगे बढ़ाते रहना और उसी रस में काव्य का पर्यवसान करना चाहिये। ऐसा होने पर अन्य गौण रस उस प्रधान रस के अंगभूत होकर रहेंगे और उनका परस्पर विरोध नहीं होने पायेगा।

इस दृष्टि से देखने पर कामायनी में दो बातें दिखाई पड़ती हैं:—

१—यदि उसकी प्रस्तुत कथा—मनु का ऐतिहासिक वृत्त—को लिया जाय तो उसमें कोई भी प्रधान रस आद्यन्त व्याप्त नही दिखाई पड़ता और अन्तिम भाग में जो शान्त रस निष्पन्न होता है वह पूर्ववर्ती कथा-भाग के रसों से असम्बद्ध प्रतीत होता है। यदि यह मान लिया जाय की उसकी ऐतिहासिक कथा में मनु का लक्ष्य अभिनव प्रजा-सृष्टि और नियमित समाज-व्यवस्था की स्थापना है तो हम देखते हैं कि मनु अपने लक्ष्य पर पहुँच कर भी पूर्ण शान्ति नहीं प्राप्त करते। वे धीरोदात्त नायक नहीं है, अतः अहकार, असन्तोष, अतृप्ति, चचलता, स्वार्थ आदि भावनाओं के कारण वे लक्ष्य पर पहुँचकर भी पराजित और दुःखी होते हैं, उनका पूर्ण अभ्युदय नहीं होता। अतः कामायनो में उत्साह भाव प्रधान और बीर रस अगो नहीं हो सकता। उसका जो उत्साह भाव है उसकी वीर रस मे पूर्णतया निष्पत्ति भी नही हो पायी है। उसी तरह शृङ्गार भी उसमें प्रधान रस नहीं है यद्यपि पूरे महाकाव्य में काम-भावना की व्याप्ति दिखाई पड़ती है। यहाँ यह बात ध्यान देने की है यह काम भाव है, रति भाव नहीं, और शृंगार रस—प्रधान होने के लिए प्रबन्ध में रति भाव तथा शृंगार के अन्य अवयवों की सम्यक् योजना आवश्यक है। यदि यह मान लिया जाय कि मनु और श्रद्धा के पुनर्मिलन में शृङ्गार रस की परिणति दिखाई पड़ती

१—ध्वन्यालोक—३—१० से १४।

है तो भी उसके पूर्व जो वीर रस अर्द्ध प्रस्फुटित रूप में आया है वह किसी प्रकार इस शृंगार रस का अंग नहीं प्रतीत होता क्योंकि मनु का उत्साह भाव उनके मन में स्थित श्रद्धा के प्रति रति भाव का सहायक नहीं, विरोधी ही है। वहाँ मनु का रति भाव इड़ा के प्रति है, श्रद्धा के प्रति नहीं। करुण रस भी कामायनी में प्रधान नहीं है, बल्कि यह भी कह सकते हैं कि कामायनी में उसकी पूर्णता नही दिखाई पडती जैसी प्रबन्धकाव्य में होनी चाहिये। यदि यह कहा जाय कि शान्तरस पर्यवसायी होने से उसमें शान्त रस को ही अंगी मानना चाहिये तो इसमें भी बाधायें है। उसमें चिन्ता सर्ग में निर्वेद भाव बीज रूप में अवश्य वर्तमान है परन्तु आशा, श्रद्धा और काम सर्गों में मनु काम की ओर उन्मुख होकर प्रजा-सृष्टि मे प्रवृत्त होते हैं और कर्म, इड़ा, स्वप्न तथा संघर्ष सर्गों में बुद्धि-प्रेरित कर्मों में लीन होकर समाज-व्यवस्था करते हैं। ये दोनों ही प्रवृत्तियाँ निर्वेद भाव की विरोधिनी हैं। अतः यद्यपि शान्त रस प्रारम्भ में अपरिस्फुट और अन्त में पूर्ण निष्पन्न रूप में दिखाई पड़ता है पर बीच में उसकी योजना कहीं नही हुई है और न शृङ्गार तथा वीर रस ही उसके सहायक रूप मे नियोजित हुए हैं। करुण रस अवश्य निर्वेद का सहायक है। यही कारण है कि चिन्ता और निर्वेद सर्ग में करुण रस की योजना के बाद निर्वेद भाव उदित होता और अन्त में शान्त रस पूर्ण रूप में निष्पन्न होता है। अतः समग्र रूप से देखने पर एक मात्र शान्त रस ही ऐसा है जिसका कामायनी मे पूर्ण परिपाक हुआ है, करुण उसके सहायक के रूप में है। अतः आंशिक रूप में ही सही, शान्त रस को ही कामायनी का सर्वप्रमुख रस मानना उचित है।

२—यदि कामायनी की अप्रस्तुत कथा—मानव-मन द्वारा चिरन्तन आनन्द का खोज और उसकी उपलब्धि—की दृष्टि से देखा जाय तो भी उसमे प्रधान रस शान्त ही दिखाई पड़ता है। यह पूरी कथा ही प्रतीयमान कथा है जिसकी प्रतीति व्यंग्य रूप में होती है। कामायनी की प्रस्तुत कथा में चाहे जो रस प्रधान माना जाय पर अप्रस्तुत कथा में तो निर्विवाद रूप से शान्त रस ही आद्यन्त व्याप्त दिखाई पड़ता है। अप्रस्तुत कथा स्वयं व्यंग्य द्वारा ध्वनित होता है, अतः उसमें कामायनी का विशिष्ट प्रतीयमान अर्थ विशुद्ध रूप में दिखाई पड़ता है। आधुनिक आलोचना की भाषा में इसे कामायनी का संदेश या कवि का जीवन-दर्शन कह सकते है। प्रसाद ने अपना जीवन-दर्शन कामायनी को अप्रतुत कथा के रूप में अभिव्यक्त किया है। कामायनी के रूपकत्व पर विचार करते हुए अप्रस्तुत कथा का निर्देश किया जा चुका है

और दिखाया जा चुका है कि उस दृष्टि से 'चिदानन्द-लाभ, ही मनु (मानव मन) का अन्तिम लक्ष्य है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मनुष्य आगे बढ़ता है, रास्ते में अनेक विघ्न-बाधायें आती हैं और अहंकार, वासना, सांसारिक जंगल आदि में फँस कर वह बार-बार सत्य-मार्ग में डिग जाता है, परन्तु अन्त में प्रातिभ ज्ञान के उदय और श्रद्धा (आस्तिक्य बुद्धि की सहायता से शिवत्व की प्राप्ति करता है। अतः अप्रस्तुत कथा में भी अन्त में शान्त रस का ही परिपाक दिखाई पड़ता है।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि यद्यपि कामायनी में गम्भीर रसवत्ता है पर उसकी अभिव्यंजना भारतीय महाकाव्यो की परम्परागत पद्धति से न होकर भिन्न प्रकार से हुई है। आनन्दवर्धन ने रसाभिव्यक्ति के लिए सन्धियों की विशेष प्रकार से योजना करने की बात कही है। कामायनी के कथानक पर विचार करते हुए हम देख चुके हैं कि उसमें विमर्श सन्धि की योजना पूर्ण रूप में नहीं हुई है। उसी तरह कार्यावस्थाओं मे से प्राप्त्याशा नामक कार्यावस्था उसमें नहीं है। पर पाश्चात्य ढंग की कार्यावस्थाओं में से प्रथम चार उसमें वर्तमान हैं जो प्रारम्भ से निर्वेद सर्ग तक प्रसरित हैं। इससे यह स्पष्ट है कि निर्वेद सर्ग तक कथा प्रधानतया पाश्चात्य ढंग के दुःखान्त प्रबन्धो के ढंग की है। यही कारण है कि कामायनी में निर्वेद सर्ग के पूर्व तक भारतीय प्रबन्धों जैसी रसाभिव्यक्ति की पद्धति नहीं दिखाई पड़ती है। कथा के उस अंश में विरोध और संघर्ष का विकास दिखाया गया है जिसका परिणाम दुःख और शोक होता है। यदि कामायनी को प्रसाद ने निर्वेद सर्ग के मध्य में ही समाप्त कर दिया होता तो वह पाश्चात्य ढग का एक सफल शोकान्त महाकाव्य होता और उसमें उत्कृष्ट कोटि की प्रभावान्विति भी होती। प्रभावान्विति समग्र प्रभाव की उस तीव्रता को कहते है जो मन को उत्तेजित और विकल कर के मनन करने के लिए विवश करती है और नायक के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करके दुःखों के कारणों का उन्मूलन करने के लिए प्रवृत्ति उत्पन्न करती है। कामायनी 'आनन्दान्त' काव्य है, अतः यह तो स्पष्ट है कि उसमे पाश्चात्य दुःखान्त रचनाओं जैसी प्रभावान्विति नहीं है। पर उसकी विशेषता यह है कि दुःखों को अधिकता दिखा कर उन्हीं के बीच में आनन्द को उद्भूत होते हुए दिखाया गया है। प्रसाद का जीवन-दर्शन ही यही है जिसे उन्होंने श्रद्धा द्वारा इस प्रकार व्यक्त कराया है :—

दुःख की पिछली रजनी बीच विकसता सुख का नवल प्रभात !
एक परदा यह झीना नील छिपाये है जिसमे सुख गात !

× × ×

विषमता की पीड़ा से व्यस्त हो रहा स्पन्दित विश्व महान !
यही सुख दुख विकास का सत्य यही भूमा का मधुमय दान !
नित्य समरसता का अधिकार उमड़ता कारण जलधि समान !
व्यथा से नीली लहरों बीच बिखरते सुख मणिगण द्युतिमान !
—श्रद्धा सर्ग

कहने की आवश्यकता नहीं कि कामायनी की कथा की योजना इसी सिद्धान्त के अनुसार हुई है। पाश्चात्य काव्यों में यथार्थ जीवन के आधार पर केवल दुःख का दर्शन कराया जाता है और भारतीय काव्यों में आदर्शवाद के आधार पर अधिकांशतः सुख का ही आयोजन होता है। पर सच्चा सुख, जिसे आनन्द कहते है, सुख-दुःख दोनों से ऊपर है। यद्यपि सुख-दुःख दोनों अनिवार्य और विकास के कारण-रूप है पर वे आनन्द-स्वरूप नहीं है। आनन्द का कारण सुख-दुःख में समरसता की भावना है अर्थात् विश्व को खेल समझ कर सुख-दुःखों को झेलते चलने से ही चिदानन्द-लाभ हो सकता है :—

तुमने हँस कर मुझे सिखाया विश्व खेल है खेल चलो !

अतः कामायनी-कथा के पूर्वांश में सुख-दुःख की आँखमिचौनी दिखायी गयी है; उसमें दुःख जीतता है पर सहसा इसी दुःख की चरमावस्था में आनन्द का उदय होता है। इस प्रकार कामायनी में पाश्चात्य प्रभावान्विति सिद्धान्त और भारतीय रस-सिद्धान्त दोनों का अद्भुत समन्वय दिखाई पड़ता है। इसलिए उसे सुखान्त या दुःखान्त काव्य न कह कर आनन्दान्ति काव्य कहना अधिक उपयुक्त है। उसे पढ़ने के बाद जो अनुभव होता है उसमे प्रभावान्विति और रसवत्ता का सुन्दर सामंजस्य दिखाई पड़ता है अर्थात् कामायनी में जितनी तीव्र प्रभावान्विति है उतनी ही गम्भीर रसवत्ता भी है।

८—अक्षुण्ण जीवनी शक्ति और सशक्त प्राणवत्ता

कामायनी बीसवीं शताब्दी का महाकाव्य है और उसे लिखे गये अभी बीस वर्ष भी पूरे नहीं हुए, परन्तु इतने कम समय में ही उसकी इतनी ख्याति हो चुकी है कि राष्ट्र-संघ की 'शिक्षा-संस्कृति-परिषद' द्वारा रामचरितमानस के साथ उसका भी संसार की विभिन्न भाषाओं में अनुवाद कराया जा रहा है। इसीसे उसकी जीवनी शक्ति और प्राणवत्ता का अनुमान किया जा सकता है। जीवनी शक्ति की परीक्षा समय द्वारा होती है। जो महाकाव्य काल और देश की बाधाओं को अस्वीकार कर जीवित रहते और दूर-दूर तक प्रख्यात होते हैं, उनमें अवश्य वह जीवनी शक्ति होती है जो कभी नष्ट नहीं होती। ऐसे ही

काव्य अमर काव्य का पद पाते है। कामायनी में वह अक्षुण्ण जीवनी शक्ति है या नहीं, इसका उत्तर भविष्य देगा। पर विगत बीस वर्षों में इसके प्रचार और ख्याति को देखते हुए यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उसमें वह जीवनी शक्ति पर्याप्त मात्रा में है। अनेक विद्वानों का मत है कि श्रेष्ठता और महानता में हिन्दी महाकाव्यों में रामचरितमानस के बाद कामायनी का ही स्थान है और इस बात में तो सन्देह करने का अवकाश ही नहीं है कि वह आधुनिक युग का हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है।

जहाँ तक सशक्त प्राणवत्ता का प्रश्न है, वह भी उसमें पूर्ण रूप में वर्तमान है। महाकाव्य की प्राणवत्ता कवि की प्राणवत्ता की ही अभिव्यक्ति होती है। प्राणवान व्यक्ति जिस तरह राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र में अपनी प्राण-शक्ति को ढाल कर देशो और जातियों का भाग्य बदल देते हैं उसी तरह महाप्राण कवि भी राष्ट्र या जाति के पथ-प्रदर्शक, भाग्य-निर्माता और भविष्य-द्रष्टा होते है। उनकी वाणी में समाज का सुख-दुःख, आशा-निराशा, उत्थान-पतन साकार हो उठता है जिसका अनुगमन करके राष्ट्र अथवा समाज अपना भविष्य-निर्माण करते हैं। प्रसाद जी महाप्राण और द्रष्टा कवि थे। उन्होंने कामायनी में अपनी सम्पूर्ण प्राणवत्ता, अपना समस्त जीवन-रस निचोड़ कर उपस्थित कर दिया है। उन्होंने भारतीय संस्कृति का अध्ययन, मन्थन और मनन करके उसके सार-तत्त्व को आत्मसात् कर लिया था। इसलिए उनके साहित्य में भारत का राष्ट्रीय और सांस्कृतिक गौरव पूर्ण रूप में अभिव्यक्त हुआ है। कामायनी उनकी रचनाओं में शीर्ष स्थान पर प्रतिष्ठित है और उसमें कवि ने भारतीय संस्कृति के साथ ही मानव-संस्कृति के उच्च आदर्शों की भी प्रतिष्ठा की है। अतः कामायनी भारत का सांस्कृतिक और जातीय महाकाव्य तो है ही, साथ ही वह विश्व-काव्य भी है। उसका आदर्श संकुचित राष्ट्रीयता या संकीर्ण जातीयता का आदर्श नही है। मनुष्य जाति आज बौद्धिकता और विज्ञान के सहारे भौतिक उन्नति के शिखर पर पहुँच चुकी है पर इस उन्नति के क्रम में उनके हार्दिक गुणों का उत्तरोत्तर ह्रास होता गया है। परिणामस्वरूप महायुद्धों के बीच की अवधि कम होती जा रही है और उनकी भीषणता तथा उनकी प्रतिक्रिया और प्रभाव से उद्भूत निराशा और विभीषिका उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। दुःख-सागर में डूबते हुए मानव को अपनी रक्षा का कोई उपाय नहीं मिल रहा है, बचने का कोई रास्ता भी नहीं मिल पा रहा है और वह अन्धा बन कर नाश के अतल गर्त की ओर दौड़ता जा रहा है। ऐसे दुःख-दग्ध विश्व-मानव को प्रसाद ने एक महान आशाजनक

सन्देश दिया है जो भारतीय संस्कृति का प्राण-तत्व है; वह श्रद्धा या आध्यात्मिक आस्था का सन्देश है :—

तुमुल कोलाहल कलह में मैं हृदय की बात रे मन !
चिर विषाद विलीन मन की
इस व्यथा के तिमिर बन की
मैं उषा सी ज्योति रेखा, कुसुम विकसित प्रात रे मन !
जहाँ मरु ज्वाला धधकती
चातकी कन को तरसती
उन्हीं जीवन घाटियों की मैं सरस बरसात रे मन !
पवन के प्राचीर में रुक
जला जीवन जी रहा झुक
इस झुलसते विश्व दिन की मैं कुसुमऋतु रात रे मन !

निर्वेद सर्ग

इस प्रकार कामायनी श्रद्धा के रूप में अंधकार के बीच प्रकाश फैलाती हुई विश्व-मानव को गम्भीर जीवनास्था और सशक्त प्रेरणा प्रदान करती है। यह जीवनास्था और प्रेरणा इसी युग के लिए नहीं, आने वाले सभी युगों के लिए उपयोगी है। विश्व-कल्याण और विश्व-मैत्री कामायनी का उच्चतम आदर्श है जिसको अपना कर मानव-जाति चिरन्तन आनन्द को प्राप्त कर सकेगी। इस अवस्था में पहुँच में कर समस्त मानव-जाति एक इकाई क रूप में बदल जायगी; अपना-पराया, राष्ट्र-वर्ग, जाति-धर्म और वर्ग-वर्ण के भेद मिट जायेंगे :—

बोले देखो कि यहाँ पर कोई भी नहीं पराया।
हम अन्य न और कुटुम्बी, हम केवल एक हमी हैं।
तुम सब मेरे अवयव हो जिसमें कुछ नही कमी है।

यही विश्व-मानव का उच्चतम आदर्श है, यही विश्व संस्कृति की महती कल्पना और कामायनी की सशक्त प्राणवत्ता है जो उसे युग-युग तक मानव का अमर प्रकाश-स्तम्भ बनाये रखेगी।

—:०:※:०:—

दसवाँ अध्याय

उपसंहार

अब तक हमने हिन्दी साहित्य के पाँच प्रतिनिधि महाकाव्यों के महाकाव्यत्व और रूप-शिल्प के विधायक तत्वों के सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया है। प्रश्न हो सकता है कि क्या हिन्दी में पाँच ही महाकाव्य है? इस सम्बन्ध में पहले यह देख लेना आवश्यक है कि हिन्दी में आदिकाल से अब तक लिखे जाने वाले प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण प्रबन्धकाव्यों में से कितने ऐसे हैं जिन्हें साहित्य के इतिहासकारों, विद्वान अध्येताओं और सामान्य जनता ने महाकाव्य-रूप में स्वीकार किया है। तत्पश्चात् हम उन काव्यो की परीक्षा द्वितीय अध्याय में निर्धारित महाकाव्य के स्थायी लक्षणों के आधार पर करेंगे और इस निश्चय पर पहुँचने का प्रयत्न करेंगे कि उन प्रबन्धकाव्यों को महाकाव्य मानना चाहिये या नहीं।

हिन्दी में प्रबन्धकाव्यो की संख्या कम नहीं है। आदिकाल से अब तक हजारों छोटे-बड़े प्रबन्धकाव्य लिखे गये जिनमें से न जाने कितने काल-कवलित हो चुके, न जाने कितने हस्तलिखित पोथियों के रूप में ग्रन्थ-भण्डारों की एकान्त कोठरियों अथवा पुस्तक-प्रेमियों के घरों में बेठनी में लिपटे पड़े होंगे। जो प्राचीन और नवीन प्रबन्धकाव्य आज तक प्रकाशित हो चुके हैं उनकी सख्या अधिक नही है। साथ ही कुछ ऐसे प्रबन्धकाव्य भी है जो प्रकाशित तो नहीं हैं पर खोज-रिपोटों में उनका विवरण प्रकाशित हो चुका है अथवा इतिहासकारो और साहित्यान्वेषकों ने जिनके सम्बन्ध मे कुछ न कुछ विवरण प्रकाशित कराया है।

इन प्रबन्धकाव्यों में से बहुत से सर्गबद्ध और आकार में बड़े हैं। पर विद्वानों ने इन सबको महाकाव्य नहीं माना है। संस्कृत में शास्त्रीय लक्षणों के अनुसार लिखे गये आठ से अधिक सर्गों वाले सभी प्रबन्धकाव्यों को महाकाव्य कहने को परिपाटी थी। दूसरे, तीसरे और चौथे अध्याय में कहा जा चुका है कि प्राकृत और अपभ्रंश में पौराणिक और रोमांचक शैली के प्रबन्धकाव्यों का प्रचलन हुआ जिनमें महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों का पालन नहीं किया गया था और हिन्दी में प्रबन्धकाव्यो की जो धारा चली उसमें अधिकतर अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्यों की रूढ़ियों को ही अपनाया गया। हिन्दी साहित्य पर लोक-

जीवन का प्रभाव प्रारम्भ से ही बहुत अधिक रहा है। इस कारण हिन्दी के प्रबन्ध-कवियों ने प्रारंभ में लोक-साहित्य तथा लोकाश्रित अपभ्रंश काव्यों की परंपरा को जितना ग्रहण किया उतना संस्कृत की शास्त्रीय और लोक-विरहित प्रबन्ध-परम्परा को नहीं। उनके काव्यों का रूप-शिल्प अधिकांशतः संस्कृत के शास्त्रीय शैली के महाकाव्यों से भिन्न था। अतः न तो उन कवियों ने ही अपने प्रबन्धकाव्यों को महाकाव्य कहा और न आचार्यों तथा आलोचकों ने ही उन्हें महाकाव्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया। वस्तुतः हिन्दी की प्रबन्ध-धारा संस्कृत की प्रबन्ध-धारा से बहुत कुछ स्वतन्त्र दिशा में प्रवाहित हुई जिसके मूल में विविध सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और भाषाशास्त्रीय कारण थे। आधुनिक युग में जब सांस्कृतिक पुनर्जागरण का आन्दोलन प्रारम्भ हुआ तो साहित्यिकों की दृष्टि सबसे पहले संस्कृत-साहित्य और उसके काव्यशास्त्र की ओर गयी। इस युग में महाकाव्य के सम्बन्ध में जो मान्यतायें स्वीकृत हुईं वे संस्कृत साहित्यशास्त्र से पूर्णतया प्रभावित थीं। उन्हें स्वीकार करने के पूर्व यह सोचने की आवश्यकता नहीं समझी गयी कि अपभ्रंश और हिन्दी की प्रबन्ध-धारा संस्कृत के साहित्य-शास्त्र से बहुत कुछ स्वतन्त्र है, अतः उसकी जो निजी विशेषतायें और प्रबन्ध-नियम हैं उनके आधार पर स्वतन्त्र लक्षणों का निर्माण किया जाय। बीसवीं शताब्दी में हिन्दी में महाकाव्य नाम से जो काव्य लिखे गये उनमें भी संस्कृत के महाकाव्य-सम्बन्धी लक्षणों का जितना ध्यान रखा गया उतना अपभ्रंश और हिन्दी के प्राचीन प्रबन्धकाव्यों की परम्परा का नहीं। यही कारण है कि बीसवीं शताब्दी में ही ऐसे प्रबन्धकाव्य अधिक लिखे गये जिन्हें शास्त्रीय शैली का काव्य कहा जा सकता है। पूर्ववर्ती युगों में भी कुछ प्रबन्धकाव्य ऐसे अवश्य लिखे गये थे जिन पर संस्कृत साहित्यशास्त्र का प्रभाव था। केशव की रामचन्द्रिका ऐसा ही काव्य है। परन्तु ऐसे प्रबन्धकाव्यों की संख्या बहुत कम है। हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्य तो सबके सब अपभ्रंश के चरितकाव्य और अंशतः फारसी की मसनवी-पद्धति से प्रभावित हैं ही, प्रशस्ति-मूलक ऐतिहासिक प्रबन्ध-काव्य और पौराणिक शैली के चरितकाव्य भी महाकाव्य के शास्त्रीय नियमों के अनुसार नहीं लिखे गये हैं। सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि उत्तर-मध्यकाल में जहाँ रीति-काव्य में संस्कृत के साहित्यशास्त्रों की उद्धरणी उपस्थित की गयी, वहीं संस्कृत के प्रबन्धकाव्यों की समृद्ध धारा का बहुत कम अनुसरण किया गया। संस्कृत साहित्यशास्त्र से पूर्णतया प्रभावित होती हुई भी रीति-कालीन काव्य धारा मुक्तकप्रधान ही रही, प्रबन्धकाव्यों की रचना निबंध काव्य अनुपात में बहुत कम हुई।

आधुनिक युग से पहले के जितने प्रबन्धकाव्य प्राप्त हैं, उनमें बहुत से तो आकार की लघुता तथा विषय-वस्तु की एकांगिता और महत्त्व-हीनता के कारण ही महाकाव्य की सीमा में विचारणीय नहीं हैं। पद्मावत के अतिरिक्त अन्य सभी प्रेमाख्यानक काव्य इसी कोटि में आते है। अन्य प्रकार के काव्यों में वीसलदेवरासो, बेलि क्रिसन रुक्मिनी री, हरिचरित्र, हम्मीरहठ आदि भी इसी प्रकार के लघु अथवा सामान्य साहित्यिक मूल्य के काव्य हैं। जो बडे आकार वाले प्रबन्धकाव्य हैं उनमें से कुछ तो ऐसे हैं जिनमें ऐतिहासिक इतिवृत्त ही प्रधान है और विषय-वस्तु, काव्य-शैली, चरित्र चित्रण तथा उद्देश्य की महानता की दृष्टि से जिनका अधिक महत्त्व नहीं है। विजयपालरासो तथा खुमाणरासो ऐसे ही काव्य हैं। अत: महाकाव्य के सम्बन्ध में विचार करते समय उनका भी उल्लेख आवश्यक नही है। प्रशस्तिमूलक-काव्यों-सूदन के सुजानचरित्र और पद्माकर की हिम्मतबहादुर-बिरुदावली, केशव के जहाँगीर-जस-चन्द्रिका और वीरसिंहदेव चरित आदि—के नायक इतने लोकप्रिय और उदात्त चरित वाले नहीं है कि उनका आश्रय लेकर महाकाव्य की रचना की जा सके। मध्यकाल के दरबारी कवि अपने आश्रयदाताओं अथवा उनके पूर्व-पुरुषों से संबधित जो प्रशस्तिमूलक काव्य लिखते थे उनमें उद्देश्य की महानता नही होती थी। वे कवि अर्थ-प्राप्ति की दृष्टि से आश्रयदाताओं की प्रसन्नता के लिए काव्य-रचना करते थे। ऐसे कवियों द्वारा महाकाव्य क्या, वास्तविक लघु प्रबन्धों या खण्ड-काव्यों की रचना भी संभव नहीं है। इस दृष्टि से पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने लिखा है कि "हिन्दी में प्रबन्ध काव्यों की बहुत कमी है। वीर-काव्य, उन प्रबन्धकाव्यों में यदि रासो (पृथ्वीराजरासो) को छोड़ दें, तो केवल छत्र-प्रकाश ही ऐसा रह जाता है जो कुछ जँचता है। सुजान-चरित्र, हिम्मत-बहादुर-विरुदावली आदि वीर-काव्य इसलिए गिनने योग्य नहीं हैं कि उनमें नायक का ही उपयुक्त चुनाव नहीं है, रस के स्थान पर रसाभास होने लगता है।"[1]

पौराणिक शैली के मध्यकालीन प्रबन्धकाव्यों में सबलसिंह चौहान का महाभारत, ब्रजवासीदास का ब्रजविलास, मधुसूदनदास का रामाश्वमेध, पद्माकर का रामरसायन, विश्वनाथ सिंह कृत रामायण, गुमान मिश्र की कृष्ण-चन्द्रिका और केशवदास की रामचन्द्रिका प्रमुख हैं। इसमें से महाभारत और ब्रजविलास पर्याप्त बड़े और लोकप्रिय ग्रन्थ हैं पर उनमें काव्यात्मकता और

१— आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—हिन्दी का सामयिक साहित्य—प्रथम संस्करण सं० २७०८, पृ० १३१।

मौलिकता का अभाव है। साधारण श्रेणी के भक्त पाठकों के लिए ही इनका महत्त्व है। इनमें तुलसी के 'मानस' की शैली का अनुकरण किया गया है जिससे ये सर्वसाधारण के लिए सहज बोधगम्य हैं। पद्माकर का रसायन वाल्मीकि-रामायण के आधार पर लिखा गया है। वह काण्डों में विभक्त और रामचरितमानस की शैली में लिखा गया बड़ा चरितकाव्य है पर इसमें काव्यात्मकता साधारण कोटि की है जिससे पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने यह अनुमान किया है कि "संभव है यह इनका (पद्माकर का) न हो।"[1] रामाश्वमेध रीतिकाल के अधिकांश प्रबन्धकाव्यों की अपेक्षा अधिक कवित्वपूर्ण एवं परिमार्जित शैली का काव्य है। उसमें पद्मपुराण तथा वाल्मीकि-रामायण के उत्तर काण्ड की कथा का आधार ग्रहण करके तथा राम के अश्वमेध यज्ञ को केन्द्रबिन्दु बना कर कथा-वस्तु का विन्यास किया गया है। इस काव्य पर रामचरितमानस की शैली का इतना अधिक प्रभाव है कि शुक्ल जी के शब्दों में वह "सब प्रकार से गोस्वामी जी के रामचरितमानस का परिशिष्ट ग्रन्थ होने योग्य है।"[2] इसके काव्य-सौष्ठव के सम्बन्ध में शुक्ल जी ने लिखा है कि "ग्रन्थ की रचना बिलकुल रामचरितमानस की शैली पर हुई है—पद-विन्यास और भाषा-सौष्ठव रामचरितमानस का सा ही है गोस्वामी जी की प्रणाली के अनुसरण में मधुसूदनदास जी को पूरी सफलता प्राप्त हुई है। इनकी प्रबन्ध-कुशलता, कवित्व-शक्ति और भाषा की शिष्टता तीनों उच्च कोटि की हैं।"[3] इससे स्पष्ट है कि रामाश्वमेध का महत्त्व केवल इसी बात में है कि वह 'मानस' का परिशिष्ट और उसकी शैली में लिखा गया काव्य है। उसमें कवि ने न तो अपनी विशिष्टता और मौलिकता दिखाई है और न 'मानस' की शैली को ही और आगे बढ़ाया है। यद्यपि उसके नायक राम जैसे महान पुरुष हैं और उसकी शैली भी उदात्त है पर उसमें उद्देश्य की वह महानता, जीवन की वह समग्रता और कवि की प्रतिभा की वह उत्कृष्टता नहीं दिखाई पड़ती जो 'मानस' में है। राम के जीवन के एक लघु अंश की कथा लेकर ही कवि ने वस्तु-वर्णन द्वारा कथानक का अनावश्यक विस्तार किया है। अतः केवल बृहत् आकार और वस्तु-वर्णन विस्तार के कारण ही रामाश्वमेध को महाकाव्य नहीं माना जा सकता।

१—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास—आठवां संस्करण—पृ० ३०६

२—वही, पृ० ३७४।

३—वह, पृ० ३७५।

इस प्रकार मध्यकाल के केवल पाँच प्रबन्धकाव्य ऐसे दिखाई पड़ते हैं जिनके महत्व को दृष्टि में रख कर यह विचार किया जा सकता है कि उनमें महाकाव्यत्व है या नही। वे ये हैं :—

(१) केशव की रामचन्द्रिका
(२) मान कवि का राजविलास
(३) गोरेलाल का छत्रप्रकाश
(४) गुमान मिश्र की कृष्णचन्द्रिका
(५) जोधराज का हम्मीरासो

इनमें से रामचन्द्रिका को बहुत से विद्वानों ने महाकाव्य माना भी है। कृष्णचन्द्रिका भी काव्य सौन्दर्य की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रबन्धकाव्य है। अतः इन दोनों के सम्बन्ध के बाद मे कुछ विस्तार से विचार किया जायगा। पहले अन्य तीनों काव्यों के बारे में विचार किया जा रहा है।

राजविलास—

यह एक ऐतिहासिक शैली का चरितकाव्य है जिसमें सस्कृत के प्रशस्ति-मूलक चरितकाव्य नवसाहसांकचरित, विक्रमांकदेवचरित आदि—तथा हिन्दी के पृथ्वीराजरासो की काव्य पद्धति अपनायी गयी है। ऐतिहाकि शैली के चरित-प्रधान महाकाव्यों की भाँति इसमें भी प्रारम्भ के दो सर्गों में महाराणा राजसिंह के वंश की उत्पत्ति, उनके पूर्व-पुरुषों का इतिहास, नायक का जन्म आदि वर्णित है। उसके बाद अन्त तक नायक के विवाह, युद्ध, पराक्रम, उदारता आदि का वर्णन हुआ है। काव्य अपूर्ण प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में लाला भगवान दीन ने लिखा है, "पुस्तक का अन्तिम उल्लास पढ़ते-पढ़ते भास होने लगता है कि कवि यहीं पर ग्रन्थ को समाप्त नहीं करना चाहता था परन्तु इसी वर्ष (स० १७३७ वि०) महाराणा राजसिंह का देहान्त हो गया। इसीलिये कवि ने अचानक ग्रन्थ की समाप्ति की है।"[1] लाला जी का यह अनुमान सही है। यद्यपि अन्तिम 'विलास' में नायक का पूर्ण अभ्युदय दिखाई पडता है पर प्राचीनकाव्यों में अन्त में जो उपसंहार-पद्धति दिखाई पड़ती है वह इसमें नहीं है। अतः चाहे जिस कारण हो, राजविलास अपूर्ण रह गया है। किन्तु इसकी विशेषता यह है कि कवि ने इसे ऐतिहासिक शैली का महाकाव्य बनाने का प्रयत्न किया है और इसमें महाकाव्य-सम्बन्धी प्रायः सभी शास्त्रीय लक्षणों का पालन किया है। इसमें कुल १८ विलास (सर्ग) हैं। प्रारम्भ में विस्तार से सरस्वती-

---

१—लाला भगवानदीन—राजविलास भूमिका, काशी १९१२ ई०, पृ० ७।

बन्दना की गयी है। साथ ही प्रस्तावना की सभी रूढ़ियों—वस्तु-निर्देश, ग्रंथारंभ के कारण का उल्लेख, ग्रन्थारम्भ की तिथि का निर्देश, आत्म-लघुता प्रदर्शन आदि-का विधान हुआ है। प्रथम और चतुर्थ विलास में प्रकृति-चित्रण और वस्तु-वर्णन सुन्दर हुआ है। युद्ध, विवाह, नगर, देश, राज्याभिषेक, धार्मिक कार्य आदि का भी बहुत अच्छा वर्णन हुआ है। इस तरह महाकाव्य के बाह्य लक्षणों की दृष्टि से देखने पर राजविलास महाकाव्य प्रतीत होता है। किन्तु ऐतिहासिक इतिवृत्त-वर्णन ही इसका प्रधान उद्देश्य है जिससे इसमें न तो कथानक की अन्विति है न वीर रस के अतिरिक्त अन्य रसों की अङ्ग-रूप में योजना ही हुई है। यद्यपि राजसिंह के चरित्र में महाकाव्योचित महानता है पर कवि ने उसका सुनियोजित उपयोग करके तथा जीवन की विविध परि-स्थितियों में नायक को रखकर उसके चरित्र का पूर्ण उत्कर्ष नहीं दिखलाया है। इन कारणों से तथा ग्रन्थ के अपूर्ण रह जाने से राजविलास को महाकाव्य नहीं माना जा सकता।

छत्रप्रकाश—

यह भी ऐतिहासिक शैली का प्रशस्तिमूलक चरितकाव्य है जिसकी रचना गोरेलाल ने महाराज छत्रसाल की आज्ञा से उनकी कीर्ति को स्थायी बनाने के लिये की थी। यद्यपि यह २६ अध्यायों में विभक्त है पर उसमें न तो जीवन की समग्रता और परिस्थितियों की विविधता है और न कथानक का सुनियोजित संघटन ही हुआ है। प्रकृति-चित्रण, आलम्बन का रूप-चित्रण, भावात्मकता और गांभीर्य का उसमें नितान्त अभाव है जिससे पूरे काव्य में उबा देने वाली एकरसता और नीरस ऐतिहासिक इतिवृत्तात्मकता दिखाई पड़ती है। केवल दो स्थलों पर यह एकरसता भंग हुई है, प्रारम्भ में छत्रसाल के जन्म और बाल-चरित के वर्णन में तथा अन्त के तीन अध्यायों (२३, २४ २५) में प्राणनाथ प्रभु की आध्यात्मिक शिक्षा, औपनिषदिक ज्ञान और कृष्णा बतार के वर्णन में। यद्यपि छत्रप्रकाश में युद्धों की भरमार है फिर भी वीर रस की वैसी योजना नहीं हुई है जैसी महाकाव्य में होती है। युद्ध वर्णन तो इतिहास में भी होता है पर उसे रसात्मक काव्य नहीं माना जाता। अतः आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह कथन पूर्णतया ठीक है कि 'इतिहास की दृष्टि से 'छत्रप्रकाश' बड़े महत्त्व की पुस्तक है। इसमें सब घटनायें सच्ची और सब ब्यौरे ठीक ठीक दिये गये हैं।" किन्तु उसके बाद ही शुक्ल जी ने यह कहा है कि "ग्रन्थ की रचना प्रौढ़ और काव्य-गुणयुक्त है। वर्णन की विशदता के अतिरिक्त.. ......लाल कवि में प्रबन्धपटुता पूरी थी। सम्बन्ध का निर्वाह भी अच्छा है और वर्णन-विस्तार

के लिए मार्मिक स्थलों का चुनाव भी।''[1] इस कथन से, सम्भव है, बहुत से लोग सहमत न हों क्योंकि मार्मिक स्थलों के चुनाव के साथ ही जिस मर्मस्पर्शी भावव्यंजना की प्रबन्धकाव्य में आवश्यकता होती है, वह उसमें नहीं है। अतः 'छत्रप्रकाश' को महाकाव्य मानने का कोई आधार नहीं है।

हम्मीररासो—

यह उन्नीसवीं शताब्दी का, रासो-ग्रन्थों की परम्परा में सम्भवतः अन्तिम महत्त्वपूर्ण प्रबन्धकाव्य है। इसमें पृथ्वीराजरासो की भाषा, शैली और छन्द-विधान का अनुकरण किया गया है। यद्यपि यह बड़ा ग्रंथ है और इसमें कुल ६७६ छन्द हैं पर वह सर्गों में विभक्त नहीं है। इसे भी ऐतिहासिक शैली का प्रशस्तिमूलक चरितकाव्य कहा जा सकता है। प्रशस्ति-काव्य या तो आश्रय-दाता के जीवन से सम्बन्धित होते थे या उनकी आज्ञा से उनके पूर्वजों की कीर्ति-रक्षा के लिए लिखे जाते थे। जोधराज ने भी अपने आश्रयदाता नीमराणा के राजा चन्द्रभान के अनुरोध से उनके पूर्वज हम्मीर देव के चरित का वर्णन करने के लिए इस काव्य की रचना की। अतः यह तो स्पष्ट है कि हम्मीर देव के महान चरित से प्रभावित होकर अथवा हिन्दू धर्म और भारतीयता के प्रेम की प्रेरणा से इस काव्य को रचनना नहीं हुई। फलतः वीरकाव्य होते हुए भी इसमें उमंग और उत्साह का तीव्र स्वर तथा उद्देश्य की वह महानता नहीं दिखाई पड़ती जो पृथ्वीराजरासो में है। ऐतिहासिक चरितकाव्यों की भाँति इसमें भी प्रारंभ में विभिन्न देवी देवताओं की स्तुति, गुरु-वन्दना, आश्रयदाता की प्रशंसा, ग्रंथ-रचना का कारण-निर्देश, अपने वंश और पिता का वर्णन, ग्रंथारम्भ की तिथि का निर्देश आदि बातों की योजना हुई है। इसके बाद चौहान-वंश की उत्पत्ति और रणथंभोरगढ़ के निर्माण का वर्णन हुआ है, साथ ही कथान्तर या कथामुख के रूप में पद्म ऋषि की कथा भी दी गयी है। तदुपरान्त आधिकारिक कथा प्रारंभ होती है जिसमें हम्मीर के जन्म से लेकर मृत्यु तक का वृत्त-वर्णन हुआ है। इस तरह हम्मीररासो पूर्णतया ऐतिहासिक चरितकाव्य है। साथ ही महाकाव्य की वस्तु-वर्णन सबंधी अनेक रूढ़ियाँ, जैसे प्रकृति, युद्ध, संभोग और विप्रलंभ शृङ्गार, कुमारोदय, नगरावरोध, मृगया, यज्ञ, मंत्रणा, दौत्य, स्कन्धावार, नगर, देश आदि के वर्णन की पद्धति भी इसमें अपनाई गई है। फिर भी उद्देश्य की महानता, महत्प्रेरणा, कथानक की संघटित योजना, तीव्र प्रभावा-न्विति, अनवरुद्ध जीवनी शक्ति आदि के अभाव में इसे महाकाव्य नहीं माना

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३३३।

जा सकता। यदि महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों की ही दृष्टि से देखा जाय तो भी इसे महाकाव्य नहीं सिद्ध किया जा सकता क्योंकि न तो यह सर्गबद्ध है, न उसमें नायक का अभ्युदय ही दिखाया गया है। नायक की पराजय और मृत्यु के कारण यह दुःखान्त काव्य है। अतः महाकाव्य के बाह्य या आन्तरिक, प्राचीन या अर्वाचीन किसी भी प्रकार के लक्षणों की दृष्टि से हम्मीररासो महाकाव्य नहीं प्रतीत होता।

पूर्व-मध्यकाल और उत्तर-मध्यकाल के जिन प्रबन्धकाव्यों को महत्त्वपूर्ण माना जाता है उनमें से कृष्णचन्द्रिका और रामचन्द्रिका ही ऐसे काव्य हैं जिन पर महाकाव्य के संबध में विचार करते समय विशेष रूप से दृष्टि-निक्षेप करने की आवश्यकता है।

रामचन्द्रिका

रामचन्द्रिका के कवि केशवदास हिन्दी साहित्य के 'नवरत्नों' या नौ महाकवियों में माने जाते हैं और रामचन्द्रिका उनकी सर्वश्रेष्ठ कृति कही जाती है। किन्तु साथ ही यह भी सर्वमान्य तथ्य है कि केशव जितने बड़े आचार्य या शास्त्रज्ञ हैं उतने बड़े कवि नहीं। वे संस्कृत साहित्य के बहुत बडे पंडित और अनेक लक्षण-ग्रंथों के निर्माता थे और उस क्षेत्र में उनकी प्रतिभा और पांडित्य के महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। किन्तु यह भी सत्य है कि प्रबन्धकाव्यों में केशव को उतनी सफलता नहीं प्राप्त हुई है। आचार्य और शास्त्रज्ञ होना एक बात है और कवि होना बिलकुल भिन्न बात है। अतः यह तो स्वतः सिद्ध है कि महाकाव्यकार के लिए पहले महाकवि होना आवश्यक है। इसीलिए दूसरे अध्याय में महाकाव्य का लक्षण निर्धारित करते हुए कहा गया है कि महाकाव्य में कवि की महती काव्यप्रतिभा और महत्प्रेरणा अवश्य दिखाई पड़नी चाहिये। केशव की कृतियों में उस काव्यप्रतिभा के दर्शन नहीं होते। उनकी काव्य-शक्ति के बारे में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि "केशव को कवि हृदय नहीं मिला था। उनमें वह सहृदयता और भावुकता न थी जो एक कवि में होनी चाहिये।"[1] इस संबंध में डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने लिखा है, 'ये ग्रंथ उन्हें आचार्य-पद दिला सकते हैं, महाकवि नहीं बना सकते।'[2] अतः जिस कवि में महती काव्यप्रतिभा ही न हो उसके लिखे किसी प्रबन्ध-

---

१. वही—पृ० २०६।

२. डाक्टर पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल—संक्षिप्त रामचन्द्रिका, पंचम संस्करण की भूमिका—सं० २००७, पृ० ११।

काव्य में महाकाव्यत्व दिखाई पडे, यह असंभव बात है। ऐसा आज तक कहीं देखा नहीं गया है। यह तो हो सकता है कोई महाकवि अपने जीवन भर में एक भी महाकाव्य न लिख पाये, पर यह नहीं हो सकता कि जो महाकवि ही नहीं है वह किसी वास्तविक महाकाव्य की रचना कर दे। यही कारण है कि सैकडो सामान्य प्रतिभा वाले कवियों के लिखे बड़े बड़े प्रबन्धकाव्य महाकाव्य के शास्त्रीय-लक्षणों से युक्त होते हुए भी वस्तुतः महाकाव्य नहीं हैं। इस तर्क के आधार पर रामचन्द्रिका को भी महाकाव्य नहीं माना जा सकता। किन्तु यह तर्क नकारात्मक है। अतः दूसरे अध्याय में निर्दिष्ट महाकाव्य के स्थिर लक्षणों के आधार पर रामचन्द्रिका की परीक्षा करके उसके महाकाव्यत्व का निर्णय करना चाहिए।

महदुद्देश्य

केशव ने रामचन्द्रिका के आरम्भ ही में कहा है कि वे आत्मसुख के लिए तथा पुरातन पापों को दूर करने के लिए रामचन्द्रिका की रचना कर रहे हैं :—

कालत्रयदर्शी निर्गुण परसी होत विलम्ब न लागे।
तिनके गुण कहिहों सब सुख लहिहों पाप पुरातन भागे ॥१-२०

किन्तु पूरे ग्रन्थ से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि कवि का उद्देश्य राम जैसे महच्चरित्र का गुणगान करना नहीं, बल्कि अपने छन्द, अलंकार आदि के शास्त्रीय ज्ञान तथा पांडित्य का प्रदर्शन करना है। उनका उद्देश्य तुलसी की तरह अपनी कविता को सर्वबोधगम्य बनाकर राम के महान आदर्श की प्रतिष्ठा द्वारा लोक मङ्गल का विधान करना नहीं है। संभवतः तुलसीदास जी के काव्य का बढ़ता हुआ प्रचार तथा उसका अमोघ प्रभाव देखकर ही केशव के मनमें रामचरित लिखने की उत्कंठा हुई किन्तु वे स्वभावतः भक्त नहीं शृंगारी और आचार्य कवि थे। अतः रामचरित का आश्रय लेकर भी उन्होंने जिस काव्य की रचना की उसमें भक्त कवि की लोक-मङ्गल-साधना और आध्यात्मिक प्रेम विह्वलता नहीं है। फलतः रामचन्द्रिका में न तो किसी महान आदर्श की स्थापना हो सकी है और न उसमें ऐसी महती प्रेरणा ही दिखाई देती है जिससे अभिभूत होकर कवि ने उसकी रचना की हो। इसी कारण रामचन्द्रिका का सामान्य हिन्दी-भाषा-भाषी जनता के हृदय में कोई स्थान नहीं है और न ३-४ सौ वर्ष के लोक-जीवन को उसने किसी प्रकार प्रभावित ही किया है।

गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्त्व

महाकाव्य में जिस गंभीर जीवन-दर्शन, लोककल्याणाभिनिवेशी दृष्टिकोण तथा आदर्शोद्भूत महानता की आवश्यकता होती है, रामचन्द्रिका में उसका सर्वथा अभाव है। कवि का ध्यान जितना पांडित्य-प्रदर्शन की ओर है उतना जीवन की गंभीर विवेचना और चिरतन सत्य को खोज करके उसे सर्वभूत-हित के लिये सहज बोधगम्य बनाने की ओर नहीं। गुरुत्व का अर्थ क्लिष्टता, ज्ञान-भंडार का प्रदर्शन और कोरी कल्पना की उड़ान नहीं है और रामचन्द्रिका में इन्हीं की प्रधानता है। केशव की कल्पना ऐसी विराट नहीं है जो समस्त युग-समाज के सदसत् रूपों की विवेचना और प्रत्यक्षीकरण कर सके, इसी कारण रामचन्द्रिका में विचारों की ऊँचाई, भावनाओं की अतल गहराई और प्रभविष्णुताजन्य विराटता और महानता नहीं है।

महत्कार्य और समग्र युग-जीवन का चित्रण

रामचन्द्रिका की रचना वाल्मीकि रामायण के आधार पर हुई है और उसमें रामायण के उत्तरकाण्ड तक की रामकथा का वर्णन हुआ है। १९वें प्रकाश में रावण-वध और २० वें प्रकाश में राम के अयोध्या लौटने का वर्णन हुआ है। उसके बाद २१ वें से २८वें प्रकाश तक तिलकोत्सव और रामराज्य का वर्णन हुआ है। प्रधान कथा यहीं समाप्त हो जाती है। किन्तु केशव ने राम के उत्तर चरित का भी वर्णन किया है और इस तरह ३९ सर्गों में काव्य समाप्त किया है। ३९वें सर्ग में राम-सीता के पुनर्मिलन, राम द्वारा राज्य वितरण और राजनीति तथा धर्मसम्बन्धी उपदेश के साथ ग्रन्थ समाप्त होता है। इस तरह राम का वैराग्य ही रामचन्द्रिका का 'कार्य' है। तुलसी ने बड़े कौशल से राम राज्य-वर्णन करके आधिकारिक कथा की समाप्ति की है। अतः वही 'मानस' का कार्य है और प्रारम्भ से अन्त तक की सभी घटनायें उसी कार्य की सिद्धि के लिए नियोजित हुई हैं। रामचन्द्रिका में यदि राम के वैराग्य को ही कार्य या फल माना जाय तो स्पष्ट है कि उसके पूर्व की सभी घटनायें कार्य की सिद्धि के लिए नहीं आयोजित हैं। राम-चन्द्रिका की प्रधान भावना वैराग्य की नहीं है, न उसमें शान्त रस अंगी रस है। अतः यह मानना पड़ेगा कि उसमें 'कार्य' की समुचित योजना नहीं हुई है। यदि रावण-वध या धर्म-राज्य की स्थापना दिखाना ही केशव का लक्ष्य होता तो वे भी उसी को 'कार्य' रूप में नियोजित करते, और ग्रन्थ २८ वें सर्ग में ही समाप्त हो जाता। इसीसे प्रतीत होता है कि उनके मन में महत्कार्य की कोई कल्पना ही नहीं थी। राम-रावण-युद्ध और रामराज्य की स्थापना रामकथा की सबसे महत्त्वपूर्ण घटनायें हैं, अतः केशव ने भी अति-

वार्यतः उनका वर्णन किया है पर वर्णन-विधि से स्पष्ट है कि न तो उनका मन इसमें रमा है और न उन्होंने इन दोनों घटनाओं को 'रामकथा का केंद्र-विन्दु मान कर अत्यन्त विशद रूप में उन्हें उपस्थित ही किया है। निष्कर्ष यह कि राम जैसे महान चरित्र को नायक रूप में स्वीकार करके तथा रामकथा का आश्रय लेकर भी केशव 'महत्कार्य' की योजना नहीं कर सके हैं।

रामकथा के वर्णन में जीवन के विविध पक्षों और उनके स्वरूप के उद्घाटन का जितना अवसर मिल सकता है उतना अन्य किसी भी एक कथा में शायद ही मिले। परन्तु केशव ने ऐसी कथा को अपना कर भी जीवन के वैविध्यपूर्ण चित्रण की ओर उतनी रुचि नहीं दिखाई है जितनी 'मानस' में मिलती है। वे दरबारी कवि थे जिससे सामन्ती वातावरण और उच्च वर्ग के लोगों के जीवन तथा स्वभाव का उन्हें जितना ज्ञान था उतना सामान्य जनता के विविध स्वरूपों का नहीं। इसी कारण रामचन्द्रिका में वस्तु वर्णन की प्रधानता होते हुये भी जीवन के विविध स्वरूपों का स्वाभाविक और मर्मस्पर्शी उद्घाटन नहीं हुआ है। इस सम्बन्ध में शुक्ल जी का यह कथन सर्वथा उचित है कि "रामचन्द्रिका के लम्बे चौड़े वर्णनों को देखने से स्पष्ट लक्षित होता है कि केशव की दृष्टि जीवन के गम्भीर और मार्मिक पक्ष पर न थी। उनका मन राजसी ठाटबाट, तैयारी, नगरों की सजावट, चहल-पहल आदि के वर्णन में विशेषतः लगता था।"[1] केशव ने जानबूझ कर वर्णनों का विस्तार किया है और यह प्रयत्न किया है कि आलंकारिकों ने महाकाव्यों में जिन वस्तुओं के वर्णन का निर्देश किया है वे तो रामचन्द्रिका में आ ही जायँ, साथ ही संस्कृत-अपभ्रंश के पूर्ववर्ती महाकाव्यों में वर्णन सम्बन्धी जो रूढ़ियाँ मिलती हैं उनका भी पालन हो जाय। इस तरह उसमें जहाँ शास्त्रीय लक्षणों के अनुसार युद्ध, सेना-प्रयाण, वन-उपवन, नगरावरोध, विप्रलंभ और संयोग श्रृंगार आदि का अनावश्यक विस्तार के साथ वर्णन हुआ है वहीं अपभ्रंश तथा हिन्दी के पूर्ववर्ती काव्यों की स्तोत्र, उपदेश, ज्ञान-गोष्ठी आदि की वर्णन-रूढ़ि भी बहुत अधिक अपनाई गयी है। वस्तु-वर्णन में उन्होंने देश-काल-स्वभाव के औचित्य और प्रबन्ध-कौशल का तनिक भी ध्यान नहीं रखा है। उदाहरणार्थ रामचन्द्रिका में राम वन-गमन के समय अपनी माँ को पातिव्रत धर्म और विधवा के कर्तव्यों की शिक्षा देते हैं। इसी प्रकार के अनपेक्षित वर्णनों द्वारा काव्य-कलेवर की वृद्धि की गयी है पर उनसे काव्य-सौन्दर्य नष्ट हो गया हैं। कुछ सर्ग तो इतने शुष्क, वर्णनात्मक और कथा से असम्बन्ध हैं कि उन्हें

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २१२।

निकाल देने पर उसका काव्य-सौष्ठव बढ़ जा सकता है। वे सर्ग या प्रकाश ये हैं:—२५, २७, २९, ३०, ३१, ३२ और ३४। अन्य प्रकाशो में भी बहुत से निकालने योग्य वर्णन हैं। वस्तुवर्णन का उद्देश्य रसात्मकता उत्पन्न करने के साथ ही जीवन का वैविध्य चित्रित करना होता है। रामचन्द्रिका में वस्तु-वर्णन का उद्देश्य पांडित्यप्रदर्शन करना है। शुक्ल जी के शब्दों में "वे बहुत से वर्णन यों ही बिना अवसर का विचार किये भरते गये है। वे वर्णन वर्णन के लिये करते थे न कि प्रसंग या अवसर की अपेक्षा से।।"[1] इस प्रकार के वर्णनात्मक काव्य में पात्रों को विविध अवस्थाओं के बीच उपस्थित करके उनकी विभिन्न मानसिक दशाओं, भावनाओं और क्रिया-प्रतिक्रिया का सूक्ष्म और स्वाभाविक उद्घाटन नहीं हो सकता। रामचंद्रिका की नोरस और उबा देने वाली वर्णनात्मकता उसके महाकाव्यत्व में सबसे बड़ी बाधा है।

सुसंघटित और जीवन्त कथानक

उपर्युक्त विवेचन के बाद यह स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि रामचन्द्रिका में प्रबन्धत्व का अभाव है। केशव ने अपने प्रबन्ध के कथानक की सुनिश्चित योजना बनाकर रामकथा से उपयुक्त घटनाओं का संकलन नहीं किया है। उन्होंने पूरी कथा-वस्तु को लेकर अतिशयता के साथ वर्णन करने का प्रयास किया है। फलस्वरूप उसमें कथा के सूत्र स्थान-स्थान पर टूट गये हैं और जहाँ कथा है भो, वहाँ उसके वर्णन में इतनी शीघ्रता की गई है कि उसकी धारा और प्रवाह का पता नहीं चलता। असंबद्ध वर्णनों के बीच बार-बार कथा-धारा लुप्त हो जाती है, इस तरह उसमें कथात्मकता का गुण भी नहीं है। महाकाव्य का कथानक शृंखलित और सुसम्बद्ध होता है। रामचन्द्रिका में इस प्रकार की शृंखलाबद्धता का पूर्ण अभाव है जिससे उसका कथानक सुसंघटित और जीवन्त नहीं है। इस विशृंखलता का प्रधान कारण यह है कि केशव ने कथा-वस्तु के विन्यास मे नाटकीय संधियों और कार्यावस्थाओं की ओर ध्यान ही नही दिया है। इस तरह उसके कथानक सक्रियता, सम्बन्ध-निर्वाह, विकास-क्रम और कार्यान्विति में इन सभी गुणों का अभाव है।

महच्चरित्र

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी रामचन्द्रिका में कोई वैशिष्ट्य नहीं दिखाई पड़ता। राम जैसे महान जन-नायक, मर्यादा पुरुषोत्तम और ब्रह्म के अवतार को अपने काव्य का नायक बना कर भी केशव ने उसके राजा रूप का ही

---

१. वही, पृ० वही।

चित्रण प्रधान रूप से किया है। वे अपनी दरबारी सीमा के बाहर नहीं जा सके हैं जिससे रामचन्द्रिका में राम का सर्वहितकारी, दीन-रक्षक, जन-प्रेमी रूप तो नहीं ही स्पष्ट हुआ है, उनके पारिवारिक सम्बन्धों के बीच निखरने वाले शील-सौन्दर्य की भी कवि ने बिलकुल उपेक्षा की है। वस्तुत: महदुद्देश्य और महती काव्य-प्रतिभा के अभाव में महच्चरित्र की कल्पना की ही नहीं जा सकती। राम तो वही ही हैं पर वाल्मीकि, स्वयंभू और तुलसी के राम में जो महानता और चरित्रगत विराटता दिखाई पड़ती है वह रामचन्द्रिका के राम में नहीं है। अन्य चरित्रों की भी स्वभावगत विशेषताओं को उसमें उभार कर नहीं रखा गया है। सच तो यह है कि केशव में मानव प्रकृति की पहचान तथा उसके सूक्ष्म निरीक्षण की दृष्टि ही नहीं थी। इसीसे रामचन्द्रिका चरित्र-चित्रण की दृष्टि से महत्वहीन हो गई है। केशव के मन में यदि राम का महान आदर्श उदित हुआ होता और उससे प्रेरित होकर उन्होंने काव्य-रचना की होती तो उनके राम इतने वैशिष्ट्यहीन और निष्प्राण न प्रतीत होते। केशव ने राम को जीवन के अन्तिम भाग में विरक्त होते हुए दिखा दिया है, इससे प्रतीत होता है कि उन्होंने जैन रामायणों से यह प्रभाव ग्रहण किया है। उन्होंने एक ओर तो राम को ब्रह्म का अवतार बताया है और दूसरी ओर उन्हें वशिष्ठ के उपदेश से प्रभावित होकर, विरक्त होते और राज्य का वितरण करते हुए दिखाया है। ये विरोधी बातें हैं। ब्रह्म के अवतार राम तो लीला-पुरुष हैं, स्वयं ब्रह्म है। उन्हें विरत होकर सन्यास ग्रहण करने की क्या आवश्यकता है? जैनों ने अवश्य उन्हें जीवन के अन्त में विरक्त होते दिखाया है पर वे उन्हें ब्रह्म अवतार मानते ही नहीं।

उदात्त शैली

आचार्य और रीतिवादी कवि होने के कारण केशव ने वाग्वैदग्ध्य और उक्ति-चमत्कार के प्रदर्शन की ओर जितना अधिक ध्यान दिया है उतना काव्य की प्रेषणीयता की ओर नहीं। इसी कारण रामचन्द्रिका में प्रबुद्ध पाठकों को चमत्कृत करने की क्षमता तो है पर उनकी भावनाओं को उद्बुद्ध करने की शक्ति नहीं है। रामचन्द्रिका का पाठक केशव के छन्द-ज्ञान, आलङ्कारिक-प्रतिभा और कल्पना की विचित्रता को देखकर आश्चर्यचकित रह जाता है परन्तु कवि के हृदय के साथ उसका तादात्म्य नहीं हो पाता। अतिशय क्लिष्ट और अस्वाभाविक कल्पना से उद्भूत अलंकारों के प्रयोग, अत्यधिक वस्तु-परिगणना की प्रवृत्ति, नाना प्रकार के छन्दों के प्रयोग और पांडित्य के आडम्बर के कारण रामचन्द्रिका अत्यन्त दुरूह और कृत्रिम काव्य बन गया है। इन्हीं बातों के कारण केशव को 'कठिन काव्य का प्रेत' तक कहा जाता है। रामचन्द्रिका की दुरूहता का कारण

बताते हुए शुक्ल जी ने लिखा है, "पदों और वाक्यों की न्यूनता, अशक्त फालतू शब्दों का प्रयोग और सम्बन्ध के अभाव आदि के कारण भाषा भी अप्रांजल और उबड़-खाबड़ हो गई है और तात्पर्य भी स्पष्ट से रूप से व्यक्त नहीं हो सका है। केशव की कविता जो कठिन कहीं जाती है उसका प्रधान कारण उनकी यही त्रुटि है, उनकी मौलिक भावनाओं की गम्भीरता या जटिलता नहीं।"[1] छन्दों का वैविध्य तो रामचन्द्रिका में इतना अधिक दिखाई पड़ता है कि वह पिंगलशास्त्र का उदाहरण ग्रन्थ प्रतीत होती है। बहुत जल्दी जल्दी छन्द-परिवर्तन होने से कथा की धारा टूटती जाती है। और पाठकों का मन रसमग्न नहीं हो पाता। इसी कारण आचार्यों ने महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग में आद्यन्त एक ही छन्द के प्रयोग का विधान रखा है। अतः रामचन्द्रिका के महाकाव्यत्व में इसका अत्यधिक छन्द-परिवर्तन भी बहुत बाधक सिद्ध हुआ है। उसमें नाटकीय शैली के संवादों की इतनी अधिकता है कि कुछ लोगों ने उसे नाटकीय शैली का काव्य भी कहा है। संवादों में पात्रों के नाम प्रायः छन्द से अलग रखे गये हैं। सामान्य पाठक अथवा श्रोता काव्य के छन्दों को याद कर लेते हैं किन्तु वक्ताओं के नाम अलग होने पर उन नामों को याद करना कठिन होता है। इसीलिये रामचन्द्रिका में श्रव्य-काव्य का वह गुण नहीं आ सका है जो महाकाव्य की अपनी विशेषता है। महाकाव्य में संवाद-तत्त्व तो अवश्य होता है किन्तु वक्ताओं के नाम छन्द से अलग नहीं होते। इस दृष्टि से रामचन्द्रिका महाकाव्य न होकर छन्दोबद्ध नाटक प्रतीत होता है। महाकाव्य की बाह्य रूढ़ियाँ-सर्गबद्धता, मंगलाचरण, वस्तु-निर्देश, कवि द्वारा दीनता-प्रकाश, प्रकृति चित्रण, आदि का पालन इसमें अवश्य किया गया है। किन्तु शैली की इन चिराचरित रूढ़ियों के पालन मात्र से ही कोई काव्य महाकाव्य-पद का अधिकारी नहीं हो सकता।

रसवत्ता और प्रभावान्विति

भावाभिव्यंजना, रसवत्ता और प्रभावान्विति की दृष्टि से रामचन्द्रिका और भी असफल काव्य है। पहले कहा जा चुका है कि केशव में कथा के मर्मस्पर्शी स्थलों को पहचानने की क्षमता नहीं है और न उन्होंने अपनी भावुकता और हृदय की संवेदनशीलता का ही परिचय दिया है। इस कारण रामचन्द्रिका में उन्होंने विविध मानसिक दशाओं और भावनाओं की मार्मिक अभिव्यक्ति की ओर ध्यान नहीं दिया है। फलतः इसमें महाकाव्य के लिए आवश्यक रस-भाव का नैरन्तर्य नहीं है। समष्टि रूप में उसमें अंगी रस का अभाव है। उसका

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—पृ० २०६।

फलागम राम की विरक्ति और राज्य-त्याग है पर प्रारम्भ, प्रयत्न आदि कार्याव-स्थाएँ नायक के अभ्युदय या राज्य-प्राप्ति को ध्यान में रखकर संयोजित हुई हैं। इससे उसमें वीर-रस और शान्त रस दोनों की सम्यक् योजना नहीं हो पाई है। कथा-वस्तु का विन्यास भारतीय ढङ्ग का होने से प्रभावान्विति का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इस तरह रामचन्द्रिका में महाकाव्योचित रसवत्ता और प्रभावान्विति का अभाव है।

जीवनी शक्ति और प्राणवत्ता

महाकाव्य की दृष्टि से रामचन्द्रिका के जिन अभावों और त्रुटियों का उल्लेख ऊपर किया गया है उनके कारण यह सम्भव नहीं था कि उसमें वह जीवनी शक्ति और प्राणवत्ता होती जो किसी जाति के इने-गिने महाकाव्यों में पाई जाती है और जिनके कारण वे काव्य सदा-सर्वदा के लिए अमर हो जाते हैं। उद्देश्य की महानता, चरित्रों की विराटता और शैली की उदात्तता तथा सहजता के कारण ही सामान्य जनता किसी काव्य को अपने हृदय में स्थान देती है और जीवन-निर्माण में उससे सदैव प्रेरणा ग्रहण करती रहती है। इन गुणों का अभाव होने से रामचन्द्रिका लोक-हृदय में अपना स्थान नहीं बना सकी है, भले ही साहित्य के विद्यार्थियों और शास्त्रज्ञ विद्वानों के बीच उसको परम्परागत रूप में आदर मिलता आ रहा हो। उपर्युक्त विवेचन का अर्थ यह है कि रामचन्द्रिका को महाकाव्य क्या, एक सफल प्रबन्धकाव्य भी नहीं माना जा सकता।

कृष्णचन्द्रिका

कृष्णचन्द्रिका की रचना बुन्देलखण्ड के कवि गुमानी मिश्र ने सं० १८८३ वि० में की थी। कई दृष्टियों से यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण काव्य है। यद्यपि कृष्ण-चन्द्रिका का उतना प्रचार नहीं हुआ है पर यदि निष्पक्ष भाव से विचार किया जाय तो पद्मावत और रामचरितमानस के बाद प्रबन्धत्व और रसात्मकता की दृष्टि से मध्यकालीन प्रबन्धकाव्यों में उसे सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया जाना चाहिए। गुमानी मिश्र ने कृष्णचन्द्रिका में रामचरितमानस और रामचन्द्रिका की शैलियों का सुन्दर समन्वय किया है, साथ ही रामचन्द्रिका की त्रुटियाँ भी अपने काव्य में नहीं आने दी हैं। यह २७ प्रकाशों में विभक्त पौराणिक शैली का काव्य है। उसमें श्रीमद्भागवत की कथा के आधार पर कृष्ण के जन्म से लेकर कंस-वध और कृष्ण की राज्य-प्राप्ति तक की कथा कही गयी है। कृष्णचन्द्रिका की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें महाकाव्य की शास्त्रीय शैली और पौरा-णिक शैली का सामञ्जस्य किया गया है। रामचरितमानस की तरह उसमें भी प्रारम्भके तीन सर्गों में काव्य की प्रस्तावनादी गई है। प्रथम प्रकाश के ५३ छन्दों

में गणेश, सरस्वती, शिव, कार्तिकेय, दशावतार आदि विभिन्न देवी-देवताओं की काव्यात्मक पद्धति से वन्दना करने के बाद, काव्य-रचना के कारण, अपने असामर्थ्य, अपने वंश तथा रचना-तिथि का वर्णन किया गया है। दूसरे-तीसरे प्रकाश में भी पौराणिक शैली के काव्यों की तरह कथान्तर या कथामुख का वर्णन है जिसमें कृष्ण-जन्म के कारणों पर प्रकाश डाला गया है। आधिकारिक कथा का प्रारम्भ चौथे सर्ग में कृष्ण-जन्म-वर्णन से होता है। उसके बाद के सर्गों मे कृष्ण के प्रारम्भिक जीवन की घटनाओं, बाललीला तथा विभिन्न असुरों के वध आदि का कथात्मक शैली में वर्णन हुआ है किन्तु कवि पौराणिक शैली को अपनाते हुए भी शास्त्रीय लक्षणों का पालन करना नहीं भूलता। अतः ६, १०, ११ और १९ वें प्रकाश में विभिन्न ऋतुओं के वर्णन के प्रसङ्ग में प्राकृतिक वस्तुओं का बड़ा ही मनोहर चित्रण हुआ है। संयोग और विप्रलंभ शृङ्गार तथा विभिन्न राक्षसों से कृष्ण के युद्धों के वर्णन की योजना भी शास्त्रीय लक्षणों के अनुरूप हुई है। किन्तु इन सभी वर्णनों में सहजता और स्वाभाविकता भरी हुई है। उनमें रामचन्द्रिका जैसी कृत्रिमता और पांडित्य का घटाटोप नहीं दिखाई पड़ता—रसात्मकता भी उसमें आद्यन्त दिखाई पड़ती है। पूरे काव्य में वीर, शृङ्गार, वात्सल्य और शान्त रस की व्यञ्जना हुई है पर कृष्ण-काव्य की परम्परा के अनुरूप उसमें शृङ्गार ही अंगी रस है। रीति-काल की प्रवृत्ति के विरुद्ध इस काव्य में शृङ्गार अत्यन्त मर्यादित और भक्तिभावनायुक्त, रस में निमग्न करने के लिए साधन रूप में नियोजित है। अतः गुमानी मिश्र रीतिकालीन विदग्ध भक्त कवियों—घनानन्द आदि—की श्रेणी में आते हैं। रसव्यञ्जना में कवि ने विभावों के वर्णन में पूर्ण सफलता पाई है। प्रारम्भ में ही शिव की स्तुति करते हुए उनके अर्द्ध-नारीश्वर रूप का उत्कृष्ट चित्र दिखाई पड़ता है :—

आधे सों सिन्दूर धूर आधे दिव्य धुनी पूर—
आधे मनचूड़ आधे चन्द्रचूड़ नाधे है।
आधे लाल माल आधे सोभत कपाल-माल
आधे मुक्त माल आधे विष ज्वाल साधे है।
भनत 'गुमान आधे राग आधे औ विराग
आधे बाहुबन्द आधे व्यालवृन्द बाँधे है।
आधे विज्जुछटा आधे सरद घटा से रंग
ऐसो मिलि अंग सिवा सम्भु आधे आधे हैं।

कृष्ण चन्द्रिका १—१५

निष्कर्ष यह कि यदि केवल महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों की दृष्टि से देखा जाय तो कृष्णचन्द्रिका को महाकाव्य माना जा सकता है क्योंकि उसका नायक धीरोदात्त सद्वंश क्षत्रिय है, चतुर्वर्ग फल में से काम और धर्म उसका फल है, उसमें रस-भाव की निरन्तरता है, युद्ध, मंत्रणा, यज्ञ कुमारोदय, संध्या, प्रभात, वन, नदी आदि का वर्णन है, कथानक में पञ्च सन्धियों का विधान भी है और बहिरङ्ग—सर्गबद्धता, प्रस्तावना आदि—संस्कृत के शास्त्रीय महाकाव्यों जैसा है। शास्त्रीय दृष्टि से उसमें एक ही अभाव है, वह यह कि इसमें एक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग नहीं हुआ है। वस्तुतः गुमानी मिश्र ने छन्द-योजना में केशव का अनुकरण किया है। किन्तु छन्द-परिवर्तन से कृष्णचन्द्रिका में पाठकों की रुचि बदलती चलती है पर कथा में मन लगा रहता है, रामचन्द्रिका की तरह पाठक ऊबने नहीं लगता। इस सम्बन्ध में बाबू गुलाबराय ने लिखा है कि "गुमानी मिश्र की कृष्णचन्द्रिका भी कृष्ण-साहित्य की परम्परा में एक विशेष स्थान रखती है। ऐसा विचार हे कि इसकी शैली भी अन्य कृष्ण-साहित्य से भिन्न है। कृष्ण-चरित्र अधिकांश रूप में पदों में ही लिखा गया है परन्तु इस पुस्तक में केशव को रामचन्द्रिका की भाँति बदलते हुए छन्द हैं जो पाठक के मन में एक सुखद वैविध्य उत्पन्न कर देते हैं।"[1] प्रत्येक सर्ग के प्रारम्भ में एक दोहे में उस सर्ग की कथा का सङ्केत दे देने की पद्धति इसमें रामचन्द्रिका के अनुकरण पर ही अपनायी गई है।

यह सब होते हुए भी कृष्णचन्द्रिका वास्तविक महाकाव्य नहीं है। यद्यपि कृष्ण जैसे महान् पुरुष उसके नायक हैं पर उनके जीवनव्यापी कार्यों का वर्णन नहीं किया गया है। इस कारण कृष्ण का योगी, नीतिज्ञ और वीर रूप इसमें नहीं चित्रित हुआ है और समग्र जीवन का चित्रण भी नहीं हो सका है। महाकाव्य के नायक में जो महानता होती है वह कृष्णचन्द्रिका के कृष्ण में नही है। इसका उद्देश्य भी 'मानस' की भाँति लोककल्याणाभिनिवेशी और महान नहीं है किन्तु यह दोष कवि का नहीं, कृष्ण-भक्ति-परम्परा के ऐकान्तिक दृष्टिकोण का है जिसमें कृष्ण के मधुर रूप को ही प्रधानता दी जाती है, उनके वीर और नीतिज्ञरूप को नहीं। कृष्णचन्द्रिका में नायक के अतिरिक्त अन्य किसी पात्र के चरित्र की रेखायें उभरी हुई नहीं है जिससे उसमें पात्रों की भीड़ रहते हुए भी वैशिष्ट्यपूर्ण चरित्रों की विविधता नहीं है। उसकी शैली यद्यपि

---

१. बाबू गुलाब राय—कृष्णचंद्रिका, प्राक्कथन;—सं० श्री उदयशंकर भट्ट, लाहौर, सन् १९३५, पृ० १।

निर्दोष और आकर्षक है पर उसमें वह उदात्तता और गम्भीरता नहीं है जो कवि की महाप्राणता, विराटकल्पना और गम्भीर दृष्टिकोण से उद्भूत होती है जो इन्हीं कारणों से उसमें वह सफल प्राणवत्ता और जीवनी शक्ति भी नहीं है जिनसे कोई काव्य युग-युग में समूची जाति या राष्ट्र के हृदय-देश में अधिकार किए रहता है।

[२]

जैसा पहले कहा जा चुका है, संस्कृत के शास्त्रीय शैली के महाकाव्यों की पद्धति का वास्तविक अनुकरण हिन्दी में बीसवीं शताब्दी में प्रारम्भ हुआ। श्री अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने सन् १९१४ में 'प्रियप्रवास' की रचना खड़ी बोली हिन्दी में इसी पद्धति पर की। प्रियप्रवास के पूर्व आधुनिक युग में महाराज रघुराज सिंह भी 'राम-स्वयंवर' नामक एक विशालकाय प्रबन्धकाव्य की रचना कर चुके थे। यह ब्रजभाषा मे वर्णनात्मक शैली में लिखा गया है और उसमें वस्तु-परिगणना की प्रवृत्ति इतनी अधिक है कि अन्य शास्त्रीय लक्षणों की सर्वथा उपेक्षा हो गयी है। हरिऔध जी ने प्रियप्रवास की रचना में इस बात का ध्यान रखा कि वह शास्त्रीय शैली का महाकाव्य हो, उसकी भाषा खड़ी बोली हो, छन्द संस्कृत के अतुकान्त वर्णवृत्त हों और पौराणिक बातों का बौद्धिकीकरण कर उन्हें आधुनिक युग के लिए विश्वसनीय बनाया जाय। उपाध्याय जी का यह प्रयास द्विवेदी-युग की पुनरुत्थानवादी राष्ट्रीयता की प्रवृत्ति के सर्वथा अनुरूप था। इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप उन्होंने प्रियप्रवास में एक ओर तो आधुनिक युग की बौद्धिकता, सामाजिकता, लोकहित की भावना, मर्यादावाद, सुधारवाद आदि का सन्निवेश किया है, दूसरी ओर संस्कृत के शास्त्रीय महाकाव्यों की शैली, संस्कृतगर्भित भाषा, संस्कृत के वर्णवृत्त और पौराणिक कथा को भी अपनाया है। पुनरुत्थानवादी राष्ट्रीयता की प्रवृत्ति की प्रेरणा से ही आधुनिक युग में खड़ी बोली में अनेक बड़े प्रबन्धकाव्य लिखे गये। उन सभी प्रबन्धकाव्यों को उनके कवियों ने महाकाव्य माना है और उनकी रचना भी मूलतः महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों को दृष्टि में रख कर ही हुई है।

आठवें अध्याय में रवीन्द्रनाथ ठाकुर का वह कथन उद्धृत किया जा चुका है जिसमें उन्होंने कहा है कि आजकल महाकाव्य लिखना एक फैशन हो गया है और कवि पहले ही से सरस्वती के साथ 'बन्दोबस्त करके महाकाव्य रचना करने बैठ जाते हैं।'[1] रवि बाबू की यह उक्ति आधुनिक युग के अधिकांश ऐसे

१—देखिये अध्याय ८--पृष्ठ ५११--पाद-टिप्पणी।

प्रबन्धकाव्यों के कवियों पर सही उतरती है जिन्होंने पहले ही से यह मान लिया है कि वे महाकाव्य की रचना कर रहे हैं। यही कारण है कि आधुनिक युग के अधिकांश बड़े प्रबन्धकाव्यों को महाकाव्य का नाम देकर उपस्थित किया गया है। प्रियप्रवास खड़ी बोली का इस तरह का पहला बड़ा प्रबन्धकाव्य था जिसे कवि ने स्वयं महाकाव्य कहा था, "मुझे एक ऐसे काव्य ग्रन्थ की आवश्यकता देख पड़ी जो महाकाव्य हो और ऐसी कविता में लिखा गया हो जिसे भिन्न तुकान्त कहते हैं। अतः मैं इस न्यूनता की पूर्ति के लिये कुछ साहस के साथ अग्रसर हुआ और मैंने अनवरत परिश्रम करके इस 'प्रिय प्रवास' नामक ग्रन्थ की रचना की.. . मुझमें महाकवि होने की योग्यता नहीं, मेरी प्रतिभा ऐसी सर्वतोमुखी नहीं जो काव्य के लिये उपयुक्त उपकरण संग्रह करने में कृत-कार्य हो सके अतएव मैं किस मुख से कह सकता हूँ कि प्रिय-प्रवास बन जाने से खड़ी बोली में एक महाकाव्य न होने की न्यूनता दूर हो गई।"[1] इस विवेचन से तीन बातें स्पष्ट होती है :—

१ हरिऔध जी ने आन्तरिक प्रेरणा से नहीं बल्कि हिन्दी में महाकाव्य की कमी पूरी करने के लिए प्रियप्रवास की रचना की है।

२. उन्होंने प्रयत्नपूर्वक प्रियप्रवास को महाकाव्य बनाना चाहा है और इसके लिये उन्हें बहुत परिश्रम करना पड़ा है। तात्पर्य यह कि उसे महाकाव्य बनाने के लिए उन्होंने शास्त्रीय लक्षणों का पालन करने का प्रयत्न किया है अर्थात् प्रियप्रवास स्वाभाविक प्रेरणा और प्रतिभा से उद्‌भूत काव्य नहीं है, बल्कि एक अभ्यासशील कवि की यत्नसाध्य कला-कृति है।

३ आधुनिकता लाने के लिए हरिऔध जी ने मूल पौराणिक कथा को बुद्धि-सगत और मानवीय बनाने का प्रयत्न किया है फिर भी पुनरुत्थानवादी आदर्श-वाद और स्थूल नैतिकता को ही प्रियप्रवास में प्रधानता मिली है।

ये बातें 'प्रियप्रवास' तक ही सीमित नहीं है बल्कि आधुनिक युग के अधिकांश हिन्दी प्रबन्धकाव्यों में पायी जाती हैं। ८ से अधिक सर्गों वाले अधिकांश प्रबन्धकाव्यों को कवियों ने स्वय महाकाव्य कहा है और उनके मुख-पृष्ठ पर इस प्रकार के विशेषण लिखे मिलते हैं:—आर्यावर्त—ऐतिहासिक महा-काव्य, हल्दीघाटी—वीर रस प्रधान आदि महाकाव्य, जौहर—वीर-करुण सिक्त अद्वितीय महाकाव्य, अंगराज—२५ सर्गों का मौलिक महाकाव्य। अनेक प्रबन्ध-काव्यों की भूमिका में भी उन काव्यों को महाकाव्य कहा गया है अथवा

---

२. अयोध्या सिंह उपाध्याय—प्रिय प्रवास, भूमिका।

आचार्यों द्वारा बताये गये लक्षणों के आधार पर उन्हें महाकाव्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। उदाहरणार्थ 'वर्द्धमान' की भूमिका में श्री अनूप शर्मा ने लिखा है, "श्री चौथमल तथा मनोहर लाल जी ने यह इच्छा प्रकट की कि मैं भगवान महावीर के जीवन-वृत्त को लेकर एक महाकाव्य लिखूँ। इस घटना के पहले मैं सिद्धार्थः महाकाव्यः लिख चुका था"[1]। इसी तरह द्विवेदी-युगीन प्रबन्धकाव्य रामचरित चिन्तामणि की प्रस्तावना में पं० रामदहिन मिश्र ने लिखा है, "यह केवल नाम मात्र का ही महाकाव्य नहीं है बल्कि इसमें सर्गबन्धादि स्थूल लक्षण से लेकर वृत्तकीर्तनादि सूक्ष्म लक्षण तक महाकाव्य के प्रायः सारे लक्षण वर्तमान हैं"[2]। यही बात रामदहिन जी ने आर्यावर्त की भूमिका में भी कही है और लिखा है कि "आर्यावर्त हिन्दी में सर्व प्रथम अमित्राक्षर छन्द का मौलिक महाकाव्य है"[3]। कवियों द्वारा अपने काव्यों को महाकाव्य कहने की यह प्रवृत्ति परवर्ती संस्कृत साहित्य में भी वर्तमान थी, जैसे हम्मीर महाकाव्य, धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य आदि। उन काव्यों में प्रत्येक सर्ग की पुष्पिका में भी उन काव्यों को महाकाव्य कहा गया है।

अपने काव्यों को स्वयं महाकाव्य कहने की प्रवृत्ति तब उत्पन्न होती है जब कवि पूर्ववर्ती प्रख्यात महाकाव्यों को आदर्श मान कर उनका पूर्णतः अनुकरण करते हुए तथा आलंकारिकों द्वारा निर्दिष्ट महाकाव्य के लक्षणों का पालन करते हुए परम्परागत शैली में प्रबन्ध रचना करते हैं। हिन्दी के आधुनिक युग के प्रबन्ध-कवियों में भी यह प्रवत्ति संस्कृत के परवर्ती कवियों के समान ही वर्तमान रही है। कुछ कवियों ने तो स्पष्ट रूप से इस बात को स्वीकार भी किया है 'कोशल-किशोर' की भूमिका में पं० बलदेवप्रसाद मिश्र ने लिखा है, 'मैं रघुवंश, किरात, माघ आदि के पन्ने उलट गया। महाकाव्य के लक्षण देखे भाले। वर्ण्य विषयों की एक सूची बना ली......महाकाव्य की पूर्णता और नवीनता की धुन में मैंने यह भी निश्चय किया कि इस ग्रन्थ में नवों रस होंगे, पर्याप्त प्रकृति-पर्यवेक्षण होगा, दरिद्रों की झोपड़ी से लेकर राजमहल के वैभवों तक का वर्णन होगा, छन्दों और तुकों में कई तरह के नमूने होंगे, प्रत्येक सर्ग का अन्तिम छन्द न केवल अग्रिम सर्ग के विषय का ही

---

१. अनूप शर्मा, वर्द्धमान...लेखक का वक्तव्य पृ० १
२. रामदहिन मिश्र—रामचरित चिन्तामणि—प्रस्तावना पृ० १ लेखक रामचरित उपाध्याय।
३. रामदहिन मिश्र, आर्यावर्त्त भूमिका, पटना १९४३ पृ० १

सूचक होगा वरन उस सर्ग के प्रधान छन्द का भी संकेत कर देगा.. ......
.........इस प्रकार ८ अध्यायों वाला यह विशालकाय महाकाव्य तैयार हो गया है।"[1] मिश्र जी ने यह बात स्पष्ट रूप से बता दी है। अन्य कवियों ने इस बारे में लिखा तो नहीं है किन्तु किया वही है जो मिश्र जी ने किया है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इन कवियों ने 'महाकाव्य लिखने के लिए महाकाव्य' लिखा है, किसी महत्प्रेरणा के उद्वेलित होकर नहीं, अर्थात् उन्होंने सरस्वती के साथ पहले ही से बन्दोबस्त करके महाकाव्य की रचना की है।

दूसरे अध्याय में कहा जा चुका है कि महदुद्देश्य और महती काव्यप्रतिभा के बिना कोई काव्य महाकाव्य पद का अधिकारी नहीं हो सकता। महती काव्यप्रतिभा द्वारा ही कवि महान चरित्रों की सृष्टि करके उनके माध्यम से अपने महदुद्देश्य की अभिव्यक्ति करता है। इस तरह के महच्चरित्रों की कल्पना और अवतारणा अत्यन्त प्रतिभाशाली महाकवि ही करते हैं। इसका अर्थ यह है कि महाकाव्यकार का महाकवि होना आवश्यक है अथवा जो महाकवि नहीं है उसका लिखा हुआ बड़ा से बड़ा प्रबन्धकाव्य महाकाव्य के सभी शास्त्रीय लक्षणों से युक्त होते हुए भी महाकाव्य नहीं हो सकता। किन्तु आधुनिक युग में 'महाकवि यशः प्रार्थी' अनेक कवियों की धारणा रही है और आज भी है कि महाकाव्यकार के लिए महाकवि होना आवश्यक नहीं है अर्थात् महती काव्यशक्ति. महदुद्देश्य और महत्प्रेरणा के बिना भी महाकाव्य की रचना हो सकती है। हरिऔध जी का जो कथन ऊपर उद्धृत किया गया है उसमें भी यही बात कही गयी है। अनूप शर्मा ने सिद्धार्थ की भूमिका में महाकाव्य के सम्बन्ध में विचार करते हुए लिखा है, "क्या प्रत्येक महाकाव्यकार महाकवि है। ऐसा नहीं है।"[2] इससे आधुनिक युग के प्रबन्ध-कवियों की इस धारणा का पता चलता है कि महाकाव्य का महान काव्य होना आवश्यक नहीं है और जिस किसी काव्य में महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों का पालन किया गया हो उसे महाकाव्य माना जा सकता है। श्री बलदेव प्रसाद मिश्र ने 'कोशल किशोर' की भूमिका में यह बात स्पष्ट रूप से कह भी दी है, 'इस ग्रन्थ का नाम है 'कोशल किशोर' क्योंकि इसमें सुप्रसिद्ध कोशल किशोर भगवान रामचन्द्र की किशोरावस्था का चरित चित्रित है। इसे लोग 'महाकाव्य' केवल इसलिए कह सकते हैं कि इसमें महाकाव्य के प्रायः सब लक्षणों का निर्वाह किया गया है।

---

१. पं० बलदेवप्रसाद मिश्र—कोशल किशोर, भूमिका पृ० २३, रायगढ़, १९३४।
२. अनूपशर्मा—सिद्धार्थ, भूमिका, पृ० बम्बई, १९३०।

कविता की सच्ची तुला से यदि तौला जाय तो शायद यह सामान्य काव्य काव्य कहलाने का भी अधिकारी न समझा जाय।"[1] मिश्र जी ने यह बात विनम्रता-प्रदर्शन के लिए कही है किन्तु आधुनिक युग के महाकाव्य रूप में मान्य अधिकांश प्रबन्धकाव्य के सम्बन्ध में यह कथन शब्दशः सत्य है।

बात यह है कि काव्यरूप और काव्य की आत्मा यद्यपि अन्योन्याश्रित हैं पर वस्तुगत दृष्टि से देखने पर काव्य की आत्मा का दर्शन नही होता, दिखलाई पड़ने वाली वस्तु काव्यरूप या काव्य का बाह्य रूप-विधान ही है। अतः जो कवि-अन्तरात्मा की प्रेरणा से अभिभूत और महान उद्देश्यों से प्रेरित होकर काव्य-रचना नहीं करता पर महाकवि बनने की महत्त्वाकांक्षा रखता है, वह पूर्ववर्ती महाकाव्यों की ओर दृष्टि दौड़ाता है। उसकी दृष्टि उन महाकाव्यों की आत्मा तक तो पहुँच नही पाती, अतः वह उनके काव्यरूप या बाह्य रूपरेखा को ही महाकाव्य का शाश्वत लक्षण मान कर उनका अनुकरण करने लगता है। इस तरह प्रारम्भिक महाव्यों की रचना होने लगती है। पर महाकाव्य के परम्परागत लक्षणों से युक्त होते हुए भी ऐसे अनुकृत काव्य वास्तविक महाकाव्य नही हो पाते। संस्कृत में दसवीं शताब्दी के बाद जितने भी महाकाव्य लिखे गये वे इसी प्रकार के रूढ़िबद्ध काव्य हैं, वास्तविक महाकाव्य नही। आधुनिक युग में हिन्दी के कवियों में जब महाकाव्य लिख कर हिन्दी साहित्य का भण्डार भरने की शुभेच्छा उत्पन्न हुई तो उन्होंने भी वही कार्य किया जो संस्कृत के परवर्ती कवियों ने किया था। परिणामस्वरूप हिन्दी में महाकाव्य नाम से जितने भी काव्य लिखे गये है, उनमें से बहुत कम ऐसे हैं जिनमें महाकाव्य की आत्मा का दर्शन होता है, यद्यपि शरीरतः वे सभी महाकाव्य प्रतीत होते हैं। इसी दृष्टि से हमने आधुनिक युग के प्रबन्धकाव्यों में केवल 'कामायनी' को महाकाव्य माना है और उसे पृथ्वीराजरासो, पद्मावत और रामचरितमानस के समकक्ष रख कर उस पर विचार किया है। आल्हखण्ड लोकमहाकाव्य है, अतः उसे अलग रख कर यदि हिन्दी के उपर्युक्त चारों महाकाव्यों के काव्यरूप पर ही विचार करें तो हम देखते है कि उनमें से किसी में भी आलंकारिकों द्वारा निर्दिष्ट सभी लक्षणों के निर्वाह की ओर ध्यान नहीं दिया गया है। फिर भी उनके महाकाव्यत्व में बहुत कम लोग सन्देह करते हैं। जिस तरह महाकाव्य के परम्परागत लक्षणों का निर्वाह न करते हुए भी कोई काव्य महाकाव्य हो सकता है उसी तरह उन लक्षणों का पूर्णतया निर्वाह करते हुए भी कोई काव्य महाकाव्य नहीं हो सकता।

---

१. पं० बलदेव प्रसाद मिश्र—कोशल किशोर, भूमिका, पृ० ६।

इस अध्याय के प्रारम्भ में आधुनिक युग के जितने बड़े प्रबन्धकाव्यों का नाम गिनाया गया है उनकी तीन कोटियाँ दिखाई पड़ती हैं:—

१. वे काव्य जिनमें महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों का पूर्णतया निर्वाह हुआ है और जिनमें दृष्टिकोण और रूपशिल्प सम्बन्धी कोई मौलिकता और नवीनता नहीं दिखलाई पड़ती।

२. वे काव्य जिनमें शैली की युगानुरूप नवीनता और दृष्टिकोण की मौलिकता होते हुए भी महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों के निर्वाह का मोह नहीं छोड़ा गया है।

३. वे काव्य जिनमें परम्परागत प्रबन्धरूढ़ियों का सर्वथा त्याग किया गया है और नवीनता की धुन में प्रबन्धत्व और भावात्मकता का भी बहिष्कार कर दिया गया है।

पहले प्रकार के प्रबन्धकाव्य विशेष रूप से द्विवेदी-युग में अथवा द्विवेदी-युगीन प्रवृत्ति वाले कवियों द्वारा लिखे गये। इस प्रकार के प्रबन्धकाव्यों में विशेष महत्त्वपूर्ण काव्य ये हैं:—

१ रामचन्द्रोदय २ रामचरित-चिन्तामणि ३. कोशल-किशोर, ४. कृष्णायन ५. वर्द्धमान ६. अंगराज ७. जन-नायक ८. ८ हल्दीघाटी ९ जौहर १०. वैदेही-बनवास।

दूसरे प्रकार के प्रबन्धकाव्य या तो माइकेल मधुसूदन दत्त के मेघनाद वध और विरहिणी व्रजांगना की प्रेरणा से अथवा छायावादी काव्यधारा की विद्रोही, व्यक्तिवादी और प्रगीतात्मक प्रवृत्तियों से प्रभावित होकर लिखे गये हैं। उनमें से महत्त्वपूर्ण काव्य ये हैं:—

१. प्रियप्रवास, २. साकेत, ३. साकेत सन्त, ४. सिद्धार्थ, ५ नूरजहाँ, ६. आर्यावर्त।

तीसरे प्रकार के प्रबन्धकाव्यों पर पाश्चात्य विचार-धारा और यूरोप के आधुनिक प्रबन्धकाव्यों, जैसे टेनासन के टैस्टामेंट आव ब्यूटी और आइडिल्स आव द किंग, हार्डी के द डाइनैस्ट और गैटे के फाउस्ट आदि का प्रभाव पड़ा और साथ ही कामायनी की ख्याति देखकर भी मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय विवेचना से भाराक्रान्त प्रबन्धकाव्यों की रचना की प्रवृत्ति बढ़ी। ऐसे काव्यों में प्रबन्धकाव्यों की पूर्वप्रचलित परिपाटी को छोड़कर नये-नये प्रयोग किये गये। ऐसे काव्यों की संख्या अधिक नहीं है। वे ये हैं:—

१. मेधावी २. कुरुक्षेत्र ३. विक्रमादित्य ४. तप्तगृह

प्रथम प्रकार के प्रबन्धकाव्यों को पढ़ने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि कवियों ने महाकाव्य के लक्षणों को दृष्टि में रखकर और शिशुपाल-वध, किरातार्जुनीय आदि संस्कृत महाकाव्यों को आदर्श मानकर इनकी रचना की है। किन्तु युग की प्रवृत्तियों के अनुरूप उनमें कुछ प्रबन्धरूढ़ियाँ नहीं भी अपनाई गयीं हैं। उदाहरणार्थ सज्जन-दुर्जन-चिन्ता, आत्मलघुता-प्रदर्शन, अपने वंश का वर्णन, आश्रयदाता की प्रशंसा, रचना-काल का निर्देश आदि बातें इनमें नहीं हैं। प्रस्तावना रूप में उनमें मंगलाचरण और किसी किसी में संक्षेप में वस्तु-निर्देश के बाद कथारम्भ हो गया है। इन सब में आठ से अधिक सर्ग हैं, सब में नायक सद्वंश क्षत्रिय और धीरोदात्त गुण-समन्वित है। रस, वस्तुवर्णन, चतुर्वर्ग फल, कथावस्तु-विन्यास आदि सभी दृष्टियों से ये काव्य संस्कृत के परवर्ती रूढ़िबद्ध महाकाव्यों की श्रेणी में आते हैं। किन्तु इनमें से एक भी काव्य ऐसा नहीं है जिसमें कवि के महदुद्देश्य, महती काव्यप्रतिभा और महत्प्रेरणा का दर्शन होता हो। यही कारण है कि उनमें महाकाव्योचित महानता और उत्कृष्ट कोटि की काव्यात्मकता नहीं दिखाई पड़ती। महाकाव्य होने के लिए किसी काव्य की पहली आवश्यकता तो यह है कि उसमें काव्य-सौष्ठव हो। इन काव्यों में से प्रायः सब में अभिधात्मक शैली में इतिवृत्त-कथन और स्थूल वस्तु-वर्णन की प्रवृत्ति प्रधान है। द्विवेदी-युगीन इतिवृत्तात्मकता, नीरसता और उपदेशात्मकता के कारण इनमें काव्य सौन्दर्य, गम्भीर भावात्मकता और मनोहारिता का नितान्त अभाव है। अनाकर्षक तुकबन्दी, अशक्त भाषा, उपयुक्त शब्दों के चयन की अक्षमता, गम्भीर जीवन-दर्शन के अभाव और कल्पना-शक्ति की हीनता के कारण न तो उनमें गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्त्व आ सका है और न शैली ही महाकाव्योचित गरिमा, भव्यता और उदात्तता से युक्त हो सकी है।

इन काव्यों में ऐसे महान चरित्रों की अवतारणा भी नहीं हुई है जिन्हें कभी भुलाया न जा सके और जो अपनी विराटता की छाया में युग-युग तक समाज को आश्रय देते हुए उसे प्रेरणा प्रदान करते रहें। इसका यह अर्थ नहीं कि इन कवियों ने महाकाव्योचित महान नायकों का चुनाव नहीं किया है। भला राम, कृष्ण, कर्ण, महावीर, राणा प्रताप, महात्मा गांधी आदि महापुरुषों की महानता में कौन सन्देह करेगा? किन्तु महाकाव्य में कवि अपने नायकों की एक तरह से नवीन सृष्टि करता है और उसे ऐसा चारित्र्य प्रदान करता है कि वे इतिहास में जितने महान होते हैं उससे कई गुना महान बन जाते हैं। यदि वैदेही-वनवास के राम रामायण के राम से किसी भी प्रकार उत्कृष्ट

नहीं हैं तो यह स्पष्ट है कि वैदेही-बनवास में महाकाव्य होने की योग्यता नहीं है। इसी तरह अन्य प्रबन्धकाव्यों के नायक भी चारित्रिक विशिष्टता और महानता में इतिहास से किसी प्रकार आगे नहीं बढ़े हैं । नायक की महानता की दृष्टि से भी इस श्रेणी के प्रबन्धकार्यों में केवल कृष्णायन ऐसा है जिसमें कवि ने अपनी नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा का कुछ परिचय दिया है। समग्र युग-जीवन के चित्रण की दृष्टि से भी कृष्णायन में ही कुछ विशिष्टता दिखाई पड़ती है। इसमें तुलसी के 'मानस' की शैली का पूर्ण रूप से अनुकरण किया गया है। 'मानस' की तरह यह भी सात काण्डों में विभक्त है और अवधी भाषा में दोहा-चौपाई में लिखा गया है । उसी की तरह इसमें भी प्रस्तावना सम्बन्धी अनेक प्रबन्धरूढ़ियाँ अपनाई गयी हैं। किन्तु यह सब होते हुए भी कृष्णायन की विशेषता यह है कि उसमें समग्र जीवन का चित्रण और महत् चरित्र की प्रतिष्ठा हुई है। इस दृष्टि से इसे महाकाव्य माना जा सकता है किन्तु इसमें शैली की उदात्तता, गम्भीर रसवत्ता, तीव्र प्रभावान्विति, काव्यात्मक उत्कृष्टता और जीवनी शक्ति का अभाव है । रामचरितमानस की तरह कृष्णायन कभी सामान्य जनता द्वारा अपनाया जायगा, इसमें सन्देह ही है क्योंकि इसमें कृत्रिमता और अनुकरणप्रियता ही अधिक है। महती काव्यप्रतिमा और महत्प्रेरणा के अभाव से कवि अपने महान् उद्देश्य से सफल नहीं हो सका है। अतः सभी दृष्टियों से देखने पर "कृष्णायन" को महाकाव्य पद का अधिकारी नहीं माना जा सकता।

अन्य काव्यों में कुछ में तो जीवन का समग्र चित्र ही नहीं उपस्थित किया गया है और कुछ में किया भी गया है तो उनमें कथानक का सुनियोजित संघटन नहीं है। उदाहरणार्थ कोशल-किशोर और वैदेही-बनवास में क्रमशः राम के जीवन के आदि और अन्त भागों का चित्रण हुआ है। हल्दीघाटी में भी राणा प्रताप के युद्धों से सम्बन्धित कथा ही कही गयी है। उनके जीवन के अन्य पक्षों की उपेक्षा की गयी है। अतः इस दृष्टि से ये काव्य महाकाव्य पद के अधिकारी नहीं हैं। बर्द्धमान, रामचरित-चिन्तामणि और जननायक में यद्यपि नायकों के संपूर्ण जीवन की कथा वर्णित है पर उनमें कथानक के संघटन, घटनाओं और वर्ण्य वस्तुओं का समुचित चयन तथा कार्य-कारण की श्रृंखला की सुचिन्तित योजना नहीं हुई। इन सब कारणों से इस श्रेणी के प्रबन्धकाव्यों में वह सशक्त प्राणवत्ता और अनवरुद्ध जीवनी शक्ति नहीं है जो उन्हें अमरत्व प्रदान करे। हृदय को रससिक्त कर के उसे स्थायी रूप से प्रभावित करने की शक्ति भी उनमें नहीं है। अतः महाकाव्य के शाश्वत लक्षणों की दृष्टि से इन्हें

महाकाव्य नहीं माना जा सकता, भले ही उनमें अधिकांश शास्त्रीय नियमों का सम्यक् निर्वाह किया गया है।

दूसरे प्रकार के प्रबन्धकाव्यों पर आधुनिक युग की प्रवृत्तियों का विशेष प्रभाव पड़ा है। उनमें शास्त्रीय नियमों के निर्वाह के साथ नवीन प्रबन्ध-पद्धति और जीवन-दृष्टि का भी पर्याप्त समावेश हुआ है। इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने की है कि जीवन-दृष्टि के परिवर्तन के कारण ही वस्तुतः इन काव्यों के रूप-शिल्प में भी परिवर्तन आया है। परिवर्तन से यहाँ इतना ही अभिप्राय है कि उनमें शास्त्रीय महाकाव्य के अस्थायी और बाह्य लक्षणों के निर्वाह की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है; इसके विपरीत आधुनिक उपन्यासों की कथात्मक सम्बन्धी 'टेकनीक' का उन पर विशेष प्रभाव पड़ा है। साथ ही नायक और रस सम्बन्धी शास्त्रीय नियमों को भी उनमें पूर्णतया नहीं अपनाया गया है। किन्तु उनका मूल स्वर शास्त्रीय महाकाव्यों जैसा ही है। शास्त्रीय महाकाव्य के स्थायी और आन्तरिक लक्षणों का उनमें सर्वथा त्याग नहीं किया गया है। इन प्रबन्धकाव्यों में सब से महत्त्वपूर्ण प्रियप्रवास और साकेत हैं। अनेक विद्वान इन दोनों काव्यों को महाकाव्य मानते है। अतः इनके सम्बन्ध में विशेष रूप से आगे विचार किया जायगा। इस श्रेणी के अन्य प्रबन्धकाव्यों में मौलिकता, काव्यात्मक उत्कृष्टता और महती काव्यप्रतिभा का वह रूप नही दिखाई पडता जो प्रिय प्रवास और साकेत में है। सच पूछा जाय तो उनमें से अधिकांश अनुकृत काव्य हैं; अनुकरण भी प्राचीन महाकाव्यों का नहीं बल्कि ख्याति-प्राप्त समकालीन प्रबन्धकाव्यों—प्रिय-प्रवास, साकेत और बंगला के मेघनाद-वध—का हुआ है। उदाहरणार्थ सिद्धार्थ में प्रियप्रवास की पूर्ण छाया दिखाई पड़ती है। उसी तरह "साकेत-सन्त" में "साकेत" की तथा "आर्यावर्त" में "मेघनाद-वध" की शैली का अनुकरण किया गया है। इसमें से सिद्धार्थ को तो "अनुकृति की अनुकृति" कहा जा सकता है क्योंकि प्रियप्रवास में स्वयं माइकेल मधुसूदन की विरहणी व्रजांगना और संस्कृत के शास्त्रीय महाकाव्यों तथा मेघदूत की शैली का अनुकरण हुआ है।

सिद्धार्थ १८ सर्गों में विभक्त है और प्रिय-प्रवास की तरह उसमें भी आद्यन्त संस्कृत के वर्णवृत्तों का प्रयोग हुआ है। उसकी भाषा, शब्द-चयन और अभिव्यक्ति-शैली सब कुछ प्रियप्रवास के समान है। छन्द-विधान में प्रियप्रवास से इतनी ही भिन्नता है कि सर्गों के बीच में कहीं कहीं भिन्न छन्द भी प्रयुक्त हैं। इसमें सर्गों की संख्या के साथ उनका नाम भी दिया गया है जो विश्वनाथ कविराज की परिभाषा के अनुरूप है। प्रियप्रवास में जिस तरह प्रारम्भ में ही

ब्रज का वर्णन हुआ है इसी तरह इसमें भी काव्यारम्भ कपिलवस्तु नगर के वर्णन से हुआ है। १३ वें सर्ग में सिद्धार्थ के महाभिनिष्क्रमण के बाद शुद्धोदन और नगरवासियों के विलाप और १६ वे सर्ग में यशोधरा की विरहावस्था के वर्णन और हंस-सन्देश में प्रियप्रवास का प्रभाव स्पष्ट दीख पडता है। किन्तु सिद्धार्थ प्रियप्रवास से इस अर्थ में कुछ भिन्न है कि इसमें वस्तु-वर्णन सम्बन्धी शास्त्रीय लक्षणों का निर्वाह अधिक हुआ है, जैसे कुमारोदय-वर्णन (सर्ग २), प्रभात, मृगया, वन-उपवन आदि का वर्णन (सर्ग ४, ७), ऋतुवर्णन (सर्ग ५), संयोग शृंगार (सर्ग ६ , विप्रलम्भ शृगार (सर्ग १६) आदि। इनके कारण सिद्धार्थ में वर्णन-वैविध्य तो दिखाई पड़ता है परन्तु इससे कवि की रूढ़िप्रियता और अनुकरण-वृत्ति का भी परिचय मिलता है। इन शास्त्रीय प्रबन्धरूढ़ियों का निर्वाह देखकर कोई सिद्धार्थ को शास्त्रीय शैली का महाकाव्य भले ही मान ले किन्तु महदुद्देश्य, महती काव्य-प्रतिभा, गुरुत्व, गाम्भीर्य तथा सशक्त प्राणवत्ता का अभाव होने से उसमें वास्तविक महाकाव्य होने की क्षमता नहीं है।

'साकेत-सन्त' में भी साकेत की अभिव्यञ्जना की शैली, छन्द-विधान, वस्तु-विन्यास और दृष्टिकोण का पूर्णतः अनुकरण किया गया है। प्रथम सर्ग का प्रारंभ साकेत मे जिस तरह लक्ष्मण के अन्तःपुर के वर्णन से हुआ है उसी तरह इसमें भी भरत के अन्तःपुर और भरत-माण्डवी-सम्वाद से हुआ है। साकेत के नवम सर्ग की तरह इसका भी १२ वाँ सर्ग प्रगीत मुक्तक की शैली में लिखा गया है। निष्कर्ष यह कि इस काव्य में मौलिकता का सर्वथा अभाव है। काव्यात्मकता भी इसकी उत्कृष्ट कोटि की नहीं हैं और न वर्णनों में कोई आकर्षण या रसात्मकता है। साकेत में यदि पूर्व-कवियों द्वारा उपेक्षित उर्मिला के चरित्र को उभार कर रखा गया है तो इसमें कवि ने रामायण की दूसरी उपेक्षिता नारी माण्डवी के चरित्र को प्रकाश में लाने का प्रयास किया है। भरत के चरित्र-चित्रण में कवि को विशेष सफलता मिली है। भरत रामकथा के अत्यन्त महत्व-पूर्ण पात्र हैं पर उनके चरित को लेकर इसके पहले कोई बड़ा काव्य नही लिखा गया था। इसी अभाव की पूर्ति के लिए इस काव्य की रचना हुई है। अतः कवि ने भरत के चरित्र का पर्याप्त उत्कर्ष दिखाया है और उन्हें भक्त के साथ ही आदर्श प्रशासक, प्रजा-पालक और राजनीतिज्ञ के रूप में भी चित्रित किया है। यह सब होते हुए भी इस काव्य में गुरुता, गम्भीरता और सप्राणता नहीं है क्यों कि उसमें गम्भीर जीवन-दर्शन, शैली की उदात्तता और रसात्मकता का अभाव है।

'आर्यावर्त' तेरह सर्गों का अमित्राक्षर छन्द में लिखा हुआ पृथ्वीराज के जीवन से सम्बन्धित प्रबन्धकाव्य है। इसमें मेघनाद-वध के छन्द-विधान और

रूप-शिल्प का अनुकरण किया गया है। मेघनाद-वध में जिस तरह प्रारम्भ में सरस्वती-वंदना के साथ कवि अपने काव्य-विषय का निर्देश करता है उसी तरह इस काव्य में भी महाकाली की वन्दना और वस्तु-निर्देश का विधान हुआ है। वस्तुतः स्वयं माइकेल मधुसूदन ने मिल्टन के "पैराडाइज लास्ट" के काव्यारम्भ की शैली का अनुकरण किया है, अतः यह काव्य भी अनुकृति की अनुकृति ही है। भारतीय राष्ट्रीयता की प्रवृत्ति और आर्य जाति के गौरव की भावना को इस काव्य में प्रधानता मिली है। युग-चेतना का प्रभाव इसमें अन्य काव्यों की अपेक्षा अधिक दिखलाई पड़ता है। इस कारण आर्यावर्त में एक ऐसी नवीनता, सजीवता और आधुनिकता है जो इस युग के अधिकांश प्रबन्धकाव्यों में नहीं दिखलाई पड़ती। इसमें महाकाव्य के बाह्य शास्त्रीय लक्षणों का पालन नहीं हुआ है किन्तु वस्तु-वर्णन, चरित्र-चित्रण और रसवत्ता में सम्बन्धित शास्त्रीय लक्षणों का निर्वाह इसमें स्वाभाविक रूप में दिखलाई पड़ता है। रूढ़िबद्धता इसमें कहीं नहीं दिखलाई पड़ती। इस सम्बन्ध में पं० रामदहिन मिश्र ने लिखा है, "जैसे भाषा की सृष्टि होने से उसके व्याकरण बनते हैं, वैसे ही ये लक्षण-ग्रन्थ भी बने हैं। संस्कृत ग्रन्थों की सी उनकी संगति हिन्दी सी जीवित भाषा के काव्यों में सम्भव नहीं। ·······इस दृष्टि से आर्यावर्त प्रगतिवादी महाकाव्य कहा जा सकता है।······क्योंकि इसमें वह जीवन की गरिमा का एक नया परिचय देता है।"[1] इसमें कोई सन्देह नहीं कि आर्यावर्त में सप्राणता, जीवन्तता और दृष्टिकोण की गम्भीरता वर्तमान है किन्तु इसमें जीवन का वैसा वैविध्यपूर्ण और व्यापक चित्रण नहीं दिखलाई पड़ता जिसके कारण काव्य में महाकाव्योचित गरिमा और विराटता आती है। अनुकृत काव्य होने से इसमें महती काव्य-प्रतिभा और मौलिकता भी नहीं दिखलाई पड़ती। वस्तुतः आर्यावर्त मेघनाद-वध की ऊँचाई तक भी नहीं पहुँच सका है। स्वयं मेघनाद-वध के महाकाव्यत्व के सम्बन्ध में अधिकांश विद्वानों को सन्देह है, अतः उसके अनुकरण पर लिखे गये इस काव्य का महाकाव्यत्व नहीं स्वीकार किया जा सकता।

'नूरजहाँ' १८ सर्गों में लिखा हुआ एक बड़ा प्रबन्धकाव्य है। इसमें महाकाव्य के बाह्य शास्त्रीय लक्षणों का बिलकुल पालन नहीं किया गया है। सर्गबद्ध होने के कारण ऊपरी दृष्टि से देखने पर इसके महाकाव्य होने का भ्रम हो सकता है किन्तु इसमें महदुद्देश्य, महच्चरित्र, गुरुत्व, गांभीर्य सबका अभाव है। वस्तुतः यह एक लम्बा ऐतिहासिक कथात्मक काव्य है। जिस तरह अंग्रेजी में

१—रामदहिन मिश्र—"आर्यावर्त" की भूमिका—पृ० ३

स्काट के कथात्मक काव्य महदुद्देश्य के अभाव में महाकाव्य नहीं माने जाते, उसी तरह नूरजहाँ को भी महाकाव्य नहीं माना जा सकता ।

तीसरे प्रकार के प्रबन्धकाव्यों में कुरुक्षेत्र और विक्रमादित्य विशेष महत्व-पूर्ण है। इनमें से कुरुक्षेत्र में तो प्रबन्धत्व और रसवत्ता का पूर्ण अभाव है। चरित्र-चित्रण और वस्तुवर्णन की ओर भी उसमें बिलकुल ध्यान नहीं दिया गया है। अतः उसके महाकाव्य क्या, प्रबन्धकाव्य होने में भी सन्देह है। अनेक विद्वान उसे विचारकाव्य, निबन्धकाव्य या काव्य-प्रबन्ध की संज्ञा देते हैं जिससे यह स्पष्ट है कि उसमें प्रबन्धकाव्य के गुणों का अभाव है। इस कारण महाकाव्य के क्षेत्र मे कुरुक्षेत्र विचारणीय नहीं। विक्रमादित्य हार्डी के डाइनेस्ट और गेटे के फाउस्ट के ढंग का नाटकीय प्रबन्धकाव्य है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि नाटकीय शैली में लिखे गये काव्यों में भी यदि महाकाव्य के गुण हों तो उन्हें महाकाव्य माना जा सकता है और यूरोप में माना भी जाता है। किन्तु यह शैली अपनाने पर कवि की कठिनाइयाँ भी बढ़ जाती हैं। कारण यह है कि महाकाव्य में गीतिकाव्य और नाटक के तत्वों का समन्वय हुआ रहता है। यदि महाकाव्य नाटकीय शैली में लिखा जाता है तो गीतिकाव्य के तत्व उसमें से निकल जाते हैं। उनकी कमी की पूर्ति कथानक और संवादों की ऐसी योजना से होती है जिसमें कवि की ओर से कही जाने वाली बातें पात्रों के मुख से कहवा दी जाती है। वस्तुतः नाट्यकला प्रबन्धकाव्य की कला से अधिक कठिन है। अतः नाटकीय ढंग के महाकाव्यों के लिए कवि की कलात्मक प्रतिभा का अत्यन्त उत्कृष्ट होना आवश्यक है। विक्रमादित्य में इस कलात्मक प्रतिभा का अभाव दिखाई पड़ता है। यह बहुत कुछ रामचन्द्रिका के ढंग का संवादात्मक प्रबन्ध-काव्य हो गया है। संवाद-रूप में वस्तु-वर्णन अथवा घटनाओं का विवरण अत्यन्त लम्बा और ऊबा देने वाला हो गया है। इस कारण उसमें कथानक का प्रवाह और विकासक्रम नहीं है। उसमें महाकाव्योचित महदुद्देश्य और महत्प्रेरणा का भी अभाव है। काव्यात्मक सरसता और शैली की गरिमा और उदात्तता तो उसमें और भी नहीं है। इन कारणों से विक्रमादित्य को भी महाकाव्य नहीं माना जा सकता।

पहले कहा जा चुका है कि आधुनिक युग के बड़े प्रबन्धकाव्यों में सबसे महत्वपूर्ण प्रिय-प्रवास, साकेत और कृष्णायन हैं और कुछ विद्वानों ने इन तीनों को महाकाव्य की संज्ञा दी भी है। अतः यहाँ यह देखने का प्रयत्न किया जा रहा है कि दूसरे अध्याय में निर्दिष्ट महाकाव्य के शाश्वत लक्षणों के अनुसार उन्हें महाकाव्य माना जा सकता है या नहीं।

प्रिय-प्रवास

प्रिय-प्रवास खड़ी बोली हिन्दी का सर्व प्रथम बड़ा प्रबन्धकाव्य है। इसमें श्री कृष्ण के बचपन से लेकर मथुरा-प्रवास तक की जीवन-कथा १७ सर्गों में लिखी गयी है। हरिऔध जी ने इसे आधुनिक ढंग का महाकाव्य बनाने का प्रयास किया है। आधुनिकता लाने के लिए उन्होंने महाकाव्य के अनेक शास्त्रीय लक्षणों को नहीं अपनाया है; उदाहरणार्थ प्रिय-प्रवास में मंगलाचरण, वस्तुनिर्देश, पूर्व-कवि-प्रशंसा, सज्जन-दुर्जन-चिन्ता आदि काव्यारम्भ सम्बन्धी प्रबन्धरूढ़ियाँ नहीं है। उसका आरम्भ उपन्यास या कहानी की तरह कथा के बीच से इस तरह हुआ है कि पाठकों के मन में कथा के पूर्व-प्रसंग को जानने की जिज्ञासा बनी रहती है। इस तरह काव्यारम्भ मे हरिऔध जी ने प्रस्तावना न रख कर पर्याप्त नवीनता दिखाई है। प्रथम सर्ग में पृष्ठभूमि के रूप में प्रकृति का चित्रण करके किशोर कृष्ण की सर्वप्रियता दिखलाई गई है। बाद के सर्गों में कृष्ण की बाल-लीलाओं तथा कुछ लोक-हित के कार्यों के वर्णन के उपरान्त उनके मथुरा-प्रवास और ब्रजजनों की विरह-व्यथा का विस्तार से वर्णन हुआ है। इस तरह यह काव्य प्रधानतया भाव-व्यञ्जक और वर्णनात्मक है। उसमें काव्यात्मक उत्कृष्टता तो है किन्तु जीवन के केवल एक ही पक्ष और हृदय की एक ही भावना की प्रधानता होने से वह महाकाव्य की दृष्टि से एकांगी है। इस काव्य की रचना में हरिऔध जी का उद्देश्य कृष्ण को महान नीतिज्ञ, योगी, और वीर के रूप में दिखलाना नहीं, बल्कि रीतिकालीन कवियों की उस भावना का परिमार्जन करना है जिसके अनुसार वे साहित्य में एक विलासी, स्वैराचारी और धीर-ललित नायक के रूप में दिखलाई पड़ते है। इसके लिए कवि ने श्रीमद्भागवत में वर्णित घटनाओं—माखन-चोरी, रास-लीला, पूतना-वध इत्यादि—का बौद्धीकरण करके उनका आदर्शवादी दृष्टि से चित्रण किया है।

इस तरह यद्यपि हरिऔध का दृष्टिकोण लोकहित-सम्पृक्त और आदर्शवादी है किन्तु कृष्ण के व्यापक जीवन और विराट व्यक्तित्व का आश्रय न लेने के कारण प्रिय-प्रवास में उद्देश्य की महानता और महत्प्रेरणा का अभाव दिखलाई पड़ता है। स्थूल नैतिकता और बाह्य मर्यादावादी दृष्टि के कारण प्रिय-प्रवास में गम्भीर जीवन-दर्शन और विविध भावों की गहराई में प्रवेश करने वाली मर्मस्पर्शिनी दृष्टि नहीं दिखलाई पड़ती। कवि ने जितनी शक्ति यशोदा, राधा तथा गोप-गोपियों के विरह-वर्णन में लगाई है उतनी कृष्ण के महान चरित के चित्रण और उनके सशक्त व्यक्तित्व के उद्घाटन में नहीं। यही कारण है कि कंस-वध जैसी बड़ी घटना भी प्रिय-प्रवास में महत्कार्य के रूप में नहीं चित्रित

हुई है। घटना-विरलता और वर्णन-विस्तार के कारण इसमें कथानक बहुत संक्षिप्त है और उसमें वह प्रवाह तथा जीवन्तता नहीं जो महाकाव्य के कथानक में होनी चाहिये। वस्तुतः प्रिय-प्रवास एक विरह-काव्य है और उसे मेघदूत तथा सन्देशरासक की परम्परा में माना जा सकता है, यद्यपि उक्त दोनों काव्यों की अपेक्षा इसमें प्रबन्धत्व कुछ अधिक है। घटनाओं की कमी तथा सम्बन्ध-निर्वाह और सक्रियता के अभाव के कारण नाटकीय सन्धियों और कार्यावस्थाओं की समुचित योजना इसमें नहीं हो सकी है। फलस्वरूप इस काव्य में तीव्र प्रभावान्विति नहीं आ सकी है। यद्यपि इसमें आद्यन्त रस-भाव का नैरन्तर्य दिखलाई पड़ता है किन्तु प्रबन्धकाव्य मे विभिन्न रसों की जैसी योजना होनी चाहिये वैसी इसमें नहीं हुई है। केवल प्रारम्भ के कुछ सर्गों में वात्सल्य और सख्य भाव की अभिव्यक्ति हुई हैं, उसके बाद सयोग और विप्रलम्भ शृगार की विस्तृत योजना हुई है। इस प्रकार इस काव्य का अधिक भाग विरह की विभिन्न अवस्थाओं और मनोदशाओं के चित्रण से ही भरा हुआ है।

इन्हीं कारणों से प्रिय-प्रवास के महाकाव्यत्व में अनेक विद्वानों ने सन्देह प्रकट किया है। इस सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है, "जैसा कि इसके नाम से प्रकट है, इसकी कथा-वस्तु एक महाकाव्य क्या, अच्छे प्रबन्धकाव्य के लिये भी अपर्याप्त है। अतः प्रबन्धकाव्य के सब अवयव इसमें कहाँ आ सकते हैं ? किसी के वियोग में कैसी बातें मन में उठती हैं और क्या क्या कह कर लोग रोते हैं, इसका जहाँ तक विस्तार हो सका है, किया गया है।"[1] इस प्रकार महाकाव्य के मूल-स्वर (एपिक इन्टेन्शन) तथा शाश्वत लक्षणोंके अभाव के कारण यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि प्रिय-प्रवास महाकाव्य नहीं है।

साकेत

साकेत १२ सर्गों का एक वृहत् प्रबन्धकाव्य है। यद्यपि इसका कथानक राम-कथा पर आधारित है किन्तु राम-कथा का वर्णन करना गुप्त जी का प्रधान लक्ष्य नहीं है। वस्तुतः साकेत का मूल-स्वर भी वही है जो प्रिय-प्रवास का है। प्रिय-प्रवास की तरह इसमें भी महाकाव्यात्मक उद्देश्य (एपिक इन्टेन्शन) का अभाव दिखाई पड़ता है। प्रिय-प्रवास का उद्देश्य यदि श्रीमद्‌भागवत की कथा का बौद्धिकीकरण और कृष्ण राधा आदि के चरित्रों का उदात्तीकरण है तो साकेत का उद्देश्य राम-कथा के उपेक्षित पात्रों को प्रकाश में लाना तथा उसके देवत्व-

---

१—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—'हिन्दी साहित्य का इतिहास''—पृ० ६०४

गुणयुक्त पात्रों को मानव-रूप में उपस्थित करना है । वाल्मीकि और तुलसी ने राम को इतनी उच्च-भूमिका पर प्रतिष्ठित कर दिया था कि किसी परवर्ती सामान्य प्रतिभा वाले कवि के लिए राम के चरित्र को उतनी ऊँचाई तक ले जा सकना सम्भव नहीं था। इसलिये गुप्त जी ने अपने काव्य का प्रधान चरित्र राम और सीता को न बनाकर लक्ष्मण, भरत और उर्मिला को बनाया है; किन्तु इन चरित्रों में महाकाव्य का नायक बनने की क्षमता है या नहीं, इस पर कवि ने विचार नहीं किया। राम-कथा में राम के विराट व्यक्तित्व से अन्य सभी पात्रों का चरित्र इतना दबा हुआ है कि राम के अवलम्ब के बिना उनमें से किसी का स्वतंत्र रूप से अपने निजी व्यक्तित्व के साथ खड़ा होना असम्भव है। अतः लक्ष्मण, भरत आदि को नायक बनाकर लिखे गये काव्य का महाकाव्य की ऊँचाई तक पहुँचना अत्यन्त कठिन है।

साकेत में लक्ष्मण और उर्मिला को नायक-नायिका के रूप में उपस्थित किया गया है, फिर भी प्रधानता राम के चरित्र की ही है । इस तरह उसमें न तो राम के चरित्र के ही पूर्ण विकास का अवसर मिला है और न लक्ष्मण और भरत के चरित्र को ही राम के समान ऊँचा उठाया जा सकता है। निष्कर्ष यह कि महच्चरित्र के अभाव के कारण साकेत का महाकाव्य अत्यन्त संदिग्ध है।

व्यापार योजना अथवा वस्तु-विन्यास की दृष्टि से भी साकेत महाकाव्य की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। इसमें रामायण के विस्मृत, उपेक्षित तथा त्यक्त प्रसंगों, पात्रों और व्यापारों पर ही अधिक प्रकाश डाला गया है, जैसे लक्ष्मण और उर्मिला का प्रेम-प्रसंग और मधुरालाप, उर्मिला की चौदह वर्षों की कालयापन-विधि और विविधविरह-दशायें, भरत की तपस्या और दिन-चर्या, वन में सीता की दिनचर्या, कैकेयी के चरित्र का विकास आदि। इन प्रसंगों और व्यापारों के कारण यद्यपि राम-कथा में नवीनता और आधुनिकता आयी है किन्तु इनकी अधिकता से रामायण की कथा में जो महान कार्य-व्यापार है, साकेत में उसकी समुचित योजना नहीं हो पाई है। इस तरह महती घट-नाओं और महत्कार्य की योजना उचित ढंग से न होने से उसकी प्रबन्धात्मकता में बहुत बाधा पड़ती है। रामायण की लम्बी कथा का एक छोटा अंश तो साकेत के आठ लम्बे सर्गों में वर्णित हुआ है और बाद के महत्वपूर्ण अंश को केवल दो सर्गों (दस, ग्यारह) में जल्दी जल्दी सिनेमा की रील की भाँति आगे बढ़ाया गया है । विराट जीवन-व्यापारों के चित्रण का जहाँ अवसर था, उन स्थलों को साकेत में महत्त्व ही नहीं दिया गया। इसके अतिरिक्त नवाँ सर्ग तो पूरा का पूरा उर्मिला की विरह-दशाओं के चित्रण में लग गया है। कवि ने प्रगी-

त्मकता, कलाभिव्यक्ति तथा विरह-वर्णन की परम्परागत पद्धति के निर्वाह लिए इस सर्ग की रचना की है क्योंकि उसे इस काव्य से अलग कर देने प भी उसकी कथा-धारा में कोई बाधा नहीं उपस्थित होती। इस कारण साकेत में कथानक की सुनिश्चित योजना तथा समग्र जीवन चित्रण का अभाव दिखलाई पड़ता है। वस्तुतः कवि का ध्यान इस बात पर था कि इस काव्य में पूरी राम कथा भी कह दी जाय और उपेक्षित पात्रों और प्रसंगों को उभार कर रखा भी जाय। इस प्रयत्न में कथानक का सन्तुलन बिगड़ गया है। इस तरह साकेत में कथा-वस्तु का विन्यास सुसंगठित और फल-प्राप्ति की ओर उत्तरोत्तर विकसित होने वाला नहीं है।

काव्यात्मकता की दृष्टि से साकेत अवश्य एक उत्कृष्ट काव्य है। उसके विभिन्न प्रसगो में बीच-बीच में अनेक रसमय स्थल भी आये हैं। प्रथम सर्ग में जो रस-मय काव्य-सृष्टि हुई है, अन्तिम सर्ग में उसी का उत्कर्ष हुआ है। इस तरह प्रिय-प्रवास भी साकेत की तरह शृङ्गाररस-प्रधान काव्य है। किन्तु बीच में इस रसधारा में अनेक विघ्न आ जाते हैं। यदि साकेत में प्रारम्भ से अन्त तक केवल उर्मिला और लक्ष्मण से सम्बन्धित कथा ही रहती और बीच-बीच में रामकथा के अन्य प्रसंग न आये होते तो निश्चय ही उसमें शृंगार रस का पूर्ण विकास दिखाई पड़ता। प्रथम और अन्तिम सर्ग के बीच में केवल नवें और दसवें सर्ग में उर्मिला के विरह-वर्णन के रूप में विप्रलम्भ शृंगार की अभिव्यक्ति हुई है और उसका भी कथानक से सीधा सम्बन्ध नहीं है। अतः समग्र दृष्टि से देखने पर साकेत की रस-योजना भी महाकाव्य के उपयुक्त नहीं है क्योंकि उसके कथानक में रसानुरूप सन्धियों और कार्यावस्थाओं की योजना नहीं हुई है।

जैसा पहले कहा जा चुका है, कवि ने किसी बहुत बड़े उद्देश्य से अनु-प्राणित होकर साकेत की रचना नहीं की है। जातीय संस्कृति के मूल तत्वों के उद्घाटन, महान आदर्शों की स्थापना, राष्ट्रीय चेतना की सशक्त अभिव्यक्ति, महच्चरित्र की सर्जना अथवा आध्यात्मिक क्षेत्र की किसी वेगवान अनुभूति के प्रत्यक्षीकरण के उद्देश्य से लिखे गये महाकाव्यों में जो गुरुत्व और गाम्भीर्य होता है वह साकेत में नहीं है क्योंकि उसमें उपर्युक्त बातों में से कोई भी उद्देश्य के रूप में नहीं गृहीत हुई है। महान उद्देश्यों को ग्रहण करने की क्षमता ऐसे महान प्रतिभा वाले कवि में ही होती है जो विराट कल्पना कर सकता है। साकेत में विराट कल्पना का दर्शन नहीं होता। उसमें गुप्त जी का सरल भावुक मन सामान्य जीवन से ऊपर उठ कर महच्चरित्र और व्यापक पृष्ठभूमि की कल्पना

नहीं कर सका है। इसीलिए उनके काव्य का क्षेत्र साकेत नगर तक और उसमें भी विशेष रूप से उर्मिला के भवन तक ही सीमित रह गया है। महान उद्देश्य और महती काव्यप्रतिभा के अभाव में इस काव्य की सप्राणता और जीवनी-शक्ति भी सीमित ही है। यद्यपि साकेत सामान्य भावुक पाठकों के लिए बहुत आकर्षक है पर गम्भीर जीवन-दर्शन की प्रतिष्ठा न होने से उसमें अमरत्व की शक्ति नहीं आ सकी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि महाकाव्य के शाश्वत लक्षणों की कसौटी पर साकेत खरा नहीं उतरता। उसे महाकाव्य सिद्ध करते हुए श्री नन्द-दुलारे वाजपेयी ने लिखा है, "यों तो महाकाव्य की व्यापकता और महत्त्व के द्योतक कोई सुनिश्चित प्रतिमान नहीं हो सकते और अन्ततः इस सम्बन्ध का निर्णय मतभेद से रहित नहीं हो सकता, किन्तु साकेत काव्य का साहित्यिक जगत में जो सम्मान है, हिन्दी के ऐतिहासिक विकास में जो उसकी देन है, युगचेतना के जो नवोन्मेष उसमें अपनी आभा बिखेर रहे हैं, उन्हें देखते हुए साकेत को महाकाव्य न कहना अन्याय होगा।"[1] वाजपेयी जी ने साकेत को महाकाव्य सिद्ध करने के लिए जो तर्क दिये हैं वे महाकाव्य के शाश्वत लक्षण नहीं है। यदि शाश्वत लक्षणों के आधार पर साकेत महाकाव्य सिद्ध नहीं होता तो इससे न तो इसका गौरव कम हो जाता है न उसके ऐतिहासिक महत्त्व में ही कोई कमी आती है। महाकाव्य न होते हुए भी उसकी जो लोकप्रियता और महत्ता है वह अपनी जगह बनी रहेगी। सूर-सागर, विनय-पत्रिका आदि ग्रंथ महाकाव्य नहीं हैं पर इससे उनका महत्व और आदर बड़े से बड़े महाकाव्य से किसी तरह कम नहीं है।

[२]

हिन्दी साहित्य के इतिहास के चारों कालों (आदि, पूर्व-मध्य, उत्तर-मध्य और आधुनिक) के महत्वपूर्ण प्रबन्धकाव्यों के उपर्युक्त पर्यवेक्षण से यह स्पष्ट है कि हिन्दी में वास्तविक महाकाव्य केवल पाँच—पृथ्वीराजरासो, आल्हखण्ड, पद्मावत रामचरितमानस और कामायनी—हैं; अन्य प्रबन्धकाव्यों में एक भी ऐसा नहीं है जिसे महाकाव्य की संज्ञा दी जा सके। यद्यपि हिन्दी में राम-स्वयंवर, राम-रसायन तथा कृष्णायन जैसे विशालकाय प्रबन्धकाव्य लिखे गये है किन्तु आकार की विशालता के कारण ही कोई काव्य महाकाव्य-पद का अधिकारी नहीं हो सकता। इसी तरह हिन्दी में ऐसे प्रबन्धकाव्यों की संख्या भी कम नहीं है जिनमें आलंकारिकों द्वारा निर्दिष्ट महाकाव्य के लक्षणों का निर्वाह हुआ है,

१—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी—आधुनिक साहित्य—पृष्ठ ५४

किन्तु शास्त्रीय लक्षणों के पालन मात्र से भी कोई काव्य महाकाव्य नहीं माना जा सकता। सत्य तो यह है कि बिना महाकाव्यात्मक उद्देश्य के कोई भी काव्य महाकाव्य नहीं हो सकता। इस महाकाव्यात्मक उद्देश्य की पहिचान आकार की विशालता और शास्त्रीय लक्षणों को देख कर नहीं हो सकती। महाकाव्यात्मक उद्देश्य होने पर किसी लघु प्रबन्ध या मुक्तक काव्य में भी महाकाव्यात्मक वैशिष्ट्य (एपिक क्वालिटी) आ जाता है। हिन्दी में 'राम की शक्ति-पूजा' में इस प्रकार का महाकाव्यात्मक उद्देश्य दिखलाई पड़ता है। इस सम्बन्ध में ध्यान देने की बात यह है कि केवल महाकाव्यात्मक उद्देश्य और वैशिष्ट्य से ही कोई काव्य महाकाव्य नहीं बन जाता, उसके लिये और भी कई बातों की आवश्यकता होती है। इस दृष्टि से देखने पर किसी भी देश के साहित्य में वास्तविक महाकाव्यों की संख्या बहुत कम दिखलाई पड़ती है और अधिकतर काव्य, जिन्हें महाकाव्य माना जाता है, वास्तविक महाकाव्य नहीं, 'महाकाव्याभास' मात्र होते हैं। इसी दृष्टि से तीसरे अध्याय में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्यों का पर्यवेक्षण करके हमने यह देखा है कि उनमें भी महाकाव्यों की संख्या अधिक नहीं है, यद्यपि उनमें प्रबन्धकाव्यों की संख्या हिन्दी की तुलना में बहुत अधिक है। अतः हिन्दी में केवल पाँच ही महाकाव्य हैं, यह कोई आश्चर्य अथवा दुःख की बात नहीं है। ये पांच महाकाव्य ऐसे है जो महाकाव्य की पांच शैलियों का प्रतिनिधित्व करते है और उनका महत्त्व इसी से स्पष्ट है कि उनमें से कुछ को विश्व के श्रेष्ठतम महाकाव्यों की तुलना में रखा जा सकता है।

लेखकानुक्रमणिका

(हिन्दी)

१– अत्तार, मटरू लाल—आल्हखण्ड, बाजार शाह घासा, मेरठ।

२—अबुल फजल—आइने अकबरी—गैरेट का अंग्रेजी अनुवाद।

३ - ओझा, गौरीशंकर हीराचन्द—उदयपुर राज्य का इतिहास।

४—कुलश्रेष्ठ, कमल—हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य, अजमेर, सन् १९५३।

५—गोस्वामी चिम्मन लाल और वाजपेयी, पं० नन्द दुलारे—
(सम्पादक)–रामचरितमानस, गीता प्रेस-संस्करण।

६—चट्टोपाध्याय, बंकिमचन्द्र—बंकिम-ग्रन्थावली।

७—चतुर्वेदी, द्वारिकाप्रसाद—आल्हा (आल्हा की कथा), प्रयाग, १९४०।

८—ठाकुर, रवीन्द्रनाथ—(१) प्राचीन साहित्य (अनुवादक-रामदहिन मिश्र)
(२) मेघनाद-वध के हिन्दी अनुवाद की भूमिका,
प्रथम संस्करण, झाँसी, सम्वत् १९८४।

९—तिवारी, डा० उदयनारायण—वीर-काव्य प्रयाग, सम्वत् २००५।

१०—तिवारी, पं० गोरेलाल—बुन्देलखण्ड का संक्षिप्त इतिहास, काशी, सं० १९९०।

११—त्रिपाठी, मानसराजहंस पं० विजयानन्द जी—मानस-प्रसंग—चतुर्थ भाग, प्रथम संस्करण।

१२–त्रिवेदी, विपिन विहारी–चन्दबरदायी और उनका काव्य,प्रयाग १९५२।

१३—दास, बाबू श्यामसुन्दर—द्वारा सम्पादित परमाल-रासो, काशी, सम्वत् १९७६।

१४—द्विवेदी, डा० हजारी प्रसाद—(१) हिन्दी साहित्य का आदिकाल-प्रथम संस्करण।
(२) हिन्दी साहित्य (उद्भव और विकास) प्रथम संस्करण।
(३) हिन्दी साहित्य की भूमिका-चतुर्थ संस्करण।

१५—दीक्षित, पं० मथुराप्रसाद—सम्पादक और टीकाकार–असली पृथ्वीराज रासो, बनारस, १९५२।

१६—पंड्या, मोहनलाल विष्णुलाल–सम्पादक, पृथ्वीराजरासो, ना०प्र०स०, काशी, सन् १९१२।

१७—प्रसाद, जयशंकर—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, प्रयाग, संवत् २००५, तृतीय संस्करण।

१८—प्रेमी, नाथूराम—जैन साहित्य और इतिहास, बम्बई, सन् १९४२।
१९—पाण्डेय, चन्द्रबली—तसव्वुक और सूफी मत, द्वितीय संस्करण, सन् १९४८
२०—पाण्डेय, रूपनारायण—अनुवादक, बंकिम-निबन्धावली।
२१—वाजपेयी, पं० नन्ददुलारे—आधुनिक साहित्य, प्रयाग, सं० २००७।
२२—महादेवी वर्मा—भूमिका-'कामायनी-एक परिचय'—लेखक गंगा प्रसाद पाण्डेय, इलाहाबाद सन् १९४६।
२३—मिश्र, पं० भगीरथ और तिवारी, उदयनारायण—संपादक, काव्य संग्रह, प्रयाग, सं० १९९७।
२४—मुनि, जिन विजय—(१)—सम्पादकपुरातन प्रबन्ध-संग्रह,
(२) प्रबन्ध चिन्तामणि,
(३) प्रबन्ध-कोष
२५—मेनारिया, पं० मोतीलाल—(१) राजस्थानी भाषा और साहित्य, प्रयाग सं० २००६।
(२) राजस्थानी में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, उदयपुर, सन् १९४२।
२६—राहुल सांकृत्यायन—हिन्दी-काव्यधारा, इलाहाबाद, सन् १९४५।
२७—लमगोड़ा, राजबहादुर—विश्व-साहित्य में रामचरितमानस, सतना १९४४
२८—लाल, डा० श्रीकृष्ण—मानस-दर्शन, काशी, स० २००६।
२९—वर्मा, डा० रामकुमार—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, प्रथम संस्करण।
३०—बुल्के कामिल—राम-कथा (उत्पत्ति और विकास), प्रयाग, १९५०।
३१—वैद्य, सी० वी०—(१) हिन्दू भारत का उत्कर्ष (हिन्दी अनुवाद), काशी, सं० १९८६।
(२) हिन्दू भारत का अन्त।
३२—शर्मा, विनयमोहन—साहित्यावलोकन, प्रयाग, सन् १९५२।
३३—शिलीमुख, रामकृष्ण—सुकवि-समीक्षा, प्रथम संस्करण।
३४—शुक्ल, रामचन्द्र—(१) हिन्दी साहित्य का इतिहास—आठवाँ संस्करण।
(२) जायसी ग्रन्थावली।
(३) गोस्वामी तुलसी दास, सप्तम संस्करण।

गुजराती

१—भायाणी, हरिवल्लभ तथा मोदी, मधुसूदन—भूमिका (गुजराती) धाहिल, विरचित पउमसिरिचरिउ, विद्याभवन, बम्बई, २००५।
२—शर्मा, गोबर्धन—महाकवि चन्द अणे पृथ्वीराजरासो।

—※—

हिन्दी की पत्र-पत्रिकाएँ

१ अवन्तिका—जून, जुलाई, अक्टूबर, सन् १९५४, पटना।

२ आलोचना—जुलाई १९५२, जुलाई १९५३, अक ७—१९५१, दिल्ली।

३ कल्याण—१३–३, गोरखपुर।

४ चाँद (मारवाडी अक)—प्रयाग।

५ नागरी प्रचारिणी पत्रिका—वर्ष ५१, अक ३-४,

,, ,, ,, —वर्ष ५८, अक ३।

,, ,, ,, —वर्ष ४६, ५२ और ५७।

,, ,ज —खोज रिपोर्ट, भाग १, काशी।

६ राजस्थानी—भाग ३, अक २, भाग १, अक ४, १९४७।

७ विशाल भारत—मई, सन् १९४३, अक्टूबर, सन् १९४६ भाग ३८, 'अ' अक ४, भाग ३८, अक ६, दिसम्बर सन् १९४६, नवम्बर, सन् १९४६—कलकत्ता।

८ सगम (साप्ताहिक)—प्रयाग।

९ हिन्दुस्तानी पत्रिका—भाग ७, सन १९३७।

— ० —

हिन्दी के स्मारक तथा अभिनन्दन ग्रन्थ

१ कोशोत्सव-स्मारक-सग्रह, काशी।

२ प्रेमी-अभिनन्दन-ग्रन्थ, बम्बई।

— ० —

ग्रन्थानुक्रमणिका

(सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश)

१ अग्निपुराण

२ अध्यात्म रामायण

३. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा—अभिनवगुप्ताचार्य

४. ऐतरेयब्राह्मण

५. ऋग्वेद

६ करकण्डचरिउ—कनकामर
७ काव्यादर्श—दण्डी
८ काव्यानुशासन—हमचन्द्र
९ काव्यालकार—रुद्रट
१० काव्यालंकार—भामह
११ कालिकापुराण
१२ छान्दोग्य उपनिषद्
१३ जसहरचरिउ—पुष्पदन्त
१४ तन्त्रसार—अभिनवगुप्ताचार्य
१५ तन्त्रालोक—अभिनवगु ताचार्य
१६ तैत्तिरीय उपनिषद्
१७ दशरूपक—धनजय
१८ ध्वन्यालोक—आनन्दवर्धन, लोचन-टीका—अभिनवगुप्त
१९ पउमचरिउ—स्वयभुदेव
२० पउमसिरिचरिउ—धाहिल
२१ पद्मपुराण
२२ पुरातन प्रबन्ध-सग्रह—स० मुनि जिनविजय
२३ प्रत्यभिज्ञाहृदयम्—क्षेमराज
२४ प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी
२५ बुद्धचरित—अश्वघोष
२६ बोधसार
२७ भविसयत्तकहा—धनपाल
२८ भविष्यपुराण
२९ भागवतपुराण
३०. मत्स्यपुराण
३१ महापुराण—पुष्पदन्त
३२ महापुराण—जिनसेन
३३ महार्थमजरी—स० महेश्वरानन्द, त्रिवेन्द्रम, सन् १९१९ ।
३४ महाभारत
३५ वायुपुराण
३६ विक्रमाकदेवचरित—विल्हण

३७ विष्णुपुराण
३८ बृहदारण्यक उपनिषद्
३९ शतपथब्राह्मण
४० शिवदृष्टि——सोमानन्द
४१ स्कन्दपुराण
४२ साहित्यदर्पण——विश्वनाथ कविराज
४३ सुभाषित-सग्रह——पिटर्सन (दूसरी रिपोर्ट)

[ENGLISH]

1. **Abercrombie, L.**—The Epic
2. **Bernett, Lionet D.**—Hindu Gods and Heroes, London, 1922.
3. **Bowra, C. M.**—From Virgil to Milton, London, 1945
4. **Buhler, George**—Introduction, Vikramankdevacharitam, 1915
5. **Chadwick**—The, Growth of Literature, Vol I and II, Cambridge, 1932
6. **Chaturjya, Dr S. K.**—Indo Aryan and Hindi, Calcutta.
7. **Croce, Benedetto**—Aesthetics-Translated by Dorgas Ainstie
8. **Das Gupta,** S N & Day, S K —A History of Sanskrit Literature, Calcutta, 1947
9. **Dixon, W. Macneile**—English Epic and Heroic Poetry, London, 1912
10. **Grierson, Sir George**—Imperial Gazetteer of India, Vol II, Linguistic Survly of India, Vol IX, Part I, Introduction-The Lay of Alha, Translated by W Waterfield
11. **Gummere, F. B.**—1 A Hand book of Poetry
    2 Introduction—Old English Ballads, London, 1894
12. **Hopkins, Washburn**—The Great Epic of India, Yale University, 1920
13. **Jacobi, Harmann**—Introduction—Sthavirawalicharit, Calcutta, 1932
14. **Jacolliot, A. L.**—The Bible of India, Translated from the French, Panini Office, Allahabad
15. **Jones, Sir William**—Works of William Jones, Vol. VII
16. **Kaegi**—The Rigveda, London, 1886
17. **Keith, A. B.**—A History of Sanskrit Literature, London, 1948
18. **Ker, W. P.**—The Dark ages, Second Impression, Epic and Romance
    Form and Style in Poetry
19. **Krishnamachariar**—History of Classical Sanskrit Liter-

20 **Macdonell and Keith**—Vedic Index, Edition 1912

21 **Macdonell, A. A.**—A History of Sanskrit Literature, London, 1913

" Vedic Mythology

22 **Macmillan**—Editor—Paradise Lost, Book II, Introduction

23 **Moulton**—World Literature

24 **Morgohouth, D. S.**—The Poetics of Aristotle, London 1911.

25 **Moseon, T. A.**—Aristotle's Poetics, Everymans Library Edition—1949

26 **Muni Jinvijaya**—Lilawati, Bombay, Samvat 2005.

27 **Pargitar, F. E.**—1 Ancient Indian Geneologies and Chronologies

2 Ancient Indian Historical Tradition, London, 1922

28 **Penzer**—Notes in Tawney's translation of Kathasaritsagar

29 **Raking**—English translation of Muntakbut Tawarikh, 1808

30 **Sarkar, Benoy Kumar**—The Folk Element in Hindu Culture, London, 1917

31 **Shastri, Rama Swami Shiromani**—Ram Charit of Abhinand

32 **Sidhant, N. K.**—The Heroic Age of India, London, 1929

33 **Upadhyaye, Dr. A. N.**—Prakrit Literature, in Dictionary of Literature, Vol I.

34 **Vaidya, B. L.**—Introduction of Mahapurana' of Puspadanta, Vol I, Bombay, 1937.

35 **Weber**—History of Indian Literature

36 **Winternitz**—A History of Indian Literature, Vol I, Calcutta, 1927

A History of Indian literature, Vol II, Calcutta, 1933.

37 **The Old Testament.**

— o —

ENGLISH JOURNALS

1. (i) **A. J. of Philosophy**—By M Bloomfield, Vols. XL, XLI, XLIV and LVII

(ii) **A. J. of Philosophy** —By W Norman Brown Vols XLII and XLIII.

2 **Appollodorus Bibliothica**—I—VIII.

3. (i) **Calcutta Review**—Vols IXI to IXIII and XLII

(ii) **Calcutta Review**—1881

4 (i) **Indian Antiquary**—Vol I

(ii) **Indian Antiquary**—Vol XIV—1845

5 **J. A. O. S., Vols. XXXVI**—1917, XL-1920, XLIV 1924.

6 **Imperial Gazetteer of India, Vol. II.**

7 (i) **J. R. A. S.**—July 1903

(ii) **J. R. A. S**—1912

(iii) **J. R. A. S.**—1917

(v) **J. R A. S.**—Vol IV, Pt I

— o —

DICTIONARIES

1 **Encyclopaedia Britanica**—Vol 19, 11th Edition

2 **Encyclopaedia of Islam.**

3 **Encyclopaedia of Religion and Ethics**—Hastings

4 **Vedic Index**—Macdonell and Keith

5. **Webster's New International Dictionary.**